2

सरस्वती

1939-I

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

Contributed by Prabhat Kumar

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

सादे चित्र

बी० ए०,

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल उमेशचन्द्र देव

जनवरी १९३९ } भाग ४०, खंड १ संख्या १, पूर्ण संख्या ४६९ { पौष १९९५

जीवन-सागर

लेखक, ठाकुर गोपालशरणसिंह

कब से नौका पड़ी भँवर में ?
होती है किस भाँति अकरुणा
करुणामय करुणा के घर में ?
सूझ नहीं पड़ता है कुछ भी
अन्धकार है रत्नाकर में,
है आलोक-लोक भी आवृत
बादल के दल से अम्बर में।
नाश नाचता है गा-गा कर
लोल-लोल लहरों के स्वर में,
देव ! बचाओ डूब न जाऊँ,
मैं अपने जीवन-सागर में।

माननीय पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त

लेखक, श्रीयुत क-ख-ग
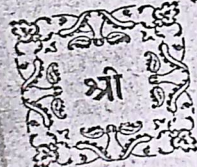
श्रीमान् पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त जी का जन्म संवत् १९४४ शाके १९०९ भाद्रपद मास शुक्ल पक्ष त्रयोदशी के दिन हुआ था। आप अलमोड़ा-ज़िला के एक उच्च ब्राह्मण-परिवार के वंशज हैं, यद्यपि आपका परिवार कुछ दिनों से नैनीताल-ज़िला के सिलौटी गाँव में बस गया है, और यही वस्तुतः पंडित जी का घर कहला सकता है। कुछ साल हुए आपने नौकु-चिया ताल के पास एक जायदाद ख़रीदी जो सिलौटी के बिलकुल पास है। अलमोड़ा ज़िले के ब्राह्मण अधिकतः उस ज़िले के मूल-निवासी नहीं हैं। उनके पूर्वज समतल स्थानों में रहते थे। कई शताब्दी पहले जब चन्द राजे कुमायूँ में जाकर अलमोड़ा और नैनीताल के शासक बने तब बहुत-से ब्राह्मण-परिवार उनके साथ गये। अलमोड़ा और नैनीताल के ब्राह्मण अधिकतः कान्यकुब्ज हैं, परन्तु पन्त ब्राह्मण महाराष्ट्री हैं। उनके पूर्वज महाराष्ट्र देश से पहाड़ों पर आये। कुमायूँ में पन्त ब्राह्मणों का सदैव ही बड़ा आदर किया गया है। चन्द राजाओं के समय में उन्होंने कुमायूँ के इतिहास में सदैव प्रमुख भाग लिया है। वे अपनी बुद्धिमत्ता, साहस और शासन-शक्ति के लिए सदैव प्रसिद्ध रहे हैं।

पन्त जी का जन्म अलमोड़ा में हुआ था। आपका पालन-पोषण आपके परलोकगत नाना दन्या के रायबहादुर पंडित बदरीदत्त जोशी के घर में हुआ, जो आधुनिक कुमायूँ के सर्वप्रसिद्ध व्यक्तियों में से हैं। जोशी जी के पूर्वज बहुत दिनों तक कुमायूँ के चन्द राजाओं के दीवान रहे और श्रीमान् जोशी जी में वे सभी योग्यतायें थीं जो लोगों को राज्य के सफल मंत्री के योग्य बनाती हैं। माननीय पन्त जी में अपने पितृ और मातृ दोनों वंशों से आत्म-विश्वास, राजनैतिक बुद्धि, दूरदर्शिता और सार्वजनिक सेवा की भावना आई है।

पन्त जी ने अलमोड़ा के 'रेम्ज़े कालेजियट स्कूल' में शिक्षा पाई। आपने बचपन से ही अद्भुत बुद्धि का परिचय दिया। आपमें वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक मनोवृत्ति अधिक मात्रा में थी।

खेल या खुली हवा के व्यायाम पन्त जी को कम पसंद थे या यों कहिए कि इनके लिए उनको समय ही नहीं था। स्कूली जीवन में आप कभी-कभी खेल खेलते थे, परन्तु आपको उनमें कभी ख्याति नहीं मिली; और जहाँ तक इस लेख के लेखक को ज्ञात है, पन्त जी ने कालेज में कभी कोई खेल नहीं खेला। इसका आपके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा। जिस बीमारी को आप बहुत दिनों तक भोगते रहे, और जिसके कारण आपके मित्रों को एक बार-निराशा हो गई थी कि आप कभी स्वस्थ नहीं होंगे वह बचपन में नियमित रूप से व्यायाम न करने के कारण ही हुई थी। वकालत शुरू करने के बाद आप संध्या-सम[य] कुछ टहला करते थे, परन्तु कुछ दिनों के बाद सार्वजनि[क] सेवाओं और वकालत के कामों के बढ़ जाने से आप[ने] टहलना बिलकुल छोड़ दिया। आप कभी किताब के की[ड़े] नहीं बने, बल्कि आपने साधारण छात्रों की अपेक्षा स्कू[ल] और कालेज की किताबों पर बहुत कम ध्यान दिया। आ[प] अधिकतर अख़बारों और बाहर की किताबों के पढ़ने में लगे रहते थे। आपने सदैव गम्भीर साहित्य को पढ़ने [की] चेष्टा की। रेम्ज़े कालेज में आपने एफ़० ए० तक शि[क्षा] पाई। कालेज में एक डिबेटिंग क्लब था जो अनियमि[त] रूप से चलता था, लेकिन युवक गोविन्दवल्लभ पन्त [ने] इससे पूर्ण लाभ उठाया। सार्वजनिक भाषण की प्रारंभि[क] शिक्षा आपको इसी क्लब में मिली थी, आप वहाँ [के] सबसे अच्छे वक्ता थे।

पन्त जी ने बी० ए० की परीक्षा अँगरेज़ी भाषा [व] साहित्य, गणित और अर्थशास्त्र के विषयों को लेकर [पास] की। आप गणित में ख़ास तौर से होशियार थे [और] मिस्टर होमरशेम काक्स के एक प्रिय छात्र थे। मि[स्टर] काक्स के सरल और निष्कपट स्वभाव, उनकी ज़िन्दगी [की] सादगी और उनकी उदार भावनाओं ने पन्त जी पर [गहरा] असर डाला। आप उनका स्मरण बराबर श्रद्धा [और] प्रेम से करते रहे हैं। जिस समय आप बी० ए० में प[ढ़ते] थे, बंग-भंग के कारण स्वदेशी आन्दोलन पूरे ज़ोरों पर छिड़ा था। इसका आप पर गहरा प्रभाव पड़ा और आपने और आपके समकक्षी और मित्र पंडित हरगोविन्द पन्त एम० एल० ए० ने प्रयाग के माघ-मेला में स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करने के लिए व्याख्यान दिये। इसका यह फल हुआ कि म्योर सेन्ट्रल कालेज के अधिकारी आपसे रुष्ट हो गये। प्रिन्सपल मिस्टर जेनिंग्स की राय थी कि उस साल आप दोनों बी० ए० की परीक्षा न देने पायें। लेकिन मिस्टर काक्स और प्रयाग के कुछ प्रसिद्ध नागरिकों के बीच में पड़ने से यह बला टल गई। म्योर सेन्ट्रल कालेज में पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त को अपनी कक्षा तथा डिबेटिंग-यूनियन दोनों में विशेषता प्राप्त थी। अपने सहपाठियों तथा अपने शिक्षकों, दोनों में आप बहुत लोकप्रिय थे। बी० ए० पास करने के बाद आप प्रयाग के 'यूनिवर्सिटी स्कूल आफ़ ला' में एल-एल० बी० के लिए पढ़ते रहे और परीक्षा में सब छात्रों में प्रथम आये।

एल-एल० बी० पास करने के बाद पन्त जी ने पहले-पहल अलमोड़ा-ज़िला के सदर में वकालत शुरू की। लेकिन थोड़े ही दिनों के बाद आप नैनीताल चले गये और जाड़ों में काशीपुर में वकालत किया करते थे। आपकी वकालत ख़ूब चमकी। आप में असली बात को तुरन्त समझ जाने का माद्दा होने के कारण काम में बड़ी सहायता मिलती थी और इससे आपको उतनी मेहनत भी नहीं करनी पड़ती थी। एक बार एक आई० सी० एस० अफ़सर ने, जो नैनीताल के डिप्टी कमिश्नर थे और ख़ुद भी बड़े काबिल अफ़सर थे, कहा था कि जब पन्तजी उनकी कचहरी में वकालत करने आते थे तब अपनी वाक्पटुता और तर्क-चातुर्य से अदालत का फ़ैसला अपने मुवक्किल के अनुकूल करा लेते थे। अफ़सर कितना ही चाहता हो कि फ़ैसला आपके अनुकूल न हो, परन्तु आपकी तर्कपूर्ण बहस से क़ायल होकर उसको आपके अनुकूल फ़ैसला करना पड़ता था। आपको मुक़दमों के समझने में अधिक समय नहीं लगता था। प्रायः देखा जाता था कि अपनी कोठी से क़चहरी जाते समय आप मुक़दमे के काग़ज़-पत्र पढ़ लिया करते थे। आपका दिमाग़ इतना अच्छा और तेज़ था कि मुक़दमे के काग़ज़-पत्रों को केवल थोड़ा ही पढ़कर कुछ मिनटों में ही आप असली बात समझ जाते थे और मुक़दमा जीत लेते थे।

[माननीय पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त]

वकालत शुरू करते ही पन्तजी ने सार्वजनिक प्रश्नों में गहरी दिलचस्पी लेनी आरंभ कर दी। जब सन् १९१४ में लड़ाई छिड़ी तब आप अपने कुछ मित्रों के साथ 'सेन्ट जान्स एम्बूलेन्स क्लास' में सम्मिलित हुए। लेखक को स्मरण है कि लड़ाई छिड़ने के कुछ दिन बाद सन् १९१४ में उससे और पन्त जी से बहुत देर तक बड़े गम्भीर भाव से बातें होती रहीं। उस समय पन्त जी ने अपने विचार बड़े विस्तार से प्रकट किये और बताया कि उनको और उनके साथियों को किस प्रकार अपना संध्या का समय व्यतीत करना चाहिए। आपने कहा था कि हम लोगों को अपना समय तुच्छ बातों में नष्ट नहीं करना चाहिए, बल्कि कोई ऐसा गम्भीर और ठोस काम करना चाहिए जिससे जनता या उसके किसी भाग का लाभ हो। पन्त जी दलित जातियों के लड़कों के लिए पाठशाला खोलने के विषय पर अधिक

रहे और आपने नैनीताल में एक ऐसी पाठशाला
न तक चलाई भी। आपकी सदैव यही इच्छा
कि सार्वजनिक हित की संस्थाओं का स्थापन किया
यह बहुत कुछ आपके उद्योग का ही फल था जो
जसिंह हाई स्कूल' काशीपुर में स्थापित हुआ।
माऊँ में पहले एक परिषद् थी, जिसके वार्षिक
न हुआ करते थे और जो कुमाऊँ-सम्बन्धी सार्व-
प्रश्नों पर विचार किया करती थी। इसका इतिहास
कुछ इंडियन नेशनल कांग्रेस के इतिहास से मिलता-
है। कुमाऊँ के वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ ने बहुत समय
का सञ्चालन किया। वे उग्र उपायों को काम में
पक्ष में न थे। जिस प्रकार सूरत-कांग्रेस में मतभेद
सी प्रकार १९२० में कुमाउँ-परिषद् पर भी वहाँ के
राजनीतिज्ञों का अधिकार हो गया। पंडित गोविन्द-
पन्त और पंडित बदरीदत्त पांडे जी के नेतृत्व में
कुली-बेगार के विरुद्ध सार्वजनिक आन्दोलन करने
निश्चय किया और थोड़े ही समय में उनके नेतृत्व
रों किसान अलमोड़ा-ज़िले के बागेश्वर में सरयू के
र एकत्र हुए और शपथ ली कि हम अब कभी
बेगार न देंगे। गवर्नमेंट ने मान लिया कि लोगों
शिकायत सच्ची है और तत्काल इस प्रथा को तोड़
। इस सत्याग्रह की सफलता पर महात्मा गांधी जी
त प्रसन्न हुए और उसको उन्होंने 'रक्तहीन क्रान्ति'
पन्त जी कुमाऊँ-परिषद् के अल्मोड़ा-अधिवेशन के
ति हुए और आपके भाषण को सबने एक बहुत
कक्षा का भाषण माना।

जब सन् १९२१ के सुधार हुए तब पंत जी स्वराज्य-
पर युक्तप्रांत की व्यवस्थापिका सभा के लिए खड़े
पर एक ऐसे उम्मेदवार से हार गये जो अँगरेज़ी नहीं
ता था और जिसको सार्वजनिक बातों का कोई अनुभव
था। पंत जी दूसरे निर्वाचन में फिर खड़े हुए और
अधिक वोटों से जीत गये। शीघ्र ही आप कौंसिल
रोधी दल के नेता हो गये। इस काम में आप बहुत
हुए। अथक शक्ति, शासन के प्रत्येक विभाग की
री जानकारी, प्रभावशाली और धाराप्रवाह भाषण,
निक शिष्टता और सज्जनोचित शील के कारण आप
ी मेम्बरों की प्रतिष्ठा के भी पात्र बन गये। कमि-टियों में विशेष रूप से आपने नाम पैदा किया। एक बार मालगुज़ारी के क़ानून में कुछ संशोधन करने के लिए एक कमिटी बनी। उस समय के सरकारी अर्थ-सचिव उस कमिटी के चेयरमैन थे और पन्त जी उसके एक सदस्य थे। कमिटी की बैठक ११ बजे से होनेवाली थी। पन्त जी को देर हो गई और आप एक घंटे के बाद पहुँचे। तब तक बहुत से मेम्बरों ने अर्थ-सचिव से कार्य को आरम्भ करने के लिए कहा। उन्होंने कहा, इससे क्या फ़ायदा होगा। जब पन्त जी आयेंगे तब वे अपनी अनुपस्थिति में किये हुए कामों को रद्द कर देंगे और हमें फिर से काम शुरू करना पड़ेगा। आगरा टेनेन्सी ऐक्ट के सम्बन्ध में पन्त जी ने बहुत ही ठोस काम किया।

जब कांग्रेस ने सन् १९३० में अपना सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन प्रारम्भ किया तब नैनीताल में पन्त जी ने नमक-क़ानून को तोड़ा और इसके लिए आपको जेल जाना पड़ा। सन् १९३२ में आपको दूसरी बार जेल-यात्रा करनी पड़ी। साइमन-कमीशन के बहिष्कार में आपने बड़े ही उत्साह के साथ भाग लिया और लखनऊ में आपने पंडित जवाहरलाल नेहरू के साथ पुलिस की लाठियाँ भी खाईं। इसके कारण और स्वास्थ्य अच्छा न होने की वजह से आप बहुत बीमार पड़े और कई महीनों तक आप चारपाई से न उठ सके। पहले ओषधि से कुछ लाभ न हुआ, परन्तु आख़िरकार एक प्रसिद्ध डाक्टर आपको उस रोग से मुक्त करने में सफल हुए।

इलाहाबाद की सन् १९३२ की यूनिटी-कान्फ़रेन्स में भाग लेने के कारण पन्त जी को अखिल भारतीय नेतृत्व का पद प्राप्त हुआ। बातों को शीघ्र ही समझने, साम्प्रदायिक पक्षपात से पूर्णतः दूर रहने तथा अपने प्रभावपूर्ण तथा ओजस्वी भाषण के कारण आपको सबकी सुसम्मतियाँ ही नहीं मिलीं; बल्कि ऐसे निर्णयों पर पहुँचने में भी सहायता मिली जिन्हें कान्फ़रेन्स के सभी वर्गों के प्रतिनिधियों ने स्वीकृत किया।

संयुक्त-प्रान्त की लेजिस्लेटिव कौन्सिल छोड़ने के बाद आप केन्द्रीय एसेम्बली के लिए निर्विरोध चुने गये और वहाँ आपने शीघ्र ही प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। आप एक प्रभावपूर्ण और ओजस्वी वक्ता ही नहीं थे, बल्कि आपने ब्योरे की बातों और आँकड़े इत्यादि पर भी अपनी चौकस

जानकारी का परिचय दिया। जब आप बोलने के लिए उठते थे तब सरकारी सदस्य बहुत ही बेचैन हो उठते थे और बहुत ही जल्द लोगों ने आपको एक प्रथम श्रेणी का पार्लियामेन्टियन मान लिया। आपने सर जेम्स ग्रिग जैसे व्यक्ति का आदर और प्रशंसा प्राप्त की है।

अपनी योग्यता, बलिदान और कठिन परिश्रम की क्षमता के कारण आप कांग्रेसी गवर्नमेंट में संयुक्त-प्रान्त के प्रधान मंत्री के पद के लिए पहले से ही मनोनीत थे। फलतः समय आने पर संयुक्त-प्रान्त के 'पार्लियामेण्टरी बोर्ड' ने आपको सर्व-सम्मति से अपना नेता चुना और जब कांग्रेस ने मंत्रिपद ग्रहण करने का निश्चय किया तब आपको गवर्नर साहब ने मंत्रिमंडल बनाने के लिए निमंत्रित किया।

पन्त जी का पारिवारिक जीवन बहुत सुखी नहीं रहा है। वकालत शुरू करने के थोड़े दिनों के बाद आपके पिता श्रीमान् पंडित मनोरथ पन्त जी की, जो कुमायूँ में नायब तहसीलदार थे, मृत्यु हो गई और कुछ वर्षों के बाद आपकी माता जी का भी स्वर्गवास हो गया। युवावस्था में ही आपके एक पुत्र और प्रथम स्त्री का देहान्त हो गया। आपने पुनः विवाह किया और आपकी दूसरी पत्नी का भी स्वर्गवास हो गया। पुनः आपकी विवाह करने की इच्छा नहीं थी, परन्तु अपने मित्रों के अनुरोध और आग्रह से विवश होकर आपने फिर विवाह किया। परमात्मा की कृपा से इस विवाह से आपको गृहस्थी का सुख मिला है आपकी सहधर्मिणी धर्मपरायणा और बहुत उच्च विचार की महिला हैं। पन्त जी के इस समय एक सात वर्ष का पुत्र और १० तथा ३ वर्ष की दो लड़कियाँ हैं। आप उन्हें बहुत ही प्यार करते हैं।

पन्तजी एक सर्वप्रिय व्यक्ति हैं। आप सबसे हँसकर बोलते हैं। आपके घोर राजनैतिक विरोधी भी आपके सौजन्य के क़ायल हैं और आपसे प्रेम करते हैं। आप बहुत दयालु प्रकृति के हैं और दलितों तथा निर्धनों के दुःखों से आपके हृदय में बहुत चोट लगती है। आप मानवीय स्वभाव की दुर्बलताओं को समझते हैं और उन लोगों को भी क्षमा करने को सदा तैयार रहते हैं जिन्होंने आपके साथ विश्वासघात किया है। सामाजिक सुधार में आपको बहुत दिलचस्पी है और हिन्दू-समाज को जाति-प्रथा तथा अन्य कुप्रथाओं से छुड़ाने के लिए आपने सदैव अपनी आवाज़ उठाई है और अपना प्रभाव डाला है। आपके विचार कट्टरपन्थी नहीं हैं। निर्बल स्वास्थ्य के होते हुए भी आपमें लगातार कठोर परिश्रम करने की अद्भुत शक्ति है। प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण करने के बाद ही आपको एक फोड़ा निकल आया, जिसका दो बार आपरेशन कराना पड़ा और जिसके कारण आपको बहुत कष्ट हुआ तथा आपको बहुत दिनों तक चारपाई पर पड़ा रहना पड़ा, लेकिन उससे आपने अपने काम में हर्ज नहीं होने दिया।

ऐसे ही कर्तव्य-निष्ठ महापुरुष आज संयुक्त-प्रान्त की कांग्रेसी सरकार के प्रधान मंत्री का गौरवपूर्ण पद सुशोभित कर रहे हैं। अपने कुछ ही दिनों के शासन-काल में उन्होंने जिस तत्परता के साथ अपने कर्तव्यों का पालन किया है, तथा सदियों से पददलित प्रान्त की जनता के समुद्धार के लिए जो महत्त्पूर्ण आयोजन कर रहे हैं वह सर्वविदित है। आशा है, अपने कार्यकाल में ही वे ऐसे महत्त्व के काम कर डालने में पूर्णरूप से सफलमनोरथ होंगे जिनसे उनका नाम तो अमर ही हो जायगा, साथ ही भारत के इस महत्त्वपूर्ण भूखण्ड के निवासी भी सच्चे नागरिक बन जायँगे। भगवान् करे कि ऐसा ही हो।

स्वदेश-रक्षा

लेखक, श्रीयुत कुँवर राजेन्द्रसिंह

यह बात विवाद-रहित है कि किसी देश की रक्षा का भार उसी देश के रहनेवालों पर होता है और यह ठीक भी है। कोई क्यों किसी दूसरे के लिए जान देने आये? जान सबको प्यारी होती है। हाँ, कुछ अवसर ऐसे भी होते हैं जब जान को भी लोग तुच्छ समझते हैं। देश पर संकट पड़ने से कायर भी वीर हो जाते हैं। परिस्थिति परम बलवान् है। देश पर जब आफ़त आती है तब यह ख़याल आता है कि वह सब चीज़ें जिनकी हम प्रतिष्ठा करते हैं, जिनका मान करते हैं, जिनका आदर करते हैं, जिनको पवित्र समझते हैं, जिनसे प्रेम करते हैं, सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगी और यही ख़याल देशवासियों को चंडी का ऐसा प्रचंड रूप धारण करने के लिए बाध्य कर देता है। उनको उनके पूर्व-पुरुषों की वीरता याद आ जाती है। उनके लिए इन पवित्र और पुनीत भावों का हृदय में उत्पन्न होना नितान्त असम्भव है, जिनके हृदय में केवल वेतन का प्रलोभन है।

उन देशों में विदेशी फ़ौज के समर्थन में एक शब्द भी नहीं कहा जा सकता है जहाँ देश की आय के औसत से जन-संख्या इतनी बढ़ी हुई है कि संतान-निग्रह के उपाय सोचे जाते हैं। प्रकृत्या इन बातों पर ध्यान देने के समय अपने देश की रक्षा का प्रश्न हम लोगों के सामने आ जाता है और हम यह सोचने लगते हैं कि क्या हम अपने देश की रक्षा करने के योग्य नहीं हैं, क्या हमारे पूर्वजों की अद्वितीय वीरता की ऐतिहासिक कथायें केवल कपोलकल्पित कहानियाँ हैं, क्या ये सब क़िस्से हैं कि हमारे पूर्वज युद्ध में नंगी तलवार लेकर, ढाल को जलाकर और कफ़न को कमर में बाँध कर लड़ने जाते थे, क्या यह साहित्यिक अत्युक्ति है कि हम लोग 'साठ पुश्तों के सिपाही हैं, कोई और नहीं', क्या यह निरर्थक प्रथा थी जो अब भी बहुत-से ख़ानदानों में है कि लड़के की छठी के दिन तलवार के क़ब्जे पर उसका हाथ रखवाया जाता है। यदि अपने देश के इतिहास लिखनेवालों की बात न मानी जाय तो क्या 'राजस्थान' के रचयिता टाड ने भी झूठ लिखा है कि मेवाड़ का एक एक गाँव 'थर्मापोली-पास' बना हुआ है। थर्मापोली यूनान के स्पार्टा का एक दर्रा है। इस देश पर जब आफ़त आई थी तब वहाँ के लोगों ने उस दर्रे पर ऐसी वीरता से युद्ध किया था कि संसार चकित हो गया था। क्या यह केवल गढ़न्त है कि अपने देश में महिलाओं का विशेषण 'वीरजाया' और 'वीरगर्भा' इत्यादि था। इन नामों की लाज हमेशा उन्होंने रक्खी, वे ऐसी वीरता से लड़ीं कि आज-कल के खाई और ख़न्दकों में छिपकर लड़नेवाले सिपाही शर्मा जायँ।

विदेशी चाहे यह मान लें कि डार्विन के मतानुसार उनके पूर्वज बन्दर थे, परन्तु हम लोग तो यही मानते हैं कि हम उन महापुरुषों की सन्तान हैं जिन्होंने कहा था 'जो रन हमैं प्रचारहि कोऊ, लरहिं सुखेन काल किन होऊ।' बहुत दिनों की बात है, जब स्वर्गीय श्रीसुरेन्द्रनाथ बनर्जी इँग्लेंड में एक जगह व्याख्यान दे रहे थे और उस समय के भारतवर्ष की प्रशंसा कर रहे थे जब वह सब देशों में अग्रगण्य था। सभासदों में से एक ने आपसे उपहास करने के भाव से यह प्रश्न किया कि "आपका देश कब बड़ा था?" आपने तुरन्त उत्तर दिया: "जब आपके पूर्वज दरख़्तों पर कूद-फाँद किया करते थे।" यदि कोई और जाति इस तरह से निःशस्त्र कर दी जाती जिस तरह हम लोग कर दिये गये हैं तो इतनी कायर और भीरु हो जाती कि स्वप्न में बिल्ली को भी देखने से चिल्ला उठती, परन्तु ईश्वर की कृपा से अब भी जब मौक़ा पड़ता है तब हम मौत का मुक़ाबिला इस तरह से करते हैं कि लोग दाँतों के नीचे उँगली दबाकर रह जाते हैं। जब यह सब है तब फिर हम यह कैसे मानने के लिए तैयार हो जायँ कि हम अपने देश की रक्षा करने में असमर्थ हैं। यह हमारी आत्म-प्रशंसा नहीं है। यही उनकी भी राय है जो हिन्दुस्तानियों की प्रशंसा करने में बहुत मितव्ययता से काम लेते हैं। मेरेडिथ टाउन शेन्ड ने, जिन्होंने ख़ास तौर से इस प्रश्न का अध्ययन किया था, अपनी पुस्तक 'एशिया एन्ड योरप' में लिखा है कि "हिन्दुस्तान में लड़नेवाले आदमी बारह

करोड़ हैं। वे वैसे ही लम्बे-चौड़े हैं, जैसे हम लोग हैं पर उन्हें मौत का भय हम लोगों की अपेक्षा कम है। थोड़ा आगे बढ़कर फिर उन्होंने लिखा है कि जिस तरह जर्मनी में क़ानून के द्वारा लोग फ़ौज में भर्ती होने को मजबूर हैं वही यदि हिन्दुस्तान में किया जाय तो वह फ़ौज तैयार हो जाय जो केवल एशिया पर क्या, सारे संसार पर विजय प्राप्त कर सकती है।" यही बहुतों ने कहा है। यहाँ के प्रत्येक वायसराय और प्रत्येक प्रधान सेनापति ने हिन्दुस्तानी फ़ौज की प्रशंसा की है। इँग्लेंड की कामन्स सभा के सदस्य कमान्डर जे० सी० वेजउड ने १९१७ में 'मेसेपोटामिया कमीशन' की रिपोर्ट में अपना जो अलग मन्तव्य लिखा था उसमें लिखा था कि—"हिन्दुस्तानी फ़ौज पूरे साज़ व सामान से न होने और न पूरे तौर से अभ्यस्त होने पर भी इस तरह से लड़ी जिससे यह विदित होता है कि यदि ये सब त्रुटियाँ न होतीं तो शायद ही कोई फ़ौज या कोई भी नहीं, इससे अच्छी होती।" इसका तो प्रत्यक्ष प्रमाण है। विगत योरपीय महा-युद्ध के समय चार महीनों में जल्दी जल्दी रँगरूटों को काम सिखला बाहर लड़ने को भेज दिया था और उनकी भी मुक्तकंठ से प्रशंसा हुई थी। हमारी हिन्दुस्तानी फ़ौज की बदौलत बेल्जियम की रक्षा हुई थी। हमारी हिन्दुस्तानी फ़ौज पर फ्रांस में फूलों की वर्षा हुई थी और हमारी हिन्दुस्तानी फ़ौज के सिपाहियों को ऊँचे-से-ऊँचे फ़ौजी सम्मान प्राप्त हुए थे—बारह सिपाहियों को 'विक्टोरिया क्रास' पदक मिला था। पहले इस पदक के योग्य हिन्दुस्तानी नहीं समझे जाते थे। १९११ के दिल्ली-दरबार में यह घोषणा की गई थी कि अब यह पदक उनको भी मिला करेगा। यह फ़ौज का सबसे ऊँचा पदक है। जब हिन्दुस्तानी फ़ौज बाहर लड़ने जा रही थी तब एक ने एक पद्य लिखा था—"आज बेल्जियम लखत है तिहारो मुख, बेग ही बचाओ रारि जर्मनी मचाई है। राना परताप भोज विक्रम के वंशज हौ, राखो कीर्ति तिनकी जो सब जग छाई है। रक्त के बहाय नद खोद कर नींव ही ते मेटो जाय बर्लिन गर्व गरुआई है। शत्रु और मित्र मुक्तकंठ यह भाखै लगैं धन्य वीर भारत अवश्य या चढ़ाई है।" यही हुआ। हिन्दुस्तानी फ़ौज ने वह धाक जमाई कि तारीफ़ करने में दुश्मन दोस्तों से आगे बढ़ गये।

कप्तान जी० वी० मोडक ने अपनी पुस्तक 'इंडियन डिफ़ेंस प्रोब्लेम' में लिखा है—"१८५६-५७ और १८६२ की संख्याओं की तुलना करने से मालूम होता है कि अँगरेज़ी फ़ौज की संख्या बढ़कर ३०,००० से ७८,००० कर दी गई और हिन्दुस्तानी-सेना की संख्या २,५६,६१३ से घटा कर १,४९,७६२ कर दी गई। इस अधिकता और न्यूनता का कारण केवल अविश्वास था। लोगों ने कह ही डाला कि हम केवल बलात् भारतवर्ष को अपने अधीन रख सकते हैं।" विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है। मुग़ल-साम्राज्य का उदाहरण लीजिए। अकबर का हिन्दुओं पर कितना विश्वास था। सभी बड़े बड़े पदों पर हिन्दू थे और उसी का यह परिणाम था कि साम्राज्य के लिए वे लोग जान निछावर करने को तैयार रहते थे। यह हम हिन्दुओं का क्षमायोग्य अभिमान है कि 'धोखा किसी को नहीं दिया है, विश्वास का घात नहीं किया है'। ख़ैर, अँगरेज़ी फ़ौज बढ़ाई और हिन्दुस्तानी कम की जाने लगी। अँगरेज़ी फ़ौज के बढ़ते ही ख़र्च भी बढ़ने लगा। १९३८ की अगस्त मास की जो केन्द्रीय असेम्बली की बैठक शिमले में हुई थी उसमें एक प्रस्ताव के अनुमोदन करने में मि० आसफ़अली ने कहा था कि "एक हिन्दुस्तानी सिपाही के ऊपर ६००) या ६५०) रुपया साल ख़र्च होता है और एक अँगरेज़ सिपाही पर २५००)।" जब फ़ौज का ख़र्च बढ़ने लगा तब अपने देश के नेता गवर्नमेंट का ध्यान इस ओर आकर्षित करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि उन लोगों की तरफ़ से सन्देह उत्पन्न होने लगा। गवर्नमेंट का यह कहना है कि राजनीति से सेना का क्षेत्र पृथक् है। प्रत्येक देश में जहाँ प्रजासत्तात्मक शासन है, वहाँ अनेक राजनैतिक दलों का होना स्वाभाविक है और यह भी स्वाभाविक है कि हुकूमत कभी किसी दल के हाथ में हो और कभी किसी के। किसी एक दल के विचारों और मतों का प्रभाव सेना पर नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि सेना के दो ही मुख्य काम हैं—(१) देश में शान्ति स्थापित रखना और (२) बाहर के आक्रमणों से देश की रक्षा करना। परन्तु प्रत्येक देश में पार्लियामेंट के निर्वाचित सभासदों की राय अवश्य ली जाती है। सेना के भेद गुप्त ज़रूर रक्खे जाते हैं, परन्तु किसी विदेशी गवर्नमेंट की हिम्मत नहीं है कि वह अपने देशवासियों से कह दे कि

जाइए, अपना काम कीजिए, आपको इन बातों से कोई मतलब नहीं है। जो चाहें सो करें, इसका पूर्ण अधिकार इस देश में वायसराय को है। वास्तव में उनको भी वही करना पड़ता है जो लंदन से हुक्म मिलता है। अगर कभी किसी ने कोई असुखकर प्रश्न पूछ लिया या कोई प्रस्ताव उपस्थित कर दिया तो उस पर कड़ी आलोचनायें होने लगती हैं। सेना-सम्बन्धी छः लाख के ख़र्च का बजट केन्द्रीय असेम्बली के सामने आता था और लोगों को कुछ कहने सुनने का मौक़ा मिल जाता था, परन्तु इस साल से वह भी प्रथा मिटा दी गई है। जब कुछ कहा जाता है तब जवाब मिलता है कि देश की रक्षा का प्रश्न साम्राज्य से सम्बन्ध रखता है जिसमें सिवा सेना-विभाग के और किसी को बोलने का अधिकार नहीं है। यह ख़ूब रही! हमारे भी तो देश की रक्षा का प्रश्न है?

यह किसी के भी कहने का अभिप्राय नहीं है कि भारत की रक्षा का उचित प्रबन्ध न किया जाय। सभी देशवाले यही चाहते हैं कि देश में शान्ति स्थापित रहे और देश बाहर के आक्रमणों से सुरक्षित रहे, परन्तु उसी के साथ यह भी सब चाहते हैं कि योग्यता के साथ मितव्ययता पर भी दृष्टि रहे। हमारे देश का फ़ौजी ख़र्च बहुत बढ़ गया है और देश ग़रीब है। १९१२-१३ में फ़ौज का ख़र्च २९ करोड़ ३३ लाख था। १९१९-२० में बढ़कर ८६ करोड़ ९७ लाख तक पहुँच गया, और अब भी ४५ करोड़ १८ लाख है। जिन लोगों ने इस विषय का अध्ययन किया है उन [illegible] यही कहना है कि सिवा इसके और कोई ख़र्च कम करने की तरकीब नहीं है कि सेना में हिन्दुस्तानियों की संख्या बढ़ाई जाय और अँगरेज़ों की घटाई जाय। यह हिन्दुस्तानी और अँगरेज़ का सवाल नहीं है—सवाल है ख़र्च की कमी का। अँगरेज़ी सिपाहियों के अनुकूल यहाँ का जलवायु भी नहीं है। यह हम ही हैं जिनको सब जगह की आबहवा मुवाफ़िक हो जाती है। हमारी हिन्दुस्तानी फ़ौज सूडान, अबीसीनिया, ईजिप्ट, जावा, डार्डनेलीज़, मिसोपोटेमिया, इराक़, दक्षिणी अफ़्रीका या और जहाँ कहीं भी लड़ी, कभी यह शिकायत नहीं हुई कि सिपाही जलवायु के कारण बीमार पड़ गये। अँगरेज़ सिपाहियों के सम्बन्ध में स्वयं अँगरेज़ अफ़सरों की राय है कि उनके अनुकूल यहाँ का जलवायु नहीं है। यद्यपि उनको आराम पहुँचाने के लिए सब कुछ किया जाता है, दिल खोल कर रुपया ख़र्च होता है, तो भी वही बीमार ज़्यादा पड़ते हैं। एक दफ़ा सार्जन जनरल गार्डन ने (ये मदरास में अँगरेज़ी फ़ौज के डाक्टर थे) कहा था कि अँगरेज़ी फ़ौज के छोकरे उस काम के करने के अयोग्य होते हैं जिसके लिए वे तनख़्वाह पाते हैं। हिन्दुस्तानी शायद फ़ौज में होते ही नहीं, अगर सब काम अँगरेज़ सिपाही कर लेते। लार्ड क्लाइव ने कहा था कि फ़ौज में हिन्दुस्तानी ज़रूरी हैं, क्योंकि वे बहुत-से कामों के करने में मदद देते हैं जो इस देश के जलवायु में अँगरेज़ नहीं कर सकते।

अँगरेज़ी और हिन्दुस्तानी फ़ौज के सिपाहियों की तनख़्वाह में बहुत बड़ा अन्तर है। हिन्दुस्तानी सिपाही से पाँच गुना अधिक अँगरेज़ी सिपाही की तनख़्वाह पड़ती है। उन अफ़सरों की तनख़्वाह में आठ से दस गुना तक अन्तर है जिनके पास कमीशन नहीं है। ये अँगरेज़ी में नान कमीशन्ड अफ़सर कहलाते हैं। भत्ते कुछ ऐसे हैं जो अँगरेज़ ही पाते हैं। उदाहरण के लिए तीन रुपया चार आने माहवार उन अँगरेज़ी सिपाहियों को दिया जाता है जो विवाह कर लेते हैं। यह गृहस्थी के सामान का भत्ता कहलाता है। विवाहित अँगरेज़ सिपाहियों को तीस रुपया माहवार और मिलता है। उनके चार बच्चों तक हर एक बच्चे को दस रुपया माहवार दिया जाता है। तीन रुपया प्रतिमास बाल कटवाने के लिए दिये जाते हैं और सात आने नाई के लिए और ऐसे ही कुछ धोबी के लिए। हिन्दुस्तानी सिपाही की तनख़्वाह से काट लिये जाते हैं। सात लाख रुपया साल अँगरेज़ सिपाहियों को फ़ौजी तालीम देने में ख़र्च होता है। कुछ भत्ते ऐसे हैं जो हिन्दुस्तानी और अँगरेज़ दोनों सिपाहियों को मिलते हैं, लेकिन उनमें भी ज़मीन और आसमान का अंतर होता है, यहाँ तक कि आठ गैलन पानी प्रत्येक हिन्दुस्तानी सिपाही को मिलता है और बीस गैलन अँगरेज़ सिपाही को। प्रत्येक अँगरेज़ी सिपाही को भोजन के अलावा छः रुपया साढ़े तेरह आने प्रतिमास मिलते हैं और हिन्दुस्तानी सिपाही को सिर्फ़ दस आने। यह 'मसाले' का भत्ता कहलाता है। कहा जाता है कि अँगरेज़ सिपाहियों को अगर वही तनख़्वाह और भत्ते दिये जायँ जो हिन्दुस्तानियों

को मिलते हैं तो अट्ठाइस से तीस करोड़ तक की बचत होगी।

अपने फ़ौजी काम को योग्यता से करने के लिए प्रत्येक अँगरेज़ सिपाही को तीन रुपया प्रतिमास दिया जाता है। यह भत्ता ज़रा भी समझ में नहीं आता है। यदि इस भत्ते की आवश्यकता मान ही ली जाय तो उसकी ज़रूरत हिन्दुस्तानी सिपाहियों को भी तो है। यदि यह भत्ता देना बन्द कर दिया जाय तो साढ़े बीस लाख रुपया की बचत होगी। साढ़े सात लाख रुपया साल अँगरेज़ सिपाहियों के धर्म्मार्थ ख़र्च किया जाता है और हिन्दुस्तानी सिपाहियों की संख्या उनसे क़रीब क़रीब तिगुनी है, तो भी उनके धर्म्म के लिए एक लाख से कम ही ख़र्च किया जाता है। औसत १८ और १ का है। अँगरेज़ सिपाहियों के लड़कों के भी पढ़ाने में रुपया ख़र्च किया जाता है। हिन्दुस्तानी सिपाहियों के लड़कों की तालीम पर एक पैसा भी नहीं ख़र्च होता है। इस तरह के बहुत-से ख़र्च और बहुत-से भत्ते हैं जो हिन्दुस्तानी सिपाहियों को नहीं मिलते हैं और जो भत्ते दोनों को मिलते हैं उनमें जो फ़र्क़ है वह मालूम ही हो चुका है।

अँगरेज़ सिपाहियों की फ़ौज जहाँ होती है, वहाँ बाग़ीचे का भी इन्तिज़ाम होता है। इसका ख़र्च गवर्नमेंट उठाती है। इसमें जो पैदा होता है वह बहुत सस्ते दामों पर ख़रीद कर उन्हीं लोगों की रसोई के काम में लाया जाता है। इनमें से कुछ लोगों को खेती-बारी का काम सीखने के लिए गवर्नमेंट अपने ख़र्च से इँग्लेंड भेजती है। जब फ़ौज से पेंशन मिल जाती है तब कमा करके खाने का एक और सहारा उन लोगों को हो जाता है। यह सब ख़र्च भी भारत की रक्षा की मद में पड़ता है। अँगरेज़ सिपाहियों के मनोरंजन के लिए बाजे की भी ज़रूरत होती है। इस काम के लिए २,७५० विदेशी नौकर होते हैं। उनका सिर्फ़ यही काम होता है—उनको फ़ौज के काम से कोई वास्ता नहीं रहता। क़रीब पचास हज़ार साल इन पर ख़र्च होता है। इक्कीस हिन्दुस्तानी घुड़सवारों के रेज़ीमेंट हैं। उन सबके लिए [illegible] रुपया माहवार दिया जाता है और अँगरेज़ों के पाँच घुड़सवारों के रेज़ीमेंटों को दो सौ रुपया माहवार मिलता है। हिन्दुस्तानी घुड़सवारों की फ़ौज को चार-छः बरस से यह भत्ता मिलने लगा है। लेफ़्टिनेंट कर्नल आर्थर आस्बर्न ने (यह अँगरेज़ों की फ़ौज के डाक्टर थे) एक किताब लिखी है, जिसमें अपनी इक्कीस साल की नौकरी का अनुभव लिखा है। वे लिखते हैं—"पहले तीन साल में पूरी तनख़्वाह पर वे दो दफ़े ११ महीने की छुट्टी में इँग्लेंड गये थे।" उन्होंने यह भी लिखा है कि—"जो तनख़्वाह उनको मिलती थी—जब वे ऊँचे दरजे के अफ़सर भी नहीं थे—उससे उनकी बड़े आराम से गुज़र होती थी। उनके पास सात नौकर थे और कभी एक और कभी दो घोड़े रखते थे। नौकरी के पहले जो क़र्ज़ हो गया था वह सब चुका दिया था। उनका ख़याल था कि अगर अब भी वे फ़ौज में होते तो अब उनकी तनख़्वाह दो हज़ार माहवार होती और वे सब भत्ते भी उनको मिलते होते जो ग़रीब हिन्दुस्तानी अँगरेज़ अफ़सरों को देने में असमर्थ है"। लाखों रुपया अँगरेज़ों के दाँत के डाक्टरों और अस्पतालों पर ख़र्च होता है, और उनके दाँत जैसे साफ़ रहते हैं वह हर एक देखनेवाला बतला सकता है। इँग्लेंड में एक लाख चवालीस हज़ार फ़ौज है और उसका औषध-सम्बन्धी ख़र्च ८० लाख है। अपने देश में अँगरेज़ों की फ़ौज सिर्फ़ ६०,००० है और उसका इस मद का ख़र्च ७३ लाख है। औसत में कितना बड़ा अन्तर है। अँगरेज़ सिपाही पर फ़ौज का काम सिखलाने में सात रुपया और आठ आने ख़र्च होता है और हिन्दुस्तानी सिपाही पर दो रुपया और आठ आने। हर साल इँग्लेंड से १०,००० नये सिपाही यहाँ आते हैं, क्योंकि कोई अँगरेज़ सिपाही यहाँ छः साल से ज़्यादा नहीं रहने पाता। इतना ख़र्च करके हिन्दुस्तान अँगरेज़ सिपाहियों को काम सिखलाता है और वह सब बेकार हो जाता है। इस आने-जाने में लाखों रुपया उठ जाता है!

१९३१-३८ ईसवी के बजट के अनुसार ५७·०७ करोड़ रुपया फ़ौज का ख़र्च था। उसमें से ४३·८४ करोड़ हिन्दुस्तान में ख़र्च होता है और १३·२२ इँग्लेंड में ख़र्च किया जाता है। यह अँगरेज़ी में 'कैपीटेशन' कहलाता है। 'कैपीटेशन' का अर्थ फ़ीस या टैक्स है, जो प्रत्येक व्यक्ति के औसत से लिया जाता है। इसका इतिहास यह है कि सन् १८५७ के बाद जब हिन्दुस्तानी फ़ौज (ख़ास कर अँगरेज़ों की फ़ौज) का प्रबन्ध इँग्लेंड के सेना-विभाग के हाथ में आया तब से हिन्दुस्तान को

अँगरेज़ सिपाहियों का किराया देना पड़ता है, जो यहाँ की फ़ौज के लिए इँग्लेंड में भर्ती किये जाते हैं। हिन्दुस्तान की तरह कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलेंड और दक्षिणी अफ़्रीका ब्रिटिश साम्राज्य के सहभागी समझे जाते हैं। परन्तु जो अधिकार औरों को प्राप्त है उसका शतांश भी तो हम लोगों को प्राप्त नहीं है। १९०५ तक ब्रिटिश फ़ौज कनाडा में रही और उसके ख़र्च का एक एक पैसा इँग्लेंड देता था। जनरल स्मट्स ने एक दफ़ा अपने भाषण में कहा था कि "दक्षिणी अफ़्रीका को न तो बोअरों की और न अँगरेज़ों की फ़ौज रखनी चाहिए। उसे इसी देश के आदमियों की फ़ौज रखनी चाहिए।" यहाँ भी कहनेवाले यही कह डालते हैं, लेकिन सुनता कौन है? १८६१ से लेकर १९३२ तक हिन्दुस्तान ने अँगरेज़ों की फ़ौज और अन्य काम करनेवालों पर इँग्लेंड में ५२५ से लेकर ६०० करोड़ तक ख़र्च किया है।

कनाडा की आबादी सत्तानवे लाख है। उसमें से ग्यारह लाख और सत्तानवे हज़ार को फ़ौज का काम सिखलाया जाता है, अर्थात् १२ प्रतिशत से कुछ अधिक औसत पड़ता है। इसमें से यदि औरतें और १५ साल की उम्र के नीचेवाले लड़के निकाल दिये जायँ (जिनका औसत ७० प्रतिशत के क़रीब होगा) तो वहाँ की आबादी का कुल ३० प्रतिशत फ़ौजी तालीम पाता है। इस तरह उस देश की कुल आमदनी पर फ़ौजी ख़र्च का सिर्फ़ ४·७५ प्रतिशत औसत आता है। यदि भारतवर्ष का पुरुष जातीय आसन्न औसत लिया जाय तो १८ करोड़ होगा और उसमें से केवल ५०,००० आदमियों को फ़ौजी काम सिखलाया जाता है, अर्थात् आबादी का १/३६०० हिस्सा हुआ। तब भी अपनी रक्षा के लिए उसे अपनी आमदनी का ४५ प्रतिशत ख़र्च करना पड़ता है। यदि उन विभागों का भी ख़र्च इसमें जोड़ दिया जाय जिनसे सेना-विभाग को सहायता मिलती है तो औसत और भी ऊँचा होगा। इँग्लेंड अपनी आमदनी का १४·७५ प्रतिशत अपनी रक्षा के लिए ख़र्च करता है, फ़्रांस १८·७५ प्रतिशत, न्यूज़ीलेंड ५ प्रतिशत, आस्ट्रेलिया ६ प्रतिशत, कनाडा ४·७५ प्रतिशत और हिन्दुस्तान ४५·२९ प्रतिशत। अन्य देशों में वहीं के सिपाही फ़ौज में नौकर होते हैं इस वजह से ख़र्च कम है और अपने देश की फ़ौज में विदेशी सिपाही होने की वजह से ख़र्च ज़्यादा है।

हिन्दुस्तानी और अँगरेज़ सिपाहियों की तनख़्वाह और भत्तों में जो अन्तर है वह मालूम ही हो गया है। अब जहाँ सबसे बड़ा अन्तर है, वहाँ निगाह डालना है। ऊँचे दर्जे के अफ़सर हिन्दुस्तानी फ़ौज में भी अँगरेज़ ही होते हैं—नायक, हवलदार और जमादार इत्यादि के पदों तक हिन्दुस्तानी पहुँच पाते हैं। औसत दर्जे के अफ़सर वे कहलाते हैं जिनके पास वायसराय का कमीशन होता है। यहाँ इस शब्द का यह अर्थ है कि औसत दर्जे के अफ़सरों की जगह पर जो हिन्दुस्तानी हैं वे वायसराय के हुक्म से नियुक्त हुए हैं। और १,५४,५८० हिन्दुस्तानी फ़ौज में वायसराय के कमीशनवाले अफ़सर कुल ४,२२५ हैं। बादशाह का कमीशन पानेवाले ऊँचे दर्जे के अफ़सर होते हैं। उनमें केवल १९१ हिन्दुस्तानी हैं और ६,५७० अँगरेज़ हैं, यद्यपि अँगरेज़ों की फ़ौज की संख्या सिर्फ़ ५९,८२७ है। जो संख्यायें इस लेख में दी गई हैं उनमें सम्भव है, कुछ अन्तर हो, परन्तु किसी संख्या में इतना बड़ा अन्तर नहीं होगा कि औसत में बड़ा फ़र्क़ पड़े। हम लोगों से कहा जाता है कि सेना के सम्बन्ध में राजनैतिक बातें नहीं करनी चाहिए, परन्तु यह सलाह बतलानेवाले ख़ुद ही अपना मुँह बन्द नहीं रखते हैं। नौकरी ख़त्म करके यहाँ से गये हुए एक प्रधान सेनापति ने अभी थोड़े ही दिन हुए इँग्लेंड में कहा था कि जो हिन्दुस्तानी बादशाह का कमीशन पाते हैं वे उसके योग्य नहीं होते। जब आँखों पर जातीय पक्षपात के पर्दे पड़े हुए हैं तब हिन्दुस्तानियों की योग्यता कैसे समझ में आये!

बहुत-सी बातों में 'भारत-सरकार' भी मजबूर है। उसे वही करना पड़ता है जो लंदन का सेना-विभाग का हुक्म होता है, क्योंकि यहाँ की फ़ौज केवल यहीं की फ़ौज नहीं समझी जाती है—वह ब्रिटिश साम्राज्य की फ़ौज समझी जाती है। अर्थात् उसे वहाँ लड़ने जाना पड़ेगा जहाँ साम्राज्य भर में आवश्यकता होगी। जो देश पहले ब्रिटेन के अधीन थे और अब स्वतन्त्र हो गये हैं, उनसे ऐसी संधि है कि जब इँग्लेंड को आवश्यकता होगी तब सेना से सहायता करेंगे, परन्तु इसके साथ उनको यह भी अधिकार प्राप्त है कि अगर किसी युद्ध में वे ब्रिटेन का सम्मिलित होना पसन्द करें तो वे फ़ौज से सहायता नहीं करेंगे। इस वजह

से ये सब झगड़े वहाँ नहीं हैं जो यहाँ हैं। स्वतन्त्रता प्रत्येक झगड़े को सुलझा देती है।

कहा जाता है कि देश में शान्ति स्थापित रखने के लिए अँगरेज़ों की फ़ौज की आवश्यकता है। यह भी कहा जाता है कि हिन्दुस्तानी फ़ौज अपने देशवासियों का लिहाज़ करेगी। ये स्वप्न की-सी बातें हैं। हिन्दुस्तानी फ़ौज के ख़िलाफ़ अभी तक कभी कुछ नहीं सुना गया है। जब मोपला लोगों (मदरास) ने क्रान्ति की थी तब ज़्यादातर हिन्दुस्तानी ही फ़ौज ने शान्ति स्थापित की थी। हाँ, काम हो जाने पर अँगरेज़ों की फ़ौज वहाँ भेज दी गई थी कि इँग्लेंड को उसके वहाँ होने की ख़बरें भेजी जा सकें। विगत योरपीय महायुद्ध में शान्ति स्थापित रखने का भार हिन्दुस्तानियों पर नहीं था तो क्या उन अँगरेज़ छोकरों पर था जो बेचारे बड़े दिन में अँगरेज़ी मिठाई खाने के लिए लोगों से पैसे माँगा करते थे? एक बात और भी तो है। अन्य देशों में क्या शान्ति स्थापित रखने के लिए अँगरेज़ सिपाहियों की ही ज़रूरत होती है? स्वयं इँग्लेंड का क्या हाल है? क्या वहाँ शान्ति स्थापित रखने के लिए जर्मनी के सिपाही काम करते हैं? देश में शान्ति की रक्षा के लिए सभी देशों में वहीं की फ़ौज से काम लिया जाता है। १९१४ में जब योरपीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तब हिन्दुस्तानी फ़ौज की कुल संख्या (उनको भी मिलाकर जिनसे ज़रूरत पड़ने पर काम लिया जाता है) १,९४,००० थी। लड़ाई के बीच में ७,९१,००० आदमी भरती हुए। दोनों का जोड़ ९,८५,००० पहुँचता है। इसमें से ५,५२,००० बाहर गये थे। लड़ाई के पहले उनकी संख्या ४५,००० थी जो फ़ौज में लड़ाई का काम छोड़कर और सब काम करते हैं। लड़ाई के बीच में इस काम के लिए ४,२७,००० आदमी भर्ती हुए थे, जिसमें से ३,९१,००० बाहर गये थे। हिन्दुस्तान ने १४,५७,००० आदमियों से मदद की थी, जिसमें से ९,४३,००० आदमी बाहर भेजे गये थे। आर्थिक सहायता इतनी बड़ी थी कि वायसराय लार्ड हार्डिंज ने कहा था कि इस देश का इतना 'रुधिर' निकाल लिया गया है कि वह सफ़ेद हो गया है।

इसी में इस देश का कल्याण है और उनका भी इसी में कल्याण है जो इसके शासक हैं कि हिन्दुस्तान की फ़ौज का प्रत्येक अफ़सर और सिपाही हिन्दुस्तानी हो। दोनों तरफ़ से विश्वास बढ़ेगा, ख़र्च घटेगा और देश सम्पन्न होगा। निर्धनता, अशान्ति और क्रान्ति की जननी होती है।*

---

* इस लेख के लिखने में मुझे कप्तान जी० बी० मोडक की पुस्तक 'इंडियन डिफ़ेंस प्रोब्लेम' से जो सहायता मिली है वह धन्यवादपूर्वक स्वीकार की जाती है। 'इंडियन इयर बुक' १९३८-३९ से भी बहुत सहायता मिली है।—लेखक।

नाविक से!

लेखिका, कुमारी प्रतिभा त्रिपाठी

मुझसे मत पूछो हे नाविक!
मेरी यात्रा का उद्देश्य।
सागर की उस सीमा पर ही,
मेरा है कुछ लक्ष्य विशेष॥

तुम हो मैं हूँ, नील-गगन है,
है यह जल की विस्तृत धार।
कितने ही झोंके खा-खा कर,
जलधि कर रहा है चीत्कार॥

कठिन शिलाओं से यदि तरणी,
टकरा जावे बारम्बार।
तुम विचलित होना मत माँझी,
पहुँचा ही देना उस पार॥

उसी छोर पर हम दोनों ही
शाश्वत सुख पा जावेंगे।
इस जीवन की कठिन समस्या
क्षण भर में सुलझावेंगे॥

बटनवाली

लेखक, श्रीयुत कान्तिचन्द्र सौरिक्सा

"तो क्या बेटा आज एक पैसे के भी बटन न लेगा ?"

धीरे-धीरे वह मुझसे दो तीन बार कह चुकी थी, पर मैं बुन्दा नीबूवाले से सौदा कर रहा था। मैंने सुना अनसुना कर दिया। बुन्दा दो पैसे के तीन नीबू से ज़्यादा देना नहीं चाहता था, पर मैं भी आज अड़ गया था कि चार ही लेकर हटूँगा। एक तो उसका रोज़ का बँधा हुआ गाहक, दूसरे इधर दो दिन से बाज़ार में नीबू आने भी ख़ूब लगे थे, और अन्य दुकानों पर पैसे के दो बिक भी रहे थे। ख़ैर, उसने अपना पुराना गाहक टलता देखकर कहा—"अच्छा साब, नाराज़ न हों, आप मेरे पुराने गाहक हैं, बोलिए कै पैसे के दूँ ?"

मैंने दो पैसे निकालकर उसे दिये और उससे चार नीबू लेकर तरकारी के थैले में डाल लिये। मुड़कर चलने को हुआ तो देखा कि 'बटनवाली' अब भी मेरे आगे हाथ बढ़ाये खड़ी है; उन लाल-सफ़ेद खुरखुरे हाथों में कपड़े के आठ बटनों की एक पिंडी थी। वह कहने लगी—"बेटा कितनी देर से खड़ी हूँ, आज क्या एक पिंडी भी न लेगा ?"

उसकी आवाज़ भारी थी। मालूम होता था कि इधर कई दिन से यकायक सर्दी बढ़ जाने की वजह से उसको कुछ ज़ुकाम था। और फिर बुढ़ापे में तो सभी मौसम दुख देते हैं, जाड़ा हो, गरमी या बरसात। मैं सोच ही रहा था कि इससे बटन मोल लूँ या न लूँ। एक तरह से मैं इसका भी रोज़ का गाहक होता जा रहा था। पर बटन तो कोई खाने-पीने की चीज़ नहीं जिसे मैं नियमित रूप से प्रतिदिन ख़रीद सकता। मैं इसी उधेड़-बुन में था कि बुन्दा मुझे चुप देखकर बोला, "हाँ साब, बेचारी को खड़े खड़े बड़ी बेर हो गई है। अब तो एक पैसे के ले ही लो, बेचारी ग़रीबिन है। बाबू एक पैसे में क्या बनता-बिगड़ता है, समझ लेना मोहताज को ही दे दिया।"

मोहताज का नाम सुनकर बुढ़िया कुछ चौंकी—"न न बेटा, तो मत ले! मोहताज बनकर पैसा लेना होता तो भीख न माँगती, इन मिटे बटनों को बनाने में क्यों रात रात भर दीदे फोड़ती ?" यह कहकर वह चल दी। मैं भी आगे बढ़ा—"नहीं नहीं, आज सचमुच बटनों की ज़रूरत भी थी। मेरे नौकर ने चलते वक्त कह भी दिया था। कई दिन से उसके कुर्ते में बटन नहीं हैं। मुझे भी जाड़े में उसका सीना खुला देखकर तरस आ गया, ला तो फिर दो पिंडियाँ दे दे"—कहकर मैंने उसे दो पैसे निकाल कर दिये।

उसने एक फटी-मैली छोटी-सी पोटली खोलकर एक पिंडी बटन और निकाले—"देखा, ये मुए कोंजड़े मुझे भिखमंगिन कहते हैं। बेटा, मेरी सारी ज़िन्दगानी बीत गई, पर कभी किसी के आगे एक धेले के लिए हाथ नहीं फैलाया।"

मेरी नज़र उसकी फूली, सुर्ख़, कीचड़ से भरी आँखों की तरफ़ बरबस उठ गई। मैंने देखा, उसमें आत्माभिमान की ज्योति थी, जो मेहनत और ईमानदारी से पैसा पैदा करनेवालों की ही आँखों में देखने को मिलती है। वह अपनी बात कहे जा रही थी :—

"जब हसन के बाप ज़िन्दा थे......", वह कुछ रुकी, जैसे गले में कुछ अटक-सा गया हो। मैं बीच में ही बोल पड़ा—"हसन कौन ?" पहले तो कभी उसने मेरे सामने यह नाम लिया नहीं था; पर वह बोली—"मेरा बेटा, और कौन हसन ! मैं तुझसे कै बार कह चुकी हूँ कि हसन मेरा बेटा था, वही एक बेटा था, बड़ा भला बेटा......

कहते कहते उसका गला भर आया और आँखों में आँसू आ गये, जिन्हें उसने अपनी कलाइयों से चिपटी, फटी, मैली-चीकट कुर्ती की बाहों से पोंछ डाला। "तो उनके ज़माने में बेटा मुझे किस बात की कमी थी। मैं रानी थी।" उसने गर्व के साथ कहा, पर फ़ौरन ही वह उदास हो गई। "लेकिन जब अल्लाह ने उन्हें बुला लिया, तो बेटा हम मज़दूर पेशा आदमी ठहरे, घर में कोई थाती

तो गड़ी रक्खी नहीं थी, खाने के भी लाले पड़ने लगे। तब मेरा हसन बारह बरस का रहा होगा। मजबूरन उसे पल्लेदारी करने भेज दिया......" कहकर उसने एक गहरी साँस ली, जो उसके मोटे नथनों से बाहर निकलती-सी दिखाई दी। फिर उसने ऐसी मुद्रा बनाई जैसे किसी कठिन बात को कहने के लिए साहस बटोर रही हो। "बेटा उतनी छोटी उमर और डेढ़-डेढ़ मन का पल्ला उठाना पड़ता था.. हाय मेरे लाल का सिर और गर्दन दर्द के मारे फट फट पड़ते थे—ख़ैर, अल्लाह की मर्ज़ी से सब आदत पड़ गई और फिर वह बड़ा भी हो गया था। माँ-बेटे की रूखी-सूखी गुज़र लायक़ चार-छः आने रोज़ की मज़दूरी हो जाती थी...इधर चार बरस से वह भी न रहा...उस साल का हैज़ा उसे भी निगल गया......" —इस बार तो उसके आँसू बाढ़ की तरह आ गये। वह ज़मीन की तरफ़ देख रही थी जो उसके लाल को हज़म किये बैठी थी। टपटप आँसुओं की झड़ी लग गई।

इस वक्त हम लोग कलुआ आलूवाले की दुकान के सामने खड़े थे। और खड़े-खड़े शायद पाँच मिनट से कुछ ही ज़्यादा हुए हों तो हों, वरना कुछ ऐसी देर भी नहीं हुई थी। पर कलुआ को मैं बहुत दिनों से जानता था। वह बड़ा हेकड़ आदमी था, रस्ता चलते लोगों से छेड़ख़ानी किया करता। वह भौंहें चढ़ाकर बोला, "चल चल आगे! बाबू तुम भी किस हरामज़ादी की बातों में आ गये। यह ऐसे ही जिसे देखो उसके सामने नुनुआ ढरकाया करती है। बड़ी बहानेबाज़ है ! गाहक को बहकाती है, चल-चल ! इतनी देर से दुकान के आगे रास्ता घेर रक्खा है !"

उसके इस टर्राने पर मुझे बड़ा गुस्सा आया, लेकिन मैं करता तो क्या करता। इन लोगों के मुँह लगना भी तो अपनी ही बेइज़्ज़ती कराना है। इधर मुझे उस बेचारी की बातों से और उसके [illegible] हालों से उस पर बड़ा तरस आ रहा था। सोचा कि इसकी कुछ और मदद करूँ। पर वैसे ही तो वह पैसे लेगी भी नहीं। मुझे बटनों की भी क़तई ज़रूरत नहीं थी। [illegible] अभी दो पैसे के बटन नौकर के नाम से झूठ मूठ ही [illegible] लिये थे। मैं कुछ निश्चय न कर सका। इतने में [illegible] किसी और गाहक से बात करने लगी, और फिर [illegible] गई। मुझे दो एक चीज़ें और ख़रीदनी थीं, सो जल्दी जल्दी लेकर मैं घर चला आया, क्योंकि मेरा जी एकदम उचट सा गया था।

× × × ×

(२)

जाड़ों में दस बजे स्कूल जाकर, फिर कहीं खेल-खाल-कर शाम को चिराग़ जलते जलते ही लौट पाता था। मुझे हमेशा से ही ख़ुद तरकारी ख़रीदने का शौक़ रहा है। नौकर के रहते हुए भी अम्मा मेरा यह शौक़ पूरा होने देती थीं। इसलिए मैं रोज़ सुबह को तरकारी लेने सब्ज़ीमंडी जाया करता था। तब वह मुझे कहीं न कहीं ज़रूर ही मिल जाती थी। क्योंकि मेरे वहाँ पहुँचने का वक्त कुछ बँधा हुआ सा था ही, इसलिए वह आज बुंदा नीबूवाले की दुकान पर, तो कल ज़रा दूर हटकर ज़मीन पर रखी हुई कलुआ आलूवाले की दुकान पर किसी-न-किसी गाहक को अपने कपड़े के बटन बेचते हुए मिल ही जाती थी। शायद वह पौ फटते ही सब्ज़ीमंडी पहुँच जाती थी, क्योंकि दो एक बार मैं तड़के ही तरकारी लेने गया, तब भी उसे वहाँ पाया। हाँ, तो जब मैं पहुँचता था तो वह और गाहकों की तरह ही मेरे आगे भी हाथ बढ़ा-कर बटन दिखाती और थोड़ी देर चुपचाप रहकर ही उन्हें मोल लेने को कहती। लेकिन उसकी इस 'चुप' में ही एक निहायत बेकस और बेबसी की आह थी जिसे मैं तरकारी-वालों से भाव-तौल, ताज़ी-बासी के झगड़े में भी न भूल पाता था। कुछ क्षणों की चुप के बाद फिर वह धीमी आवाज़ में कहती, "ले ले भैया, एक पैसे में आठ बटन हैं। धोबी के यहाँ कभी न टूटेंगे। ये चीनी के नक़ली बटन थोड़े ही हैं जो घाट से साबित न लौटें,"—और फिर वह गाहक की तरफ़ अपनी दो बड़ी बड़ी फूली आँखें उठाकर देखने लगती, तो ऐसा लगता था जैसे उनमें जीवन का बड़ा अनुभव, आत्मविश्वास और विवेक भरा हो। एक बार उसकी आँखें देख लेने पर अनजाने ही उसे आपाद-मस्तक देखने की जिज्ञासा होती। मैंने उसे कई बार सिर से पैर तक देखा था। वह क़द की कुछ ठिगनी और बदन में भारी थी। ताँबे का सा रंग था और सारे बदन में झुर्रियाँ पड़ी थीं। सारे चेहरे पर हलके हलके चेचक के दाग़ और अनगिनती रेखायें थीं। रोएँ और सर के बाल पककर बर्फ़ की तरह सफ़ेद हो गये थे, परन्तु यह

सफ़ेदी उसकी सत्तर वर्ष की ज़िन्दगी की धूप में नहीं आई थी।

ग़रीब के दुखों का अंदाज़ा न लगा सकनेवाले अकसर डाँटकर उसे दुतकार देते थे, जैसे उनसे वह एक पैसे की भीख माँगने आई हो!

"कपड़े के आठ बटन देकर एक पैसा ठगने चली है! इनका होगा क्या, सीप के बटनों के आगे इन्हें कौन ख़रीदता है?"

और वह चुप-चाप सुनकर आगे बढ़ जाती। शहर में आनेवाले गाँव के लोगों और ग़रीब नीच जाति के हाथों उसकी कुछ अच्छी बिक्री हो जाती थी, परन्तु ऐसे लोग सब्ज़ीमंडी और बिसातख़ानों में आते ही कितने हैं? दूसरे उन ग़रीबों को ज़रूरत ही कितनी पड़ती है? बहुत हुआ तो कुछ सफ़ेदपोश खद्दरधारी सज्जन उससे कभी-कभी बटन ख़रीद लेते थे। वरना वह बेचारी सब्ज़ीमंडी के एक कोने से दूसरे कोने तक सुबह से दोपहर तक यों ही चक्कर काटा करती थी। साँझ को वह शायद पैंठ चली जाती थी, जहाँ मैं समझता हूँ कि उसकी अच्छी बिक्री हो जाती होगी, क्योंकि वहाँ शहर के आसपास के गाँवों के लोग कपड़ा और जिंस ख़रीदने आया करते हैं। एक बार वह कह भी रही थी।

"बेटा पैंठ न होय तो मैं भूखी मर जाऊँ। सब्ज़ीमंडी की बिक्री में दो चार पैसे से ज़्यादा नहीं मिल पाते। यहाँ तो बाबू लोग विलायती कपड़े पहननेवाले आते हैं।"

हाँ, तो जब वह मेरी तरफ़ देखती तो मुझे चुपचाप पैसा निकालकर उसकी हथेली पर रख देना पड़ता था। ऐसा करने के लिए मुझे कोई मेरे अंतर से मजबूर करता। इस प्रकार मुझे उससे कम से कम एक पैसे रोज़ के बटन ख़रीदने की आदत पड़ गई, यह मेरा सब्ज़ीमंडी जाने की तरह ही एक स्वाभाविक कर्म हो गया था। वह मुझे बहुत अच्छी तरह पहचान गई थी। एक भलाई करनेवाले के रूप में अथवा एक रोज़मर्रा के गाहक की शक्ल में—यह तो मैं नहीं कह सकता। पर इतना ज़रूर जानता हूँ कि जब जब वह मेरी ओर देखती, तो उसकी आँखों में दीनता से अधिक स्नेह रहता था। अधिकतर वह मुझसे "बेटा" करके ही बोलती थी।

आठ-दस दिन तक तो मैं घर आकर अम्मा को अपने बटन ख़रीदने की बात बताता रहा, पर अब वह मेरी रोज़ रोज़ की इस दानशीलता की कहाँ तक तारीफ़ कर सकती थीं,—"घर-गृहस्थी का मामला ठहरा, सौ तरह के ख़र्च हैं। और फिर न जाने कौन सा भारी ख़र्च सर पर आ टूटे..... तुम्हारे इस रोज़ के दान के लिए मैं कहाँ से लाऊँगी......एक पैसा आपकी बटनवाली को चाहिए, दो-चार पैसे स्कूल के रास्ते में बैठे अंधे-लूलों के लिए चाहिए......और एक डेढ़ आना आपकी चाट के लिए, क्यों न?" एक दिन वे कह ही तो बैठीं।

मुझे बहुत बुरा लगा। "तो आप नौकर से तरकारी मँगा लिया करें", मैंने कह दिया और उस दिन से फिर मैं सब्ज़ीमंडी नहीं गया। इत्तफ़ाक़ से अगर भूले-भटके उधर निकल भी गया तो मैंने अपनी चाट के सबके सब पैसों के बटनवाली से बटन ख़रीद लिये। लेकिन फिर छमाही इम्तहान आ जाने की वजह से मेरा बाज़ार जाना ही बिलकुल बंद हो गया।

इम्तहान ख़त्म होने के बाद एक दिन शाम को मैं अपने स्वेटर के लिए ऊन ख़रीदने बिसातख़ाने गया। दिसम्बर का महीना था, जाड़ा कड़ाके का पड़ रहा था। मैं अपना चैस्टर पहने था। जगन्नाथ बिसाती की दुकान पर बैठा मैं ऊन देख रहा था, मैंने देखा कि एक खुरखुरा, भद्दा-सा हाथ कुछ सफ़ेद सी चीज़ थामे मेरे मुँह की तरफ़ बढ़ा चला आ रहा है।

इतने में ही जगन्नाथ चिल्लाया, "हटती क्यों नहीं है पीछे! क्या मुँह में ही हाथ घुसेड़ देगी!"

मैंने हड़बड़ा कर मुँह फेरा। सामने बटनवाली खड़ी थी। जगन्नाथ मुझसे कह रहा था, बाबूजी यह लोग बड़ा परेशान करती हैं.. ...सुबह से शाम तक ऐसे ही ताँता बँधा रहता है—जब तक वह अपनी बात करे बटनवाली बोल उठी, "अरे बेटा तू है, इतने दिन से क्या परदेस चला गया था? मैं तुझे रोज़ ढूँढ़ती थी, कई दफ़े उस बुंदा और कलुआ कोंजड़े से भी पूछा था, पर वे निगोड़े कब सीधे जवाब देते......" कहते कहते उसकी आँखों से ख़ुशी फूट पड़ी। मानों उसे अपना ही बेटा मिल गया हो। मैं दुकान के तख़्ते पर बैठा था। वहाँ से उठकर खड़ा हो गया—"अच्छा बोल, अच्छी तो है। मुझे बटन चाहिए, ला कहाँ है?"

"बेटा अबं तो कुल आठ पिंडी बची हैं, और तू तो जाने है बेटा, जब से गांधी मात्मा ने सबको खद्दर पहनाया है, मेरे बटनों की बिक्री भी बढ़ गई है। सवेरे से साँझ तक ५० पिंडी बेच लेती हूँ, कोई चार आने बच रहते हैं"......कहकर उसने बची हुई आठ पिंडियाँ मुझे दे दीं। मैंने उसे एक दुअन्नी दी जिसे उसने अपने तमाखू-छाली के बटुए में डाल दिया। आज वह बहुत ख़ुश थी। इतने पैसों के बटन एक साथ मैंने उससे कभी न लिये थे। बड़ी कृतज्ञताभरी दृष्टि से वह मुझे ऊपर से नीचे तक देखने लगी। उसकी नज़र मेरे ओवरकोट के बड़े बड़े, काले, चमकते हुए आयवरी के बटनों पर पड़ी। उनमें से एक को पकड़ कर वह बड़ी उत्सुकता से पूछने लगी—

"बेटा जे तो बड़े खूबसूरत बटन हैं, काहे के बने हैं? क्या टीन के हैं?"

"नहीं; यह बटन आलू शकरक़ंदी के गूदे से बनाये जाते हैं।"

"हाँ, सचमुच। सो कैसे? इन्हें कौन बनाता है?"

"यह मशीनों से बनते हैं, हाथ से नहीं; और बड़ी दूर समुद्र पार विलायत से बनकर आते हैं, समझी?"

"हाँ, तब तो कभी न टूटते होंगे!"

"सो तो नहीं, देखने के ही ख़ूबसूरत हैं। दो धोव में ही टूट-फूट जाते हैं।"

"तब क्या फ़ायदा मिटे ऐसे बटनों का?"—उसकी उत्सुकता कुछ उदासीनता में बदल गई। फिर कुछ सोचकर पूछने लगी—"लेकिन होंगे तो क़ीमती?"

मैंने कहा—"हाँ, दो पैसे का एक मिलता है, आठ सोलह पैसों के।" "तो देख बेटा, इससे अच्छे और सस्ते तो मेरे बटन हैं। एक पैसे में आठ और सौ बार के धोने में भी न टूटें,"—उसने अपने माल की वकालत की और फिर कुछ सुस्त हो गई। तत्पश्चात् वह कुछ देर तक लालच और रोषभरी नज़र से मेरे बटनों को देखती रही। फिर चलने लगी तो बोली—"बेटा कल से तो मैं बाज़ार में नहीं आऊँगी। आगरे में मेरी हमशीरा बिस्सो के नवासे का ब्याह है, वहीं जा रही हूँ। पन्द्रह-बीस दिन में लौट पाऊँगी।"

रात हो गई थी। सर्दी भी बढ़ रही थी। मुझे कुछ कँपकँपी सी आई, मैंने बटनवाली से पूछा—"क्यों तुझे सर्दी नहीं लगती। ख़ाली एक ठंडी दोहर ओढ़े है, कोई रुई का कपड़ा भी तो नहीं पहने है।" यह कहकर मैंने उसकी ओर देखा तो वह वास्तव में सर्दी के मारे सिकुड़ी जा रही थी। अपनी उस फटी-मैली दोहर को देह से सटा कर ठंड से बचना चाहती थी,—"हाँ बेटा अब तो जाड़ा बढ़ गया है, घर जाकर रुई की फ़तुई पहन लूँगी। अच्छा तो मैं जाती हूँ, ख़ुश रहना बेटा,"—कहकर वह धीरे धीरे आगे बढ़ कर कोहरे में छिप गई। मैं उसकी आत्मीयता और स्नेह की बात सोचता खड़ा रह गया। मैंने निश्चय किया कि अब मैं उससे स्नेह करूँगा, दया नहीं दिखाऊँगा, ऊन की ख़रीद कल के लिए स्थगित कर दी गई।

× × ×

(३)

जब इटली अबीसीनिया को हड़प कर गई और जापान चीन को चट कर जाने की कोशिश करने लगा तब मुझे भी कुछ लोगों की देखादेखी और अख़बारों में बड़ी बड़ी वक्तृतायें पढ़कर ग़ुस्सा आया। फलस्वरूप मैंने भी विरोध किया, मैंने जापान के सीप और चीनी के बटन, तथा इटली के आयवरी के बटन ख़रीदना बन्द कर दिया। यह तो दिखावट के लिए एक बहाना भर था, और ज़माने की बहती हुई हवा में उड़ने का एक फ़ैशन मात्र। पर असली बात यह थी कि बढ़ती उम्र के साथ अक़्ल के संग में किफ़ायतसारी भी मेरे जीवन में स्थायी मेहमान की भाँति आ गई थी। दूसरे उस बुढ़िया बटनवाली से स्नेहवश बटन ख़रीदने की भी एक अच्छी ख़ासी सुविधा प्राप्त हो जाने का अवसर था। इटली और जापान के प्रति विरोध का बहाना अम्मा को समझाने के लिए भी काफ़ी था। मैं अम्मा को ज़रा फुसलाने की गरज़ से कहा करता—"तुम भी इतनी बड़ी होकर फ़ैशन के टंटों में पड़ी रहती हो। आयवरी के बटनों ही में क्या रखा है, तीन धोवों में ही सूरत बुरी हो जाती है, और एक हैं आपके सीपी के बटन, जो धोबी के पाट के डर से ही चकनाचूर हो जाते हैं।" अब तो मेरे सभी कपड़ों में कपड़े के बटन लगने लगे, और मेरी देखादेखी मेरे भाई भी यही बटन लगवाने लगे। जब इन बटनों की इतनी माँग बढ़ी, तो

बटनवाली से ख़रीदे हुए सबके सब बटन एकबारगी काम आ गये। मुझे और बटनों की ज़रूरत पड़ी। बटनवाली की तलाश में तीन-चार बार सब्ज़ीमंडी गया पर वह नहीं मिली। एक दिन मैंने बुंदा से पूछा, उसने कहा—

"हाँ साब, देखा तो मैंने भी चार-पाँच दिन से नहीं है। वैसे वह आगरे से लौट आई थी।"

'लेकिन वह रहती कहाँ है? तुम्हें उसका पता मालूम है?"

"हाँ, एक बार मैंने उसका घर देखा तो था...... लेकिन कहाँ सो याद नहीं......" कह कर वह अपनी याद पर ज़ोर देने लगा—"हाँ ठीक याद आ गया,"—वह कुछ रुक कर बोला,—"वह 'सय्यदों की सराय' में रहती है। आपने सुनीपाड़ा तो देखा ही होगा, बस उससे सौ क़दम पर 'सय्यदों की सराय' ही शुरू हो जाती है।"

× × × ×

दूसरे दिन सुबह जब मैं घूमने निकला तो सोचा चलो उसका ही पता लगाऊँ। टहलना भी हो जायगा और काम भी। पूछता पाछता, कई छोटी तंग गलियाँ पार करता, मैं 'सय्यदों की सराय' पहुँचा। वहाँ मैं कच्चे टूटे-फूटे मकान के पास जाकर रुक गया। वहाँ दरवाज़े पर एक टेढ़ी-बकुची चारपाई पर एक बूढ़ा बैठा सबेरे की धूप खा रहा था। मैंने उससे पूछा—"बड़े मियाँ, यहाँ कोई बटन बनानेवाली भी रहती है क्या?"

मेरा सवाल सुनकर वह जवाब देनेवाला ही था कि उसे बड़े ज़ोर की खाँसी ने आ दबोचा। वह वहीं थूकने लगा। कुछ देर तक उसकी खाँसी नहीं रुकी, और जब रुकी भी तो उसमें जवाब देने लायक़ दम नहीं आया। इतने में अन्दर से एक अधेड़ स्त्री निकलकर दरवाज़े पर आई और बोली—"किसे पूछते हो?"

"कोई बटन बनानेवाली यहाँ रहती है, उसी को"—मैंने कहा।

"क्या सकीना को? इस महल्ले में तो वही बटन बनाया करती थी।"

"थी" सुनकर मैं कुछ घबड़ा गया, मैंने कहा—"हाँ, वह क्या यहीं रहती है?"

"हाँ, यहीं बराबरवाले मकान में रहती थी। आज पाँच दिन हुए मर गई।"

"मर गई। कैसे?" और मेरी नज़र बराबरवाले मकान की ओर उठ गई जिसमें मकान के नाम पर केवल एक मिट्टी का आदमी की ऊँचाई के बराबर ऊँचा घरौंदा था। टूटी-फूटी चार दीवारों के एक चौथाई भाग पर किसी छत का कंकाल जैसा पड़ा था। शेष भाग खुला हुआ था।

बूढ़े की स्त्री ने जवाब देना शुरू कर दिया था—"...इधर कुछ खाने पीने भर को पैसा अच्छा पैदा करने लगी थी। फिर आगरे चली गई। जो कुछ पैसा था वह वहाँ ब्याह में उठा आई और रोज़ी मारी गई सो अलग। जब लौटकर आई तो खाने को भी नहीं था, जाड़ों के पहनने-ओढ़ने के कपड़ों की बात तो रही अलग।

"तब क्या वह भूखों मर गई?"

"नहीं, सो तो हम लोग उसे रोटी खिला देते थे लेकिन आप समझते हैं कि माघ पूस के चिल्ला जाड़े, उस पर खुली कोठरी और ओढ़ने को कुछ नहीं। अच्छे खाते पहनते जवान इन्सान की तो बोटी बोटी थरथराती है, तब उस बिचारी की क्या बिसात थी! उस दिन रात को दिया जलाकर ज़्यादा रात तक बटन बनाती रही। सर्दी से ठिठुर कर रह गई। सबेरे मैं रोटी देने के लिए गई तो बेजान बर्फ़ की तरह ठंढी पड़ी थी........"

इसके आगे उसने क्या कहा, मुझे नहीं मालूम। मेरी नसों में ख़ून बरफ़ की तरह जम गया था। मैं चुपचाप सुन्न खड़ा था। उस सबेरे की सहमी हुई धूप ने मेरे जमे हुए भावों को पिघला दिया और वे द्रवित भाव से बाहर निकलना ही चाहते थे कि मैं उन्हें आँखों में ही पी जाने की कोशिश करता हुआ लौटकर चल दिया।

मसूरी का आदर्श सेवा-दल

लेखक, श्रीयुत प्रोफ़ेसर धर्मदेव शास्त्री

प्राचीन ऋषियों ने जिस सेवा-धर्म को परम गहन कहा है, सेगाँव के वर्तमान ऋषि ने उसी सेवा-धर्म के द्वारा देश को क्रमशः सोते से चलता कर दिया है। देश में बढ़ती हुई सेवा-समितियाँ और सेवा-दलों की संख्या इसका प्रमाण है। भारत के अधःपात के कारणों में से अनुशासन का अभाव भी एक है। सेवा-समितियाँ इसका क्रियात्मक प्रतिकार हैं। राजनीतिक जाग्रति के साथ-साथ इन सेवा-दलों में भी वृद्धि हुई है।

हिन्दुओं में इस प्रकार के संगठन अनेक हैं। प्रायः सभी छोटे-बड़े शहरों और क़स्बों में तथा अब तो बहुधा ग्रामों में भी इस प्रकार की संस्थायें स्थापित हो गई हैं। इनमें प्रायः युवक-युवतियाँ और बालक-बालिकायें सेवा-भावना से प्रविष्ट होती हैं। मुसलमानों में अभी तक इस दिशा में विशेष कार्य नहीं हुआ है। सीमा-प्रान्त का ख़ुदाई-ख़िदमतगारों का संगठन इसका अपवाद है। देश की सर्वतोमुखी उन्नति के, तथा जाग्रति को सबसे निचले स्तर तक पहुँचाने के, ये दल मुख्य साधन हैं। यद्यपि इस प्रकार के दलों का जाल-सा सारे देश में बिछ जाना चाहिए, तथापि बिना किसी प्रयास-विशेष के इस प्रकार के दलों का बनना व्यापक जाग्रति का सूचक है। यदि इन सब दलों का राष्ट्रीय एकीकरण किया जाय तो समय पर ये दल राष्ट्रीय सेना और गांधी जी की अहिंसा-सेना का काम दे सकते हैं, तथा देश के संकट में सहायता देने का कार्य कर सकते हैं। किसी विशेष केन्द्रित संगठन के न होने से ये सब दल अधिक उपयोगी नहीं हो सके। इसी कारण इनका कार्य-
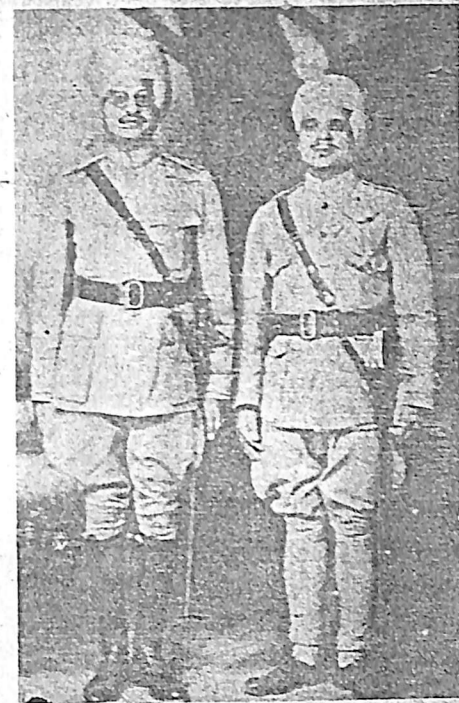
[१—श्रीयुत आनन्दप्रकाश जी प्रधान सेना-नायक। २—डा० बालकृष्ण जी प्रधान, सेवकमण्डल (मसूरी)।]

क्षेत्र रामलीला-मेला आदि जैसों तक ही सीमित रह गया है। वस्तुतः पता लगाने पर मालूम होगा कि मूल में कुछ मनचले नवयुवकों ने सेवा और जातीय रक्षा की पुनीत भावना से प्रेरित होकर ही इनको जन्म दिया था। कुछ समय पूर्व ऐसा लगता था कि इन दलों का नेतृत्व साम्प्रदायिक नेताओं के हाथ में जाने लगा है, परन्तु इधर स्पष्ट हो गया है कि ये सब दल राष्ट्रीयता की ओर आ रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन सबको एक सूत्र में बाँधने का आन्दोलन चलाया जाय।

सेवा-कार्य इतना महत्त्वपूर्ण और लोक-प्रिय है कि इसके लिए आर्थिक कठिनाई भी नहीं हो सकती। केन्द्रीकरण में निम्न तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) सेवा-दल ग्रामों में व्यापक बनाये जायँ। नियम, उद्देश्य और वेश आदि का निश्चय ग्रामीण जनता की सुविधा और आवश्यकता को सामने रख कर किया जाय।
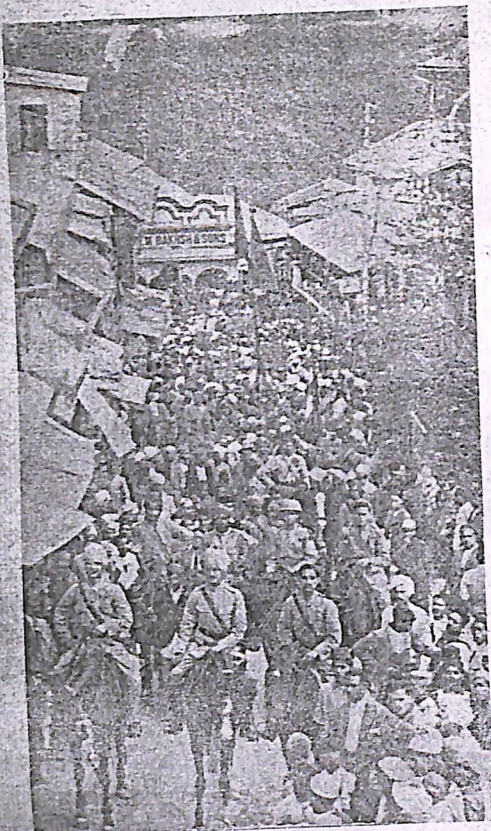
[महावीरजयन्ती पर सेवकमण्डल का प्रदर्शन। आगे घोड़े पर सवार क्रमशः डा० बालकृष्ण, श्री आनन्दप्रकाश, श्री दयाप्रकाश (मन्त्री)।]

(२) वेश-शिक्षा आदि के द्वारा राष्ट्रीयता को अधिक से अधिक पोषण मिले।

(३) दल-विशेषों का क्षेत्र जाति-वर्ग-सम्प्रदाय विशेष होते हुए भी उन्हें केन्द्रित किया जाय। संगठन को नया दल-विशेष होने से बचाया जाय।

इस बात की नितान्त आवश्यकता है और [illegible] समय भी अनुकूल है कि इन लोक-सेवक संस्थाओं का [illegible] किया जाय। इनका केन्द्रीकरण न होने से इन सेवा-दलों के क्षेत्र के दिन प्रतिदिन संकीर्ण होने का अंदेशा है और ये दल हिन्दुओं की जाति-पाँति को सुरक्षित करने की सेना बन जायँ, यह भी हो सकता है। इसका एक प्रमाण दल-विशेषों के नाम ही हैं। क्षत्रिय, अग्रवाल, भूमिहार, धीमान् आदि के नाम दलों से सम्बन्धित रहते हैं। मेरा अभिप्राय इनका नाम बदलने से नहीं है। केन्द्रीकरण हो जाने पर इन नामों से भी कार्य वही होगा जो होना चाहिए। यदि समूचे देश अथवा प्रान्त में इस प्रकार का संगठन करने में दिक़्क़त हो तो स्थानीय सब दलों के तो संगठित करने में कोई अड़चन नहीं। मसूरी के ५ दलों ने इस प्रकार संगठित होकर द्रोणाचल के अन्य स्थानीय विविध दलों के समक्ष संगठित होने का आदर्श उपस्थित किया है। मसूरी के उक्त-दलसंगठन का नाम है 'सेवक-मण्डल'। इस मण्डल ने थोड़े ही समय में आशातीत सफलता प्राप्त की है।

× × × ×

मसूरी हिमालय की रानी समझी जाती है। भारत के प्रायः सभी प्रान्तों से प्रतिवर्ष अनेक नर-नारी यहाँ स्वास्थ्य-लाभ और भ्रमण के लिए आते हैं। उच्च सरकारी अधिकारियों की कृपा-दृष्टि न होने से सर्व-साधारण को—राजा-रंक सभी को—स्वच्छन्द विहार का जितना अवसर यहाँ मिलता है, उतना अन्यत्र किसी पर्वतीय स्थान में नहीं मिल सकता। नीचे मैदानों के स्वतन्त्रता के अनभ्यस्त स्त्री-पुरुष यहाँ एकदम स्वतन्त्र वायु में विहार करने के कारण कुछ आविष्ट से हो जाते हैं। इसी लिए यहाँ स्त्री-जाति के साथ कुछ गुंडों-द्वारा अनभिलषित चेष्टाओं की वारदातें भी कभी-कभी हो जाती हैं। इस बुराई को दूर करने के लिए २ सितम्बर १९३८ को मसूरी के २५ विशिष्ट व्यक्तियों ने एकत्र होकर विचार-विनिमय किया। इसके संयोजकों में पण्डित मेहरचन्द्र शर्मा, बाबू विशनस्वरूप और डाक्टर बालकृष्ण जी मुख्य थे। विचार-विनिमय के अनन्तर एक 'सेवा-दल' की स्थापना का निश्चय किया गया। प्राथमिक अधिकारियों का निर्वाचन भी उसी समय हो गया। दल के दो प्रकार के सदस्य बनाने का निश्चय किया गया—

(१) सहायक सदस्य—जो दल के उद्देश्यों से सहमत हों, तथा कम-से-कम चार आने मासिक सहायता दें।

(२) स्वयं-सेवक-सदस्य—जो स्वयं-सेवक का कार्य करें और यथाशक्ति दो आने मासिक सहायता दें।

प्रारम्भ से ही मसूरी-बोर्ड के प्रायः सब क्लर्क आदि इसमें सम्मिलित हैं। सेवा दल ने जन्म के साथ ही जनता के हृदय पर अधिकार कर लिया है। इसका मुख्य कारण है इसके कार्य-कर्ताओं का सदाचार। इनमें से पण्डित मेहरचन्द्र जी बहुत ऊँचे आध्यात्मिक पुरुष हैं। इस प्रकार के नेक और सदाचारी व्यक्ति कम मिलेंगे।

[पोलीटिकल कान्फ़रेन्स के अवसर पर सेवकमण्डल-द्वारा जनता का नियन्त्रण।]

डाक्टर बालकृष्ण ने तो सेवा-दल के जन्म से भी पूर्व मसूरी के युवकों और युवतियों को नवीन पद्धति से ट्रेनिङ्ग देने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। यही कारण था कि सेवा-दल के जन्म से १५ दिन बाद ही श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित जब मसूरी गईं और सेवा-दल ने उन्हें 'सलीव्यू' में 'गॉर्ड ऑफ़ ऑनर' दिया तब श्रीमती विजय-लक्ष्मी पंडित उससे बहुत प्रभावित हुईं।

सेवा दल की इस आशातीत सफलता का मसूरी की जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। १९३८ के साल में ही मसूरी में सेवा-दल के अतिरिक्त पाँच और दल बन गये और वे सब अपना अपना कार्य भले प्रकार चला रहे हैं। उन दलों के नाम से ही प्रतीत हो सकता है कि सेवा-भाव की भावना हिन्दुओं के प्रत्येक वर्ग में बढ़ी है। सेवा-दल के अतिरिक्त अन्य पाँच दलों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) गढ़वाली-दल (गढ़वालियों का),
(२) सिक्ख-यूथ एसोसियेशन (सिक्ख-सरदारों का),
(३) व्यापारी-कर्मचारी-संघ (व्यापारी-मज़दूर आदि का),
(४) वाल्मीकि-दल (हरिजनों का),
(५) महावीर-दल (सनातनियों का)।

इनमें से महावीर-दल का जन्म तो यद्यपि सेवा-दल से पूर्व ही हुआ था, तो भी इसका विकसित रूप जनता के समक्ष 'सेवा-दल' के यौवनानन्तर ही हुआ।

× × ×

"भगवान् का साक्षात्कार कैसे हो?"—एक दिन पंडित मेहरचन्द्र जी ने लेखक से पूछा। मैंने उत्तर में कहा—"मेरा तो इस सम्बन्ध में दृढ़ मत है। ऋग्वेद से भगवद्-गीता तक सभी शास्त्रों का यही कहना है कि भगवान् का दर्शन करनेवाले को दरिद्रनारायण की शरण में जाना चाहिए, उसकी पूजा करनी चाहिए। प्रभु का दर्शन बड़े बड़े महलों में नहीं, बल्कि ग़रीब, पतित और बीमार के घर में होगा। और होगा—उनकी अनन्य हृदय से सेवा करते हुए। दरिद्रनारायण की सेवा का अर्थ दरिद्रता का—अशिक्षा—पतन—का पोषण करना नहीं, इन बुराइयों के दूर करने में अनन्य मनस्क होकर जुट जाना है। आपका सेवा-दल यदि दरिद्र की सम्पत्ति नहीं बन सकता तो उसका लाभ अधिक नहीं। आज के युग-निर्माता पूज्य महात्मा गांधी के भाव को ही मैंने अपने शब्दों में कहा है।"

"तब मैं क्या करूँ?"—इस पर पंडित मेहरचन्द्र जी बोले। "यदि आपके पास अधिक समय नहीं है तो भी

...पैसेवालों के द्वारा मिला जब कि उसका ...विभाजन का यही अहिंसात्मक ...आधार है। सेवा करने में ...यह बात वही जान सकता ...चस्का लग गया है। पंडित

×

...म्मद के जीवन पर ...चार से मुसलमान ...बोली में भी ...

[श्रीयुत आ... मण्डल। जनत... प्रति... इन... दृढ़... वितर... को स... मेहर... पु... का... वे प्रति... थे। औषधालय के ...

यह जानकर मुझे बहुत हर्ष हुआ, साथ ही ... को अमरत्व प्राप्त हुआ। औषधालय में जो व्यय हुआ ... सम्मिल...

सेवक-मण्डल के अधीन इस समय २५० स्वयंसेवक हैं, जिनमें आर्यसमाजी, सिक्ख, जैन, हरिजन आदि सभी सम्मिलित हैं। सब स्वयंसेवक सुशिक्षित और सदाचारी हैं। सेवक-मण्डल शीघ्र ही महिलाओं का भी पृथक् दल बनाने जा रहा है।

मसूरी में वर्ष भर रहनेवालों की संख्या नहीं के बराबर है। तिस पर भी इतने अधिक और सुशिक्षित स्वयंसेवकों की फ़ौज को देखकर कोई भी सेवक-मण्डल की गति-विधि की प्रशंसा किये बिना न रहेगा।

द्रोणाचल से सेवक-मण्डल ने विविध दलों के संगठन और सुशिक्षा तथा सेवा का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह अनुकरणीय है।

मानव की नश्वरता

लेखक, श्यामविहारी शुक्ल 'तरल'

(१)

आया भविष्य की भाँति था जो कल हो वही आज अतीत चला गया।
जीवन में था प्रधान जो आज वही सुख कल्पनातीत चला गया॥
रोक सका अपने को न कोई अरे गया हार या जीत चला गया।
और की कौन कहे ख़ुद मानव गाता विनाश के गीत चला गया॥

(२)

कोई गया हँस के इस विश्व से कोई अशान्त हो रोके चला गया।
कोई गया फँस तीव्र प्रवाह में खा कोई मृत्यु के झोंके चला गया॥
जाना अवश्य था धीरता से गया कोई अधीर-सा हो के चला गया।
पा के महानता कोई गया तथा कोई महानता खो के चला गया॥

(३)

मोद भी पा सकेगा कभी ये अथवा पछताता हुआ चला जायगा।
क्रान्ति को देश में लाके कि क्रान्ति के गीत ही गाता हुआ चला जायगा॥
प्राप्त करेगा कभी भला शान्ति या भ्रान्ति ही पाता हुआ चला जायगा।
हो अपमानित या सदा विश्व की ठोकरें खाता हुआ चला जायगा॥

भारत का उद्योगीकरण

लेखक, श्रीयुत अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

भारत की बहुसंख्यक आबादी की दरिद्रता दूर करने के लिए उद्योगीकरण अनिवार्य है। इस लेख में लेखक ने एतत्संबंधी समस्याओं पर युक्तिपूर्वक प्रकाश डाला है।

"कृषिमूलं धनं तत्तु चीयते शिल्पकर्मणा।
शिल्पजीवी स तुष्टश्चेद्राष्ट्रं स्यात् सुखभाक्तदा॥"

धुनिक भारत के इतिहास में २ आक्टोबर १९३८ का दिन विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। इस दिन जहाँ समस्त भारत विश्व-विभूति महात्मा गांधी के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहा था, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रपति श्री सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में कांग्रेसी उद्योग-मन्त्रियों की कान्फ़रेन्स ने भारत का उद्योगीकरण करने का निश्चय किया और इसके लिए योजना बनाने के लिए आर्थिक-नियोजक-मण्डल (आल इंडिया प्लानिंग कमीशन) और श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 'योजना-समिति' (प्लानिंग कमिटी) का निर्माण किया।

आश्चर्यजनक परिवर्तन—सचमुच यह एक आश्चर्य की बात मालूम होती है कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस यांत्रिक औद्योगिक प्रगति के पथ पर देश को ले जाने का उपक्रम कर रही है। बहुत-से लोगों को यह बात एक स्वप्न मालूम होती है, क्योंकि 'हिन्द-स्वराज्य' के ये शब्द आज भी उनके कानों में गूँज रहे हैं—"यदि सारी मैशीनरी बंगाल की खाड़ी में डुबो दी जाय, तो भी वे एक भी दुःख का आँसू न बहायेंगे।" मगर यह सच है, क्योंकि हम राष्ट्रपति के समर्थन से उद्योग-मन्त्रियों की कान्फ़रेन्स को यह प्रस्ताव पास करते हुए देखते हैं—"उद्योग-विभाग के मन्त्रियों की यह राय है कि देश की ग़रीबी, बेकारी, राष्ट्रीय संरक्षा और आर्थिक पुनर्घटना की समस्याओं का हल उद्योगीकरण के बिना नहीं हो सकता।" कान्फ़रेन्स-द्वारा इस बात का स्वीकार किया जाना कि देश की ग़रीबी, बेकारी, राष्ट्रीय संरक्षा व आर्थिक पुनःसंघटन यांत्रिक उद्योगीकरण के बिना सम्भव नहीं है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसके साथ भारत की औद्योगिक क्रांति में नवीन अध्याय का आरम्भ होता है।

आत्म-निर्भरता—'योजना-समिति' के पंडित जवाहरलाल नेहरू जी के अध्यक्ष होने से यह अनुमान करना सहज है कि भारत का औद्योगिक विकास वर्गवाद के अनुसार होगा। इसका अर्थ है कि भारत के लिए स्वतन्त्र आर्थिक नीति के निर्माण करने की आवश्यकता नहीं है। मगर इस आशंका का निरसन राष्ट्रपति ने स्वतः कर दिया है। श्रीयुत सुभाषचन्द्र बोस का कहना है कि—"यद्यपि औद्योगिक दृष्टि से संसार एक यूनिट (एकाई) है, मगर हमें भारत में अपनी महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए स्वयं पूर्ण राष्ट्रीय नीति स्वीकार करनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि कांग्रेस की औद्योगिक नीति राष्ट्रीय होगी, वर्गवाद के सिद्धान्तों और तत्त्वों के अनुसार न होगी।

नैसर्गिक सम्पत्ति—राष्ट्रीय सम्पत्ति के निर्माण का प्रधान साधन निसर्ग है। 'निसर्ग' में खेती की प्रधानता से गणना की जाती है, [illegible] इसमें इतर व्यवसायों का भी समावेश होता है। निसर्ग-योजना में खान, जल-भण्डार, खेती, जंगल इत्यादि से जो वस्तुएँ बनती हैं, और उनसे जिन वस्तुओं को मनुष्यवर्ग अपने राष्ट्र के उपयोग के लिए संगृहीत करता है, वे वस्तुएँ राष्ट्रीय सम्पत्ति का मूलाधार होती हैं। निसर्ग से प्राप्त वस्तुओं का समाज सहसा उपयोग नहीं कर सकता। निसर्ग से निकाली वस्तुओं का संस्कार करने की ज़रूरत होती है और यह कार्य अत्यन्त परिश्रम और कौशल का काम है। अर्थशास्त्र की परिभाषा में संस्कार से पहले की वस्तुओं को कच्चा माल और संस्कार करके उपयोगावस्था तक पहुँची वस्तुओं को पक्का माल कहते हैं। मगर निसर्ग से खोज कर वस्तु का निकालना और उस वस्तु के अनेक संस्कार करके उसका मूल्य अनेक गुणा बढ़ाना बहुत श्रम-साध्य है।

इस प्रकार श्रम करनेवाले कारीगर-वर्ग यदि समाज में होते हैं तो उनके श्रम के फलस्वरूप निसर्गोत्पन्न वस्तु हस्तगत होती है और हस्तगत वस्तु पर संस्कार करने से उसकी क़ीमत बढ़ती है, इसलिए शिल्पजीवी-वर्ग का समाज में बहुत महत्त्व है। इसलिए कहा जाता है कि यदि शिल्पजीवी-वर्ग सन्तुष्ट हो तो राष्ट्र की शाश्वत सम्पत्ति बढ़ती है और राष्ट्र सुखी होता है। प्रश्न यह है कि भारत सुखी है क्या? इसका उत्तर यही है कि वह दुःखी है। तब प्रश्न होता है, वह दुःखी क्यों है और उसके निवारण का क्या उपाय है?

किसान क़र्ज़दार क्यों है?—भारत पर प्रकृति प्रसन्न है, उदार है। रत्नाकर तीन दिशाओं से इस देश को आलिंगन कर रहा है। हिमालय, विन्ध्याचल, सतपुड़ा, सह्याद्रि, मलयाद्रि के सदृश नैसर्गिक समृद्धि के अपार संचयवाले पर्वत इस देश में हैं। गंगा, यमुना, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, महानदी, नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, कृष्णा, तुंगभद्रा, कावेरी के सदृश नदियों के कारण यह देश जल-समृद्ध है। ज़मीन एक प्रकार की फ़सलों के लिए उपयुक्त है। समशीतोष्ण जलवायु होने के कारण सब प्रकार के धान्य यहाँ हो सकते हैं। यहाँ के लोग परिश्रमी हैं। जन-शक्ति की भी इस देश में कमी नहीं है। इस अवस्था में भी इस देश के किसान क़र्ज़दार हैं, यह क्या आश्चर्य की बात नहीं है? राष्ट्रीय सम्पत्ति का मूलाधार कृषिकर्म है और उसकी यह दैन्य अवस्था क्या परिताप की बात नहीं है?

ब्रिटिश नीति—पिछले डेढ़ सौ वर्षों में इस देश में खेती की उन्नति के लिए वैज्ञानिक रीति से कोई यत्न नहीं किया गया है। यद्यपि इस काल में देश में आन्तरिक शक्ति थी और इसके फलस्वरूप देश को समृद्ध होना चाहिए था, तो भी हुआ इसके विपरीत ही। ब्रिटिश सरकार की यह नीति रही कि भारत कृषि-प्रधान देश है और इसको कृषि-प्रधान ही बना रहना चाहिए, जिससे इँगलेंड को सदा कच्चा माल सस्ते भाव से मिलता रहे और ब्रिटेन के कल-कारख़ाने बराबर चलते रहें। इस नीति के कारण प्राचीन काल से चले आ रहे, पौराणिक काल में उन्नतावस्था में पहुँचे हुए, मध्ययुग कालीन अशान्ति की आँधी में जीवित रहे कला-कौशल के अनेक उद्योग-धन्धे अर्वाचीन काल में मृत्यु-पथ के राही बने! इमारत का ऊपरी भाग गिरने से जिस प्रकार धीरे धीरे सारा मकान गिर जाता है, उसी प्रकार उद्योग-मन्दिरों का एक-एक दालान के गिरने के साथ-साथ उसकी आधारभूत खेती पर भी उसका अनिष्ट परिणाम होने लगा। जहाँ खेती का पर्यवसान उद्योगीकरण में नहीं होता, वहाँ खेती भी पराधीन हो जाती है। आज हालत यह है कि यदि कृषिजन्य पदार्थों व कच्चे माल की विदेशों को रफ़्तनी अधिक मात्रा में हुई और उसकी क़ीमत भरपूर मिली तो देश की हालत कुछ अच्छी रहती है, अन्यथा आज के समान अवस्था ख़राब ही रहती है।

ज़मीन पर भार—पुराने उद्योग-धन्धों के नष्ट हो जाने और नवीन उद्योग-धन्धों के जारी न होने से ज़मीन पर भार बढ़ता जाता है। १९३१ में २३ करोड़ व्यक्ति ज़मीन के सहारे अपनी जीविका चला रहे थे। ज़मीन पर भार निरन्तर बढ़ता जा रहा है, यह निम्न तालिका से मालूम होगा—

१८९१	६१ प्रतिशत
१९०१	६६
१९११	७२
१९२१	७३
१९३१	८०

आर्थिक मन्दी की वजह से यह संख्या और बढ़ गई है। हमारे देश में कितने व्यक्ति किस किस रोज़गार में लगे हुए हैं और ज़मीन पर कितना भार है, इसका अन्दाज़ा निम्नसारिणी से लग सकेगा—

खेती	२३ करोड़	८० प्रतिशत
व्यापार	२ करोड़	११ प्रतिशत
वकील, बैरिस्टर, नौकर	८०,००,०००	४ "
ज़मीन्दार व ताल्लुक़ेदार	८५,००,०००	
राजा-महाराजा	१६,२२८	
मज़दूर	७,००,००,०००	
साधु, फ़क़ीर, अपंग, अंधे, भिखारी	१,६२,८३,७७२	

हमारे देश की दयनीय अवस्था पर उपर्युक्त आँकड़े भले प्रकार प्रकाश डाल रहे हैं। प्रश्न यह है कि यह दुरवस्था किस प्रकार दूर हो?

एक ही उपाय—इसका एक ही उपाय है कि देश का उद्योगीकरण किया जाय और खेती को स्वावलम्बी बनाया जाय। हमारे देश में श्रीमान् विश्वेश्वर रैयाजी के कथनानुसार चार करोड़ बेकार हैं, जब कि अन्य देशों में इसके मुक़ाबले में उनकी संख्या नगण्य है। इस विषय के तुलनात्मक आँकड़े हम नीचे देते हैं—

	१६२९ (हज़ार)	१९३२ (हज़ार)
कनाडा	१२	४१
बेल्जियम	२७	३३३
जापान	२६९	४७१
फ्रांस	३३७	८०६
ग्रेट ब्रिटेन	१,२३४	२,८०९
जमनी	२.४८४	६,१२८
भारत	......	४ करोड़

इस बेकारी को दूर करने में खेती असमर्थ है, यह कहने की ज़रूरत नहीं है। इसलिए बेकारी को दूर करने के विचार से भी उद्योगीकरण आवश्यक है। देश की समृद्धि के लिए भी यह आवश्यक है। आज जो देश समृद्ध दिखाई देते हैं उनकी सम्पत्ति का आधार उद्योग-धन्धे हैं, यह बात निर्विवाद है। इस प्रसंग में निम्न-सारिणी उपयोगी सिद्ध होगी—

	आमदनी उद्योग-धन्धे (प्रतिव्यक्ति) रु०	खेती से (प्रतिव्यक्ति) रु०
संयुक्तराज्य	७२१	१७५
कनाडा	४७०	२१३
ग्रेट ब्रिटेन	४१२	६२
स्वीडन	३८४	१२९
जापान	१५८	५७
भारत	१२	५६

यही कारण है कि यहाँ की मिट्टी 'सुजला, सुफला और शस्यश्यामला' होने पर भी इस देश की वार्षिक सम्पत्ति अन्यों के मुक़ाबले में कम है। यथा—

	वार्षिक सम्पत्ति (रुपयों में)
संयुक्तराज्य	९,३६५
कनाडा	८,०२३
ग्रेट ब्रिटेन	६,३७१
जापान	२,३८०
भारत	३४१

इससे स्पष्ट है कि भारत की समृद्धि को बढ़ाने के विचार से भी इस देश का भी यान्त्रिक उद्योगीकरण आवश्यक है। इसके पक्ष में खाण्ड-व्यवसाय का एक ज्वलन्त उदाहरण भी पेश किया जा सकता है। १९३२ में खाण्ड-व्यवसाय को संरक्षण दिया गया। आज उस धन्धे में दो हज़ार शास्त्रज्ञ तरुण और दस हज़ार इतर तरुणों को काम मिला हुआ है। यदि एक धन्धे से भारत के इतने शिक्षितों और खेतिहरों को मदद मिल सकती है, यदि देश के यान्त्रिक उद्योगीकरण के विषय में राष्ट्र-नेताओं और सरकार की दृष्टि बदल गई, तो कितना कार्य किया जा सकता है, यह वर्णन की वस्तु नहीं है। इन सब बातों से सिद्ध है कि भारत की ग़रीबी बेकारी को दूर करने और उसकी समृद्धि का एक-मात्र उपाय देश का उद्योगीकरण है। हमारे प्राचीन नीतिकारों ने भी कहा है—

"वाणिज्ये वसते लक्ष्मीस्तदर्धं कृषिकर्मणि।
तदर्धं राजसेवायां भिक्षायां नैव नैव सा॥"

आर्थिक नियोजन—यह निश्चित कर लेने के बाद कि देश का उद्योगीकरण आवश्यक है, स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि यह किस प्रकार किया जाय। अव्यवस्थित रूप से या व्यवस्थित रीति और पूर्ण पद्धति से? भारत जैसे स्वाधीन देश के लिए यह ज़रूरी है कि श्रम और पूँजी का सर्वोत्तम सदुपयोग हो। इस देश में पूँजी की भी कमी है इसलिए यह और भी ज़रूरी है कि हम योजना बनाकर काम करें। इसलिए उद्योगीकरण के लिए आर्थिक नियोजन ज़रूरी है। हमें बड़े, मध्यम और गृह-उद्योग-धंधे इन तीन भागों में सब उद्योग-धंधों को बाँट लेना चाहिए और इस प्रकार काम करना चाहिए कि ये तीनों एक दूसरे के पूरक हों, सहायक हों, प्रतियोगी न हों। इसके साथ ही माल की ज़रूरत से ज़्यादा उपज नहीं होने

देनी चाहिए और न एक ही जाति का माल दो विभिन्न धंधों में निर्माण करने की ज़रूरत है। हमारे सामने सोवियट रूस की पंचवार्षिक और जर्मनी और इटली की सप्तवार्षिक योजनायें हैं। इनके अनुभवों से हम पूरा-पूरा लाभ उठा सकते हैं।

एकसूत्रता चाहिए—आर्थिक पुनःसंगठन के लिए योजना की ज़रूरत है और योजना बनाने के लिए सामग्री चाहिए; और सामग्री इकट्ठी करने के लिए जाँच व परीक्षा की ज़रूरत है। संशोधन, संकलन और संघटन अन्य शास्त्रों के अभ्यास के लिए जिस प्रकार आवश्यक हैं, उसी प्रकार इसके लिए भी ज़रूरी हैं। विभिन्न प्रान्तों में आर्थिक संशोधन और आर्थिक जाँच का काम हुआ है और इस विषय में कुछ साहित्य भी प्रकाशित हुआ है। मगर यह कार्य या तो व्यक्तियों ने किया है या एक-आध संस्था ने अपनी इच्छा से किया है। एक प्रान्त में ही काम करनेवाले व्यक्तियों और संस्थाओं ने अभी तक मिलकर इस कार्य को नहीं किया है। ज़रूरत इस बात की है कि विभिन्न प्रान्तों में हो रही आर्थिक जाँच एक केन्द्रीय बोर्ड के निरीक्षण में हो। किसी व्यक्ति या संस्था के मन की लहर पर जाँच को न छोड़ना चाहिए। आर्थिक जाँच के काम को एक सूत्र में करना चाहिए।

कालेज की छुट्टी का उपयोग—आर्थिक जाँच का काम कालेजों के छात्र और उनके प्रोफ़ेसर छुट्टी का समय देकर भले प्रकार कर सकते हैं। इस देश में कम से कम १६ यूनिवर्सिटियाँ, २४२ आर्ट्स कालेज और ७१ औद्योगिक कालेज हैं। संयुक्त-प्रान्त का कोई ऐसा ज़िला नहीं है—नैनीताल और अलमोड़ा को छोड़कर—जहाँ कोई कालेज न हो। इसके अतिरिक्त 'गोखले स्कूल आफ़ इकनामिक्स' सरीखी संस्थायें और चेम्बर्स ऑफ़ कामर्स हैं। इन सबकी सम्मिलित शक्ति का उपयोग हर एक ज़िले की बारीकी से आर्थिक जाँच कराने में किया जा सकता है। प्रान्तीय सरकार के और इनके द्वारा की गई जाँचों की रिपोर्टों के आधार पर हर एक प्रान्त की आर्थिक जाँच की रिपोर्ट तैयार करनी चाहिए। जिस प्रकार साक्षरता के प्रसार में कालेज के छात्र राष्ट्र-सैनिक बन रहे हैं, उसी प्रकार इस कार्य के लिए भी उन्हें अपनी सेवायें देने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

गज़ेटियर की पुनरावृत्ति—आर्थिक जाँच के अलावा गज़ेटियरों की पुनरावृत्ति की भी आवश्यकता है। इनको तैयार हुए ६० साल हो गये हैं। इसमें ख़र्च बहुत होगा। मगर स्थानीय संस्थाओं को ग्रांट देकर यह कार्य आसानी और कम ख़र्च में किया जा सकता है।

१६४१ में मर्दुमशुमारी—आर्थिक जाँच के काम के वास्ते एक साल अलग है। इसके बाद १९४१ में मर्दुमशुमारी होनेवाली है। उस वक्त आर्थिक जाँच आवश्यक होते हुए भी, उस विषय की सामग्री सर्वत्र बारीकी से इकट्ठी नहीं की जा सकती। मगर नियोजक-मण्डल अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस अवसर का उपयोग कर सकता है। यह ठीक है कि मर्दुमशुमारी का काम प्रान्तीय सरकारों के क्षेत्र से बाहर है और यह केन्द्रीय सरकार के अधीन है, मगर इसका सारा काम प्रान्तीय सरकार करती है। इसलिए नियोजक-मण्डल सरलता से उनकी सहायता से आवश्यक सामग्री संग्रह करवा सकता है। इस प्रकार विस्तार से की गई जाँच के आधार पर बनाया गया कार्यक्रम व योजनायें ठीक होंगी, अन्यथा जल्दी में तैयार की गई रिपोर्टों के आधार पर तैयार की गई योजनाओं से लाभ की अपेक्षा नुक़सान होने की ज़्यादा सम्भावना है।

विशेषज्ञों की कमिटी—नियोजक-मण्डल का काम निर्दोष हो, इसके लिए ज़रूरी है कि उसे विशेषज्ञों की सहायता प्राप्त हो। इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक प्रान्त में विशेषज्ञों की एक कमिटी बनाई जाय, जो इस आर्थिक योजना के बनाने और उनको पूरा करने में सहायता और सलाह दे। दूसरी बात यह चाहिए कि राष्ट्रीय नियोजक-मण्डल इस देश के विशेषज्ञों को जापान, रूस, अमरीका, जर्मनी और इँग्लेंड भेजे, जिससे वे कांग्रेस की ओर से उन देशों के आर्थिक पुनरुज्जीवन को देखें। इससे अन्य राष्ट्रों के अनुभवों का लाभ हमको प्राप्त होगा। तीसरी बात यह है कि विदेशी विशेषज्ञों की सहायता ली जाय। पहले निज़ाम ने रेमंड, सिंधिया ने डिबाइन और रणजीतसिंह ने अलर्ड सरीखे सेनापतियों को रखकर अपनी सेना का संघटन किया था। मगर ये विदेशी सलाहकार न रहकर मालिक बन बैठे थे। यह ग़लती फिर न होनी चाहिए। अन्य देशों से वेतन पर विशेषज्ञ बुलाये जायँ मगर वे नौकर के ही रूप में रक्खे जायँ, मालिक न ब

जायँ। इसके लिए सब देशों से निकाले जा रहे यहूदियों का हम अच्छा उपयोग कर सकते हैं।

छात्रवृत्ति—विशेषज्ञों के अभाव की पूर्ति योग्य छात्रों को छात्रवृत्ति देकर शिक्षा के लिए विदेश भेजकर की जा सकती है। शिक्षा केवल पुस्तकी न हो, बल्कि व्यावहारिक और क्रियात्मक भी हो, इसके लिए पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिए। कोशिश हमारी यह होनी चाहिए कि औद्योगिक व यान्त्रिक शिक्षण की संस्था हम अपने देश में ही खोलें जिससे छात्रों को विदेशों में जाकर धक्के न खाने पड़ें।

चुंगी की नीति—भारत का आर्थिक विकास भारत सरकार की क्रियात्मक सहानुभूति के अभाव में सम्भव नहीं है। देश के आर्थिक विकास और आर्थिक नियोजन की सफलता चुंगी, विनिमय-दर और रेलवे-किराये की दर आदि पर निर्भर है।

संरक्षण की वर्तमान नीति—इस समय सरकार की संरक्षण-नीति भेदभाव की है, इसका अन्त होना चाहिए। संरक्षणात्मक चुंगी की नीति का सूत्र इस समय यह है कि जिस उद्योग-धन्धे को संरक्षण मिलता है उसमें लगनेवाला कच्चा माल भारत से ख़रीदा जाना चाहिए और उससे तैयार होनेवाले पक्के माल के लिए बाज़ार भारत में होना चाहिए। इसके सिवा धन्धा इस प्रकार होना चाहिए। जो संरक्षण के अभाव में अस्तित्व में नहीं आ सकता या अस्तित्व में आने पर टिक नहीं सकता। इसके अतिरिक्त वह एक विवक्षित व निर्दिष्ट काल-मर्यादा के अन्दर उस उद्योग को संरक्षण के अभाव में अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य होना चाहिए। यदि उपर्युक्त तीन बातें किसी धन्धे पर लागू होती हैं और टैरिफ़-बोर्ड इस विषय में सन्तुष्ट हो जाता है तो वह उस धन्धे को संरक्षण देने की सिफ़ारिश करता है और उसको मानना या न मानना भारत-सरकार पर निर्भर है। मगर अर्थशास्त्र की दृष्टि से ये तीनों बातें कोई महत्त्व नहीं रखतीं। लंकाशायर और जापान का वस्त्र-व्यवसाय इस आधार पर नहीं चल सकता।

एक और पेंच—यह कहना कि संरक्षण देने से पहले यह सिद्ध होना चाहिए कि वह धन्धा इसके सिवा जी नहीं सकता, हास्यास्पद है। इसका अर्थ है कि पहले एक पूँजीपति को अपनी पूँजी लगानी चाहिए, घाटा सहना चाहिए, और टैरिफ़-बोर्ड को यह विश्वास होना चाहिए कि यह धन्धा संरक्षण के बिना टिक नहीं सकता। मगर इस तरह का साहस करनेवाले पूँजीपति थोड़े ही होंगे। फलतः आर्थिक विकास की प्रगति अत्यन्त मन्दगति से होगी। बुद्धिमानी का तकाज़ा है कि तट-कर व चुङ्गी की दीवार हम ऊँची खड़ी कर दें। दियासलाई का धन्धा चुङ्गी की दर ऊँची होने पर ही अस्तित्व में आया है। इससे स्पष्ट है कि यदि चुङ्गी की दर ऊँची हो और तट-कर की दीवार अलंघ्य हो तो और भी अनेक धन्धे इस देश में अस्तित्व में आ सकते हैं। कच्चा माल छोड़कर सब आयात-माल पर २५ प्रतिशत चुङ्गी लगाने में सरकार को संकोच न करना चाहिए। विदेश से आनेवाला तैयार माल यदि इस देश में बन सकता है तो उस पर ५० से ७५ प्रतिशत चुङ्गी लगानी चाहिए। विशेषज्ञों के द्वारा दस वर्ष बाद इसकी जाँच कराई जा सकती है। जिस विदेशी माल की हमें ग़रज़ हो और वह यहाँ न बन सकता हो या कोई आयात-माल हमारे देश के धन्धे के लिए आवश्यक है तो उस पर ज़रूरत के मुताबिक़ चुङ्गी कम की जा सकती है या उठाई जा सकती है। बढ़ाने की ज़रूरत होने पर बढ़ाई भी जा सकती है। इस प्रकार की संरक्षणात्मक नीति स्वीकार करने से औद्योगिक विकास का विस्तार द्रुत गति से होगा।

विनिमय-दर—औद्योगिक विकास और विनिमय-दर का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मगर यह विषय गवर्नर-जनरल के वैयक्तिक उत्तरदायित्व का है, अतः विनिमय-दर राष्ट्रीय लाभ की दृष्टि से नियत किया जायगा, यह आज तक का अनुभव कहने के लिए उत्साहित नहीं करता। इसलिए राष्ट्रीय नियोजक-मण्डल और प्रान्तीय सरकारों को विनिमय-दर बदलवाने के लिए भारत-सरकार पर दबाव डालना चाहिए। लोकमत भी इसके अनुकूल बनाना चाहिए और इसके लिए प्रबल आन्दोलन भी होना चाहिए। जब से उन्नत राष्ट्रों ने स्वर्ण-मान का त्याग किया है तब से नियन्त्रित विनिमय-दर-पद्धति चालू है। इस पद्धति के अन्दर विनिमय-दर पर उद्योग-धन्धों और आर्थिक व्यवस्था का भवितव्य बहुत अधिक अवलम्बित है। मुद्रा एक समय केवल आर्थिक व्यवहार का माध्यम व साधन समझी जाती थी, मगर १९३१ के बाद की आर्थिक मन्दी ने बता दिया है कि यह केवल माध्यममात्र नहीं है। उस समय से मुद्रा

और विनिमय-दर आयात-निर्यात-प्रवाह को नियमित करने के साधन बन गये हैं।

विनिमय-दर घटाओ—भारत के अन्दर क़ीमतों और रुपये के लेन-देन का १८ पें० के भाव से मेल जमता है या नहीं, इस विवाद में यहाँ पड़ना अनावश्यक है। मगर इतना सत्य है कि यदि विनिमय-दर में कमी कर दी जाय तो किसानों की माली हालत सुधर जायगी और प्रान्तीय सरकारों-द्वारा क़ानूनों के ज़रिये किसानों को पहुँचाई जा रही सहायता द्विगुणित हो जायगी। विनिमय-दर घटाने से हमारे आयात-माल की रुपये में क़ीमत अपने आप बढ़ जायगी और उसकी प्रतिक्रिया राष्ट्र में होने पर, भारतीय खेती के माल की क़ीमत बढ़ेगी और इस प्रकार किसानों के हाथ में अधिक पैसा आयेगा।

परोक्ष रूप से इसके द्वारा छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों को भी थोड़ी बहुत सहायता मिलेगी। क्योंकि इनके प्रमुखरूप से ग्राहक किसान हैं और उनकी आमदनी में चढ़ाव-उतराव आने का इन पर सबसे पहले असर होता है। विनिमय-दर घटाने से तट-कर की दीवार और मज़बूत होगी और अनेक असंघटित और उपेक्षित धन्धों में इससे नया जीवन आयेगा। जापानी येन के भावों के उतरने का एकमात्र उत्तर यही है कि रुपये की क़ीमत भी गिरा दी जाय। इससे जापानी माल की प्रतिस्पर्द्धा में न टिक सकनेवाले अनेक उद्योग-धन्धों के खड़े होने में कुछ सहायता मिलेगी।

रेलवे—रेलवे केवल एक व्यापारिक संस्था है, इस भ्रम को हमें दूर कर देना चाहिए और इस धारणा को तिलांजलि दे देनी चाहिए। रेलवे राष्ट्र की सम्पत्ति है, अतः देश की आर्थिक व्यवस्था में इसका क्या स्थान हो, इसका निश्चय जनता को करना चाहिए। चुङ्गी और विनिमय-दर के समान रेलवे का भाड़ा भी इस प्रकार रखना चाहिए, जिससे देशी उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिले। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि रेलवे के भाड़े की दर का भारत की परिवर्तित औद्योगिक स्थिति और योजना के अनुसार निर्णय किया जाय।

सरकार माल यहाँ से ख़रीदे—भारत-सरकार व प्रान्तीय सरकारों की यह नीति तो है कि अपने लिए आवश्यक माल व सामग्री ख़रीदते समय देशी माल को तरजीह दें। मगर ज़रूरत इस बात की है कि सरकार अपने सब विभागों के लिए आवश्यक माल यहाँ ही तैयार कराने का प्रबन्ध करे और उस मार्ग में यदि कोई अड़चन व बाधा हो तो उसे दूर करे।

व्यापार-कमिश्नर—भारत का माल जिन देशों को जाता है और जिन देशों का माल भारत में आता है उनमें व्यापार-कमिश्नर नियुक्त करना लाभदायक होगा। जो देश सस्ता माल इस देश में भेजते हैं, वहाँ भी वकील नियुक्त करना फ़ायदेमन्द रहेगा। इनको भी व्यापार-कमिश्नर के समान भारत के प्रतिस्पर्द्धी व्यावसायिक देशों की आर्थिक व इतर परिस्थितियों का अध्ययन कर अपनी रिपोर्ट देनी चाहिए, जिससे इस देश के व्यवसायी और व्यापारी उनका आसानी से मुक़ाबला कर सकें।

परस्पर

लेखक, श्रीयुत 'चातक' कविरत्न

फूलों के कम्पित अधर खुले,
गाने को प्रिय का प्रेम-गान।
भावों की घनता से न शब्द निकले-
भ्रमरों ने लिया जान।
भन भन कर गाने लगे भ्रमर-
फूलों का वांच्छित प्रेम-राग।
जी खोल लुटाया फूलों ने-
भ्रमरों को अपना भी पराग।

ताजमहल

लेखक, श्रीयुत कालीचरण चटर्जी

वह उसको प्यार करता था—अपने प्राणों से अधिक। वह जिस प्रकार प्यार करता था, कदाचित् किसी पति ने अपनी स्त्री को उतना प्यार न किया होगा।

उसका नाम था क़ासिम, और उसकी बीबी का नाम था पेशमन। बहराम थवई का एकलौता बेटा क़ासिम अपने पिता की इच्छा से मुहल्ले के मकतब में कुछ दिन तक उर्दू पढ़कर पिता के काम में सहायता देने लगा। धीरे-धीरे वह इस काम में पारदर्शी हो गया। २२ वर्ष की अवस्था में उसकी शादी हो गई। परन्तु दुर्भाग्यवश उसी साल उस नगर में प्लेग चला और उसी बीमारी में उसके माता-पिता का देहान्त हो गया। अनुपम कान्ति से लदी हुई तथा नवीन यौवन की अभिनव उमंगों से उद्वेलित युवती भार्या को ससुराल से लाकर उसने नवीन जीवन आरम्भ किया।

थवईगीरी के काम से जो कुछ मिलता उससे उनका न केवल निर्वाह ही सुख से होता, अपितु कुछ बच भी जाता। दिन भर की कठिन मेहनत के बाद जब क़ासिम मकान वापस आता तब वह देखता कि पेशमन सेवा-यत्न-परायण दोनों हाथों को बढ़ाकर उसी का स्वागत करने के लिए व्याकुल उत्कंठा से बाट-जोह रही है। सन्ध्या-समय भोजन आदि से निवृत्त होकर क़ासिम अपने परिश्रान्त शरीर को चारपाई पर ढीला कर कहानी कहता। उसके वर्णन में भावुकता तथा विनोद का ऐसा सामंजस्य रहता कि पेशमन अवाक्-विस्मय से उन कहानियों को उसके पास लेटकर सुना करती। यह नित्यप्रति का नियमपूर्वक काम था। बाल्यकाल में पढ़ी हुई गुलबकावली, अलिफ़ लैला, शेखचिल्ली आदि पुस्तकों की कहानियाँ उसकी सहायक थीं। मुग़ल-सम्राट् शाहजहाँ तथा उसकी मानसी प्रिया मुमताज़ और आगरे में नील यमुना के तट पर अगाध प्रेम की निछावर का निदर्शन, संगमरमर का भव्य भवन ताजमहल भी उन कहानियों के अन्तर्गत थे। इसके बाद न जाने रजनी के किस समय, निद्रा के राज्य से, नींद की परियाँ आकर अपनी चम्पक फूल के सदृश उँगलियाँ उनकी आँखों पर फेर देतीं और वे सो जाते। इस प्रकार दोनों को दो-तीन वर्ष दाम्पत्य सुख भोगते हुए बीत गये।

× × ×

एक दिन क़ासिम की तबीयत कुछ ख़राब थी, तथापि भोजन आदि से छुटकारा पाते ही पेशमन क़ासिम के गले में बाहें डालते हुए ज़िद कर बैठी, 'कहानी सुनाओ।'

क़ासिम ने ज़रा हलके-हलके मुस्कराकर जवाब दिया—"मेरी सब कहानियाँ तो तुम सुन चुकी हो, रानी! मुझे नई कहानियाँ तो और मालूम नहीं हैं।"

पेशमन ने प्रबल आग्रह से कहा—"क्यों, वही शहंशाह शाहजहाँ और उसकी मलका मुमताज़!"

"अरे वही ताजमहल की कहानी? उसे भी तुमको न मालूम कितने मर्तबा सुना चुका हूँ पेशमन! वह कहानी भी तो तुम्हारे लिए नई नहीं है न!"

"न हो, न सही। उसी क़िस्से को तुम फिर कहो।"

आख़िर क़ासिम ने निरुपाय होकर सैकड़ों प्रकार से सैकड़ोंबार कही हुई ताजमहल की पुरानी कहानी फिर एक बार दुहराई।

दिन कटने लगे, परन्तु इस नियम का व्यतिक्रम नहीं हुआ।

× × ×

और एक दिन की घटना—उस दिन थी पूर्णिमा। किसी सुयोग्य जादूगर ने चाँद की नाव को नीले आसमान-समुद्र की छाती पर छोड़ दिया था, और वह रुपहली नौका पवन के सहारे लहरों की ताल में ताल मिलाकर सुनील आकाश के वक्षःस्थल को चीरती हुई चली जा रही थी—अज्ञात—अनन्त की ओर।

लेकिन उस रात को पेशमन ने अपने नियमानुसार कहानी सुनने की उत्सुकता प्रकट नहीं की। क़ासिम ने बहुत प्यार से मुस्कराते हुए पूछा—"आज तुम कहानी सुनने के लिए उत्सुक क्यों नहीं हो?" उत्तर में पेशमन के नयनों से केवल दो तप्त अश्रु क़ासिम के शरीर पर गिर पड़े। क़ासिम ने अवाक् होकर पूछा—"यह क्या? पेशमन तुम रो रही हो? तुम्हारी आँखों में आँसू! भला तुम्हें ऐसा क्या दुःख है?" और उसके गुलाबी कपोलों से ढलकते हुए आँसू पोंछ दिये।

स्नेह के स्पर्श [illegible] कोई बाधा न मानकर उसके नयनों से अविरल अश्रुधारा [illegible] लगी और उसका कंठ अवरुद्ध हो गया। कुछ देर [illegible] बाद अपने को संयत कर पेशमन बोली—"एक बात का वादा करोगे?"

"मैं तुम्हारी बात [illegible] नहीं मानूँगा, रानी! आज तुमको हुआ क्या है? तुम्हारी आँखों में तो कभी आँसू नहीं देखे थे!"

पेशमन गद्गद [illegible] स्वर से बोली—"अगर मैं मर जाऊँ—?"

अपनी पत्नी को [illegible] के पास खींचते हुए क़ासिम ने उसके कपोल चूम लिये और व्याकुलता के साथ कहा—"ऐसी मनहूस बात कहनी नहीं चाहिए, पगली, तुमको इतना हैरान और परेशान कभी नहीं देखा, पेशमन—"

पेशमन इस बात को सुनकर भी, उस पर ध्यान न देकर बोलती गई—"अगर मैं मर जाऊँ तो तुम मेरी क़ब्र पर वैसा ही एक ताजमहल बनवा दोगे?"

"ओहो, यह बात [illegible]?" यह कहकर क़ासिम खिलखिला कर हँस पड़ा।

पेशमन गम्भीर [illegible] से बोली—"नहीं-नहीं, मज़ाक नहीं। सच-सच कहो, [illegible] मेरा पक्का मज़ार बनवा दोगे?"

"ज़रूर बनवा दूँगा, पगली कहीं की!"—ऐसा कहते हुए उसने एक बार [illegible] पेशमन का चुम्बन लिया।

दूर से एक उल्लू [illegible] कर्कश आवाज़ आई। उस दिन यहीं उनका वार्तालाप समाप्त हुआ।

× × ×

एक दिन उस [illegible] देश का संदेश पहुँच ही गया। पेशमन के जीवन-[illegible] के बीच में ही किसी अदृश्य शिल्पी ने काला पर्दा गिरा दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि पेशमन अकस्मात् बीमार पड़ी; क़ासिम ने जी-जान एक कर उसकी परिचर्या की, किन्तु सब प्रयत्न निरर्थक हुए; क़ासिम के निष्कपट प्रेम तथा उसकी समस्त सेवाओं को ठुकराकर एक दिन पेशमन ने इस संसार से सर्वदा के लिए मुँह मोड़ लिया। क़ासिम कुछ क्षण तक बेबसी का घूँट पीकर सोचता रहा कि निर्दयी अदृष्ट-देवता किस प्रकार उसकी सारी अभिलाषाओं को कुचल कर हँसता हुआ चला गया। तदुपरान्त पेशमन की लाश दोनों बाहों से हृदय में चिपटाकर वह वायुमंडल को कँपाता हुआ विकट आर्तनाद करने लगा। व्यथित-हृदय के समाधान का यही एक तो साधन है।

× × ×

क़ासिम ने गृहस्थी का कुल सामान बेच-बाँचकर पेशमन की समाधि पर एक छोटा-सा मगर मनोरम मक़बरा बनवाया और उसकी कुर्सी पर बड़े-बड़े ज्वलन्त सुनहरे अक्षरों में लिखवा दिया—'ताजमहल'।

खेद की बात है कि ज्योत्स्ना-प्लावित रजनी में इस रौज़े के रूप से मुग्ध होकर न किसी कवि ने हृदय के कोमल उद्गारों को कविता में व्यक्त किया, न यहाँ आकर इस वियोग-विधुर प्रेमिक की व्यथा से व्यथित होकर किसी ने दो बूँद अश्रु ही बहाये; न संसार के सात महान् आश्चर्यों में कभी भूल से भी किसी दिन किसी ने इस स्मारक की गणना की।

× × ×

पेशमन की मृत्यु के बाद क़ासिम में घोर परिवर्तन हुआ। उसका खाना-पीना एकदम छूट गया। अगर कोई कृपया उसे बुला कर कुछ दे देता तो वह खा लेता; नहीं तो निराहार रह जाता। काम पर जाना तो उसने पहले से ही बन्द कर दिया था। अब वह केवल उस नगर के एक प्रान्त में मैदान के बीच पेशमन की क़ब्र के पास उन्मत्त-सा, अकेला, लक्ष्यहीन, उदास, सारा समय व्यतीत करता; कभी दौड़ता, कभी ज़मीन पर लेट कर गिड़गिड़ाता, कभी हँसता, कभी आकाश की ओर दृष्टि निबद्ध कर प्रेम-मुग्ध हृदय से मानो अपनी प्रेमिका से बातें करता। क्लान्त व अवसन्न हो जाने पर वह क़ब्र के पास बैठ कर पेशमन की स्मृति में अश्रु बहाता। पुनः जब मैदान के पास की सड़क पर चलते हुए राहियों को देख लेता तब उनके पास

दौड़ता हुआ जाता और कातर भाव से पूछता—"अरे भाई, तुम लोगों में से किसी ने आगरे का ताजमहल देखा है?"

राही उसकी बातों पर कर्णपात न कर अवज्ञा के साथ चले जाते। कोई-कोई तिरस्कार के भाव से कह बैठता—"पागल, क्या बक रहा है?" कोई-कोई सहानुभूति दिखलाते हुए दयाभरे स्वर में दुःख प्रकाश करता—"बेचारे की दीन दशा पर तरस आता है!" कोई-कोई कौतूहली पथिक तमाशा देखने की इच्छा से परिहास करता—"अरे सिड़ी, मैंने ताजमहल देखा है। क्या बात है?" ताजमहल का नाम सुनते ही एक आनन्द का हिलोरा उसके मुख पर दौड़ जाता और उसकी आँखें चमकने लगतीं। वह आतुरता के साथ पूछता—"हाँ, देखा है? सच कह रहे हो भाई, देखा है? अच्छा बता सकते हो कि वह ताजमहल मेरे इस ताजमहल से क्या ज़्यादा ख़ूबसूरत है?"

पथिक के उच्च हास्य में उसकी बातें डूब जातीं और पथिक अपना रास्ता पकड़ता। क़ासिम वहीं खड़ा-का-खड़ा रह जाता और शून्य दृष्टि से पथिक की ओर आँखें फैला कर देखता रहता। तदनन्तर उसके अन्तःस्थल से एक दबा हुआ उच्छ्वास निकल पड़ता।

एक दिन प्रातःकाल कुछ नगरवालों ने देखा क़ासिम उसी क़ब्र के पास मरा पड़ा है। तुरंत नगर भर में यह ख़बर फैल गई; सैकड़ों व्यक्ति देखने को दौड़ पड़े। अन्त में नगरवालों ने पेशमन की क़ब्र के पास ही उसकी लाश को भी दफ़न करवा दिया।

× × ×

लगभग सौ वर्ष पहले की बात है। अब वहाँ पर [illegible] चार टूटी-फूटी ईंटें पड़ी हुई हैं। स्थान-स्थान पर अ[illegible] प्रकार के जंगली छोटे-छोटे पेड़ों की घनी कँटीली झाड़ि[illegible] लग गई हैं। एक क़ब्र से एक पीपल और दूसरे से [illegible] बरगद का वृक्ष उगकर थोड़ी दूर बढ़कर आपस में [illegible] मिल गये हैं मानो ये दोनों एक ही हों—यथार्थ प्रेमि[illegible] के जीवन-मरण में चिर-मिलन का उज्ज्वल निदर्शन है। ये दोनों वृक्ष मानव-समाज के बाहर रह कर अपनी निर[illegible] स्वतन्त्रता से बढ़कर परिवर्तनशील संसार की ली[illegible] पर्यवेक्षण कर रहे हैं। अब केवल रात्रि को अगणित [illegible] उन पर रैन-बसेरा करते हैं। आज भी जब मृदु मन्द [illegible] हिल्लोल से वृक्षों के ललित पल्लव-पत्र सिहर कर मर्मर [illegible] करते हैं तब मालूम होता है कि मानो वे पथिक के कानों [illegible] गूँजते हैं 'पेशमन-क़ासिम', 'क़ासिम-पेशमन'—मानो दो[illegible] एक ही हैं और एक ही आत्मा दोनों में विराजमान [illegible] एवम् परस्पर अन्तःकरण के अन्तःस्थल में बातचीत [illegible] रहे हैं।

× × ×

परदेशी

लेखक, श्रीयुत श्रीचन्द्रप्रकाश वर्मा 'चन्द्र'

मैं परदेशी चला, भला जग से मेरा क्या नाता?
होनी थी, जो यहाँ रुक गया था मैं जाता जाता;
दो दिन जग के साथ गा लिये मैंने ऐसे गाने—
जिन गीतों की प्रतिध्वनियाँ सुन अब मैं हूँ पछताता।
चुन-चुन कंकड़ महल बनाया, करने रैन-बसेरा,
भूल गया मैं—मेरा तो है चार घड़ी का डेरा;
मैं था, रजनी थी, सपने थे, था अज्ञान-अँधेरा—
चपल लालसा का नर्तन था, पागल था मन मेरा।

क्रीड़ाएँ थीं, कोलाहल था, [illegible] सब सङ्गी [illegible]
कंठ कंठ से फूट रहे थे गाने न्यारे [illegible]
वह मधु-रात अनन्त समझता था मैं भ्रम के [illegible]
किसे ज्ञात था एक-एक कर डूब रहे थे [illegible]
और सबेरा हुआ तभी मैंने रहस्य सब [illegible]
स्वप्न-राग धो, निशि विस्मृत कर, निज पथ फिर पहचा[illegible]
दूर देश है मेरा, भाई! यह तो देश विरा[illegible]
मैं परदेशी चला, देखना है, कब होता आन[illegible]

आपेक्षिकतावाद

लेखक, श्रीयुत नलिनीमोहन सान्याल, एम० ए०, भाषातत्त्वरत्न

सान्याल महोदय हिन्दी के प्रेमी लेखक हैं। इस वृद्धावस्था में भी वे लिखते रहते हैं। आपेक्षिकतावाद जैसे गूढ़ विषय पर इस लेख में उन्होंने बहुत सरल ढंग से प्रकाश डाला है।

कुछ वर्ष पहले तक वैज्ञानिकगण देश तथा काल को स्वतन्त्र पदार्थ मानते थे। आकाश में तारे, मेघ इत्यादि कोई वस्तु नहीं हैं, अर्थात् आकाश सम्पूर्ण ख़ाली है, ऐसी कल्पना करने पर भी, आकाश की धारणा में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। काल की स्वतन्त्र धारणा भी असम्भव न थी। किन्तु अब वैज्ञानिक सम्प्रदाय का विश्वास है कि द्रव्य, देश तथा काल की पृथक् पृथक् स्थिति नहीं है—वे अविच्छिन्न रूप में परस्पर जड़े हुए हैं। एक के परिवर्तन से अपर दोनों का परिवर्तन अवश्यम्भावी है। द्रव्य, देश तथा काल के समवाय-सम्बन्ध को आपेक्षिकता कहते हैं, और इस मतवाद का नाम है आपेक्षिकतावाद (रिलेटिविटी)। इस आपेक्षिकतावाद के प्रवर्तक हैं 'आइन्स्टाइन'। इस मतवाद के प्रचार से वैज्ञानिक चिन्ता-धारा में युगान्तर उपस्थित हो गया है। प्रकृति की किसी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—कोई भी कार्य निरपेक्ष नहीं है।

अब तक हमारा विश्वास था कि केवल देश व आकाश [illegible] हमें वेष्टन किये हुए है, अर्थात् हम देश में निमज्जित [illegible] और समय हमारे अगल-बग़ल से निकल रहा है—देश तथा काल में कोई सम्बन्ध नहीं—वे सम्पूर्ण विभिन्न प्रकृति की वस्तुएँ हैं। देश में हम जैसे आगे बढ़ सकते [illegible] वैसे पीछे भी हट सकते हैं। किन्तु काल में पश्चाद्-[illegible] असम्भव है। हम द्रुत वा मन्थर गति से चल [illegible] हैं, अथवा गतिशून्य भी हो सकते हैं, किन्तु समय [illegible] हिसाब से पिछड़ नहीं सकते। देश हमारा वशवर्ती है, [illegible] समय हमारे वश में नहीं। वह सबके लिए समान [illegible] में बहा जा रहा है। समय किसी की ख़ातिर नहीं [illegible]ता। समय को कोई पिछड़ा नहीं सकता। घड़ी के [illegible] को पीछे हटा देने पर भी समय पीछे नहीं हटता। आपेक्षिकतावाद का मत यह है कि कोई भी कार्य देश [illegible] काल की पृथक्-पृथक् सत्ता के अनुसार सङ्कुचित नहीं [illegible]—सब व्यापार समवाय सम्बन्ध से जड़ित देश-काल [illegible] हो रहे हैं।

कोई विन्दु जितना स्थान घेरता है वह उपेक्षणीय है। किन्तु उस विन्दु को यदि किसी समतल क्षेत्र पर ठेलते हुए ले जाया जाय तो उस विन्दु के द्वारा एक रेखा बनेगी। उस रेखा का केवल एक ही ओर विस्तार है। अर्थात् दैर्घ्य है, इस कारण उसका मान व मात्रा (डायमेंसंस) एक है, ऐसा कहा जाता है, और वैज्ञानिक भाषा में वह रेखा एक मात्रिक मानी जाती है। यदि उक्त रेखा समतल क्षेत्र पर कुछ दूर तक ठेल दी जाय तो उसके द्वारा एक चतुष्कोण क्षेत्र निर्मित होगा। उस चतुष्कोण की लम्बाई तथा चौड़ाई दोनों हैं, इस कारण उसके मान व मात्रायें दो हैं, ऐसा कहा जाता है, और वैज्ञानिक भाषा में वह क्षेत्र द्वैमात्रिक माना जाता है। फिर वह चतुष्कोण क्षेत्र यदि क्रमशः ऊपर व नीचे की ओर ठेल दिया जाय तो एक घनक्षेत्र निर्मित होगा। उस घनक्षेत्र में लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई हैं, इसलिए उसके मान व मात्रायें तीन हैं, ऐसा कहा जाता है, और वह घनक्षेत्र त्रैमात्रिक माना जाता है।

प्रकृति में जितनी वस्तुएँ हैं—सूर्य, तारे, पृथ्वी—सब सचल हैं। यदि कोई वस्तु अचल मालूम होती हो तो वह आपेक्षिक रूप में अचल है—अन्य किसी सचल वस्तु की तुलना में अचल है। सचल वस्तु अचल वस्तु की तुलना में सचल है। यदि दो वस्तुएँ एक स्थान से समान वेग से धावित होती हों—चलते चलते उनके वेग का सामान्य मात्र भी ह्रासवृद्धि न हो—तो कुछ दूर जाने के बाद, परस्पर की तुलना में, वे अचल प्रतीत होंगी, कारण परस्पर के बीच कोई व्यवधान उत्पन्न न होगा। रेलवे-ट्रेन से जाने के समय कभी कभी रेलवे के बग़ल के मकान, वृक्ष इत्यादि सचल मालूम होते हैं। उसका कारण यह है कि हम जिस गाड़ी में बैठे हैं, अनवधानता के कारण उसे हम अचल ख़याल करते हैं। पृथ्वी अपने मेरुदण्ड को वेष्टन कर २४ घंटे में एक बार घूमती है, किन्तु हम पृथ्वी को अचल मानकर ख़याल करते हैं कि उतने समय में सूर्य ही पृथ्वी के चारों ओर घूम आता है।

मान लो कि तुम पंजाब-मेल में सवार होकर इलाहाबाद से कानपुर जा रहे हो। पंजाब-मेल इलाहाबाद से १०½ बजे छूटती है और १ बजे कानपुर पहुँचती है। इलाहाबाद से कानपुर की दूरी है १२० मील, और फ़तेहपुर की दूरी ७२ मील। पंजाब-मेल फ़तेहपुर १२ बजे पहुँचती है।

इलाहाबाद और कानपुर का १२० मील का व्यवधान अतिक्रम करने में २½ घंटे लगते हैं। ये दैशिक तथा कालिक एक मात्रिक परिमाण कैसे संयुक्त किये जा सकते हैं? इस संयोग की धारणा करने के लिए एक चतुष्कोण क्षेत्र का मानसिक चित्र अङ्कित करना चाहिए। इस चित्र को देखो। इसमें १२० मील दीर्घता को एक भूमि-लग्न सरल रेखा के द्वारा, और २½ घंटे समय को पूर्वोक्त रेखा के साथ लम्ब रूप में अवस्थित दूसरी एक सरल रेखा के द्वारा व्यक्त किया गया है। भूमि-लग्न रेखा में स्थानों का निर्देश है, और लम्ब-रेखा में समयों का।
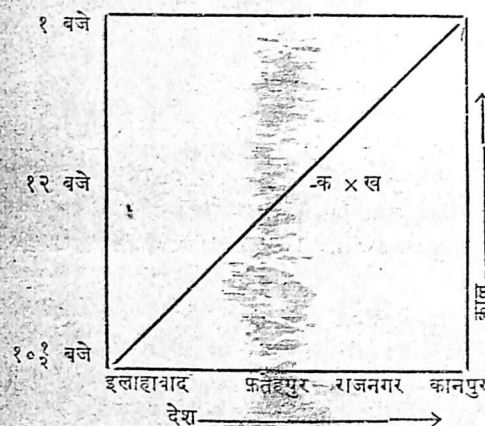
इलाहाबाद से फ़तेहपुर ७२ मील,
फ़तेहपुर से कानपुर ४८ मील,
इलाहाबाद से कानपुर १२० मील।

मोटी कर्ण-रेखा ट्रेन की गति व्यक्त करती है। मान लो 'क' विन्दु लम्ब-रेखास्थ १२ बजे सूचक स्थान के ठीक सामने और धरातलस्थ रेखा के फ़तेहपुर के ठीक ऊपर रहने के कारण समझा जाता है कि ट्रेन ने १२ बजे के समय फ़तेहपुर तक दूरत्व अतिक्रम किया है। दूसरा एक विन्दु 'ख' उस समय राजनगर के आस-पास का कोई स्थान सूचित करता है। 'ख' विन्दु स्थूल रेखा के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि तब तक ट्रेन राजनगर नहीं पहुँची है। चित्र का समग्र क्षेत्र २½ घंटे के भीतर इलाहाबाद से कानपुर तक जितने स्थान हैं, उनका निर्देश करता है। इस प्रकार से १२० मील परिमित दैर्घ्य-वाचक एक रेखा के साथ २½ घंटे परिमित एक प्रस्थवाचक रेखा के संयोग से एक द्वैमात्रिक क्षेत्र मिला, जिसका एक मान देशवाचक और एक मान कालवाचक।

इस प्रकार देशवाचक तीन मान विशिष्ट एक घनायतन के साथ यदि कालवाचक एक मान संयुक्त किया जाय तो एक चातुर्मात्रिक घनायतन मिलेगा, जिसे वैज्ञानिक भाषा में कंटिन्युयम् कहते हैं।

पाठकगण कह सकते हैं कि ऊपर के चित्र के द्वारा 'कंटिन्युयम्' समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। वह चित्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं, क्योंकि वह यथार्थ देश तथा काल के संयोग को प्रदर्शित नहीं करता। हमारा कहना है कि देश तथा काल का यथार्थ संयोग इन्द्रिय-निरपेक्ष (सब्जेक्टिव) है, अर्थात् मन के भीतर हो सकता है—वह वस्तु की सहायता से व्यक्त वा हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता। साङ्केतिक उपाय के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से वह सम्यक् व्यक्त नहीं हो सकता।

पाठकगण यदि निविष्ट चित्त से चिन्ता कर देखें तो समझ सकेंगे कि घटनाओं का पारम्पर्य ही काल है। पेंडुलम के डोलने के कारण घड़ी के काँटे थोड़ा-थोड़ा हटते रहते हैं, और काँटों की गति से समय जाना जाता है। पृथ्वी अपने मेरुदंड की २४ घण्टों में एक बार प्रदक्षिणा करती है, और सूर्य की ३६५ दिनों में प्रदक्षिणा कर आती है। पृथ्वी की इन दोनों गतियों से हमें दिवा, रात्रि, मास, वत्सर का ज्ञान होता है। ये गतियाँ (वा घटनायें) ही त्रैमात्रिक देश को अवलम्बन करके होती हैं, और कार्यावली की परम्परा से काल अनुभूत होता है। अतएव देश के साथ काल का घनिष्ठ सम्बन्ध है। फिर वस्तुओं के बिना कोई कार्य नहीं होता। अतः देखा जाता है कि वस्तु, देश तथा काल परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध से ग्रथित हैं। यही आपेक्षिकतावाद का मूल-सूत्र है।

जावा और बाली की एक झलक

लेखक, श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०

एक कहावत है—'जो एक बार बाली द्वीप हो आता है, उसे दुबारा फिर वहाँ जाना पड़ता है।' बाली की भूमि में सचमुच ऐसा ही आकर्षण है। पूर्वी द्वीप-समूह के ऐसे ही दो रमणीय द्वीपों की एक झलक इस लेख में देखिए।

भारत के इतिहास में लगभग छः-सात सौ वर्ष का एक ऐसा समय रह चुका है जब भगवान् बुद्ध की शिक्षा के प्रचार से हिन्दू-जाति वर्ण-भेद के रोग से मुक्त हो गई थी। उस समय भारतीय विद्वानों ने पर्वतों और सागरों को पार कर विदेशों में जाकर वहाँ भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया था। उसी समय चीन और जापान के साथ-साथ भारतीय द्वीप-पुञ्ज के जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीप भी हिन्दू-धर्मानुयायी बन गये थे। 'महाभारत' का निर्माण उसी काल में हुआ था। पीछे से जब नये हिन्दू-धर्म के प्रचार से वर्ण-भेद का रोग पुनः हिन्दुओं में लौट आया और समुद्र-यात्रा धर्म-विरुद्ध ठहरा दी गई तब भारत के हिन्दुओं का उस 'महाभारत' से संपर्क टूट गया। भारतीय प्रचारकों के वहाँ न पहुँचने से वहाँ के लोग विधर्मों के शिकार हो गये। फलतः आज वहाँ हिन्दू-मन्दिरों एवं देवी-देवताओं की मूर्त्तियों के सिवा हिन्दू-धर्म का और कुछ बाक़ी नहीं रह गया है। भारतीय द्वीप-पुञ्ज के वे द्वीप कैसे सुन्दर हैं और वहाँ के अधिवासियों का आकार-प्रकार और रहन-सहन कैसा है, इसका कुछ वर्णन एच० जे० कॅलीहर नाम के एक सज्जन ने आस्ट्रेलिया के एक पत्र में लिखा है। उसकी कुछ मोटी-मोटी बातें इस लेख में पाठकों की भेंट की जाती हैं।

जावा संसार का एक अतीव सुन्दर और मनोरञ्जक द्वीप है। वह इस समय हालेण्ड के अधीन है। डच लोगों ने उसे एक आदर्श उपनिवेश बना दिया है। वहाँ साफ़-सुथरी सड़कें हैं, सुन्दर जल-मार्ग हैं, उद्योग-धंधे बढ़ रहे हैं, पानी से बिजली उत्पन्न की जा रही है और आधुनिक ढंग के पुल हैं। नवीन सभ्यता की इन चीज़ों के साथ साथ उन्होंने वहाँ के मनोमुग्धकारी लोगों की विशेषताओं और स्वाभाविक चारुता को भी अक्षुण्ण रक्खा है। इस अपेक्षाकृत छोटे-से टापू में इतना स्वाभाविक सौन्दर्य और इतना उद्योग-धंधा है कि उसका वर्णन अतिशयोक्ति प्रतीत होगा।

जावा-द्वीप भूमध्य-रेखा के दक्षिण में, एशिया और आस्ट्रेलिया के बीच स्थित है। यह उस मलय-द्वीपसमूह का एक महत्त्वपूर्ण अंश है जिसके अन्तर्गत बोर्नियो, सुमात्रा, सेलीबस, न्यू गायना और सबसे छोटा परन्तु सबसे सुन्दर बाली द्वीप हैं। जावा की लंबाई ६०० मील से कुछ ऊपर और चौड़ाई लगभग १३० मील है। इसकी जन-संख्या इँग्लेंड से ५० लाख अधिक है। यह टापू बहुत सघन बसा है।

जावा में वैज्ञानिक, कलाकार तथा अर्थशास्त्री के लिए और प्रकृति एवं समाज-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए बहुत अच्छे अवसर हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि यहाँ के लोग बहुत ही मिश्रित हैं। यहाँ सांस्कृतिक प्रथायें और विशेषतायें इतने विभिन्न प्रकार की हैं कि आसानी से इस पर विश्वास नहीं होता। वे मौलिक रूप से एक-दूसरे के सदृश होते हुए भी एक दूसरे से बहुत विभिन्न हैं। जावा में भी, जहाँ जावानी, सुन्दानी और मादुरी नाम की मूल जातियाँ ही बसती हैं, भाषा, प्रथा और जीवन के तत्त्वज्ञान में इतना अन्तर है, जितना किसी भी दूसरे भूभाग में नहीं मिलता।

विदेशियों को इन जावानी लोगों की अनेक प्रथायें विचित्र और परस्पर विरोधी जान पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, जावा की स्त्रियाँ सिर नंगा रखती हैं। उनके भौंरे से काले साफ़-सुथरे केश गर्दन के पीछे जूड़े के रूप में बँधे होते हैं। परन्तु जावा के ग्रामीण लोग कभी सिर नङ्गा नहीं रखते। सिर को नंगा रखना वे धर्म-विरुद्ध समझते

[देव-दासियाँ]

है। यह बात उनके रक्त में मिल चुकी है। जीवन-पर्यन्त वे अपने सिर पर 'कैन कपाल' पहनते हैं। यह छोटी-सी पगड़ी होती है और सिर पर बड़ी मनोहर देख पड़ती है।

जावा-निवासियों ने पश्चिमी वेश को बहुत थोड़ा अपनाया है। क्या स्त्रियाँ और क्या पुरुष दोनों सारोङ्ग या तहमद पहनते हैं और धोती की तरह उसे कमर पर लपेट लेते हैं। यह उनका राष्ट्रीय वेश है। स्त्रियाँ सफ़ेद बेल-बूटे के कामवाली अँगिया के ऊपर भड़कीले रंग की मलमल का बना चुस्त कोट पहनती हैं। यह मलमल जितनी भड़कीली हो उतनी ही अच्छी समझी जाती है। ...तों आदि में काम ...रते समय वे ऊप... के वस्त्र उतार कर रख देती हैं। तब चमकीले रंग का तहमद (सारोंग) पहने उनकी पूर्ण त्वचा और सा... एवं सुडौल भ... कंधे और भुजाएँ बड़ी मनोहर देख पड़ती हैं।

[देवदासियों का एक नृत्य, बाली]

जावा के अधिकांश लोगों की गुज़र खेती पर है। ...

आप नगर से बाहर किसी ओर भी निकल जाइए, आप को सब कहीं धान के खेत देख पड़ेंगे। आज से कुछ वर्ष पहले तक यहाँ केवल धान की ही खेती होती थी। परन्तु अब वह अवस्था नहीं रही। आज किसान लोग टट्टू पर या बैलगाड़ी में या बाँस के बड़े बड़े टोकरे बहँगी में लटकाये, सब प्रकार की तरकारी और दूसरी खेत की उपज लेकर, जुलूस का जुलूस, मण्डी को जाते हैं। उनको देखकर द्वीप की उर्वरता की याद प्रतिक्षण होती रहती है। जावा को परमेश्वर ने बड़ा उपजाऊ बनाया है। विभिन्न प्रकार का जल-वायु होने और विभिन्न ऊँचाई-वाले स्थानों में खेती करने के कारण इस भाग्यवान् देश में प्रायः सब प्रकार के फल, तरकारियाँ और अन्न उत्पन्न किये जा सकते हैं। वर्ष में दो फ़सलों का होना एक नियम-सा है।

जावा की मण्डियाँ, जहाँ जाकर ये फल और तरकारियाँ बिकती हैं, शोख़ रंगों से ख़ूब दमक रही हैं। नाना प्रकार के योरपीय फलों और तरकारियों के अतिरिक्त यहाँ अनन्नास, सेब, केला, आम, शकरकंद, मेङ्गोस्टीन, तारो, चमकीली लाल मिर्च आदि और भी अनेक फल होते हैं। यहाँ मांस और सब प्रकार की मछली, जीती और सुखाई हुई, मिलती है। पहनने की चीज़ें, कमीज़ें, जूते, बिजली का सामान, लोहे की चीज़ें, और जो भी आधुनिक फ़ैशन की वस्तुएँ आप चाहें यहाँ मिल जाती हैं। यहाँ के वस्तु-विक्रेता सुन्दर सारोङ्ग, दूध-सी सफ़ेद कमीज़, और बढ़िया पगड़ी पहने भगवान् बुद्ध की भाँति बैठे दीखते हैं।

यद्यपि इस छोटे-से द्वीप की जन-संख्या चार करोड़ से भी कुछ अधिक है तो भी आश्चर्य है कि यहाँ लोगों की भीड़ से पर्यटक का मन नहीं दुखता। कारण यह कि यहाँ बहुत भीड़वाले बड़े-बड़े नगर नहीं। इसके विपरीत लोग उपजाऊ खेतों और घाटियों में भलीभाँति बँटे हुए हैं। हमारे इस कोलाहलमय अशान्तकारी जगत् में जावा ही एक बड़ा शान्तिपूर्ण स्थान बचा हुआ है। यहाँ का जीवन ऐसे अच्छे ढंग से पूर्णता को प्राप्त है कि देखकर आश्चर्य होता है।

जावा की सड़कें संसार की सर्वोत्तम और सुखदायक सड़कों में से हैं। द्वीप के मध्य में से होकर, पश्चिम

[मन्दिर की राह पर—]

से सोएरबाया तक, मोटर से दो सहस्र मील की यात्रा बड़ी ही आनन्ददायक प्रतीत होती है। सड़कें इतनी साफ़ और समतल हैं कि पहाड़ों पर चढ़ते और नीचे उतरते समय ऊँचाई-निचाई का कुछ पता ही नहीं लगता। चलते-चलते जब कभी गरमी और कभी सरदी लगने लगती है तभी जान पड़ता है कि हम नीचे उतर आये हैं या ऊपर चढ़े हुए हैं। चतुर्दिक् विस्तृत दृश्य इतना सुन्दर है कि उस जैसा संसार के किसी दूसरे भाग में बहुत कम मिलेगा। ऐसे प्रदेश में से, जहाँ चप्पा भर भूमि भी बिना बोये नहीं छोड़ी गई, मोटर पर शीघ्रता से निकल जाइए। आपको धान के सहस्रों खेत मिलेंगे, परन्तु आनन्द की बात यह है कि उनमें से कोई दो भी, एक दूसरे के सदृश नहीं; मीलों गन्ने के खेत, छायादार रबड़ के बग़ीचे, कापोक के पेड़, टीक के वन, मधुर सुगन्धिवाले जंबीरी नीबू, तम्बाकू, मकई और ऊपर जाकर पर्वतों में चाय और बहुमूल्य सिनकोना जिसमें से कुनीन निकलती है। संसार में जितनी

कुनीन उत्पन्न होती है उसका ९० प्रतिसैकड़ा से भी अधिक भाग डच ईस्ट इण्डीज़ ही में उत्पन्न होता है।

इस देश में जिधर भी चले जाइए, चाहे पर्वत हों और चाहे मैदान, सर्वत्र छोटे-छोटे मटियाले रङ्ग के सुखद घर वृक्षों के बीच बने मिलते हैं। उनमें बाँस के दरवाज़े और जँगले लगे हैं। प्रायः प्रत्येक घर की अपनी एक छोटी-सी वाटिका है, जिसमें रंग-बिरंगे फूल खिले रहते हैं।

[बाली की स्त्रियाँ धान कूट रही हैं]

घर चीरे हुए बाँस के बनाये जाते हैं। वे बड़े साफ़-सुथरे और सजे-सजाये होते हैं। जावावालों को नहाने-धोने का बड़ा शौक़ है। सफ़ाई को वे अपना परम... समझते हैं। वे दिन में दो बार स्नान करते हैं और अ... सोरङ्गों एवं अन्य वस्त्रों को खूब साबुन लगा कर ... हैं। उन्होंने बाड़ें लगा कर नहाने-धोने के लिए छोटे-छोटे स्नानागार बना र... हैं। उनमें वे अ... भूरे रंग के मोटे-... बच्चों को मल ... कर नहलाते हैं।

[नहाती हुई सुन्दरियाँ, बाली]

जावा के ... बाली द्वीप का ... सुनिए। यह पू... रत्न कहलाता है ... भूमध्य-रेखा से ... आठ अंश दक्षि... है। इसके और ... के बीच केवल दो ... चौड़ी एक खाड़ी ... इसका क्षेत्रफल ... सहस्र वर्ग ... है। भूमि असाधारण रूप से उपजाऊ है। इसमें ज्वालामुखियों का एक गुच्छा है, जिसकी ढलानें हरी-भरी हैं। इन पर से नदियाँ तीव्र गति से दौड़ती हुई स्थिरता के साथ सागर में गिर रही हैं।

इस प्रबुद्धकाल में, जब कि प्रचार और प्रसिद्धि के इतने अधिक सुसंगठित साधन विद्यमान हैं, जब कि जहाज़ों ने चप्पा-चप्पा समुद्रों को छान डाला है, कौन ऐसा है जिसने बाली का नाम न सुना हो। यह द्वीप कुछ देर पहले मृत्युलोक में एक स्वर्ग था। इसको देखे बिना ईस्ट इण्डीज़ की यात्रा अधूरी रहती है। लेखकों ने इस अद्भुत द्वीप की अनेक सुन्दरताओं का वर्णन शब्दों-द्वारा और चित्रकारों ने चित्र-द्वारा करने का यत्न किया है, परन्तु जब तक अपनी आँखों न देखा जाय इस देश की और इसके लोगों की चारुता एवं अद्भुतता का सम्यक् ज्ञान होना कठिन है।

जावा के इतना निकट होने के कारण स्वभावतः ही मनुष्य की धारणा होती है कि दोनों टापुओं की अवस्था और लोगों का जीवन एक-दूसरे के सदृश ही होगा। परन्तु ऐसी बात बिलकुल नहीं। इस द्वीप का जगत् जावा से बिलकुल भिन्न है, लोग भिन्न हैं, उनकी भाषा भिन्न है और रीति-रवाज भिन्न हैं। बालीवालों का संगीत बड़ा ही तीव्र, रुचिकर और हृदय-स्पर्शी है। इनके नाच और मन्दिरों के पर्व देखकर मन में रह-रह कर प्रेरणा होती है कि कुछ दिन यहाँ ठहर कर इन मनोहर लोगों की संस्कृति एवं कला-सम्बन्धी परम्परागत रीति-रवाजों और सामान्य विशेषताओं का अध्ययन किया जाय।

बाली के आदिवासी कोई जंगली मनुष्य नहीं और न अनेक दूसरी जंगली जातियों की भाँति कोई मरणोन्मुख जाति हैं। यहाँ की जन-संख्या लगभग बारह लाख, अथवा ५०० मनुष्य प्रतिवर्ग मील है। गत दस वर्ष में उत्पत्ति का परिमाण निरन्तर बढ़ता रहा है। गत एक सहस्र वर्ष से भी अधिक का इस द्वीप का इतिहास युद्धों, आक्रमणों और जीवों का एक अनुक्रम है। तीस वर्ष से थोड़ा अधिक समय हुआ जब बाली-निवासियों ने उनके देश में बलात् घुसनेवाली पाश्चात्य सभ्यता का अन्तिम मुक़ाबला किया परन्तु उन्हें इस शासन के आगे नत-मस्तक होना पड़ा।

[बाज़ार की राह में]

यहाँ के लोग प्रकृति के साथ जितना निकट सम्पर्क रखते हैं, अथवा जनता और उसकी परिस्थितियों के बीच सामञ्जस्य का जितना पूर्ण भाव इन लोगों में है उतना शायद ही किसी दूसरी जाति में हो। एक लेखक के शब्दों में, बाली-निवासियों के पतले शरीर उस देश के प्राकृतिक दृश्य का वैसा ही अंश हैं जैसे कि वहाँ के ताड़ और रोटी-फल के पेड़ और उनकी चिकनी चमड़ियाँ वैसी ही झलक देती हैं जैसी कि वहाँ की भूमि और मटियाली नदियाँ, जिनमें वे नहाते हैं। हरे, भूरे और गेरुवे रंग की दृश्यावली में यत्र तत्र चमकीले रङ्ग की चौखटें और नाना वर्णों के सुन्दर पुष्प बहुत भले देख पड़ते हैं।

बाली-द्वीप की स्त्रियों का सौन्दर्य अपना विशेष है। ये बहुत थोड़े वस्त्र पहनती हैं। इनके शरीर छोटे परन्तु सुसंगठित, बाँहें पतली और हाथ कोमल, मिस्री संस्कृति का स्मरण कराते हैं। बचपन से ही स्त्रियाँ सिर पर बोझ लेकर मीलों चलती हैं। इससे उनमें सुन्दर सन्तुलन और

तालयुक्त गति उत्पन्न हो जाती है, जो आयु-पर्यन्त बनी रहती है।

बाली-निवासी चिकनी और साफ़ त्वचा और सुनहरी रंगत को बहुत पसन्द करते हैं। वहाँ की सुन्दर लड़कियाँ धूप में शरीर को जलाना बहुत बुरा समझती हैं। त्वचा को ठीक रखने के लिए वे नहाते समय शरीर को खूब मलती और स्नान के उपरान्त नारियल के तेल की मालिश करती हैं।

[पूजा के सामान के साथ]

एक बड़ी उल्लेखनीय बात यह है कि सामान्य बाली-निवासी एक अच्छा कलाकार है। प्रत्येक व्यक्ति, राव से रङ्क तक, क्या स्त्री और क्या पुरुष, नाचना जानता है। कोई न कोई वाद्य बजा सकता है, बुनना, चित्रकारी या लकड़ी और पत्थर पर खोदना जानता है। निर्धन से निर्धन और छोटे से छोटे गाँव में भी आपको बहुधा एक बड़ी कारीगरी से बनाया हुआ मन्दिर या अभिनेता-मण्डली या आश्चर्यजनक रूप से उत्तम गायक-वादक मण्डली मिलेगी। पुरुष चित्रकारी करते, लकड़ी और पत्थर को खोद कर मूर्तियाँ गढ़ते या खेलते हैं। स्त्रियाँ नाच सकती हैं और रंग और बुनावट की दृष्टि से बुनकर अतीव सुन्दर चीज़ें बना सकती हैं। परन्तु स्त्री-कलाकार का कमाल देवताओं को भेंट करने की चीज़ें बनाने में देखा जाता है—जैसा कि सुन्दरता के साथ काटे हुए ताड़ के पत्ते या फलों, फूलों वरन केकों और दूसरे खाद्य-पदार्थों के भी सूची-स्तम्भ—इनकी रचना बड़ी जटिल होती है। ये बड़े ... के साथ बनाये जाते हैं। कभी-कभी तो इनकी ... पहुँच जाती है।

इनमें आत्माभिव्यक्ति के लिए स्वाभाविक तथा प्रेरणा होती है, साथ ही जीवन की आवश्यक व... की प्रचुरता के कारण इनको कलाकौशल की उन्नति... लिए अवकाश भी मिल जाता है। इस देश क... विशेषता बनी रहेगी या आधुनिक सभ्यता का ... आक्रमण अन्त को ... गला घोंट देगा, इस प्रश्न... उत्तर आनेवाली पीढ़ियाँ ही देंगी। इस बीच में बाल... स्त्रियाँ और पुरुष आदिम सरलता और परिष्कृत... सम्बन्धी संस्कृति का मिश्रण बने हुए हैं। एक ... वे सीधे-सादे कच्चे मकानों में रहते और प्रायः नंगे... हैं, और दूसरी ओर वे खुदे हुए पत्थर के बड़े... बनाये हुए मन्दिरों में पर्वों पर इकट्ठे होते हैं, अप... को रेशम और स्वर्ण से सजाते हैं, प्रकृति की पूज... हैं, और पुष्प, भोजन, संगीत, नृत्य और कला... वस्तुओं के द्वारा देवताओं का पूजन करते हैं... उन्नत और निपुण कलाकार ही बना सकता है।

बाली-द्वीप में मनुष्य-जाति का एक ऐसा ... है जिसमें शताब्दियों से सहयोग-सामाजिक व्य... जिससे वे आर्थिक दृष्टि से किसी दूसरे के मोहता... उनके सब काम आपस में ही पूरे हो जाते ... केवल ... प्रचुरता और निश्चिन्तता, आश्च...

...से उपजाऊ भूमि और बहुत उत्तम जल-वायु के कारण इन लोगों ने अपने अवकाश के समय को कला एवं संस्कृति की उन्नति में लगाया है और धन-दौलत की अपेक्षा यह उन्नति कहीं अधिक मूल्यवान है। इस आर्थिक निश्चिन्तता और सांस्कृतिक सिद्धियों का आधार वह अति योग्य व्यवस्था थी जिसमें विनिमय के माध्यम के रूप में रुपया अपना सच्चा काम देता था और प्रत्येक मनुष्य को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रचुर परिमाण में प्राप्त रहती थीं।

दुर्भाग्य से ऐसे लक्षण प्रकट हो रहे हैं जिनसे पता लगता है कि यह अवस्था शीघ्रता से बदल रही है। यद्यपि आधुनिक व्यापारवाद को यहाँ प्रविष्ट हुए तीस ... से अधिक काल नहीं हुआ है, फिर भी आज इस ...न के निश्चित चिह्न दीख पड़ते हैं कि आर्थिक और ...म्पत्तिक व्यवस्था के कार्य ने राष्ट्रीय सम्पत्ति के बहुत ... परिमाण में देश से बाहर निकलते रहने और टेक्सों ... अधिक लगने के कारण, उस सहयोग-सामाजिक अवस्था को ... डाला है जो शताब्दियों तक इतना अच्छा काम ... रही थी, और इस साभिमान और सुसंस्कृत जाति का ...: शारीरिक और नैतिक ह्रास हो रहा है।

...क्स लगाना वर्तमान शासन-पद्धति का एक आवश्यक अंग है। इससे बाली-निवासियों को अपना सर्वोत्तम चावल बहुत बड़े परिमाण में विदेश भेजना पड़ता है, और साथ ही सूअर और गाय-भैंस भी। केवल चार वर्ष हुए जब बाली-निवासियों ने इतिहास में पहली बार दरिद्रता और अभाव-जनित कष्टों का अनुभव किया। उनकी उपज का मूल्य विदेश में बहुत अधिक गिर जाने के कारण उनके लिए रुपये का प्राप्त करना अधिक और अधिक कठिन होता गया। अनेक दशाओं में तो क्लेश इतना बढ़ गया कि कर का ऋणशेष चुकाने के लिए उनकी भूमि नीलाम कर दी गई। यह सब उस काल में हुआ जिसमें डच इण्डीज़ का निर्यात आयात से बहुत अधिक था, अर्थात् आयात ३०,०००,००० पौंड था तो निर्यात १००,०००,००० पौंड। जो देश अपने खाद्य-पदार्थ इतने बड़े परिमाण में बाहर भेजेगा उसके लिए अकाल और क्षुधा का दारुण दुःख सहना अवश्यम्भावी है।

डच लोगों ने अब इन लोगों को कुलियों की जाति बना दिया है। अब आर्थिक सन्तुलन को क़ायम करने के लिए उपाय हो रहे हैं। देश में आर्थिक प्रलय उपस्थित हो रहा है। फलतः आधुनिक व्यापारवाद और नाम-मात्र सभ्यता के निर्दय आक्रमण से इन साभिमान लोगों का उच्च नैतिक आदर्श अवश्य नष्ट हो जायगा।

समीर की चाह

लेखक, कुँवर हरिश्चन्द्रदेव वर्मा 'चातक' कविरत्न

... नहीं है सुमनों का
...भ पाकरके इठलाऊँ।

चाह नहीं है अलिबाला से—
गान सीख करके गाऊँ।

चाह नहीं है प्यारी का
सन्देशा प्रिय तक पहुँचाऊँ।

चाह यही है, वीर-ध्वजा से—
क्रीड़ाकर मैं सुख पाऊँ॥

मिस्त्री

लेखक, श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी

श्रीमती जी की सिंगर मशीन बिगड़ गई थी और उसके बिना उन्हें दिन काटना दूभर हो रहा था। वे रोज़ मुझसे इस बात के लिए जवाब तलब करके परेशान कर रही थीं कि मैं जल्दी उसे किसी मिस्त्री के हवाले करके ठीक क्यों नहीं करा लेता। इधर मैं यह सोच रहा था कि नियमित रूप से चलनेवाली मशीन की खटर-खटर से कुछ समय के लिए छुट्टी पाने का जो मौक़ा दैवयोग से आ पड़ा है उसे जल्दी हाथ से क्यों जाने दिया जाय! पर श्रीमती जी के 'रिमाइण्डरों' के मारे भी तो नाकोंदम था। मैं फिर भी कुछ समय के लिए और टालता, पर अन्त में जब नौबत यहाँ तक पहुँच गई कि श्रीमती जी ने मुझसे खुट्टी कर लेने का निश्चय कर लिया और यह कहकर धमकी दी कि नन्हे को लेकर वह शीघ्र ही मायके चली जायँगी और वहीं उसके लिए 'फ्राक' सीएँगी तो मुझे अपना विचार बदलना पड़ा और मैंने मशीन को किसी मिस्त्री के पास ले जाने का इरादा कर लिया। पर मिस्त्री कहाँ मिलेगा, इस बात की मुझे कुछ भी जानकारी नहीं थी। मैंने अपने जीवन में यह मशीन प्रथम बार, अपनी नवोढ़ा पत्नी के अनुरोध से कुछ ही मास पूर्व ख़रीदी थी। अतएव मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं था कि उसका कौन पुर्ज़ा कैसे ख़राब होता है और उसे ठीक कराने के लिए किस मिस्त्री के पास जाना होगा। अपने एक तजुर्बेकार मित्र के आगे मैंने जब अपनी दिक़्क़त पेश की तो उन्होंने कहा कि वह एक मिस्त्री को जानते हैं जो काम में होशियार तो अवश्य है, पर है बड़ा आलसी। जब तक उसे अपने पास बुलाकर अपने सामने ही काम न करवाया जाय तब तक वह कुछ करता नहीं। उन्होंने दो-एक दिन के भीतर ही उसे मेरे पास भेजने का वचन दिया।

उस दिन रविवार था। मुझे आफ़िस जाना नहीं था। इसलिए यद्यपि दस बज चुके थे, मैंने अभी तक नहाया-धोया तक न था और बड़ी फ़ुर्सत से, आराम के साथ बाहर के कमरे में बैठा हुआ अख़बार पढ़ रहा था। इतने में किसी ने बाहर से 'बाबू साहब! बाबू साहब'! कहकर पुकारा। मैंने बरामदे में जाकर देखना चाहा कि कौन है। बाहर एक अनोखी शक्ल-सूरत का आदमी खड़ा था। ग़ौर से देखने से मालूम होता था कि उसकी आयु चालीस से कम ही होगी, अधिक नहीं। पर सरसरी निगाह से उसे देखने पर कोई उसे ६० वर्ष से कम का न बताता। उसका मुँह एकदम सूखा हुआ था। उसमें स्थान-स्थान पर इतनी झुर्रियाँ पड़ गई थीं कि उन्हें गिनना असम्भव था। सर के बाल आधे पक गये थे। आँखों में वह चश्मा लगाये हुए था। एक फटी और वर्षों से मैली पड़ी हुई धोती और उसी तरह के कुर्ते के साथ ऐनक लगाने से वह व्यक्ति विचित्र स्वाँग का-सा दृश्य आँखों के आगे खड़ा कर रहा था। हाथ में वह कुछ औज़ार लिये था।

मैंने पूछा—"किसे खोजते हो?"

"आपकी कोई मशीन ठीक करनी है क्या?"

"हाँ, चले आओ।"

उसे बाहर के कमरे में बिठाकर मैंने अपने नौकर से मशीन ले आने के लिए कहा।

मशीन जब उसके पास लाकर रख दी गई तो उसने एक बार परीक्षा की दृष्टि से सरसरी तौर पर उसे देखा और देखकर कहा—"मशीन तो आपकी नई है। पर साहब, सिंगर कम्पनी अब वह माल नहीं देती जो पहले दिया करती थी। क्या ज़माना आया है, बाबू साहब! छोटे-मोटे तिजारती तो बेईमानी करते ही थे, पर अब बड़ी-बड़ी कम्पनियों की नीयत भी बदलने लगी है। कम्पनियाँ ही नहीं, बड़े-बड़े वकील-बैरिस्टर, जज, कमिश्नर सभी के सुभाव बदल गये हैं और जो दरिया-दिल लोग पहले दिखाई देते थे वे अब क़तई नहीं दिखाई देते। और बड़े आदमियों की औरतें तो ऐसी कम-नीयत और कंजूस होती जाती हैं कि उनसे मिलने पर गुस्सा आये बिना नहीं रहता। बात असल में यह होती है कि वे होती हैं छोटे घरों की और व्याही जाती हैं बड़े घरों में। न उनके बाप ने कभी पैसा देखा न उनके बाबा ने, इसलिए जब ससुराल जाती हैं तो नीयत वैसी की वैसी ही बनी रहती है। अभी मैं एक एडवोकेट साहब के यहाँ से आ रहा हूँ। बड़ा भारी [illegible] बँगला है, बड़ा भारी कारोबार है, ख़ूब कमाते हैं, [illegible] की कोई कमी नहीं है। उनकी मेहरारू की सिंगर मशीन बिगड़ गई थी। मैंने उसे घर ले जाकर ठीक किया और कुछ पुराने पुर्ज़ों को निकालकर उनकी जगह में नये पुर्ज़े [illegible]कर उसे दुरुस्त कर दिया। उनकी नई मशीन भी [illegible] उतनी अच्छी तरह से न चलती होगी जैसी कि अब [illegible]ने लगी है। पर जब मैंने मजूरी माँगी तो कहने लगीं कि जो पुराने पुर्ज़े तुमने इसमें से निकाले हैं उन्हें जब [illegible] हमें वापस करोगे तब मजूरी मिलेगी। यह है बड़े घरा[illegible] औरतों की नीयत का हाल! सच बात तो यह है [illegible]साहब, कि औरत ज़ात ही ऐसी तंगदिल होती है...

[illegible] देखा कि आदमी बड़ा बातूनी है। बातों के चक्कर [illegible] डालकर वह व्यर्थ ही मेरा और अपना भी काफ़ी समय [illegible] कर डालेगा। इसलिए बीच ही में बात काटकर मैंने कहा—"अच्छा यह तो देखो कि इस मशीन में ख़राबी कहाँ पर आ गई है।"

"[illegible] तो मैं पहले देख चुका हूँ, बाबू साहब! किसी मशीन [illegible] देखते और छूते ही मैं बता सकता हूँ कि उसका कौन पु[illegible] ख़राब हुआ है। यह तो आपकी कपड़ा सीने की एक छोटी-सी मशीन है। किसी फ़ैक्टरी की बड़ी से बड़ी मशीन [illegible] जाँच सिर्फ़ दो मिनट के लिए करने पर मैं बता सकता [illegible] कि कौन पुर्ज़ा ढीला या टेढ़ा हुआ है। मुझे [illegible]ऐसा लगता है कि मैं पेट से ही मशीनरी का [illegible] सीखकर आया था। पर दिल्लगी देखिए कि मैं [illegible] हुआ एक जौहरी के घर! अपने कुल में मिस्त्री का पेशा करनेवाला मैं ही पहला आदमी हूँ।"

[illegible] विचित्र व्यक्ति के जीवन के सम्बन्ध में मेरी [illegible] अवश्य बढ़ रही थी, पर साथ ही इस बात से [illegible] रहा था कि काम में व्यर्थ की देर हुई जाती [illegible] काम की ओर उसका ध्यान आकर्षित करने के इरादे से कहा—"तो तुम्हें मालूम हो गया है कि मशीन कहाँ पर बिगड़ी है?"

"जी हाँ।" कहकर उसने एक औज़ार से मशीन के जुड़े हुए टुकड़ों को खोलना शुरू कर दिया और खोलते हुए कहा—"एक बर्तन में मिट्टी का तेल मँगाइए।" मैंने नौकर से कह दिया। वह एक शिलफ़ची में तेल ले आया। पुर्ज़ों को खोलकर शिलफ़ची में डालते हुए उसने कहा—"मेरी तो यह इच्छा थी बाबू साहब, कि विलायत जाकर हवाई जहाज़ का काम सीख आऊँ। पर क्या बताया जाय, सिर्फ़ एक बात की वजह से वहाँ जा नहीं पाता। मैंने सुना है कि वहाँ अफ़ीम नहीं मिलती और अफ़ीम के बिना मैं एक दिन भी नहीं जी सकता।"

मैंने कहा—"कौन कहता है कि विलायत में अफ़ीम नहीं मिलती? अफ़ीम तो वहाँ ज़रूर मिलनी चाहिए।"

उसने अधिकार के साथ कहा—आप नहीं जानते। एक मेम साहब के यहाँ मैंने काम किया था। उससे मैंने जब विलायत जाने की बात चलाई तो उसने कहा—"मिस्त्री, तुम विलायत में बिना अफ़ीम के मर जाओगे। वहाँ अफ़ीम नहीं मिलती।"

"अफ़ीम की आदत तुम्हें कब से और कैसे पड़ गई?"

उसने कहा—"पन्द्रह बरस से मैं बराबर अफ़ीम खाता आया हूँ। कैसे इसकी लत मुझे पड़ गई, यह मैं आपसे क्या बताऊँ! पर हाँ, इतना मैं आपसे ज़रूर कहूँगा कि इस लत ने मुझे तबाह कर दिया। पर इसे भी दोष देना ठीक नहीं है। सच बात यह है कि मेरे पिछले जनम के करम ही ऐसे रहे हैं कि इस जनम में एक दिन के लिए भी यह नहीं जाना कि सुख किसे कहते हैं। यह ज़रूर है कि अफ़ीम के नशे में मैं अपने दुखों को भूला रहता हूँ। आपको मालूम होना चाहिए कि यह शाही नशा है और नशे की हालत में अफ़ीमची लाट की भी परवा नहीं करता। पर नशा आख़िर नशा ही है। वह कुछ समय के लिए आदमी की मति बदल देता है, बस। इसके अलावा दुख के जो काँटे मेरे कलेजे को छेदते रहे हैं वह नशे से कहाँ तक दबाये जा सकते हैं।"

मैंने देखा कि वह बातूनी अफ़ीमची तब तक शान्त

नहीं होगा जब तक वह अपने मर्मोद्गार पूरी तरह से निकाल न ले। उसकी जीवन-कथा जानने की भी कुछ उत्सुकता मेरे मन में उत्पन्न हो गई थी। मैंने उसके जीवन के सम्बन्ध में उससे दो-एक प्रश्न और किये। अपने सम्बन्ध में मेरा जिज्ञासु-भाव देखकर वह ऐसा उत्साहित हो उठा कि आवेश में आकर हाथ का 'रिञ्च' ज़मीन पर रखकर मुझे अपनी राम-कहानी सुना चला।

× × ×

"अपने कुल में मैं ही पहला आदमी हूँ जिसने मिस्त्री का पेशा अख़्तियार किया है। मेरे बाप-दादा जौहरी थे। पिता जी साल में छः महीने रियासतों में चक्कर लगाकर जवाहरात बेचते थे और बाक़ी छः महीने घर बैठकर राग-रंग में कमाये हुए रुपयों को उड़ाते थे। उनके पास कितनी पूँजी रही है, इसका ठीक अन्दाज़ कभी कोई न लगा सका। इस बारे में तरह-तरह के लोग तरह-तरह की बातें किया करते थे। कोई कहता था कि उनके पास पन्द्रह लाख रुपये हैं और कोई कहता था पन्द्रह हज़ार। मेरा तो इस समय यह ख़याल है कि दोनों ही बातें सच थीं। पर उस समय इस बात की कोई चिन्ता ही पैदा न हुई कि मेरे बाप के पास कितना धन है। हम दो भाई थे और दोनों ही बड़े मौज से और ठाट से रहते थे।

"बाबू जी ने बहुत कोशिश की कि मैं लिखना-पढ़ना सीखूँ। पर मैं कभी एक दिन के लिए भी किताबों में जी न लगा सका। तीन मास्टर मुझे पढ़ाने आया करते थे, पर मैं उन्हें इस बात का भरोसा देकर कि मेरे न पढ़ने पर भी उन लोगों की नौकरी बरक़रार रहेगी और यह जताकर कि मेरी पढ़ाई पर ज़ोर देने से ही उनके बरख़ास्त होने का डर है, उन्हें धता बताकर आवारा फिरता रहा। मेरा छोटा भाई बलदेव मुझसे पाँच साल छोटा था। वह पढ़ने-लिखने में बड़ा तेज़ था। मेरी हरकतों से बाबू जी और मास्टर सभी तंग आ गये थे, पर बलदेव का झुकाव किताबों की ओर देखकर सबकी जान में जान आई।

"मैं छुटपन से ही गँजेड़ियों और भँगेड़ियों के संग में रहकर मौजों में बहा करता था। बाबू जी मेरे चाल-चलन और रंग-ढग से कैसे ही नाराज़ क्यों न रहे हों, पर उन्होंने कभी मेरे लिए किसी बात की कमी न होने दी। वह ख़ुद ऐयाश-तबीयत आदमी थे, इसलिए उन्होंने रुपये-पैसे की परवा कभी न की और जब मैं जो चीज़ उनसे चाहता, वह मुझे ज़रूर मिल जाती। मेरी माँ मेरे बचपन में ही मर चुकी थीं, इसलिए बाबू जी मेरे माँ-बाप दोनों ही थे।

"पिता जी की पूँजी भीतर ही भीतर किस क़दर खोखली होती चली जाती है इस बात की मुझे कुछ भी ख़बर नहीं थी। अचानक एक दिन जब दिल की बीमारी से वह इस संसार से चल बसे तो मेरे ऊपर वज्र का पहाड़ टूट पड़ा। मुझे जब मालूम हुआ कि बाबू जी के ऊपर कई हज़ार का क़र्ज़ा चढ़ा हुआ है और अपना कहने को उनके पास कई महीनों से कुछ भी नहीं रह गया था। उनकी दिल की बीमारी का कारण क्या था, यह बात समझने में मुझे देर न लगी। पर अपने जीते-जी उन्होंने हम लोगों को ज़रा-सी भी ख़बर इस बात की न होने दी कि उन पर कैसी बीत रही है। शायद वह इस आशा में थे कि किसी मौक़े से वह अपनी हालत सँभाल लेंगे।

"कुछ भी हो, अब सारे घर का भार पड़ा मेरे ऊपर। कुछ समय तक तो मैं सब रंग-ढंग देखकर ऐसा हक्का-बक्का रह गया कि मुझे ऐसा विश्वास होने लगा कि मैं पागल हो जाऊँगा। पर बलदेव को मैं जी-जान से चाहता था और मैं नहीं चाहता था कि वह उस कच्ची उम्र में ही पढ़ना-लिखना छोड़ कर नोन-तेल-लकड़ी की चिन्ता में लग जाय। मैंने कमर कसी और प्रण कर लिया कि जिस किसी भी उपाय से उसे बी० ए० तक पढ़ाऊँगा, बल्कि वकील बनाकर छोड़ूँगा। कल-पुर्ज़ों के काम में मुझे पहले से ही दिलचस्पी थी। मिस्त्रियों के साथ गाँजा पीकर मैंने मोटर से लेकर छोटी से छोटी सभी कलों का काम थोड़ा-बहुत सीख लिया था। अब अच्छी तरह से सीखना शुरू कर दिया और निश्चय कर लिया कि इस पेशे में सबसे बाज़ी मारूँगा। भगवान की कृपा से हुआ भी यही। जिसने एक बार मेरा काम देखा उसने फिर कभी दूसरे मिस्त्री को न पूछा। शहर के सभी बड़े-बड़े साहबों और रईसों की मोटरें मुझी को ठीक करने के लिए मिलती थीं। मैं ख़ुद आधा पेट खाकर बलदेव को अच्छा खाना खिलाता (उसके मन के मुताबिक़ खाना न मिलने से वह फेंक दिया करता था), भरसक बढ़िया कपड़े उसके

लिए ख़रीदता; किताबों और फ़ीस वग़ैरह का ख़र्चा तो लगा ही था।

"जब वह इण्ट्रेन्स पास करने के बाद इण्टरमीडिएट की भी पढ़ाई ख़तम कर चुका तो उसने लखनऊ जाकर बी० ए० पढ़ने का विचार किया। मैंने कई जोड़े बढ़िया-बढ़िया सूट सिलवाकर चमड़े का एक 'फ़र्स्ट किलास' सूटकेस, दो जोड़े फ़ैशनदार जूते, एक होलडाल, बिस्तर का सब नया सामान ख़रीद कर और किताबों और पहले महीने की फ़ीस के लिए क़रीब डेढ़ सौ रुपया उसके हवाले करके किसी भले आदमी के लड़के के साथ उसे लखनऊ भेज दिया। तब से हर माह मुझे साठ या सत्तर रुपए उसके लिए भेजने पड़ते थे। मोटरों के अलावा मैं और भी तरह-तरह की मशीनों का काम अपने हाथ में लेने लगा और किसी तरह मर-तरकर ज़्यादा से ज़्यादा रुपया कमाने की कोशिश करता हुआ बलदेव की पढ़ाई का ख़र्चा जुटाने में लगा रहता। बीच-बीच में उसे इन साठ-सत्तर रुपयों के अलावा सौ-पचास रुपया और भी भेजना पड़ता। कभी वह लिखता कि उसके कुछ रुपये चोरी हो गये हैं, कभी लिखता कि किसी लड़के ने उधार माँग लिये, फिर नहीं दिये, कभी लिखता कि इस महीने एक ख़ास चीज़ की पढ़ाई के लिए कुछ फ़ीस और देनी पड़ेगी। पर मेरे पहचानवालों में से जो लखनऊ आते-जाते थे उनसे पूछने पर वे कहते कि वह बड़े ठाठ से रहता है और सैर सपाटे में अपने साथियों के साथ रुपये उड़ाता रहता है। मैं सोचता कि बुरा क्या है, यही तो बेचारे के मौज के दिन हैं। मैंने नशा-पानी एकदम-कम कर दिया था, क्योंकि उसमें एक तो काम कम हो पाता था, दूसरे बेकार का ख़र्चा बढ़ जाता था। मैं चाहता था कि अपने खाने-पीने और किराये के ख़र्चे में से जितना भी बचा पाऊँ वह सब बलदेव के लिए भेज दूँ।

"कुछ भी हो, किसी तरह करते-कराते बलदेव ने बी० ए० पास कर लिया और इसके बाद वकालत के इम्तहान में भी वह पास हो गया। जब वह लखनऊ की पढ़ाई ख़तम करके घर वापस आया तो मैं मारे ख़ुशी के फूला न समाया। इच्छा होती थी कि उसे प्यार से जी भरकर गले लगा लूँ, पर उसका ठाठ-बाट और अपने को फटे हाल देखकर हिम्मत नहीं पड़ती थी।

"मैंने फ़ौरन उसके लिए एक योग्य लड़की खोजने का काम शुरू कर दिया। बड़ी दौड़-धूप के बाद बनारस में एक ऐसी लड़की का पता चला जिसका रूप-रङ्ग देखकर उसी दम मेरे मन में यह बात समा गई कि दोनों की जोड़ी बहुत सुन्दर रहेगी। बड़ी धूमधाम से मैंने ब्याह किया। बहू जब घर आई तो मुझे ऐसा मालूम होने लगा जैसे बरसों से उजड़ा हुआ मेरा घर बस गया। बलदेव सचमुच बहू को देखकर निहाल हो गया था और उसे सुखी देखकर मेरा मन मारे आनन्द के उछल पड़ता था। बहू जब मुझे देखकर घूँघट काढ़ कर सर नीचा करके खड़ी रहती तो मेरा जी चाहता कि उसके दोनों पैरों पर गिड़गिड़ा पड़ूँ और उस साक्षात् लक्ष्मी माता से वरदान माँगूँ कि मेरा यह सुख जनम-जनम तक इसी तरह बना रहे। पर पैरों पर पड़ने की हिम्मत न पड़ती।

"हमारा शहर छोटा होने पर भी वहाँ वकीलों की तादाद इतनी बढ़ी हुई थी कि वकालत का पेशा एकदम चौपट हो गया था। बलदेव की तो यह हालत थी कि वह महीने में ३०-४० रुपये भी नहीं कमा पाता था। इतने से उसके पान-सिगरेट का ख़र्चा भी नहीं चलता था। पर मुझे इस बात का कोई दुःख नहीं था और मैं अपने प्यारे भाई और बहूरानी को भरसक सुखी रखने की पूरी कोशिश करता। मैं दिन-रात खटता था और इतना कमा लेता था जितने से सारा कुटुम्ब बिना किसी चिन्ता के सुख से रह सके।

"ब्याह होने के डेढ़ साल बाद ही बहूरानी ने एक लड़के को जनम दिया। बड़ा प्यारा बच्चा था, बाबू साहब! उसका नाम रखा सुखदेव। पैदा होने के कुछ ही महीने बाद ही वह मुझसे ऐसा हिल-मिल गया कि क्या बताऊँ! मुझे देखते ही पालने पर उछल पड़ता था और मेरे चुमकारने पर अपने दोनों होठों को खोलकर तानता और मुसकराकर खिलखिलाने की कोशिश करता और मुँह में ऊँगली डालकर अपनी तुतली बोली में न जाने प्यार की कौन सी बात मुझसे करता। उसने मुझे अपने माया-जाल में ऐसा जकड़ लिया बाबू साहब, कि काम से मेरा जी हटने लगा और चौबीसों घण्टे उसी को गोद में लेकर रहने को जी चाहता था। पर काम न करूँ तो घरवाले खा[ें] क्या? लेकिन, विश्वास कीजिए, काम में मेरा जी अ

बिलकुल नहीं लगता था और मैं चाहे किसी से बातें करता होऊँ, चाहे कोई काम करता होऊँ, उसी का मुसकराना, खिलखिलाना और तुतलाना मेरे मन को अनमना-सा बनाये रहता। क्या बताऊँ भूत की तरह उसकी याद हर घड़ी मेरे मन को घेरे रहती। न जाने पूर्व जन्म का कौन बैर साधने वह मेरे घर आया था।

'जब काम में मेरा जी ही नहीं लगता था तो यह बात मानी हुई समझ लीजिए कि मेरी आमदनी भी पहले से बहुत घट गई। अब मैं इस बात की चिन्ता में लगा कि बलदेव को कहीं नौकरी मिल जाय। मैंने सोचा कि मैंने इतने दिनों तक कमाया-धमाया है और उसे पाल-पोस कर पढ़ा-लिखा कर इस लायक़ बना दिया है कि वह कहीं नौकरी करके मेरी परवरिश करे। मैं अब बुड्ढा हुआ जाता हूँ, इतने दिनों तक जी-तोड़ कर मेहनत की, एड़ी-चोटी का पसीना एक किया है, अब कब तक! अब मैं सिर्फ़ अपने प्यारे भैया को, सुक्खू को लेकर उसे गोद में खेला कर आराम से रहना चाहता हूँ।

"पर बलदेव में इतना बूता नहीं था कि वह अपने लिए ख़ुद नौकरी ढूँढ़ता। हमारे शहर में एक पादड़ी साहब थे। उनकी मोटर अक्सर ख़राब हो जाया करती थी और मैं अक्सर बिना कुछ मजूरी लिये उसे ठीक कर देता था। वह मुझसे ख़ुश थे। मैंने सुन रखा था कि बहुत से बड़े-बड़े अँगरेज़ अफ़सर उन्हें बहुत मानते हैं। मैंने एक दिन जाकर उनके पाँव पकड़ लिये और कहा कि—मैं तब तक नहीं छोड़ूँगा जब तक आप मेरा उद्धार न करेंगे। उन्होंने मेरी प्रार्थना सुनी और उनकी सिफ़ारिश से लखनऊ में किसी सरकारी दफ़्तर में बलदेव को नौकरी मिल गई। मैंने एक लम्बी साँस ली और एक दिन हम लोग बोरिया-बँधना लेकर लखनऊ को चल पड़े। मक़बूलगञ्ज के पास एक गली में एक छोटा-सा मकान १५) किराये में मिल गया।

"मैंने पहले सोचा था कि लखनऊ जाकर अपना कारोबार नये सिरे से जमाकर ख़ूब ज़ोरों में उसे चलाऊँगा। पर बलदेव की नौकरी और सुक्खू के माया-मोह ने मुझे ऐसा निकम्मा और आलसी बना दिया कि मुझसे अब सिवा सुक्खू को खेलाने और गाँजा और चरस की दम लगाने के और कोई काम होता ही न था। बलदेव कुछ महीनों तक मुझे ५) माहवार देता रहा। बाक़ी सब रुपए वह बहू के हाथ में रख देता था और बहू हिसाब से ख़र्च करती थी। उतनी रक़म से मेरे नशे पानी का ख़र्च नहीं चलता था। पर मैं घर से आते समय दो-तीन सौ रुपया एक पोटली में बाँधकर छिपाकर ले आया था। उसमें से भी ज़रूरत पड़ने पर निकाल लेता था।

सुक्खू ज्यों-ज्यों महीने-महीने बड़ा [illegible] गया त्यों-त्यों वह मुझे अपने प्यार के माया-जाल में [illegible]ता गया। जब वह अपनी माँ के पास होता तो [illegible]हीं से 'दाऊ! दाऊ!' कहकर मुझे आवाज़ देता औ[illegible] चुमकारने पर बात-बात में उसका वह खिलखि[illegible]! अभी तक उसके खिलखिलाने की प्यारी आवा[illegible] कानों में गूँजती रहती है, बाबू साहब, आप सच [illegible]!

"जब वह रोता तो उसकी माँ उ[illegible] पास लाकर छोड़ जाती। मेरे पास आते ही वह शा[illegible] जाता और सिसकते हुए अपनी माँ की शिकायत [illegible]—'अम्माँ बली तलाब है, दाऊ! उससे मत बोल[illegible]!' मैं उसका मुँह चूमते हुए उसे दिलासा देता, उसे [illegible]र ले जाकर घुमा लाता और एक-आध सस्ता खिलौना [illegible]दकर उसके हाथ में दे देता। उसे गोद में लेते ही मुझे [illegible] मालूम होने लगता जैसे मैंने यशोदा के हाथ से [illegible]गोपाल को छीन लिया है और मैं अपने को एकदम सातवें स्वर्ग में पहुँचा हुआ पाता। कृष्ण की बाल-लीला [illegible] एक फ़िल्म मैंने देखा था। उसी की याद मुझे आ [illegible]—ख़ासकर जिस वक़्त मैं चरस के नशे में या अफ़[illegible] की पीनक में होता।

"एक दिन मैंने चरस ज़रा ज़्यादा पी लि[illegible] था। सुक्खू को मैं बाहर टहलाने के लिए ले गया था। [illegible] खिलौना ख़रीदकर उसके हाथ में देकर जब मैं उसे [illegible] लाया तो उसे गोद में लेकर ज़ीने के ऊपर चढ़ने के [illegible] मेरा सिर कुछ चकराने-सा लगा और हाथ-पाँव कुछ [illegible]ने-से लगे। पल भर के लिए मैं कुछ अनमना-सा हुआ [illegible]ऊँगा। मेरा हाथ कुछ ढीला पड़ा और एकाएक मैंने [illegible] कि सुक्खू मेरे हाथ से गिरकर ऊपर की सीढ़ी से [illegible] की सीढ़ी पर पड़ा। मैं हड़बड़ाकर ज्योंही उसे पकड़ने [illegible] तो मेरे भी पाँव लड़खड़ाये और मैं उसे पकड़ दो [illegible] और नीचे गिरा। उसके नीचे सीढ़ी नहीं थी। उसकी [illegible] ऊपर से दौड़ी चली आई। सुक्खू की नाक से बुरी तरह से ख़ून

बह रहा था और उसके घुटनों में भी चोट आई थी। वह बिलख-बिलखकर रो रहा था। उसका हाल देखकर मेरा कलेजा फटा जा रहा था। पर उसकी माँ ने आते ही मुझे ऐसी बेभाव की गालियाँ देनी शुरू कीं कि मैं मिट्टी में गड़ा जाता था। कहने लगी—'इस कलमुँहे अफ़ीमची का सत्यानाश हो जिसे न अपनी सुध है न बच्चे की। निखट्टू के करने को न कोई काम है न काज, साँड़ों की तरह अलमस्त बना फिरता है। मैं आज ही उनसे कह दूँगी कि मैं इसके साथ नहीं रह सकती, मैं मायके चली जाऊँगी।" उस दिन तक उसने मेरे सामने कभी एक बात भी मुँह से नहीं निकाली थी और हमेशा मुझसे पर्दा करती रही। पर उस दिन मौक़ा ही ऐसा आ पड़ा कि जो बात इतने दिनों तक उसने मन में छिपा रखी थी वह भी निकल पड़ी।

"उस दिन मुझ पर दिन-भर कैसी बीती यह भगवान् ही जानते हैं। शाम को जब बलदेव घर आया तो सुक्खू की माँ ने उससे सब बातें कह दीं। वह मुझ पर बुरी तरह बिगड़ा और डाट बताते हुए उसने कहा—'तुम आज ही मेरे घर से चले जाओ। मैं तुम्हें अब एक दिन के लिए भी अपने यहाँ नहीं रख सकता। सुक्खू की माँ ने मुझसे पहले ही कह दिया था, पर मैंने उसकी बात नहीं सुनी और उसका यह नतीजा हुआ! तुम जहाँ चाहो रह सकते हो, पर मेरे यहाँ तुम्हारे लिए जगह नहीं है। जहाँ कहीं रहोगे वहाँ ५) माहवार भेज दिया करूँगा।'

"मुझे जैसे काठ मार गया हो। बहुत देर तक घुटनों के नीचे मुँह छिपाकर बैठा रहा। इसके बाद एकाएक उठ खड़ा हुआ और बाहर चला आया। सुक्खू ने ऊपर से पुकारकर कहा—'दाऊ, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।' उसे कोई गहरी चोट नहीं आई थी और वह चङ्गा हो गया था। मैंने एक बार उसकी ओर देखा। मुझे रुलाई आ रही थी। आँखें पोछकर बिना किसी से कुछ कहे मैं वहाँ से चला गया।

दो-चार दिन एक धर्मशाले में पड़ा रहा। उसके बाद गँजेड़ियों का एक अड्डा ढूँढ़कर उनके पास चला आया। गँजेड़ियों में यह बात होती है कि उनमें आपस में बहुत गहरा प्रेम हो जाता है, वे एक दूसरे के सुख-दुख के साझी बन जाते हैं। उन लोगों ने एक कच्चे मकान में मेरे पड़े रहने का उपाय कर दिया। मेरे पास जो रुपये बचे थे उन्हीं को सहेज-सहेजकर ख़र्च करने लगा। अगर गाँजे तक ही बात रह जाती तो कोई हर्ज नहीं था, पर अफ़ीम की लत ने ऐसा ज़ोर मारा कि मैं चौबीसों घण्टे पीनक में रहने लगा। खाना बाज़ार से ही लेकर खाता था। कभी अध-पेट खाता, कभी बिना खाये ही पड़ा रहता। सुक्खू सब समय ख़याल में मेरी आँखों के आगे खड़ा मुसकराता रहता। एक पल के लिए भी मैं उसे भूल नहीं पाता था। बीच-बीच में हिम्मत बाँधकर उस गली से होकर जाता था जहाँ बलदेव रहता था—सुक्खू को एक बार देखने की इच्छा से। सिर्फ़ एक दिन वह कोठे पर अपनी माँ के साथ दिखाई दिया। मुझे देखते ही उसने चिल्लाना शुरू किया—'दाऊ! दाऊ!' मैंने एक बार ललककर उसकी ओर देखा और फिर बिना कुछ बोले भागकर चला गया।

"एक दिन इसी तरह मैं उसी गली से होकर जा रहा था—इसी आशा से कि सुक्खू को एक बार देख लूँ। जब उस मकान के पास पहुँचा तो मैंने देखा कि बलदेव कोठे पर खड़ा है। वह बहुत उदास दिखाई देता था। उसे देखकर मैंने तेज़ी से क़दम बढ़ाये। मैं आगे निकल जाना चाहता था। पर उसने ऊपर से पुकारा—'भैया! भैया!' पहले मैंने सोचा कि मेरे कानों को धोखा हुआ है। पर जब मैंने उसकी ओर देखा तो वह सचमुच हाथ के इशारे से मुझे बुला रहा था। मैं घबराया हुआ-सा उसके मकान की ओर लौटा। मेरे मन में शंका हो गई थी कि मामला ज़रूर कुछ गड़बड़ है। भीतर जाकर मैंने पूछा—'कहो, कुशल तो है? आज क्या दफ़्तर में छुट्टी है?'

"उसने बड़ी उदासी से धीमी आवाज़ में कहा—'अब पूरी छुट्टी मिल गई है। जगह की कमी के कारण हमारे दफ़्तर से आठ-दस आदमी अलग कर दिये गये हैं। मैं भी अलग हो गया हूँ।'

"मैं कुछ देर तक उसके मुँह की ओर ताकता रहा। मेरे सिर पर गाज-सी गिर पड़ी। उसने कहा—'इधर दो दिन से सुक्खू को भी बुख़ार आया हुआ है। वह सब समय "दाऊ! दाऊ!" चिल्लाया करता है, ज़रा उसके पास हो आओ!' मुझे चक्कर आने लगा—ठीक उसी

दिन की तरह जिस दिन सुक्खू को चोट आई थी। किसी तरह मैं अपने को सँभालकर बलदेव के साथ सुक्खू के पास गया। वह पलँग पर लेटा हुआ बुख़ार से छटपटा रहा था। उसकी माँ नीचे फ़र्श पर सर नीचा किये बैठी थी। मैंने सुक्खूं के पास जाकर कहा—'मेरे भैया! मेरे राजाबाबू!'

"वह कुछ देर तक मेरी ओर देखता रहा और फिर उसके तमतमाए हुए चेहरे में हँसी झलकने लगी। उसने उसी पहले की-सी प्यारी और तुतली आवाज़ में कहा—'दाऊ! मुझे बुखाल आ लहा है!' मैं रह न सका और मेरी आँखों से टपाटप आँसू गिरने लगे। उसने अपने दोनों हाथ मेरी ओर बढ़ाये। मैंने उसे चट से गोद में ले लिया और उसके मुँह से मुँह मिलाकर अपने आँसुओं से उसके गालों को भिगो दिया।

"बलदेव ने कहा—'इसका कोई इलाज नहीं किया जा रहा है। क्या करूँ, किसी डाक्टर को बुलाने के लिए पैसे कहाँ से लाऊँ!'

"मैंने उसी दम सुक्खू को पलँग पर लिटा दिया और डाक्टर को बुलाने चला गया। मेरे पास के भी रुपए सब ख़र्च हो चले थे, पर डाक्टर की एक बार की फ़ीस के लिए अभी कुछ रुपये बचे थे। डाक्टर ने आकर देखा और एक काग़ज़ के टुकड़े में दवा लिख दी। दवा लाकर मैंने बलदेव को दी। मैंने सोचा—'इस वक़्त के लिए डाक्टर का और दवा का इन्तज़ाम तो हो गया, पर आगे क्या होगा!' सोचते-सोचते मेरे मन में और तन में एक भूत-सा सवार हुआ और वही पुरानी ताक़त और फ़ुर्ती मुझमें लौट आई, जब मैं रात-दिन खटकर मशीनरी का काम करके बलदेव को कालेज में पढ़ाने का ख़र्चा जुटाया करता था। यह कहकर कि मैं रात को फिर आऊँगा, मैं बाहर चला गया। उसी दम कोई काम मुझे नहीं मिल सकता था। पर भगवान् की दया से मेरे मन में एक सूझ पैदा हुई। अपनी गठरी से दो-एक औज़ार निकालकर मैं एक्कों और ताँगों के एक अड्डे पर चला गया, और वहाँ सस्ते रेट पर मैंने घोड़ों की नाल बाँधने का काम शुरू कर दिया। मैं देख चुका था कि बलदेव के पास अपने खाने को भी पैसा नहीं रह गया था। सुक्खू की माँ ने ज़रूर ही कुछ पैसे बचाये होंगे, पर यह जानी हुई बात थी कि उससे उ[illegible] संकट की हालत में भी पैसा निकलना मुश्किल था। औरत की ज़ात का यह ख़ास गुण है, बाबू साहब! ख़ैर, नौ बजे रात तक काम करके मैंने दो-ढाई रुपए कमा लिये। इसी तरह तीन-चार दिन तक मैं घोड़ों को नाल बाँध कर दवा का ख़र्च निकालता रहा। जो पैसे बचा पाता उनसे सुक्खू के लिए बढ़िया-बढ़िया खिलौने लेकर उसके पलँग पर सजाकर रख देता। वह बुख़ार से छटपटाने पर भी मेरे हाथ में खिलौने देखकर मुसकरा देता और मुझे प्यार करने के लिए उतावला हो उठता।

"मेरा एक चरसिया साथी भी मिस्त्री का काम करता था। उसकी कोशिश से मुझे कपड़े की मशीनों को ठीक करने का काम भी मिलने लगा। मैं वह काम भी करता और ख़ाली होने पर घोड़ों की नाल भी बाँधता। अफ़ीम मैंने बहुत कम कर दी और दिन-रात काम की धुन में रहने लगा।

"पर सुक्खू की तबीयत अच्छी नहीं हो रही थी। वह छटपटाते हुए कहता—'दाऊ, सिर में बड़ा दर्द हो गया है, अच्छा कर दो!' उफ़! क्या कहूँ बाबू साहब, अपना सिर फोड़ कर भी उसका दर्द अच्छा कर सकता तो मैं ज़रूर वैसा ही करता। उपाय किये, पर सब व्यर्थ गये।

× × × ×

मिस्त्री की आँखों से टपाटप आँसू गिर रहे थे। मैं स्तब्ध होकर यह करुण-कहानी सुन रहा था। मैंने पूछा—"तुम्हारे भाई का अब क्या हाल है?"

उसने कहा—"मैंने फिर उन्हीं पादड़ी साहब के पैरों पर गिड़गिड़ाकर उन्हें अपना सारा हाल कह सुनाया। उनकी कोशिश से बलदेव को फिर दफ़्तर में नौकरी मिल गई है। पर मैं अब उन लोगों के साथ नहीं रहता। पर मुझे यह सोचकर हँसी आती है कि एक दिन मैंने मशीन वशीन का सब काम छोड़कर आराम से रहने का विचार कर लिया था। तब मैं क्या जानता था कि ज़िन्दगी भर मशीनों के चक्कर से मेरा पिण्ड छूटने का नहीं!" कहकर वह फिर रिं[illegible] पकड़कर मेरी सिंगर मशीन के रहे-सहे पुर्ज़ों को अत्यन्त निममता से उखाड़-उखाड़ कर मिट्टी-तेलवाली शिलफ़ची में डालता गया।

मदारी के खेल

लेखक, भाई परमानन्दजी, एम० ए०, एम० एल० ए०

श्रीमान् भाई परमानन्द का कांग्रेस से प्रकट विरोध है। उनके तथा उनके साथियों का ऐसा विरोध होते हुए भी आज कांग्रेस की क्या वक़्त है तथा उसने कैसा विराट् रूप ग्रहण कर लिया है, इसका यहाँ वर्णन करने की ज़रूरत नहीं है। वह भी सर्व-विदित है। अपने इस लेख में श्रीमान् भाई जी ने अपने दृष्टि-कोण से विचार किया है। आशा है, 'सरस्वती' के पाठक इस लेख को ध्यान के साथ पढ़ेंगे।

कोई ही ऐसा होगा जिसने मदारी का खेल न देखा हो। दुनिया में सैकड़ों क़िस्म के खेल होते हैं। एक तरह से यह संसार ही माया का बड़ा खेल-सा है। इसी खेल का तमाशा है कि हम अपनी सारी उम्र उस छाया के पीछे-पीछे दौड़ने में लगा देते हैं और अब हम समझने लगते हैं कि हमने उस छाया को पकड़ लिया है तब हाथ खोल कर देखने पर कुछ भी नहीं मिलता, हाथ ख़ाली होते हैं। तमाशा यह है कि जितने मनुष्य हो गुज़रे हैं उन सबने यह अनुभव किया है कि उन्होंने कैसी भूल की। जिस बात को उन्होंने बड़ी वास्तविकता समझी वह तो स्वप्न-मात्र था। परन्तु फिर भी हममें से किसी को विश्वास नहीं होता यह सभी हर प्रकार का स्वप्न है। मदारी का खेल भी इसी प्रकार का एक और तमाशा है। हम सब खड़े या बैठे देख रहे हैं कि क्या विचित्र करतब किये जा रहे हैं। अभी मदारी हमारे सामने रस्सी का एक टुकड़ा फेंकता है। वह कहता है—"इसे अच्छी तरह से देख लो, ग़ौर से देख लो। यह कुछ और तो नहीं है?" हम सबने बड़े ध्यान और सावधानी से देखा, यह रस्सी का ही तो टुकड़ा है। अब मदारी कुछ बातें सुनाता है, अपनी बाँसुरी बजाता है। उस रस्सी पर चादर डाल देता है। एक तरफ़ खड़े होकर कहता है—"देखो, वह चादर हिलने लगी।" थोड़ी देर और बाँसुरी की आवाज़ सुनाता है। अब जब चादर उठाता है तब उसके नीचे रस्सी का टुकड़ा नहीं होता, बल्कि उसकी जगह एक बड़ा साँप दिखलाई देता है। हम सभी हैरान हो जाते हैं कि यह कैसे हुआ। लेकिन वह तो साफ़ तौर पर साँप दिखलाई देता है। जब आँखों से देख लिया तब इससे बढ़कर सबूत और क्या है? हममें से बहुत-से कहने लगे हैं—

"मदारी के मंत्र में बड़ी ताक़त है। तभी तो उसने रस्सी को साँप बना दिया।" इस प्रकार के कई विचित्र करतब वह दिखा सकता है। एक बड़ा गोला और लंबा छुरा लेकर वह उन्हें मुँह में डालकर निगल जाता है। फिर थोड़ी देर में वह उन्हें मुँह से बाहर निकाल लेता है। इन करतबों के बारे में कई किताबों में ज़िक्र आया है। कहते हैं, एक मदारी ने एक बच्चे को लेकर उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। देखनेवाले चकित रह गये। दर्शकों में से कई तो बहुत दुखी दिखाई देने लगे। इतने में क्या हुआ! ऊपर हवा में उस बच्चे की आवाज़ आने लगी। मदारी ने कहा—"उतर आओ! उतर आओ!" बच्चा सबके सामने नीचे आ गया। वह बिलकुल भला-चंगा था।

अगर मदारी अचेतन चीज़ों को जानदार बना दे, अगर आदमी को पहले मार डाले और फिर उसे भला-चंगा कर दे तो वह मदारी नहीं, बल्कि ख़ुदा हो गया। फिर भी लोगों ने यह सब कुछ अपनी आँखों से देखा, इसलिए बतानेवाले बताते हैं कि बात वास्तव में और है। मदारी को 'हिप्नॉटिज़्म' आता है। इसके द्वारा वह सभी दर्शकों की नज़रें बाँध लेता है। उस दशा में वह जो कुछ कहता है वही उन्हें नज़र आने लगता है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि मदारी हिप्नॉटिज़्म जानता है या उसके करतबों में कोई और भेद है, परन्तु इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि साधारण मनुष्यों पर हिप्नॉटिज़्म की क्रिया की जा सकती है। उन पर लेखों और भाषणों के द्वारा भी ऐसा असर डाला जा सकता है कि आँखें वही कुछ देखें जो उन्हें बताया जाय और दिमाग़ वही कुछ सोचें जो उनके अंदर डाला जाय। नेताओं के भाषण और समाचारपत्रों की ख़बरें जनसाधारण की नज़रों को बाँध लेती हैं। क्या मजाल कि

वे अपनी आँखों पर से जादू का असर हटा कर देखें। हिप्नॉटिज़्म में सचमुच बड़ी ताक़त है।

अँगरेज़ों का राज्य है। अँगरेज़ी भाषा में लेक्चरों और लेखों में अपना जादू है। अँगरेज़ी शब्द 'कांग्रेस' में बड़ी भारी हिप्नॉटिक शक्ति पाई जाती है। कांग्रेस जो कुछ करे सब ठीक है; वह कभी ग़लती नहीं कर सकती। जो आदमी यह कहे कि उसने ग़लतियाँ की हैं, वह क़ाफ़िर है, उसे पत्थर मार मार कर ख़त्म कर देना चाहिए। इलेक्शन में कांग्रेस एक कुत्ते को खड़ा कर दे। हमारा वोट उसी को जायगा। अगर कोई समझदार आदमी कांग्रेस के 'युटोपिया' के विषय में लेख लिखता है तो उसे पढ़ना ही क्या? वह तो फ़िज़ूल ही होगा, क्योंकि उसके साथ 'कांग्रेस' शब्द नहीं है।

कांग्रेस ने निर्णय किया, सभी स्त्री-पुरुष चरख़ा कातें, क्योंकि इससे स्वराज्य मिल जायगा। मैंने घरों में लड़कों को भी चरख़े चलाते देखा। मैं हैरान था। चरख़े का स्वराज्य से क्या सम्बन्ध? इससे पहले भी देश में लाखों स्त्रियाँ चरख़े चलाती थीं। लेकिन डंडे चलानेवालों ने हिन्दुओं से राज्य छीन लिया। दो साल बाद चरख़ा तो चला गया और स्वराज्य न मिला। लेकिन कांग्रेस ठीक है, ठीक।

कांग्रेस ने कहा, अँगरेज़ी चीज़ों का बायकाट करो—स्कूल, कालेज, कचहरी, कपड़े, पुलिस, फ़ौज, नौकरियाँ, सब कुछ। कौंसिलों में जाना देश के साथ द्रोह होगा। लेकिन कुछ ही दिन बाद सभी बायकाट ख़त्म हो गये। कौंसिलों में वही कांग्रेसी गये। गये क्यों? कौंसिलों को तोड़ने के लिए। उन्होंने फिर कहा—कौंसिलें तो हमसे टूटी नहीं; हमने बड़ी ग़लती की और स्वराज्य पीछे हटा दिया। लेकिन कांग्रेस फिर भी ठीक की ठीक ही रही।

कांग्रेस ने फ़ैसला किया—अहिंसा को धर्म के तौर पर ग्रहण करो; इससे स्वराज्य मिलेगा। हिन्दुओं पर हमले पर हमले हुए। उनके नेता क़त्ल किये गये। लेकिन अगर किसी ने हिन्दुओं को बचाने की कोशिश की तो वह काम्युनलिस्ट अर्थात् संप्रदायवादी ठहराया गया और इसलिए घृणास्पद! अब भी कोशिश तो हो रही है कि पठानों को अहिंसा का पाठ पढ़ाया जाय। वे हिन्दू-महिलाओं का बेशक अपहरण करते जायँ, लेकिन यह बात कभी न भूलें कि जब कोई कांग्रेसी लीडर सीमाप्रांत में जाय तो उसका स्वागत ज़ोर-शोर से करें। बस, कभी-न-कभी अहिंसा की फ़तह ज़रूर होगी। क्या हुआ अगर उस समय हिन्दू रहें या न रहें! अहिंसा तो रहेगी। फिर भी कांग्रेस हर हालत में ठीक है।

कांग्रेस ने कहा—हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य से स्वराज्य प्राप्त होगा। इसी लिए कांग्रेस ने सांप्रदायिक मुआहिदे या पैक्ट किये, हिन्दू-अधिकारों की बलि दी, एकता-सम्मेलन या यूनिटी कानफ़रेंसें कीं, कोरे चेक पेश किये, मिलाप के लिए मुस्लिम लीग को प्रार्थना-पत्र दिये लेकिन यह ऐक्य कोसों दूर चला गया। ज्यों-ज्यों दवा की, मरज़ बढ़ता गया। फिर भी कांग्रेस कभी ग़लती नहीं कर सकती। वह तो ठीक ही हो सकती है।

कांग्रेस ने फ़ैसला किया—हम क़ानून-भंग करके साइमन-कमीशन की रिपोर्ट रद्दी में फिंकवा देंगे। हम नये शासन-विधान के टुकड़े-टुकड़े कर देंगे। क़ानून-भंग का आन्दोलन हुआ। हज़ारों लोग जेलों में गये। जब विधान जारी हुआ तब वह वही था जिसके बारे में घोषणा अगस्त सन् १९१७ में और जिसका निर्णय गोलमेज़ कानफ़रेंस ने किया। अब दावा किया जाता है कि यह विधान तो हमारी क़ुर्बानियों के कारण मिला है। इससे बढ़कर कोई ग़लत-बयानी नहीं हो सकती। लेकिन कांग्रेस हमेशा ठीक होती है।

हाँ, एक बात ज़रूर है। अख़बारों की बाँसुरी की बदौलत कांग्रेस के नाम में हिप्नॉटिज़्म का असर है। इलेकशन के समय हिन्दुओं ने कांग्रेस को वोट देकर उसे बहुमत दिलाया। अब वे कहते हैं, हमने मन्त्रि मंडल स्वीकार किये हैं, लेकिन उन्हें तोड़ कर हम देश को स्वतन्त्रता दिलायेंगे। पर हो क्या रहा है? इनके द्वारा वे कांग्रेस को ही मज़बूत करना चाहते हैं, हिन्दू समझते हैं कि देश में जितनी उन्नति होती है वह सब कांग्रेस की बदौलत होती है, इसलिए हम तो उसी के पीछे चलेंगे।

यह मदारी कौन है—गांधी जी। यह कांग्रेस क्या है—मदारी का थैला।

हम सौ वर्ष कैसे जीवें

लेखक, श्रीयुत केदारनाथ गुप्त, एम० ए०

दुनिया के सब कामों में सफलता पाने के लिए अच्छी तन्दुरुस्ती की बड़ी ज़रूरत है। एक विद्यार्थी उसी समय इम्तिहान पास कर सकता है जब वह तन्दुरुस्त रहकर मेहनत करे। उसी प्रकार एक सौदागर उसी हालत में रुपया कमा सकता है जब वह तन्दुरुस्त रह कर मुस्तैदी से सौदागरी करे। बिना तन्दुरुस्त हुए न तो विद्यार्थी इम्तिहान में पास हो सकता है और न सौदागर रुपया पैदा कर सकता है।

हमारे बुज़ुर्ग तन्दुरुस्ती के मूल्य को अच्छी तरह समझते थे। वे रोज़ पूजा करने के समय ईश्वर से प्रार्थना करते थे—"हे ईश्वर हम सौ वर्ष तक देखें, हम सौ वर्ष तक ज़िन्दा रहें।" हर एक हिन्दुस्तानी की आयु कम से कम १०० वर्ष होती भी थी। ऐसी ऐसी मिसालें मौजूद हैं जिनसे साबित होता है कि यहाँ के लोग हज़ार हज़ार वर्ष भी ज़िन्दा रहते थे।

किन्तु अब तो हिन्दुस्तानियों को २५ वर्ष भी ज़िन्दा रहना कठिन हो गया है। योरप के रहनेवालों और अमरीका के रहनेवालों की औसत आयु ५० वर्ष से भी अधिक है, लेकिन हिन्दुस्तान की औसत आयु केवल २५ वर्ष है, इसे विचार करके दिल को बड़ा दुःख होता है। यदि हमारी उम्र इसी तरह घटती गई तो एक ज़माना ऐसा आयेगा जब हम किसी काम के न रह जायँगे।

इसलिए हमें अब गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि हम अपनी उम्र किस तरह दुनिया के और लोगों के मुक़ाबिले में बढ़ा सकते हैं। इसके पहले कि मैं आपको यह बताऊँ कि किस तरह चलने से आप तन्दुरुस्त होकर कम-से-कम सौ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं, आप यह बात अच्छी तरह समझ लें कि वास्तव में तन्दुरुस्त आदमी की क्या पहचान है?

आज-कल तन्दुरुस्त आदमी के बारे में बड़ी नासमझी हो रही है। जो आदमी देखने में ख़ूब मोटा-ताज़ा होता है, जिसकी गर्दन मोटी होती है और जिसकी तोंद निकली रहती है, लोग उसी को तन्दुरुस्त समझते हैं। इस ग़लत विचार से लोग शरीर को मोटा करने के लिए तरह तरह के क़ब्ज़ पैदा करनेवाले भोजन करते हैं, जिससे अन्त में उनकी तन्दुरुस्ती बजाय अच्छी होने के ख़राब हो जाती है।

क्या आपने कभी पहलवानों का साथ किया है? यदि किया है तो आप ख़ुद जानते होंगे कि ये पहलवान कहाँ तक तन्दुरुस्त होते हैं। मैं अपने अनुभव से बतला सकता हूँ कि १०० में ९५ पहलवान ऐसे हैं जो बवासीर रोग से व्याकुल रहते हैं।

२० वर्ष की बात है, मुझे भी कुश्ती का शौक़ हुआ। इलाहाबाद के एक बड़े मोटे पहलवान से मैं शाम को कुश्ती लड़ने के लिए जाया करता था। एक हफ़्ते के बाद पहलवान ने कहा—"मास्टर साहब, मुझे बवासीर का रोग है, क़रीब आध सेर ख़ून रोज़ पाख़ाने के साथ जाता है, नहीं तो हम लोग और न जाने कितने तन्दुरुस्त हो जायँ! मैं २०० बादाम रोज़ खाता हूँ और आध सेर घी पीता हूँ। नहीं तो मेरा शरीर इस समय न मालूम कहाँ होता।

पहलवान की यह हालत सुनकर मैं दङ्ग रह गया। मुझे आश्चर्य हुआ कि ऐसा हट्टा-कट्टा आदमी किस तरह बवासीर रोग से दुखी हो सकता है। मैंने खोज की और अन्त में इस निश्चय पर पहुँचा कि १०० में ९५ पहलवान बवासीर या दूसरे रोगों से परेशान रहते हैं।

इसलिए मोटा होना तन्दुरुस्ती का चिह्न नहीं है। तन्दुरुस्त आदमी वह है जिसकी सब इन्द्रियाँ अपना अपना काम करती हों। नाक अपना काम करती हो, आँखें अपना काम करती हों, दिमाग़ अपना काम करता हो, शरीर फ़ुर्तीला मालूम होता हो, शरीर सुगठित हो। ये गुण जब किसी आदमी में पाये जायँ तो हम उसे तन्दुरुस्त आदमी समझेंगे।

इस पैमाने से जब हम किसी आदमी की तन्दुरुस्ती पर विचार करते हैं तो हमें बहुत कम आदमी तन्दुरुस्त दिखलाई पड़ते हैं। किसी की गर्दन मोटी है तो किसी का पेट निकला हुआ है। किसी को ज़ुकाम है तो किसी को पाख़ाना साफ़ नहीं होता। किसी की आँखें अच्छी हैं तो कान से अच्छी तरह सुनाई नहीं पड़ता। कहने का मतलब यह है कि सच्चे तन्दुरुस्त आदमी बहुत कम दिखलाई

पड़ते हैं। अब मैं आपको बतलाता हूँ कि किन किन नियमों का पालन करके हम १०० वर्ष ज़िन्दा रह सकते हैं।

(१) पहला नियम भोजन का है। आदमी के ख़ून में 'खारापन' और 'खटाई' दो गुण हैं। यदि खारापन ८० फ़ी सदी और खटाई केवल २० फ़ी सदी है तो तन्दुरुस्ती ठीक है, नहीं तो तरह तरह की बीमारियाँ एक के बाद एक पैदा होती रहती हैं। अब यह देखना है कि 'खारापन' और 'खटाई' का घटाव-बढ़ाव किस तरह हो सकता है। मुश्किल बात तो यह है कि जो खाना हम पसन्द करते हैं उनमें से अधिक पदार्थ 'खटाई' पैदा करनेवाले होते हैं। मिल का पिसा हुआ बारीक आटा, मैदा, सफ़ेद चीनी, बिना छिलके की दाल, मिठाई, अंडा, मांस, चाय, कहवा, अचार, चटनी वग़ैरह सभी खटाई पैदा करनेवाले पदार्थ हैं।

चोकरदार आटा, चावल, छिलकेदार दाल, सब प्रकार की हरी हरी तरकारियाँ, सब प्रकार के मीठे फल, अच्छा ताज़ा दूध, दही, मट्ठा, घी, मक्खन आदि 'खारापन' पैदा करनेवाले पदार्थ हैं।

ऊपर बतलाई हुई चीज़ों में से आप खाने में ऐसी ऐसी चीज़ों का चुनाव कीजिए जिनमें 'खारापन' वाले पदार्थ यदि १०० फ़ी सदी हों तो और भी अच्छा है, नहीं तो ८० फ़ी सदी तो ज़रूर हों।

दूसरा ख़याल भोजन में यह रहे कि भोजन के सब तत्त्व ज़रूरत के अनुसार हमारे भोजन में पाये जायँ। ये तत्त्व हैं—(१) कर्बोज (२) प्रोटीन (३) वसा (४) लवण (५) विटेमिन और जल। सब तरह के अन्न में कर्बोज अधिक मिलता है। दूध और दाल में प्रोटीन अधिक मिलता है। घी, मक्खन और तेल में वसा अधिक मिलती है। सब प्रकार के फलों व तरकारियों में विटेमिन काफ़ी रहता है।

इन सब बातों को सामने रखते हुए हमारे गुरुजनों ने भोजन का जो क्रम बाँध दिया है वह हमारे लिए बहुत लाभदायक है। सुबह दूध पीजिए, १० बजे रोटी, छिलकेदार दाल, भात और तरकारी खाइए। दाल में थोड़ा सा घी या मक्खन डालिए। टमाटर, मूली आदि एक तश्तरी कच्ची तरकारी भी रखिए। ४ बजे फलों का जलपान कीजिए। ७ बजे रात रोटी-तरकारी खाइए।

चटनी, अचार, चाय, कहवा, भाँग, मांस, मदिरा, तम्बाकू, बीड़ी का सेवन न कीजिए। भोजन ठूस ठूस कर न कीजिए। हमेशा थोड़ी सी भूख रखकर खाइए। भोजन कुचल कुचलकर खाइए। पानी भोजन के साथ न पीजिए। भोजन के आध घंटे बाद या और जब आपका जी चाहे आप ख़ूब पानी पीजिए।

(२) दूसरा नियम है व्यायाम या कसरत—जो मनुष्य भोजन करता है उसे कसरत करना ज़रूरी है। कसरत हम हम दो उद्देशों को पूरा करने के लिए करते हैं। भोजन को पचाने व उसमें से रस खींचने के लिए—शरीर में गर्मी की ज़रूरत है और वह गर्मी हमें कसरत के ज़रिये से मिलती है। कसरत-द्वारा गर्मी पहुँचने से शरीर की नस-नाड़ियाँ भोजन के रस को इस प्रकार खींचती हैं जिस प्रकार पानी को स्पञ्ज। शरीर में इस सोखनेवाली ताक़त को पैदा करना है। असल में कसरत का यही मुख्य उद्देश्य है।

कसरत का दूसरा उद्देश्य मल को शरीर के बाहर निकाल फेंकने की ताक़त को बढ़ाना है। हमारे शरीर में जिस तरह ताक़त पैदा करनेवाली चीज़ों को हज़्म कर लेने के रास्ते हैं, उसी तरह मल को शरीर के भीतर से निकाल फेंकने के भी बहुत से रास्ते हैं। मल को निकालने के लिए गर्मी की ज़रूरत है और वह गर्मी कसरत से मिलती है।

इस प्रकार भोजन को पचाना और मल को शरीर से बाहर दूर फेंकने में मदद करना कसरत के दो ख़ास उद्देश्य हैं। जिसका भोजन ठीक तरह से पचेगा और जिसका मल ठीक तरह से बाहर निकलेगा वही आदमी तन्दुरुस्त रह कर नीरोग बनेगा।

१० वर्ष की उम्र तक बालक को किसी प्रकार के व्यायाम करने की ज़रूरत नहीं है। वह ख़ुद सुबह से शाम तक इतना दौड़ता और खेलता है कि थक जाता है और उसी दौड़ और खेल में उसकी कसरत हो जाती है।

१० से १६ वर्ष तक के लड़कों को कसरत शुरू कराना चाहिए। इस उम्र में देह की नस, नाड़ियाँ और हड्डियाँ इतनी मुलायम होती हैं कि एक पेड़ के अंकुर के समान बड़ी आसानी से वे बढ़ सकती हैं। इस उम्र में लड़के को बाहर खुली साफ़ हवा में [illegible] दौड़ना चाहिए और अँगरेज़ी खेल खेलने [illegible]ा चाहिए।

१६ वर्ष के बाद जवानी में कठिन कसरत करने की ज़रूरत है। डंड-बैठक करना, मुद्गर हिलाना, डम्बल और जमनास्टिक करना चाहिए। बुढ़ापे में कठिन कसरत नहीं करनी चाहिए। इस उम्र में सुबह और शाम खुली हवा में टहलना चाहिए।

आज-कल खुली हवा में खेलना, घूमना और दौड़ना सबसे अच्छी कसरत ख़याल की जाती है। अँगरेज़ी में एक कहावत है, इस्तेमाल की जाती हुई ताली हमेशा चमकती है। यही हाल शरीर का है। कसरत-द्वारा यह शरीर हमेशा चमकता रहेगा और इसमें मुर्चा नहीं लगेगा।

(३) तीसरा नियम ब्रह्मचर्य का पालन—जिस प्रकार समुद्र को पार करने के लिए नाव की ज़रूरत है, उसी प्रकार जीवन को पार करने के लिए 'ब्रह्मचर्य' की ज़रूरत है। सारी दुनिया में जो जीवनकला दिखलाई पड़ती है वह सब ब्रह्मचर्य का प्रताप है। यदि किसी की आँखों में रोशनी दिखलाई पड़ती है तो वह किसका असर है? चेहरे पर गुलाबी, छाती में अकड़, चाल में फ़ुर्ती आदि किसके असर से हैं? पढ़ाई में प्रथम रहना, हाथ में लिये हुए कामों को पूरा करना, एक शब्द से दूसरों को वश में कर लेना, सभा में खड़े होकर अपनी आवाज़ से लोगों को मोह लेना, यह किस तपस्या के फल हैं? अपने दिल से पूछिए। वहाँ से आवाज़ निकलेगी—यह सारा खेल ब्रह्मचर्य्य का है।

ब्रह्मचर्य्य के माने हैं वीर्य की रक्षा करना। यह वीर्य शरीर की रग रग में भरा है। बादाम या तिल में जैसे तेल, दूध में जैसे मक्खन, काठ में जैसे अग्नि, फूल या चन्दन में जैसे सुगन्ध मौजूद है, उसी तरह शरीर की एक एक रग में सब जगह वीर्य मौजूद है।

वीर्य एक बड़ी क़ीमती चीज़ है। यह शरीर की चमक है। किन्तु इसकी रक्षा की ओर लोगों का कम ध्यान है। ऐसी हालत में हमारी दुर्दशा होनी ही चाहिए। ईश्वर की मर्ज़ी है कि हम इतने वर्ष भी ज़िन्दा रहते हैं। इसलिए शरीर को पुष्ट बनाने के लिए वीर्य की रक्षा हर तरह से करनी चाहिए।

(४) चौथा नियम है अपना डाक्टर ख़ुद बनना—जब कभी आप बीमार पड़ें तब आप कोई दवा न करें, आप अपना इलाज ख़ुद करें। दवाओं से बड़ी हानियाँ हुई हैं और दवाओं से कोई यह नहीं कह सकता कि वह रोगी अच्छा ही हो जायगा।

आप जब बीमार पड़ें तब अपने को प्रकृति की गोद में छोड़ दें। आप उपवास करना शुरू करें। तीन-चार रोज़ उपवास करें और बीच बीच में शहद मिलाकर नींबू का जल थोड़ा थोड़ा पीते रहें। तीन रोज़ के बाद एक सप्ताह तक फल और दूध का सेवन करें। एक सप्ताह के बाद फिर आप रोज़ भोजन शुरू करें। आप ज़रूर अच्छे हो जायँगे।

१५ रोज़ में अगर हम एक उपवास कर लिया करें तो हम बीमार बहुत कम पड़ेंगे। हम जब किसी दफ़्तर में काम करते हैं तब इतवार की छुट्टी हमें मिलती है। बीच बीच में हमें दूसरी छुट्टियाँ भी मिलती रहती हैं। इन छुट्टियों का मतलब यह है कि हमें आराम मिले। लेकिन बेचारे पेट को हम कभी भी आराम देना पसन्द नहीं करते। वह भी तो एक शरीर का ज़िन्दा टुकड़ा है। उसे भी तो आराम की ज़रूरत है। यदि आप उसे आराम न देंगे तो उसमें ख़राबी पैदा हो जायगी और आपको फिर आराम लेने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।

इस प्रकार आप देखेंगे कि यदि आप उचित भोजन करें, रोज़ कसरत करें, ब्रह्मचर्य्य का उचित पालन करें और अपना इलाज आप स्वयम् करें तो आपको अपने जीवन का आनंद मिलेगा और आपकी उम्र कम से कम १०० वर्ष की ज़रूर होगी।

पड़ते हैं। अब मैं आपको बतलाता हूँ कि किन किन नियमों का पालन करके हम १०० वर्ष ज़िन्दा रह सकते हैं।

(१) पहला नियम भोजन का है। आदमी के खून में 'खारापन' और 'खटाई' दो गुण हैं। यदि खारापन ८० फ़ी सदी और खटाई केवल २० फ़ी सदी है तो तन्दुरुस्ती ठीक है, नहीं तो तरह तरह की बीमारियाँ एक के बाद एक पैदा होती रहती हैं। अब यह देखना है कि 'खारापन' और 'खटाई' का घटाव-बढ़ाव किस तरह हो सकता है। मुश्किल बात तो यह है कि जो खाना हम पसन्द करते हैं उनमें से अधिक पदार्थ 'खटाई' पैदा करनेवाले होते हैं। मिल का पिसा हुआ बारीक आटा, मैदा, सफ़ेद चीनी, बिना छिलके की दाल, मिठाई, अंडा, मांस, चाय, कहवा, अचार, चटनी वग़ैरह सभी खटाई पैदा करनेवाले पदार्थ हैं।

चोकरदार आटा, चावल, छिलकेदार दाल, सब प्रकार की हरी हरी तरकारियाँ, सब प्रकार के मीठे फल, अच्छा ताज़ा दूध, दही, मट्ठा, घी, मक्खन आदि 'खारापन' पैदा करनेवाले पदार्थ हैं।

ऊपर बतलाई हुई चीज़ों में से आप खाने में ऐसी ऐसी चीज़ों का चुनाव कीजिए जिनमें 'खारापन' वाले पदार्थ यदि १०० फ़ी सदी हों तो और भी अच्छा है, नहीं तो ८० फ़ी सदी तो ज़रूर हों।

दूसरा ख़याल भोजन में यह रहे कि भोजन के सब तत्त्व ज़रूरत के अनुसार हमारे भोजन में पाये जायँ। ये तत्त्व हैं—(१) कर्बोज (२) प्रोटीन (३) वसा (४) लवण (५) विटेमिन और जल। सब तरह के अन्न में कर्बोज अधिक मिलता है। दूध और दाल में प्रोटीन अधिक मिलता है। घी, मक्खन और तेल में वसा अधिक मिलती है। सब प्रकार के फलों व तरकारियों में विटेमिन काफ़ी रहता है।

इन सब बातों को सामने रखते हुए हमारे गुरुजनों ने भोजन का जो क्रम बाँध दिया है वह हमारे लिए बहुत लाभदायक है। सुबह दूध पीजिए, १० बजे रोटी, छिलकेदार दाल, भात और तरकारी खाइए। दाल में थोड़ा सा घी या मक्खन डालिए। टमाटर, मूली आदि एक तश्तरी कच्ची तरकारी भी रखिए। ४ बजे फलों का जलपान कीजिए। ७ बजे रात रोटी-तरकारी खाइए।

तम्बाकू, बीड़ी का सेवन न कीजिए। भोजन ठूस ठूस कर न कीजिए। हमेशा थोड़ी सी भूख रखकर खाइए। भोजन कुचल कुचलकर खाइए। पानी भोजन के साथ न पीजिए। भोजन के आध घंटे बाद या और जब आपका जी चाहे आप खूब पानी पीजिए।

(२) दूसरा नियम है व्यायाम या कसरत—जो मनुष्य भोजन करता है उसे कसरत करना ज़रूरी है। कसरत हम भोजन के दो उद्देशों को पूरा करने के लिए करते हैं। भोजन को पचाने व उसमें से रस खींचने के लिए—शरीर में गर्मी की ज़रूरत है और वह गर्मी हमें कसरत के ज़रिये से मिलती है। कसरत-द्वारा गर्मी पहुँचने से शरीर की नस-नाड़ियाँ भोजन के रस को इस प्रकार खींचती हैं जिस प्रकार पानी को स्पञ्ज। शरीर में इस सोखनेवाली ताक़त को पैदा करना है। असल में कसरत का यही मुख्य उद्देश्य है।

कसरत का दूसरा उद्देश्य मल को शरीर के बाहर निकाल फेंकने की ताक़त को बढ़ाना है। हमारे शरीर में जिस तरह ताक़त पैदा करनेवाली चीज़ों को हज़्म कर लेने के रास्ते हैं, उसी तरह मल को शरीर के भीतर से निकाल फेंकने के भी बहुत से रास्ते हैं। मल को निकालने के लिए गर्मी की ज़रूरत है और वह गर्मी कसरत से मिलती है।

इस प्रकार भोजन को पचाना और मल को शरीर से बाहर दूर फेंकने में मदद करना कसरत के दो ख़ास उद्देश्य हैं। जिसका भोजन ठीक तरह से पचेगा और जिसका मल ठीक तरह से बाहर निकलेगा वही आदमी तन्दुरुस्त रह कर नीरोग बनेगा।

१० वर्ष की उम्र तक बालक को किसी प्रकार के व्यायाम करने की ज़रूरत नहीं है। वह ख़ुद सुबह से शाम तक इतना दौड़ता और खेलता है कि थक जाता है और उसी दौड़ और खेल में उसकी कसरत हो जाती है।

१० से १६ वर्ष तक के लड़कों को कसरत शुरू करानी चाहिए। इस उम्र में देह की नस, नाड़ियाँ और हड्डियाँ इतनी मुलायम होती हैं कि एक पेड़ के अंकुर के समान बड़ी आसानी से वे बढ़ सकती हैं। इस उम्र में लड़के को बाहर खुली साफ़ हवा में … दौड़ना चाहिए और … चाहिए।

१६ वर्ष के बाद जवानी में कठिन कसरत करने की ज़रूरत है। डंड-बैठक करना, मुद्गर हिलाना, डम्बल और जमनास्टिक करना चाहिए। बुढ़ापे में कठिन कसरत नहीं करनी चाहिए। इस उम्र में सुबह और शाम खुली हवा में टहलना चाहिए।

आज-कल खुली हवा में खेलना, घूमना और दौड़ना सबसे अच्छी कसरत ख़याल की जाती है। अँगरेज़ी में एक कहावत है, इस्तेमाल की जाती हुई ताली हमेशा चमकती है। यही हाल शरीर का है। कसरत-द्वारा यह शरीर हमेशा चमकता रहेगा और इसमें मुर्चा नहीं लगेगा।

(३) तीसरा नियम ब्रह्मचर्य का पालन—जिस प्रकार समुद्र को पार करने के लिए नाव की ज़रूरत है, उसी प्रकार जीवन को पार करने के लिए 'ब्रह्मचर्य' की ज़रूरत है। सारी दुनिया में जो जीवनकला दिखलाई पड़ती है वह सब ब्रह्मचर्य का प्रताप है। यदि किसी की आँखों में रोशनी दिखलाई पड़ती है तो वह किसका असर है? चेहरे पर गुलाबी, छाती में अकड़, चाल में फुर्ती आदि किसके असर से हैं? पढ़ाई में प्रथम रहना, हाथ में लिये हुए कामों को पूरा करना, एक शब्द से दूसरों को वश में कर लेना, सभा में खड़े होकर अपनी आवाज़ से लोगों को मोह लेना, यह किस तपस्या के फल हैं? अपने दिल से पूछिए। वहाँ से आवाज़ निकलेगी—यह सारा खेल ब्रह्मचर्य्य का है।

ब्रह्मचर्य के माने हैं वीर्य की रक्षा करना। यह वीर्य शरीर की रग रग में भरा है। बादाम या तिल में जैसे तेल, दूध में जैसे मक्खन, काठ में जैसे अग्नि, फूल या चन्दन में जैसे सुगन्ध मौजूद है, उसी तरह शरीर की एक एक रग में सब जगह वीर्य मौजूद है।

वीर्य एक बड़ी क़ीमती चीज़ है। यह शरीर की चमक है। किन्तु इसकी रक्षा की ओर लोगों का कम ध्यान है। ऐसी हालत में हमारी दुर्दशा होनी ही चाहिए। ईश्वर की मर्ज़ी है कि हम इतने वर्ष भी ज़िन्दा रहते हैं। इसलिए शरीर को पुष्ट बनाने के लिए वीर्य की रक्षा हर तरह से करनी चाहिए।

(४) चौथा नियम है अपना डाक्टर ख़ुद बनना—जब कभी आप बीमार पड़ें तब आप कोई दवा न करें, आप अपना इलाज ख़ुद करें। दवाओं से बड़ी हानियाँ हुई हैं और दवाओं से कोई यह नहीं कह सकता कि वह रोगी अच्छा ही हो जायगा।

आप जब बीमार पड़ें तब अपने को प्रकृति की गोद में छोड़ दें। आप उपवास करना शुरू करें। तीन-चार रोज़ उपवास करें और बीच बीच में शहद मिलाकर नींबू का जल थोड़ा थोड़ा पीते रहें। तीन रोज़ के बाद एक सप्ताह तक फल और दूध का सेवन करें। एक सप्ताह के बाद फिर आप रोज़ भोजन शुरू करें। आप ज़रूर अच्छे हो जायँगे।

१५ रोज़ में अगर हम एक उपवास कर लिया करें तो हम बीमार बहुत कम पड़ेंगे। हम जब किसी दफ़्तर में काम करते हैं तब इतवार की छुट्टी हमें मिलती है। बीच बीच में हमें दूसरी छुट्टियाँ भी मिलती रहती हैं। इन छुट्टियों का मतलब यह है कि हमें आराम मिले। लेकिन बेचारे पेट को हम कभी भी आराम देना पसन्द नहीं करते। वह भी तो एक शरीर का ज़िन्दा टुकड़ा है। उसे भी तो आराम की ज़रूरत है। यदि आप उसे आराम न देंगे तो उसमें ख़राबी पैदा हो जायगी और आपको फिर आराम लेने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।

इस प्रकार आप देखेंगे कि यदि आप उचित भोजन करें, रोज़ कसरत करें, ब्रह्मचर्य्य का उचित पालन करें और अपना इलाज आप स्वयम् करें तो आपको अपने जीवन का आनंद मिलेगा और आपकी उम्र कम से कम १०० वर्ष की ज़रूर होगी।

रोब-दाब

लेखक, श्रीयुत उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

मेरी ही एक बहुमूल्य नसीहत के कारण शादी करने के बाद भी पंडित तेजभान विधुर का-सा जीवन बिताने को विवश होंगे, यह मैंने स्वप्न में भी न सोचा था। बात यों हुई कि एक दिन तेजभान ने बड़े ही विनीत स्वर में मेरे पास आकर कहा कि लाला जी परसों तो अब बरात रवाना हो ही जायगी। अगर अब भी आपने मुझे कोई नसीहत न की, तो हो सकता है कि बहुत लोगों की भाँति मेरा वैवाहिक जीवन भी असफल ही रहे!

तेजभान आदमी बुरा हो, यह बात नहीं। आदमी भला है। लोग उसके कारण कुछ हँस हँसा लेते हैं और उनकी हँसी पर वह ग़ुस्सा भी नहीं होता। वह अपने आपको बुद्धिमान् भी समझता है और इस बात का निश्चय उसे दूसरों ने भी दिलाया है कि उसके मस्तिष्क में आते समय अक़्ल ने कृपणता से काम नहीं लिया; पर इसे मेरा दुर्भाग्य ही कहिए कि मुझे अपना एकान्त अधिक पसन्द है और तेजभान तथा उसके मित्रों की हा-हू मुझे ज़रा भी अच्छी नहीं लगती। एक यह भी कारण है कि अपने विभाग का इञ्चार्ज होने से मैं अपने क्लर्कों से इतना भी नहीं खुल जाना चाहता कि कल वे मेरी बात की ही अवहेलना करने को तैयार हो जायँ। पर जितना भी मैं इन लोगों से दूर भागता हूँ उतना ही वे लोग मुझसे चिपकते हैं। उस समय भी गोकुलचन्द तथा दूसरे लोग मुझे घेरे बैठे थे।

"साईं बुल्देशाह* कह गये हैं, लाला जी"—गोकुलचन्द ने इस तरह कहा जैसे बुल्देशाह उनके ही पूर्वज थे—"कि वैवाहिक जीवन तो फिसलते आँगन की तरह है। बड़ों की नसीहत का सहारा लेकर न चलो तो फिसल जाना तो पड़ता ही है और एक बार फिसला तो फिसला।"

झंडालाल समर्थन करते हुए बोले—"भाई यह तो नई दुनिया है। नई दुनिया में—मेरा मतलब यह है कि नये देश में बिना किसी (पथ-प्रदर्शक) के जायँ तो कष्ट उठायेंगे, वही हाल वैवाहिक जीवन का भी है, उपदेशक-रूपी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता इसमें तो और भी अधिक है।"

"और फिर वे वक़्त लद गये"—अनन्तराम ने रंदा जमाते हुए कहा—"जब पति कैसा भी अंधा, काना, लूला लँगड़ा क्यों न हो पत्नी उसकी मुहब्बत का दम भरती थी। अब तो भाई पुरुष को भी पूर्ण रूप से सशस्त्र रहना चाहिए।"

मैंने कहा—"भाई अब तो कोई बात लुकी छिपी रही नहीं, वैवाहिक जीवन पर और वैवाहिक जीवन की दूसरी समस्याओं पर बीसियों पुस्तकें मिल जाती हैं। मेरी स्टोप्स . . . !"

बात काट कर गोकुलचन्द ने कहा—"वैसे तो रोज़ बीसियों कोकशास्त्र के ग्रन्थ निकलते हैं और वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के बदले दुःखी बना देते हैं, पर उन सब की बनिस्बत अनुभवी के मुँह से निकला हुआ एक वाक्य ही काफ़ी है। इन्हें कोई ऐसा गुर बताइए कि पत्नी बस इनका ही नाम जपे।" और फिर पंडित तेजभान की ओर देखकर बोले—"क्यों भाई तेजभान, मैंने तुम्हारे दिल की बात कह दी है या नहीं?"

तेजभान, जैसे कृतज्ञता के बोझ तले दब कर उनकी और मेरी ओर देखकर रह गये।

तब विवश होकर मैंने कहा—"देखो भाई तेजभान तब भी, जब देश में इतनी आज़ादी न थी और स्त्रियाँ पति को ही सर्वस्व समझती थीं, और अब भी, जब उनकी आज़ाद-ख़याली ने पुराने बंधन काट दिये हैं, एक सिद्धान्त समानरूप से काम कर रहा है। हमारे बुज़ुर्ग एक ही मिसाल दिया करते थे—"गुर्बा कुश्तन रोज़े अव्वल" मतलब यह कि बिल्ली पहले रोज़ ही मारी जाती है। यदि पहले-पहल पति का पत्नी पर रोब जम गया तो सारी उम्र वह उसकी ग़ुलाम बनी रही। और यदि पत्नी ने अपना रोब पति पर ग़ालिब कर लिया तो पति महाशय आयु पर्यन्त उसका पानी भरते रहे।"

तेजभान दत्तचित्त होकर सुन रहे थे। मैं कहता गया—"फ़ार्सी ज़बान में, जिसकी यह मिसाल है, इसके साथ एक दृष्टान्त भी दिया गया है। आप सब जानते तो होंगे पर फिर भी संक्षिप्त में उसका ज़िक्र कर देता हूँ।"

तेजभान की कृतज्ञताभरी आँखों ने प्रार्थना की कि वह महत्त्वपूर्ण दृष्टान्त मैं अवश्य बतलाऊँ। मैंने कहा—"हमारे दादा सुनाते थे कि बुख़ारा में दो अविवाहित मनुष्य रहा करते थे। एक ज़रा चालाक था और दूसरा कुछ सीधा-सादा। चालाक का नाम था अब्बूबकर, और सीधे-सादे का नाम था अब्बूबेग। दोनों अपने कुँवारपने के जीवन से इतने तंग आगये कि उन्होंने निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो कहीं से बीबी अवश्य लायँगे। यह सोचकर वे बीबी की खोज में चल खड़े हुए। बहुत खोज के बाद उन्हें दो ऐसी स्त्रियाँ मिल गईं जो शादी कराने को तो तैयार थीं पर शर्त यह थी कि वे रोज़ सुबह उठकर अपने पति के सिर पर पचास जूते लगाएँगी। इस शर्त को सुनते ही अब्बूबेग का तो पित्ता पानी हो गया। पर अब्बूबकर ने कहा कि—"भाई ज़रा ख़याल करो, अगर यह मौक़ा छोड़ दिया तो सारी उम्र कुँवारे ही बिता देनी पड़ेगी। ज़रा उस असीम सूनेपन की कल्पना करो जो दिन-प्रतिदिन तुम्हारे गिर्द और भी गहरा होता जायगा। तुम बूढ़े हो जाओगे, तुम्हारे अंग शिथिल हो जायँगे। [illegible] कहने के लिए तुम्हारे पास कोई न होगा। तुम बीमार पड़ जाओगे, हिलना-जुलना तुम्हारे लिए दुष्कर हो जायगा। पर तुम्हारे मुँह में पानी डालनेवाला तक कोई न होगा। शादी तो अब भाई कर ही लेनी चाहिए। बाद में रास-[illegible] कर लेंगे, न निभेगा छोड़ देंगे।"

अब्बूबकर ने वृद्धावस्था का चित्र कुछ ऐसे ढंग से खींचा कि अब्बूबेग ने भी फ़ैसला दे दिया कि चाहे चंदिया रहे या जाय, पर विवाह तो अब कर ही लेना चाहिए। तब दोनों ने निकाह किया और बीबियों को लेकर अपने घर आये। अब्बूबकर ने आते ही डाँटकर ग़ुलाम से कहा कि खाना जल्दी बनाओ, इतने में मैं बाज़ार से ज़रूरी सामान ले आता हूँ! यह कहकर वह चला गया। ग़ुलाम ने शीघ्र खाना तैयार किया और जब वह आया तो दोनों के लिए खाना परोस दिया। अभी पहला कौर भी अब्बूबकर ने न तोड़ा था कि क़िस्मत की मारी बिल्ली पास से निकल गई। क्रोध से अब्बूबकर की आँखें लाल हो गईं। पास पड़ा हुआ बेलन उठाकर उसने इस ज़ोर से बिल्ली को दे मारा कि बेचारी वहीं चित हो गई।—"हरामज़ादी असगुन कर गई" यह कहकर अब्बूबकर ने पाँव से थाली को ठेल दिया और कड़ककर ग़ुलाम से कहा कि खाना और बना। बस साहब, दूसरे दिन ही बीबी साहबा जूतोंवाली बात ऐसी भूलीं कि फिर वह उन्हें याद ही न आई। उधर बेचारे अब्बूबेग की चाँद पिटते पिटते गंजी हो गई। एक दिन दोनों मित्र मिले तो बेग ने बकर से वह गुर पूछा जिससे उसने अपनी पत्नी को वश में किया था। जब बकर ने अपनी तरकीब बताई तो सुनकर अब्बूबेग ऐसा ख़ुश हुआ जैसे उसे कोई निधि मिल गई हो। ओह! यह तो इतना आसान है कि बस! बिल्ली उसकी पत्नी ने एक पाल ही रखी थी, और वह खाना खाते समय उसके पास भी आ जाती थी। बेलन रास्ते में उसने ख़रीद लिया और घर जाते ही उसने डाँटकर नौकर से कहा कि खाना पका। नौकर उस वक़्त श्रीमती जी का कोई काम कर रहा था, चुप रहा। उन्होंने फिर डाँटा तब चीख़कर श्रीमती जी ने कहा—"क्या शोर मचा रहे हो? पका देगा खाना, ज़रा दाँतों तले ज़बान दो!"

तब अब्बूबेग ने बेलन को अपनी मुट्ठी में भींच लिया और दाँत भी कटकटाये पर बिल्ली सामने थी, न पत्नी, जाकर चुपचाप अन्दर बैठ गया, और सोचा कि कोई बात नहीं—खाना खाते समय सही। दो घंटे के बाद नौकर ने सूचित किया कि खाना तैयार है, तो बेलन लिये हुए अब्बूबेग खाना खाने जा बैठा। बिल्ली भी तब तक म्याऊँ-म्याऊँ करती आ गई। अब्बूबेग ने बेलन उठाया और ज़ोर से खींच मारा। पर फेंकते समय उसकी निगाह श्रीमती जी से चार हो गई। बेलन का निशाना चूक गया। बिल्ली तो भाग गई पर बेलन श्रीमती जी ने उठा लिया और उस दिन जूतों का काम बेलन से ही लिया गया।

उधर अब्बूबकर अभी खाना खाकर बैठे थे और उनकी पत्नी उनके पाँव दबा रही थी कि हाँपते-काँपते और कराहते अब्बूबेग भी जा पहुँचे। उन्होंने अपनी दुर्दशा

* पंजाब के एक सूफ़ी फ़क़ीर।

पीछे पैर देंगे न स्वराज्य विना पाये हुए
आश्रम में लौटे जो पिशाच उसे मानना ॥१५॥

"या तो हम सकल स्वतंत्र होंगे भारत में
या कि आमरण कारागार में ही वास है।
होता मुंड मंडित विजय वैजयन्तिका से
या तो रुंड सड़ता समुद्र के ही पास है।
बहनो! सुताओ! वीर माँओ! अंगनाओ! जाओ,
भिड़ना हमें, तो तुम्हें लड़ना स-हास है।
या तो हम लौटेंगे अहिंसा-युद्ध जीत के ही
या कि जन्म-भर का हमारा वन-वास है ॥१६॥

अखिल दिशायें व्यनुनादित बनाती हुई
निकली अनूप उक्त व्याहृति विलम्बमान।
जिसका महान् पवमान-यान-वेग देख
दिल्ली हुई वेपमान, शिमला प्रकम्पमान।
सागर में जाते देश-द्रव्य-अपहारी पोत
उच्छल तरंगों में झटिति हुए झम्पमान।
शंकित विदेश सुनते ही महावीर-हाँक
जैसे यातुधानी राजधानी हुई कम्पमान ॥१७॥

× × ×

आश्रम-निवासी गये, आश्रम-निवासिनी भी,
सूर्य गये, संध्या गई अपने निवेश में।
आया अन्धकार आई रजनी निशीथ-संग
तारों साथ आया चन्द्र अम्बर-प्रदेश में।
ऐसा आवागमन विलोक कौन ज्ञानी कभी
चूकेगा समाधि-सिद्धि-सागर-प्रवेश में।
कौन यह निपट निलीन ध्यान-धारणा में
अम्बर-पलंग के पड़ा है एक देश में? ॥१८॥

तारापति सहित स्वकीय तारा-मंडल के
उदित हुआ है आज क्षितिज प्रतीची में।
सेवकों-समेत कर्मवीर है शयान, यहाँ
व्यापा शैत्य रोदसी अनूप ओस-सींची में।
मचल गया है मन, अचल हुआ है ध्यान,
सचल हुआ है कवि कल्पना की वीची में।
गांधी चढ़ा व्योम में प्रकाश करने को, या कि
चन्द्र ही पड़ा है इस आश्रम-बगीची में ॥१९॥

भावी घटनाओं का हिये में प्रतिविम्ब छाया
चित्त में सकल चल-चित्र चलने लगे।
हो गये त्वरित आशा-अंकुर विशाल वृक्ष
सकृत स्वराज्य के सुफल फलने लगे।
व्यापी एक क्रान्ति हुई पृथ्वी अशान्तिमयी
भ्रान्तिमयी झंझा के झकोर झलने लगे।
भारत मही में सत्याग्रह की लड़ाई छिड़ी
वसन विदेशी होलिका-से जलने लगे ॥२०॥

धारासभा छोड़ धारावाही वावदूक वृन्द
देश में अबाध गति से यों बहने लगे।
उगल विचार के अँगार ग्राम-ग्राम मध्य
आग जो लगाई सभी प्रान्त दहने लगे।
काठ से कठिन क्रूर हृदय विपक्षियों के
ऐसे घोर वचन-कुठार सहने लगे।
"आ रहा स्वराज्य जागो, आ रहा स्वराज्य चेतो,
आ रहा स्वराज्य उठो," लोग कहने लगे ॥२१॥

स्वार्थ-परता ही अत्याचार की प्रसूतिनी है
भूतिनी है घोर हो गई है बात साँची आज।
एक साथ एक-सौ-चवालिस चलाये अस्त्र
प्रकट हुई यों पाप-पालित पिशाची आज।
निपट निहत्थे मत्थे उन्नत किये ही चले
धन्य, धीरता ने वीरता की रेख खाँची आज।
राजनीति भोंड़ी यह, निपट निगोड़ी यह,
घामड़ों की घोड़ी यह नंग नाच नाची आज॥२२॥

चलने लगा है सारे देश में दमन-चक्र
ढलने लगा है ग्राम-ग्राम कारागार में।
फलने लगा है पाप-वृक्ष अत्याचार-फल
जलने लगा है सत्य न्याय कुविचार में।
बन्दी बने इतने कि टूटी जेल की भी भीति,
छूटी जेल की भी भीति प्रबल प्रचार में।
देश मुक्त होके निज ओर दौड़ आता देख
जागे कर्मवीर जनता के हाहाकार में ॥२३॥

× × ×

आँख खोल देखा पूर्व ओर तो उषा की प्रभा
छाई गौर-रूपिणी प्रसन्न हो गगन में।

मानों सती-संध्या वही, जन्म ले समोद फिर,
प्रकट हुई हो शैलराज के सदन में।
ब्रह्म-काल परम विशाल सिद्धि-मूल जान
अंग भरे पुलक, उमंग भरे मन में।
उद्यत प्रयाण को अनूप कर्मवीर हुए
जागो सभी सैनिक, सवेग चलो रन में ॥२४॥

प्राची की ललाम छवि-धाम लालिमा के व्याज
मानों बाल सूर्य से सिंदूर माँग लाई है।
बिखरा पड़ा जो इस आश्रम-थली की थाल
ओस का ही अक्षत-समूह सुखदाई है।
देख पड़ती है जो उषा की मंजु पौ भी यह,
लौ भी यह ललित कपूर की लगाई है।
पुण्य के प्रभात, कर्मवीर की विदा के हेतु
मातृ-भूमि ने ही आज आरती सजाई है ॥२५॥

चहक रही है चटकाली गीत गाती हुई
मंगल-संगीत पादपों के पात-पात में।
सुखद समीर सानुकूल बहने से मंजु
छाई है प्रफुल्लता दृगों-से जल-जात में।
आगई सजगता अनूप रोम-रोम पर
चक्रवाक चंचल चपल चले प्रात में।
मानों मातृ-भूमि ही सदेह देश-नायक के
आई साज रण के सजाने गात-गात में ॥२६॥

तीन बल बलित ललित मंजु भाल-मध्य
रोचन बँधूक-मान-मोचन लगा हुआ।
फूल उठा तरल तरंगित सरोवर में
रक्त वारि-जात उषा रंग में रँगा हुआ।
असुर-अशान्ति, सुर-शान्ति का प्रसार कर
बैठा सोम-अंक मानों मंगल जगा हुआ।
किंवा कर्मवीर के ललाट उदयाचल पै
शोभित स्वतंत्रता का पूषण उगा हुआ ॥२७॥

हाथ में लकुट, शीस पाग का मुकुट मंजु
अस्त्र है न शस्त्र, किन्तु हिम्मत सवाई है।
रक्त-रंग-माला लम्बमान जो उरःस्थल पै
सिद्धि ने विजय-वैजयन्ती पहनाई है।
घोर परतंत्रता पै, पाप पै, पिशुनता पै
आज मातृ-भूमि-हेतु कर दी चढ़ाई है।
भारत रणस्थल, अहिंसा-सत्य साधन हैं,
नेता कर्मवीर, सत्याग्रह की लड़ाई है ॥२८॥

सजल विलोचनों का लेकर पुनीत नीर
पुलकित रोम-कुश लेके मोद-मय हो।
बोली मातृ-भूमि कंठ आश्रम-सरस्वती के
"आज यही देती हूँ असीस मैं सदय हो।
ए रे वीर बाँकुड़े लड़ैते धीर साहसी तू
धर्म-वर्म-धारी कर्म-चारी तू अभय हो।
मंगल हो पथ में, अमंगल न आवें पास,
साधन हों सफल, रण-स्थल में जय हो" ॥२९॥

दौड़े पूर्व-पुरुष प्रयाण-दृश्य देखने को
बोले प्रहलाद "सत्याग्रह की विजय हो"।
व्योम से दिलीप-अम्बरीष-हरिश्चन्द्र बोले
"गो-पच, अभक्त अत्याचारियों की क्षय हो।"
शून्य से अशून्य ने पधार भगवान् बुद्ध
बोले, "भाव हिंसा का अहिंसा-मध्य लय हो।"
"शत्रु-पराजय हो," पुकार गोखले ने कहा,
केसरी से किलक तिलक बोले, "जय हो" ॥३०॥

जयजयकार-ध्वनि मध्य कर्मवीर चले,
धीर चले अंतरिक्ष सुमन-प्रपात में।
शक्ति-युक्त सज के समूह संग-संग चले
मंगल मरद-भट-भृंग चले प्रात में।
झोंके चले वायु के अनोखे गंध-भार युक्त
देश-हित-खोजी चंचरीक चले व्रात में।
भारत से भभर अभागियों के भाग चले
भागे भेद-भाव भूरि नरक-निखात में ॥३१॥

ज्यों ही पड़ा प्रथित प्रथम पद भूतल पै
डगमग डोली भूमि, तल लचने लगा।
डोले सप्त-सिन्धु-मध्य द्वीप के समूह सारे
देश-द्रोहियों को प्रलै-काल जँचने लगा।
खलभल-सहित स-संभ्रम विपक्ष-व्यूह
व्यर्थ बचने का उपचार रचने लगा।
अग्नि सी लगी है, वाडवाग्नि सी लगी है
क्यों दवाग्निसी लगी है, हाहाकार मचने लगा ॥३२॥

साहस की धारा निराधारा बहती है यहाँ
और वहाँ अश्रुधारा-धावन अपार है।

देश-दुख-दावा यहाँ धधक रहा है घोर
आपदा का आवा वहाँ कालानलाकार है।
हो रही यहाँ है 'पाहि, पाहि' दीन-दुखियों में
वहाँ मुखियों में "त्राहि, त्राहि" की पुकार है।
देश हाहाकार है, विदेश हाहाकार है,
यहाँ भी हाहाकार है, वहाँ भी हाहाकार है ॥३३॥

गांधी चढ़ा दंडी पै उदंडी वृत्ति धारे, या कि
आँधी चली प्रबल प्रचंड आसमान को।
या कि दावानल ही गहन में पवंडर-सा
ऊँचा उठा व्योम में छिपाते आसमान को।
अथवा विपत्तियों का सुयश-समुद्र देख
दौड़ा वाडवानल अधीर नीर-पान को।
चक्र चक्र-पाणि का चला कुचक्रियों पै, या कि
पवन-कुमार चला लंका के प्रयान को ॥३४॥

× × ×

होते ही प्रभात बढ़े पश्चिम दिशा की ओर
छाया लम्बमान पड़ो जाकर विदेश पर।
पीछे दिनकर के अपार कर संग चले
जीत को अनीति-अंधकार अवशेष पर।
सिन्धु तीर दमके लवण कण आतप में
चमके यथैव भाग्य-अंक भाल-देश पर।
ऐसे पुण्य-प्रात में सकल नर-नारी चले
होने न्यवछावर भटों के वीरवेश पर ॥३५॥

भीति त्याग मृत्यु की अशीति सैनिकों का वृन्द
मत्त-करि-निकर-विलास व्यस्त करता।
आगे बढ़ा ज्यों ही शक्ति-साहस-समेत वह
भारतीय भू की भीरुता को ग्रस्त करता।
आकर सवेग मिला जनता-समूह उसे
दौड़ा अभिनन्दन निबद्ध-हस्त करता।
आतुर विलोक कर्मवीर एक बार और
बोला धर्मधीर कूट-नीति त्रस्त करता ॥३६॥

"बाद में तुम्हें भी सजना है यही साज वीर!
और इसी भाँति सज करना चढ़ाई है।
लूटना है हमको नमक-कर तोड़-तोड़
देश-दाहकों की नीति-रहित कमाई है।
दृष्टि बँध जाय दृष्टि-बंधन किया है वह
कान हों बधिर ऐसी दुंदुभी बजाई है।
अस्त्र है अहिंसा, सत्य शस्त्र, क्षेत्र भारत है,
सैनिक हैं आप सत्याग्रह की लड़ाई है ॥३७॥

"शीघ्र लग जाओ कार्य-क्रम-रचना में सभी
काम करो अपना खलों से कहो ताने दो।
आते ही समय आपसे ही अस्त-व्यस्त होगा
देश में दमन-चक्र उनको चलाने दो।
दब सकती ही नहीं भावना स्वतन्त्रता की
भारत-मही को कारागार बन जाने दो।
सबल स्वराज का समीरण चला है आज
प्रबल प्रचंड पाप-पादप गिराने दो ॥३८॥

"वदन-वदन से स्वराज्य की ही माँग कढ़े
सदन-सदन से निरुद्यम निगोड़ा जाय।
होवे घर घर घर घर चरखे की ध्वनि
हृदय-हृदय से ज्वरा का भय छोड़ा जाय।
देखके तुम्हारी मानवोचित महानता को
पड़ पशुता की पीठ पर एक कोड़ा जाय।
डगर-डगर में बहु वसन विदेशी जलें
डगर-डगर में नमक-कर तोड़ा जाय ॥३९॥

अब न चलेगी कोई चाल परतन्त्रता की
भारतीय भूमि पै स्वतन्त्र-मन्त्र छावेगा।
देश-रक्त-शोषण अशेष बन्द होगा अब
सत्य ही लड़े तो शीघ्र सत्ययुग आवेगा।
अंतिम सँदेश देश-वासी नर-नारी सुनो
संगठन सबका गजब जब ढावेगा।
हेलै कर देने से खलों का खेल होगा भंग
जेल भर देने से स्वराज्य मिल जावेगा ॥४०॥

देखकर देश की भयंकर दरिद्रता मैं
तड़प रहा हूँ रात-दिन दुःख पाता हूँ।
शीला माँगने से शिला मिलती जहाँ है आज
ऐसे अधमों को काल-चक्र पै चढ़ाता हूँ।
अब न सहेगा देश-दुख परतन्त्रता का
विजित न होवे ऐसा व्यूह रचवाता हूँ।
आ रहा स्वराज्य आज भारत-वसुन्धरा में
स्वागत के हेतु अग्रगामी बना जाता हूँ ॥४१॥

जा तू वीर बाँकुड़े अहिंसा-धर्म-धारी धीर
सफल असहयोग-संगर-विजेता जा।
लेता जा सकल मनुजों की कामना का फल
उत्तम-चरित्र उपदेश हमें देता जा।
बहने न पायेगी पवन प्रतिकूल अब
शासन-समुद्र में स्वदेश-नाव खेता जा।
नेता जा अखिल भारतीय जनता का आज
साज राजनीति-रंगमंच-अभिनेता जा ॥४२॥
शंकर दें सुफल सकल सिद्धि-कामना का
शासन त्रिलोक का सुरेश अविचल दें।
विधि दें महान् वरदान वीर्य-विक्रम का
शक्ति के निधान बजरंग बली बल दें।
राम रमणीयता दें, कृष्ण कमनीयता दें
अम्बिका-भवानी शत्रु-सैन्य सारी मल दें।
तेरे भुज-दंड पै घमंड वीरता को वीर
युद्ध-श्रीगणेश श्रीगणेश चारों फल दें ॥४३॥

× × ×

ए हो आसमान में सतत धावमान मेघ
अपथ तुम्हारा पथ विपथ चढ़ाई है।
ए हो तुंग तरल तरंग-राशि अंबुधि की
अगति तुम्हारी गति प्रगति सवाई है।
ए हो उच्च अचल सघन वन आदि सारे
शीघ्र हो सजग अभी छिड़ती लड़ाई है।
भारत को सकल स्वतन्त्र साधना दो आज
भारत ने सबको स्वतन्त्रता दिलाई है ॥४४॥

धन्य देवि! जयति स्वतंत्रते! अनूप अम्ब!
तू ही अवलम्ब रही देती अवसर से।
आज तक तेरी ही कृपा से सत्य जीवित है
मिलते न सुफल स्वराज्य के अपर से।
तू ही निज सेवक समाज को बता के पथ
भूमि पै सम्हालती रही है व्योम पर से।
भारत-धरा को निज हास का प्रकाश देती
हँसती रही है तू हिमालय-शिखर से ॥४५॥

उद्भावन

लेखिका, कुमारी 'कुमुद'

पथिक,—कहाँ जा रहे हो? क्या चाहते हो? किसे खोजते हो? क्या कहा—अनन्त की ओर, मनहर को खोजने? वही मनहर तो नहीं जिसने अनेक ब्रज-बालाओं को पीड़ित किया था! भोली राधा को रुलाया था! क्या वही?

बावरे, उसे न ढूँढो, उसके चक्कर में न पड़ो, वह न मिलेगा; तुम्हें भी रुलायगा, तरसायगा, तड़पायगा, कहते हो बाँसुरी की सुरीली तान सुनाई देती है, बड़ी मनमोहक है, उथल-पुथल मच जाती है, क्या आपा भूल जाते हो!

भोले प्राणी,—यह मृगतृष्णा है, इसके फेर में न पड़ो, कुछ न मिल सकेगा, लुट जाओगे, एक हृदय नाम की वस्तु है उसे भी खो बैठोगे। और फिर क्या रह जायगा, निराशा! हाँ केवल निराशा ही!! हाँ, हाँ, वही निराशा, जिसने अनेकों को धूल में मिला दिया, कितनी ही भोली बालाओं के अरमानों को मसल डाला और फिर जी खोल कर उसने अट्टहास किया!

अरे, नहीं मानते हो, चले ही जाते हो, हूँ! कहते हो कि दया का सागर है! नहीं, नहीं, भूलते हो, वह बड़ा निष्ठुर है, प्राणी-मात्र के दुखों पर अट्टहास तथा किलकारी मारनेवाला है, गोपियों के हाहाकार में ही तो उसको आनन्द है, सुख है, यही तो उसके रास का राज़ है!

मान जाओ, अब भी समय है लौट आओ, उस निष्ठुर छलिया के फेर में न पड़ो, जाने दो उसे और उसकी बाँसुरी को, उस निर्मोही को दिखा दो कि तुम्हें उसकी परवाह नहीं, तुम भी तो मान कर सकते हो, उससे क्या कम हो!

अरे, यह क्या? मेरे इतना कहने पर भी तुम चले ही जा रहे हो? नहीं मानते! फिरकर देखते भी नहीं! आह!!!

गीता में पाठ-भेद

लेखक, श्रीयुत महेशप्रसाद, मौलवी आलिम फ़ाज़िल

सन् १९२९ ईसवी की बात है। मैंने 'अरबी-फ़ारसी में 'गीता' के शीर्षक से 'कल्याण' के गीता-अंक में एक लेख लिखा था। उसमें गीता के एक फ़ारसी-अनुवाद के आधार पर मैंने यह लिखा था कि इस अनुवाद में ७४५ श्लोकों का अनुवाद है, जिनका ब्योरा इस प्रकार है—

श्रीकृष्ण	के	६०५ श्लोक
अर्जुन	"	५७ "
सञ्जय	"	६७ "
धृतराष्ट्र	"	१६ "
		७४५

सच तो यह है कि जिस समय श्लोकों की संख्या की बाबत लिखा था, न तो उस समय और न उसके बाद काफ़ी समय तक मुझे यह पता था कि गीता में कितने श्लोक हैं या यह कि श्लोकों की संख्या का प्रश्न कुछ महत्त्व का है। मेरे उक्त लेख के बाद कील-यूनीवर्सिटी (जर्मनी) के श्री एफ़० ओटो शरेडर* से पहले और उनके बाद श्री एस० एन० ताडपतरिकर एम० ए०† ने गीता की श्लोक-संख्या की चर्चा की।

बाद को कई सज्जनों ने मुझे इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा और कई सज्जनों ने मुझसे बात-चीत भी की और मुझे 'महाभारत' का यह श्लोक बतलाया—

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं च सञ्जयः॥
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते॥‡

इसके अनुसार श्लोक-संख्या इस प्रकार ठहरती है—

श्रीकृष्ण	के	६२० श्लोक
अर्जुन	"	५७ "
सञ्जय	"	६७ "
धृतराष्ट्र	"	१ "
		७४५*

किन्तु गीता की जो प्रतियाँ प्रायः प्रचलित हैं उनके अनुसार संख्या का लेखा इस प्रकार है—

श्रीकृष्ण	के	५७५ श्लोक
अर्जुन	"	८४ "
सञ्जय	"	४० "
धृतराष्ट्र	"	१ "
		७००†

अब यह स्पष्ट है कि महाभारत के अनुसार श्रीकृष्ण के ४५ और संजय के १७ श्लोक प्रचलित पुस्तकों में कम हैं और अर्जुन के २७ अधिक हैं।

अब मैं यहाँ गीता की कुछ उन प्रतियों का उल्लेख करना चाहता हूँ जो प्रचलित प्रति से पाठ व क्रम आदि में कुछ-न-कुछ भिन्न हैं।

शुद्ध धर्ममण्डल मद्रास—इस मण्डल-द्वारा प्रकाशित 'भगवद् गीता' का दूसरा संस्करण (सन् १९१७ ई० का) मैंने देखा है। इसमें अठारह के स्थान पर २६ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के नाम के साथ 'गीता' शब्द जोड़ा गया है। जैसे पहले अध्याय का नाम है—'गीतावतारनिरूपणं नाम' दूसरे अध्याय का नाम है—'नरनारायण धर्म गीता नाम'—इत्यादि।

इस गीता में समस्त श्लोकों की संख्या ७४५ है। किन्तु यह ज्ञात रहे कि प्रचलित गीता के ३५ से कुछ अधिक श्लोक ऐसे हैं जो इसमें नहीं मिलते और उनकी व कुछ अधिक अर्थात् कुल ८२ श्लोकों की पूर्ति महाभारत के उद्योग, अनुशासन, शान्ति और भीष्म पर्वों से हुई है। उदाहरणार्थ प्रचलित गीता के अध्याय १३ में यह श्लोक है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

यह श्लोक उक्त मण्डल की गीता के अध्याय २० में नवाँ श्लोक है। इसके पश्चात् महाभारत के उद्योग-पर्व के अध्याय ४६ के श्लोक १ व २ ये हैं—

यत्तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः।
तद्वै देवा उपासते तस्मात्सूर्यो विराजते॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥१॥
शुक्राद्ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्धते।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम्॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥२॥*

सारांश यह कि प्रचलित गीता में जिस क्रम से श्लोक हैं उस क्रम से मण्डल की गीता में नहीं हैं। उदाहरणार्थ मण्डल की गीता के अध्याय २० में प्रचलित गीता के अध्याय १०, १८, २, १३ आदि के श्लोक रक्खे गये हैं। इस प्रकार प्रचलित गीता से यह गीता बहुत कुछ भिन्न है और इसके अनुसार भिन्न भिन्न व्यक्तियों के श्लोकों का ब्योरा इस प्रकार है—

श्रीकृष्ण	के	६०८ श्लोक
अर्जुन	"	६९ "
सञ्जय	"	६७ "
धृतराष्ट्र	"	१ "
		७४५

---

* The Kashmir Recension of the Bhagwadgita, पृष्ठ २० (भूमिका) सन् १९३० ई०।

† 'श्रीमद्भगवद् गीता' पूना सन् १९३४ ई० पृष्ठ ३ (भूमिका)।

‡ महाभारत, भीष्म-पर्व, ४३ अ०, ७ श्लोक।

* फ़ारसी-गीता की तीन हस्तलिखित प्रतियों में ७४५ श्लोकों का लेखा ऐसा ही मिलता है जैसा कि महाभारत का है।

† जिन लोगों के विचार से अध्याय १३ में श्लोकों की संख्या ३५ है उनकी दृष्टि से कुल संख्या ७०१ मानने की आवश्यकता है।

* मण्डल की गीता में ये दोनों श्लोक संख्या में तीन दिखाये गये हैं, किन्तु महाभारत की जो प्रति बम्बई के निर्णयसागर ने सन् १९०७ ईसवी में प्रकाशित की है और टी० आर० कृष्णाचार्य और टी० आर० व्यासाचार्य ने जिसका सम्पादन किया है उसमें उक्त श्लोकों को दो ही माना है। हाँ, मण्डल की गीता में एक पंक्ति आगे-पीछे दिखलाई गई है।

'हिन्दवी छुट'

...डे

...आफ़ ... ने अपनी कुछ रचनाओं-द्वारा ... जर्मनी ... प्रभाव के कारण अनेक हिन्दी ... ओटो ... समझते हैं, और मुसलमानों से ... वर्णन ... वह भाषा हिन्दू और मुसलमान ... समझिए कि वह ऐसी ही भाषा है ... का ... इस लेख में तत्सम्बन्धी अपने ... किये हैं।

...देवांधों को भी सुझा दें कि 'हिन्दवी'[1] हिन्दुओं की ...हीं, बल्कि समूचे हिन्द की भाषा है।[2] 'उर्दू' के ... समुदाय अथवा शरीफ़ मुसलमानों की ज़बान भी ...दवी' है। उसी 'हिन्दवी' की एक शैली विशेष का ... 'हिन्दवी छुट' अथवा 'खड़ी हिन्दवी' है, जिसको ... खड़ी हिन्दी भी कह सकते हैं।

... सैयद इंशा का कथन है—

"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि ...ई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छुट और ...सी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की ...ली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ ...सके बीच में न हो।" (डौल डाल एक अनोखी ...त का)

सैयद इंशा का यह व्रत कितना कठिन था, इसका ...छ पता अभी चल जाता है। उनके 'मिलनेवालों में से

---

(१) हिन्दवी, हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी का ठेठ या ...स्तविक अर्थ एक ही है। प्रमाद अथवा साहबों की ...दानी के कारण उनके संकेत में भेद उत्पन्न कर दिया ... और हिन्दवी को केवल हिन्दुओं की भाषा कहा गया है। (२) उर्दू से तात्पर्य 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के देश से है ... आज भी उर्दू ज़बान का घर समझा जाता है ... जहानाबाद अथवा दिल्ली के भाग विशेष का नाम ...-मुअल्ला था। जिसमें लाल क़िला, उर्दू बाज़ार ... जामा मसजिद की गणना होती थी।

अक्षरों में हैं और केवल वही श्लोक इसमें दिये गये हैं जो पाठ-भेद से सम्बन्ध रखते हैं अथवा जो अधिक हैं।

श्रीमद् भगवद् गीता पूना—इस गीता का सम्पादन श्री एस० एन० ताडपत्रीकर, एम० ए० ने किया है। इसमें प्रचलित गीता के समान १८ अध्याय व ७०० श्लोक हैं। समस्त अध्यायों का नाम प्रचलित गीता के नामों के अनुसार है और श्लोकों का मूल पाठ भी कहीं-कहीं मुक़ाबिला करने से मुझे वही मिला है जो प्रचलित गीता का है, किन्तु यह पुस्तक इस दृष्टि से उत्तम है कि इसमें पाठ-भेद बहुत अच्छी तरह दिखलाये गये हैं। इसके पाठ-भेद के अनुसार पहले अध्याय का पहला श्लोक काश्मीरी गीता के अनुसार है।

इसी प्रकार पाठ-भेद के विचार से पहले अध्याय का आठवाँ श्लोक भी उसी रूप में पढ़ा जा सकता है जिस प्रकार कि काश्मीरी गीता में है।

गीता की यह पुस्तक 'भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना' से सन् १९३४ में प्रकाशित हुई है। इसकी अँगरेज़ी भूमिका से गीता के विषय में अनेक बातें मालूम होती हैं।

श्री भगवद् गीता—इसका संपादन गोण्डल (काठियावाड़) के राजवैद्य श्री जीवाराम कालिदास ने किया है। जून १९३७ में इसका जो संस्करण निकला है उसमें प्रचलित गीता से २१ श्लोक अधिक हैं और अनेक स्थलों का पाठ प्रचलित गीता से भिन्न है। श्लोकों की अधिकता संवत् १२३५ की एक हस्तलिखित प्रति व काश्मीरी गीता के अनुसार है। प्रचलित गीता के समान इसमें अठारह ही अध्याय हैं, किन्तु प्रचलित गीता के कुछ श्लोकों के अन्तर्गत अनेक नये श्लोक कहीं कहीं बढ़ाये गये हैं और काश्मीरी गीता में जो पूरे या अधूरे श्लोक हैं वे सब-के-सब इनमें आ गये हैं। संभव है, बहुत छान-बीन करने पर बहुत थोड़ी संख्या ऐसे श्लोकों की निकले जो काश्मीरी-संस्करण में न हों।

इसके २५० स्थलों में पाठ-भेद दिखाया गया। अस्तु, यहाँ पहले अध्याय के श्लोक ३, ८, ९ और ११ ऐसे दिये जा रहे हैं जिनका पाठ* प्रचलित गीता से कुछ न कुछ भिन्न है :—

पश्य तां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपः शल्यो जयद्रथः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिश्च वीर्यवान् ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणा नानायुद्धविशारदाः ॥९॥
अयनेषु तु सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अन्त में यह कहना है कि प्रचलित गीता की कोई पुस्तक अपने सामने रखकर दो बातों का निर्णय करना चाहिए—

(१) बढ़े हुए श्लोक अगले-पिछले श्लोकों के साथ कहाँ तक संगत अथवा असंगत हैं।

(२) पाठ-भेद कहाँ तक उचित तथा अनुचित है।

हाँ, इसी सिलसिले में यह बता देना भी आवश्यक है कि फ़ारसी-गीता की कई प्रतियों में मैंने जो कुछ लिखा हुआ देखा है उससे यह सिद्ध होता है कि उसमें गीता के ७४५ श्लोकों का अनुवाद हुआ है। पिछले दिनों लंदन की 'इंडिया आफ़िस लायब्रेरी' से फ़ारसी-गीता की दो हस्तलिखित प्रतियाँ मँगाई गई थीं। उनमें से एक में ७४५ श्लोकों का उल्लेख है। काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय ने अपने पुस्तकालय के लिए लंदन के 'ब्रिटिश म्युज़ियम' और कैम्ब्रिज की 'किंग्स् कालेज लायब्रेरी' से फ़ारसी की दो हस्तलिखित गीताओं का जो फोटो मँगाया है उनमें से एक में ७४५ श्लोकों का उल्लेख है।

गीता के समस्त फ़ारसी-अनुवाद का मुक़ाबिला यदि संस्कृत-पाठ के साथ भली भाँति किया जाय तो संभव है, कुछ अच्छा ही फल निकले और इस बात पर भी प्रकाश पड़े कि विवादास्पद स्थलों का अर्थ अनुवादक की दृष्टि में क्या था।

*रेखांकित शब्द प्रचलित पाठ से भिन्न हैं।

सैयद इंशा की 'हिन्दवी छुट'

लेखक, श्रीयुत चन्द्रबली पांडे

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में सैयद इंशा अल्ला ख़ाँ ने अपनी कुछ रचनाओं-द्वारा 'हिन्दवी छुट' का रूप उपस्थित किया था। विदेशी प्रभाव के कारण अनेक हिन्दी के इतिहासकार उसे तत्कालीन हिन्दुओं की भाषा समझते हैं, और मुसलमानों से उसका नाता नहीं जोड़ते। पर बात वस्तुतः दूसरी है। वह भाषा हिन्दू और मुसलमान दोनों की भाषाओं की मध्यवर्ती भाषा है, या यों समझिए कि वह ऐसी ही भाषा है जैसी आज-कल की "हिन्दुस्तानी" है। पाँडे जी ने इस लेख में तत्सम्बन्धी अपने विचार युक्तिपूर्वक उपस्थित किये हैं।

यद इंशा (मृ० सं० १८७५ वि०) की 'रानी केतकी की कहानी' अथवा 'उदयभान-चरित' की चर्चा तो बराबर चलती रहती है, पर कभी उनकी 'हिन्दवी छुट' की छान-बीन नहीं होती। परिणाम यह होता है कि हम 'हिन्दवी' के वास्तविक अर्थ से अपरिचित रह जाते हैं और अपने विलायती प्रभुओं की देखा-देखी उसे केवल हिन्दुओं की शुद्ध भाषा समझ बैठते हैं। गले में ग़ुलामी का तौक़ और मस्तिष्क पर दासता की छाप होने के कारण हमें इतना भी साहस नहीं होता कि हम अपने पूर्वजों के ग्रंथों का अध्ययन शुद्ध अपनी दृष्टि से करें और उनके विचारों का प्रकाशन दिलेरी पर सचाई के साथ करें। कभी इस व्यामोह में न पड़ें कि हमारे विदेशी प्रभु हमारे विचारों से सहमत न होंगे और हमें कट्टर या हठधर्मी समझ लेंगे। नहीं, कदापि नहीं। उनमें जो सत्यनिष्ठ हैं वे हमारी सचाई की दाद देंगे और हमारे प्रकाश से अपने धुँधले ज्ञान को और भी प्रकाशित बना लेंगे। यदि अपने देश और साहित्य की परंपरा में भी हमारी पूछ नहीं हुई और हम उन्हीं के कल्पित इशारे पर चलते रहे तो संसार में जीवित रह कर साँस लेने का हमें हक़ क्या? विश्व के विधान में हमारी सत्ता की उपयोगिता क्या? क्या हम मानव नहीं हैं? केवल मनुष्य के हाथ की कठपुतली हैं? यदि नहीं तो आइए सैयद इंशा की 'हिन्दवी छुट' पर विचार करें और उन दिवांधों को भी सुझा दें कि 'हिन्दवी'[1] हिन्दुओं की ही नहीं, बल्कि समूचे हिन्द की भाषा है।[2] 'उर्दू' के शिष्ट समुदाय अथवा शरीफ़ मुसलमानों की ज़बान भी 'हिन्दवी' है। उसी 'हिन्दवी' की एक शैली विशेष का नाम 'हिन्दवी छुट' अथवा 'खड़ी हिन्दवी' है, जिसको हम खड़ी हिन्दी भी कह सकते हैं।

सैयद इंशा का कथन है—

"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।" (डौल डाल एक अनोखी बात का)

सैयद इंशा का यह व्रत कितना कठिन था, इसका कुछ पता अभी चल जाता है। उनके मिलनेवालों में से

(१) हिन्दवी, हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी का ठेठ या वास्तविक अर्थ एक ही है। प्रमाद अथवा साहबों की नादानी के कारण उनके संकेत में भेद उत्पन्न कर दिया गया और हिन्दवी को केवल हिन्दुओं की भाषा कहा गया।

(२) उर्दू से तात्पर्य 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के देश से है, जो आज भी उर्दू ज़बान का घर समझा जाता है। शाहजहानाबाद अथवा दिल्ली के भाग विशेष का नाम उर्दू-ए-मुअल्ला था। जिसमें लाल क़िला, उर्दू बाज़ार और जामा मसजिद की गणना होती थी।

एक कोई बड़े पढ़े लिखे··लगे कहने—"यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाषा-पन भी न हो। बस जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो, यह नहीं होने का।" क्यों नहीं होने का, इसके कारण प्रत्यक्ष दिखाये गये हैं—

(१) हिन्दवीपन की कड़ी पाबन्दी,

(२) भाषापन का बहिष्कार,

(३) भले लोग अच्छों से अच्छे के व्यवहार में होना, और (४) किसी भी अन्य भाषा की छाँह का न होना।

हिन्दवीपन के विषय में तो हम अभी कुछ भी कह नहीं सकते, पर भाषापन, अच्छों से अच्छे और छाँह के संबंध में कुछ विचार अवश्य करेंगे।

सैयद इंशा के मित्र ने अपनी ओर से कुछ न कह केवल उनके कथन की व्याख्या भर की है। सैयद इंशा का कहना था कि उनकी कहानी में (१) हिन्दवी छुट और (२) किसी बोली का पुट न होगा। तथा उसमें (३) बाहर की बोली या (४) गँवारी का मेल न होगा। उनके मित्र ने समझा कि 'हिन्दवी छुट' तो 'हिन्दवीपन' है और 'और किसी बोली का पुट' 'भाषापन'। रही 'बाहर की बोली' और 'गँवारी' सो उनके मित्र ने उनका भी हिसाब लगा लिया। गँवारी का मामला तो यों दुरुस्त हो गया कि वह गँवारों की बोली न होकर 'अच्छों से अच्छे भले लोगों' की बोल-चाल हो और 'बाहर की बोली' का हिसाब इस तरह लगा कि 'छाँह किसी की न हो।'

'बाहर की बोली' को लेकर विवाद करना व्यर्थ है। प्रत्यक्ष ही उसका अर्थ है हिन्द के बाहर की बोली, यानी अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि। सैयद इंशा इन्हें 'बाहर की बोली' क्यों कहते हैं, इसका कारण गुह्य नहीं, बिलकुल प्रकट है। इन्हें कभी हिन्द में बोल-चाल का रूप नहीं मिला। ये कभी हिन्दी यानी हिन्द की न बन सकीं। जिन विदेशियों के साथ देश में आईं उनके साथ देश की न हो सकीं। उनके शासन के साथ ही उनका भी विनाश हो गया। निदान सैयद इंशा तथा उनके मित्र को उन्हें 'बाहरी बोली'[1] कहना पड़ा।

सच पूछिए तो सैयद इंशा के व्रत के दो पक्ष हैं। प्रथम में 'हिन्दवीपन' और 'भाषापन' हैं तो द्वितीय में 'अच्छों से अच्छे' लोग तथा 'बाहरी बोली'। इनमें 'बाहरी बोली' के बारे में हमने अच्छी तरह देख लिया कि उसका संकेत अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी बोलियों से है। अतएव अब थोड़ा 'भले लोग अच्छों से अच्छे' पर ग़ौर करना चाहिए।

इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि सैयद इंशा के 'भले लोग' वही हो सकते हैं जिनकी भाषा प्रमाण समझी जाती हो और समय पड़ने पर सनद के रूप में पेश की जाती हो। इसी सनदी ज़बान के लिहाज़ से सैयद इंशा को 'भले लोग' के साथ ही साथ 'अच्छों से अच्छे' का भी विधान करना पड़ा है। इसलिए अब यह आवश्यक हो गया है कि कुछ इसकी भी मीमांसा की जाय कि आख़िर सैयद इंशा के 'भले लोग अच्छों से अच्छे' हैं कौन से जीव! उनका निवास कहाँ है? उनकी ज़बान क्यों 'मुस्तनद' है?

सौभाग्य से सैयद इंशा ने 'दरिया-ए-लताफ़त' में (सं० १८६४ वि०) इसका पूरा विवरण दिया है कि कहाँ की ज़बान मुस्तनद है और किन लोगों की ज़बान को सनद के रूप में पेश कर सकते हैं। 'मसहफ़ी' से उनका जो मजलिसी[1] दंगल हुआ था उसमें 'उर्दू की ज़बान' प्रमाण स्वरूप मानी गई थी और उसी के आधार पर उस समय लखनऊ भी चल रहा था। निदान मानना पड़ता है कि सैयद इंशा के 'भले लोग' 'उर्दू' यानी उर्दू-ए-मुअल्ला के निवासी हैं; कुछ इधर-उधर के बाशिन्दे नहीं।

---

(१) खेद है कि आज नीति और प्रमाद के कारण सैयद इंशा तथा उनके मित्र का यह भाव छिपाया जा रहा है और फ़ारसी तथा अरबी यहाँ की भाषा का भांडार मानी जा रही हैं। संस्कृत के साथ फ़ारसी-अरबी आदि बाहरी भाषाओं का उल्लेख करना अनुचित है।

(१) प्रोफ़ेसर आज़ाद ने 'आबे हयात' में इसकी ख़ूब चर्चा की है। इसके लिए मसहफ़ी और सैयद इंशा का उक्त प्रसंग वहीं देखना चाहिए। साफ़ नज़र आयगा कि उर्दू ज़बान क्या सचमुच आईन है, उससे ज़रा भी इधर-उधर हो जाना भारी अपराध है।

ज़बान के बारे में सैयद साहब बाहरी लोगों को किस निगाह से देखते थे, ज़रा इस पर भी नज़र करें और साफ़ साफ़ नोट कर लें कि उनके 'भले लोग' कौन हो सकते हैं। उनका कहना है—

"हम चुनीं सकनः महल्लात दीगर कि बाज़े अज़ सुहबत वालिदैन ज़बान याद दाश्तः व बाज़े ज़बान फ़रीदाबाद व बाज़े ज़बान रुहतक व बाज़े ज़बान सोनीपत व बाज़े ज़बान मीरठ याद गिरिफ़्तः बा रोज़मर्रये उर्दू ज़म नमूदः अन्द। व ख़ुदा कि गुफ़्तगूय शां शबीह बजानवरे अस्त कि चेहरा अश चेहरा अस्त व बाक़ी तमामश ब सूरत ख़र बाशद या निस्फ़श आहू व निस्फ़श सग।" (दरिया-ए-लताफ़त)

देखा आपने, सैयद साहब फ़रमाते हैं कि अन्य स्थानों के लोगों में जो उर्दू की ज़बान बोलते हैं, कुछ तो ऐसे हैं कि अपने माता-पिता से ज़बान सीख ली है और कुछ ऐसे हैं जिन्होंने फ़रीदाबाद, रुहतक, सोनीपत, मेरठ आदि की ज़बान सीखकर उनके बोलों को उर्दू के बोलचाल में मिला दिया है। अब सैयद साहब की निगाह में उनकी बातचीत ठीक उस जानवर की तरह है जिसके मुँह तो हो लेकिन बाक़ी तमाम हिस्सा गदहे का हो अथवा यह कि आधा भाग हिरन का हो और आधा कुत्ते का।

कहना न होगा कि सैयद साहब के 'गदहे' और 'कुत्ते' के वेश के लोग 'अच्छों से अच्छे' नहीं हो सकते। यह उपाधि तो उन्हीं को नसीब हो सकती है जो ख़ास दिल्ली के निवासी हों।

दिल्ली में बस जाने से ही किसी की ज़बान मुस्तनद नहीं हो सकती। कारण, सैयद साहब स्वयं फ़रमाते हैं—"देहली में भी हर किसी के हिस्से में फ़साहत नहीं है। चन्द चुने हुए आदमियों को ही नसीब हुई है।" (हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी पृ० १२ पर अवतरित)

मतलब यह कि सैयद इंशा जिस 'हिन्दवी छुट' में कहानी लिखने का संकल्प करते हैं उसके बोलनेवाले चन्द दिल्ली के चुने हुए आदमी हैं। इन आदमियों में हिन्दुओं की गणना हो नहीं सकती। कारण, स्वयं सैयद साहब उन्हें इसके योग्य नहीं समझते। चुनांचः फ़र्माते हैं—

"बुद्धिमानों से यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दुओं ने बोल-चाल, चाल-ढाल, खाना और पहनना इन सब बातों का सलीक़ा मुसलमानों से सीखा है।" (वही पृ० ४५)

अच्छा, यही सही। शिष्य-रूप में तो उनका उल्लेख हो गया। पर नहीं, यह भी शुद्ध भ्रम निकला। क्योंकि सैयद साहब का साफ़ साफ़ फ़तवा है—

"किसी भी बात में इनका क़ौल-फ़ेल ऐतबार के क़ाबिल नहीं है।" (वही पृ० ४५) किनका? उन्हीं हिन्दुओं का जिनकी भाषा 'हिन्दवी' कही जाती है और जिसे सैयद इंशा अपनी कहानी में अपनाने जा रहे हैं। नहीं, हर्गिज़ नहीं। कौन कह सकता है कि सैयद इंशा की 'हिन्दवी छुट' हिन्दुओं की भाषा है? ज़रा सामने तो आये और अपने दिमाग़ के ख़लल की तनिक जाँच तो कराये। हाँ, हमारा कहना है कि सैयद इंशा की 'हिन्दवी छुट' हिन्दुओं की नहीं, बल्कि इन नजीबों और फ़सीहों की बोल-चाल की ज़बान है जिन्हें सैयद इंशा ने स्वयं प्रमाण माना है और जिनका उल्लेख अपनी 'दरिया-ए-लताफ़त' में किस लुत्फ़ के साथ कर दिया है।

सचमुच 'हिन्दवी छुट' उर्दू के फ़सीहों और नजीबों की बातचीत की भाषा है, कुछ हिन्दुओं की अपनी भाषा नहीं। यदि वह हिन्दुओं की भाषा होती तो उसमें 'भाषापन' अवश्य होता। परन्तु सैयद साहब का दावा है कि उसमें 'भाषापन' भी न रहेगा। उर्दू की ज़बान में कितना 'भाषापन' था, इसे समझने के लिए मीर अमन 'देहलवी' की किताब[1] 'बाग़ोबहार' (सं० १८५८ वि०) का अध्ययन करना चाहिए। मीर अमन ने उसे 'ठेठ उर्दू की ज़बान' में लिखा है और सैयद इंशा ने इसे शिष्ट 'हिन्दवी छुट' में। यही इन दोनों पुस्तकों में प्रधान भेद है। सैयद इंशा मीर अमन की तरह—"हिन्दू मुसलमान, औरत मर्द, लड़के बाले, ख़ास वो आम" सबको नहीं लेते, प्रत्युत "भले लोग अच्छों से अच्छे" को ही चुनते हैं। फलतः उनकी भाषा भी अधिक व्यवस्थित और परिमार्जित है। सलीस और

---

(१) बाग़ोबहार की रचना फोर्ट विलियम कालेज के 'हिन्दी मुदर्रिस' डाक्टर गिलक्रिस्ट के कहने से कम्पनी-सरकार के साहबों के पढ़ने के लिए की गई थी। अनेक बातों का पता जो 'रानी केतकी की कहानी' में अजीब सी लगती हैं, वहीं से चल जाता है।

फ़सीह है। पर वास्तव में हैं दोनों ही जिन्हें उर्दू के लोग "आपस में बोलते-चालते हैं।"

'बाहर की बोली' और 'भले लोग अच्छों से अच्छे' की मीमांसा हो चुकी। अब थोड़ा 'हिन्दवीपन' और 'भाषापन' का भी विचार होना चाहिए। सैयद साहब की दृष्टि में उनका भेद क्या था, यह हम ठीक नहीं कह सकते, पर इतना अनुमान अवश्य कर सकते हैं कि उनका तथा उनके मित्र का मत उनके विषय में प्रायः एक ही था। सैयद साहब ने जिसे 'गँवारी' का संकेत किया है उसमें 'भाषा' का भी निर्देश है। भाषापन का सीधा-सादा संकेत है संस्कृत शब्दों से भरी हुई हिन्दुओं की सामान्य भाषा—उस भाषा से जिसमें एक ओर तो संस्कृत के तत्सम शब्द आते थे और दूसरी ओर ग्रामीण शब्दों का भी व्यवहार होता था। संक्षेप में जो सैयद इंशा के 'भले लोग अच्छों से अच्छे' की भाषा न होकर केवल लोक-भाषा थी—जन सामान्य में जिसका बोल बाला था।

सैयद इंशा के मित्र ने देखा कि 'हिन्दवी' के साहित्यगत दो रूप हैं। एक का प्रयोग तो 'भले लोग अच्छों से अच्छे' यानी उर्दू के नजीब और फ़सीह करते हैं तथा दूसरे का सामान्य लोग। साहित्य में जाकर पहला दल अरबी-फ़ारसी का हिमायती हो जाता है और दूसरा भाषा अथवा संस्कृत का। सैयद इंशा अरबी-फ़ारसी का पल्ला छोड़ रहे हैं। निदान उनको 'भाषा' अथवा संस्कृत का स्वागत करना पड़ेगा। पर ऐसा करने से उनकी 'हिन्दवी' में गँवारी का भी मेल हो जायगा और वह 'हिन्दवी छुट' भी न रह जायगी। इसलिए सैयद इंशा को 'भाषापन' से भी अलग रहना पड़ेगा। सैयद साहब अजब आदमी हैं। न तो इस ढंग पर चलना चाहते हैं और न उस ढंग पर। बल्कि अपनी कहानी के लिए एक बिलकुल नया ढब निकालना चाहते हैं। 'ठेठ हिन्दवी' में साहित्य-निर्माण करना चाहते हैं।

सैयद साहब ताड़ गये। उन्होंने देख लिया कि हज़रत इस बात के क़ायल हैं कि काव्य के लिए अरबी-फ़ारसी अथवा भाषा का पल्ला पकड़ना अनिवार्य है। उनकी सहायता के बिना कोरी हिन्दवी में काव्य-रचना हो नहीं सकती। आख़िर मौजी जीव ठहरे। ताव में आ गये और किस तपाक से बोल पड़े—

"जो मेरे दाता ने चाहा तो यह ताव-भाव और राव-चाव और कूद-फाँद लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है हिरन के रूप में अपनी चौकड़ी भूल जाय।" (डौल डाल एक अनोखी बात का)

सैयद साहब का व्रत पूरा हुआ। 'रानी केतकी की कहानी' करामत के रूप में सामने आई। उसमें 'हिन्दवी छुट' और 'किसी बोली का पुट' नहीं है। पर क्या वस्तुतः उसमें काव्य है। क्या 'ताव-भाव' 'राव-चाव', 'कूद-फाँद' और 'लपट-झपट' को ही काव्य[१] कहते हैं? जो हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सैयद इंशा ने अपने व्रत को पूरा किया और अपनी 'हिन्दवी छुट' की एक कहानी छोड़ गये।

सैयद इंशा के मित्र का आशय था कि 'हिन्दवीपन' का 'भाषापन' से सहज संबंध है। उसके बिना उसका उत्कर्ष हो नहीं सकता। इसी तरह भले लोग 'अच्छों से अच्छे' का बाहरी बोली से बड़ा लगाव है। उसके बिना उनका काम चल नहीं सकता। इसलिए उन्होंने सैयद साहब से कहा कि 'यह नहीं होने का'।

मित्र महोदय की यह पकड़ कितनी पक्की है। 'हिन्दवी' का 'भाषा' और 'अच्छों से अच्छे' का 'बाहर की बोली' से गहरा संबंध है। 'हिन्दुस्तानी' के प्रेमियों को चाहिए कि इसे अच्छी तरह नोट कर लें और साफ़ साफ़ समझ लें कि सच्ची हिन्दुस्तानी का संबंध भाषा यानी गँवारी तथा संस्कृत से ही है न कि अरबी-फ़ारसी आदि बाहर की बोली से।

---

(१) अभी अभी एक उर्दू के नामी अँगरेज़ी के प्रोफ़ेसर ने उर्दू के इसी 'ताव-भाव', 'राव-चाव', 'कूद-फाँद' और 'लपट-झपट' को लेकर हिन्दीवालों को ललकारा है और यह प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है कि रुचि और दिमाग़ी ग़ुलामी भी कोई चीज़ होती है। बेचारे को इतना भी पता या ख़याल नहीं है कि उर्दू की ज़बान की सफ़ाई किसमें और कितनी मानी जाती है। हाँ, एक बात पते की उनकी ज़बान से टपक पड़ी है। वह यह कि उर्दू के अच्छे या चोटी के शेर वही बन पड़े हैं जो ठेठ हिन्दी या हिन्दवी छुट में हैं। फिर फ़ारसी-अरबी की ग़ुलामी क्यों? कुछ इसका भी रहस्य है? 'ताकहँ पच्छिम उगेउ दिनेसा।'

'बाहर की बोली' से वास्ता तो उन लोगों का है जो 'अच्छों से अच्छे' यानी उर्दू के फ़सीह और नजीब हैं। देश की कौन कहे, 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के भी किसी कोने में बसते हैं। समूचे देश से उनका कोई संबंध नहीं। और यदि है भी तो शाही लगाव न कि 'भाई-बंधु' का संबंध या भाई-चारे का कोई रिश्ता।

कहा जा सकता है कि अब वह ज़माना लद गया जब 'उर्दू' के कुछ नजीब और फ़सीह लोग ही 'अच्छे' और 'भले' समझे जाते थे। अब तो मनुष्य-मात्र को यह अधिकार मिल रहा है और उर्दू के आचार्य भी उस समय को 'अहदे जाहिलियत' या 'तारीक ज़मानः' कहते हैं। ठीक है। पर कृपया यह तो बताइए कि आज 'बाहर की बोली' का इतना सत्कार क्यों हो रहा है? क्योंकर आज वह घर की बोली बन गई है? क्या इसका भी कुछ रहस्य है?

जो हो, यहाँ हम उसके उद्घाटन में लीन नहीं हो सकते, पर इतना दिखा देना अनुचित भी नहीं समझते कि सैयद इंशा किस तरह अल्लाह और रसूल को याद कर अपनी 'हिन्दवी छुट' को पाक बनाते और विद्वानों को पेच में डाल देते हैं। 'हम्द' व 'नात' के रूप में उनका कथन है—

"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया।"

यह तो हुई अल्लाह की वन्दना। अब ज़रा रसूल का स्मरण भी सुन लीजिए—

"इस सिर झुकाने के साथ ही दिनरात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को, जिसके लिए यों कहा है 'जो तू न होता तो मैं कुछ न बनाता।"

तात्पर्य यह कि इस 'हिन्दवी छुट' में भी सैयद इंशा ने अपने दीन की दुहाई दी है और अपने मज़हब का पालन किया है। याद रहे इसका डौल भी अभी मज़हबी है। इसमें 'बाहर की छाँह'[१] साफ़ नज़र आती है। सैयद इंशा इसे छिपाते भी नहीं और अपने नाम का पता किस दुराव से दे जाते हैं—

"इस कहानी का कहनेवाला यहाँ आपको जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं कह सुनाता है।" (डौल डाल एक अनोखी बात का)

लोग उसे कैसा पुकारते हैं, इसे हम-आप अच्छी तरह जानते हैं। इंशा अल्लाह को कौन नहीं जानता? पर क्या आप यह भी जानते हैं कि यहाँ 'इंशा अल्लाह' किस भगवद्भक्ति को पुष्ट कर रहा है? क्या कभी आपने किसी सच्चे मुसलिम के मुँह से 'इंशा अल्लाह' नहीं सुना है? यदि हाँ, तो सैयद इंशा की इस चातुरी, इस लगन और इस मज़हब की पाबन्दी की दाद दीजिए और इस भावना को दिल से निकाल दीजिए कि 'हिन्दवी' इस्लाम के प्रतिकूल है। सैयद इंशा ने तो 'हिन्दवी छुट' में भी इस्लाम को मिला दिया है, उसकी एक झलक दिखा दी है।

अभी तक 'हिन्दवी छुट' का जो रूप सामने आया है वह कहानी नहीं, कहानी की भूमिका है। उसमें कुछ न कुछ 'बाहरी बोली' की 'छाँह' है। कदाचित् यही कारण है कि सैयद इंशा आगे चलकर 'बोलचाल की दूल्हन का सिंगार' का संकेत करने के उपरान्त अपनी 'हिन्दवी छुट' की कहानी का श्रीगणेश करते हैं। उनकी 'हिन्दवी छुट' का सच्चा नमूना यह है—

"किसी देश में किसी राजा के घर एक बेटा था। उसे उसके माँ-बाप और सब घर के लोग कुँवर उदयभान कहके पुकारते थे। सचमुच उसके जोबन की जोत में सूरज की एक सोत आ मिली थी। उसका अच्छापन और भला लगना कुछ ऐसा न था जो किसी के लिखने और कहने में आ सके।" (कहानी के जोबन का उभार और बोलचाल की दूल्हन का सिंगार)

सैयद इंशा के 'भले लोग अच्छों से अच्छे' में केवल पुरुष ही न थे। महिलाओं की भी उनमें गणना थी। अस्तु उनकी भी बोलचाल को देख लीजिए—

"चूल्हे और भाड़ में जाय यह चाहत जिसके लिए आपको माँ-बाप को राज-पाट, सुख, नींद, लाज छोड़कर नदियों के कछारों में फिरना पड़े।.........इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछतावोगी और अपना किया पावोगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी

---

(१) 'रानी केतकी की कहानी' के सभी निर्देश अथवा शीर्षक बाहर की बोली के ढङ्ग पर ही हैं। सैयद इंशा की पद-योजना या तरकीब का यह ढंग विचारणीय है, उर्दू और हिन्दी का ढर्रा अलग अलग दिखाई दे रहा है।

बात होती तो मेरे मुँह से जीतेजी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो। तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुवा निगोड़ा भूत मुछन्दर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवा कर छिनवा लूँगी।" (मदनबान का साथ देने से नहीं करना)

सैयद इंशा की 'हिन्दवी छुट' बोलचाल की भाषा है। बोलचाल के अनेक रंग होते हैं। एक ढर्रे के लोग एक ढंग की भाषा बोलते हैं तो दूसरे ढंग के बिलकुल दूसरे ढर्रे की। इस प्रकार एक ही काल और एक ही देश में एक ही भाषा के भिन्न भिन्न रूप दिखाई दे जाते हैं। इस लेख का ध्येय यद्यपि सैयद इंशा की 'हिन्दवी छुट' का पूरा पूरा परिचय प्राप्त कराना नहीं है, तथापि इसका कुछ निर्देश यहाँ इस दृष्टि से कर दिया जाता है कि इसके आधार पर उनकी 'हिन्दवी छुट' का कुछ मर्म समझा जा सके और हिन्दी-हिन्दुस्तानी का व्यर्थ का मन-मुटाव मिट सके।

सैयद इंशा के 'भले लोग अच्छों से अच्छे' यह भली भाँति जानते थे कि उसी उर्दू में दूसरे ढंग की भाषा का भी व्यवहार होता है जिसे उर्दू के लोग टकसाल से बाहर की भाषा नहीं समझते। निदान सैयद इंशा अपनी कहानी में उस ढंग की भाषा का भी विधान कर जाते हैं। उदाहरण के लिए दो-एक अवतरण देख लीजिए। रानी केतकी के लिए गोसाईं महेन्द्रगिरि के आने के प्रसङ्ग में सैय साहब किस भाव से लिखते हैं—

"गुरूजी गोसाईं जिनको दंडवत है सो तो वह सिध रते हैं। आगे जो होगी सो कहने में आवेगी।" यह हुई 'अच्छों से अच्छे' की पंडिताऊ 'हिन्दवी छुट'। अ तनिक पंजाबी रंग भी देख लीजिए। उदयभान सिंहास पर बैठ गये हैं और—

"दोनों महारानियाँ समधिन बन के आपस में मिलि चलियाँ और देखने-दाखने को कोठों पर चन्दन के किवाड़ों आड़ तले आ बैठियाँ।" (दूल्हा का सिंहासन पर बैठना)

सारांश यह कि सैयद इंशा अल्लाह ख़ाँ ने अप 'हिन्दवी छुट' की पैज को निभाने में किसी बात की क नहीं की, बल्कि उस समय की शिष्ट बोलचाल में ऐ कहानी रच डाली जो आज भी बड़े काम की साबित सकती है। हम यह नहीं चाहते कि देश के केवल 'हिन्द छुट' का प्रचार हो, पर इतना अवश्य कहते हैं कि राष्ट्र कल्याण और लोक के मंगल के लिए यह अनिवार्य है हम 'हिन्दवी' का स्वागत करें और विदेशियों के इस बा कावे में कभी भी न आवें कि 'हिन्दवी' हिन्दुओं की भा का नाम है, मुसलमानों का उससे कोई सम्बन्ध नहीं मुसलमानों ने 'हिन्दवी' को किस तरह बढ़ाया है, इस चर्चा हम अन्यत्र करेंगे। यहाँ तो हमारी आँख खोलने लिए सैयद इंशा की 'हिन्दवी छुट' ही पर्याप्त है।

अनुरोध

लेखक, श्रीयुत साहित्यरत्न ईशदत्त शास्त्री, 'श्रीश'

देख नभचुम्बन तुम्हारा
देख अवगुण्ठन तुम्हारा
नयन परिचय चाहते हैं
आज कादम्बिनि! तुम्हारा।

नृत्य करतीं कल्पने तुम
आज घन आशा नयन में
दो बुझा अब तो तृषा वह
एक हूँ प्यासा भुवन में।

जाग्रत नारियाँ

स्वास्थ्य और नृत्य

लेखिका, श्रीमती विद्युत्तमा मिश्र

री को सौन्दर्य का प्रतीक माना गया है। पुरुष की कल्पनायें, कलायें और भावनायें इसी को मध्यबिन्दु मान कर, इसी के चारों ओर घूमा करती हैं, इसमें रंचक भर सन्देह का स्थान नहीं है। नारी अपने इसी गुण के कारण संसार के हृदय की रानी बनी हुई है, और जब देखते हैं कि उद्दंड और आतंकवादी व्यक्तित्व भी क्षणिक विश्राम के लिए नारी-सौन्दर्य का आश्रय ग्रहण करता है तो नारी-रूप की विश्व-विजयिनी शक्ति पर आश्चर्य होता है।

अपने इसी प्रभाव को बढ़ाने और स्थायी रखने के लिए सृष्टि के आदि से लेकर अब तक नारी बराबर प्रयत्न करती रही है। यह प्रयत्न एक देशीय न होकर सार्वभौम के रूप में दिखाई देता है। भाँति-भाँति के शृंगार और वस्त्राभूषण, केश और वेश-विन्यास के नये-नये ढंग, भाँति-भाँति के कृत्रिम उपाय, कभी प्रकृति से दूरातिदूर भाग कर अधिक से अधिक वैज्ञानिक साधनों की ओर झुकाव, तो कभी विज्ञान को एकदम अनावश्यक ठहरा कर यहाँ तक प्रकृति के समीप आ जाना कि साधारण कपड़े भी उतार कर धूप, शीत, बारिश सहन करना, ये सब बातें केवल सौन्दर्य-साधना के लिए हैं। सौन्दर्य स्त्री-जाति की स्थायी सम्पत्ति है और उस पर उन्हें प्रकृति-प्रदत्त

[श्रीमती योगमाया देवी]

(आपने सर्वप्रथम वर्त्तमान संस्कृत-शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध, पटना-संस्कृत-छात्रा-सभा की सभानेत्री के पद से, आवाज़ उठाई थी। आपके आन्दोलन का यू० पी० व बिहार-सरकार पर काफ़ी असर पड़ा है। युक्त-प्रान्त-सरकार ने संस्कृत-शिक्षासुधार-कमेटी क़ायम की है और बिहार-असेम्बली में भी यह प्रश्न विचारार्थ पेश है।)

[स्वर्गीय सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की नातिन कुमारी आशा बनर्जी प्रदर्शित 'मीरा-नृत्य'।]

अधिकार प्राप्त है। परन्तु सौन्दर्य की कल्पना स्वास्थ्य के बिना नहीं हो सकती है। स्वस्थ शरीर में ही सौन्दर्य का निवास रहता है। जो स्त्री अस्वस्थ है उसकी ओर किसी का आकर्षण होना असंभव है। साथ ही अधिक रूपवती न होने पर भी जो स्त्री स्वस्थ है उसमें एक प्रकार का अद्भुत आकर्षण रहता है।

हर्ष की बात है कि हमारी जाति अब इस सत्य का अनुभव करने लगी है। सौन्दर्य की होड़ में अब तक तो वह आँख मूँद कर अप्राकृतिक साधनों की ओर दौड़ती रही, पर अब उसने अनुभव कर लिया है कि बिना स्वास्थ्य-साधना के सौन्दर्य की कामना असंभव है और स्वास्थ्य के लिए प्रकृति का अनुसरण अधिक श्रेयस्कर है।

इसी आधार पर योरप और अमेरिका में स्त्रियों ने स्वास्थ्य-साधना के लिए भाँति-भाँति के व्यायाम निकाले हैं। इन व्यायामों में दिन-दिन दिलचस्पी बढ़ती जाती है। पर हमारे भारतवर्ष में जहाँ कि अभी पेट की चिन्ता ही हल नहीं हो पाती, इस प्रकार के व्यायामों के प्रचार की कल्पना ही स्वप्न की बात है। इस समय जो कुछ

[कुमारी नमिता राय (आयु १२ वर्ष) द्वारा लाहौर-विश्व-विद्यालय में प्रदर्शित पौरस्त्य-नृत्य।]
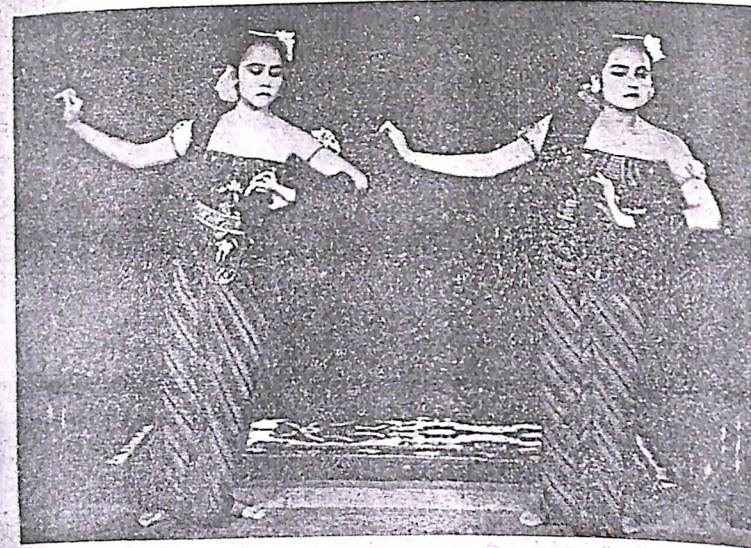
[स्वास्थ्य और सौन्दर्य - प्रदायक शृङ्गो-नृत्य।]

[इन्द्रप्रस्थ-कन्या-कालेज देहली में छात्राओं द्वारा प्रदर्शित 'उषा-नृत्य'।]

थोड़े-बहुत व्यायाम यहाँ प्रचलित हैं वे भी सम्पन्न परिवारों में ही हैं। साधारण गृहस्थों का ध्यान इस ओर नहीं है; न उनके पास इस के लिए अवकाश ही है। हाँ, लड़कियों के स्कूलों में अवश्य इस ओर थोड़ा-बहुत ध्यान दिया जाता है, वह भी जहाँ तक मुझे मालूम है केवल मॉडल या हाई-स्कूलों में ही। साधारण मिडिल और प्रायमरी कन्या-स्कूलों में अभी तक इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है, बात यह है कि स्त्रियों के शरीर के लिए जिन व्यायामों की उपयोगिता मानी गई है वे व्यय-साध्य हैं और साधारण संस्थायें उनका बोझ बरदाश्त नहीं कर सकतीं।

यदि स्कूलों और शिक्षा-संस्थाओं को बात छोड़ दें तो गृहस्थों में तो व्यायाम के नाम पर शून्य ही दिखाई देता है। कुछ संपन्न महिलायें अवश्य टेनिस या बालीबाल आदि खेल शौक़िया खेलती हैं, पर अधिकांश तो सुबह-शाम मोटर-ताँगे में बैठकर घूमने को ही काफ़ी व्यायाम समझ लेती हैं। क्योंकि उनका अब तक शायद यही विश्वास है कि जब तक कारसेट, पाउडर व लिप्स्टिक आदि से सौन्दर्य पाया जा सकता है, तब तक शरीर को क्यों कष्ट दिया जाय ? इस प्रवृत्ति का फल उलटा हो रहा है। मेरे अनुभव में आया है कि धनिक परिवारों की त[...] विश्व-विद्यालयों में पढ़नेवाली लड़कियाँ भी अधिक[...]

[राजकुमारी भादा द्वारा सिडनी में प्रदर्शित 'नीलदेव' नृत्य।]
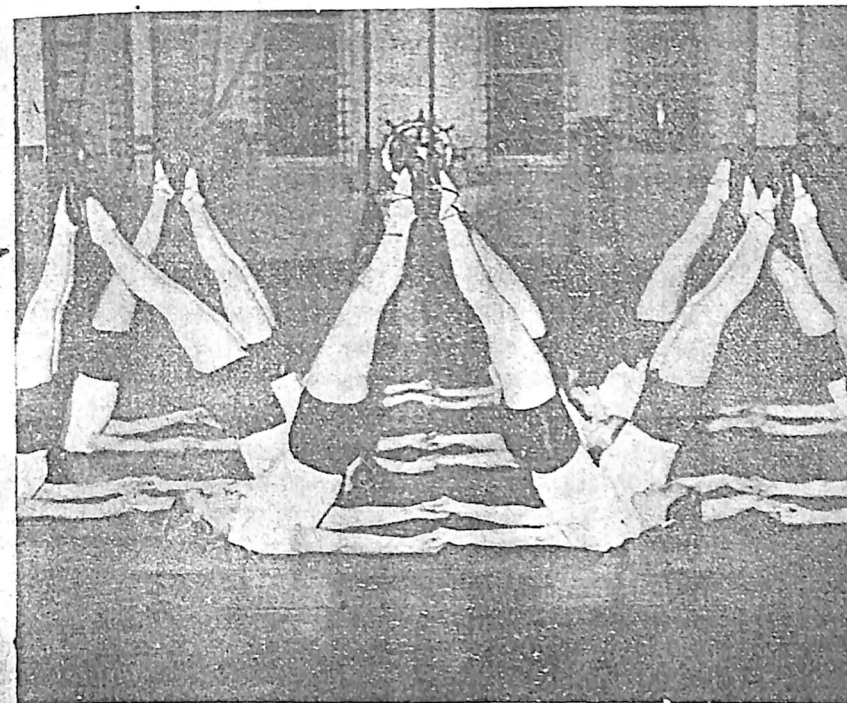
[मिस प्रुनेला स्टेक के द्वारा आविष्कृत स्त्रियों का एक रोचक व्यायाम, इँग्लैंड में इसका अच्छा प्रचार हो रहा है।]

प्रदर, क्षय आदि रोगों से पीड़ित होती हैं। बात यह है कि सौन्दर्य-साधना के कृत्रिम उपायों की ओर झुकी रहने के कारण उन्हें शारीरिक परिश्रम से अरुचि रहती है। अतः अपने शरीर की वास्तविक क्षमता का उन्हें ठीक ज्ञान नहीं होता। व्यायाम करने का उन्हें अवकाश भी नहीं मिलता। यह दशा तो रही शहरों और सम्पन्न घरों की—

देहातों की दशा तो और भी दयनीय है। वहाँ दारिद्र्य का इतना व्यापक प्रभाव है कि खुली हवा, साफ़ पानी और यथेष्ट शारीरिक परिश्रम के मिलने पर भी भोजनाच्छादन के अभाव के कारण स्वास्थ्य और सौन्दर्य का दर्शन नहीं होता। जब तक कोई व्यापक योजना देहातियों के रहन-सहन के पैमाने को ऊँचा न उठा दे, उन्हें स्वास्थ्य और सौन्दर्य की शिक्षा देना उनकी ग़रीबी का उपहास करना है। हाँ, मध्यमवर्ग की स्त्रियाँ यदि चाहें तो बहुत-कुछ कर सकती हैं और प्राकृतिक तथा अपेक्षाकृत सस्ते साधनों से सच्चा स्वास्थ्य लाभ करके डाक्टरों के बिलों में बड़ी कमी कर सकती हैं।

स्त्रियों के व्यायाम की कई प्रणालियाँ हैं। श्रीमती वैगट स्टेक की आविष्कृत प्रणाली भी एक आदर्श प्रणाली है। उसका आज-कल योरप के देशों में ख़ूब प्रचार बढ़ रहा है। श्रीमती वैगट का दावा है कि व्यायाम की इस प्रणाली द्वारा न केवल स्त्रियों का स्वास्थ्य ठीक रहता है प्रत्युत उनको चपल, सफल, सजीव, सुगठित और फुर्तीला बनाया जा सकता है। यह संगीत की ताल पर व्यायाम करने की रीति है जो मनोरंजक भी काफ़ी है।

हमारे देश में, जैसा कि आम ख़याल है, टहलना

एक आदर्श व्यायाम है। सुबह-शाम, शान का ख़याल छोड़ कर, मील-आधमील खुली हवा में टहलना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त लाभदायक है। पर धीरे-धीरे कछुए या हंस की चाल से टहलना बेकार है; न ख़रगोश या मृग की तरह दौड़ना ही आवश्यक है। लम्बे-लम्बे डग रखते हुए निश्चित गति से चलना अंगों को सुडौल बनाता है और रगों में चुस्ती लाता है। दूसरा व्यायाम जिसे सीखने की सिफ़ारिश मैं स्त्रीमात्र से करूँगी, संगीत है। संगीत से प्राणायाम की अपेक्षा फुस्फुसों को अधिक लाभ होता है। जो स्त्री प्रतिदिन आध घंटा प्रातःकाल प्रसन्नता और तल्लीनता से मध्यम स्वर में गाया करे उसे श्वास, यक्ष्मा आदि फेफड़ों के रोग कभी हो ही नहीं सकते। तीसरा व्यायाम 'सूर्य-नमस्कार' है। स्त्रियों के लिए यह सस्ता और उपयोगी है। इस पर पूरा प्रकाश मैं आगामी लेख में डालूँगी। परन्तु इन सबसे उपयोगी, अच्छा और सस्ता एक व्यायाम और भी है, जो जितना सरल है उतना ही मनोरंजक भी है। यह नारी-शरीर को ऐसा सुगठित कर देता है, कि संसार का कोई व्यायाम इस गुण में उसकी बराबरी नहीं कर सकता। यह 'नृत्य' है। पाश्चात्य देशों की स्त्रियों में इसका काफ़ी प्रचार है। पर वहाँ भी इसे मनोरंजन के लिए उपयोग करते हैं, व्यायाम के लिए नहीं। हाँ श्रीमती वैगट की प्रणाली जिसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुकी हूँ, इसी से मिलती-जुलती है। पर भारतीय नृत्य की प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक तथा सरल है। अफ़्रीका और भारतवर्ष की पुरानी जातियों में नृत्य का अब भी काफ़ी रिवाज है, उनके अनेक प्रकार के नृत्यों के चित्र समाचार-पत्रों में प्रकाशित भी होते रहते हैं। पर वह सभी कुछ उत्सवों और विशेष अवसरों पर किया जाता है। प्राचीन संहिताओं से पता चलता है कि हमारे देश में इस कला का प्रयोग व्यायाम की भाँति भी किया जाता था। आयुर्वेद में स्त्री के लिए यह अत्यन्त लाभदायक बतलाया गया है। वेद तथा कर्मकांड-ग्रन्थों में भी इसका प्रशंसापूर्वक उल्लेख मिलता है। देव-मन्दिरों और विवाहादि उत्सवों पर अब भी हमारे यहाँ घर की स्त्रियाँ नृत्य करती हैं। इस समय भारत के प्रतिष्ठित घरों की अनेक लड़कियों ने इस कला में अपनी पारदर्शिता दिखला कर देश-विदेशों में बड़ा सम्मान प्राप्त किया है। मैं चाहती हूँ कि मेरी शिक्षिता बहनें भी इस कला को अपनावें और इसे घरेलू व्यायाम का स्थान दे दें। क्योंकि धनिक और निर्धन सब इससे समान रूप से लाभ उठा सकती हैं। जब से 'मेनका' और अन्यान्य लड़कियों की इस दिशा में ख्याति हुई है, अनेक सम्भ्रान्त-परिवारों की महिलायें लुक-छिपकर इसमें दिलचस्पी लेने लगी हैं। पर अभी, कम प्रचार होने के कारण, इसे अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता। हमारे देश की कुछ महिलाओं ने इसका व्यायाम की भाँति भी उपयोग किया है। उनका दावा है कि स्त्री के शरीर के अनावश्यक मोटापे को दूर करने, जंघाओं, बाहुमूलों और वक्षःस्थल को पुष्ट करने, कटि तथा उदर-प्रदेशों को पतला करने के लिए इससे अधिक सुन्दर व्यायाम हो ही नहीं सकता। इस व्यायाम में सबसे बड़ा गुण यह है कि यह शरीर में दृढ़ता लाता है पर अंगों की कोमलता पर बुरा असर नहीं डालता, न त्वचा को ही खुरदरा करता है। जो महिलायें टेनिस और बालीबाल को महत्ता देती हैं, या जो भाँति-भाँति के अंग-परिचालनों का अप्राकृतिक अभ्यास कर रही हैं, उन्हें चाहिए कि इस प्राचीन से प्राचीन, साथ ही अप-टु-डेट व्यायाम-पद्धति को अपनायें। काफ़ी प्रचार हो जाने पर इसके प्रति लोगों में जो ग़लत धारणा बन गई है वह दूर हो जायगी।

हमारे प्रान्त के शिक्षा-संचालकों को भी चाहिए कि छोटे-छोटे कन्या-पाठशालाओं में व्यायाम और खेलकूद अनिवार्य कर दें और यदि अधिक महँगे व्यायामों का चलाना असम्भव हो तो टहलना, कूदना, सूर्यनमस्कार, नृत्य तथा ऐसे ही व्यायामों को प्रोत्साहन देकर उनका प्रचलन किया जा सकता है। समझदार पुरुषों को भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि खुली हवा और मैदान में चलना-फिरना स्त्रियों के जीवन और स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। प्रत्येक पिता अपनी पुत्री को और प्रत्येक पति अपनी पत्नी को प्रतिदिन ऐसे व्यायाम करने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करे तो हमारे घरों में बढ़ती हुई यक्ष्मा और प्रदर आदि दूषित बीमारियों का कुछ ही दिनों में लोप हो जाय।
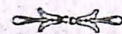
निपटारा

लेखक, आनरेबल पंडित प्रकाशनारायण सप्रू

हरप्रसाद सक्सेना	बैरिस्टर
मनोरमा	हरप्रसाद सक्सेना की स्त्री
विमला	एक स्त्री
रामावतार	एक सब बैरिस्टर
मनोरमा	एक ज़मींदार की लड़की
लेडी पार्वती	मनोरमा की मा

दृश्य १

(मनोरमा अपने ड्राइंग-रूम में आराम-कुर्सी पर लेटी हुई 'स्टेट्समैन' पढ़ रही है। पार्वती का प्रवेश।)

मनोरमा—आओ मा, आइए मा, मा। आप बहुत दिनों से मुझसे मिलने नहीं आई हैं।

लेडी पार्वती—मैंने सुना है कि आज-कल तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है। तुम दुबली क्यों होती जाती हो? क्या बात है?

मनोरमा—कुछ नहीं मा! योंही मामूली बात है।

लेडी पार्वती—कुछ कारण तो ज़रूर ही होगा। क्या तुम विमला की बात से चिन्तित रहती हो? क्या सचमुच हरी उससे शादी करना चाहता है?

मनोरमा—मुझे नहीं मालूम है। मुझे इसकी परवा नहीं कि वे क्या कर रहे हैं? इधर उनका व्यवहार कुछ अजीब बेढंगा हो गया है। मुझसे तो वे क़रीब क़रीब मिलते ही नहीं।

लेडी पार्वती—तुमने उससे कुछ पूछा नहीं?

मनोरमा—हाँ, हाँ, मैंने उनसे कहा था। लेकिन कहूँ किससे? वे तो विमला के पीछे बिलकुल पागल-सा हो गये हैं। मैंने सुना है कि उनका विमला के यहाँ बहुत आना-जाना रहता है और वे उसको अपने साथ लिये घूमा करते हैं। और विमला की प्रिंसिपली का मामला भी बहुत मशहूर हो गया है। मुझको इसमें कुछ करना पड़ेगा। मैंने विमला से कह दिया है कि उसको स्कूल छोड़ना पड़ेगा। ऐसी बदनाम अध्यापिका स्कूल में कभी नहीं रक्खी जा सकती।

लेडी पार्वती—उसने क्या जवाब दिया?

मनोरमा—वे मुझको धोखा देना चाहते हैं। मुझसे उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वे मुझको धोखा नहीं देना चाहते हैं। परन्तु यह बिलकुल सत्य है कि वे विमला से प्रेम करते हैं और विमला से विवाह करने का उन्होंने पूरी तौर से निश्चय कर लिया है। विमला ने भी उनसे विवाह करने का वादा कर लिया है। वे विमला को लेकर अलग रहेंगे, मुझसे कोई सम्बन्ध न रक्खेंगे।

लेडी पार्वती—मगर यह तो बिलकुल पागलपन की बात है। वह विमला से शादी नहीं कर सकता और न तुमको इस तरह छोड़ ही सकता है। क्या तुमने उससे यह नहीं कहा कि मैं तुमको ऐसा मूर्खतापूर्ण काम नहीं करने दूँगी।

मनोरमा—नहीं, मैंने नहीं कहा, न मैं कहूँगी। वे जो चाहें करें। अगर वे विमला से ख़ुश हैं और वे समझते हैं कि उनका भला विमला के साथ रहने में है तो वे रहें। मुझे भी अब उनके प्रति कुछ भी प्रेम नहीं है और न मैं उनसे कोई वास्ता रखना चाहती हूँ।

लेडी पार्वती—मगर यह तो ठीक बात नहीं है। यह तुम झूठ कह रही हो। यह बात बिलकुल असत्य है कि तुम्हारा उससे बिलकुल प्रेम नहीं है। तुम्हारा कर्तव्य तो यह है कि तुम अब उसको सीधे रास्ते पर लाओ। तुमको अपने घर और अपने नाम पर कलंक का टीका नहीं लगाना चाहिए।

मनोरमा—घर! मुझे नहीं मालूम कि इस शब्द का क्या अर्थ है। वे चाहे जिससे शादी करें, मैं उनका संग नहीं चाहती। मेरे जी में जो आयेगा, करूँगी। मुझको घर-बार की कोई परवा नहीं है।

लेडी पार्वती—यह मैं क्या सुन रही हूँ? तुम मनमाने ढंग से नहीं रह सकती हो। मर्द तो सब कुछ कर सकते

हैं। स्त्री का मुख्य कर्तव्य यही है कि वह धैर्य से सब कुछ सहन करे।

मनोरमा—यह आपका विचार है, पर मेरा ऐसा विचार नहीं है। क्या उनसे मेरी रक्षा हो सकती है? पति तो एक रक्षक होता है। मुझे रक्षक की कोई ज़रूरत नहीं। मुझे प्रेम की कोई ज़रूरत नहीं। दुनिया में बहुत से कार्य हैं, जिनको मैं कर सकती हूँ। इस मार्ग में बहुत दुःख और लाञ्छना है। मैंने निश्चय कर लिया है कि अब मैं अपना सारा जीवन अपने ग़रीब भाइयों की सेवा में लगाऊँगी।

लेडी पार्वती—नहीं, नहीं। हिन्दू-स्त्रियों का सबसे बड़ा धर्म पतिभक्ति है। अँगरेज़ी शिक्षा ने तुमको भ्रष्ट कर दिया है।

मनोरमा—आप क्या कह रही हैं? मैं एक पशु के समान मनुष्य से प्रेम नहीं कर सकती। मैंने उनमें कोई अच्छी बात नहीं देखी है। मुझे उनसे कोई सरोकार नहीं है।

लेडी पार्वती—उनके पास रुपया है।

मनोरमा—मगर रुपये को मैं तुच्छ समझती हूँ। देखिए, मुझे एक अच्छी नौकरी मिल गई है। मैं एक कालेज की प्रिंसिपल हो रही हूँ। इस पद पर काम करते समय मैं लड़कियों का चरित्र सुधारूँगी। यह बड़े महत्त्व का कार्य होगा।

लेडी पार्वती—देखो, तुम इस पद को कदापि न स्वीकार करना। तुम्हारा विचार भ्रमपूर्ण है। कुछ भी हो, आख़िर वह तुम्हारा पति ही है। और तुम्हारा कर्तव्य यह है कि इस अवसर पर तुम उसकी रक्षा करो।

मनोरमा—(गुस्से में) मैं यह सब कुछ नहीं करूँगी। उनका जो जी आये, करें। मुझको अपने बारे में ज़रा भी नहीं सोचना है। मुझको संसार में बहुत काम हैं। मैं अपने कामों से अपना जीवन भले प्रकार बिता सकती हूँ। (दरवाज़ा खुलता है) नौकर आकर कहता है कि रामावतार आये हैं।

मनोरमा—आओ राम जी भैया!

राम जी—मैंने सोचा कि मैं तुमसे मिल आऊँ।
(मनोरमा की ओर मुँह करके) मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।

मनोरमा—क्या बात है? किसके बारे में?

राम जी—हम लोगों की माता यहाँ हैं। माता के सामने बात न होगी।

लेडी पार्वती—मैं जानती हूँ, तुम उससे क्या कहना चाहते हो। मैं भी उससे वही कह रही थी। देखो तुम जानते हो कि हरप्रसाद विमला के लिए पागल हो रहा है। तुमको मालूम है कि इसमें मेरी भी कुछ ज़िम्मेदारी है। मैं विमला को जानती हूँ। मेरे ही द्वारा उससे उसकी मुलाक़ात हुई थी। पर मुझे अब विमला के बारे में कुछ भी नहीं मालूम है और न उसके बारे में जानना ही ज़रूरी है।

राम जी—नहीं, नहीं! तुमको सब बातें जाननी पड़ेंगी। इस तरीक़े से विवाह हर्गिज़ न होने पायेगा। ऐसी भयानक चीज़ कभी न होने पायेगी।

मनोरमा—कौन भयानक चीज़?

राम जी—विमला से विवाह!

मनोरमा—मुझे अब उनसे कोई सरोकार नहीं। वे जो चाहें कर सकते हैं। मेरा भी जीवन किसी न किसी तरह बीत ही जायगा।

राम जी—मुझे मालूम है। मुझे गर्व है कि तुम्हारा स्वभाव इतना अच्छा है। अपने पति के पतन को देखकर तुम्हारा दुखी होना स्वाभाविक है। परन्तु अपने स्वाभिमान के कारण तुम झुकना नहीं चाहती हो। इसी से सारी दिक़्क़तें हैं। तुम मेरी बहन हो। मैं इस घर का इस तरह मिट जाना नहीं देख सकता।

मनोरमा—घर! मेरा कोई घर नहीं है। मेरा घर था जब मैं अपने पति के संग रहती थी। देखिए, इस पत्र को देखिए। मुझको एक जगह कालेज में प्रिंसिपल का पद मिल गया है। मुझे उनकी अब कोई परवा नहीं है।

लेडी पार्वती—यह बिलकुल पागल हो गई है।

राम जी—(मनोरमा से) यह तुम झूठ कहती हो कि तुमको उनकी परवा नहीं है। तुमको उनकी परवा करनी पड़ेगी। तुमको वे जो भी कहें, सुनना पड़ेगा। मनोरमा! तुम अपने आपको दुर्बुद्धि के हवाले मत करो। हरप्रसाद बुरे आदमी नहीं हैं। उन्हीं में दोष नहीं हैं। दोष तो हममें भी हैं।

मनोरमा—(गुस्से में) मैं यह नहीं कहती कि मैं महात्मा हूँ। क्या कोई मेरे बारे में ऐसी बातें कह सकता है?

राम जी—अहंकार बहुत बुरी चीज़ होती है। तुममें अहंकार बहुत है। तुमने अपने अहंकार के कारण कभी कोशिश ही नहीं की कि तुम अपने पति को समझो या अपने पति के प्रति सहानुभूति ही प्रकट करो। माना हरी में कमज़ोरियाँ हैं। तुमको उन कमज़ोरियों के सुधारने की कोशिश करनी चाहिए।

मनोरमा—राम जी, मैं नहीं जान सकी कि वे पुण्य और पाप में फ़र्क़ समझते हैं! यह सच है, उन्होंने मुझे बुरी तरह कभी नहीं रक्खा है। जो कुछ माँगा, हमेशा दिया। लेकिन अब? अगर वे कहते हैं कि हम उससे प्रेम नहीं करते तो मैं उनसे घृणा करती हूँ। मुझे उनके ढंग से घृणा है, उनकी बातों से घृणा है, उनकी चालों से घृणा है, उनके आदर्शों से घृणा है।

राम जी—क्या तुम उनसे घृणा करती हो? क्या तुम तब भी घृणा करती थीं जब विवाह किया था। क्या तभी से उनसे घृणा करती हो? यह विवाह तो तुमने अपने आप किया है। तुम्हारी पसन्द से तुम्हारा यह विवाह हुआ है। वे पढ़े-लिखे हैं, होशियार हैं। हमेशा दूसरों की मदद करने के लिए तैयार रहते हैं। यह सब मामला विमला से तय हो सकता है, अगर तुम हमारी मदद करो।

मनोरमा—मगर मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि मैं अब नौकरी करूँगी। मुझे इसी में आनन्द मिलेगा। राम जी, तुम मुझे यह नौकरी कर लेने दो। मना न करो। अगर तुम मेरी बात भी सुनते।

लेडी पार्वती—क्या तुम विमला से नहीं कह सकते? क्या विमला को तुम नहीं समझा सकते?

राम जी—देखिए। जो हो सकेगा, करूँगा।

दृश्य २

(विमला का कमरा)

(वह अकेली बैठी हुई अपना शृङ्गार कर रही है। एक सिगरेट लेकर जलाती है। दरवाज़े का रिंग खुलता है। हरी का प्रवेश)।

विमला—एक मिनट बैठिए। मैं अभी आती हूँ।
(विमला आती है)

हरी—आज तो तुम बहुत अच्छी मालूम हो रही हो। चलो, खाना खाने चलें।

विमला—थोड़ी देर के बाद। ठहरिए। थोड़ी देर के बाद। मुझको तुमसे कुछ कहना है।

हरी—वह क्या है? क्या तुमने अपनी राय बदल तो नहीं दी। मैंने सब ठीक कर लिया है। हमारी शादी कल होगी।

विमला—मैं यह सब नहीं सोच रही थी। मेरे प्रिंसिपल ने मुझको आज बुलाया था। उन्होंने मेरे बारे में बड़ी बड़ी बातें सुनी हैं। जान पड़ता है, मुझे अपनी नौकरी छोड़नी होगी। मैंने उनसे कह दिया है कि मुझे कुछ परवा नहीं है। अगर वे चाहें तो मैं इस्तीफ़ा दे सकती हूँ। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम एक आदमी से प्रेम कर रही हो और वह आदमी विवाहित है। मैंने कहा कि आपको इन बातों के पूछने का कोई हक़ नहीं है। मैं अपने व्यक्तिगत मामले में स्वतन्त्र हूँ। जो जी में आयेगा, करूँगी। मैंने स्कूल का काम बहुत अच्छे तरीक़े से किया है। आपको इन बातों से कोई मतलब नहीं कि मैं किससे शादी करती हूँ। उन्होंने कहा कि मुझे क्या, अधिकारियों के जी में जो आयेगा करेंगे।

हरी—अच्छा तो तुम इसकी क्यों चिन्ता करती हो? जब हमारा विवाह हो जायगा तब मैं ख़ुद ही तुम्हें काम न करने दूँगा। देखो हमारी बरमूथ (एक प्रकार की शराब) कहाँ है?

विमला—मैं उसे लिये आती हूँ, मगर तुम बहुत पीते हो।

हरी—यह सब मत कहो। आज थोड़ी सी तुमको भी पीनी पड़ेगी। (विमला बरमूथ लाती है। हरी उसको देता है। वह एक छोटा प्याला भर पीती है।)

विमला—अच्छा तो मनोरमा ने क्या तय किया है? उसके सम्बन्ध में जो तुम कर रहे हो वह ठीक नहीं। तुम्हारे बिना वह जी नहीं सकती। मैंने सुना है कि आज वह घर छोड़ने जा रही है। उसको एक कालेज में प्रिंसिपली मिल गई है।

हरी—ज़रा इधर पास आओ—इस ज़िक्र को छोड़ो।
(हरी विमला के पास जाकर बैठ जाता है और उसका

चुम्बन और आलिंगन करता है। इतने में दरवाज़े पर एक धक्का लगता है। राम जी का प्रवेश)

हरी—हलो! आज बहुत दिनों के बाद मुलाक़ात हुई। आपसे मिलकर बहुत ख़ुशी हुई। क्यों? आज किस वास्ते तशरीफ़ लाये?

राम जी—तुमको मालूम होना चाहिए कि मैं क्यों आया हूँ। यह शादी नहीं होगी।

विमला—कौन कहता है, नहीं होगी? होगी और अवश्य होगी। हरी मुझको छोड़ नहीं सकता। वह इतना निकम्मा नहीं है कि अपने वचन से टल जाय।

राम जी—इसमें तुम्हारी कोई हानि न होगी। मैं तुम्हारे आदर्श पर लांछन नहीं लगाना चाहता। ज़रा सोचो, तुम क्या कर रही हो। तुम एक घर को तबाह कर रही हो।

विमला—क्या मेरे घर भी था। मैं जानती हूँ कि तुम क्या चाहते हो। क्या मैं बिलकुल भिखारिन बन जाऊँ? तुम मेरा अपमान करना चाहते हो। नौकरी भी चली गई और मेरे सुखों का तो सर्वनाश हो ही गया। अब विवाह के सिवा और कोई चारा नहीं।

हरी—राम जी, यह तुम क्या उलटी-सीधी बातें विमला से कर रहे हो? हम विमला से प्रेम करते हैं और हम अपना प्रेम-पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। मनोरमा का क्या हाल है? विवाह होना उसके लिए भी ज़रूरी है। तुम कदापि न चाहते होगे कि मैं एक कलंकी संतान पैदा करूँ।

राम जी—मैंने इन सब बातों पर विचार किया है। अब मैं अन्तिम निर्णय पर पहुँचा हूँ। यह सब कुछ न होने पायेगा। इन सब बातों की फ़िक्र तुम छोड़ दो! मैं सब ठीक कर लूँगा।

हरी—तुमको इन सब बातों से क्या मतलब है?

राम जी—इस वास्ते कि मनोरमा मेरी सौतेली बहन है और उसकी माता मेरी भी माता है।

हरी—हुआ करे। यह तो मुझे भी मालूम है। सभी को मालूम है। इससे क्या होता है? मैंने जो ठान लिया है उससे मैं हर्गिज़ न हटूँगा, न विमला ही हटेगी। यहाँ से तशरीफ़ ले जाइए।

राम जी—विमला! हरी नहीं समझता है। उसी ने तुमको हरी से मिलाया था। और तुम अब उसे मिट्टी मिलाना चाहती हो। मैं तुम्हारा शुभचिन्तक हूँ। नहीं चाहता कि तुम्हारी हानि हो। हरी इस समय पागल हो गया है। तुम भी पागलपने की बातें करती हो। जिस वक़्त तुम्हारा विवाह हो जायगा, उस वक़्त तुम लोगों का बिलकुल दूसरा विचार हो जायगा, तब तुम समझोगी। इसमें न सिर्फ़ मनोरमा की ख़राबी है, बल्कि तुम्हारी भी ख़राबी है। तुमने इतनी अधिक शिक्षा पाई है। क्या इसी पतन के वास्ते यह शिक्षा पाई थी?

विमला—(बड़े क्रोध में) मैं कुछ उत्तर नहीं दे सकती। उन्होंने मेरा सर्वनाश कर दिया है। मुझको अब विवाह के सिवा कोई चारा नहीं है। अगर मेरा विवाह नहीं होगा तो मैं लोगों को अपना मुँह भी नहीं दिखला सकूँगी।

राम जी—देखो, मैं अपनी माता का बुढ़ापा ख़राब नहीं करना चाहता। उन्होंने अपने जीवन में बहुत दुख झेला है। १६ वर्ष की उम्र में विधवा हो गई थीं। उसके बाद मेरे पिता से उनका पुनर्विवाह हुआ। इस तरह उन्होंने उनका साथ दिया, मगर उनका भी देहान्त हो गया। हम दो बच्चों के सिवा उनका दुनिया में कोई तीसरा नहीं है। उनकी वृत्ति धार्मिक रही है। उनका दिल बिलकुल टूट जायगा। अगर हरी का विवाह तुमसे हुआ तो उनका दिल बिलकुल टूट जायगा। उनका मनोरमा और तुमसे बड़ा घनिष्ठ प्रेम है और वे चाहती हैं कि दोनों एक बहुत अच्छे ढंग से ज़िन्दगी बितावें। हरी बिलकुल व्यर्थ की बातें बकता है।

विमला—अगर मनोरमा और हरी एक-दूसरे से प्रेम नहीं करते और उनका एक-दूसरे के प्रति प्रेम नहीं है तो मेरा और इनका दिल एक क्यों नहीं होने देते?

राम जी—सामाजिक रवाज का पालन करना हम सबका धर्म है। अगर वे एक-दूसरे से प्रसन्न नहीं हैं तो भी संसार के सम्मुख यह प्रकट करना है कि अतीव प्रसन्न हैं।

हरी—तुम यह क्या कह रहे हो? मैं विमला को अच्छी तरह जानता हूँ। वह मुझे कैसे छोड़ सकती है?

राम जी—देखो, रास्ता बिलकुल सीधा है। कोई कठिनाई नहीं है। मैं विमला से शादी करने को तैयार हूँ। तुम जानते हो कि मेरे पास काफ़ी ज़मींदारी है और विमला को मैं सुख से रख सकता हूँ। उसका लड़का मेरा लड़का होगा। इस तरह सब कलंक दूर हो सकता है।

हरी—क्या तुम विमला से शादी करना चाहते हो और ये सब बातें मेरे सामने कर रहे हो? मगर मेरा तो विमला से बड़ा प्रेम है।

राम जी—अगर तुम्हें प्रेम है तो तुम उससे प्रेम करो। मेरा इससे कोई मतलब नहीं है। मैं उसमें किसी प्रकार का आक्षेप नहीं करूँगा।

विमला—मगर यह तो एक बड़ा अधार्मिक हल है। मैं प्रेम करूँ हरी से और बीबी बनूँ तुम्हारी।

राम जी—हमारा यह हल एक धार्मिक यादगार है। इस निर्णय से किसी का घर तबाह नहीं होगा, तुम कलंक से बच जाओगी और तुम्हारी ज़िन्दगी भी तबाह नहीं हो सकेगी।

विमला—हरी, तुमने क्या इस बात को सोचा है?

(दो मिनट तक सब बिलकुल चुप हैं)

विमला—तुम मुझे संध्या तक समय दो। मैं इस प्रस्ताव पर विचार करूँगी।

हरी—इसमें सोचने की क्या बात है? तुम इस बात को मंज़ूर तो कर नहीं सकतीं।

विमला—नहीं, नहीं, मैं अभी उत्तर दूँगी। मैं एक घर चाहती हूँ। मैं एक परिवार चाहती हूँ।

राम जी—मैं परिवार देने के लिए तैयार हूँ! मैं पालन-पोषण करने के लिए तैयार हूँ।

विमला—राम जी, मैं शादी करके किसी की ज़िन्दगी तबाह नहीं कर सकती। रहा प्रेम, सो मैं प्रेम कर सकती हूँ और जिससे मैं चाहूँगी, उससे प्रेम करूँगी। हरी, तुम भ्रम में हो। मैंने तुमसे प्रेम नहीं किया है। यह न समझना कि अगर मैं तुमसे प्रेम करना छोड़ दूँगी तो मेरा दिल नहीं टूट जायगा। मगर मैं तुमसे प्रेम करना छोड़े देती हूँ। मैं तुमसे शादी नहीं कर सकती—हर्गिज़ नहीं कर सकती, यह मैंने निश्चय कर लिया है। राम जी से विवाह करना मैं स्वीकार करती हूँ।

(हरी ग़ुस्से में आकर कमरे से बाहर चला जाता है)

विमला—अब मैं तुम्हारी हूँ। मगर तुम मेरी कमज़ोरियों को जानते हो।

राम जी—मैं सब कुछ जानता हूँ। विवाह के बाद तुम क्या करोगी, यह तुम्हारे ऊपर निर्भर है।

विमला—मैं तुमसे सत्य कहती हूँ कि आज से मैं तुम्हारी होकर रहूँगी। मैं कोई ऐसा काम नहीं करूँगी जिससे मेरे ऊपर किसी तरह का कलङ्क लग सके। हरी से मैंने प्रेम किया है। अब वह प्रेम सिर्फ़ स्वप्न है। मैं उसको भूल गई। और भूल जाऊँगी।

(राम जी विमला के पास जाकर उसका चुम्बन करता है)

दृश्य ३

(मनोरमा का कमरा)

(लेडी पार्वती मोज़ा बुन रही हैं। राम जी कमरे में घुसता है)

मनोरमा—मैंने अपनी प्रिंसिपली का चार्ज ले लिया है।

राम जी—अच्छा! हरी और विमला की शादी नहीं हो रही है।

मनोरमा—क्यों? क्यों?

राम जी—विमला ने इनकार कर दिया है। मैं उससे शादी कर रहा हूँ। मेरी शादी कल होगी। मैं किसी को भी नहीं बुला रहा हूँ। माता और आप कल इस शादी में ज़रूर आइएगा।

मनोरमा—तुम ऐसी स्त्री से क्यों शादी कर रहे हो?

राम जी—भूल सबसे होती है। विमला से भी भूल हो सकती है।

लेडी पार्वती—मैं सब समझ गई। हम सबसे भूल होती है। किसने इस ज़िन्दगी में भूल नहीं की है? तुमने ठीक किया।

राम जी—मगर हरी से कहा है कि मैं तुम्हारा और हरी से मेल करवा दूँगा।

मनोरमा—मेल करवाओगे ऐसे आदमी से जो दूसरी स्त्रियों के पीछे पीछे दौड़ता है?

राम जी—ज़रा मुझे देखो। मैं कैसी स्त्री से शादी कर रहा हूँ? क्या तुम अपने स्वामी व अपने पति को क्षमा भी नहीं कर सकतीं?

मनोरमा—मगर मैं अपनी नौकरी नहीं छोड़ूँगी।

राम जी—नहीं। तुम अपना काम करो। क्यों छोड़ो? एक विवाहित स्त्री तो कोई काम नहीं करती है, मगर तुम काम भी कर सकती हो और अपने पति के साथ आराम से जीवन भी विता सकती हो।

दृश्य ४

(विमला का कमरा)

(हरी आता है)

हरी—तुमने मुझे छोड़ दिया!

विमला—यह तो बहुत अच्छा किया है। राम जी को मैंने जिस तरह पूजा है, उसी तरह उसने हमारे कुल की प्रतिष्ठा को क़ायम रक्खा है। तुमको मनुष्यता के कार्य करने चाहिए। तुम बड़े योग्य हो। तुम बड़े बड़े काम कर सकते हो। अब तुम बड़े बड़े काम कर सकोगे।

हरी—मगर क्या मैं तुम तक आ नहीं सकता और तुमसे मिल-जुल नहीं सकता।

विमला—मिल तो तुम हमेशा सकते हो। हमेशा तुम्हारा स्वागत है। मगर अब हमारी मित्रता दूसरे ढंग की होगी। इसमें विलास का कोई स्थान नहीं।

(दरवाज़ा खुलता है। राम जी का प्रवेश)

राम जी—सब ठीक हो गया है। कल हमारी शादी होगी। पार्वती और मनोरमा शादी में आवेंगी। हरी [illegible]को भी शादी में आना होगा।

हरी—अच्छा! पर मुझे कोई ख़ुशी नहीं है। यह [illegible]ने अच्छा समाधान किया।

राम जी—ख़ैर, तुम मेरे साथ चलो और मनोरमा वहाँ पे मेल कर लो।

हरी—मगर वह तो मुझसे बात भी नहीं करेगी।

राम जी—नहीं, वह करेगी। अगर तुम मुझसे यह प्रतिज्ञा करो कि तुम आगे उससे ठीक ठीक वर्ताव करोगे। अगर तुमसे उसका प्रेम रहा तो वह तुमसे प्रेम भी करेगी। तुम जानते हो, वह एक सीधी-सादी स्त्री है। आओ! चलो।

दृश्य ५

(मनोरमा का कमरा)

(हरी और राम जी का प्रवेश)

हरी—मनोरमा, मुझे क्षमा करो। मैं अपराधी हूँ। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। मनोरमा, पुरानी बातों की याद भूल जाओ। जो बीत[illegible] सो बीता। उसको जाने दो।

राम जी—बस, मेरे कार्य की इति हुई।

(राम जी कमरा छोड़ता है, हरी और मनोरमा एक दूसरे को देखते हैं)

(पर्दा गिरता है)

युवक से—

लेखक, पंडित रूपनारायण चतुर्वेदी

रे भावुक तेरी नव-उमंग है चल-सरिता की कल तरंग।

उत्तुंग श्रृंग कर चूर चूर।
मद-मोह-लोभ से दूर दूर।
उद्गार-नीर, उछ्वास-हास,
नव-भाव-कूल का भ्रू-विलास।
तेरी उमंग तेरे विचार
नूतन पवित्र शुभ निर्विकार।
कल्याण-कामना हृदय-बीच,
प्रेरित करती निज ओर खींच।

सद्भाव लोक-मंगल सुध्येय।
अनवरत प्रेम क्या गुप्त ज्ञेय।
नव-जीवन चेतन-कर्म-ज्ञान,
ध्रुव-धैर्य धर्म का सदा ध्यान।
तू है शुभेच्छु कल्याण-मूर्ति।
तुझमें विकास है नवल स्फूर्ति।
कर दे स्वदेश-गौरव-प्रदान।
हे धीर-वीर हे शक्तिमान!!
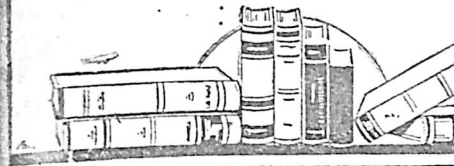
नई पुस्तकें

१-२—श्री राजेश्वरी-साहित्य-मंदिर, सूर्यपुरा, शाहाबाद, की दो पुस्तकें—

(१) गांधी-टोपी—लेखक, श्रीयुत राजा राधिकारमण-प्रसादसिंह, एम० ए० हैं। पृष्ठ-संख्या १४३, मूल्य १) है।

यह पुस्तक राजा साहब की कहानियों का संग्रह है। अधिकांश कहानियाँ परिणति के पूर्व विशृंखल हो गई हैं। परिणति के उपरान्त भी आगे बढ़ाना रुचिकर नहीं लगता। मुहावरे ठूँसने का अधिक प्रयत्न किया गया है, फलतः भाषा कुछ अस्वाभाविक हो गई है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से बिगड़े रईसों का चित्रण सफल हुआ है, ग़रीब पात्रों का असफल। 'दरिद्रनारायण' और 'गांधी-टोपी' साधारणतः अच्छी कहानियाँ हैं। पात्रों की वाचालता कथानक के विकास में बुरी तरह बाधक हुई है।

(२) सावनी समाँ—लेखक, श्रीयुत राजा राधिका-रमणप्रसादसिंह, एम० ए० हैं। पृष्ठ-संख्या १९३ और मूल्य ३) है। छपाई-सफ़ाई व गेट-अप सुन्दर है।

सावनी समाँ लखनौआ ज़िन्दगी बसर करनेवालों का [illegible] चित्र है। बाप की रोटी और माँ ये दो कहानियाँ [illegible] से मिला दी गई हैं, जो काफ़ी दिलचस्प हैं, शौक़ीन मिज़ाज पाठक इन्हें ख़ूब पसन्द करेंगे।

३-४—रामविलास पोद्दार स्मारक-ग्रंथमाला की दो पुस्तकें—

(३-४) संस्कृत-साहित्य का इतिहास, प्रथम व द्वितीय भाग—लेखक, श्रीयुत सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, प्रकाशक, रामविलास पोद्दार स्मारक-ग्रन्थमाला-समिति, नवलगढ़ हैं। मूल्य प्रत्येक भाग का १।) है। छपाई-सफ़ाई उत्तम है। पुस्तकें सजिल्द हैं।

इस पुस्तक से लेखक महोदय के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी गंभीर अध्ययन का प्रमाण मिलता है। इसे हम 'संस्कृत-साहित्य की भूमिका' कह सकते हैं, इतिहास नहीं। सम्भव है, इसके आगामी भाग इतिहास नाम को सार्थक कर सकें। लेखक महोदय ने संस्कृत के कवियों के वर्गीकरण का भी प्रयत्न किया है। वाल्मीकि के काल-निर्णय में उन्होंने समस्त पौरस्त्य व पाश्चात्य विद्वान् ऐतिहासिकों के मतों का निराकरण सफलतापूर्वक किया है, पर अपना कोई मत नहीं दिया है! आख़िर वाल्मीकि जी को कब का माना जाय? प्रूफ़-सम्बन्धी भूलें खटकती हैं। संस्कृत-साहित्य के प्रेमियों के लिए पुस्तकें संग्रहणीय हैं।

५—श्री हिमांशुविजय जी ना लेखो—संपादक, श्रीयुत मुनि विद्याविजय जी, प्रकाशक, श्रीयुत दीपचंद खांडीया, मंत्री श्री विजयधर्म सूरि-ग्रन्थमाला, छोटा सराफ़ा, उज्जैन हैं। पुस्तक सजिल्द है। पृष्ठ-संख्या ५६८ है। मूल्य १।।) है। छपाई-सफ़ाई उत्कृष्ट है।

इसमें जैन विद्वान् श्री हिमांशुविजय जी के विभिन्न विषयों पर हिन्दी व गुजराती में लिखे गये लेखों का संग्रह है। पुस्तक जैन भाइयों के बड़े काम की है।

६—संगीतांजलि—लेखक व प्रकाशक, श्रीयुत पंडित ओमकारनाथ गौरीशंकर ठाकुर, खेतवाड़ी मेनरोड, बम्बई नं० ४, हैं। पृष्ठ-संख्या १०७ है और मूल्य १।) है। छपाई-सफ़ाई अच्छी है।

इसमें समस्त प्रसिद्ध राग-रागिनियों की स्वरलिपियाँ दी गई हैं। पुस्तक संगीत-प्रेमियों के लिए उपयोगी है।

७-९—पुस्तक-भंडार लहेरिया सराय की तीन पुस्तकें—

(१) लेख-मणि-माला (प्रथम खंड)—लेखक, पंडित अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द' हैं। पृष्ठ-संख्या १४४ और मूल्य १) है। छपाई-सफ़ाई साधारण है। यह वयोवृद्ध 'मिश्र' जी के साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। अन्त में कुछ रोचक कवितायें भी दी गई हैं, जो आपने 'विप्रचन्द' नाम से व्रजभाषा में रची थीं। साहित्य के विद्यार्थी इससे लाभ उठा सकते हैं। निबन्ध नये युग के आरम्भकालीन हैं।

(२) अ।वारे की योरप-यात्रा—लेखक श्रीयुत डाक्टर सत्यनारायण, पी० एच० डी० हैं। (सजिल्द व

सचित्र)। मूल्य २।) है। पृष्ठ-संख्या ३४६ है। छपाई व सफ़ाई अच्छी है। पुस्तक का विषय नाम से स्पष्ट है। शैली अत्यन्त रोचक वा आकर्षक है। चित्रों के प्राचुर्य ने इसमें चार चाँद जोड़ दिये हैं।

(३) लोक-सेवक महेन्द्रप्रसाद—लेखक, श्रीयुत साँवलिया बिहारीलाल वर्मा, एम० ए० हैं। मूल्य १॥) है। पृष्ठ-संख्या १३४ है। यह देशरत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी के ज्येष्ठ भ्राता श्रीयुत महेन्द्रप्रसाद जी की जीवनी है। इसमें उक्त स्वर्गीय महानुभाव की देश-सेवाओं का सविस्तर वर्णन है। यथावश्यक चित्र भी दिये गये हैं। नवयुवकों व धनीमानियों को यह पुस्तक पथ-प्रदर्शन का सकती है।

१०—समाधि-दीप—रचयिता, श्रीयुत चन्द्रप्रकाश वर्मा "चन्द्र", प्रकाशक, प्रमोद-पुस्तकमाला, कटरा, प्रयाग हैं। पृष्ठ-संख्या ११२ और मूल्य १) है।

यह नई लहर-व-बहर में हिन्दी छन्दों में लिखा हुआ मरसिया है। हिन्दू प्रेमी अपनी प्रेयसी के मज़ार पर दीप व फूल चढ़ाते हैं, यह एक नई व अनोखी उपज है। कविता में सच्चा कविहृदय बिखरा पड़ा है। भाषा में नैसर्गिक व स्वच्छन्द प्रवाह है। प्रसादगुण भी भरपूर है, जो इस ढंग की पुस्तकों की जद्दी जायदाद है। मनचले लोगों के गुनगुनाने के लिए पुस्तक में काफ़ी अच्छा मसाला है।

११—आशा—(कहानियों का संग्रह)—लेखक, श्रीयुत करुण, प्रकाशक, सरस-साहित्य-सदन, प्रयाग हैं। मूल्य ॥) और पृष्ठ-संख्या १३६ है।

इसमें कुल १० कहानियाँ हैं, जिनमें से 'उसका प्यार' और 'आन' अच्छी हैं, शेष साधारण। भाषा में सफ़ाई की काफ़ी गुंजायश है।

१२—दिमाग़ी गुलामी—लेखक, श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक, श्रीयुत रामनाथ त्रिवेदी, हिन्दी कुटिया, पटना हैं। मूल्य अनिर्दिष्ट और पृष्ठ-संख्या ९५ है।

हमारे देश में रूढ़िवाद के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन चल रहा है। लेखक महोदय ने उसके नेता की हैसियत से अपने तद्विषयक विचार बड़ी निर्भीकता, युक्तिमत्ता और अधिकार-पूर्वक इस पुस्तक में १० विभिन्न निबन्धों-द्वारा प्रदर्शित किये हैं। दृष्टिकोण सर्वथा क्रान्तिकारी तथा साम्यवादी है। पुस्तक नवयुवकों में क्रांति और जीवन उत्पन्न करनेवाली है। पर कहीं कहीं शैली आवश्यकता से अधिक तीखी हो गई है, जिसकी आशा इतने बड़े गम्भीर लेखक से नहीं थी। हम जानते हैं कि किसी को 'बेवक़ूफ़' कहना गाली है, पर उसमें बेवक़ूफ़ी बतलाना, वही अर्थ रखने पर भी, पार्लियामेंटरी भाषा में उचित माना जाता है। फिर शालीनता का भी कोई मूल्य अवश्य होता है।

१३—चुने हुए फूल—प्रकाशक, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मदरास है। मूल्य ॥) और पृष्ठ-संख्या १०३ है।

यह हिन्दी के प्रख्यात कवियों की सुन्दर रचनाओं का संग्रह है। पुस्तक अपने उद्देश के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

१४—यौवन-तरंग—प्रणेता, श्रीयुत महावीरप्रसाद दाधीच, बी० ए०, एल-एल० बी०, प्रकाशक श्रीयुत महावीरप्रसाद दाधीच, राउण्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड, बम्बई नं० २ हैं। मूल्य पाँच आने और पृष्ठ-संख्या ४० है।

यौवन, सौन्दर्य और 'रोमांस' ही जिनके जीवन के ध्येय हैं वे इसे अनोखा साथी समझेंगे। जवानी के नशे में संसार कैसा दिखाई देता है, यही पुस्तक का वर्ण्य विषय है। इस दृष्टि से एक रुचि-विशेष के रसिकों के लिए यह पुस्तक आदर पायेगी, इसमें सन्देह नहीं।

× × ×

१५—श्री व्यासगीता—लेखक, श्रीयुत रघुवीरसहाय चित्रशी, प्रकाशक, साहित्य-प्रकाशक मंडल, भारती विद्यालय, नयागञ्ज, कानपुर हैं। मूल्य ॥=) है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक महोदय ने श्रीमद् भगवद्गीता की दार्शनिक गुत्थियाँ सुलझाने का मनोविज्ञान-सम्मत प्रयत्न किया है। सफलता-असफलता का निर्णय तो रुचि-वैचित्र्य पर निर्भर है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने गीता के अध्ययन के लिए एक नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण सामने रक्खा है।

इस दृष्टि से पुस्तक उपयोगी और पठनीय है।

१६—चीन का स्वाधीनता-युद्ध—लेखक, श्री श्रीकृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार, प्रकाशक, विजय-पुस्तक-भण्डार, अर्जुन प्रेस, देहली हैं। मूल्य १) है। पृष्ठ-संख्या २१२ है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक महोदय ने १७९२ से १९[illegible] तक चीन की राजनैतिक परिस्थिति पर संक्षेप में विचार किया है। चीन की अवस्था भारतवर्ष से बहुत अच्छी नहीं परन्तु एक बात जो चीनवालों में विशेष है वह है उनका अदम्य उत्साह और साहस।

उन्होंने चीन-वासियों के अनेक प्रयत्नों का, उनके उत्साह और साहस का एक सुन्दर और संक्षिप्त चित्र इसमें खींचा है। भाषा सरल और साहित्यिक है।

—श्रीकृष्ण एम० ए०

१७—प्रयास—इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में केवल समस्या-पूर्तियाँ-सी हैं, उत्तरार्द्ध की रचनायें कुछ अच्छी हैं। संस्कृत-शब्दों के ठूँसने का अत्यधिक प्रयास किया गया है।

"नवजात शिशु की मृत्यु पर" की कविता तथा "भेंट" की कविता सुन्दर हैं। "फूल" शीर्षक कविता की अधोलिखित पंक्तियाँ सुन्दर तथा स्वाभाविक हैं—

"जग क्षणभंगुर स्वार्थपूर्ण है, इसको तुम जाना मत भूल।
तुहिन-कणों से भरकर आँखें कवि से कहता बिखरा फूल॥"

नवजात शिशु की मृत्यु पर कवि अपने विचारों को प्रकट करते समय लिखता है—

"मृत्यु-वायु स्नेह दीप की नहीं बुझा सकती है।
तीर सदृश जाते जीवन को सरस बना सकती है।"

श्री दिनेशनारायण उपाध्याय "विशारद"

१८—रक्त-रंजित स्पेन—लेखक, श्रीयुत शिवदानसिंह चौहान, बी० ए०, प्रकाशक, लक्ष्मी आर्ट प्रेस, दारागंज, प्रयाग हैं। भूमिका-लेखक—पं० जवाहरलाल नेहरू। पृष्ठ-संख्या १४८ और मूल्य १) है।

लेखक महोदय ने इस छोटी सी पुस्तक में स्पेन के गृह-युद्ध, उसके ऐतिहासिक आधार और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर विचार किया है। स्पेन में जो आज़ादी की लड़ाई चल रही है उसमें इटली के फ़ासिस्ट-समुदाय और जर्मनी के नाज़ीदल की हस्तक्षेप-नीति तथा ब्रिटेन की उदासीन-नीति जिस स्वार्थ-भावना से प्रेरित हैं उनका विचार उन्होंने सुलझे ढंग से किया है। इस पुस्तक के पढ़ने से अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

पुस्तक अँगरेज़ी ढंग से लिखी गई है। भाषा सरल है, परन्तु कहीं कहीं वाक्यरचना विदेशी ढंग की हो गई है। उदाहरण के लिए—"एक बेजोड़ पृष्ठ खोला" (Opened an Incomparable Page) का छायानुवाद है।

१९—जन्म-पत्री—लेखक तथा प्रकाशक बद्रिकाश्रम-निवासी, मेमियो-बर्मा-प्रवासी पंडित केशवानन्द शर्मा 'जदली', जदला-लैन्सडोन-गढ़वाल। मूल्य १॥), पृष्ठ-संख्या १०८ है।

आज-कल जीवन को सरल बनाने का अत्यधिक प्रयत्न किया जा रहा है। प्रस्तुत पुस्तक भी कुछ उसी तरह की है। इसमें जन्मपत्री के लिए चक्र, कोष्ठक इत्यादि बना दिये गये हैं। पंडितों के थोड़े से अंक या फल बनाकर लिखने भर से सुन्दर व पूर्ण जन्मपत्र बन सकता है।

पुस्तक की छपाई-सफ़ाई सुन्दर है। परन्तु इसमें एक कमी भी है। फल, सूचना इत्यादि सभी संस्कृत में ही दिये गये हैं। यदि लेखक महोदय ने उनका अनुवाद हिन्दी में भी कर दिया होता तो साधारण पंडितों को भी लाभ पहुँच सकता था।

२०—मा—लेखक, श्रीयुत धन्यकुमार जैन—और श्री सन्मति पुस्तकालय (प्रचार-विभाग) २, बाँसतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता हैं। पृष्ठ-संख्या ३९ और मूल्य =) है।

प्रस्तुत पुस्तक रवीन्द्र बाबू के 'विसर्जन' नामक नाटक के आधार पर लिखी गई है। पात्रों का नाम इस प्रकार परिवर्तित किया गया है कि सम्पूर्ण नाटिका एक आध्यात्मिक रूपक के रूप में आ गई है, जिससे इसका सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है।

पुस्तक की छपाई, सफ़ाई और गेट-अप सुन्दर और आकर्षक है।

२१—कुशलांजलि—लेखक, राजा बहादुर श्रीयुत कुशलपालसिंह, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० एल० ए० हैं। मुद्रक—श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी-मन्दिर प्रेस, इलाहाबाद हैं। पृष्ठ-संख्या ७८ और मूल्य चार आना है।

प्रस्तुत पुस्तक राजा बहादुर कुशलपालसिंह-द्वारा रचित छन्दों का संग्रह है। कविता के विषय हैं गीता, भक्ति, अंतकाल, वैराग्य, असारता, फुटकर और ज़मींदार। इस पुस्तक को कविता की दृष्टि से देखना ही नहीं चाहिए, यह तो राजा साहब की साहित्याभिरुचि का आदर्शमात्र है।

राजा साहब ने अपनी 'अटपटी, प्रेम-लपेटी' बानी में जो कुछ लिखा है उसमें उनकी भक्ति और ईश्वर-प्रेम छलका पड़ता है। यह दूसरी बात है कि उनमें कवित्व

और पिंगल ज्ञान का एकान्त अभाव है। छपाई-सफ़ाई साधारणतः अच्छी है।

'ज़मींदार' शीर्षक रचना में 'ज़मींदार वर्ग की सामयिक परेशानी का अच्छा चित्रण है। इस परेशानी का हक़ भी ज़मींदारों के दृष्टिकोण से देने का प्रयास किया गया है।

—विश्वनाथ रावत, एम० एस-सी०

२२—मीरा की प्रेम-साधना—लेखक, श्रीयुत भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', एम० ए०, प्रकाशक वाणी-मंदिर, छपरा हैं। मूल-पुस्तक की पृष्ठ-संख्या १०५ है। आरंभ में आचार्य ध्रुव-लिखित परिचय और पंडित रामचन्द्र शुक्ल-लिखित प्रस्तावना है। मूल्य १।।) है। छपाई, सफ़ाई और गेट-अप सुन्दर है।

विषय का प्रतिपादन भावुकता-पूर्ण भाषा में किया गया है। लेखक महोदय के भक्त और भावुक हृदय से निकले हुए उद्गारों में गद्य-काव्य का आनंद आता है। ऐसी दशा में इस पुस्तक में मीरा की प्रेम-साधना के गम्भीर वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक विवेचन की आशा नहीं की जा सकती। लेखक महोदय मीरा के काव्य अथवा भक्ति के विषय में कोई नवीन दृष्टिकोण भी नहीं उपस्थित करते। मीरा के गीतों का भी कोई विशेष उपयोग उन्होंने अपने विषय के प्रतिपादन में नहीं किया। कदाचित् इसी लिए उन्होंने गीतों का आनन्द अलग से लेने के लिए पुस्तक के अंत में उनका संकलन कर दिया है।

आरंभ के ३५ पृष्ठों में श्रीकृष्ण-भक्ति के विषय में कुछ कथन है, जिसमें किंचित् ऐतिहासिकता, किंचित् दार्शनिकता लिये हुए भावुकता-पूर्ण शैली में प्रेम-तत्त्व का निरूपण है। इसमें कुछ खटकनेवाली बातें भी हैं। जैसे, 'रामानुज के शिष्य स्वामी रामानंद जी ने श्री सीताराम की उपासना निरूपित कर महामंत्र 'रामनाम' को प्रतिष्ठापित किया।' तथा 'दास्य-भाव के उपासक गोस्वामी जी तक ने भी 'कामिहि नारि पियारि जिमि' की भावना में ही हृदय को तृप्त होने का आदर्श स्वीकार किया है। यहाँ 'नारि' में परकीया का ही बोध होता है जिसमें रति की चरम अभिव्यक्ति होती है।' इसके आगे हम समझ सकते हैं कि 'दाम' के 'लोभ' में ही हृदय की तल्लीनता का आदर्श गोस्वामी जी जैसे मर्यादावादी को स्वीकृत था और वह दाम भी दूसरे का होना चाहिए, जिसमें लोभ की पूर्णता परिलक्षित होती है। 'रास और चीर-हरण का रहस्य' शीर्षक अध्याय में मीरा के एक भी तद्विषयक गीत का न होना उसे व्यर्थ-सा बना देता है। 'मीरा के कुल-संस्कार एवं परिस्थिति' के विवरण में लेखक महोदय ने मीरा के गोस्वामी तुलसीदास जी से पत्र-विनिमयवाली जनश्रुति को भी सम्मिलित कर लिया है। प्रेम-परिप्लावित भक्त-हृदय इसका लोभ संवरण भी कैसे कर सकता था? 'प्रेम-साधना' के निरूपण में उन्होंने हिन्दी और अँगरेज़ी के समान भाववाले उद्धरण देकर उसकी रोचकता बढ़ा दी है।

सब मिलाकर पुस्तक साधारण प्रेम-पंथी रसिकों और भावुक भक्तों के मनोरंजन के लिए अच्छी सामग्री उपस्थित करती है। लेखक महोदय की शैली रोचक है। आचार्य ध्रुव ने 'प्रस्तावना' में भक्ति का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। भक्ति-काल के अंतर्गत मीरा के स्थान का संक्षिप्त ऐतिहासिक विवेचन देकर शुक्ल जी ने 'परिचय' में पुस्तक की एक भारी कमी को कुछ हद तक पूरा कर दिया है।

—व्रजेश्वर, बी० ए०

२३—प्रेमचंद की उपन्यास-कला—लेखक, श्रीयुत जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', प्रकाशक, वाणी-मन्दिर, छपरा हैं। १८६ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य १।।) है। छपाई, सफ़ाई और गेट-अप सुन्दर है।

पुस्तक सन् १९३३ के दिसम्बर में निकली थी, अतः इसमें प्रेमचंद जी के सेवा-सदन, वरदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा, ग़बन, कर्मभूमि और निर्मला आदि उपन्यासों का ही विश्लेषणात्मक अध्ययन है। 'विषय-प्रवेश' में हिन्दी के कथा-साहित्य के विकास-क्रम की संक्षिप्त रूप-रेखा के साथ प्रेमचंद जी के उपर्युक्त उपन्यासों का थोड़ा-सा परिचय दिया गया है। उपन्यास-कला के विवेचन को लेखक महोदय ने जिन शीर्षकों में बाँटा है वे ये हैं—वस्तु विन्यास, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन का प्रयोग, देश-काल का प्रतिबिंब, भाषा-शैली और भावव्यंजना तथा उद्देश्य-पालन। इस विषय-विभाजन से स्पष्ट है कि उन्होंने प्रेमचंद की उपन्यास-कला का शास्त्रीय ढंग से विश्लेषणात्मक अध्ययन उपस्थित करने का यत्न किया है और हम कह सकते हैं कि वे अपने उद्देश्य में सफल भी हुए हैं। उपसंहार में हिन्दी तथा

कुछ अन्य भाषा के औपन्यासिकों से प्रेमचंद की संक्षिप्त तुलना की गई है।

कथा-साहित्य के उद्भव और हिन्दी में उसके विकास का विवरण इस पुस्तक का विषय नहीं हो सकता और लेखक महोदय ने इस विषय में संक्षेप से काम लेकर ठीक ही किया है। परन्तु जहाँ उन्होंने प्रेमचंद के विभिन्न उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय दिया है, हम उनसे अधिक विस्तार की आशा कर सकते थे। उन्होंने प्रेमचंद जी की कला के विकास-क्रम का कुछ संकेत अवश्य किया है, पर वह बहुत ही अपर्याप्त है। इसका एक कारण तो यह है कि उन्होंने प्रेमचंद जी की उर्दू की कृतियों तथा उनकी हिन्दी की कहानियों से सहायता नहीं ली। यह ठीक है कि यहाँ उन्हें केवल उपन्यास-कला का विवेचन अभीष्ट था, अतः कहानी-रचना का विस्तृत विवरण नहीं दिया जा सकता था। परन्तु उपन्यास और कहानी दोनों कथा हैं; दोनों में तात्त्विक भेद नहीं किया जा सकता। अतः जब हम किसी उपन्यासकार के कथा कहने के विकास-क्रम का विवेचन करते हैं तो हम उसके उपन्यास और कहानियों में कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींच सकते। दोनों का मूलाधार एक ही प्रकार की प्रकृति है और कथा-कार की कला का विकास दोनों को साथ लेकर चलता है। दूसरे, लेखक महोदय ने प्रेमचंद जी के व्यक्तिगत जीवन से उनके कथा-कार का कोई सम्बन्ध नहीं दिखाया। कला मानव-जीवन की अभिव्यक्ति है। कवि, गायक, चित्रकार, औपन्यासिक सभी अपने-अपने माध्यम-द्वारा अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन करते हैं। आलोचक जब उनकी कृतियों का अध्ययन करता है तब उसका कर्त्तव्य केवल इतना ही नहीं होता कि वह अपने सम्मुख उपस्थित की गई कला की कृति का विश्लेषण भर कर दे, वरन उसे यह भी देखना पड़ता है कि कलाकार के व्यक्तित्व में कला के उद्गम का स्रोत कहाँ है। ऐसे भी कलाकार हो सकते हैं जो अपने व्यक्तित्व की छाया भी अपनी कला की कृतियों में न पड़ने दें। परन्तु सूक्ष्मदर्शी आलोचक हमें बताने का यत्न करता है कि उन कृतियों में भी कलाकार का व्यक्तित्व कहाँ बोल रहा है, चाहे उनकी भाषा कितनी भी प्रच्छन्न क्यों न हो। प्रेमचंद ऐसे कहानी-कार नहीं हैं जो अतीत की कोई कहानी कहने बैठे हों या जो किसी दूर देश का सन्देश सुनाने आये हों। लेखक महोदय के ही शब्दों में उनकी कथा-सामग्री उनके चारों ओर बिखरी पड़ी है और कल जिस घटना को वे किसी समाचार-पत्र में पढ़ चुके हैं उसे आज वे कथा का रूप देने लगते हैं। ऐसी दशा में आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह प्रेमचंद की कहानी-कला का विकास दिखाते हुए यह भी दिखाने का प्रयत्न करे कि उनका कहानी-कार उनके व्यक्तित्व में कहाँ छिपा है और बाह्य जीवन की परिस्थितियों का उसके विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके लिए उसे न केवल कहानी-कार की कृतियों का ही विवेचन आवश्यक है, वरन उसके जीवन का सूक्ष्म अध्ययन भी।

वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और शैली के विषय में हमें कुछ विशेष नहीं कहना है। ये अध्याय लेखक महोदय के गम्भीर अध्ययन, मननशीलता और विश्लेषण-शक्ति के परिचायक हैं। प्रेमचंद के विभिन्न रुचिवाले पाठकों का लेखक के दृष्टिकोण से कहीं भले ही मतभेद हो, पर उनकी विवेचना के व्यापक सिद्धान्तों से सभी सहमत होंगे। चरित्र-चित्रण के सिलसिले में एक बात कह देना आवश्यक है। कथा-कार की कला के विकास का प्रधान आधार उसके द्वारा खड़े किये हुए चरित्र होते हैं। अतः जहाँ हम आलोचक के लिए चरित्रों का व्यक्तिगत विश्लेषण आवश्यक समझते हैं, वहाँ उससे यह भी आशा करते हैं कि वह हमें बताये कि चरित्रों के विकास में कथा-कार कहाँ तक पहुँच सका है। विशेषकर प्रेमचंद जैसे कलाकारों की कृतियों में जिन्हें हम आदर्शवादी कहते हैं ऐसे विकास की सम्भावना सबसे अधिक है। असाधारण वर्ग के उन पात्रों के चरित्र में, जिन्हें लेखक महोदय ने अत्यन्त उच्च कहा है, यह देखना चाहिए था कि वे जिन उपकरणों से बने हैं उनमें कहाँ तक समानता और कितनी विषमता है तथा उनमें कोई विकास-क्रम दिखाई देता है या नहीं। प्रेमशङ्कर, विनय, सूरदास, चक्रधर इत्यादि में यदि कोई विकास-क्रम नहीं है तो उनमें से कौन प्रेमचंद के उच्चातिउच्च आदर्शों की कसौटी पर उतरता है और यदि उसके बाद भी उन्होंने उसी वर्ग के चरित्र की अवतारणा की है तो वे उसे उठाने में सफल क्यों नहीं हो सके। कहने का तात्पर्य यह कि चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विकास का कथा-

कार के मानसिक विकास से सम्बन्ध दिखाना आलोचना-त्मक अध्ययन के लिए आवश्यक है।

'उद्देश्य पालन' शीर्षक अध्याय में लेखक महोदय ने प्रेमचंद की जीवन-समीक्षा का विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"सच पूछिए तो सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना ही इनकी जीवन-समीक्षा का आधार बन जाता है। उससे अलग हटकर ये जीवन की जाँच-पड़ताल कर ही नहीं सकते।" जब यह बात है तब हम उनसे आशा करते हैं कि वे हमें बतायें कि प्रेमचंद के जीवन-सिद्धान्त क्या हैं। उन्होंने केवल इतना कहकर सन्तोष किया है कि प्रेमचंद सत्य और आदर्श का सुन्दर कलात्मक सम्मिश्रण करके नीति-शिक्षा का प्रतिपादन करते हैं! प्रश्न यह है कि प्रेमचंद केवल नीति की उन पुरानी बातों को ही दुहराकर अपने कर्तव्य की इति-श्री समझ लेते हैं जिन्हें महापुरुषों ने समय-समय पर प्रतिपादित किया है अथवा उनकी अपनी कोई जीवन की फ़िलॉसफ़ी भी है! प्रेमचंद जैसे उपन्यासकार के विषय में इस प्रश्न पर प्रकाश न डालना वास्तव में बड़े आश्चर्य की बात है। मानव-जीवन और समाज के लिए उनका क्या संदेश है, यही तो उनके अध्ययन का सबसे प्रधान विषय होना चाहिए था, क्योंकि स्वयं लेखक महोदय के शब्दों में प्रेमचंद की कला सोद्देश्य है और वह उद्देश्य जीवन के लिए है, क्योंकि उनकी कला जीवन से ही प्रेरित होकर प्रकट हुई है। 'प्रेमचंद ने स्वर्ग भी बनाये हैं और नरक भी', केवल इतना कह देने भर से काम नहीं चल सकता। पृथ्वी पर स्वर्ग की अवतारणा करना उनका उद्देश है, अतः हम जानना चाहेंगे कि उनके स्वर्ग का रूप क्या है और उसका मूल्य एवं उपादेयता क्या है।

यही बात प्रेमचंद की तुलना में हिंदी के अन्य औपन्यासिकों से करते हुए लेखक महोदय ने दृष्टिगत नहीं रक्खी। उन्होंने केवल इतना लिखा है—"हमारे नये कलाकार अब जीवन का अनुभव नये ढंग से कर रहे हैं, उनकी जीवन-समीक्षा की प्रणाली भी नई बनती जा रही है और उसका अब एक ही विषय मुख्य रह गया है—'हृदय'।" हम नहीं समझते कि जीवन-समीक्षा की प्रणाली में 'हृदय' की प्रधानता ने प्रेमचंद की कला का ही आगे विकास किया है या प्रेमचंद की कला इस नवीन 'हृदय'-प्रधान कला के आगे कुंठित हो गई है! गंभीर दृष्टि से देखने पर हम प्रेमचंद की कला और अपने नवीन कथाकारों की कला में जो अंतर देखते हैं वह केवल 'हृदय' शब्द से व्यंजित नहीं हो सकता। उन्होंने हिंदी के कथाकारों से प्रेमचंद की तुलना बहुत संक्षेप रूप में की है। प्रेमचंद की कला की मुख्य विशेषतायें दिखाते हुए नवीन कथा की विशेषताओं से उसकी तुलना आवश्यक थी। इसके साथ ही हम यह भी आशा कर सकते हैं कि वे प्रेमचंद की कला की भावी संभावनाओं का भी कुछ आभास दे सकें।

अहिंदी और कतिपय विदेशी उपन्यासकारों से भी प्रेमचंद की तुलना की गई है। 'हार्डी' के साथ तुलना करते हुए लेखक महोदय ने दोनों के प्राकृतिक चित्रणों के अंतर तथा निराशावाद और आदर्शवाद की विभिन्नता का ही ज़िक्र करके छोड़ दिया है। इस संबंध में एक बात और ध्यान में रखनी आवश्यक थी। हार्डी ने अपने प्रायः सभी उपन्यासों में ग्रामीणों के सीधे-सादे जीवन में नवाविष्कृत मशीनरी के बढ़ते हुए प्रयोग-द्वारा होनेवाले विघ्न और विश्रृंखलता को भी अपने पात्रों के दुःखान्त जीवन का प्रधान कारण दिखाया है। प्रेमचंद जी भी ऐसे युग में हुए हैं जब हमारे जीवन में न केवल भौतिक कारणों से, बरन सांस्कृतिक प्रभावों से भी एक नवीन परिवर्तन, एक नई क्रांति फैल रही है। इस नवीनता के प्रति प्रेमचंद और हार्डी के दृष्टिकोण भिन्न भिन्न हैं। लेखक महोदय की तुलना अधूरी है। इसी प्रकार गाल्सवर्दी और प्रेमचद की कला में भी जो मूल अंतर है उस तक लेखक महोदय ने पहुँचने का प्रयत्न ही नहीं किया। दोनों के सामने सामाजिक समस्यायें अपने विविध रूप में आती हैं। प्रेमचंद में एक विशेष बात हम यह देखते हैं कि वे समस्याओं का हल भी हमें सुझा देते हैं। गाल्सवर्दी समस्या की जटिलता खड़ी करके पाठक को अकेला छोड़ देता है। प्रेमचंद की तुलना कुछ और विदेशी औपन्यासिकों से सफलतापूर्वक की जा सकती थी जो प्रेमचंद की कला के अधिक निकट हैं। टाल्स्टॉय और डिकेंस इनमें मुख्य हैं।

अपने निर्धारित क्षेत्र में पुस्तक उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण है। साधारण पाठकों तथा परीक्षार्थियों दोनों के काम की है। आलोचना के विशुद्ध दृष्टिकोण के लिए हम लेखक को बधाई देते हैं।

कुछ इधर उधर की
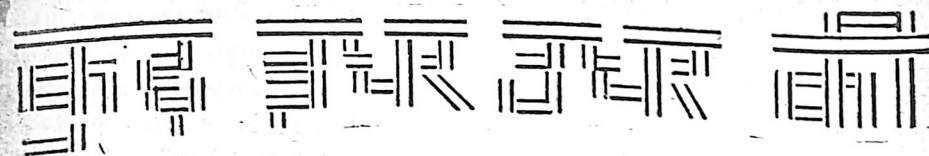
कामरेड एम० एन० राय

"बड़ी परेशानी है। गांधीवादी मेरी बात सुनना नहीं चाहते क्योंकि उन्होंने अपना दिमाग़ कम-से-कम आगामी बीस वर्षों के लिए गांधी जी के पास गिरवीं रख दिया है। मज़दूर-नेता मेरी स्कीम को विचित्र और अवाञ्छनीय मानते हैं। फिर भी मुझे विश्वास है कि मेरा मस्तिष्क सबसे अधिक विशाल है; हाँ मेरे अनुयायी अभी कम हैं, यही मेरे हाथ-पाँव की कमज़ोरी है, अन्यथा मैं कांग्रेस को अपनी मुट्ठी में करने में अवश्य सफल हो जाता।"

× × ×

'पूर्व का उदयोन्मुख सूर्य' जिस अपनी अग्रगामी सभ्यता को तोपों और बमों के द्वारा चीन में फैलाने का दावा कर रहा है उसके अनेक सफल प्रयोग वह अपने देश में बहुत पहले से करता आ रहा है। सन् १९३३ में ओशिया के ज्वालामुखी के मुख में कूद कर एक १९ वर्षीया छात्रा ने आत्महत्या कर ली थी। जापानियों ने ठीक ही समझा कि इस प्रकार प्राण विसर्जन का यह तरीक़ा शायद कुछ ज़्यादा दिलचस्प है। बस फिर क्या था, १४३ आदमियों ने तो उसी वर्ष उस लड़की का पदानुसरण किया। दूसरे वर्ष से आत्मबलि देनेवालों का ताँता लग गया और उनकी सुविधा के लिए वहाँ होटल और दूकानें भी खुल गईं। रेलवे ने भी इन पुण्य-यात्रियों के सहायतार्थ भाड़ा कम कर दिया। घटना अधिक व्यापक हो जाने पर एक दैनिक पत्र के संपादक ने इस ज्वालामुखी का वैज्ञानिक अनुसंधान करना चाहा। आप लोहे की सन्दूक़ची में बैठकर उसके मुख में उतरे। पर वहाँ चीन-साम्राज्य जैसी कोई आकर्षक वस्तु न पाकर हाय हाय करके उलटे पाँव भागे। अब तो सरकार को भी इधर ध्यान देना पड़ा और १९३५ तक पुलिस और फ़ौज की सहायता से सभ्यता की यह प्रगति रोकी जा सकी। हम महाकवि योने नागुची से प्रार्थनापूर्वक अनुरोध करेंगे कि वे ज़रा अपने देशवासियों के इस उत्कट ज्वालामुखी-प्रेम पर एक महाकाव्य लिख डालें, क्योंकि शिवमूर्त्ति की अपेक्षा ओशिया का ज्वालामुखी काव्य का कहीं अच्छा विषय है।

× × ×

हिन्दी-कविता में इस ओर कुछ सच्ची प्रगति दिखाई दे रही है। हमारे कलाकार अनन्त की ओर दौड़ते-दौड़ते अब थक गये हैं और वे अपनी प्रगतिशीलता का परिचय खाने-पीने की कलापूर्ण चिन्ता-द्वारा देना चाहते हैं। कुछ नमूने देखिए—

एक—

"भर दे गिलास!"
"भर दे गिलास!"
प्रिय होने दे विजया-विलास,
आई संध्या! आई संध्या!
तुझ-सी ही मन भाई संध्या
बादाम भाँग लाई संध्या

मेरे अधरों में मधुर-प्यास
तेरे अधरों में मधु-विलास
फिर क्यों न उठे ध्वनि आस-पास,
"भर दे गिलास !" "भर दे गिलास !"
विजया मेरी मन मानी है,
साक़ी, तू मेरी रानी है,
"नाहीं करना नादानी है।"
"हमने भी गहरी छानी है।"

दो—
साक़ी मन, अब रात हो गई, आई घुमड़ मेघमाला,
अब कैसा विलंब है, भर-भर लादे अंगूरी हाला,
प्याले दो प्याले में बुझनेवाली मेरी प्यास नहीं
बार बार ला, ला कहने का समय नहीं अभ्यास नहीं !
कितनी पीली, कैसी पीली,
क्यों इसका कर रहा शुमार,
आज पिला दे ऐसे साक़ी जो सदियों तक रहे ख़ुमार।
भर भर दे ला ला और ! और !!
यह और-और !
वह और-और !

तीन—
कहाँ खोजने जाते मानव, सुन्दरता औ' स्वाद अपार ?
'मांस' शब्द में ही है मूर्तित, अखिल भावनाओं का सार
'मांस' नहीं नश्वर है ज्योतित—
मांस विश्व में जीव-विलास।
रोटी-दाल दूध-घी तम हैं,
एक 'मांस' ही अमर प्रकाश !
मांस ब्रह्म है, मांस पूर्ण है
इसका होता नहीं विनास
मांस-भुक्ति ही लोक-मुक्ति है
मांस-भोज ही चरम विकास।
सब मांसों से श्रेष्ठ मानुसी मांस—
करो इसका सम्मान
यापन करो मांसमय जीवन
चटपट मांस करो निर्माण।"

चार—
प्यारी, सारी की झंझट क्यों ?
घूँघट की झूठी खट पट क्यों ?

तुम माया हो,
मैं जीव सखी !
तुम जाया हो,
मैं पीव सखी !
फिर द्वैत कहाँ ! क्या भेद-भाव !
यह वस्त्रों से किसका दुराव ?
निशि नग्न
दिगंबर अंधकार !
फिर हम-तुम ही क्यों सहें भार ?
आओ हिल-मिल हों तदाकार।

श्रीयुत भूलाभाई देसाई का व्यंग्य-चित्र
[चित्रकार, श्रीयुत बलरामकृष्ण अग्रवाल]

× × ×

बीसवीं सदी में सिद्धों की बाढ़ आ रही है, यद्यपि लोग भ्रमवश इसे विज्ञान की सदी समझ रहे हैं। गत वर्ष मैनपुरी के 'दहीपगार' गाँव में एक हरिजन सिद्ध प्रकट हुए थे। आप पलक मारते ही लाखों निराश और असाध्य रोगियों को चंगा कर देते थे। महीने-दो-महीने बड़ी धूम-धाम रही। बड़े-बड़े जज, वकील और बैरिस्टरों की मोटरें आपका आशीर्वाद लेने पहुँचती थीं, फिर साधारण जनता का तो कहना ही क्या ! पर कुछ ही दिन बाद भंडा फूटा।

हिटलर साहब ब्रिटिश-सिंह की दुम से ज़ेकोस्लोवेकिया का गला घोंट रहे हैं।
(माडर्न-रिव्यू से)

पर महात्मा जी तो अन्तर्धान हो गये, हाँ उनके साधकों की अलबत्ता ख़ासी जाफ़त की गई।

इधर सिंहभूमि ज़िले में भी एक ऐसे ही मसीहा ने अवतार लिया है। आपके साधकों ने जनता के उपकार के लिए पत्रों में प्रकाशित कराया है कि "महात्मा योगीश्वर मुनि जी, छूकर, फूँक कर, पानी छिड़क कर, या कभी-कभी केवल दृष्टि से देखकर ही पुराने-से-पुराने और असाध्य-से-असाध्य रोगियों को केवल एक सेकंड में चंगा कर देते हैं। ऐसा चमत्कार ईसा मसीह के बाद इस बार ही देखा गया है।"

मेरी समझ में अब शफ़ाख़ानों और डाक्टरों—वैद्यों की क़तई ज़रूरत नहीं है। स्वास्थ्य-विभाग एकदम सिद्ध जी और उनके साधक शिष्यों के हाथ में सौंप दिया जाना चाहिए। ऐसा करने से जनता का भी सच्चा उपकार होगा और सरकार को भी लाखों रुपये की सालाना बचत हो जायगी। आशा है कि बंगाल-सरकार ऐसे सिद्ध योगिराज का शीघ्र ही काफ़ी सत्कार करेगी।

× × ×

वोटर लोग वोट देते समय कहाँ तक समझ से काम लेते हैं, इसका एक बड़ा दिलचस्प उदाहरण वाशिंगटन के एक मेयर ने पिछले एक चुनाव के अवसर पर दिया है। आपने अपनी पार्टी की ओर से एक ख़ाली सीट के लिए 'बोस्टन कुर्टिस' नामक एक महाशय को नामज़द किया। बड़े ज़ोर से कनवेसिंग हुआ। प्रचारकों ने गला फाड़-फाड़ कर मिस्टर बोस्टन कुर्टिस के अपूर्व गुणों की प्रशंसा की। फलस्वरूप निर्वाचन के समय इसी उम्मीदवार को सबसे अधिक वोट मिले और वह चुन लिया गया।

चुनाव समाप्त हो जाने के बाद मेयर ने वोटरों और कनवेसरों की एक सभा की और उसमें बड़ी गम्भीरता से सबको धन्यवाद देते हुए सूचित किया कि वोटरों ने जिस उम्मीदवार के लिए वोट दिया है वह कोई आदमी नहीं है बल्कि एक भूरे रंग का बड़ा-सा ख़च्चर है।

× × × ×

पागलों के काम अद्भुत होते हैं। उन्हें देखकर हम कभी हँसते हैं, कभी खीजते हैं। पर कभी-कभी कोई-कोई पागल ऐसा भी काम कर डालता है जिसे देखकर बड़े-बड़े बुद्धिमान कहलानेवाले भी हैरत में आ जाते हैं। पिट्सबर्ग (अमरीका) के किसी डाक्टर लेमेंट ने, जो स्वयं काफ़ी पागल थे, एक ऐसा ही चमत्कार कर दिखाया है। आपकी पत्नी 'एलीना' को एक पागल कुत्ते ने काट लिया था। कई अच्छे-अच्छे डाक्टरों की सहायता लेने पर

मी जब वह अच्छी न हो सकी और हफ़्तों तक कष्ट पाने के बाद अन्त को चल बसी, तब आपका पागलपन सीमा से पार हो गया। 'प्यारी एलीना अकेली ही उस मार्ग से क्यों जाय'—यह सोच कर, उसी पागल कुत्ते के विष से आपने इंजेक्शन तैयार किया और अपने सब मरीज़ों पर आप उसका प्रयोग भी करने लगे। फल यह हुआ कि शहर में पागलों की बाढ़ आ गई। अधिकारी हैरान होगये कि इस 'पागलपन' का कारण क्या है! आख़िर, कुछ दिन बाद आपने स्वयं जाकर पुलिस को अपने इस महत्त्वपूर्ण आविष्कार की सूचना दी। फल-स्वरूप आप 'पागल ख़ाने' के स्थायी मेहमान बना दिये गये।

विधवा के जीवन पर मृत्यु के पंजे की छाया।

कुछ दिन बाद उसी पागलख़ाने में एक और रोगी लाया गया जो शिर में चोट लगने से पागल हुआ था। डाक्टरों ने इसे असाध्य कह कर छोड़ दिया था। 'पागल डाक्टर' ने अधिकारियों से कहा कि अगर मुझे इजाज़त मिल जाय तो उस मरीज़ को मैं ठीक कर सकता हूँ। पर अधिकारियों ने उसकी प्रार्थना पर ध्यान न दिया। दो चार दिन का भुलावा देकर आख़िर एक दिन आप सीधे आपरेशन के कमरे में पहुँचे और वहाँ की नर्सों को हुक्म दिया कि सब सामान ठीक करो, और अमुक पागल को यहाँ लाओ। ऐसा ही किया गया। आपने चार घंटे तक आपरेशन करके उस मरीज़ को बिलकुल ठीक कर दिया।

पागल डाक्टर पागलों के इलाज में सफल हुआ!!

चित्र-संग्रह
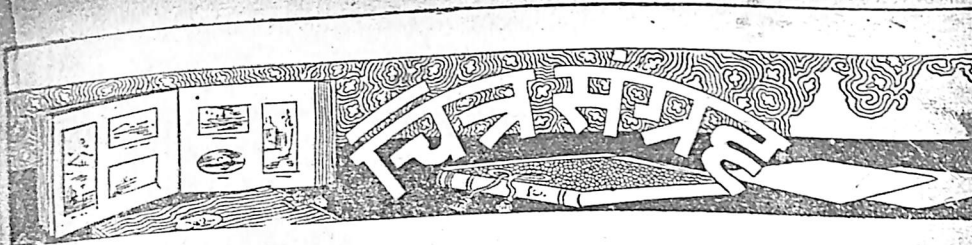
ग्वालियर दरबार के लब्ध-प्रतिष्ठ चित्रकार श्रीयुत नागेश यावलकर के कुछ चित्र जिनकी केलीफोर्निया और अन्यान्य विदेशी प्रदर्शनियों में बहुत प्रशंसा हुई है।
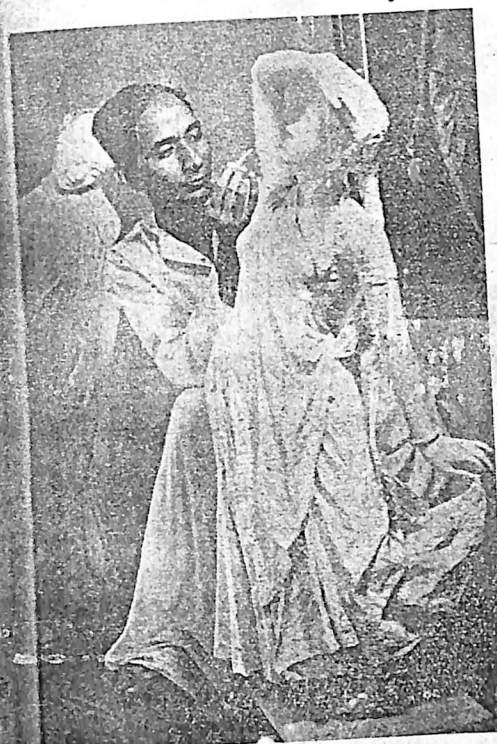
श्रीयुत नागेश यावलकर, अपनी चित्रशाला में—

"तुरहीवाला"

'सुनार'

"प्राचीन नासिक"
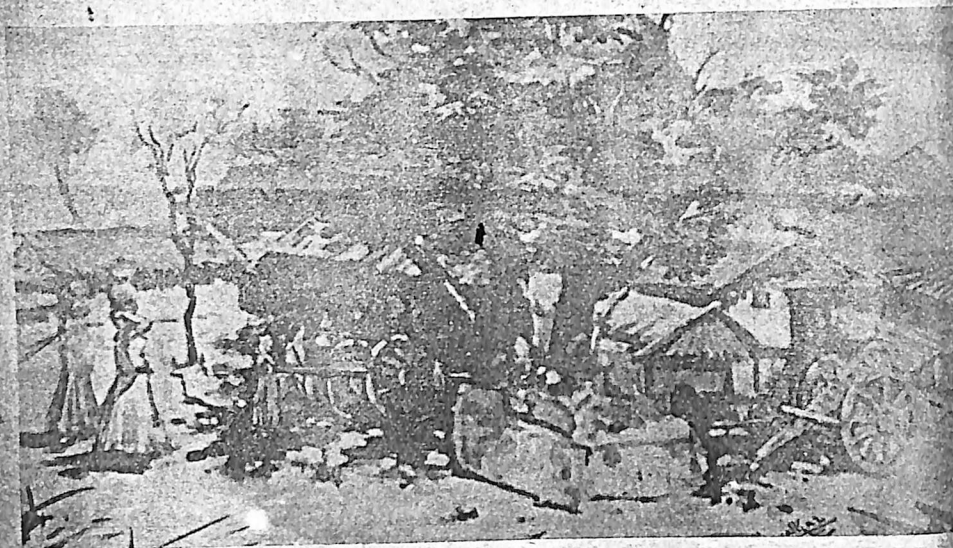
"गाँव का पड़ाव"

[illegible] संगीताचार्य प्रोफेसर बेनी-प्रसाद श्रीवास्तव (भाई)

श्रीयुत सन्तोषकुमार वसु, बी० ए० अभी हाल ही में प्रयाग में जो दसवीं अखिल भारत-वर्षीय संगीत कान्फ्रेंस हुई थी उसकी संगीत-प्रतियोगिता में आप सर्वप्रथम हुए हैं।

मास्टर जगदीशसहाय, आप संगीत में अनेक पदक प्राप्त कर चुके हैं।

श्रीयुत जितेन्द्रनारायण राय चौधरी, बी० ए०, [illegible] बाँसुरी बजाने में बहुत कुशल हैं। आप भी उक्त 'भाई' जी के शिष्य हैं।
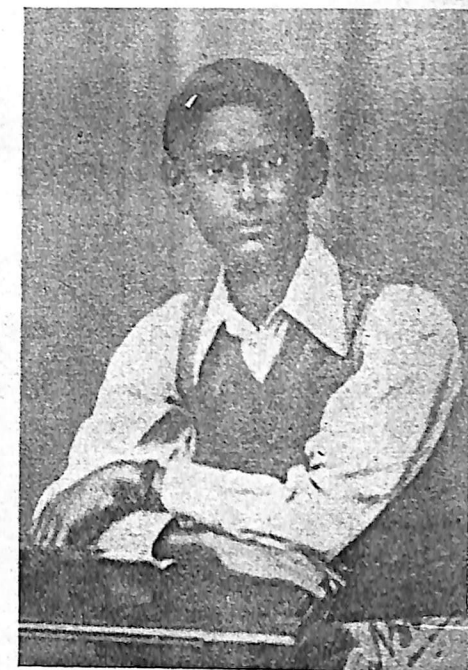
श्रीयुत नरेन्द्रसहाय वर्मा, आप हारमोनियम बजाने में प्रवीण हैं। आप भी 'भाई' जी के शिष्यों में से हैं।
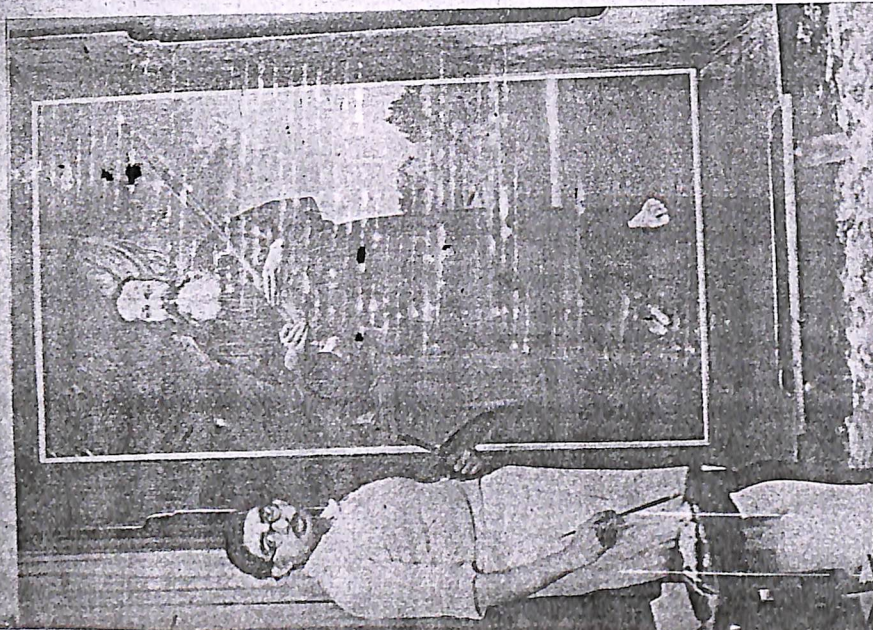
अल्पता की समस्या

लेखक, श्री वेंकटेश नारायण तिवारी

हमारे सूबे ही में क्या किन्तु सारे भारत में इस समय अल्पता की समस्या के सामने और सब समस्यायें तुच्छ और नगण्य-सी हो गई हैं। हिन्दू, ईसाई और सिक्ख—इन सम्प्रदायों के अनुयायियों ने अपने-अपने धार्मिक विभेदों के बल पर राजनीतिक क्षेत्रों में विशेष अधिकारों की जो माँगें पेश की हैं, वे भारत के इतिहास में कोई नई बात नहीं। हिन्दुओं में सवर्ण और अवर्ण तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, जाट और अहीर आदिक विभिन्न जातियाँ धारा-सभाओं में प्रतिनिधित्व और सरकारी नौकरियों में समुचित हिस्सा पाने के लिए सतर्क और सचेष्ट हैं। अँगरेज़ी अमलदारी ने जहाँ भारतवर्ष में राजनीतिक एकता की प्रवृत्ति को पुनर्जन्म दिया वहाँ अँगरेज़ी शासकों ने एक राष्ट्र के उद्भव और विकास में जाति-विशिष्टताओं को प्रोत्साहन देकर अड़ंगा भी लगाया। अँगरेज़ी शासक सदैव इस लांछन का ज़ोरों के साथ प्रतिकार करते आये हैं। उनकी ऐसी इच्छा रही हो या न रही हो, लेकिन उन्होंने समय-समय पर जिन-जिन नीतियों का अवलम्बन किया उनका परिणाम यह अवश्य होता गया कि भारतीय समाज एकता की ओर उतनी शीघ्रता के साथ बढ़ने में समर्थ न हो सका जितनी शीघ्रता से वह अँगरेज़ी शासन-काल में बढ़ सकता था। भारत के सेवकों के सामने मौजूदा परिस्थिति में यह सवाल नहीं है कि अँगरेज़ी शासकों की राजनीतिक चालों के कारण राष्ट्रीयता का विकास रुका या उसमें बाधा पड़ी, किन्तु उसके सामने तो इस समय प्रश्न यह है कि अभी तक जो बाधायें हमारे मार्ग में थीं उनको किस तरह दबा-कर हम भारतीय राष्ट्रीयता के भाव को सबल और देशव्यापी बना सकते हैं। हमारा तो यही ध्येय है; और जब तक इस ध्येय की सिद्धि न होगी तब तक न तो हम आज़ाद हो सकते हैं और न आज़ादी पा जाने पर भी उसकी रक्षा करने में हम समर्थ ही हो सकते हैं। इसी लिए अल्पता का प्रश्न सब प्रश्नों से अधिक महत्त्व का है। इसके ऊपर शान्तिपूर्वक मनन करना और इस अल्पता की गुत्थी को सुलझाना हम सबका परम धर्म है।

पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी

कांग्रेस के ऊपर तो इस मसले को हल करने की सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी है। देश में यही एक राष्ट्रीय संस्था है। इसकी दृष्टि में हिन्दुस्तान के सब निवासी—वे चाहे जिस जाति, वर्ण या सम्प्रदाय के क्यों न हों—समान हैं। सबके स्वत्वों, हितों और अधिकारों की रक्षा करना इसका धर्म है। वह उन्हीं नीतियों का समर्थन करने के लिए बाध्य है, जिनसे सबका समान हित हो। राजनीतिक, सामाजिक या साम्पत्तिक शोषण और आधिपत्य का विरोध इसके आन्दोलन की जड़ में है। इसी बुनियाद पर हम स्वराज्य-मन्दिर का निर्माण करना चाहते हैं। कांग्रेस के उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्रों में भारतीय हैं। मनसा, वाचा, कर्मणा उसके लिए अपने को भारतीय मानना या समझना आवश्यक है। वह न तो कांग्रेसी है और न सच्चा हिन्दुस्तानी ही है जो धर्म के भेदभावों के आधार पर एक भाई को दूसरे भाई से नीचा दिखाए या एक के साथ रियायत और दूसरे के साथ ज़्यादती करे। कांग्रेसी न तो हिन्दू है और न मुसलमान; न ईसाई और न सिक्ख। धर्म तो उसके लिए एक निजी बात है। इसका उसके सार्वजनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। जहाँ मुल्लाओं और पंडितों के चंगुल से भारतीय जनता को छुड़ाना आवश्यक है वहाँ एक भारतीय के लिए यह भी आवश्यक है कि वह खुद

ज्ञात या अज्ञात रूप से कोई ऐसा वचन न कहे और न कोई ऐसा काम करे जिसके कारण हिन्दुस्तानियों में घरेलू झगड़ों की आग धधक उठे या आपसी मन-मुटाव फैले। ऐसी दशा में हमारी यह निश्चित धारणा है कि देश में कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो इस मसले को आसानी के साथ हल कर सकती है।

अल्पता का सवाल है क्या? अँगरेज़ी में इसे "माइनारिटी" का प्रश्न कहते हैं, उर्दूवाले "अक़्लियत" का मसला कहते हैं। अक़्लियत, माईनारिटी और अल्पता, तीनों ही एक ही बात के द्योतक हैं। हिन्दुस्तान की अल्पता का अर्थ आजकल राजनीतिक क्षेत्रों में जो लगाया जाता है उसका वह अर्थ वास्तव में है नहीं। हिन्दुस्तान में अल्पता का निर्णय साम्प्रदायिक विभेदों के आधार पर किया जाता है। योरप में जाति-विभेद के आधार पर किसी समुदाय-विशेष को, किसी दूसरे समुदाय-विशेष की तुलना में, अल्पसंख्यक समुदाय मानते हैं। चैकोस्लोवाकिया में जर्मन्स, पोल्स और हंगेरियन्स अल्पसंख्यक थे; लेकिन उनके अल्पता की कसौटी जाति-भेद थी, न कि धार्मिक भेद। जर्मनी में अनेक सम्प्रदाय हैं। रोमन कैथलिक्स वहाँ पर अल्पसंख्यक हैं; लेकिन जर्मनी के अन्दर रोमन कैथलिकों को कोई अल्पसंख्यक समुदाय-विशेष नहीं मानेगा। जर्मनी के सब जर्मन्स जर्मन्स हैं, चाहे वे इस सम्प्रदाय के माननेवाले हों, चाहे उस सम्प्रदाय के। साम्प्रदायिक भेद पर नहीं किन्तु जाति-भेद पर योरोप में अल्पता मानी जाती है।

दुर्भाग्यवश हिन्दुस्तान में अँगरेज़-शासकों ने अल्पता का अर्थ ही दूसरा लगाया। उन्होंने जाति-भेद नहीं किन्तु सम्प्रदाय-भेद के आधार पर हिन्दुस्तान के निवासियों को बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक की पदवी दे डाली। यही कारण है कि आज हिन्दुस्तान के मुसलमान अपने को हिन्दुस्तान के हिन्दुओं से एक भिन्न जाति का कहते हैं। वास्तव में यह बात ठीक नहीं है। बङ्गाल के हिन्दू और मुसलमान जाति की दृष्टि से एक हैं, यद्यपि दोनों भिन्न-भिन्न मज़हब के माननेवाले हैं। दोनों के रहन-सहन, बोल-चाल और मानसिक तथा नैतिक प्रतिक्रियाओं के व्यापार और सांस्कृतिक बुनियादों में समानता है। सिन्ध के मुसलमानों और बङ्गाल के मुसलमानों में कोई समानता नहीं। लेकिन हिन्दुस्तान के राजनीतिक गोरखधन्धे में अँगरेज़-शासकों की चाल चल गई और प्रान्तिक भेद के साथ-साथ धार्मिक भेदों के आधार पर राष्ट्रीय एकता मिटाने के लिए द्वन्द्व मच गया। न केवल मुसलमानों ही में यह धारणा फैल गई कि उनकी जाति हिन्दुओं की जाति से भिन्न है किन्तु हिन्दुस्तान के लेखकों और कार्यकर्त्ताओं ने भी उनके इस दावे को ज्ञात या अज्ञात रूप से स्वीकार कर लिया; लेकिन है यह केवल हमारा मानसिक भ्रम।

जर्मनी वग़ैरह में अगर हमारे मुसलमान भाई धर्म-भेद के आधार पर विशेष प्रतिनिधित्व या अधिकारों की माँग पेश करें तो न तो जर्मनी के जर्मन्स और न योरोप के किसी और देशवाले इनकी इस माँग को ठीक समझेंगे। लेकिन मिस्टर जिन्ना करांची में होनेवाले मुस्लिम-लीग के अधिवेशन में हिन्दुस्तान के मुसलमानों की तुलना चेकोस्लोवाकिया के सूडेटन जर्मन्स से करते हैं। जिस देश में माइनारिटी, अक़्लियत या अल्पता के शब्दों का इतना भ्रमपूर्ण और भ्रामक अर्थ लगाया जाय, उस देश में अल्पता की समस्या न तो आज हल हो सकती है, और न निकट भविष्य ही में उसके हल होने की कोई सम्भावना है। यदि युक्त-प्रान्त के मुसलमान युक्त-प्रान्त के हिन्दुओं से, केवल इस लिए भिन्न हैं कि दोनों के मज़हब भिन्न-भिन्न हैं, तो फिर भी मानना पड़ेगा कि युक्त-प्रान्त के मुसलमानों में—शियों और सुन्नियों में—भी जाति-भेद है। अहमदिया और वहाबी मुसलमानों की भी जाति शियों और सुन्नियों की जातियों से भिन्न माननी पड़ेगी। लेकिन युक्त-प्रान्त के हिन्दू और मुसलमान वास्तव में समान जाति के हैं। दोनों की रगों में समान रक्त बहता है, दोनों एक ही राख से बने हैं और अन्त में दोनों एक ही राख में मिल जाएँगे। सच तो यह है कि मद्रास और युक्त-प्रान्त के आदमियों में जाति-भेद भले ही हो लेकिन युक्त-प्रान्त के हिन्दू और मुसलमानों में जाति की दृष्टि से कोई भेद नहीं।

इसी तरह से हमारे सूबे में जो ईसाई भाई हैं वे हमारी ही जाति के हैं और अन्त तक हमारी ही जाति के बने रहेंगे। उन्हें विभिन्न जाति का मानना या कहना उन के साथ अन्याय करना है। यह एक ऐसी ग़लती है, जिसकी बुनियाद में हमारे जीवन का अवश्यम्भावी विनाश निहित है। एक हिन्दू जब ईसाई या मुसलमान हो जाता है या मुसलमान या ईसाई शुद्ध होकर हिन्दू हो जाता है तो उसके मज़हब में अन्तर भले ही हो जाय किन्तु उसकी जाति में कैसे अन्तर आ गया—यह राजनीतिक कठ-मुल्लाओं के लाख कहने पर भी हम स्वीकार करने को तैयार नहीं। इसलिए, आइए, हम और आप शान्तचित्त होकर इस अल्पता के मसले पर विचार करें।

१९३१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार इस सूबे की आबादी लगभग ५ करोड़ थी, जिनमें से हज़ार पीछे १४८ मुसलमान और ४ ईसाई थे बाक़ी सब हिन्दू। अथवा, दूसरे शब्दों में, इस सूबे के १० हज़ार आदमियों में विभिन्न सम्प्रदायों की निम्न गणना होगी:—

हिन्दू	=	८,४६४.
मुसलमान	=	१,४८४.
ईसाई	=	४२
अन्य	=	१०
कुल जोड़	=	१०,०००

हिन्दुओं में हरिजनों या शैड्यूल्ड कास्ट के लोगों की संख्या भी शामिल है। ये लोग सूबे में लगभग २२ प्रतिशत हैं। इस सूबे में विदेशियों की या विदेश से आये हुए प्रवासियों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। ऐसे लोगों में पारसी, योरपियन, सिक्ख, ईरानी और यहूदी शामिल हैं। लेकिन इन विदेशियों या प्रवासियों की संख्या इतनी थोड़ी है कि वह नगण्य के बराबर है। इनको छोड़कर, बाक़ी जनता जातीय दृष्टि से एक है। सम्प्रदायविषयक विभिन्नता के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायवालों को विभिन्न जातियाँ कहना सरासर भूल है। मुझे मालूम है कि ईसाइयों के भी कुछ नासमझ और नादान नेता, कुछ मुसलमान-नेताओं की देखादेखी, यह दावा करने लगे हैं कि ईसाई हिन्दू या मुसलमानों से भिन्न हैं—भिन्न हैं न केवल धार्मिक मामलों में, किन्तु भिन्न हैं जाति में भी! मुझे खेद है कि इस सूबे में पढ़े-लिखे लोग और ख़ुद सम्मानित सम्पादक-गण भी अल्पता के मसले पर लिखते हुए इन राजनीतिक भूलों के प्रचार में अज्ञात रूप से सहायक हो रहे हैं। वे अल्पसंख्यक सम्प्रदाय न लिखकर अल्पसंख्यक जाति लिखते हैं। मैं फिर कहता हूँ कि इस सूबे में कई जाति के लोग नहीं बसते। इस सूबे में एक ही जाति के लोग हैं। मिश्रित जाति के हैं, वर्णसंकरी जाति के हैं। न कोई विशुद्ध अरबी है, न कोई ईरानी है और न कोई आर्य है। सब में अनेक जातियों का ख़ून मिला हुआ है। युगों के हेरफेर के साथ-साथ भौगोलिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने विभिन्न जातियों के लोगों को एक शक्ल और एक रंग का बना दिया। इस जातीय सत्य से लोग कितना ही क्यों न भड़कें, लेकिन इसका मिटाना उतना ही असंभव है जितना हथेलियों की रेखाओं को मिटा देना। इन भेदभावों के मसले को उठाकर हिन्दुओं, ईसाइयों और मुसलमानों के राजनीतिक स्वत्वों को कुछ लाभ भले ही पहुँचे लेकिन इनमें से हर एक को यह याद रखना चाहिए कि युक्त-प्रान्त के बाहर इनके लिए न स्थान है और न इस बिना पर सौदे की कोई सम्भावना है। हमारे मुसलमान अफ़ग़ानिस्तान, ईरान या अरब में जाकर देख सकते हैं कि मुसलमान होने के नाते उनका वहाँ स्वागत नहीं होगा। वहाँ वे हिन्दी कहलायेंगे और हिन्दी होने की वजह से उनका वहाँ पर उसी तरह अनादर होगा जिस तरह आज हिन्दुस्तान के पराधीन होने की वजह से हमारा अनादर हो रहा है। बंगाल के मुसलमानों का साम्पत्तिक हित युक्तप्रांत के मुसलमानों के साम्पत्तिक हित से मेल नहीं खाता। जूट के ऊपर जो निर्यात-टैक्स लगा है उसकी आमदनी के अंश के मिल जाने से बंगाल के मुसलमानों को फ़ायदा भले ही पहुँचे लेकिन युक्त-प्रान्त के हिन्दू और मुसलमान किसानों को उससे कोई लाभ नहीं मिला। लाभ का जो कुछ अंश भारतीय गवर्नमेंट ने छोड़ा वह बंगाल के लिए छोड़ा। युक्त-प्रान्त और बिहार में शक्कर-मिल-नियंत्रण-सम्बन्धी क़ानून बनने के कारण इन दोनों सूबों के हिन्दू और मुसलमानों को जो फ़ायदा हुआ उस फ़ायदे से सिन्ध, पंजाब या मद्रास के मुसलमान या हिन्दू कृषकों को कोई लाभ नहीं पहुँचा। भिन्न सूबे के भिन्न साम्पत्तिक हित हैं। प्रत्येक सूबे की अलग-अलग राजनीतिक और साम्पत्तिक समस्यायें हैं। उन समस्याओं का समाधान साम्प्रदायिक भेद पर नहीं हो सकता। उनका निर्णय तो होगा सूबे के सार्वजनिक हितों की दृष्टि से।

इस विषय पर विचार करते समय लोग प्रायः एक और भी भूल किया करते हैं, और वह भूल यह है कि यू० पी० के मुसलमानों को लाभ पहुँच सकता, यदि बंगाल के या पंजाब के मुसलमान वहाँ के अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के साथ अनादर का व्यवहार करें। यदि यू० पी० के

मुसलमान, मान लीजिए, तालीम में पिछड़े रहें और बंगाल और पंजाब के मुसलमान बहुत आगे बढ़ जाएँ तो यू० पी० के मुसलमानों को कोई फ़ायदा न होगा। वैसे ही, जैसे यू० पी० के हिन्दुओं को कोई फ़ायदा न होगा, यदि बम्बई और मद्रास के हिन्दू आगे बढ़ जाएँ और ये पीछे ही पड़े रहें। प्रान्तगत परिस्थितियों से भेद होगा और भेद हो सकता है। प्रान्त की उन्नति या अवनति पर उन सबकी उन्नति और अवनति निर्भर है जो प्रान्त में रहते हैं—धार्मिक मत उनके चाहे एक या अनेक भले ही हों।

तीसरी बात जिस पर मैं यहाँ पर ज़ोर देना चाहता हूँ यह है कि जो लोग आजकल हिन्दुस्तान में या हिन्दुस्तान के किसी सूबे में सम्प्रदाय-भेद के आधार पर राजनीतियों का निर्माण करना चाहते हैं वे समय के प्रवाह के प्रतिकूल तैरने की चेष्टा कर रहे हैं। अब युग है अन्ताराष्ट्रीयता का या भीषण राष्ट्रीयता का। योरप में आजकल राष्ट्रीयता का भीषण तूफ़ान उठ रहा है। योरप का मानचित्र इसी राष्ट्रीयता के संघर्ष के कारण द्रुतगति से बदल रहा है। कल का चित्र आज नहीं और आज का चित्र कल न रहेगा। लेकिन वहाँ पर समय के उलट-फेर से साम्प्रदायिक भेद का न केवल नाश हो गया है बल्कि राष्ट्रीयता के पीछे जातीय भेद-भाव की प्रबल भावना काम कर रही है। हिन्दुस्तान में कई लोग उल्टी गङ्गा बहाने की चेष्टा कर रहे हैं। दुख के साथ कहना पड़ता है कि इन भूले हुए लोगों में मिस्टर जिन्ना की गणना भी हमको करनी पड़ती है। किसी समय इन्हें किसी ने मुस्लिम गोखले का पद दिया था। किसको मालूम था कि इस पद में एक भविष्यवाणी छिपी हुई है? गोखले के पास जो कुछ था उसे उन्होंने राष्ट्रीयता की वेदी पर अर्पित कर दिया। लेकिन दुर्भाग्य से मि० जिन्ना गोखले तो न सिद्ध हुए; वे गोखले के दिखाये हुए पथ पर भी अधिक दिनों तक नहीं चल सके। जो कुछ देश के लिए इन्हें देना चाहिए था, उसे इन्होंने देश में आपसी भेदभाव फैलाने में लगा दिया। मि० जिन्ना केवल मुसलमान रह गये, गोखले न हुए। मुसलमानों को भी एक नहीं कर सके, उनमें भी इनकी नीति से वे भेद पैदा हो गये जो पहले नहीं मौजूद थे। यही हाल हमारे आदरणीय स्वर्गवासी मौलाना शौकतअली का भी था। क्या यह दुःख की बात नहीं कि एक मुसलमान को देश के भाइयों से विरोध हो। हर विदेश के तो वे मित्र हो सकते हैं लेकिन अपने देशवासियों के वे शत्रु ही हैं (यहाँ पर यह साफ़ कह देना अनुचित न होगा कि ऐसे बहुसंख्यक मुसलमान आज दिन भी हमारे बीच मौजूद हैं जो हिन्दुस्तान को पहला और दूसरे मुल्कों को दूसरा स्थान देते हैं। वे मुस्लिम होते हुए भी मुल्क-परस्त हैं; फ़िरक़ा-परस्ती से उन्हें कोई सरोकार नहीं।) आज़ादी की लड़ाई में अर्बिस्तान, तुर्किस्तान और ईरान के प्रति तो लीग मुस्लिमों की सहानुभूति है; लेकिन इसका तो यह अर्थ न होना चाहिए कि हम ग़ैरों का तो भले ही साथ दें परन्तु अपने मुल्क को आज़ाद करने के लिए जो लोग मैदान में उतर आये हैं उनका साथ न दें। परन्तु साथ देना तो दूर रहा; उलटे, उनका विरोध करें।

मुस्लिम लीग मुल्क को आज़ाद करने में सदा से उदासीन चली आई है और अपनी इस उदासीनता का दोष मढ़ती है हिन्दुओं के सिर। अगर हिन्दुस्तान के मुसलमान फ़िलस्तीन के अरबों के प्रति सहानुभूति करते हैं तो यह एक स्वाभाविक बात है क्योंकि संसार के सभी आज़ादी के पुजारियों के लिए फ़िलस्तीन के अरबों के साथ हमदर्दी करना लाज़िमी है। इसलिए नहीं कि वहाँ के अरब मुसलमान हैं बल्कि इसलिए कि वे आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं। संसार में जहाँ कहीं भी कोई परतन्त्र और पद-दलित जाति आज़ाद होने की चेष्टा में लगी हो उसके साथ हम भारतीय ग़ुलामों की सहानुभूति का होना स्वाभाविक है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना ज़रूरी है कि फ़िलस्तीन में मुसलमानों और ईसाइयों में संघर्ष नहीं है; वहाँ संघर्ष है अरब जाति और यहूदी जाति के बीच में। फ़िलस्तीन में जातिगत संघर्ष है; साम्प्रदायिक संघर्ष नहीं। यह भी याद रखने की बात है कि फ़िलस्तीन के अरबों में जहाँ मुसलमान हैं वहाँ ईसाई भी हैं। हिन्दुस्तान के मुसलमान अरबों के साथ तो सहानुभूति प्रकट करें लेकिन हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय संग्राम में जयचन्दी खेल खेलें—यह दुख की बात है। क्या अरबों के साथ उन्हें हमदर्दी महज़ इसलिए है कि बहुसंख्यक अरब मुस्लिम हैं? क्या उन्हें सिर्फ़ मुस्लिमों की ग़ुलामी को देखकर पीड़ा पहुँचती है? क्या ग़ैर मुस्लिमों की दशा के सुधार की कुछ भी चिन्ता उन्हें नहीं है?

ख़िलाफ़त के मसले के साथ हिन्दुस्तानी मुसलमानों को काफ़ी हमदर्दी थी। अपने मुसलमान भाइयों की इस हमदर्दी को हिन्दुस्तान में रहनेवाले हिन्दुओं ने अपनाया; और न सिर्फ़ अपनाया ही बल्कि उसके लिए उन्होंने सब तरह का त्याग भी किया। लेकिन तुर्किस्तान ने ख़ुद ख़िलाफ़त का अन्त कर दिया। तुर्की ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों की रत्ती भर भी परवाह न की। इन हिन्दी मुसलमानों की तुर्किस्तान के मुसलमानों को क्या परवाह थी? उन्होंने जो कुछ किया, अपने मुल्क की बेहबूदी के लिए किया। वे लोग फ़ज़ूल की बातों में नहीं फँसे, महज़ हिन्दुस्तान के मुसलमानों को ख़ुश करने के लिए। इसी तरह से इब्न सऊद ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों को मक्का में होनेवाली कान्फ़्रेंस में फटकार दिया। अरब के वहाबियों ने उन बातों को अपनाया जो उनके मुल्क की बेहबूदी के लिए थीं। हिन्दुस्तान के मुसलमानों की बातें उन्होंने सुनी-अनसुनी कर दीं। सुनी-अनसुनी इसलिए कर दीं क्योंकि मुसलमान होते हुए भी वे राष्ट्रवादी थे। अपनी जाति और अपने मुल्क की रक्षा करना उन्होंने अपना परम धर्म समझा। उन्होंने कभी इस बात को स्वीकार नहीं किया कि संसार के सब मुसलमान एक हैं या सब मुसलमानों के हित समान हैं। ईरान, तुर्किस्तान, अरब, अफ़ग़ानिस्तान और मिस्र इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि मज़हबी समानता के आधार पर नहीं किन्तु जातीय हितों के आधार पर राष्ट्र और जाति का संगठन सम्भव है।

यही हाल ईसाइयों का है। योरोप में सब प्रायः ईसाई हैं। लेकिन समान मतावलम्बी होते हुए भिन्न-भिन्न देशों के ईसाइयों में राजनीतिक और साम्पत्तिक हितों में विरोध के कारण भयंकर संघर्ष है; और इस संघर्ष की बदौलत योरोप में आजकल जो बेचैनी फैल रही है वह किसी से छिपी नहीं है।

चीन में जापानी आक्रमणों के कारण राष्ट्रीय एकता की जो लहर फैल गई है, वह बीसवीं सदी की एक आश्चर्य-जनक घटना है। चीन के कुछ मुस्लिम प्रतिनिधियों का एक दल अभी हाल ही में हिन्दुस्तान में आया था। लखनऊ में जब यह दल पहुँचा तो हमारे सूबे के प्रमुख मुसलमान-नेताओं ने उनसे यह पूछा कि चीन के मुसलमानों को चीन में क्या विशेषाधिकार प्राप्त हैं। उन्होंने कहा,—"चीन के मुसलमान ख़ुदग़रज़ नहीं हैं। मुल्क की आज़ादी और मुल्क की हस्ती का सौदा हम नहीं करना जानते। मुल्क को दुश्मनों के चंगुल से छुड़ाना हर चीनी का फ़र्ज़ है—वह ईसाई हो या बौद्ध हो या किसी और मज़हब का माननेवाला ही क्यों न हो।" साम्प्रदायिक भेद पर विशेष अधिकार माँगना और ऊल-जलूल दावे पेश करना और उन माँगों के न पूरा होने पर मुल्क-फ़रोशी पर कमर कस लेना किसी सच्चे देशभक्त का न फ़र्ज़ है, और न होना चाहिए।

इसी तरह इस सूबे के ईसाई भाई भी साम्प्रदायिक भेद के कारण अपने को एक अलग जमात का समझते हैं। ईसाई जनता में रात-दिन इस भाव के भड़काने की कोशिश जारी है। अलग लेख में हम इसका सविस्तर वर्णन करेंगे लेकिन यहाँ पर इतना कह देना ज़रूरी है कि ईसाई सम्प्रदाय आज तालीम के लिहाज़ से इस सूबे के अन्य सम्प्रदायों से बहुत आगे बढ़ा-चढ़ा है। ईसाई मज़हब का इतिहास इस बात का गवाह है कि ईसाइयों ने सदा से अपने मुल्क की आज़ादी की लड़ाई में सबसे आगे क़दम बढ़ाया है। चीन के ईसाइयों ने कोई ज़िद नहीं की, कोई ख़ास माँग नहीं पेश की और न उन्होंने यह कहा कि जब तक ये उनकी माँगें पूरी न की जायँगी तब तक जापान के ख़िलाफ़ वे तलवार न उठावेंगे। इसी तरह जापान के ईसाइयों ने भी अपनी देशभक्ति का सौदा करना अपने उसूलों के ख़िलाफ़ समझा। इजिप्ट (Egypt) के काप्टों (Copts) का भी यही दृष्टिकोण है। उन्होंने न तो कोई विशेषाधिकार माँगे और न उन्हें कोई विशेषाधिकार दिये गये। फिर कोई वजह नहीं है कि इस सूबे के ईसाई अपने को एक विभिन्न जाति-वाला समझें, जिनको इस मुल्क की आज़ादी या ग़ुलामी से कोई ख़ास सरोकार नहीं है; और धर्म के नाम पर बग़ावत के नेता बने रहें जब अन्य मज़हबों के मानने वाले उन्हीं के भाई आज़ादी के नाम पर हर तरह से क़ुर्बानियाँ कर रहे हों—

इस अल्पता की समस्या के नाम पर आज एक बहुत बड़ी बात देखने में आई। पटना में जो अभी हाल ही में मुस्लिम लीग का अधिवेशन हुआ उसमें देशी

रियासतों के विषय में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। उस प्रस्ताव का लक्ष्य हैदराबाद के कांग्रेस-आन्दोलन की ओर है। उसमें कहा गया है कि यद्यपि मुस्लिम लीग के देशी रियासतों की रियाया के साथ पूरी सहानुभूति है लेकिन अगर इंडियन-नेशनल-कांग्रेस उनकी हिमायत करेगी तो मुस्लिम लीग ख़ामोश नहीं बैठेगी बल्कि कांग्रेस से ताल ठोंक कर मोरचा लेने के लिए मैदान में उतर पड़ेगी। हैदराबाद की शासन-प्रणाली उसी तरह निरंकुश है, जिस तरह ग्वालियर, इन्दौर या बड़ौदा की। भूपाल और रामपुर की वही दशा है जो टीकमगढ़, रीवां या टेहरी (गढ़वाल) की है। हम लोग जो प्रजातन्त्रवादी हैं उनके लिए हैदराबाद और बड़ौदा, भूपाल या ग्वालियर सब समान हैं। चाहे इस्लामी झंडे के नीचे निरंकुशता राज्य करती हो, चाहे हिन्दवानी झंडे के नीचे, वह निरंकुशता निरंकुश ही बनी रहेगी। प्रत्येक स्वाधीन-चेता भारतवासी की दृष्टि में वह एक-सी दूषित है। देशी रियासतों की प्रजा के साथ सदा से जो ज़ुल्म होते चले आये हैं और जिस तरह उनके हाथों इनका शोषण होता रहा है उसको देखकर कौन आज़ादी-परस्त हिन्दुस्तानी होगा जिसके हृदय को चोट न लगे। हम उनका साथ दें या न दें, यह एक बात है; लेकिन इस हद तक गिर जाना हमारे लिए शर्म की बात होगी कि वहाँ की हिन्दू या मुसलमान रियाया के साथ चाहे जितना अत्याचार क्यों न हो किन्तु ब्रिटिश इंडिया के किसी हिन्दू या मुसलमान को ज़बान खोलने का अधिकार नहीं है। मुस्लिम लीग का यह दावा कि हैदराबाद की रियाया अगर आज़ादी की लड़ाई लड़े तो ब्रिटिश इंडिया के हिन्दू या मुसलमान वहाँ की रियाया के साथ हमदर्दी ज़ाहिर न करें, सरासर ग़लत है, और यह इस बात का सबसे बड़ा सबूत है कि मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण एक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है। वह कोई आज़ादी की लड़ाई लड़नेवालों की जमात नहीं। वह तो उन लोगों की जमात है जो मज़हब के नाम पर विशेष अधिकार पाने या जहाँ पर उनको वे अधिकार प्राप्त हैं वहाँ उनकी रक्षा करने के लिए मर-मिटने को तैयार है। मुसलमान सरमायेदारों और ठेकेदारों की तो वह आजकल पनाह बन गई है। ग़रीबों का चाहे जितना शोषण हो लेकिन अगर शोषण करनेवाले मुसलमान हैं तो उनकी तरफ़ किसी को उँगुली उठाने की हिम्मत भी नहीं करनी चाहिए। अगर काश कोई भूल से ऐसी बेअदबी कर बैठे तो मुस्लिम लीग उससे खुद लड़ने के लिए तैयार हो जायगी। लीग दावा करती है कि आज़ादी की लड़ाई में फ़िलस्तीन के अरबों से उसकी हमदर्दी है। फ़िलस्तीन के यहूदियों को विशेषाधिकार तो नहीं मिलना चाहिए, अधिकार मिलना तो दूर रहा, उन्हें वहाँ रहने भी न देना चाहिए। वहाँ पर अक्सरियत (Majarity) की ये लोग दुहाई देते हैं लेकिन हिन्दुस्तान में ये लोग अक्सरियत को भूल जाते हैं। यहाँ पर अक़्लियत (माइनारिटी) का झंडा ऊँचा रखना चाहते हैं। हिन्दुस्तान के बाहर मुस्लिम देशों में मुस्लिम लीग वाले अक्सरियत के हिमायती हैं लेकिन हिन्दुस्तान के अन्दर इनकी निगाह में अक्सरियत की कोई वक़त नहीं। उन सूबों में जहाँ मुसलमानी सम्प्रदायवालों की संख्या आबादी के लिहाज़ से ज़्यादा है लीग बहुतों की समर्थक है। लेकिन जिन सूबों में मुसलमानों की संख्या आबादी के लिहाज़ से कम है वहाँ ये लोग अक्सरियत की दुहाई नहीं देते। वहाँ अक्सरियत का उसूल ठुकराने के लिए तैयार हैं और अक़्लियत का झंडा ऊँचा करना चाहते हैं। क्या इनका यह दावा है कि ऐसे सूबों में अक्सरियत का कोई हक़ नहीं है, उसका कोई अधिकार नहीं? वहाँ यदि किसी का कोई हक़, स्वत्व और अधिकार है तो क्या केवल अक़्लियत ही को वह प्राप्त है?

इस राजनीतिक लाउसूली—सिद्धान्त-हीनता—का एक ही कारण है। वह यह है कि हिन्दुस्तान में अल्पता या अक़्लियत की समस्या को मुस्लिम लीग शुरू से ग़लत समझती चली आई है। इसको सही ढङ्ग पर जनता के सामने रखने की उसने कभी कोशिश नहीं की। वह तो सरमाएदारों की हिमायती और ब्रिटिश साम्राज्यी नीति की पोषक थी और आज भी है। इसलिए मिस्टर जिन्ना पटने से चिल्लाते हैं कि हिन्दुस्तान के सब मुसलमानों की एक जाति है। हिन्दुस्तान के मुसलमान, उनके शब्दों में, एक नेशन हैं। नागपुर से इसके जवाब में हिन्दू-महासभा के सभापति, श्री विनायक दामोदर सावरकर, हुंकार देते हैं कि हिन्दुस्तान के हिन्दू बहुसंख्यक हैं; वे ही हिन्दुस्तानी राष्ट्र के एकमात्र अंग हैं। मुसलमान और ईसाई तो उस अंग के बाहरी टुकड़े हैं। दोनों ही ग़लत रास्ते पर चल और अपने-अपने अनुयायियों को ख़ंदक़ में ढकेलने की कोशिशें कर रहे हैं। सच तो यह है कि हिन्दुस्तान में न मुस्लिम-राष्ट्र सम्भव है और न हिन्दू-राष्ट्र। हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता हिन्दी राष्ट्रीयता है। हम भारतीय हैं। यहाँ पर एक ही राष्ट्र हो सकता है। उस राष्ट्र का आधार हिन्दी जाति है। वह जाति न हिन्दू है, न मुसलमान। उसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, पारसी, यहूदी और बौद्ध, सभी शामिल हैं। अल्पता का सवाल योरोप में भिन्न है, वहाँ इसका आधार जाति-भेद है। हिन्दुस्तान में भी जाति-भेद के कारण प्रान्त-भेद हो सकता है। लेकिन सम्प्रदाय-सम्बन्धी विभेदों पर जाति-निर्माण न तो जिन्ना साहब करने में समर्थ होंगे और न सावरकर साहब।

इसी दृष्टि से हम इस सूबे की अल्पता-समस्या पर विचार करने जा रहे हैं। समस्या हमारे सामने मौजूद है। उसके अस्तित्व से किसी को इनकार नहीं। शीघ्र से शीघ्र उसका समाधान होना मेरी दृष्टि में परमावश्यक है; लेकिन इसका समाधान तभी सम्भव है जब बुनियादी बातों के सम्बन्ध में हम सही राय क़ायम करें। अगर बुनियादी मामलों ही में हम भटक गये तो समस्या का सही ढङ्ग से हल करना हमारे लिए संभव न होगा। और बुनियादी बात यह है कि इस सूबे की अल्पता साम्प्रदायिक है जातिगत नहीं।

आश्वासन

लेखक, श्रीयुत नरेन्द्र

डर न, मन!
असमय घिरे घन जो,
स्वयम् हट जायँगे!—
फट जायँगे। जब-
विष-सदृश वह वज्र उर का—
(किसी विधवा की अभागी कोख के जारज सदृश ही)—
निकल उल्कापात-सा धँस जायगा सहसा धरा में;
उपल-दल गल जायँगे!
तू डर न, मन!
असमय घिरे घन जो,
स्वयम् हट जायँगे!—
फट जायँगे।

स्वप्न सुख के फिर हँसेंगे—
पूर्णिमा के चाँद-से वे
व्योम-से उर में बसेंगे!
रोम, हाँ—प्रति रोम
प्रिय के मिलन की प्रिय कल्पना में
चट पुलक बन जायँगे!
रहेंगे दुर्दिन न सब दिन,
दिन पलट फिर आयँगे!
तू डर न, मन!
असमय घिरे घन जो,
स्वयम् हट जायगे!—
फट जायँगे।

सामयिक साहित्य
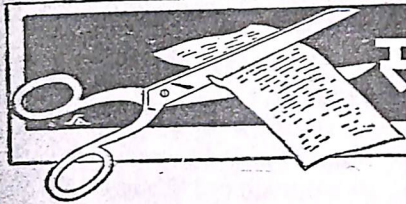
देशी राज्य और जनता

इस समय कई देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की प्राप्ति के लिए वहाँ के प्रजाजनों-द्वारा उग्र आन्दोलन छिड़ा हुआ है। राज्यों की सरकारें भी आन्दोलन को दवाने के लिए उग्र उपायों से काम ले रही हैं। इस परिस्थिति के सम्बन्ध में महात्मा गान्धी ने 'हरिजन' में एक लेख लिखा है। उसका एक अंश इस प्रकार है—

राजा लोगों के लिए केवल दो मार्ग रह गये हैं। शासन की ज़िम्मेदारी प्रजा को सौंपकर स्वयं उनके अभिभावक बने रहना तथा अपने परिश्रम के वदले कुछ मुआविज़ा लेते रहना या फिर अपने राज्य के विनाश के लिए तैयार रहना, इनके सिवा और कोई बीच का रास्ता नहीं। इसलिए मैं उम्मीद करता हूँ कि यह अफ़वाह ग़लत है कि कुछ राजाओं या उनके दीवानों के कहने से ब्रिटिश सरकार अपनी उस नीति को बदलने का विचार कर रही है जिसकी घोषणा हाल में ही अर्ल विण्टरटन ने की थी और जिसमें कहा गया था कि राजा लोग चाहें तो अपनी प्रजा को उत्तरदायी शासन प्रदान कर सकते हैं (ब्रिटिश सरकार उसमें दस्तन्दाज़ी न करेगी)।

ब्रिटिश सरकार ने राजाओं-द्वारा अपनी प्रजा को बड़े से बड़ा अधिकार दिये जाते समय कभी हस्तक्षेप किया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि सार्वभौम सत्ता के नाते जिस तरह ब्रिटिश सरकार का यह फ़र्ज़ है कि वह भीतर या बाहर से पहुँचनेवाली क्षति से राजाओं की रक्षा करे, उसी तरह या उससे भी ज़्यादा यह देखना उसका फ़र्ज़ है कि राजा लोग अपनी प्रजा पर न्यायपूर्ण शासन करते हैं या नहीं। इसलिए सरकार जब किसी रियासत को पुलिस या पलटन की मदद भेजती है तो उसका यह अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि वह इस बात को अच्छी तरह समझ ले कि सचमुच इनकी वहाँ ज़रूरत है या नहीं और यह भी देखे कि पुलिस या से[illegible] का प्रयोग उचित संयम के साथ किया जाय।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रान्तों के उत्[illegible] दायी मन्त्रियों की कोई नैतिक ज़िम्मेदारी उन रिया[illegible] की जनता के प्रति है या नहीं जो उन प्रान्तों की सी[illegible] के भीतर हैं। शासन-विधान के अनुसार मन्त्रियों [illegible] उनके सम्बन्ध में कोई अधिकार नहीं दिया गया [illegible] वाइसराय ही सार्वभौम सत्ता के प्रतिनिधि हैं और गव[illegible] उनके एजेण्ट हैं। फिर भी इन रियासतों में जो [illegible] होता है उसकी नैतिक ज़िम्मेदारी अवश्य ही स्वाय[illegible] शासन-प्राप्त प्रांतों के मन्त्रियों पर है। इन राज्यों में अ[illegible] बुरी कोई भी बात क्यों न हो, उसका असर सारे प्रान्त [illegible] पड़ता है। इसलिए मैं समझता हूँ कि प्रान्त के मन्त्रि[illegible] को, उनके सिर पर जो भारी ज़िम्मेदारी रहती है उस[illegible] वजह से, आन्तरिक शान्ति और शिष्टता की रक्षा के लि[illegible] परिमित सीमा के भीतर ऐसे मामलों में दस्तंदाज़ी क[illegible] का नैतिक अधिकार प्राप्त है। वे उस समय चुपचाप [illegible] होकर तमाशा नहीं देख सकते जब रियासतों की प्र[illegible] अत्याचारों से पीसी जा रही हो।

मेरा ख़याल है कि प्रान्तों के आसपास की रिया[illegible] में यदि कोई भारी अन्धेर होता हो तो उस तरफ़ [illegible] देने और ऐसे मामले में क्या करना चाहिए इस सम्ब[illegible] में केन्द्रीय सरकार को सलाह देने के लिए प्रान्त के म[illegible] नैतिक दृष्टि से वाध्य हैं। प्रान्त के मन्त्रियों के साथ [illegible] केन्द्रीय सरकार दोस्तानाभाव वनाये रखना चाहती [illegible] तो उसे उनकी सलाह पर सहानुभूति के साथ वि[illegible] करना ही पड़ेगा।

एक वात और है जिसकी तरफ़ राजाओं तथा उ[illegible] सलाहकारों को ध्यान देना ज़रूरी है। (उन्हें कांग्रे[illegible] नाम से ही भय मालूम होता है।) वे कांग्रेसजनों [illegible] बाहरी, विदेशी और न जाने क्या क्या समझते [illegible] मुमकिन है कि क़ानून की दृष्टि से वे ऐसे ही हों [illegible]

प्राकृतिक नियम के सामने मनुष्य का बनाया हुआ क़ानून बेकार है। अपने हिताहित के मामले में देशी राज्यों के लोग कांग्रेस की ओर दृष्टि लगाये रहते हैं।

कांग्रेस जो अभी तक रियासतों के मामले में हस्तक्षेप न करने की नीति वर्तती रही है, उसके लिए मैं ही ज़िम्मेदार हूँ किन्तु कांग्रेस का प्रभाव बराबर बढ़ रहा है अतः देशी राज्यों में ऐसे अत्याचारों के होते इस नीति की रक्षा करना मेरे लिए सम्भव न होगा। जिस समय कांग्रेस समझेगी कि सफलतापूर्वक हस्तक्षेप करने की शक्ति उसमें है, उस समय पुकार होने पर वह ऐसा करने से न चूकेगी। यदि राजा लोग सचमुच यह मानते हों कि प्रजा की भलाई ही उनकी भलाई है तो वे कृतज्ञतापूर्वक कांग्रेस की सहायता स्वीकार करें। जो संस्था (कांग्रेस) निकट भविष्य में—मुझे आशा है कि आपस की मित्रतापूर्ण व्यवस्था के अनुसार—सार्वभौम सत्ता का स्थान ग्रहण करनेवाली हो, उससे मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना उनके लिए अवश्य ही लाभदायक होगा।

—

रूस और जापान

रूस और जापान में कैसी तनातनी है, इसका रोचक वर्णन 'लिविंग एज' में श्रीयुत ओलेण्ड डी० रसेल ने किया है। इस महत्त्वपूर्ण लेख का आवश्यक अंश हम 'प्रताप' से यहाँ उद्धृत करते हैं :—

सोवियट रूस और जापान के बीच की भूमि से मंचूली नगर तक, जो किसी राष्ट्र का देश नहीं कहलाता है, प्रतिसोमवार और गुरुवार को १ बजे ट्रान्स साइबेरियन एक्सप्रेस-द्वारा संधि का एक झण्डा फहराया जाता है। इस प्रदेश में रूस और जापान के लोग संदिग्ध दृष्टि से लोगों की ओर देखते रहते हैं और जाँच करते हैं। सन्देह हो जाने की दृष्टि से कोई आदमी ट्रेन में अनावश्यक रूप से इधर-उधर चल-फिर या हिल-डोल नहीं सकता। स्टेशन पर दोनों देशों के गार्ड मुसाफ़िरों की तलाशी लेते हैं। तलाशी के बाद मुसाफिर आगे बढ़ने पाते हैं। मंचूली मंचूको के बिलकुल उत्तर-पश्चिम कोने में है। व्लाडीवास्टक दूसरे छोर पर है। मंचूली की सीमा पर जापान के हवाई जहाज़ मँडराया करते हैं और इधर सोवियट सीमा के भीतर रूस के हवाई जहाज़ मँडराते रहते हैं। जापान चाहता है कि मंचूको दूसरी रूस-जापान लड़ाई में युद्ध-भूमि न बन सके। इसलिए उधर मंचूली प्रदेश में जापान की और इधर व्लाडीवास्टक में रूस की सेना तैयार रहती है।

टोकियो और सोवियट सीमा के बीच दोनों देश की पुलिस यात्रियों की ख़ूब जाँच-पड़ताल करती है।

साइबेरिया में रूस की ओर से बहुत-से अस्त्र-शस्त्र और आदमी भेजे जा रहे हैं। आज दो वर्षों से लगातार चौबीसों घंटों अस्त्र-शस्त्र यहाँ भेजे जा रहे हैं। सुदूर पूर्व में रूस अपनी रक्षा के हेतु ऐसा कर रहा है ऐसा बतलाया जाता है। पूर्व साइबेरिया में घुड़सवार सेना और हवाई जहाज़ बहुत अधिकता से हैं। इसी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि साइबेरिया में कितनी बड़ी सैनिक तैयारी है। ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे के अलावा रूस एक दूसरी रेलवे सड़क तैयार कर रहा है जिसका जापान को ठीक ठीक पता नहीं है। यह सड़क तैयार हुई या नहीं इसका अधिकांश रूसियों को भी पता नहीं है। रूस-जापान के युद्ध के समय यह नई सड़क सैनिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व-पूर्ण होगी। यह सड़क अभी तक एक सैनिक रहस्य बनी हुई है। किसी को इसका ठीक पता नहीं है। कहा जाता है कि ट्रान्स साइबेरियन रेलवे के समानान्तर ही यह सड़क बनाई जा रही है जो उक्त ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे से २०० से ५०० मील उत्तर में है। यह सड़क जापानी [illegible]मवर्षा करनेवालों की पहुँच के बाहर होगी। इस सड़क के बन जाने के बाद जापान सिर्फ़ समुद्री मार्ग और कोरिया की सीमा से आक्रमण कर सकता है जो उसके लिए बहुत ही कठिन काम है।

सुदूरपूर्व की लाल सेना मार्शल वैसिली के० ब्लूशर के सेना-नायकत्व के अधीन है। मार्शल वैसिली के० ब्लूशर 'रेड नेपोलियन' कहलाता है। वह एक ज़बर्दस्त सैनिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति है। वह एशिया महादेश का एक महान् योद्धा है। गैलन के नाम से उसने चीन में प्रजातन्त्र के संस्थापक स्वर्गीय डा० सनयात सेन को चीन की क्रान्तिकारी सेना तैयार करने में मदद दी थी। उसकी स्वाभाविक सैनिक प्रतिभा का विकास रूस के गृह-युद्ध में हुआ था। जापानी अख़बार यह अफ़वाह फैलाने की चेष्टा करते हैं कि उसका जोसेफ़ स्टेलिन से विरोध हो गया।

यह बात ग़लत है। उसके नायकत्व में चार लाख सेना सुदूरपूर्व में है, जिसके बारे में कहा जाता है कि वह संसार में सबसे अधिक संगठित और कुशल सेना है। इसमें शक नहीं कि साइबेरिया की सेना बहुत संगठित है। पिछले साल जापान को चेतावनी देते हुए मार्शल ब्लूशर ने एक महत्त्वपूर्ण आज्ञापत्र निकाला था जिसमें उसने कहा था कि सुदूरपूर्व की सेना जो लाल सेना का एक सुसंगठित अंग है सोवियट सुदूरपूर्व सीमा की रक्षा करती है जो रूस का एक ख़तरनाक स्थान है। हम घोषित करते हैं कि हमारी यह सेना फ़ाशिस्त सेना को अपनी सीमा का दुरुपयोग नहीं करने देगी।

साइबेरिया और मञ्चूको में बहुत समानता है। दोनों देश रूस और जापान की प्रयोगशाला, और क़वायद-भूमि हैं। दोनों देशों में स्वाभाविक जीवन का अभाव है।

रूस और जापान बहुत तेज़ी से अपने राज्यों के बीच में उपनिवेश बसा रहे हैं। साइबेरिया की १९१४ में १,००,००,००० आबादी थी जो १९३४ में बढ़कर २,५५,००,००० हो गई। इस समय के दर्मियान कृषि भी ३२,००० वर्ग मील से बढ़कर ९७,००० वर्ग मील हो गई। जापान ने इस साल एक योजना बनाई है जिसके अनुसार २० वर्षों में १०,००,००० युवकों को मंचूको भेजने का निश्चय किया है। लेकिन जापान का उपनिवेश मौजूदा साइबेरिया का १० वाँ हिस्सा है। जापान और रूस में संघर्ष होगा, दोनों देश इस बात को जानते हैं। इसी लिए ऐसी तैयारी है। पिछले साल की चाकू फ़ेंग पहाड़ की घटना दोनों देशों में होनेवाले संघर्ष की पूर्व सूचना है।

साहित्यिक भिक्षुक

हिन्दी-पत्रकार की इस समय कैसी दयनीय आर्थिक परिस्थिति है, और इसी के कारण वह किस प्रकार सम्माननीय साहित्यिक के पद से गिरकर साहित्यिक भिक्षुक बनता जा रहा है, इस पर सहयोगी 'जयाजी प्रताप' में श्रीयुत सेठ गोविन्ददास जी ने एक रोचक और गवेषणापूर्ण लेख लिखा है। पाठकों की जानकारी के लिए उसका आवश्यक अंश हम यहाँ देते हैं—

आजकल हिन्दी-साहित्य ग़रीब है। इस क्षेत्र में सा[हि]त्यिकों के जाने के लिए कोई विशेष आशा नहीं है। एक कंकाल के रूप में आज का हिन्दी-क्षेत्र साहित्यि[कों] के सामने उपस्थित है। वे उसकी सेवा करके उस[का] उपकार भले ही कर सकते हैं, लेकिन उससे उन्हें कि[सी] लाभ की आशा नहीं रहती। और इस अवस्था में [कोई] आश्चर्य की बात नहीं अगर हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र [में] साहित्यिक भिक्षुओं की संख्या बढ़ रही हो, क्योंकि उ[नके] सामने भी संसार की साधारण समस्यायें होती हैं। [और] फिर आज-कल के ज़माने में जब कि संसार में नई [चाल]बाज़ियों और ठग-विद्याओं का आविष्कार हो रहा [है] मनुष्य का भी स्वभाव समय की गति के अनुसार ब[दल] रहा है। मनुष्य की भावनायें पहले से ही दूषित हो जाती हैं। स्वार्थ और अर्थ की अर्चना सबसे पहले [की] जाती है। वह काल भी अब हिन्दी-साहित्य में से धी[रे] धीरे अतीत के गर्भ में छिपता जाता है जब साहित्यि[कों] में साहित्य के लिए सब कुछ अर्पण कर देने की क्ष[मता] थी। वे भूखे रहकर भी साहित्य-सेवा के मार्ग में कटि[बद्ध] होकर आगे बढ़ते थे। आज-कल उन्हीं में से कुछ म[हान्] और अवस्था-प्राप्त साहित्यिक शेष हैं वही हिन्दी-सा[हित्य] में समय-समय पर लोगों को इस ओर से सचेत कर[ने से] नहीं चूकते। लेकिन हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में ज्यों [ज्यों] नई नई पौद बढ़ रही है, नये नये विचारों के साहि[त्यिक] इस क्षेत्र में आ कूदे हैं, त्यों त्यों साहित्यिक भिक्षुओं [की] संख्या और भी अधिक बढ़ रही है। प्राचीन साहि[त्यिक] उद्देश्यों पर अटल रहने की शक्ति का उनमें अभाव है अ[थवा] यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक संसार की [परि]स्थितियों के इस गाढ़े समय में चारों ओर दूषित ह[वा] बह रही है अतः वे अपने को उसी स्थान पर दृढ़[रूप से] रखने में असमर्थ हैं। इन नये साहित्यकारों में वे ही [कुछ] इस विषैले वातावरण से शेष हैं जिन पर अभी वह पु[राना रंग] छाया है।

सबसे पहला कारण तो एक साहित्यिक के पतन [का] यह है कि हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र को कुछ कोरी [अर्थ]लाभ करनेवालों ने गंदा कर दिया है और वे ही साहित्यिक भिक्षा-वृत्ति का बीजारोपण कर रहे हैं। [यदि] हिन्दी का क्षेत्र ग़रीब है तो क्या हुआ लेकिन उसके [सामने] अपने आदर्श हैं जो अधपेट रहने पर भी निष्पक्ष साहित्य-वृत्ति करने का आदेश देते हैं। मुझे अच्छी तरह याद है कि पूज्य द्विवेदी जी ने किन भीषण परिस्थितियों और भयंकर अर्थसंकट के जीवन में कितनी पुनीत साहित्य सेवा की। जब वे सरस्वती के सम्पादन-भार से मुक्त हुए तो उनके पास उतने वर्ष की सेवा की पूँजी में सिवाय आदर और सम्मान के क्या शेष था! लेकिन आज द्विवेदी जी साहित्यिकों के सामने आदर्श-मात्र हैं। कितने सम्पादक और साहित्यिक हैं जो उनके आदर्शों पर चलकर विशुद्ध साहित्यिक जीवन बिताने के लिए तैयार हैं? साथ ही साथ उनके समान सादा और संकट-ग्रस्त जीवन व्यतीत करने के लिए आज के नित नये उत्पन्न होनेवाले साहित्यिकों के लिए यह असम्भव है। आज के संसार के सुख-भोग और सम्पन्न जीवन व्यतीत करने की लालसा उनमें आवश्यकता से अधिक है। और फिर हिन्दी के इस ग़रीब साहित्यिक क्षेत्र में उतरकर उनके सामने उन इच्छाओं की पूर्ति का कोई साधन नहीं रहता।

दूसरी बात यह है कि आज-कल साहित्यिक कीर्ति लूटने के लिए साहित्यिकों ने ही नहीं वरन नामधारी साहित्यिकों ने भी होड लगा दी है। हर एक व्यक्ति, जो साहित्य के क्षेत्र में है, जिसके पास धन है, अनधिकार रूप से साहित्यिक कीर्ति लूटना चाहता है। अतः आज साहित्यिक भिक्षुओं की संख्या बढ़ रही है। जहाँ किसी अर्थवश एक बार लेखक लेखनी का दुरुपयोग करता है तो उसका आत्मसम्मान धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। आगे चलकर यही भिक्षा-वृत्ति का रूप धारण कर लेता है। लेखनी स्तुति-निन्दा के मार्ग पर अबाधगति से दौड़ने लगती है। स्तुति-निन्दा में उसे अर्थलाभ आवश्यकता से अधिक हो जाता है। आगे चलकर यही आत्म-पतन का चरम सीमा पर पहुँच जाता है।

छोटे छोटे उद्यमों की उन्नति का प्रश्न

छोटे छोटे उद्यमों को समुन्नत करने की बात से सभी लोग सहमत हैं। प्रान्तीय औद्योगिक सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के पद से श्रीमान् सेठ अचलसिंह ने जो भाषण किया है उसमें उन्होंने इस विषय की व्योरेवार चर्चा की है। उसका उक्त अंश इस प्रकार है—

"हमारे देश हिन्दुस्तान की अवस्था तथा व्यवस्था अन्य देशों के मुक़ाबिले बिलकुल मुख़्तलिफ़ है। मेरा तो यह छोटा सा अनुभव है कि अगर हम हूबहू पश्चिमी देशों की नक़ल करेंगे तो अवश्य हमें दिक़्क़तों में पड़ जाना पड़ेगा। इस बात को मैं मानने के लिए तैयार हूँ कि जो बातें हमारे अनुकूल हैं उनको अवश्य ग्रहण करना चाहिए। हमारा देश एक ऐसा देश है जिसमें क़रीब ९० फ़ी सदी लोग वे हैं जो गाँवों में काश्तकारी या मज़दूरी का काम करते हैं। काश्तकार लोग साल में क़रीब ८ महीने काश्त के कामों में लगे रहते हैं और क़रीब ४ महीने उनके ख़ाली रहते हैं। मज़दूर लोगों को मुश्किल से २ या ४ महीने अच्छा काम मिलता है। अगर हम छोटे छोटे यन्त्र यानी मशीनें तैयार करें तो उनके द्वारा ग्रामीण लोग न केवल अपनी ज़रूरतों को पूरा कर सकेंगे बल्कि कुछ ज़्यादा माल बनाकर भी क़स्बों व शहरों में भेज सकेंगे। इस प्रकार की मशीनें निम्न प्रकार की हो सकती हैं—ईख से रस निकालने का कोल्हू, तेल निकालने का कोल्हू, कपास से रुई निकालने की रहटी, धुनने का यन्त्र, कातने के अच्छे-अच्छे चरख़े, बुनने के वास्ते करघे। इसके अलावा चमड़ा पकाना व बनाना, मधु-मक्खी-पालन, रस्सी बनाना, टोकरी व चटाई आदि तैयार करना तथा बढ़ई, लुहार, ठठेरा, धुनने व बुननेवाले, रँगरेज आदि प्रत्येक गाँव के वास्ते आवश्यक हैं। यह काम केवल पंचायती सरकार-द्वारा ही जैसी कि हमारी कांग्रेसी सरकार है आसानी से किया जा सकता है।"

"हमारी सरकार ने कुछ अल्पकालीन (शार्टटर्म) और कुछ दीर्घकालीन (लांग टर्म) वज़ीफ़े देकर विद्यार्थियों को नई दस्तकारियाँ सीखने या उनमें निपुणता प्राप्त करने की गरज से विलायत भेजने की व्यवस्था की है। इस योजना का हम हार्दिक स्वागत करते हैं। पर इस सम्बन्ध में कहना होगा कि जो वज़ीफ़े दिये गये हैं वे नाकाफ़ी हैं और अभी काफ़ी विद्यार्थियों को विदेशों में भेजने की आवश्यकता है। प्रान्तीय सरकार के उद्योग-विभाग ने कुछ स्कूल जिनकी संख्या क़रीब २४ के लगभग है खोल रक्खे हैं—उनमें ये विषय सिखाये जाते हैं—जैसे बुनाई,

रंगाई, चमड़े का काम, छपाई आदि। लेकिन ये स्कूल नाममात्र के हैं। अतः उनमें दस्तकारी की आदर्श शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।"

यह प्रसन्नता की बात है कि काग़ज़, तेल, चमड़ा व शीशे की दस्तकारी की शिक्षा के लिए हमारी सरकार ने विशेषज्ञों को नियत किया है। माघमेला तथा कांग्रेस व अन्य औद्योगिक नुमायशों में सरकारी उद्योग-विभाग की नुमायशें मुफ़ीद साबित हुई हैं। इसके अलावा सरकार ने औज़ार व यन्त्र ख़रीदने के लिए आर्थिक सहायता दी है। उसने नवयुवकों को कुछ गृह-उद्योग खोलने के लिए भी प्रोत्साहन किया है और सहायता दी है। उद्योगों की उन्नति व विकास के लिए प्रान्तीय औद्योगिक बोर्ड भी स्थापित है। इधर हाल में संयुक्त-प्रान्तीय इंडस्ट्रियल फाइनेंसिंग कारपोरेशन लिमिटेड की भी स्थापना हुई है। इसके ज़रिये कम सूद पर रुपया उधार मिल सकेगा और उससे उन लोगों को फ़ायदा होगा जो कि धनाभाव के कारण अपने उद्योगों को यथेष्ट तरक़्क़ी नहीं दे सकते।

"पिछले वर्षों में छोटी छोटी दस्तकारियों में समयानुसार उतनी तरक़्क़ी नहीं हुई जितनी कि होनी चाहिए। पर बड़ी-बड़ी मिलों व फ़ैक्टरियों ने अलबत्ता तरक़्क़ी की है। सन् १९[illegible] में २२४ बड़ी मिलें संयुक्त-प्रान्त में थीं जब कि सन् १९३२ में उनकी संख्या ५०५ हो गई और उनमें ६२,५०० आदमियों के बजाय १,०३,५०० आदमी काम करने लगे। सन् १९३२ के बाद अब तक इस दिशा में और भी तरक़्क़ी हुई है।

दूसरी तरफ़ छोटी छोटी दस्तकारियों में काफ़ी गुंजाइश है जैसे ब्रुश, साबुन, कपड़ा बुनना, मधु-मक्खी पालना, काग़ज़ बनाना, दरी, निवाड़, मूँज, मैटिंग, आदि का बुनना, रंग, रोगन, वार्निश वग़ैरह तैयार करना, फाउन्टेन पेन, पेंसिल, चाक स्टिक बनाना, मोजे व बनियाइन आदि बुनना, पीतल-कांसे व लोहे का सामान ढालना, जूते की पालिश, फीते तथा जूते का अन्य सामान बनाना, चमड़ा कमाना व पकाना और उससे जूते, बक्स, बिस्तरबन्द आदि सामान तैयार करना, गलीचे, नमदे आदि बनाना, कपड़ा रँगना व छापना, ताले, कैंची, चाक़ू सरौते आदि सामान लोहे से तैयार करना, बिजली का छोटा-मोटा सामान तैयार करना, ग्रामोफ़ोन, रेडियो आदि बनाना, पिन, कारबन, रिबन आदि का निर्माण करना, छाते व लकड़ी के सामान तथा अन्य ज़रूरियात के सामान बनाना, लोहे पर कलई करना, काँच से चूड़ी, गिलास व अन्य सामान तैयार करना, ज़रदोज़ी, गोटा, सलमा-सितारा आदि बनाना, सोना, चाँदी व जवाहरात का सामान तैयार करना, बसर्ली और दियासलाई आदि आदि।

छोटी छोटी दस्तकारियों के बारे में पिछले चार-छः महीने में अपने प्रान्त के बहुत-से भाइयों से लिखा-पढ़ी करने का मुझे जो सुअवसर प्राप्त हुआ था उसके परिणाम-स्वरूप कुछ भाइयों ने निम्नलिखित योजनाओं पर प्रकाश डाला है। इनमें से कुछ ऐसी दस्तकारियाँ हैं जो सहायता मिलने पर खुल सकती हैं, कुछ ऐसी हैं जिनके खोलने वाले रुपये उधार चाहते हैं, कुछ ऐसी हैं जो खुली हुई हैं पर जिनकी उन्नति व विकास सहायता प्राप्त होने या रुपया उधार मिलने पर हो सकता है। वे दस्तकारियाँ ये हैं— चीनी, साबुन, रेडियो, व बिजली के सामान, फल, चपड़ा, तेल, छोटी मशीनें ग्लेज़्ड टाइल्स, स्याही व छपाई की स्याही, छापाख़ाना, हाइड्रो इलेक्ट्रिक मशीन, मोजे की फ़ैक्टरी, कारबन, डेयरी, फ़ार्म आयरनफाउन्ड्री, दियासलाई, नेवाड़ व मोज़े, जड़ी-बूटी, कृषि, आटा व चावल की मिल, तम्बाकू, चूड़ी, क्रिकेट व हाकी के बाल, मिट्टी का तेल, फ़ाउन्टेन पेन व निब, रोटरी मिल, टेबिल साल्ट, मधु-मक्खी-पालन, कार्डबोर्डबक्स, पिन, स्ट्राबोर्ड, कपड़ा, रिबन, बूटपालिश, बीज व खाद, शीशे की चीज़ें, गाढ़ा, ऊन आदि आदि।"

धर्म का महत्त्व

बनारस के हिन्दू-विश्वविद्यालय के उपाधि-वितरणोत्सव पर डाक्टर राधाकृष्णन ने जो दीक्षान्त भाषण किया है उसमें उन्होंने धर्म को जो महत्त्व दिया है वह ध्यान देने योग्य है। भाषण का उक्त अंश हम 'भारत' से यहाँ उद्धृत करते हैं—

विश्वविद्यालय की शिक्षा ही जीवन की पूर्णता नहीं है। एक वस्तु ऐसी भी है जो इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। और वह स्वतः जीवन है। जब तक आप अपने भावी जीवन की दिशा में इस विश्वविद्यालय में प्राप्त होनेवाली शिक्षा का उपयोग नहीं करते तब तक आपके लिए विश्वविद्यालय की शिक्षा व्यर्थ है। यदि आपकी शिक्षा ऐसी नहीं है जिससे कि आप अच्छी तरह से जीवन व्यतीत कर सकें, यदि वह ऐसी नहीं है जिससे आप दूसरों को अपने प्रभाव में ला सकें तो आपकी वह शिक्षा असफल है। क्योंकि उससे शिक्षा के वास्तविक अर्थ की पूर्ति नहीं होती। सामाजिक भलाइयाँ किताबों पर नहीं निर्भर करतीं।

आज-कल शिक्षा का व्यापक प्रचार हुआ है किन्तु हमें इस बात का पक्का विश्वास नहीं होता कि हमारा जीवन अपेक्षाकृत अधिक उन्नत और हमारा भविष्य अधिक उज्ज्वल हो गया है। हमें अपने सामाजिक सम्बन्धों को बढ़ाने के लिए बौद्धिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका है इसी के कारण निराशा पाई जाती है। हम देखते हैं कि आदर्श मानव-सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या एक प्रकार से सर्वथा भिन्न समस्या है। रहन-सहन की समस्या बहुत अधिक जटिल हो गई है और जिस रूप से हमें इसका सामना करना पड़ रहा है वह ठीक नहीं।

हम चिरन्तन सत्य की ओर न जाकर, छोटी छोटी बातों के लिए आपस में झगड़ा मोल ले लेते हैं। हिन्दू-धर्म का मूलमंत्र आत्मा के प्रति विश्वास है। धार्मिक कृत्य आदि सभी बातों को दूसरा स्थान प्राप्त है। धर्म का प्रभाव बाह्य नहीं आन्तरिक होता है जिसका सांसारिक बातों से कोई मतलब नहीं होता। मनुष्य को एक बार अपनी आत्मा का बोध होने, आभ्यन्तरिक जगत् से सम्पर्क स्थापित करने के उपरान्त उसका अभिमान, दम्भ आदि नष्ट हो जाता है और उसमें एक नवीन प्रकार की भावना उत्पन्न होती है।

मनुष्य में स्वभावतः अच्छा बनने और सत्य की खोज करने की इच्छा होती है। किन्तु जब तक उसमें ग्रहण करने की शक्ति नहीं है तब तक उसे सत्य की शिक्षा नहीं दी जा सकती। मानव-जीवन में आध्यात्मिक जीवन के गुण विद्यमान हैं। धर्म मनुष्य की आत्मा को पवित्र करता है, वह विश्व के रहस्य की भावना जाग्रत करता है। धर्म करुणा और दया को संचार करनेवाला होता है। धर्म का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ता है।

हिन्दू-सभ्यता का निर्बाध चला आना ही उसकी शक्ति का परिचायक है। यदि कोई अवयव अपने मार्ग में बाधा उत्पन्न करनेवाली वस्तु को दूर करने में समर्थ नहीं होता तो उसे सक्रिय नहीं कहा जाता, वह मृतक हो जाता है। आज-कल हिन्दू-समाज के सामने सबसे महत्त्व प्रश्न यह है कि क्या वह अपने मार्ग की बाधाओं को स्वतः दूर कर सकने में समर्थ है। यदि हम वर्तमान सामाजिक स्वरूप को, जो नष्ट हो रहा है, इस प्रकार रखना चाहते हैं, यदि हम वर्णभेद तथा छुआछूत की भावनाओं को प्रश्रय देना चाहते हैं तो उस अवस्था में हिन्दू-धर्म के प्रति अपने को सच्चा नहीं साबित कर सकते। हम इस तरह की अनुचित बातों को क़ायम रखने के लिए दलील पेश करने के सिवाय ईश्वर को प्रसन्न नहीं कर सकते। एक परमात्मा में विश्वास रखने का मतलब यह है कि हम सभी उसी की सन्तान हैं, हम सब एक ही से उत्पन्न हुई हैं। ब्राह्मण और हरिजन अथवा अन्य सभी भिन्न-भिन्न नामों से उसी एक ही परमात्मा की उपासना करते हैं। यदि समाज को क़ायम रखना है तो व्यक्तिगत मर्यादा की रक्षा के लिए ध्यान देना सबसे आवश्यक है।

मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि जब संसार के समस्त राष्ट्र एक सूत्र में बँध जायँगे और जब एक प्रजातन्त्र क़ायम होगा तो उस समय भारत को एक बहुत ही महत्त्व का स्थान प्राप्त होगा।

भारत के व्यापार की दुरवस्था

बम्बई के मारवाड़ी चेम्बर आफ़ कामर्स का अभी हाल में वार्षिक अधिवेशन हुआ था। उसके सभापति के पद से श्रीयुत बेगराज गुप्त ने एक महत्त्वपूर्ण भाषण किया है। उन्होंने उसमें भारत की व्यापारिक दशा के अधःपात का ब्योरेवार वर्णन किया है। उसका ज्ञातव्य अंश हम 'प्रताप' से यहाँ संकलित करते हैं।

गत वर्ष देश की व्यापारिक और आर्थिक दशा का गम्भीर अधःपतन हुआ है। सन् १९३५ में जो सुधार आरंभ हुआ था वह १९३७ के मध्य तक तो क़ायम रहा था किन्तु उसके बाद व्यापारिक प्रवाह की लहर फिर पलट गई। इसके समर्थन में इतना कह देना काफ़ी होगा कि १९३७ के द्वितीय त्रयमास में निर्यात का परिणाम जो ५० करोड़ रुपये था वह तृतीय त्रयमास में ४८ करोड़ और चतुर्थ त्रयमास में ४३ करोड़ रह गया था। वही

१९३८ के पहले तीन महीने में ३९ करोड़ और दूसरे चतुर्थ मास में घटकर सिर्फ़ ३७ करोड़ का रह गया था। यों कमी तो आयात के परिमाण में भी हुई है लेकिन निर्यात की तुलना में नहीं के बराबर। इस बात का अन्दाज़ा इस बात से लग सकता है कि उपर्युक्त समय के अन्दर त्रैमासिक आयात ४२ करोड़ से घटकर ३८ करोड़ हो गया था। इन परिवर्तनों का नतीजा यह हुआ है कि हिन्दुस्तान का "ट्रेड बैलेन्स" जो १९३५-३६ के ३०॥ करोड़ से बढ़कर १९३६-३७ में ७७॥। करोड़ हो गया था। वह १९३७-३८ में गिरकर सिर्फ़ १६ करोड़ रह गया है। उसके बाद भी परिस्थिति में कोई सुधार के लक्षण प्रकट नहीं हुए हैं। सन् १९३७ के जुलाई, अगस्त और सितम्बर के महीनों में जो विदेशी व्यापार का मासिक परिमाण ३० करोड़ के लगभग था वह १९३८ के उन्हीं तीन महिनों में २५ करोड़ मासिक रह गया था।

वस्तुओं के भावों में भी इसी प्रकार का चिन्ताजनक पतन दिखाई पड़ता है। १९३७ के आक्टोबर के महीने से जिन्सों के भाव किस प्रकार लगातार गिरते आ रहे हैं इसका ठीक ठीक परिचय निम्नलिखित तालिका से हो जायगा।

(जुलाई १९१४-१००)

सितम्बर	१९३७	१०४
आक्टोबर	,,	१०४
नवम्बर	,,	१०३
दिसम्बर	,,	१०१
जनवरी	१९३८	९९
फ़रवरी	,,	९७
मार्च	,,	९६
अप्रैल	,,	९४
मई	,,	९४
जून	,,	९४
जुलाई	,,	९५
अगस्त	,,	९४
सितम्बर	,,	९५

यह पतन जो हुआ है तो किसी एक या दो चीज़ों की मंदी के कारण नहीं हुआ है। अनाज, रुई, जूट, तिलहनबान, कपड़े, चाय, धातुओं आदि सभी व्यापारिक वस्तुओं के भाव गिर गये हैं। केवल शकर और इमारती सामा[न] के भावों में वृद्धि हुई है।

भविष्य अन्धकारमय होगा या प्रकाशमान यह [इस] बात पर निर्भर होगा कि हम इस अन्धकार में प्रका[श] फैलाने के लिए संगठित संगत रीति से देश की निर्मा[ण] शक्ति का उपयोग कर कौन से प्रयत्न करते हैं। आर्थि[क] क्षेत्र में संकुचित राष्ट्रीयता की हम भले ही निन्दा क[रें] परन्तु कम से कम निकट भविष्य में तो दुनिया के अधिका[ंश] भागों में आर्थिक आत्मनिर्भरता की नीति का आधिप[त्य] रहनेवाला है। खेद की बात यह है कि हिन्दुस्तान [की] सरकार को देश के व्यापार की बरबादी और बढ़ती ह[ुई] बेकारी के सवालों को हल करने के लिए कुछ भी करने [की] आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। उनके विचार से कदाचि[त्] बजट बैलेन्स कर लेने और फ़ौजों के द्वारा आतंक जमा[ये] रखने में आदर्श शासन की इतिश्री हो जाती है। मेरे म[त] मत से इस अवसर पर भारतीय जनमत को अपनी शक्ति का अनुभव कर अपनी आवाज़ बुलंद करनी चाहिए। देश की रक्षा करने का उपाय यही है कि एक तर[फ़] सिक्के का मूल्य घटाकर वस्तुओं का भाव बढ़ाया जा[य] दूसरी तरफ़ देश की समस्त शक्तियाँ आर्थिक पुनर्निर्मा[ण] में संलग्न की जायँ।

पत्रकारों के कर्तव्य

संयुक्त-प्रान्त के प्रधान मंत्री माननीय पंडि[त] गोविन्दवल्लभ पन्त ने प्रेस-सलाहकार-कमिटी की बैठ[क] में 'पत्रकारों के कर्तव्य' के विषय पर एक महत्त्वपू[र्ण] भाषण किया है। पत्रकारों को इस भाषण को ध्यान [से] पढ़ना चाहिए। भाषण का आवश्यक अंश निम्न है—

प्रचार पर ही प्रजातंत्र फलता फूलता है। प्रजात[ंत्र] के फलने फूलने में प्रेस की ज़िम्मेदारी तथा अनेक सा[र्व]जनिक प्रश्नों के प्रति उसके रुख़ का भी बहुत कुछ हा[थ] रहता है। जिस उत्साह, जोश, निर्भीकता, गम्भीरता त[था] न्यायप्रियता से पत्रकार अपने कर्तव्य का पालन करते [हैं] उससे जनता की विचारधारा पर बहुत ज़्यादा प्रभ[ाव] पड़ता है। किसी किसी देश में प्रेस को राज्य के प्र[बन्ध] में चौथा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। मैं भी [प्रेस] को एक सभ्य प्रगतिशील समाज का बहुत ही आवश्[यक] अंग समझता हूँ। कभी कभी प्रेस के दुरुपयोग से बहुत बुरा नतीजा होता है। कभी कभी जनता की विचारधारा को दबाने तथा वास्तविक घटना को छिपाने के लिए भी प्रेस का उपयोग किया जाता है। आप जानते हैं कि कुछ देशों में प्रेस का नियंत्रण किस प्रकार किया जा रहा है। परन्तु हम प्रेस को अपना सहायक समझते हैं। हम यह उम्मीद करते हैं कि सहायता से हम अपना कार्य अधिक सुगमता से कर सकेंगे। प्रेस के साथ हमारा सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है। हम चाहे उनके साथ सहयोग करें या उनका दमन करना शुरू कर दें। हम लोगों ने पहला रास्ता अख़्तियार करना ही अधिक श्रेयस्कर समझा है। ऐसा हम लोगों ने इसलिए किया है कि हम प्रजातन्त्र की इज़्ज़त करना चाहते हैं। और हम समाज तथा व्यक्ति विशेष के नागरिक स्वतंत्रता को क़ायम रखना चाहते हैं। सरकार नागरिक स्वतंत्रता को क़ायम रखने के लिए सब कुछ कर रही है। आपको मालूम होगा कि मंत्रिपद ग्रहण करते ही हम लोगों ने प्रेस के ऊपर से सब तरह की रोकें हटा लीं। प्रेस ऐक्ट के अन्तर्गत अख़बारों से जो ज़मानतें ली गई थीं उनको हमने वापस करा दिया। कुछ प्रांतों में अब यह कोशिश हो रही है, जैसा कि मैंने सुना है, कि प्रेस की अनधिकारपूर्ण आज़ादी पर कुछ रोक लगा दी जाय। मुझे अन्य प्रांतों के मामलों से कोई सरोकार नहीं है और न मैं उसके विषय में अपने विचार ही व्यक्त करना चाहता हूँ। कुछ ख़ास मौक़ों पर अन्य प्रान्तों में कुछ क़ायदे भी बनाये गये हैं। परन्तु हमको अपने प्रांत में ही अनेक जटिल समस्याओं को सुलझाना है। मुझे यह कहते हुए बड़ा खेद होता है कि ऐसी हालत में भी हमारे प्रांत के कुछ पत्र बहुत ही अनर्गल बातें लिख मारते हैं और उनके विचार ऐसे नहीं होते जो एक ज़िम्मेदार पत्र के लिए होना बहुत ज़रूरी है। हमने इस बात की बराबर कोशिश की है कि प्रेस की आज़ादी क़ायम रखी जाय। अब तक हमने किसी भी मामले में प्रेस ऐक्ट का प्रयोग नहीं किया है। हमने धारा १२४ (अ) के अन्तर्गत भी अब तक कोई कार्यवाही नहीं की है और अब तक बावजूद इसके कि हम पर व्यक्तिगत आक्षेप किये गये हमने हतक इज़्ज़ती का कोई भी दावा नहीं किया। हम अपनी नीति पर सदा क़ायम रहना चाहते हैं। यदि आज हम प्रेस की स्वतंत्रता पर कुठाराघात करना शुरू कर दें तो सारी व्यवस्था ही उलट जायगी। हम अपने देश में आज़ादी क़ायम करना चाहते हैं। हमारे पास मौजूदा हालत में जो अधिकार हैं उन्हीं पर अमल करते हुए हम भविष्य के लिए एक ऐसी परम्परा स्थापित करना चाहते हैं जो स्वस्थ और अनुकरणीय हो। सरकार को सज़ा देने के जो अधिकार प्राप्त हैं उनकी मदद से वह प्रेस को ऐसा अनधिकारपूर्ण चेष्टाओं के लिए सज़ा दे सकती है, परन्तु यह सज़ा केवल भौतिक होगी। परन्तु प्रेस नैतिक वातावरण को दूषित कर सकता है। वह हमारे दिमाग़ को विषाक्त बना सकता है। वह हमें ऐसे नैतिक पतन की ओर अग्रसर कर सकता है कि जिससे निकलने के लिए अच्छे से अच्छा उपाय भी कारगर न हो सके। अब मैं प्रेस कमिटी से यह उम्मीद करूँगा कि वह इन समस्याओं पर अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार करेगी। प्रेस को दूषित वातावरण से दूर रखने और उसको इस प्रकार से सुसंगठित करने के लिए जिसमें उसका संगठन दृढ़ और स्वस्थ हो यह बहुत ज़रूरी है कि पत्रकारों की शक्ति स्वयं इसके लिए अग्रसर हो।

अपने संगठन को बुरे आदमियों से मुक्त रखने के लिए यह ज़रूरी है कि आप उनसे सदा सतर्क रहें। मैं यह चाहता हूँ कि आप स्वयं ही इस बात की ज़रूरत महसूस करें कि अपने संगठन पर आपको ख़ुद ही नियंत्रण रखना है आपको ख़ुद अपने पत्रों पर कड़ी नज़र रखना है। जब आप यह महसूस करें कि किसी पत्र ने कोई ऐसा काम किया जिससे आपके पेशे के सम्मान को धक्का पहुँचता है तो आपका यह कर्तव्य हो जाता है कि आप ऐसे पत्रकार को इसके लिए उचित दंड दें ताकि आपके मामलों में दूसरों को पड़ने की ज़रूरत न पड़े। आप इस बात की उम्मीद नहीं रख सकते कि सभी पत्रकार और पत्र एक उँचे स्टैंडर्ड को क़ायम रख सकेंगे। परन्तु ऐसे पत्रकारों के सम्बन्ध में जो अपने पेशे का उचित सम्मान नहीं कर सकते और जो पत्रकार ऐसी आदर्श कला के नाम पर धब्बा लगाते हैं जिससे आपके पेशे को बहुत कुछ हानि हो सकती है, आप उचित कार्यवाही कर सकते हैं। यदि आप ऐसा नहीं करते हैं तो आपको अपनी स्थिति सुरक्षित रखने में बड़ी कठिनाई होगी। आपको यह मालूम

ही है कि जातीयता तथा साम्प्रदायिकता का प्रश्न हमारे देश के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आपमें से हर एक को यह भली भाँति मालूम है कि विभिन्न सम्प्रदाय तथा जाति के परस्पर मैत्री भाव पर ही हमारे देश का उत्थान निर्भर है। प्रेस इस मैत्री भाव को स्थापित करने में बहुत कुछ कर सकता है। प्रेस का यह परम कर्तव्य है कि वह अपने पत्रों में ऐसी बातों को स्थान न दे जिससे परस्पर वैमनस्य बढ़ने में सहायता मिल सके। यदि कोई पत्र इन बातों का ख़्याल न रख करके साम्प्रदायिक वैमनस्य फैलाना ही अपना कर्तव्य समझता है तो हमारे सामने एक विकट परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। अब हम आपको इस बात का निमंत्रण देते हैं कि आप स्वयं ऐसी योजना तैयार करें जिससे विभिन्न सम्प्रदाय और जाति-वालों में परस्पर मैत्री भाव और सद्भावना स्थापित हो जाय और पूर्ण शान्ति क़ायम रक्खी जा सके। मैं यह नहीं चाहता हूँ कि आप किसी की आलोचना न करें यदि आपसे यही अधिकार छीन लिया जाय तो आपके पास फिर रह क्या जाता है? आपका तो यह कर्तव्य है कि आप दूसरों की ग़लती बतलाकर उन्हें ठीक रास्ते पर लगायें। आप जो कुछ भी काम करें, जो कुछ भी लिखें या जो कुछ भी उपदेश दें सबका ध्येय यही होना चाहिए कि हममें विश्व भ्रातृत्व का भाव व्याप्त हो। सरकार की कार्यवाहियों और योजनाओं की आलोचना करने के अलावा आपको यह भी करना चाहिए कि आप सरकार को क्रियात्मक योजनायें पेश करके सहायता दें। इसके लिए हम आप लोगों के बड़े कृतज्ञ होंगे। मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूँ कि पब्लिक इन्फ़ार्मेशन विभाग आपको सब तरह की सहायता देने के लिए हमेशा तत्पर रहेगा।

भारत का आर्थिक संकट

१९३७-३८ के भारत के व्यापार की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई है। इसे भारत-सरकार के आर्थिक सलाहकार ने लिखा है। इसके पढ़ने से विदित होगा कि भारत में आर्थिक संकट की शुरुआत कैसे हुई और भारतीय किसान पर उसका सबसे अधिक असर क्यों पड़ा। रिपोर्ट का उक्त अंश इस प्रकार है—

१९३७-३८ में दुनिया भर के व्यापार की अन्तर्राष्ट्रीय कक्षा में भारतीय व्यापार उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच गया था। १९३७ के प्रारम्भ में लक्षण अच्छे दिखाई पड़े, क्योंकि शस्त्रीकरण के फलस्वरूप कच्चे और पक्के दोनों तरह के माल की माँग की बड़ी आशा थी। यह माँग १९३७ में इतनी तेज़ी से बढ़ी कि व्यापारियों को इस बात का भय होने लगा कि कहीं माल कम न पड़ जाय।

किन्तु यह उन्नति स्थायी न रह सकी। अप्रैल १९३७ में चीज़ों के दाम अधिक से अधिक ऊँचे होकर ठहर गये। इसके बाद गिरना शुरू हुआ और जून तक दाम तेज़ी से गिरते गये। थोड़े दिनों के मामूली उतार चढ़ाव के बाद सितम्बर से नवम्बर तक दाम फिर पहले की तरह तेज़ी से गिरते गये। इसके बाद बाज़ार का रुख़ थोड़े दिनों तक तो अच्छा रहा और इसके बाद दामों का गिरना फिर शुरू हो गया, जो जून १९३८ तक जारी रहा। उसके बाद से अब फिर दामों का चढ़ना जारी है, लेकिन अभी यह कोई नहीं बता सकता कि उन्नति की यह स्थिति निश्चित रूप से जारी रहेगी और १९३८ का जून महीना ही स्थिति को बदल देनेवाला समझा जायगा।

१९२९ में व्यापार में संकट का सूत्रपात हुआ था, जिससे उद्योग-प्रधान देशों की अपेक्षा कृषि-प्रधान देशों को कहीं अधिक हानि पहुँची। कृषिजन्य पदार्थों के दाम गिर जाने से भारतीय किसान बड़े ही अर्थसंकट में फँसा था। १९३२-३३ की व्यापारिक उन्नति में भी उसे कोई लाभ न हुआ, क्योंकि जिन चीज़ों का मूल्य बढ़ने में उसका लाभ था उनके मूल्य में कोई ख़ास वृद्धि न हो सकी। १९३७ के बाद से व्यापारिक ह्रास का स्वरूप स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा।

भारतीय उद्योग-धन्धे ने कुछ दिनों तक तो इस अवनति का मुक़ाबिला किया लेकिन अक्टोबर १९३७ के बाद जब सारे संसार की स्थिति डगमगाने लगी भारत भी संसारव्यापी औद्योगिक ह्रास का ग्रास बन गया।

नियम :—

(१) किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जितनी पूर्ति-संख्यायें भेजना चाहे, भेजे, किन्तु प्रत्येक वर्ग-पूर्ति सरस्वती पत्रिका के ही छपे हुए फ़ार्म पर होनी चाहिए। इस प्रतियोगिता में एक व्यक्ति को केवल एक ही इनाम मिल सकता है। इंडियन प्रेस के कर्मचारी इसमें भाग नहीं ले सकेंगे। प्रत्येक वर्ग की पूर्ति स्याही से की जाय। पेंसिल से की गई पूर्तियाँ स्वीकार न की जायँगी। अक्षर सुन्दर, सुडौल और छापे के सदृश स्पष्ट लिखने चाहिए। जो अक्षर पढ़ा न जा सकेगा अथवा बिगाड़ कर या काटकर दूसरी बार लिखा गया होगा वह अशुद्ध माना जायगा।

(२) प्रतियोगिता में शामिल होने के लिए जो फ़ीस वर्ग के ऊपर छपी है, दाख़िल करनी होगी। फ़ीस मनीआर्डर-द्वारा या सरस्वती-प्रतियोगिता के प्रवेश-शुल्क-पत्र (Credit voucher) के द्वारा दाख़िल की जा सकती है। इन प्रवेश-शुल्क-पत्रों की किताबें हमारे कार्यालय से ३) या ६) में ख़रीदी जा सकती हैं। ३) की किताब में आठ आने मूल्य के और ६) की किताब में १) मूल्य के ६ पत्र बँधे हैं। एक ही कुटुम्ब के अनेक व्यक्ति जिनका पता-ठिकाना भी एक ही हो, एक ही मनीआर्डर-द्वारा अपनी अपनी फ़ीस भेज सकते हैं और उनकी वर्ग-पूर्तियाँ भी एक ही लिफ़ाफ़े या पैकेट में भेजी जा सकती हैं। वर्ग-पूर्ति की फ़ीस किसी भी दशा में नहीं लौटाई जायगी। मनीआर्डर व वर्ग-पूर्तियाँ 'प्रबन्धक, वर्ग-नम्बर ३०, इंडियन प्रेस, लि०, इलाहाबाद' के पते से आनी चाहिए।

(३) लिफ़ाफ़े में वर्ग-पूर्ति के साथ मनीआर्डर की रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र नत्थी होकर आना अनिवार्य है। रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र न होने पर वर्ग-पूर्ति की जाँच न की जायगी। लिफ़ाफ़े की दूसरी ओर अर्थात् पीठ पर मनीआर्डर भेजनेवाले का नाम और पूर्ति-संख्या लिखना आवश्यक है।

(४) जो वर्ग-पूर्ति २७ जनवरी तक नहीं पहुँचेगी, जाँच में शामिल नहीं की जायगी। स्थानीय पूर्तियाँ २५ ता० को पाँच बजे तक बक्स में पड़ जानी चाहिए और दूर के स्थानों (अर्थात् जहाँ से इलाहाबाद को डाकगाड़ी से चिट्ठी पहुँचने में २४ घंटे या अधिक लगता है) से भेजनेवालों की पूर्तियाँ २ दिन बाद तक ली जायँगी। वर्ग-निर्माता का निर्णय सब प्रकार से और प्रत्येक दशा में मान्य होगा। शुद्ध वर्ग-पूर्ति की प्रतिलिपि सरस्वती पत्रिका के अगले अङ्क में प्रकाशित होगी, जिससे पूर्ति करनेवाले सज्जन अपनी अपनी वर्ग-पूर्ति की शुद्धता-अशुद्धता की जाँच कर सकें।

(५) वर्ग-निर्माता की पूर्ति से, जो मुहर लगा करके रख दी गई है, जो पूर्ति मिलेगी वही सही मानी जायगी। यदि कोई पूर्ति शुद्ध न निकली तो मैनेजर शुद्ध पूर्ति का इनाम जिस तरह उचित समझेंगे, बाँटेंगे।

अङ्क-परिचय

बायें से दाहिने

१—शिव जी। ४—सत्कारसहित।
७—आने-जाने के लिए ही यह होता है।
८—किसानों के घरों में यह प्रायः दिखाई पड़ता है।
१०—यह उपयोग की वस्तु है ही।
११—हिन्दुओं का प्राचीन तीर्थस्थान।
१२—इसके द्वारा सरकारी आमदनी अवश्य होती है।
१४—आज-कल संसार की दृष्टि इस पर लगी है।
१५—इसके नाम से रंगमंच का स्मरण हो आता है।
१७—देहात के रहनेवाले इसका उपयोग अवश्य करते हैं।
२०—इसके गड़बड़ से जो शब्द बनता है वह कमल अर्थ का द्योतक है।
२१—बातूनी व्यक्ति प्रायः यह काम करते हैं।
२२—राजा को यह बहुत ही प्रिय है।
२४—खेत जोतनेवाला।
२७—शरीर। २८—अच्छा
२९—चोट लगने पर इसका होना ज़रूरी है।
३१—एक वृक्ष।
३३—इसका उलट-फेर साँप अर्थ का बोधक है।
३४—इसका पानी उपयोग में आता है।

ऊपर से नीचे

१—यह प्राचीन ऐतिहासिक स्थान आज-कल लोगों की ज़बान पर है।
२—प्राणी, जीव।
३—बालकों को ·········· भला मालूम होता है।
४—गृहस्थों के यहाँ इसका उपयोग होता ही है।
५—इस शब्द को सुनकर देखने का बोध होता ही है।
६—आज-कल योरप में इसकी बड़ी चर्चा है।
८—बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो इसे खाकर पेट भरते हैं।
९—ठंड लगना। १३—रात्रि।
१४—चिल्लाना। (इससे बननेवाले शब्द के 'का' के 'ख्का' पढ़िए)।
१६—इसका चित्त चंचल होता है।
१८—यह राजा को अधिक प्रिय होती है।
१९—राजा जहाँ रहता है वहाँ इसका होना आवश्यक है।
२१—कुसंगति से प्रायः नवयुवक ········ जाते हैं।
२३—माता।
२५—इसे अपने काम में परिश्रम करना ही पड़ता है।
२६—प्रसन्नता।
२८—धोबी के लिए यह आवश्यक है।
३०—अभिमान, घमंड।
३२—नौकर को मालिक के·····से काम करना चाहिए।

आपनी याददाश्त के लिए वर्ग ३० की पूर्तियों की नक़ल यहाँ पर कर लीजिए और इसे निर्णय प्रकाशित होने तक अपने पास रखिए।

वर्ग नं० २९ की शुद्ध पूर्ति

वर्ग नम्बर २९ की शुद्ध पूर्ति जो बंद लिफ़ाफ़े में मुहर लगाकर रख दी गई थी, यहाँ दी जा रही है।

स	मा	ज	वा	द			ना	य	क
व	न	बा	स		स	बा	र		ला
ल	स		व	र	हा	न			प्रे
	रो	ष		स	सु	र		श	मी
दाँ	व		शा		हा		ताँ		
	र	सि	क		गि	रि	त	न	या
रा		क		मा	न			व	
ज	र	ता	र			ज	रा	यु	ज
का	म		त		क	ल	र	व	
ज	ल	ज		बे	न	ज		के	र

वर्ग नं० २९ (जाँच का फ़ार्म)

मैंने सरस्वती में छपे वर्ग नं० २९ के आपके उत्तर से अपना उत्तर मिलाया। मेरी पूर्ति

नं०...में } कोई अशुद्धि नहीं है। / १, २, ३ हैं।

मेरी पूर्ति पर जो पारितोषिक मिला हो उसे तुरन्त भेजिए। मैं १) जाँच की फ़ीस भेज रहा हूँ।

हस्ताक्षर ....

पता ....

बिन्दीदार लाइन पर काटिए

नोट—जो पुरस्कार आपकी पूर्ति के अनुसार होगा वह फिर से बँटेगा और फ़ीस लौटा दी जायगी। पर यदि पूर्ति ठीक न निकली तो फ़ीस नहीं लौटाई जायगी। जो समझें कि उनका नाम ठीक जगह पर छपा है उन्हें इस फ़ार्म के भेजने की ज़रूरत नहीं। यह फ़ार्म १५ जनवरी के बाद नहीं लिया जायगा।

इसे काटकर लिफ़ाफ़े पर चिपका दीजिए

मैनेजर वर्ग नं० ३०

इंडियन प्रेस, लि०,

इलाहाबाद

मुफ़्त कूपन की नक़ल यहाँ कीजिए।

वर्ग नं० ३० मुफ़्त कूपन पूर्ति नं०...

वर्ग नं० ३० पूर्ति नं०... फ़ीस ।।)

इस लाइन से काटिए

वर्ग नं० ३० पूर्ति नं०... फ़ीस ।।)
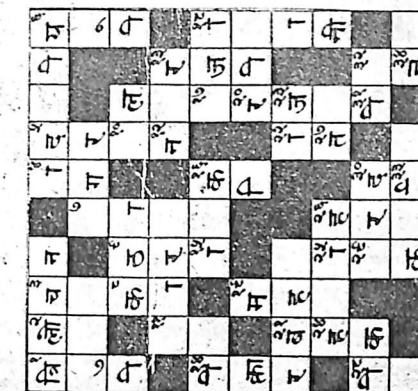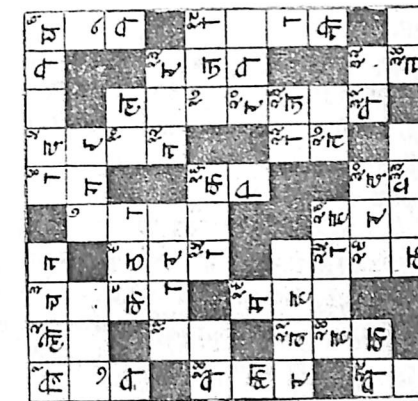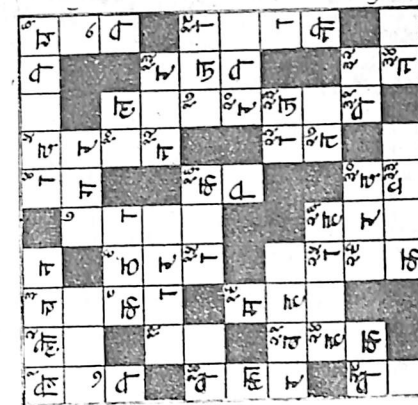
नाम ....

पता ....

नोट—ये तीनों कूपन यहाँ एक साथ केवल एक व्यक्ति के भरने के लिए दिये जा रहे हैं। तीनों कूपनों को एक साथ काट कर भेजना चाहिए। जो एक कूपन भेजना चाहें वे दो को छोड़ दें। जो दो भेजेंगे उन्हें तीसरे कूपन की फ़ीस न देनी पड़ेगी। यानी वे १) में तीनों कूपन भेज सकेंगे। विशेष ब्योरा पृष्ठ १२० पर देखिए।

वर्ग नं० २८ पर नई शंकायें

श्रीमान् मैनेजर,
वर्ग नं० २८
इंडियन प्रेस, इलाहाबाद

आपके वर्ग नं० २८ का नतीजा मिला। आपने जो पूर्ति की है वह कुछ शंका देती है।

२६ बायें से दायें "नगी" और २७ ऊपर से नीचे "गीर" ये दोनों ही शब्द आपके अङ्क-परिचय-अनुसार पूरा मतलब नहीं देते।

क्योंकि नगी माने नग या रत्न ज़रूर है मगर बजाय नगी के नमी शब्द ज़्यादा जँचता है, क्योंकि नमी के माने नर्मी या कोमलता। जिस मनुष्य में नम्रता या कोमलता है प्रायः सभ्य-समाज उसी का आदर करता है, न कि वह मनुष्य जो कि रत्न रखता है और हृदय का कठोर है। अब ऊपर से नीचे आइए। आपने "गीर" शब्द के माने शायद "वाणी" लगाये हैं मगर इसमें भी शंका है। मीर शब्द ज़्यादा जँचता है। मीर के माने सरदार के होते हैं। जहाँ कई लोग रहते हैं उस समय यदि उनका सरदार वहाँ आ जाता है तो सब लोग उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। वाणी में जब तक कोई विशेषता न हो तब तक लोग उसकी ओर आकर्षित नहीं होते; मगर सरदार चाहे जैसा हो उसको देखते ही सब लोगों का ध्यान उसकी तरफ़ चला ही जाता है।

आशा है आप कृपा करके मेरी इन शंकाओं के दूर करने का उपाय करेंगे।

भवदीय,
विद्याभूषण अग्रवाल
मास्टर हिन्दू हाईस्कूल
मु० बादशाहपुर
ज़ि० जौनपुर

नोट—आशा है कि प्रतियोगीगण इसका समाधान करेंगे।

वर्ग-मैनेजर

पहेली से ज्ञानवृद्धि

प्रिय सम्पादक जी,
वन्दे मातरम्।

आपका भेजा हुआ प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ; ए[illegible] धन्यवाद।

'सरस्वती' में व्यत्यस्त-रेखा-शब्द-पहेली की आय[illegible] करके आपने हिंदी-जगत् का ऐसा उपकार किया है [illegible] महत्ता का पता आज न सही किन्तु एक युग पश्चा[illegible] अवश्य ही लग जावेगा, इससे मनोविनोद के साथ ही [illegible]
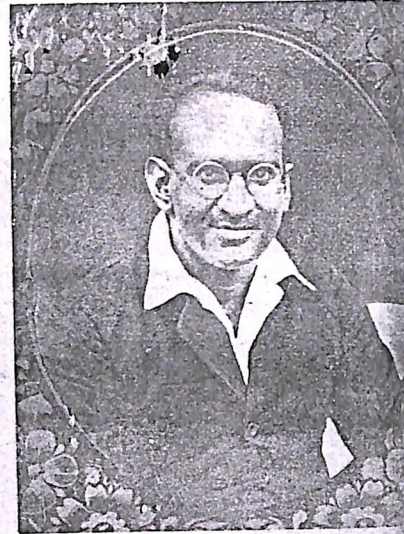
कुँवर मुरलीमनोहर व्यास, एडवोकेट, नागौर, मार[illegible]

शब्द-ज्ञान-वृद्धि कितनी होती है इस बात को वे ही [illegible] भाँति समझ सकते हैं जिन्होंने किसी भी ऐसी शब्द-[illegible] को सुलझाने का प्रयत्न किया हो।

आशा है अवकाश मिलने पर इस विषय पर [illegible] लेख लिखकर भेजूँगा।

एक बार और धन्यवाद देता हुआ—

भवदीय,
कुँ० मुरलीमनोहर व्यास,
बी० ए०, एल-एल० बी०
एडवोकेट
नागौर (मारवाड़)
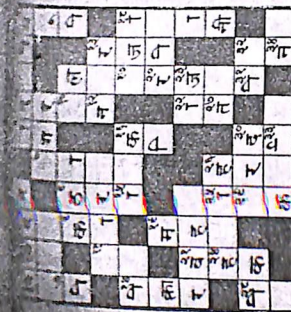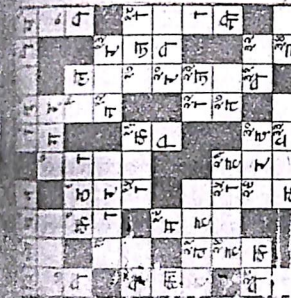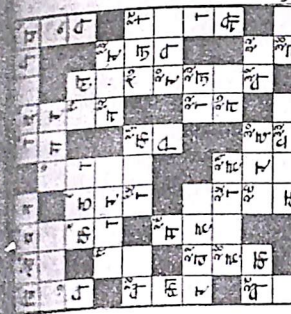
अपनी यादाश्त के लिए वर्ग ३० की पूर्तियों की नक़ल यहाँ कर लीजिए, और इसे निर्णय प्रकाशित होने तक अपने पास रखिए।

—इस लाइन से काटिए—

वर्ग नं० ३० पूर्ति नं०... फ़ीस ।)

वर्ग नं० ३० पूर्ति नं०... फ़ीस ।)

वर्ग नं० ३० मुफ़्त कूपन पूर्ति नं०...

नाम ... पता ...

नोट—ये तीनों कूपन यहाँ ... साथ केवल एक व्यक्ति के भरने के लिए दिये जा रहे हैं। तीनों कूपनों की एक साथ ... भेजना चाहिए। जो एक कूपन भेजना चाहें वे ... भी छोड़ दें। जो दो भेजेंगी उन्हें तीसरे कूपन की फ़ीस न देनी पड़ेगी। यानी है ।) में तीनों कूपन भेज सकेंगे। विशेष ब्योरा पृ० १२० पर देखिए।
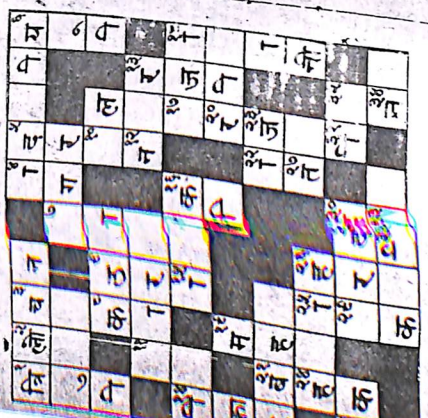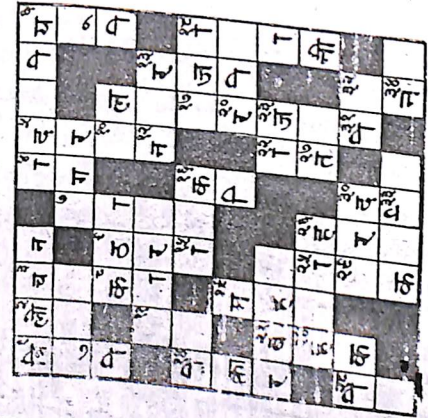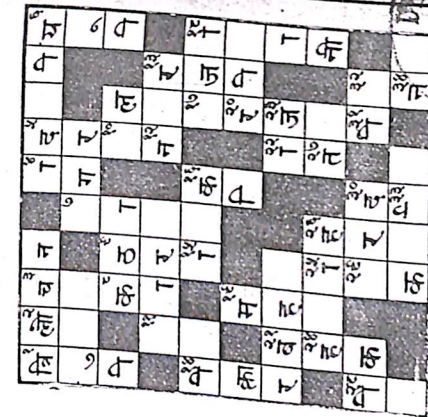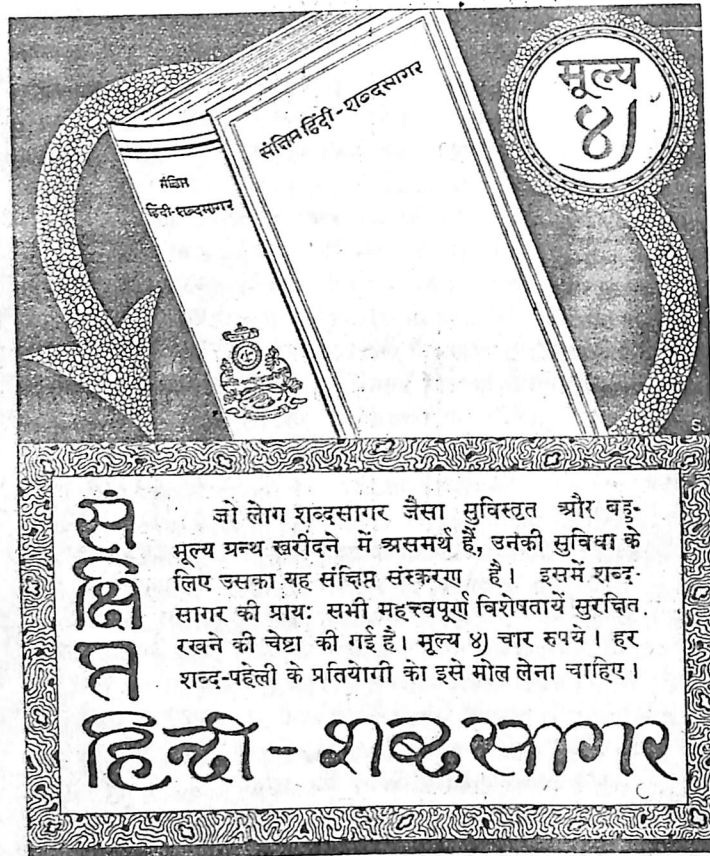
आवश्यक सूचनायें

(१) इस बार पाठक देखेंगे कि एक कूपन में एक नाम से अधिक भरने की गुंजाइश नहीं है परन्तु प्रत्येक कूपन में ऐसी सुविधा की गई है कि वर्ग नं० ३० की तीन पूर्तियाँ एक साथ भेजी जा सकेंगी। दो आठ आठ आने की और तीसरी मुफ़्। मुफ़्त पूर्ति सिर्फ़ उन्हीं की स्वीकार की जायगी जो दो पूर्तियों के लिए १) भेजेंगे। और तीनों पूर्तियाँ एक ही नाम से भेजेंगे। एक पूर्ति भेजनेवाले को भी पूरा कूपन काटकर भेजना चाहिए और दो ख़ाने ख़ाली देने चाहिए।

(२) स्थानीय पूर्तियाँ 'सरस्वती-प्रतियोगिता-बक्स' जो कार्यालय के सामने रक्खा गया है, दिन में दस पाँच के बीच में डाली जा सकती हैं'।

(३) वर्ग नम्बर ३०. का नतीजा जो बन्द लिफ़ाफ़े में लगाकर रख दिया गया है, ता० २८ जनवरी सन् १९३९ सरस्वती-सम्पादकीय विभाग में ११ बजे दिन में सर्वसाधारण के सामने खोला जायगा। उस समय जो सज्जन चाहें उपस्थित होकर उसे देख सकते हैं।
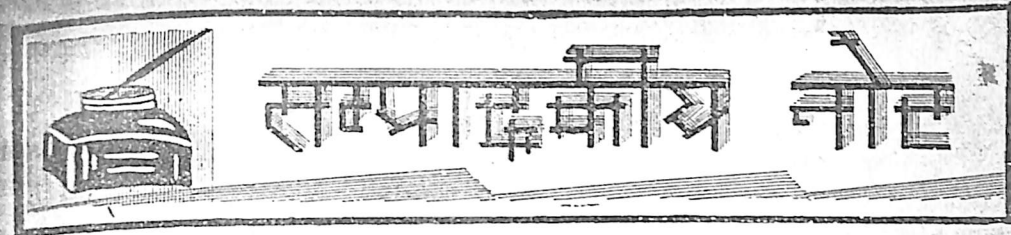
देशी राज्य और सङ्घ-शासन

इस समय देश में कतिपय देशी राज्यों में बड़ी अशान्ति है और वहाँ के निवासी उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए ज़ोरों का आन्दोलन कर रहे हैं। इस आन्दोलन को कांग्रेस की सहानुभूति तो प्राप्त है ही, और कहीं कहीं आन्दोलनकारियों का कांग्रेस के प्रसिद्ध नेताओं का सहयोग तक प्राप्त है। इस अवस्था से जान पड़ता है कि यह आन्दोलन देशी राज्यों में ज़ोर प्राप्त कर जायगा और उसे सफलता भी प्राप्त होगी। बात यह है कि १९४० में संघ-शासन की स्थापना होगी और उसमें ये देशी राज्य भी अपने प्रतिनिधि भेजेंगे। यदि देशी राज्यों में निरंकुश शासन ही जारी रहा तो उनके प्रतिनिधि भी निरंकुश रहेंगे। और संघ-सरकार की असेम्बली में ऐसे निरंकुश प्रतिनिधियों के होने से अँगरेज़ी भारत के स्वराज्य-प्राप्त प्रान्तों के प्रतिनिधियों के राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में वे बाधक सिद्ध होंगे। अतएव यह आवश्यक है कि देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन जारी हो। और जब अब देशी राज्यों में उसका आन्दोलन छिड़ गया है तब यह ज़रूरी है कि कांग्रेस उसकी उपयुक्त सहायता करे। यह उसके लिए भी हित की बात होगी। क्योंकि वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने कलकत्ते के अपने हाल के भाषण में कह दिया है कि भारत में संघ-शासन स्थापित होगा और इसके लिए राजाओं के पास आवेदन-पत्र का मसविदा भेज दिया गया है और उनसे कहा गया है कि या तो उसे स्वीकार करें या अस्वीकार करें। प्रभु शक्ति के इस आदेश को देशी राजे शायद ही अस्वीकार करें। अतएव इसे तय समझना चाहिए कि नियत समय पर राजाओं की स्वीकृति वायसराय महोदय के पास पहुँच जायगी। और उनकी स्वीकृति का न मिलना ही अभी तक संघ-शासन-व्यवस्था की स्थापना के मार्ग में बाधक रहा है। परन्तु अब जब उसका मिल जाना निश्चित सा है तब संघ-शासन की स्थापना की योजना कार्य में परिणत की जायगी। और यही वह समस्या है जिसको सुलझाने में कांग्रेस को अधिक बल लगाना पड़ेगा। ऐसी दशा में देशी राज्यों के इस आन्दोलन से वह उदासीन नहीं रह सकती। फलतः देशी राजाओं को अपने यहाँ उत्तरदायी शासन स्थापित करना पड़ेगा या उन्हें अपने प्रजावर्ग के संगठित आन्दोलन से सामना करना पड़ेगा। इस स्थिति को ध्यान में रखकर प्रभुशक्ति ने जो घोषणा की है उससे प्रकट होता है कि वह राजाओं को उत्तरदायी शासन जारी करने से विरत नहीं करेगी, परन्तु जो राजा ऐसा करना नहीं चाहेगा और यदि इस बात को लेकर उसके राज्य में विद्रोह उठ खड़ा होगा तो प्रभुशक्ति सेना भेजकर राजा की रक्षा करेगी। अर्थात् अँगरेज़ी सरकार देशी राज्यों में अहिंसात्मक आन्दोलन के मार्ग में हस्तक्षेप नहीं करेगी। परन्तु क्या देशी राज्यों की सरकारें उस अहिंसात्मक आन्दोलन का तेज सहन कर सकेंगी जिसके आगे स्वयं अँगरेज़ी सरकार को नत होना पड़ा है? फिर राजकोट के इस आन्दोलन की सफलता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। ऐसी दशा में चाहिए तो यह था कि अँगरेज़ी सरकार देशी राजाओं को यह सलाह देती कि वे जल्दी से जल्दी अपने अपने यहाँ उत्तरदायी शासन की स्थापना कर दें ताकि राजा-प्रजा में कटुता न बढ़े। परन्तु ऐसा नहीं किया गया, यह दुःख की बात है। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि अगले महीनों में देशी राज्यों में आन्दोलन उग्र रूप धारण करेगा, और उसके संघर्ष में देशी नरेश तथा उनकी प्रजा दोनों को पिसना पड़ेगा। रही उत्तरदायी शासन की स्थापना की बात, सो वह तो सभी राज्यों में स्थापित होगी ही, क्योंकि तभी संघ-शासन को कांग्रेस का सहयोग प्राप्त होगा।

राष्ट्रीयता के विकास के साधन

कांग्रेस के प्रान्तों में शासनारूढ़ हो जाने से राष्ट्रीय भावना को काफ़ी अधिक दृढ़ता प्राप्त हो गई है। अतएव अब इस बात की आवश्यकता है कि यह भावना और भी अधिक विकसित की जाय। इसके लिए हमें अन्य साधनों को

अपनाना होगा। उनमें से हम एक महत्त्व के साधन का यहाँ उल्लेख करते हैं। वह है देश के प्राचीन ऐतिहासिक चिह्नों तथा व्यक्तियों के महत्त्व की ओर लोगों के आकृष्ट करना। अपने प्राचीन चिह्नों तथा ऐतिहासिक स्थानों के प्रति यहाँ की जनता का ध्यान सदा रहा है। अपने दुर्दिनों में भी उसने उन्हें नहीं भुलाया और अपने ढंग से वह उनकी स्मृति के अमर ही बनाये रही है। परन्तु अब इस बात की आवश्यकता है कि उनके राष्ट्रीयता का रूप दिया जाय। उदाहरण के लिए हम यहाँ संयुक्त-प्रान्त के कसया और मगहर का उल्लेख करते हैं। कसया में गौतम बुद्ध का और मगहर में कबीर का निर्वाण हुआ था। परन्तु आज इन दोनों महापुरुषों के इन पवित्र स्थलों का क्या रूप है? भला हो ब्रह्मदेश और तिब्बत के बौद्धों का कि गौतम बुद्ध का जन्मस्थान और निधन-स्थान दोनों आज भी अपने अस्तित्व के क़ायम किये हुए हैं। इसी प्रकार कबीरपन्थी भी 'मगहर' को महत्त्व दिये हुए हैं। परन्तु आज के राष्ट्रीयता के युग में तो ऐसे स्थानों का दूसरा ही रूप होना चाहिए—ऐसा रूप कि उनके द्वारा हम अपनी राष्ट्रीय भावना के अधिक व्यापक रूप प्रदान कर सकें। इस ओर स्थानीय कांग्रेसी कार्यकर्ताओं का ध्यान विशेष रूप से जाना चाहिए। उनके ध्यान देने से उन महत्त्व के स्थानों को राष्ट्रीयता का रूप तो प्राप्त हो ही जायगा, साथ ही जनता की मिथ्या धारणाओं का भी उन्मूलन हो जायगा जो उनको लेकर उनमें समाई हुई हैं। परन्तु स्थानीय कार्यकर्ता तो इस ओर तभी ध्यान दे सकेंगे जब उन्हें किसी बड़े नेता से इस बात की प्रेरणा मिलेगी। और बड़े नेताओं को ऐसी बातों की ओर ध्यान देने की फ़ुर्सत ही कहाँ रहती है? ऐसी दशा में अच्छा तो यही होगा कि यह प्रश्न असेम्बलियों में उठाया जाय। क्या कोई सहृदय कांग्रेसी सदस्य इस महत्त्व के प्रश्न को अपने हाथ में लेने की उदारता दिखायेंगे।

स्वर्गीय मौलाना शौक़तअली

अलीबन्धु भारत में ही नहीं, भारत के बाहर के देशों में भी प्रसिद्ध थे। उनमें अपने देश और अपनी जाति के प्रति जो उत्कट अनुराग था उसी ने उनमें ऐसी तेजस्विता

[स्वर्गीय मौलाना शौक़तअली]

भर दी थी कि वे भारत के मुसलमानों के ही नहीं, हिन्दुओं के भी आदरणीय नेता बन गये थे। उन्होंने भारत में और भारत के बाहर भारत की स्वाधीनता की जो वकालत की है उसके बतलाने की यहाँ ज़रूरत नहीं है; क्योंकि वह सब विदित है। उन्होंने अपने स्वाधीन विचारों तथा अपनी जाति और देश के लिए संकट सहा और स्वार्थ-त्याग किया। ख़िलाफ़त-आन्दोलन के समय सारे भारत में अली-बन्धु ही दिखाई देते थे। अपनी वीर माता को साथ लेकर उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया था और ख़िलाफ़त के लिए जो विकट आन्दोलन किया था उससे ब्रिटिश सरकार भी काँप गई थी, परन्तु बाद को मतभेद हो जाने के कारण वे कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने अपने सम्प्रदाय की सेवा में ही अपना शेष जीवन व्यतीत किया। मौलाना शौक़तअली अलीबन्धुओं में ज्येष्ठ थे। अपने लघु भ्राता मुहम्मदअली के देहावसान के बाद उन्होंने उनके स्थान की पूर्ति तेजस्विता के साथ की। आज उनके निधन से भारत का एक राष्ट्रसेवी नेता उठ गया। हमें उनके परिवार के साथ हार्दिक संवेदना है।

विनिमय-दर का प्रश्न

भारत-सरकार ने कांग्रेस की कार्य-समिति की सलाह भी नहीं मंज़ूर की और एक फ़र्मान निकाल कर घोषित कर दिया है कि सरकार अपने निश्चय पर दृढ़ रहेगी और वह विनिमय-दर को ज्यों का त्यों बनाये रखना ही उचित समझती है। जब से सरकार ने रुपये का विनिमय-मूल्य १८ पेंस ठहराया है तभी से इसका विरोध हो रहा है। देश के अर्थशास्त्रियों तथा बड़े बड़े व्यापारियों ने इसका बार बार विरोध किया है और आँकड़े देकर भले प्रकार सिद्ध किया है कि इस विनिमय-दर से भारत की अपार हानि हो रही है। परन्तु भारत-सरकार उनके आरोपों को एक कान से सुनकर दूसरे से निकालती जा रही है। अन्त में कांग्रेस की कार्य-समिति को भी बोलना पड़ा और अभी हाल में उसने एक प्रस्ताव-द्वारा सरकार से कहा कि वर्तमान विनिमय-दर में परिवर्तन किया जाय और वह १८ पेंस से घटाकर १३ पेंस कर दी जाय। परन्तु सरकार कार्य-समिति की भी बात मानने को नहीं तैयार हुई। उसकी ओर से यही कहा गया कि दर में परिवर्तन नहीं होगा। परन्तु क्या कार्य-समिति इस महत्त्व के प्रश्न को इस तरह हवा हो जाने देगी? यह तो राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न है। राष्ट्रपति सुभाष बाबू ने घोषित किया है कि कार्यसमिति ने इस प्रश्न को अपने हाथ में ले लिया है और अब कुछ न कुछ होकर ही रहेगा। होना भी ऐसा ही चाहिए।

स्वदेशी की भावना और दरिद्रनारायण

संयुक्त-प्रान्त की सरकार किसानों के उद्धार के लिए जो नया क़ानून बनाना चाहती है वह अब प्रान्तीय असेम्बली में पेश हो गया है और उस पर वाद-विवाद हो रहा है। इसके वाद-विवाद से जान पड़ता है कि इसके पास होने में अभी देरी है। तथापि सरकार महत्त्व के अपने एक दूसरे क़ानून के मसविदे को असेम्बली में पेश करने की तैयारी कर रही है। यह क़ानून स्थानीय स्वराज्य-विषयक है, जिसके अनुसार देहातों में पंचायतें क़ायम की जायँगी और देहातियों को भी स्वायत्त-शासन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त होंगे। इसमें सन्देह नहीं है कि इन दोनों क़ानूनों के बन जाने पर इस प्रान्त में एक नये प्रकार के जीवन का प्रादुर्भाव हो जायगा और यहाँ की करोड़ों की संख्या की जनता को सदियों के बाद इस बात का अनुभव होगा कि वह भी मनुष्य-जाति का एक आदरणीय समुदाय है। परन्तु इन क़ानूनों के बन जाने पर भी उन लोगों की कमर सीधी न हो सकेंगी जिनको महात्मा गान्धी 'दरिद्रनारायण' कहते हैं। उनके उद्धार के लिए तो प्रान्तीय सरकार को कोई दूसरा ही उपाय करना पड़ेगा। ग्रामोद्धार का जो व्यापक कार्य-क्रम सरकार ने छेड़ा है तथा सड़कें बनाने की जो आयोजना कार्य में परिणत होने वाली है इन दोनों महान् प्रयत्नों से शायद उन लोगों को कुछ समय के लिए सुख की साँस लेने का अवसर मिल जाय, स्थायी रूप से उनकी स्थिति में सुधार कदापि नहीं हो सकेगा। इसके लिए तो स्वदेशी का व्रत ग्रहण करके उन उद्यमों का दृढ़ता से प्रचलन करना पड़ेगा जिनका गत ५० वर्ष के भीतर या तो उन्मूलन हो गया है या जो लस्टम-पस्टम आज भी चल रहे हैं। उदाहरण के लिए देशी जूतों के धन्धे को ही लीजिए। आज भी यह धन्धा देहातों में उतनी बुरी दशा में नहीं है और यदि इस धन्धे को उपयुक्त सहारा सरकार से मिल जाय तो इससे महात्मा जी के दरिद्र-नारायणों के एक बड़े अंश की कमर बहुत कुछ सीधी हो सकती है। इसी प्रकार के बहुत-से ऐसे धन्धे हैं या थे जिनको स्वदेशी का व्रत ग्रहण करने से ही प्रोत्साहन मिल सकता है। ऐसे धन्धों को उठाकर खड़ा कर देने से हम देहात के दरिद्रों की जीविका के स्थायी साधन जुटा सकेंगे। और [illegible] मुख्य बात है जिसकी सबसे पहले आवश्यकता है। इसकी व्यवस्था हो जाने पर ही दूसरे प्रयत्न कारगर हो सकेंगे। सरकार खेती के पशुओं की नस्ल सुधारने का आयोजन तो कर रही है, परन्तु इस बात की ओर उसका उतना ध्यान नहीं है कि पशुओं का भरण-पोषण कैसे हो। बिना चरागाहों की व्यवस्था किये पशुओं की नस्ल का सुधार करना बेकार है। फिर सरकार का ध्यान दूसरे आवश्यक पशुओं के सुधार की ओर बिलकुल ही नहीं है। बकरी पालने के प्रचार से लोक-व्यापी क्षय-रोग का भी बहुत कुछ प्रतीकार किया जा सकता है। परन्तु गायों की तरह बकरियों का भी संहार हो गया है और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अति महत्त्व की बकरी आज ग्रामों से लोप होती जा रही है। इसी प्रकार भेड़ों का हाल

है और जिनकी कमी हो जाने से आज देहात के लोगों को ओढ़ने-बिछाने के लिए कम्बलों का अभाव हो गया है। और घोड़े तो अब कोई रख ही नहीं सकता, यद्यपि देहात के लोगों के लिए ये सदैव अति आवश्यक रहे हैं। ये ऐसी बातें हैं जिनकी ओर ग्राम-सुधार के सूत्रधारों को समुचित ध्यान देना चाहिए। इन तथा ऐसी दूसरी बातों की ओर समुचित ध्यान देकर ही हम ग़रीबों की जीविका के साधन जुटा सकेंगे। और यह सब तभी सम्भव हो सकेगा जब हमारी कांग्रेसी सरकार स्वदेशी के भाव को अधिकाधिक व्यापक बनाने की ओर यत्नशील होगी।

स्वर्गीय पंडित जगतनारायण मुल्ला

लखनऊ के प्रतिष्ठित नागरिक तथा वकील पंडित जगतनारायण मुल्ला का गत ११ दिसम्बर को, ७५ वर्ष की आयु में, एक मित्र के घर शतरंज खेलते-खेलते सहसा हृदय की गति रुक जाने से देहान्त होगया। वे युक्त-प्रान्त के पुराने कांग्रेसवादियों में से थे। उन्होंने अपने समय के नेता पंडित विशननारायण दर के साथ काम किया था। वे सन् १९१६ ई० में कांग्रेस के लखनऊ-अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे। सन् १९१८ में कांग्रेस में उग्र मतवालों का प्राधान्य बढ़ जाने से वे उसका साथ छोड़कर लिबरलों में जा मिले।

सन् १९२० में वे मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड-योजना के अनुसार मिनिस्टर बनाये गये थे। बाद को गवर्नर से कुछ मतभेद हो जाने के कारण श्री चिन्तामणि के साथ ही उन्होंने भी उक्त पद से इस्तीफ़ा दे दिया। उसके बाद वे लखनऊ-विश्व-विद्यालय के वायस चांसलर बनाये गये। फ़ौजदारी के मामलों में वे विशेष कुशल थे। सरकार भी उनकी योग्यता का लोहा मानती थी। यहाँ तक कि मैनपुरी और काकोरी के राजनैतिक षड्यन्त्रों में वही सरकारी वकील बनाये गये थे। इधर कुछ काल से अस्वस्थ रहने के कारण वे सार्वजनिक क्षेत्र से अलग हो गये थे। उनकी मृत्यु से इस प्रान्त का एक सुयोग्य वकील उठ गया है। हम यहाँ उनके परिवार के लोगों के साथ अपनी संवेदना प्रकट करते हैं।

सैनिक योग्यता का मसला

अँगरेज़ी सरकार ने अपने गत १०० वर्ष के शासन [illegible] जहाँ और अनेक बातें की हैं, वहाँ भारत में सैनिक योग्यता का पट्टा एकमात्र पंजाबियों को दे दिया है। बात [illegible] हुई कि सन् ५७ के ग़दर की आग बुझाने में उसे पंजाबियों और नैपालियों से ही वास्तविक सहायता मिली थी। उसी के फल-स्वरूप भारत की सेना में पंजाबियों और नैपालियों को इतना अधिक महत्त्व दे दिया गया कि [illegible] शेष भारत के निवासी सैनिक कार्य के योग्य ही नहीं समझे जाते हैं। सरकार की इस भेद-नीति की देश [illegible] पत्रों में बराबर आलोचना होती आई है, परन्तु इधर [illegible] से पंजाब के प्रधान मंत्री ने एकमात्र पंजाब के निवासियों के ही सैनिक होने का दावा किया है, अन्य प्रान्तवासियों के स्वाभिमान को भारी ठेस पहुँची है और इस त्रुटि [illegible] ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ है। हमारे दो-एक नेता तो उनसे वाक्-युद्ध करने को उतारू हो गये हैं और उनका मुँह बन्द करने के लिए उन्हें भारत का पुराना इतिहास पढ़ने की सलाह दी है। परन्तु इससे तो [illegible] समस्या का हल नहीं होगा। यह एक प्रकट बात [illegible] कि सेना में अन्य प्रान्तों को उनकी आबादी के अनुपात के अनुसार स्थान नहीं प्राप्त है, यद्यपि उनकी आय [illegible] अधिकांश सेना पर ही ख़र्च हो जाता है। साथ ही [illegible] भी स्पष्ट है कि ये प्रान्त इतना समर्थ नहीं हैं कि सरकार पर दबाव डालकर इस अन्याय का प्रतीकार करा सकें। परन्तु इतना अधिकार तो इनको अब प्राप्त ही है कि [illegible] अपने 'असैनिकता' के कलंक को दूर कर सकते हैं और अपने यहाँ के निवासियों को सैनिकोचित सद्गुणों की ओर आकृष्ट कर सकते हैं। यह सच है कि कांग्रेसी सरकार का इस त्रुटि की ओर पहले से ही ध्यान है और बिहार तथा संयुक्त-प्रान्त की सरकारें इस सम्बन्ध में कोई कार्रवाई करने की बात सोच भी रही हैं। आशा है, [illegible] प्रान्तों की कांग्रेसी सरकारें भी इस ओर समुचित ध्यान देंगी और अपने अपने प्रान्त की जनता को उनकी इस [illegible] की दयनीय अवस्था का ही ज्ञान उन्हें नहीं करा देंगी, [illegible] उन्हें स्वदेश की रक्षा करने के योग्य बनाने के लिए [illegible] ठोस योजना कार्य में परिणत करेंगी, क्योंकि अवसर आने [illegible] भारत की रक्षा करना केवल स्वतंत्र इलाक़ों, नैपाल [illegible]

पंजाब के वेतनभोगी सैनिकों का ही काम नहीं होगा। इसके लिए सारे देश को तैयार रहना पड़ेगा। जब हम स्वराज्य प्राप्त कर रहे हैं तब हमें उसकी रक्षा करने के लिए भी तैयार रहना होगा। और यह महान् उत्तरदायित्व अकेला [illegible] जाब नहीं सँभाल सकता, भले ही वह हमारी ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में 'सैनिकों का जन्मस्थल' हो। इसके लिए तो सभी प्रान्तों को 'सैनिकों का जन्मस्थल' बनना पड़ेगा। हम यहाँ इतिहास की पुरानी बातों का उल्लेख करने की ज़रूरत नहीं समझते, क्योंकि हम जानते हैं कि हम क्या थे। ज़रूरत तो सिर्फ़ इतनी ही है कि हम जैसे पहले थे, वैसे ही [illegible] हो जायँ। और यह हमारे लिए इस नव जागरण के काल में भले प्रकार सम्भव हो गया है। केवल इस बात की आवश्यकता है कि हम इस दिशा में क्रियाशील भर हो जायँ।

ग़दर के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण

अभी उस दिन केन्द्रीय असेम्बली में बैठक को स्थगित करने का एक प्रस्ताव पेश किया गया था। बात यह हुई कि दिल्ली के पास सन् ५७ के ग़दर में मारे गये सैनिकों के सम्बन्ध में एक नये स्मारक का भारत के प्रधान सेनापति ने उद्घाटन किया था। यह बात असेम्बली के कांग्रेसी सदस्यों को अपमानजनक प्रतीत हुई। फलतः उक्त प्रस्ताव उपस्थित किया गया, जिसे अध्यक्ष महोदय ने स्वीकार कर लिया। वाद-विवाद होने पर प्रस्ताव के पक्ष में जो भाषण दिये गये उनमें वक्ताओं ने उस युद्ध में मारे गये विद्रोही देशी सिपाहियों को 'शहीद' के नाम से याद किया। सरकारी पक्ष ने जो बातें कहीं उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और प्रस्ताव पास हो गया। यह तो यहाँ भारत-सरकार का हाल है, जो ग़दर की स्मृतियाँ बनाये रखना अपना कर्तव्य-सा समझती है। उधर ब्रिटिश सरकार का इस सम्बन्ध में दूसरा रुख़ है। वहाँ हाल में 'सीज आफ़ लखनऊ' (लखनऊ का घेरा) नाम का ग़दर-सम्बन्धी एक फ़िल्म बनाया गया था, जिसके दिखाये जाने का वहाँ की सरकार ने निषेध कर दिया। जब इसके विरोध में पार्लिमेंट में प्रस्ताव पेश किया गया तब सरकार की ओर से गृह-सचिव ने कहा कि सरकार ने भारत में नया शासन-सुधार जारी किया है, अतएव वह ग़दर की बातों को फ़िल्मों-द्वारा प्रकाश में लाना अवाञ्छनीय समझती है। उन्होंने यह भी बताया कि तीन वर्ष पहले भी एक और ऐसा ही फ़िल्म दिखाये जाने से रोका गया था। ब्रिटिश सरकार की भारत के सम्बन्ध में जो यह उदार भावना है, सर्वथा अभिनन्दनीय है, परन्तु यहाँ भारत में उसकी मातहत सरकार ग़दर की स्मृतियों को ताज़ा बनाये रखना ही साम्राज्य के हित की बात समझती है। इस सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है।

स्वर्गीय ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा

ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा का गत मास स्वर्गवास हो गया। वे हिन्दी के पुराने लेखक थे। अभ्युदय के उदय के समय उन्होंने उसके संपादकीय-विभाग में काम किया था। वे एक ठोस लेखक थे। जिन्होंने उनका लिखा 'झाँसी की रानी का जीवन-चरित' पढ़ा है वे हमारे इस कथन को सत्यता को स्वीकार करेंगे। सन् १९०८ में जब स्वदेशी आन्दोलन का ज़ोर था और जिन दिनों नागपुर से 'हिन्दी-ग्रन्थमाला' नाम की मासिक पत्रिका निकलती थी उस समय उनका उक्त जीवन-चरित उसमें खंडशः प्रकाशित हुआ था। वे एक देशभक्त सुलेखक थे। आप ग्वालियर-राज्य के निवासी थे और वहीं सरकारी नौकर थे। वहाँ से निकलनेवाले 'जयाजी प्रताप' में वे अक्सर लिखा करते थे। कई वर्ष हुए एक बार उन्होंने प्रयाग आकर हमें अपने दर्शन दिये थे। उनकी बातचीत से हमें मालूम हुआ था कि हिन्दी के प्रति और देश के प्रति उनका कितना गहरा अनुराग था। उनकी बातचीत से हमें यह भी मालूम हुआ था कि यदि उन्हें अवसर मिलता तो दोनों हाथों से हिन्दी-साहित्य का भांडार भरने के लिए वे कटिबद्ध हो जाते। इसमें सन्देह नहीं कि वे हिन्दी की पिछली पीढ़ी के निःस्पृह लेखकों में से एक धुरीण लेखक थे। हम ईश्वर से उनकी मृतात्मा के लिए सद्गति की प्रार्थना करते हैं।

योरप का रंग-ढंग

योरप के रंग-ढंग अच्छे नहीं दिखाई दे रहे हैं। एक न एक शिगूफ़ा वहाँ छिड़ा ही रहता है। ज़ेचोस्लोवेकिया का मसला ज्यों-त्यों करके निपटा तो अब इटली ने पैर

फैला दिये हैं और वह ट्यूनिस, कार्सिका और नीस की माँग कर रहा है। और ये सब देश फ़ांस के अधिकार में हैं। फलतः फ़ांस में इस शिगूफ़े को लेकर बड़ा रोष प्रकट किया जा रहा है। इस प्रश्न पर इन दोनों देशों के अख़बारों तथा वैदेशिक विभागों में करारी नोक-झोंक हो रही है। इटली की सरकार ने कोई स्पष्ट माँग नहीं की है, तथापि फ़ांस की सरकार सजग हो गई है और उसने अपने उक्त प्रदेशों की रक्षा करने की ओर समुचित ध्यान दिया है। फिर इधर जब ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ने यह कहा है कि किसी सन्धि-पत्र से ब्रिटेन बाध्य नहीं है कि इटली से युद्ध छिड़ने पर वह फ़ांस की फ़ौज से सहायता करे तब से इस बात की पूरी आशंका हो गई है कि इटली की माँगें कोरी धमकियाँ ही नहीं हैं, किन्तु उनका अपना सुदृढ़ आधार है। इटली के वैदेशिक मंत्री ने कहा भी है कि 'सुडेटन जर्मनों' के मसले से जिसका निपटारा फ़ांस और ब्रिटेन ने किया है, एक नये सिद्धान्त की अवतारणा हो गई है और उसके अनुसार इटली भी अपनी माँगें कर सकता है। उस हिसाब से इटली का ट्यूनिस पर दावा हो सकता है, क्योंकि वहाँ सवा लाख के लगभग यदि फ़रासीसी बसते हैं तो नब्बे हज़ार के लगभग इटली के लोग भी बसे हुए हैं। असल बात यह है कि इस समय इटली और जर्मनी ज़ोर पर हैं और जिन भूभागों की उनके विकास के लिए ज़रूरत है उन्हें हस्तगत करने के लिए वे मरने-मारने को तैयार हैं। भूमध्य-सागर और स्वेज़ की नहर भी इन दोनों की निगाह में है। ये वहाँ समानता का अधिकार चाहते हैं। उधर जर्मनी का उपनिवेशों का सवाल छिड़ा ही हुआ है, जिसके सम्बन्ध में ब्रिटेन के प्रधान मंत्री अभी यही कह रहे हैं कि जर्मनी की सरकार ने सरकारी तौर पर उनकी माँग नहीं की है। परन्तु यह स्पष्ट है कि ये सभी मसले निपटाने होंगे। बिना इनका समाधान किये योरप की ख़ैर नहीं है। और यदि ये सब जर्मनी और इटली की महत्त्वाकांक्षा के अनुसार निपटा दिये जायँगे तो उस दशा में योरप में ब्रिटेन और फ़ांस का स्थान ये दोनों राष्ट्र ग्रहण कर लेंगे, जिसका संसार की राजनीति पर व्यापक प्रभाव पड़ेगा। यही सब देखकर अमरीका के संयुक्तराज्य के राष्ट्रपति की अब नींद खुली है और वे प्रजातन्त्र-भावनाओं की रक्षा करने के विचार से उस श्रेणी के राष्ट्रों का संगठन करने के लिए आज विशेष उत्सुक दिखाई दे रहे हैं। ये सब ऐसी बातें हैं जिनको देखकर यही कहना पड़ता है कि योरप के रंग-ढंग ठीक नहीं और वहाँ इस समय कोई किसी का साथी नहीं है। ऐसी दशा में वहाँ कब क्या घटित हो जाय, कौन कह सकता है?

सरकारी पुरातत्त्व-विभाग की शिथिलता

भारत जैसे अति प्राचीन सभ्यता के देश के पुरातन इतिहास की जैसी चाहिए वैसी खोज नहीं हो रही है। यदि होती तो संसार को उससे लाभ ही होता। परन्तु खेद की बात है कि भारत की सभ्य सरकार इस दिशा में आवश्यक धन-व्यय नहीं करती है। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो गया है कि देश के धनीमानी लोग इस ओर समुचित ध्यान दें। प्रसन्नता की बात है कि ऐसे महानुभावों का ध्यान इस ओर गया भी है। कुछ भारतीयों तथा योरपीयों ने अभी हाल में पंजाब में इतिहास-सम्बन्धी खोज करने के लिए एक 'कोष' खोला है और उन्होंने आवश्यक धन भी एकत्र कर लिया है। इस धन से तीन ऐसे टीलों में खोज की जायगी जो बौद्ध-काल के पहले के माने जाते हैं। इसी प्रकार बंगाल में उद्धारन-दत्त-समिति भी इस दिशा में उपयोगी कार्य कर रही है और वह सरकार से इस बात का आग्रह कर रही है कि 'सप्तग्राम' नामक स्थान की खोदाई की जाय। यह स्थान भी बौद्ध-काल से पहले का माना जाता है और मुसलमानों के समय तक यह एक ऐतिहासिक स्थान रहा भी है। इधर मध्य-भारत में स्वर्गीय करन्दीकर महोदय के प्रयत्नों से इन्दौर तथा ग्वालियर की सरकारों को खोज के काम में दिलचस्पी हो गई है। करन्दीकर जी ने इन्दौर-राज्य के कसरावद गाँव में जो खोज की उससे वह स्थान मौर्यों के समय का मान लिया गया है। यदि देशी राज्य इस दिशा में अधिक उत्साह से काम करें तो इस क्षेत्र का काम और भी अधिक उन्नति कर सकता है। परन्तु यह सब तरह से स्पष्ट है कि इस ओर ग़ैरसरकारी लोगों को विशेष रूप से ध्यान देना होगा, अन्यथा इस दिशा में वाञ्छनीय उन्नति नहीं हो सकेगी। यदि सब प्रान्तों के इतिहास-प्रेमी अपना सङ्गठन कर इस सम्बन्ध में अपने-अपने प्रान्त में काम करना शुरू कर दें तो

इस दिशा में काफ़ी उन्नति हो सकेगी और तब सरकार भी अपनी शिथिलता का त्याग कर इस क्षेत्र में समुचित रूप से अपने कर्तव्य के पालन की ओर अधिक उत्साह के साथ अग्रसर होगी।

विजयनगर के महाराज की सलाह

अभी उस दिन दरभंगा में भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों के भूस्वामी एकत्र हुए थे। उनकी सभा में विजयनगर के महाराजकुमार ने बड़े महत्त्व की बातें कही हैं और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि आज उनकी प्रजा उनके साथ नहीं है और उनकी यह अवस्था उन्हीं की भूल से हुई है। इसमें सन्देह नहीं है कि महाराजकुमार साहब ने अक्षर अक्षर ठीक कहा है। उनका भाषण पढ़कर हमें अवध के एक नवाबीकालीन तालुक़ेदार साहब की याद आ गई। वे अपने तालुक़े में बड़े लोकप्रिय थे। उनकी सारी प्रजा उनके लिए सदा लड़ने-मरने को तैयार रहती थी। तालुक़दार साहब के गाँव में ५०० घर दूसरी जाति के क्षत्रियों के थे। धन से वे इन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकते थे, परन्तु आदर इतना अधिक करते थे कि इनके जो बूढ़ों के आगे कभी हुक़्क़ा तक नहीं पीते थे। और आज! आज तो इनके वंशज उन्हीं तालुक़ेदार साहब के उत्तराधिकारियों का हुक़्क़ा ताज़ा करने की भी नौकरी नहीं पाते। और प्रजा का उनके सामने यह हाल था कि तालुक़दार साहब उनके गाँवों में जाते और अपने प्रजाजनों की चौपालों में बैठकर उनके सुख-दुख ख़ुद सुना करते थे। एक बार तालुक़दार साहब अपने एक गाँव में एक बूढ़े घोड़े पर सवार होकर गये। प्रजाजनों में से एक वृद्ध ने आकर कहा—सरकार, आप ऐसे घोड़े पर सवार होकर क्यों आये हैं? इससे हमारा अपमान होता है। लोग क्या कहेंगे? यह कह कर उसी क्षण उसने गाँववालों से चन्दा लेकर तालुक़दार साहब को २००) भेंट किये। इसके बाद लोगों ने अपना सुख-दुख कहा। ज़मींदारों और प्रजाजनों में पहले ऐसा ही मधुर सम्बन्ध और सहयोग था। उस समय दोनों को एक-दूसरे की सहायता की आवश्यकता थी। आज उस आवश्यकता का अभाव हो गया है। परिणाम यह हुआ कि अपने अपने स्वार्थ के कारण दोनों में गहरा भेद हो गया और इतनी कटुता बढ़ गई है कि दोनों के बीच में भीषण संग्राम छिड़ जाने की सम्भावना हो गई है। ऐसी दशा में महाराजकुमार साहब ने दरभंगा के अपने भाषण में अपने वर्ग के लोगों को जो नेक सलाह दी है वह सर्वथा उपयुक्त है और ज़मींदारों को उस पर विचार ही नहीं करना चाहिए, किन्तु उसके अनुसार जल्दी से जल्दी काम करना चाहिए। उन्होंने कहा है कि ज़मींदारों को किसानों की भलाई करने के लिए अधिक से अधिक स्वार्थ-त्याग करने को आगे आना चाहिए। और ऐसा ही करने पर वे अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा फिर प्राप्त कर सकेंगे। आशा है, इस देश के भूस्वामी अपने एक उदार सहयोगी की इस नेक सलाह को हृदयंगम करेंगे।

तिवारी जी की लेखमाला

हिन्दी के ख्यातनामा लेखक पंडित वेंकटेशनारायण जी तिवारी से 'सरस्वती' के पाठक पूर्णतया परिचित हैं। उन्होंने 'सरस्वती' के लिए वर्तमान राजनीतिक प्रश्नों पर एक लेखमाला लिखने का वचन दिया है, जिसका पहला लेख इस अंक में छपा है।

लेखमाला के अन्य लेख—हिन्दी बनाम उर्दू, सरकारी नौकरियों में साम्प्रदायिक हिस्सा, हिन्दू-संघ या मुस्लिम-संघ, हमारे ईसाई भाई, हरिजनों की समस्या, अल्पसमुदायों की शिक्षा का प्रश्न, स्थानिक बोर्डों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व आदि शीर्षक लेख क्रमशः 'सरस्वती' में प्रकाशित होंगे। हमें विश्वास है, सरस्वती के पाठकों को तिवारी जी की यह लेखमाला अधिक रुचिकर प्रतीत होगी।

आचार्य द्विवेदी जी का स्वर्गवास

'सरस्वती' को हिन्दी के क्षेत्र में प्रमुख स्थान देकर उसके द्वारा हिन्दी को परिष्कृत कर उसे भारतीय भाषाओं के बीच श्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित करनेवाले आचार्य द्विवेदी जी हम लोगों के बीच से सदा के लिए उठ गये।

गत २१ वीं दिसम्बर को, सवेरे ४ बजे, रायबरेली में, अपने सम्बन्धी डाक्टर शंकरदत्त शर्मा के घर पर, आपका स्वर्गवास हो गया। आप अपने गाँव दौलतपुर में एकाएक जलोदर-रोग से बीमार पड़ गये थे। गाँव

[स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी]

में चिकित्सा की उपयुक्त व्यवस्था न हो सकने से आपके भाञ्जे पंडित कमलाकिशोर त्रिपाठी आपको चिकित्सार्थ रायबरेली ले गये थे। वहाँ आपको नश्तर दिया गया, जिससे पेट से लगभग ६ सेर पानी निकला, तो भी स्वास्थ्य में कोई सुधार न हो सका, निर्बलता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और अन्त में आप दिवंगत हो गये।

आपके परलोकवासी हो जाने से आज 'सरस्वती' पर वज्रपात सा हुआ है—उस 'सरस्वती' पर जिससे आपका सन् १९०३ से सन् १९२० तक प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा तथा जिसमें आप अवकाश ग्रहण कर लेने पर भी प्रतिमास सन् १९२८ तक बराबर लिखते रहे और इधर यद्यपि जिसमें आपने स्वास्थ्य ठीक न रहने कारण कभी कुछ नहीं लिखा, तथापि जिसके अभ्युदय के लिए आशीर्वाद और सत्परामर्श बराबर देते रहे। 'सरस्वती' और द्विवेदी जी का जीवन-पर्यन्त ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। द्विवेदी जी के नाम पर उसे सदा गर्व रहा है, परन्तु दैव की कुटिल गति से आज वह अपने विधायक से वञ्चित हो गई है। ऐसे के अवसर पर हम यहाँ अधिक लिखने में असमर्थ हैं। इसके लिए 'सरस्वती' का फ़रवरी का अंक द्विवेदी-अंक के रूप में निकलेगा। यहाँ हमारी परमात्मा से यही प्रार्थना है कि परलोक में आचार्यजी की आत्मा को चिर-शान्ति प्राप्त हो।

...blished by K. Mittra at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल—उमेशचन्द्र देव

फ़रवरी १९३९ } भाग ४०, खंड १ संख्या २, पूर्ण संख्या ४७० { माघ १९९५

श्रद्धाञ्जलि

आचार्य देव के चरणों में

लेखक, श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त

स्वर्गीय आचार्य युवावस्था में

सरस्वती के हार-पद्म में आज उसी सुख की उनहार !
मरण वस्तुतः परिवर्तन है, जोवन गतिमय अमर उदार।
लुप्त हुई क्या आर्य, तुम्हारे चिर निर्मल जीवन की धार ?
या हिन्दी की हरियाली में लहराती है एकाकार !
सींचा तुमने क्षेत्र हमारा आँसू नहीं पसीना गार,
फूले-फले अन्त में अब वह पाकर उस शरीर का सार !
किसके रस से उमड़ रहा यह मानस बनकर पारावार ?
भरे हृदय की ही श्रद्धाञ्जलि उन चरणों में हो स्वीकार।

साहित्य-पितामह आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

लेखक, पण्डित वेंकटेशनारायण तिवारी

श्री द्विवेदी जी के निधन से एक साहित्य-सूर्य अस्त हो गया, प्रकाड तथा प्रचंड ज्योतिर्मंडल का अन्तर्धान हो गया। उनके विषय में यह दुख के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि उनका-सा साहित्य-सेवी नहीं कोई हुआ, भविष्य में भी होने की आशा नहीं दिखलाई देती। वे लेखक थे, लेकिन उससे भी कहीं ऊँचा उनका रुतबा था। वे अपनी किताबों और लेखों के कारण अगले ज़माने में प्रसिद्ध रहें या न रहें, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी कीर्ति दिन पर दिन अधिकाधिक निखरती और दूर दूर तक व्यापक होती जाती है इसलिए कि वे अपने युग के निर्माता थे। उन्हें और उन्हीं को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने अपने अथक परिश्रम से अपनी निरुपम प्रतिभा और निःस्वार्थ तल्लीनता से न केवल हिन्दी-गद्य की गति-विधि को निर्मित किया, किन्तु अपने समकालीन लेखकों के ऊपर अपनी प्रतिभा की ऐसी अमिट छाप लगा दी कि उनकी साहित्य की किताबें अब विलीन क्यों न हो जायँ, लेकिन जब तक उनके समकालीन लेखकों की कुछ भी कृतियाँ मौजूद रहेंगी तब तक उनमें द्विवेदी जी के व्यक्तित्व-विशिष्ट की छाप साफ़ दिखाई देगी।

> "योरप के कुछ मदान्ध मनुष्य समझते हैं कि परमेश्वर ने एशिया के निवासियों पर आधिपत्य करने के लिए ही उनकी सृष्टि की है। जिस एशिया ने बुद्ध, राम, कृष्ण, ईसा और कन्फ्यूसियस, रवीन्द्रनाथ और जगदीशचन्द्र वसु को उत्पन्न किया है उसने दूसरों की ग़ुलामी का ठेका नहीं ले रक्खा।"
>
> (आचार्य द्विवेदी, जून १९२४)

मैं उनके निधन पर रोता हूँ इसलिए नहीं कि वे हिन्दी-जगत् के आचार्य थे, इसलिए भी नहीं कि वे एक अद्वितीय सम्पादक थे, किन्तु इसलिए कि वे मेरे आध्यात्मिक गुरु थे। उन्होंने मुझे मातृभाषा की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने मुझे बताया कि राष्ट्रीयता, जातीय जीवन के उत्थान और पतन के साथ साथ भाषा और साहित्य का कितना अटूट सम्बन्ध है। उन्होंने ही मुझे हिन्दी लिखने के लिए प्रोत्साहन दिया। हिन्दी-सेवा की दीक्षा भी उन्हीं के मुखारविन्द से मुझे मिली। उनकी कृपाओं को आज मैं याद कर करके रोता हूँ। परम आचार्य! तुम्हारे ऋण से मेरे लिए उऋण होना असम्भव है। गोखले और द्विवेदी, इन्हीं दोनों को मैं अपना गुरु मानता था। इन्हीं दोनों ने अपने अपने क्षेत्रों में साहित्य और त्याग के साथ सेवा करने का मुझे पाठ पढ़ाया था। इन्हीं के बताये हुए मार्ग, इन्हीं के पुरातन किन्तु नित्य अभिनव सिद्धान्तों का अनुसरण करने की मैंने भरसक चेष्टा की। जहाँ मैं असफल रहा, वहाँ दोष मेरा, लेकिन यदि तनिक भर भी मुझे कहीं सफलता मिली हो तो यह इनकी कृपा का प्रसाद था। गोखले २१ वर्ष हुए इस लोक से सिधार गये। आज पूज्य द्विवेदी जी भी इस असार संसार को छोड़कर जीवन की निस्सारता और मानव-सम्बन्ध की असारता एक बार हमको फिर सिखा गये।

जब वे जीवित थे तब उन्होंने बड़े बड़े साहित्यिक संग्रामों में भाग लिया। वाद-विवाद के वे समर्थ महारथी थे, लेकिन उनके विरोध में व्यक्तित्व का अंश नहीं रहता था। व्यक्तियों के प्रति अगाध स्नेह होते हुए भी साहित्यिक सत्य की रक्षा के लिए वे अपने स्वजन से स्वजन के साथ भी तलवार लेकर लड़ने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे। बहुत से लोगों ने उन्हें मैदान में हराने की चेष्टा की, लेकिन सबने उनकी विशिष्टता के सामने

अन्त में सिर झुकाया और उनकी हिन्दी-साहित्य के प्रति की गई अगणित सेवाओं को मुक्त-कंठ से स्वीकार किया और उनको अपना नेता माना। इधर कुछ वर्षों से तो द्विवेदी जी सर्वसम्मति से हिन्दी-जगत् के पितामह की तरह पुजने लगे थे। २० वीं सदी के इस ऋषि ने, आधुनिक काल के इस तपस्वी ने तप करते हुए अपने विश्राम के दिनों को काटा। शारीरिक यातनाओं को झेलते हुए भी अपनी मानसिक दृढ़ता से इन्होंने विजय पाई और अपने जीवन को ये हमारे लिए एक आदर्श छोड़ गये।

गद्य में इतना प्रचंड लेखक आज तक कोई न हुआ। इसका क्या कारण है? किसी ने कहा है कि शैली व्यक्तित्व की छाप है: उनके गद्य से उनकी निर्भीकता, उनका मँजा हुआ ज्ञान और उस ज्ञान के ऊपर उनका पूर्ण अधिकार, उनकी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा, सत्य और संस्कृत के प्रति अगाध श्रद्धा—यह उस शैली का मूल था जिसने उनके गद्य को हिन्दी-जगत् में वह स्थान दिया जो किसी दूसरे लेखक की शैली को नहीं प्राप्त है। उन्होंने लिखने के लिए नहीं लिखा, उन्होंने लिखा इसलिए कि बिना लिखे हुए उनको चैन नहीं था; वे तो एक पैग़म्बर थे, जिनका जन्म अपने समकालीनों को एक सन्देश सुनाने के लिए हुआ था। उनका संदेश था—"भारत की आज़ादी के लिए अँगरेज़ी की ग़ुलामी से मुक्ति पाना ज़रूरी है। भारत स्वतन्त्र राष्ट्र होगा अँगरेज़ी के बल पर नहीं, किन्तु अपनी राष्ट्र-भाषा के बल पर"। उनका विश्वास था कि यदि हिन्दुस्तान में बोली जानेवाली भाषाओं में कोई एक ऐसी भाषा है जो सहज में ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है तो वह भाषा हिन्दी है। द्विवेदी जी इसी लिए मेरी दृष्टि में एक पूज्य राष्ट्र-निर्माता थे। अँगरेज़ी-शासन से मुक्ति पाने के आन्दोलन में उन्होंने भाग लिया हो या न लिया हो, किन्तु परतन्त्रता की बेड़ियों से जाति और राष्ट्र की आत्मा को मुक्त करने की उन्होंने निरन्तर चेष्टा की। सोती हुई राष्ट्र की आत्मा को उन्होंने हिन्दी की ओर आकृष्ट किया और उन्हीं के अथक परिश्रम का यह फल है कि आज हिन्दी की ९० प्रतिशत किताबें उर्दू की १० प्रतिशत किताबों के मुक़ाबिले में इस सूबे में प्रकाशित होती हैं, जब सन् १८९० में हिन्दी में निकलनेवाली किताबों की संख्या कुल ३९ प्रतिशत थी और उर्दू की किताबों की संख्या ६१ प्रतिशत! इस ओर दूसरों ने भी स्तुत्य प्रयत्न किया। पंडित मदनमोहन मालवीय का नाम सहज में ही याद आता है। बाबू श्यामसुन्दरदास और उनके साथियों ने भी जो कुछ किया है उसकी प्रशंसा करना कठिन है। लेकिन इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि द्विवेदी यदि न होते तो हिन्दी-विकास में जो उत्तरोत्तर वृद्धि हुई वह वृद्धि न हो पाती। किसी भाषा का मान तभी होता है जब उसमें विशिष्ट लेखकों का उदय हो। द्विवेदी जी न केवल विशिष्ट लेखक थे, किन्तु उन्होंने अपने नैतिक बल और अपनी तपस्या से अनेक प्रतिभाशाली लेखक उत्पन्न किये हैं जिनके कारण हिन्दी-साहित्य चमक उठा। उन्होंने कृतियाँ करके हिन्दी का गौरव बढ़ाया, जिसका परिणाम आज दिन यह है कि अधिकाधिक आदमी हिन्दी पढ़ने-लिखने लगे हैं। एक दिन था जब अँगरेज़ी दाँ बाबू हिन्दी को उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। एम० ए० और बी० ए० वाले हिन्दी का मखौल उड़ाते थे। वह दिन चला गया। अब भूल से ही कोई पढ़ा-लिखा आदमी मिलेगा, जो हिन्दी को तिरस्कार की दृष्टि से देखे या उसकी उपेक्षा करे। हा! दुःख के साथ यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस सूबे में थोड़े ऐसे भी आदमी मिलेंगे जो हिन्दी की हत्या में ही अपना और जाति का कल्याण समझते हैं। लेकिन उनके कथनों की हम उपेक्षा करते हैं जब हम देखते हैं कि उन्होंने खुद ही अपने बच्चों को हिन्दी और संस्कृत पढ़ाई। ऐसे आदमियों के कथनों की ओर नहीं, किन्तु उनके आचरण पर हमको दृष्टि डालनी चाहिए। द्विवेदी जी की महत्ता का अन्दाज़ा लगाना ऐसे लोगों के वचनों की उपेक्षा करने और उनके कर्मों की सार्थकता की ओर ध्यान देने से हो सकता है।

द्विवेदी जी हिन्दी-हितैषी थे। उनके लिए हिन्दी से बढ़कर दूसरी अनमोल ख़ज़ाना नहीं थी। 'हिन्दुस्तानी' का आज-कल जो मर्ज़ फैल रहा है उसके साथ उन्हें कोई सहानुभूति नहीं थी। भाषा के वे पण्डित थे, उर्दू के बहुत अच्छे ज्ञाता थे और संस्कृत के वे उद्भट विद्वान् थे। ऐसे और भी बहुत से आदमी इस सूबे में या सूबे के बाहर आज दिन भी मिल जायँगे, लेकिन द्विवेदी जी में जो विशिष्टता थी वह इन लोगों में ढूँढ़े भी न मिलेगी। द्विवेदी जी शब्दों की परख में प्रवीण थे, वे भाषा के जौहरी थे

और इसलिए वे इस मन्त्र को जानते थे कि इस सूबे की ज़बान वही है, इस सूबे की ज़बान वही हो सकती है, और इस सूबे की ज़बान वही होकर रहेगी जिस ज़बान में तुलसीदास जी ने अपनी रामायण लिखी है। हाली, ग़ालिब और अकबर चन्द मुट्ठी भर आदमियों के आमोद-प्रमोद की सामग्री भर हैं। उनके दीवानों को पढ़कर कुछ लोग भले ही दीवाने क्यों न हो जायँ, लेकिन जो स्थान तुलसीदास को प्राप्त है वह न ग़ालिब को मिला है, न हाली को मिलेगा और न अकबर को ही मिल सकता है। यह सही है कि आज-कल के कुछ पढ़े-लिखे लोग तुलसीदास की ज़बान को बोलने में भले ही क्यों न झेंपें, भले क्यों न वे तुलसीदास की ज़बान के बोलनेवालों का मखौल उड़ावें, लेकिन तुलसीदास की भाषा बोलने और लिखनेवालों को यह संतोष है कि वे सही पथ पर हैं। कृत्रिम भाषा बनानेवाले आज प्रचार के रंगमंच पर भले ही उछल-कूद लें, लेकिन वे पानी के बुल्ले की तरह थोड़े ही समय में विलीन हो जायँगे। हिन्दी की हत्या की जो इस समय चौमुखी चेष्टा हो रही है वह दूषित है, देश के लिए अमंगलकारिणी है। हाय! ऐसे समय द्विवेदी जी हमारे साथ नहीं। उनकी लेखनी सदा के लिए निश्चेष्ट हो गई। लेकिन उनके जीवन का जो अपार ऋण हिन्दी-भाषा के ऊपर है उस ऋण को याद कर कौन ऐसा कृतघ्न हिन्दी-भाषी होगा जो द्विवेदी जी की छोड़ी हुई थाती की रक्षा के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने में गौरव न समझे। हिन्दी जीवित रहेगी, और जीवित रहेगी इसलिए कि उसकी कोख से द्विवेदी जी ऐसे सिद्ध लेखक उत्पन्न हुए हैं। हिन्दी-विकास में द्विवेदी जी ने एक कमाल का काम किया। उनके लेखों में अरबी और फ़ारसी और तुर्की के शब्दों का सहज प्रयोग मिलेगा। इन भाषा के शब्दों के प्रयोग को उन्होंने कभी बुरा नहीं समझा। बाहरी भाषाओं के जो शब्द हिन्दुस्तानी में रायज़ हो गये थे उनको उन्होंने अपनाया और ज़रूरत पड़ने पर बिला संकोच उन्हें इस्तेमाल किया। लेकिन वे जानते थे कि अरबी और संस्कृत-भाषा दोनों हिन्दी के लिए एक-सी नहीं हैं। संस्कृत हिन्दी की जननी है, अरबी हिन्दी के लिए एक विदेशी भाषा है। बिहार में कुछ पंडितों की अभी जो कमिटी हुई उसने तो अपने मन्तव्यों में अरबी और संस्कृत को एक ही लाठी से हाँक भगाने की चेष्टा की है। जो लोग 'हिन्दुस्तानी' को ईजाद करने में लगे हुए हैं वे लोग भाषा के मूल सिद्धान्तों से बिलकुल ही अनभिज्ञ मालूम होते हैं। तभी तो हिन्दी का बहिष्कार कर एक नई कृत्रिम 'हिन्दुस्तानी' ज़बान को बनाने का दावा कर रहे हैं। वे ऐसी धृष्टता कर सकते हैं। संस्कृत को निकाल फेंकना हिन्दी की मौजूदा भाषा और संस्कृति को उखाड़ फेंकना है। हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान नहीं रहेगा जब संस्कृत के शब्दों का हमारी बोलचाल की भाषा से बहिष्कार हो जायगा। दुख तो इस बात का है कि जो द्विवेदी जी को आचार्य कहकर पूजते हैं और श्रद्धाञ्जलि देने के लिए तैयार हैं वे भी इस कमिटी में शरीक होकर द्विवेदी जी की बताई हुई भाषा के निर्माण के सिद्धान्तों पर कुठाराघात करने के लिए विरोधियों को सहयोग देने के लिए तैयार रहते हैं। ऐसे लोग हाकिमे-वक्त के ग़ुलाम हैं, सभाचातुरी में अपनी योग्यता साबित करते हैं। लेकिन वे न तो भाषा के निर्णायक हो सकते हैं और न साहित्य-निर्माताओं में उनकी गणना कभी सम्भव है। उन्हें तो द्विवेदी जी पर दृष्टि डालनी चाहिए। उनको दिल से सम्मान को लात मार कर सहज तल्लीनता के साथ सत्य ध्येय की उपासना करके मर मिटने के लिए तैयार होना चाहिए। जिस अंश में हम द्विवेदी जी के इस व्रत को अपना व्रत बनाने में समर्थ होंगे, उसी अंश में हम इस महापुरुष के ऋण से उऋण होने में समर्थ हो सकते हैं। ईश्वर, हमें बल दे कि हम इस साहित्यिक तपस्वी के व्रत को अपना व्रत बना सकें और उन्हीं की तरह से व्रत को पूरा कर के सफल हों।

स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी

लेखक, पण्डित कामताप्रसाद गुरु

स्वर्गीय द्विवेदी जी से, पत्र-व्यवहार के रूप में, मेरा प्रथम परिचय उस समय हुआ, जब उन्होंने आज से लगभग ३३ वर्ष पूर्व मुझसे 'सरस्वती' के लिए कविता माँगी थी। इसके पूर्व मैं स्वर्गवासी पंडित माधवराव सप्रे के 'छत्तीसगढ़-मित्र' तथा 'हिन्दी-ग्रंथमाला' नामक पत्रों में यदा-कदा लेख और पद्य लिखा करता था। श्रद्धेय द्विवेदी जी का कृपा-पत्र पाकर मैं बहुत ही उत्साहित हुआ, क्योंकि उस समय मुझे साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए कुछ ही वर्ष हुए थे और 'सरस्वती'-सरीखी तत्कालीन एक-मात्र उच्च कोटि की पत्रिका में निम्न कोटि के लेखों और पद्यों के लिए स्थान मिलना कठिन था। पूज्य द्विवेदी जी के आज्ञानुसार मैंने एक अँगरेज़ी-कविता के आधार पर 'बेटी की बिदा' नामक पद्य लिखकर उनके पास भेज दिया। श्रीमान् द्विवेदी जी ने उसे पसन्द कर 'सरस्वती' में छाप दिया और मुझे गौरव प्रदान किया। इसके पश्चात् पूज्य पंडित जी ने मुझे ठोक-पीटकर 'सरस्वती' का सेवक बना लिया और मैं उसके लिए नियमपूर्वक साहित्यिक लेख और वर्णनात्मक पद्य लिखने लगा।

मेरी थोड़ी ही किन्तु नम्र साहित्य-सेवा से द्विवेदी जी इतने प्रसन्न हुए कि वे मेरी रचना को बिना संशोधन किये ही छापने लगे, यद्यपि मैं उनसे संशोधन के लिए सदैव आग्रह किया करता था। उनकी कृपा मेरे ऊपर यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने मुझे अपने 'कविता-कलाप' में चार कवियों के साथ 'पाँचवाँ सवार' बना दिया और उनकी मण्डली के बीच में मेरा चित्र छाप दिया। आपकी कृपा-दृष्टि और भी विस्तृत हुई और उन्होंने मुझे 'बाल-सखा' का मुख्य संपादक और पंडित देवीप्रसाद शुक्ल के साथ 'सरस्वती' का सहकारी संपादक बनवा दिया। खेद है कि श्रीमान् द्विवेदी जी की इस कृपा का लाभ मैं केवल एक ही वर्ष तक उठा सका, क्योंकि मुझे प्रयाग की उष्ण जलवायु सहन न हुई। द्विवेदी जी ही की सिफ़ारिश से नागरी-प्रचारिणी सभा ने मुझे हिन्दी-व्याकरण लिखने का कार्य सौंपा था।

द्विवेदी जी से मेरा प्रत्यक्ष परिचय उस समय हुआ जब मैं पंडित सुखराम चौबे के साथ लखनऊ के 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के अधिवेशन से लौटकर उनसे कानपुर के पास जुही में मिला। उसी समय पंडित माखनलाल जी चतुर्वेदी भी श्रीमान् द्विवेदी जी से मिलने आये। मेरे नाम से समाचार भेजे जाने पर आप स्वागत करने द्वार पर आये और मुझे देखकर (तथा पहचानकर) विनोद-भाव से बोले—"तस्मै श्रीगुरवे नमः।" हम लोगों ने उन्हें प्रणाम किया और उनके साथ उनकी बैठक में जहाँ उनका पुस्तकालय भी था, प्रवेश किया। मेरे द्वारा वहाँ अन्य दोनों सज्जनों का परिचय पाकर वे विशेष प्रसन्न हुए और हम लोगों से साहित्य-संबंधी वार्तालाप करने लगे। इसके पश्चात् उन्होंने हम लोगों को जलपान कराया और पान दिये। इस प्रकार लगभग दो घंटे तक हम लोग द्विवेदी जी के सत्संग में आनंद मनाते रहे। अंत में हम लोगों के विदा लेने पर आप सड़क तक हम सबको भेजने आये और आदर-सत्कार की त्रुटियों के लिए क्षमा माँगी।

स्वर्गवासी द्विवेदी जी शिष्टाचार के पूरे पालक थे, अतएव उन्हें किसी की थोड़ी भी अशिष्टता सह्य नहीं होती थी। पूर्वोक्त अवसर पर जब द्विवेदी जी कुछ कह रहे थे तब मैं भूल से बीच में कुछ कह गया। इस पर उन्होंने कुछ रूखे होकर कहा कि आपके साथ बातचीत करना कठिन है! मैं नत-मस्तक होकर रह गया। द्विवेदी जी का स्वभाव जितना दयालु था उतना ही उग्र भी था, मानो वे "साँसति करि पुनि करहिं पसाऊ"। अनधिकारी लोगों के वार्तालाप तथा व्यवहार से उनके मन में ग्लानि होती थी। वे पत्रों का उत्तर बहुधा लौटती डाक से देते थे और जो उनके पत्र का उत्तर नहीं देता था उसे वे असभ्य समझते थे तथा उसकी अवहेलना को अपना अपमान मानते थे।

स्वर्गीय द्विवेदी जी में विद्या और बुद्धि समानरूप से पाई जाती थी। संस्कृत, फ़ारसी, हिन्दी और उर्दू के सिवा आपको बँगला, मराठी और गुजराती का भी अच्छा ज्ञान था। सुना है कि आप मराठी के 'केरलकोकिल' में कविता लिखा करते थे। आपका अँगरेज़ी-भाषा का ज्ञान किसी योग्य ग्रेजुएट से किसी प्रकार कम न था, यद्यपि वे विश्वविद्यालय की एक भी सीढ़ी नहीं चढ़े थे। द्विवेदी जी की

तर्क-प्रणाली युक्ति-पूर्ण और मनोरंजक थी। वे जिस वाद को सिद्ध करने की ठान लेते थे उसे अनेक प्रमाणों और युक्तियों से मनोरंजकता के साथ सिद्ध कर देते थे। एक बार 'अनस्थिरता' शब्द को शुद्ध सिद्ध करने में उन्होंने 'सरस्वती' में अनेक विद्वानों की सम्मतियाँ प्रकाशित की थीं। उनकी समालोचना भी इसी प्रकार तर्क-पूर्ण, न्याय-संगत और तीव्र होती थी। उन दिनों द्विवेदी जी की अनुकूल समालोचना किसी भी पुस्तक की उपयुक्तता सिद्ध करने तथा उसका प्रचार बढ़ाने में सहायक होती थी।

द्विवेदी जी की भाषा-प्रणाली और रचनाशैली उनकी निज की थी। उनके लेख प्रभावशाली, तर्क-पूर्ण और मनोरंजक होते थे। उन्होंने भाषा को जान-बूझकर जटिल बनाने की कभी चेष्टा नहीं की, जैसी उस समय के कुछ लेखक किया करते थे। तथापि वे कभी-कभी एक ही बात को दो-तीन बार दुहराते थे, जिससे कुछ लोगों को आक्षेप करने का अवसर मिल जाता था। उनकी वाक्य-रचना साधारण, स्पष्ट और मनोहर होती थी। यथार्थ में द्विवेदी जी ने भारतेन्दु जी के समय की हिन्दी का नव-निर्माण किया था और आज-कल लेखक लोग अधिकांश में उसी परिष्कृत भाषा का उपयोग करते हैं। उनकी रचना-शैली भी आज आदर्श का काम देती है।

श्रीमान् द्विवेदी जी से दो-तीन बार मेरी भेंट इंडियन प्रेस में हुई, जहाँ मैं उनकी कृपा से 'सरस्वती' का सम्पादन करता था। उनकी बहुत इच्छा थी कि मैं 'सरस्वती' का सम्पादन स्थायी रूप से करूँ, और इसके लिए वे सब प्रकार से मेरी सहायता करने को तैयार थे; परन्तु लड़कों-बच्चों की बीमारी के कारण मुझे यह अलभ्य लाभ प्राप्त न हो सका। उन्होंने मेरी सहायता के लिए पंडित देवीदत्त शुक्ल वर्तमान सम्पादक को इंडियन प्रेस में नियुक्त कराया था, जिन्होंने मेरी साहित्यिक सहायता के साथ-साथ मेरे घरवालों की कुछ चिकित्सा भी की थी। इस अवसर पर मैं शुक्ल जी को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। मेरे 'सरस्वती'-विच्छेद पर द्विवेदी जी ने परोक्ष रूप से अपना असंतोष प्रकट किया।

'सरस्वती' के संपादन-काल में एक बार 'मैटर' की कमी के कारण मैं बड़े संकट में पड़ गया और मैंने द्विवेदी जी से पुराने अप्रकाशित लेखों के लिए याचना की। आप उन दिनों जुही में रहते थे। मेरी प्रार्थना पर आप दूसरे ही दिन एक अंक की पूरी फ़ाइल लेकर प्रयाग पहुँचे और मुझे वह देकर बोले कि आपको कम से कम दो अंक पहले से तैयार रखना चाहिए, तो भी आवश्यकता पड़ने पर मुझसे लेख मँगा लीजिए। इस कृपा के लिए मुझे बार-बार पद्माकर कवि के इन शब्दों का स्मरण होता था—

"दौरे गयंद उबारिबे कों प्रभु बाहन छोड़ि उबाहने पायन।"

पूज्य द्विवेदी जी मध्य-प्रदेश के कई स्थानों जैसे, नागपुर, खण्डवा, इटारसी, होशंगाबाद और जबलपुर में कुछ वर्षों तक तार-विभाग में नौकरी करते हुए रहे। पिछले स्थान में ओमती मुहल्ले में रहने की बात उन्होंने एक बार मुझसे कही थी। बहुत प्रयत्न करने पर भी मुझे उनके जबलपुर के निवास-स्थान का पता न लग सका। मैंने द्विवेदी जी के किसी लेख में पढ़ा था कि उन्होंने नागपुर-सेक्रेटरियट के बहुत पुराने अनुवादक बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ के पास होशंगाबाद में पिंगल-शास्त्र का अध्ययन किया था। इन पंक्तियों के लेखक के अतिरिक्त आपने मध्य-प्रदेश के अन्य लेखकों को भी उत्साहित किया था, जिनमें स्वर्गीय पंडित प्यारेलाल मिश्र, स्वर्गीय पंडित माधवराव सप्रे, पंडित गणेशराम मिश्र और श्रीमान् सेठ गोविन्ददास मुख्य हैं। जबलपुर का उन्हें विशेषरूप से ध्यान था, क्योंकि उन्होंने मुझसे एक बार यहाँ अपनी चिकित्सा के लिए आने का विचार प्रकट किया था। इन बातों में हम मध्य-प्रदेश-वासियों—विशेषतया जबलपुर-निवासियों को अपना गौरव समझना चाहिए। यहाँ के अस्तंगत 'राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर' ने द्विवेदी जी की 'कालिदास' 'रसज्ञ-रंजन' और 'औद्योगिकी' नामक पुस्तकें प्रकाशित की थीं।

मेरे लिखे 'हिन्दी-व्याकरण' का संशोधन करने के लिए सन् १९२० में जो समिति बनाई गई थी उसके सभापति श्रद्धेय द्विवेदी जी थे। इस समिति की बैठक काशी में हुई थी, जहाँ द्विवेदी जी ने, मेरे विशेष आग्रह पर, सहर्ष पधारने की कृपा की थी। नियमों पर वाद-विवाद होते समय मैंने द्विवेदी जी से उनके कुछ चिन्त्य प्रयोगों की चर्चा की, जैसे, राजे, योद्धे, जुदा जुदा नियम, हुआ रहा इत्यादि। इस पर उन्होंने मुझसे कहा कि आप मेरे

जिन प्रयोगों को अशुद्ध समझते हैं उनकी स्वतंत्रता से समालोचना कर सकते हैं। ऐसे प्रयोगों का मैंने अपने व्याकरण में उचित खंडन-मंडन कर दिया है; पर उसके विषय में उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा-सुना। कदाचित् वे उसे उपेक्षणीय समझते रहे हों, क्योंकि मातृ-भाषा के ज्ञान के लिए वे व्याकरण की आवश्यकता नहीं मानते थे और हिन्दी में व्याकरण-विषयक वाद-विवाद भी बहुत कम हुए थे। हमारी भाषा के इस अभाव की पूर्त्ति अभी तक नहीं हुई।

द्विवेदी जी से मेरी अन्तिम भेंट उनके आदरार्थ प्रयाग में भराये गये प्रसिद्ध मेले के अवसर पर हुई। इस समय उनसे कोई विशेष वार्तालाप नहीं हुआ, क्योंकि अनेक कवि और लेखक उनके दर्शनार्थ उपस्थित थे। जबलपुर से कई सज्जन द्विवेदी-मेले में सम्मिलित हुए थे, जिनमें पंडित माखनलाल चतुर्वेदी, पंडित गंगाविष्णु पांडेय और ब्योहार राजेन्द्रसिंह प्रमुख थे। सभी ने द्विवेदी जी के दर्शन कर अपने को धन्य माना और उनके सौजन्य की प्रशंसा की। इस अवसर पर सबसे प्रभावशाली घटना यह हुई कि महामहोपाध्याय डाक्टर गङ्गानाथ झा ने दोनों हाथों से द्विवेदी जी का चरणस्पर्श किया, जिससे सभामण्डप भारी करतल-ध्वनि से गूँज गया।

द्विवेदी जी कविता भी करते थे और (मेरी समझ में) बहुत अच्छी कविता करते थे; पर किसी के आक्षेप करने पर उन्होंने कविता लिखना बन्द कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हम लोग 'कुमारसंभवसार' सरीखी पुस्तकों और 'विधि-विडंबना' सदृश रचनाओं से वंचित हो गये। यदि द्विवेदी जी खड़ी बोली की कविता का आरम्भ स्वयं न करते और दूसरों को उत्साहित न करते तो आज इस प्रकार की कविता की जो उन्नति हुई है वह कहाँ से होती? हाँ, यह बात अवश्य है कि आज-कल तरुण कवि जिस अर्थ में 'कवि' और 'कविता' शब्दों का प्रयोग करते हैं उस अर्थ में ये शब्द द्विवेदी जी के अमल में प्रयुक्त नहीं होते थे।

द्विवेदी जी ने हिन्दी-भाषा और साहित्य को जो गौरव प्रदान किया है वह कभी घटने का नहीं, चाहे कोई भाषा और भावों के साथ कितनी ही अशिष्टता क्यों न करे! अनेक लेखक और कवि भी अपने उत्कर्ष के लिए द्विवेदी जी के ऋणी हैं। यदि मैं अपने विषय में कुछ कहने का साहस करूँ तो मैं कवि के शब्दों में यही कहूँगा कि—

वह चाहे बनावें, वह चाहे बिगाड़ें,
हम आख़िर उन्हीं के बनाये हुए हैं।

आचार्य के चरणों में

लेखक, श्रीयुत 'चातक' कविरत्न

यह नव रत्नमयी नव माल!
पहनो नव रस-रसिक-रसाल!

× × × ×

मानी मान सर के विहारी थे मराल तुम्हीं
हृदय-कमल के खिलानेवाले सूर थे।
कीर्ति है अतुल-सी, तुम्हारी कवि-मण्डल में—
कर्मयोगी केशव के भक्त भरपूर थे।
सामाजिक भव्य भावनाओं के विभूषण थे—
मतिराम-सी थी स्वच्छ दूषणों से दूर थे।
ललित कला के थे प्रकाशक प्रसिद्ध चन्द्र—
नरदेव सच्चे महावीर मशहूर थे।

शोकाञ्जलि

लेखक, पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

है शोक-मग्न अवनी अम्बर,
उठ गये हाय ! आचार्य प्रवर।

(१)

जिनकी प्रतिभा थी परम प्रखर,
था प्राप्त जिन्हें वाणी का वर,
तप-निरत रहे जो जीवन भर,
जिनकी है जग में कीर्ति अमर,
जो थे अजेय निर्भीक निडर,
लेखनी विकट थी वह खंजर,
प्रतिपक्षी होता था जर्जर,
मैदान किये कितने ही सर,
हम फूले थे जिनके बल पर—
उठ गये हाय ! आचार्य प्रवर

(२)

जब यह हिन्दी तुतलाती थी,
कर सीधी बात न आती थी,
तब वह उनकी ही छाती थी,
जो निद्रा-क्षुधा भुलाती थी,
हिन्दी-सेवा करवाती थी,
नित भाव भव्य भरवाती थी,
नव कवि लेखक उपजाती थी,
हिन्दी की धाक जमाती थी,
चरचा चलवाती थी घर-घर,
उठ गये हाय ! आचार्य प्रवर।

(३)

कवि लिखते थे कच-कुच-वर्णन,
मुग्धाओं पर थे मुग्ध नयन,
कविता का था शतमुखी पतन,
करके कुवृत्तियों का खण्डन,
दे दिया उसे फिर से जीवन,
लग गई देश की दिव्य लगन,
जो बना हुआ था बीहड़ वन,
बन गया वही नन्दन कानन,
दे दिये कल्पना को भी पर,
उठ गये हाय ! आचार्य प्रवर।

(४)

अज्ञान मिटा सद् ज्ञान भरा,
मस्तिष्कों में विज्ञान भरा,
नैराश्य हटा अरमान भरा,
पतनोन्मुख में उत्थान भरा,
निर्जीवों में नव प्रान भरा,
जागरण, आत्म-अभिमान भरा,
कलकण्ठों में कल गान भरा,
संस्कृति का सब सामान भरा,
आन्दोलित करके अन्तरतर—
उठ गये हाय ! आचार्य प्रवर।

(५)

कलि में वह ऋषियों का जीवन,
पर-हित तप करना जिनका धन,
संकल्प सुदृढ़ था निर्मल मन,
था मृदुल हृदय थे सत्य वचन,
देखते किसी को खिन्न वदन,
बन जाते लोचन सावन-घन,
विज्ञों में ऊँचा था आसन,
दुर्लभ हैं हा ! उनके दर्शन,
यद्यपि है यशः शरीर अमर,
उठ गये हाय ! आचार्य प्रवर।

द्विवेदी जी की सहृदयता

लेखक, श्रीयुत हरिभाऊ जो उपाध्याय

जिनको कभी स्वर्गीय पूज्य द्विवेदी जी के नज़दीक रहने का अवसर नहीं आया वे एकाएक नहीं जान सकते कि द्विवेदी जी कितने सहृदय थे। ('सरस्वती'-सम्पादक के रूप में उनकी ख्याति एक कठोर और शायद निष्ठुर व्यक्ति की रही थी, परन्तु उन्हीं दिनों मुझे उनके जीवन का घरेलू और सहृदय पहलू देखने का अवसर मिला और मैं जान गया कि द्विवेदी जी वास्तव में नारियल की तरह हैं—ऊपर से बहुत कड़े और अन्दर से मधुर जीवन-रस से ओत-प्रोत।)

मैं जुही में था। सन् १९१६-१७ की बात है। मेरा छोटा भाई मार्तण्ड उस समय ७-८ साल का रहा होगा। एकाएक डबल ब्रैंको न्यूमोनिया उसे हो गया। एक वत्सल पिता की तरह द्विवेदी जी ख़ुद अपनी देख-रेख में बड़ी चिंता के साथ उसकी चिकित्सा करा रहे थे। वह अच्छा हो चला था। अभी[illegible]न खाने की मनाही थी, उसे कुछ पथ्य दिया गया था कि द्विवेदी जी आये मार्तण्ड दाल के लिए मचल पड़ा। द्विवेदी जी ने बड़े दुलार से उसे समझाया और घर गये। मुझे शाम को मालूम हुआ कि जब वे खाना खाने बैठे तब उनसे दाल नहीं खाई गई। उन्होंने कहा—"मार्तण्ड को दाल नहीं मिली। मुझसे आज दाल कैसे खाई जायगी?" उस समय एक पिता का नहीं, सच पूछिए तो मा का हृदय बोल रहा था।

उनकी एक मानी हुई बहन के पुत्र श्री कमलाकिशोर मस्तिष्क-रोग से उन्हीं दिनों पीड़ित हुए। उनके दो छोटी बहनें थीं। तीनों को द्विवेदी जी ने अपने बच्चों की तरह पाला-पोषा था। कमलाकिशोर की मस्तिष्क की बीमारी के समय मैंने जो विह्वलता द्विवेदी जी में देखी वह मुझे रह-रह कर याद आती है। क्या बीमारी और क्या दवा और क्या पथ्य और क्या अनुपान, हर बात की इतनी बारीकी में जाते व सावधानी रखते कि मैं दंग रह जाता था। उनके बाद यह गुण मैंने पूज्य महात्मा जी में ही पाया है।

एक बार मैं उनके गाँव दौलतपुर गया। अपने मकान के पड़ोस में ही कच्ची ईंट की दीवारों पर एक फूस की झोंपड़ी उन्होंने मेरे लिए बनवाई, जिसे विनोद में वे 'हरि बाबू का बँगला' कहते थे। उसी में मैं रहता था और उसी में अपना खाना भी बना लेता था। भोजपुर नामक एक गाँव की हाट से खाने-पीने की सब चीज़ें आया करती थीं। शायद आठवें दिन हाट लगती थी। एक बार मैं नियत समय पर चीज़ों की फ़ेहरिस्त देना भूल गया, जिससे बिना दाल और सब्ज़ी के सिर्फ़ रोटी ही खाने की नौबत आ गई। मैं स्वभाव से संकोच-शील और कष्ट या असुविधा सहन करने में आनंद माननेवाला जीव ठहरा। इत्तिफ़ाक़ से द्वि[illegible] जी उसी समय आ पहुँचे। कोरी रोटी खाते हुए मुझे देखकर त्योरी चढ़ाकर बोले—"हैं, यह क्या? सब्ज़ी भी नहीं? दाल भी नहीं? क्या रोज़ ऐसा ही खाते हो?" मैंने शर्म से नीचा मुँह करके जवाब दिया—"पंडित जी, भूल से अब की हाट से सामान मँगाना भूल गया।"

"तो क्या हुआ? क्या यहाँ घर नहीं है? घर से क्यों नहीं मँगवा लिया?" और तुरंत आवाज़ दी—"बिटिया?" कमला दौड़ी आई तो उसको हुक्म दिया—"देखो, कल से रोज़ जब उपाध्याय जी खाने बैठें तब आकर देख जाया करो। अगर दाल बनायें तो साग अपने चौके से दे जाया करो और साग बनायें तो दाल दे जाया करो।"

मैंने अपनी उस ग़लती का उनके हाथों ऐसा मधुर फल पाया।

दौलतपुर की ही बात है। एक बार मैंने चूल्हा जलाकर दाल के लिए अदहन रक्खा था कि पंडित जी ने आवाज़ लगाई। उन दिनों वे 'किरातार्जुनीय' का हिन्दीरूपान्तर मुझे लिखाते थे। मैंने उसी क्षण बटुआ चूल्हे से उतारकर चूल्हा बुझा दिया और लिखने आ बैठा। दो घंटे तक लिखाते रहे। बाद को मैं रसोई बनाने बैठा। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं चूल्हा बुझाकर आया था तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उसके बाद आवाज़ देने से पहले वे पूछ लिया करते थे कि 'क्या कर रहे हो।'

द्विवेदी जी को आम खाने का बड़ा शौक़ था। छः महीने आमों पर रहते थे। मीठे और पतले रसवाले आम उन्हें पसंद थे। कई बाग़ वे आम के ख़रीदा करते थे। मुझसे कहा—"अपने यहाँ ख़ूब आम आते हैं। मँगा लिया करो और डट कर खाया करो।" मगर मैंने संकोच से कभी उनके इस आदेश का पालन नहीं किया। एक रोज़ किसी प्रसंगवश बिटिया से पूछ बैठे—"उपाध्याय जी आम मँगा लेते हैं न?"

मैं तो झेंप गया। उधर बिटिया ने जवाब दिया—"नहीं तो!" उनका फ़र्मान निकला—"देखो, हमारे खाने के मीठे आमों में से रोज़ उपाध्याय जी को सुबह-शाम आम दे आया करो।"

मैं बड़ा शर्मिंदा हुआ। उन आमों के रस से भी अधिक मधुर उनके इस वात्सल्य में डूब गया।

संपादक, विद्वान्, आचार्य द्विवेदी जी को सारा हिन्दी-संसार जानता है। परंतु सहृदय, वत्सल पिता द्विवेदी जी को कितने लोग जानते होंगे? निश्चय ही संपादक द्विवेदी से यह पिता द्विवेदी अधिक महान् था।

स्वर्गीय श्रद्धेय द्विवेदी जी के प्रति

लेखक, श्रीयुत आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव

क्या कहें था आपमें शुचि मातृ-भाषा-प्यार कितना?
क्या कहें था आपका उसमें मधुर अधिकार कितना?
क्या कहें था आपने उस पर किया उपकार कितना?
क्या कहें था आपने उसका बढ़ाया सार कितना?

मूक वाणी हो रही है सब तरह विह्वल हमारी,
क्या कहे या क्या सुनाये आज जग को वह विचारी?
आप हिन्दी छोड़ पाने क्या गये हैं वस्तु न्यारी?
आपको क्या थी नहीं उससे अधिक कुछ वस्तु प्यारी?

छोड़ना था जो उसे तो क्यों किया निर्माण उसका?
आज उससे पूछिए, क्या कह रहा है प्राण उसका?
ज्ञात होता है करेंगे स्वर्ग में संचार उसका,
थे यहाँ आधार, होंगे बस वहाँ आधार उसका?

स्वर्ग में भी आप छोड़ेंगे नहीं व्यवहार उसका,
क्योंकि नस नस में भरा है आपके शुचि प्यार उसका।
क्या कहें था आपसे हमको अधिक अनुराग कितना?
था हमारी भी प्रगति में आपका शुभ भाग कितना?

व्यर्थ कहना और सुनना हो गया है आज सारा,
ज्ञात होता है हमें है छिन गया सब कुछ हमारा।

स्वर्गीय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी

लेखक, पण्डित नयनचन्द्र मुखोपाध्याय
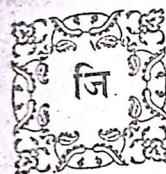
जिस महापुरुष के अध्यवसाय और आजीवन साधना की बदौलत वर्त्तमान हिन्दी-भाषा उन्नति के सौध-शिखर पर आरोहण करने में समर्थ हुई है उसे जानने की इच्छा हृदय में उत्पन्न होने पर स्वर्गीय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी का ही स्मरण आता है। भारत की समस्त प्रान्तीय भाषाओं में से जिस भाषा को आज 'राष्ट्र-भाषा' बनने का सौभाग्य मिला है उस भाषा को राष्ट्र-भाषा के सुसज्जित प्रासाद पर प्रतिष्ठित करने के लिए भाषा-रूपी जननी के जिन समस्त कृती सन्तानों ने असाध्य साधना की है, जिन महानुभावों के त्याग, वैराग्य एवं अक्लान्त साधना के कारण यह हिन्दी-भाषा आज नई नई भावरूपी सम्पत्तियों से सुशोभित है, उन समस्त महापुरुषों के अग्रणी पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के संसार से सदा के लिए विदा हो जाने का ही संवाद आज हम विषाद के अश्रुजल से लिखने बैठे हैं।

> "इस दुनिया की सृष्टि एक ऐसे ईश्वर ने की है जिसकी कोई जाति नहीं, जो नीच-ऊँच का क़ायल नहीं, जो ब्राह्मण-अब्राह्मण, चाण्डालों और कीड़ों-मकोड़ों तक में अपनी सत्ता प्रकट करता है। छुआ-छूत के माननेवालों को ऐसे भ्रष्ट ईश्वर का रचा संसार छोड़ देना चाहिए।"
>
> आचार्य द्विवेदी अगस्त १९२४

भारत के साधना-क्षेत्र के दो मार्ग हैं। उनमें से एक मार्ग में प्रज्वलित हो रहा है भावों का होमानल और एक मार्ग में सुशोभित हो रही है कर्म की सुविशाल शिल्पशाला। कितने महापुरुषों का ध्यान, चिन्ता और साधना ने इस होमानल में पुञ्जीभूत होकर उसे चिर दिन के लिए भास्वर बना रक्खा है। इसके विरुद्ध दूसरे मार्ग में सैकड़ों अतिशय शक्तिशाली पुरुषों की विचित्र शक्तियों का विकास हुआ करता है। उसके कारण मानव-हृदय धीरे धीरे गठित और पुष्ट होता जा रहा है। यहीं भारतीय सृष्टि एवं उत्कर्ष के नये नये रूप जनसाधारण के समक्ष उदित हो रहे हैं। भारत के महापुरुषगण इन दोनों में से किसी न किसी एक मार्ग से चल कर त्याग, मङ्गल एवं वैराग्य के द्वारा अमर हुए हैं। हमारे चरितनायक पण्डित महावीरप्रसाद भी उन्हीं महापुरुषों में से एक हैं। परन्तु अपने इन चरितनायक के जीवन के कार्य्यकलाप पर विचार करके हम समुचित रूप से यह नहीं निर्णय कर पाते कि वे भाव-यज्ञ के ऋत्विक् थे या कर्मशाला के शिल्पी। उनका जीवन ही इस प्रकार का सामञ्जस्यपूर्ण था। हम उनके जीवन में भावों तथा कर्म का अत्याश्चर्य-जनक सामञ्जस्य देखकर अवाक् हो जाते हैं। जिस समय उनके विभिन्न प्रकार के कार्यकलापों की बात मन में आती है, उस समय ऐसा जान पड़ता है, मानो साहित्य-क्षेत्र में इस प्रकार का 'महावीर' और कोई हुआ ही न [illegible]। साथ ही जब उनकी अपरिसीम विचारशीलता त[illegible] अलौकिक दया-दाक्षिण्य की बात हृदय में आ[illegible]ी है तब जान पड़ता है, मानो इस प्रकार का असाध[illegible]ण शक्तिशाली पुरुष धराधाम में और कभी अवतीर्ण ही नहीं हुआ। ऐसे ही अवसर पर हम उन्हें भाव की यज्ञवेदी के समीप गुरु के आसन पर समासीन पाते हैं। हम देखते हैं, मानो उनका उज्ज्वल ललाट त्याग के अंदर [illegible] सुशोभित [illegible]। उनके [illegible]-प्रत्यङ्ग के अलौकिक तेज और दीप्ति ने मानो उन [illegible] साधना के यज्ञानल को भी निष्प्रभ कर दिया है।

सामञ्जस्यहीन जीवन में जीवन-सङ्गीत का सुर ठीक ठीक नहीं बजता। उसको ताल और लय ठीक ठीक मिलती नहीं और जीवन-सङ्गीत का सुर मिले बिना मानव-जीवन की सफलता सम्भव नहीं है। इस प्रकार जिन महानुभावों के जीवन में जीवन का सुर ठीक ठीक बजता है वही धन्य होते हैं—वही जीवनरूपी रङ्गमञ्च में सामञ्जस्य के सम्राट् होते हैं। पृथिवी के हम साधारण मनुष्यों के लिए यह आवश्यक होता है कि निर्मलचरित्र महापुरुषों के समीप उपस्थित होकर अपने जीवन का

सुर मिला लें। यही कारण है कि आज हम अपने जीवन का वही सुर मिला लेने के लिए स्वर्गीय पण्डित महावीरप्रसाद जी की पवित्र आत्मा के सम्मुख नतजानु होकर बैठे हैं। इस कर्मक्षेत्र की गति के पीछे हमारी जो एक विशिष्ट गति है,—जो गति हमें मुक्ति की ओर—विश्व की ओर नियन्त्रित करती है, आज हम उसी को नवीन करके स्मरण करेंगे।

महापुरुषों का आविर्भाव उज्ज्वल नक्षत्र के समान होता है। उनके आविर्भाव के लिए कोई भी निर्दिष्ट समय या असमय नहीं है। साथ ही उनका कोई स्थायित्व भी नहीं होता। उनके पीछे केवल एक प्रकाश की बाढ़ भर रहती है। पण्डित महावीरप्रसाद भी हिन्दी के साहित्यरूपी आकाश में एकाएक उदित हो आये—भगवान् मरीचिमाली की शुभ्र मरीचियों के समान। वे छोड़ गये साहित्य के ललाट पर विजय का तिलक—जिस विजय-तिलक की उज्ज्वलता और दीप्त-गरिमा के से हिन्दी का साहित्यरूपी आकाश सदा उज्ज्वल रहेगा, सदा देदीप्यमान रहेगा। नये नये भावरूपी गङ्गा की पवित्र धारा में स्निग्ध श्याम साहित्य की पुष्पवाटिका आज जिन नये नये मुकुल-पल्लवों से समृद्ध हुई है उसी उद्यान के पहले माली थे पण्डित महावीरप्रसाद।

भाव एवं कर्म, ज्ञान एवं साधना का जिस प्रकार का समन्वय पण्डित महावीरप्रसाद की जीवनी में देखने में आता है, वैसा कदाचित् ही औरों की जीवनी में देखने में आता हो। भावों की बाढ़ में बह जाने या कर्म के भँवर में पड़कर नापते रहने में जीवन का वैशिष्ट्य नहीं है। पण्डित महावीरप्रसाद ने इस बात का अनुभव किया था। यही कारण है कि वे अपने त्याग को साधना से, पवित्र कर्म को करुणा से सिक्त तथा ध्यान को आत्मा में समाहित करने में समर्थ हुए थे। इस प्रकार के अद्भुत सामर्थ्य के ही कारण वे साहित्य-रसिकों के चित्तरूपी आकाश पर भावों के पूर्णचन्द्र के समान चिरभास्वर से दृष्टिगोचर होते थे। उन्हीं साहित्य-रसिकों ने देखा है कि साहित्यरूपी आकाश का पूर्णचन्द्र अपनी स्निग्ध ज्योति से उन सबकी दीन आत्मा को क्षुब्ध करके किसी अज्ञात दिशा की ओर प्रयाण कर चला है। किन्तु यह महाप्रयाण अनन्त के साथ अनन्त मिलन नहीं है, इसके पीछे है उनके अनुजों के लिए साहित्य के यज्ञ-मण्डप में सादर आह्वान का आकुलतामय आवेदन।

भारत के तपोवन में ही पहले-पहल यह वाणी उच्चरित हुई है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।

मनुष्य अमृत का पुत्र है, यह बात प्रमाणित की है पण्डित महावीरप्रसाद ने अपने जीवन में भाव, कर्म तथा चिन्ता के द्वारा। किन्तु उनकी जीवनरूपी वीणा में स्वार्थ का प्रेम-गीत नहीं झङ्कृत हुआ। झङ्कृत हुआ था परोपकार परायणता का मधुर उद्योग, कर्त्तव्य का दीपक-राग। यही कारण है कि वे मानव-समाज की दृष्टि से परिलक्षित हुए हैं भाषारूपी जननी के एकनिष्ठ सन्तान के रूप में—कल्पना के काव्य-कानन में कलकण्ठ पिक के रूप में, जिसकी मधुर झङ्कार से आज भी हिन्दी का साहित्य-रूपी आकाश मुखरित है।

मनुष्य अपने बाह्य रूप के आधार पर नहीं बड़ा होता। वह बड़ा होता है अपने अन्तःकरण के विकास के बल पर। पण्डित महावीरप्रसाद की जीवनी की आलोचना करने पर यही बात ज्ञात होती है। उनके हृदय का विकास हुआ था बाल्यकाल की दीनता के मध्य में पड़कर। जहाँ तक सुनने में आया है, पण्डित महावीरप्रसाद के पिता की अवस्था वैसी अच्छी नहीं थी। इसलिए छात्रावस्था में उन्हें समय समय पर अपने गाँव के निवास से भोजन की सामग्री स्वयं ढोकर रायबरेली के नगर में ले जानी पड़ती थी। इस प्रकार दुःख-क्लेश में प्रतिपालित होने के ही कारण आगे चलकर दुखिया के दुःख से, आपद्ग्रस्त व्यक्ति के कातर आवेदन से उनका हृदय कातर हो उठा करता था। अपना जीवन बँधी हुई लकीर से चलकर व्यतीत करनेवाले व्यक्ति वे नहीं थे। जीवन का कर्त्तव्य क्या है, मानवजीवन की विशेषता किस बात में है, इन सब बातों पर वे बहुत ही धीर भाव से विचार किया करते थे। इसी लिए उनका व्यक्तित्व पर्वत के शिखर के समान अपने आस-पास के आवेष्टनों से ऊपर मस्तक उठाये हुए सुशोभित हुआ करता था।

शिक्षा समाप्त करके पण्डित महावीरप्रसाद ने कर्मक्षेत्र में प्रवेश किया। किन्तु वे काम-काज के ही बन्धन में नहीं फँसे रह सके। कार्यक्षेत्र में आकर भी वे साहित्य-

साधना से विमुख नहीं हुए। काम-काज के फेर में पड़कर उन्होंने जीवन के सारभूत सत्य को भुलाया नहीं। उनकी साहित्य-साधना काम-काज की शृङ्खला को तोड़कर पूर्ण वेग से चलने लगी। अन्त में उन्होंने भाषा-जननी के एकनिष्ठ साधक के रूप में सारस्वत-क्षेत्र में प्रवेश किया।

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्य-साधना के प्रारम्भिक जीवन के कार्य-कलाप का चित्र तो हिन्दी-संसार के ही चित्रकार अङ्कित करेंगे। कर्मक्षेत्र में आजाने पर उनसे परिचित होकर हमने उन्हें जिस रूप में देखा है उसी के सम्बन्ध की कुछ बातों का यहाँ उल्लेख कर रहे हैं।

पहले ही कह चुका हूँ कि दासता की शृङ्खला तोड़कर उन्होंने सारस्वत-यज्ञ में ऋत्विक् का पद ग्रहण किया था 'सरस्वती'-सम्पादक के रूप में। हिन्दी-संसार में उस समय मासिक-पत्र की एक नवीन अरुण रेखा उदित हो आई थी। पण्डित महावीरप्रसाद ने सम्पादक के दायित्व-पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होकर नवीन भावरूपी सम्पत्ति से अपनी मातृभाषा को वर्तमान राष्ट्र-भाषा-रूपी एक नये ठाट में सजा दिया। 'सरस्वती' में प्रकाशित करने के लिए जो लोग रचनायें भेजते उनकी रचनाओं को वे श्रद्धा-पूर्वक ग्रहण करते और आवश्यकतानुसार इस प्रकार संशोधन करते कि लेखक के भाव तो सुरक्षित रहते, किन्तु भाषा और शैली में बहुत ही ओज और मधुरता आजाती। इस विषय में उन्हें विरक्ति या क्लान्ति का अनुभव नहीं हुआ करता था। वे कहा करते कि सम्पादक का कर्त्तव्य है दूसरों की रचनाओं को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना और उसके सार-सत्य को जनता के समक्ष उपस्थित करना। नवीन लेखकों की रचनाओं का उन्होंने जो इस प्रकार का स्वागत किया था, उसी का यह फल है कि आज हिन्दी-संसार में वाणी के इतने कृती पुत्रों का आविर्भाव हुआ है। वसन्त का आविर्भाव होने पर जिस प्रकार आम की डालियों पर कोयल की कुहू कुहू आरम्भ हो जाती है, पण्डित महावीरप्रसाद के साहित्य-क्षेत्र में उसी तरह कलाकार लेखकों का आविर्भाव हुआ। भाषा-जननी वैभवशालिनी हो उठी। नई नई भावधाराओं के स्फुरित होने से साहित्य में पवित्रता का त्रिवेणी-सङ्गम हुआ। इस प्रकार साहित्य-क्षेत्र में जिस दिन पण्डित महावीरप्रसाद का आगमन हुआ, वह भाषा-जननी के लिए शुभ दिन था और इसी लिए उनकी लेखनी आज सार्थक है, धन्य है।

महावीरप्रसाद निर्भीक समालोचक थे। 'सरस्वती' के स्तम्भ में जब किसी पुस्तक की समालोचना प्रकाशित होती तब यह मालूम पड़ता कि समालोचना का अक्षर अक्षर उन्होंने लेखक के प्रति सहानुभूति रखते हुए सत्य के मानदण्ड पर तौल तौल कर लिखा है। इससे कोई कोई लेखक उनसे सन्तुष्ट होते और कोई कोई असन्तुष्ट भी। किन्तु कर्मवीर महावीरप्रसाद इससे घबरानेवाले नहीं थे। कर्त्तव्य के सामने वे किसी के अवरोध-अनुरोध की ओर ध्यान नहीं देते थे।

पण्डित महावीरप्रसाद अपने कर्मजीवन से [illegible]न्ध रखनेवाले बहुत-से काग़ज़-पत्र और चिट्ठियाँ का[illegible] नागरी-प्रचारिणी सभा में मोहर करके रख गये थे और आज्ञा दी थी कि वे सब उनकी मृत्यु के बाद ही खोले जायँ। अभी हाल में मैं अपने एक मित्र के साथ नागरी-प्रचारिणी सभा के कार्य्यालय में गया था। उस समय उनके दिये हुए काग़ज़-पत्र खोले जा रहे थे और सभा के दायित्वपूर्ण कर्मचारी उन सब काग़ज़ों की सूची बना रहे थे। कौतूहल-वश उस समय एक पत्र पढ़ा गया। उससे ज्ञात हुआ कि 'सरस्वती' में एक राजवंश का एक सचित्र परिचय छपा था, जिसके कारण उस राजवंश के एक कुमार ने पण्डित महावीरप्रसाद को पुरस्कृत करने की इच्छा प्रकट की थी। किन्तु पण्डित महावीरप्रसाद ने विनीत भाव से उक्त राजकुमार को लिखा था—'सरस्वती' के सम्पादन में अपना कर्त्तव्य समझकर मैंने यह किया है। उसके लिए मैं पुरस्कार नहीं लेना चाहता। मैं पुरस्कार का अधिकारी भी नहीं हूँ। परन्तु यदि आप इस बात से सन्तुष्ट होकर पुरस्कार देना ही चाहते हैं तो 'सरस्वती' को दे सकते हैं, सरस्वती-सम्पादक को नहीं। निर्लोभ ब्राह्मण महावीरप्रसाद ने वही बात लिखी जो एक ब्राह्मण के लिए शोभाजनक है। वस्तुतः 'सरस्वती' की सर्वाङ्गीण उन्नति ही उनकी साधना का एकमात्र विषय था। इसके लिए उन्हें कितने ही बार कितने व्यक्तियों का असन्तोष-भाजन बनना पड़ा है। परन्तु उन्होंने एक वीर के समान ही दूसरों की भ्रूभङ्गी की उपेक्षा की थी।

परन्तु पण्डित महावीरप्रसाद ने क्या केवल साहित्य-

क्षेत्र में ही वीरता प्रदर्शित की थी ? नहीं, यह बात नहीं है। उन्होंने अपने जीवन में जितने भी कार्य किये हैं उनमें से जब हमें उनके पत्नीव्रत का परिचय मिलता है तब उन्हें आदर्श प्रेमिक अथवा प्रेमराज्य के सम्राट् की उपाधि से विभूषित करने की इच्छा होती है। जिस अवस्था में उनका पत्नी-वियोग हुआ था, उससे अधिक अवस्था में भी लोग प्रायः दूसरा विवाह किया करते हैं। परन्तु महावीरप्रसाद ने ऐसा न करके अपने प्रेम की शुभ्र एवं उज्ज्वल यशरूपी माला अपनी पत्नी की प्रतिमूर्ति ही के गले में डालकर अपने अपूर्व प्रेम का उस पवित्र मूर्ति के सामने बलिदान कर दिया था। स्वर्गीया पत्नी के उदार नारी-हृदय की स्नेह-निर्झरिणी स्वामी के कठोर हृदय पर जाकर शुष्क नहीं हो पाई। पत्नी-प्रेमी महावीरप्रसाद अपनी दिवंगता पत्नी की कार्य-धारा को प्रेम की रसधारा में जीवनपर्यन्त समानभाव से प्रवाहित करते रहे हैं, यह बात एक साहित्यिक मित्र से ज्ञात होने पर मुझ समव्यथी के शुष्क नेत्र सहानुभूति के आँसुओं के भार से आक्रान्त हो उठे थे। इसी से आज मन में यह बात आती है कि कहाँ हैं वे आदर्श प्रेमिक पत्नीव्रत महावीरप्रसाद जी !

ग्राममाता के लाड़ले पुत्र महावीरप्रसाद ने ग्राम में जन्म ग्रहण किया था और ग्राममाता की गोद में ही उन्होंने अन्तिम निःश्वास का भी परित्याग किया। उन्होंने जीवन-पर्यन्त देशरूपी माता की उपासना की और उसके यथार्थ कल्याण और मङ्गल को ध्यान में रखते हुए अपने कर्म-जीवन को अतिवाहित किया था। ग्राममाता के प्रति क्या कर्त्तव्य है, इस बात की ओर महावीरप्रसाद सदा ही सावधान रहा करते थे। इसी लिए अपने भोजन, वेश-भूषा तथा बातचीत में सदा ही अपने देश की प्रथा का ध्यान रखते आये हैं। साधारण मोटे कपड़े की धोती, मोटे कपड़े के कोट-कुर्ते, पैरों में देहाती जूता और साधारण-सी टोपी, यही उनकी वेश-भूषा थी। इसी वेश-भूषा में वे किसानों के पर्णकुटीर से लेकर धनियों के प्रासाद तक जाया करते थे। वे सोचते थे कि आत्म-सम्मान बाह्य आवरणों के भीतर से होकर नहीं प्रकट होता। गाँव के कृषक-कुल में ही उनके शान्त समाहित कर्म की धारा प्रवाहित हुआ करती थी। वे भाव-संक्षुब्ध महातापस अपनी ध्यान-दृष्टि के सम्मुख कर्मजीवन की यह विचित्र लीला देखकर अपने आपको भूल जाते थे। पृथिवी की कोई भी कामना उनके हृदय को विक्षुब्ध नहीं कर पाती थी। इस वर्ण-गन्धगीतिमयी धरणी के सम्मुख प्रकृति के लाड़िले महावीरप्रसाद अपनी रिक्त अर्घ्यथाली लेकर खड़े थे निखिल ऐश्वर्यमयी दशभुजा के सम्मुख दिगम्बर महादेव के समान।

भाषा-जननी के गुणग्राही सन्तानों ने जिस समय उनकी आजीवन शव-साधना के पुरस्कार के रूप में उन्हें 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पित किया था, उस समय उन्होंने जो दीनता का भाव प्रकट किया था वह हिन्दी-साहित्य-सेवियों को अविदित नहीं है। महावीरप्रसाद यह समझते थे कि अपनी शक्ति को कार्यरूप में परिणत करने के लिए कई प्रकार की प्रतिकूलतायें सहन करनी पड़ती हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि मित्र शत्रु बन बैठते हैं, फिर भी जो कर्त्तव्य है वह तो करना ही होगा। इस प्रकार का बल था उनके हृदय में। यही कारण है कि वे सब प्रकार की बाधाओं और विपत्तियों को ठुकराते हुए सबमें से सार-सत्य का संग्रह करके भारतवर्ष की सनातन मूर्ति को जाग्रत रूप में देखने को समर्थ हुए थे। उन्होंने देखा था आर्यावर्त का अपरूप रूप। देखी थी शस्यश्यामल भागीरथी-तट पर गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए भारतमाता की संन्यासिनी मूर्ति। इसी लिए उन्होंने समस्त दुःख-विषादों के घोर तूफ़ान में उसी मातृमूर्ति के दीप्त चक्षुओं की ममता एवं अभयहस्त का आशीर्वाद प्राप्त करके सत्य-सुन्दर का साक्षात्कार प्राप्त किया था। इसी लिए जीवन में अभाव की वेदना का अनुभव होने पर भी वे कभी उससे मोहित नहीं होते थे। कारण, उन्होंने यह हृदयङ्गम कर लिया था कि दुःख की वेदना से होकर ही भगवान् के आशीर्वाद की वर्षा होती है।

पण्डित महावीरप्रसाद जुही, कानपुर, में रहकर सरस्वती का सम्पादन-कार्य किया करते थे। कोई विशेष कार्य होने पर उन्हें प्रयाग—इंडियन प्रेस में आना पड़ता था। एक दिन वे इंडियन प्रेस के स्वत्वाधिकारी बाबू चिन्तामणि घोष महोदय के पास बैठे थे। कार्यवश इस लेख के लेखक को भी वहाँ जाना पड़ा। चिन्तामणि बाबू ने पण्डित जी से मेरा परिचय करा दिया। इतने में ही दफ़्तरी ने आकर तुरन्त की प्रकाशित हिन्दी की एक पुस्तक की प्रति चिन्तामणि बाबू को दी। चिन्तामणि बाबू ने वह पुस्तक पण्डित महावीरप्रसाद को दी। उस पुस्तक के आदि से अन्त तक पन्ने उलटते उलटते एक स्थान पर पण्डित जी की दृष्टि रुक गई। सीता-चरित्र की कुछ पंक्तियाँ पढ़कर उन्होंने पुस्तक के मूल-लेखक का नाम पूछा। चिन्तामणि बाबू के मूल-लेखक का परिचय देने पर पण्डित जी बोल उठे—बंगाली लेखकों की कल्पनाशक्ति असाधारण होती है। सीता-चरित्र का यह चित्र अपूर्व है, अनवद्य है। यह कहकर वे पढ़ने लगे—राहु के कवल से मुक्त सूर्यदेव की ओर क्या अर्घ्य-पुष्प से युक्त सैकड़ों हाथ नहीं उठते ? भुजङ्गों के अङ्गों से मसले हुए वन-फूल क्या देवता के चरणों पर अर्पित नहीं होते ? चिन्तामणि बाबू ने भी कहा कि सीता-चरित्र के ठीक इसी अंश ने मेरी भी दृष्टि आकर्षित की थी। आप लोग साहित्य के जौहरी हैं। कौन-सा अंश उत्तम है और कौन-सा नहीं, इस बात का विचार तो आप ही लोग करेंगे। इसके उत्तर में पण्डित जी ने कहा—मैंने बँगला-साहित्य की बहुत सी पुस्तकें पढ़ी हैं। भारतीय भाषाओं में बँगला-साहित्य आजकल भाव-रूपी सम्पत्ति से समृद्ध है। यह कहकर बँगला के कई ग्रन्थकारों की रचनाओं के कुछ कुछ अंशों की आवृत्ति वे करने लगे। हुमायूँ कवि की—

> व्यथा दिये दुःख दिये हियारे आमार,
> आघाते आघाते कर महत् उदार।

कविता के इस अंश की आवृत्ति करके उन्होंने कहा—भगवान् के समीप साधक की इससे अधिक अच्छी कौन-सी प्रार्थना हो सकती है ?

बात ही बात में तुलसीदास के रामचरितमानस के सम्बन्ध में बात छिड़ गई। यह कहने को भूल गया कि चिन्तामणि बाबू इस बीच में कहीं अन्यत्र चले गये थे। हम लोगों की बातचीत ज़रा लम्बी हो चली थी। साधक-श्रेष्ठ तुलसीदास के भक्ति-भाव की बात मैंने जैसे ही छेड़ी, वे बोल उठे—बंगाली कवि कृत्तिवास की रामायण मैंने पढ़ी है। उसमें बंगाली कवि के द्वारा कल्पित हनूमान का वक्षस्थल विदीर्ण करके रामसीता की मूर्ति का प्रदर्शित करना एक अनुपम कल्पना है। इस प्रकार की क़ल्पना कल्पना-प्रवण बंगाली के ही उपयुक्त है। उस दिन बँगला-भाषा और बंगाली लेखकों के प्रति पण्डित महावीरप्रसाद की असीम श्रद्धा का परिचय पाकर मैं जिस प्रकार मुग्ध हुआ, उसी प्रकार विस्मित भी हुआ था।

रवीन्द्रनाथ की 'सीमार माझे असीम तुमि', 'सागरे डूब दियेछि अरूप रतन आशा करि' आदि कई गीतों की आवृत्ति करके वे कहने लगे—पता नहीं, हमारी मातृभाषा में इस प्रकार की कविता लिखनेवाले का जन्म कब होगा।

इतने में 'कविता-कलाप' में प्रकाशित एक सचित्र कविता के सम्बन्ध में मैंने बातें कीं। मैंने कहा—कविता के विषय-वस्तु भाव है। बाह्य शोभा-सम्पत्ति का वर्णन उसकी आलोचना का विषय नहीं है। मेरी बात का समर्थन करते हुए पण्डित जी ने कहा—इस विषय में मैं भी आपसे सहमत हूँ। परन्तु क्या आप यह नहीं जानते कि बाह्य दृष्टि से ही अन्तर्दृष्टि खुलती है। भाव कविता का प्राण अवश्य है, किन्तु छन्द की विचित्रता तथा शब्दों की झङ्कार आदि भी कविता के अङ्ग हैं। इसी लिए मैंने इस कविता को 'कविता-कलाप' में स्थान दिया है। यह लिखते हुए मैं गर्व का अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे वे उद्दिष्ट कवि आज हिन्दी के एक लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं। पण्डित महावीरप्रसाद के आशीर्वाद से अब उनकी अन्तर्दृष्टि खुल गई है। ज्ञानवीर की भविष्य वाणी सार्थक हो गई है।

पण्डित महावीरप्रसाद के जीवन में जिस प्रकार सत्य की अग्नि-शिखा की एक अक्षय दीप्ति विराजमान थी, उसी प्रकार उसके साथ एक मनोहर स्निग्धता भी थी। दीपशिखा जिस प्रकार पल-पल पर अपने आपको जलाकर प्रकाश विकीर्ण करती है, पण्डित महावीरप्रसाद भी उसी प्रकार दुःख और संग्राम से अपने आपको जलाकर भाषा-जननी में परम ज्योति-दान कर गये हैं। हे भाषा-जननी के एकनिष्ठ महातापस, हमने तुम्हारे लिए अपने हृदय के प्रेम-रूपी शतदल के जिस अर्घ्य की रचना की है उसे तुम प्रसन्न मन से ग्रहण करो। तुमने दिन प्रतिदिन अपने पवित्र हृदय की करुणा और प्रेम की अश्रुधारा से हिन्दी-साहित्य-रूपी उद्यान में जिस श्वेत, शुभ्र यूथिका-कुसुम की माला गूँथी है, हे दिव्यधामवासी महापुरुष ! तुम्हारी वही यश-रूपी माला तुम्हारे गले में झूलती रहे, मृत्युमलिन पृथिवी पर हमारे नयनों में तुम्हारी यह ज्योतिर्मय देव-मति सदा ही जगमगाती रहे।

द्विवेदी जी से परिचय

लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा

श्री द्विवेदी जी के परिचय का सौभाग्य मुझे १९०३-०४ से प्राप्त था। जहाँ तक मुझे स्मरण है, पहला पत्र जो मुझे उनका लिखा मिला सो उनके 'कालिदास की निरंकुशता' शीर्षक लेख के प्रसंग में था। उस लेख से कुछ सज्जन असन्तुष्ट हुए थे। इसलिए श्री द्विवेदी जी ने मुझे लिखकर पूछा कि क्या उनसे यथार्थ ही में कुछ अनुचित किया गया है। मैंने उत्तर दिया कि किञ्चिन्मात्र भी अनौचित्य उनके लेख में नहीं था— कालिदास ने स्वयं मालविकाग्निमित्र नाटक में लिखा है— 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्य-वद्यम्—सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते'—फिर इसी नीति के अनुसार यदि कालिदास के काव्यों की भी 'परीक्षा' की जाय तो इसमें कालिदास को और उनके अनुयायियों को कुछ आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इस उत्तर से श्री द्विवेदी जी प्रसन्न हुए और तब से आजीवन मेरे ऊपर उनकी कृपा बनी रही। हिन्दी लिखने का जो मैंने साहस किया सो भी उन्हीं के प्रोत्साहन से। साहित्य-परीक्षक यथार्थ में ऐसा ही होना चाहिए— 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि।'

'मरना जीना' ही को तो 'संसार' कहते हैं। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च'—इस न्याय के अनुसार श्री द्विवेदी जी फिर जन्म लेंगे—उनका अभी हिन्दी को प्रयोजन है। 'हिन्दुस्तानी' से बचाने के लिए ऐसे ही आत्मा की अपेक्षा है।

इस भावी जन्म के पहले सुकृतार्जित पुण्य लोक में पवित्र सुख शान्त्यनुभव करते रहेंगे—इसमें सन्देह नहीं— "य इह रमणीयचरणास्ते रमणीयान् लोकाना-पद्यन्ते"—ऐसा उपनिषद्-वाक्य है।

निर्वापाञ्जलिः

लेखक, पण्डित सूर्यनारायण व्यास

सरस्वत्याः प्रसादेन
प्रयागे प्रथितः सुधीः।
'महावीर'प्रसादः श्री-
राष्ट्र-भाषाप्रदर्शकः॥

❀ ❀ ❀

भुवं हित्वा दिवं यातो
भारती-भालभूषणम्।
जीयाद्यशःशरीरेण
भाषा-भीष्मपितामहः॥

राष्ट्र-भाषाविनिर्माता
समालोचकराट् सुधीः।
कवि-कोविद-कर्ता च,
विद्वद्वंदितवाग्वरः॥

❀ ❀ ❀

महावीरप्रसादः श्री-
त्यागवीरवपुर्महान्।
युगान्तरकरः श्रीमान्
आचार्यश्चिरजीवितः॥

आचार्य द्विवेदी जी की धर्मपत्नी

स्वर्गीय आचार्य श्री पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के कुछ संस्मरण

लेखक, पण्डित सूर्यनारायण दीक्षित, एडवोकेट

रस्वती-सम्पादक की आज्ञा हुई कि मैं आचार्य श्री पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के कुछ संस्मरण लिखूँ। इस आज्ञा को मैं टाल नहीं सकता, यद्यपि आचार्य जी को दिवंगत हुए इतना थोड़ा समय बीता है कि हृदय के घाव का सूखना क्या, अभी तो उससे रक्त का बहना भी बन्द नहीं हुआ है, तथापि आचार्य जी के संस्मरण लिखने में जिस निष्पक्षभाव और उनके चरित्र के अन्तर्गत विशेष गुणों के प्रति जिस हास्य व्यञ्जना के व्यक्त करने की आवश्यकता है उसका स्पर्श तक इस समय के संस्मरण में नहीं आ सकता।

सन् १९०० या १९०१ ईसवी में पहले-पहल मेरी आचार्य जी से भेंट हुई थी। लखनऊ के पण्डित गिरिजादत्त वाजपेयी एम० ए० उस समय के मेरे मित्र हैं और वाजपेयी जी का द्विवेदी जी से अति घनिष्ठ सम्बन्ध था। मैं प्रायः वाजपेयी जी के यहाँ रानी कटरे में, जो लखनऊ का एक मोहल्ला है, आया जाया करता था। वहीं द्विवेदी जी से भेंट हुई। उनके गुणों को मैं पहले से जानता था और बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी कि उनके दर्शन हों। प्रथम भेंट में ही मैं मुग्ध हो गया। सुन रक्खा था कि द्विवेदी जी बड़े उद्धत स्वभाव के मनुष्य हैं, किन्तु जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है उनको मैंने सदा सौम्य और शान्त पाया। मेरे दुष्टता करने पर भी कभी उन्होंने मेरे प्रति क्रोध के भाव को नहीं दर्शाया। समय बीतता गया और धीरे धीरे मेरी उनसे घनिष्ठता बढ़ती गई और मैं कई बार उनके दर्शनार्थ जुही (कानपुर) गया और उनका आतिथ्य ग्रहण किया। कानपुर के लाला सीताराम उनके अन्तरंग मित्र थे और उन्हीं के जुहीवाले प्रेस के अहाते के एक छोटे से मकान में रहते थे। उसके एक कमरे में द्विवेदी जी का पुस्तकालय था। उसको पुस्तकालय न कहकर सरस्वती देवी के भिन्न भिन्न रत्नों का एक महान् भाण्डार कहना चाहिए। कमरे की चारों दीवारों में अल्मारियाँ चिपकी हुई थीं, जिनमें किताबें ठसाठस भरी हुई थीं। उसके एक कोने में छोटा सा तख़्त बिछा हुआ था। तख़्त के एक ओर एक जोड़ा खड़ाऊँ और दूसरी ओर जूते रक्खे रहते थे। तख़्त के ऊपर लेखन-सामग्री रक्खी रहती थी और उसी पर विराजमान होकर द्विवेदी जी भगवती सरस्वती की एकाग्रचित्त से आराधना किया करते थे। अल्मारियों में एक ओर हिन्दी-भाषा की पुस्तकें थीं, दूसरी ओर मराठी, गुजराती, अँगरेज़ी और बँगला की पुस्तकों का भाण्डार था। अल्मारियों के ऊपर मचान बँधे हुए थे और उन पर संस्कृत के ग्रन्थरत्न खारुये से बँधे हुए सुरक्षित रक्खे हुए थे। पत्रों के रक्षण करने का द्विवेदी जी को इतना प्रेम था कि सूचीपत्र आदि तक यथास्थान सँभाल कर रक्खे रहते थे। द्विवेदी जी जिस सिलसिले में पुस्तकें रखते थे उस सिलसिले में यदि कोई परिवर्तन कर देता था तो यदि वह द्विवेदी जी का घनिष्ठ और असीम मित्र न होता था तो द्विवेदी जी उसी के सामने चुपचाप उठकर उन पुस्तकों को फिर यथास्थान रख देते थे और यदि उससे घनिष्टता और [illegible] हुई [illegible] उसको द्विवेदी जी की डाँट भी सहनी पड़ती [illegible]। एक बार मैंने द्विवेदी जी की खड़ाऊँ इधर से उठाकर उधर रख दी। द्विवेदी जी ने तुरन्त भर्त्सना-पूर्वक मेरी उच्छृंखलता पर फटकारा और कहा कि मनुष्य-जीवन में प्रत्येक मनुष्य को तरतीब का मूल्य समझना चाहिए और कभी बेतरतीबी से कार्य नहीं करना चाहिए।

एक बार मैं और आचार्य जी भोजन करने बैठे तब उनकी धर्मपत्नी ने थाली में खाद्य पदार्थ उस सिलसिले में नहीं रक्खे थे जिसमें द्विवेदी जी नित्यप्रति रखवाते थे, अतएव उनको भी स्नेह-मिश्रित भर्त्सना सुननी पड़ी।

जिस वस्तु से द्विवेदी जी को बहुत प्रेम होता था उसकी क़द्र करने में द्विवेदी जी धन की परवा नहीं करते

बायीं ओर से—(खड़े) द्विवेदी जी के भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी, (बीच में कुर्सी पर) आचार्य द्विवेदी जी (गोद में उनकी छोटी भानजी कुमारी विद्यावती), (किनारे खड़ी) द्विवेदी जी की बड़ी भानजी कुमारी कमलावती (स्वर्गीया)। सन् १९१७ का चित्र।

थे। एक बार लखनऊ में द्विवेदी जी ने मुझसे कहा कि चलो किसी अच्छे दर्ज़ी के यहाँ अपना सूट दे आवें। मैं उनके साथ हो लिया। अमीनाबाद में एक बहुत बड़ी दूकान में जाकर आपने सूट का आर्डर दिया और उसके लिए एक मूल्यवान् वस्त्र ख़रीदा। यह सूट और इसकी कतर-ब्योंत दो मिनट में हो गई; उसके अच्छे सिले जाने के लिए कोई चिन्ता प्रकट नहीं की। आपके पास एक गाढ़े का थान भी था। वह भी आपने सूट सिलने के लिए दिया, पर गाढ़े के सूट के सिलने के लिए इतनी चिन्ता प्रकट की जितनी चिन्ता रेशमी सूट के लिए नहीं की थी। सूट का अर्थ यह न समझिएगा कि कालर टाई लगानेवाला कोट और पतलून—आपका सूट होता था बन्दगले का कोट और बिजिसनुमा पायजामा। हाँ, तो आपने दर्ज़ी से कई बार कहा कि देखो टेलरमास्टर, हमारा गाढ़े का सूट ख़राब न होने पावे। रेशमी सूट में कोई त्रुटि हो जावे तो कोई परवा नहीं, लेकिन गाढ़े के सूट में कोई त्रुटि न होने पावे। गाढ़े के सूट के बारे में कम से कम आध घण्टा लगा दिया। जब दर्ज़ी की दूकान से हम लोग १०-१५ क़दम जा चुके थे तब फिर लौट आये और गाढ़े के सूट के अच्छे सिलने के लिए अनुरोध किया। मुझको हँसी आ गई और मैंने व्यंग्यपूर्वक कहा कि द्विवेदी जी आप विचित्र हैं! अशर्फ़ियाँ लुटाते हैं और कोयलों पर मोहरें करते हैं। १५)-२०) के रेशमी थान के लिए परवा नहीं, परन्तु २) के गाढ़े के थान के लिए इतनी चिन्ता! वे हँसकर बोले, तुम्हें मालूम नहीं कि यह गाढ़ा ख़ास हमारे ज़िले का बना हुआ है, इसलिए उस पर हमारी इतनी ममता है। पाठकगण, स्मरण रहे कि यह घटना उस समय की है जिस समय स्वदेशी-आन्दोलन का सूत्रपात भी नहीं हुआ था और जब हमारे देशवासी ख़ास इँग्लैंड के बने वस्त्रों से अपने शरीरों को ढाँकने में आत्म-गौरव का अनुभव करते थे।

सन् १९००-०१ ईसवी में कान्यकुब्ज-सभा का अधिवेशन कानपुर में हुआ था। एक वयोवृद्ध महानुभाव (लखनऊ के वाजपेयी, चूड़ा के आँक के) सभापति के आसन पर सुशोभित थे। सभापति क्या थे, एक श्वेत मर्म मयी चन्दन-खौर-खचित एक सौम्य प्रस्तर की मूर्ति सभापति के सिंहासन पर विराजमान थी। सभापति का सब काम पंडित सूर्यप्रसाद जी नाम के एक आर्यसमाजी सज्जन कर रहे थे। इन सज्जन को सभा-सञ्चालन-विधि का पूर्ण ज्ञान था और ये अपनी दाढ़ी हिला हिलाकर कहते थे कि सभापति महोदय की यह आज्ञा है और वह आज्ञा है तो मुझको बेतहाशा हँसी आ जाती थी। उस सभा में सम्मिलित होने के लिए आचार्य द्विवेदी जी, राय साहब पंडित चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी अजमेर-वाले, पंडित गिरिजादत्त वाजपेयी एम० ए० लखनऊ के पधारे थे और लखीमपुर से मैं भी गया था। हम लोग कान्यकुब्ज-मण्डल में सुधारक पार्टी के सभासद थे। अजमेर से 'कान्यकुब्ज-सुधारक' नाम का पत्र राय साहब पंडित चन्द्रिकाप्रसाद की संरक्षकता में निकलता था और कानपुर से पंडित मनोहरलाल जी 'कान्यकुब्ज-हितकारी' निकालते थे। 'सुधारक' प्रगतिशील पत्र था और हितकारी पुराने ढर्रे का। दोनों पत्रों में इस प्रश्न पर कि कान्यकुब्जों में सहभोज होना चाहिए या नहीं, महीनों वाद-विवाद चला था और मैं व पंडित गिरिजादत्त वाजपेयी जी बहुधा 'कान्यकुब्ज-सुधारक' में लेख लिखते थे और 'कान्यकुब्ज-हितकारी' के स्तंभों में गालियाँ खाते थे। कान्यकुब्ज-सभा के अधिवेशन में हम लोग इस विचार से गये थे कि सभा के सम्मुख सहभोज का प्रस्ताव रक्खेंगे, परन्तु जब पहले या दूसरे दिन स्त्री-शिक्षा के प्रस्ताव पर कनौजिया लोगों ने हल्ला मचा दिया और गले में बटुआ डाले हुए चूना और तम्बाकू की पीक को मुँह में भरे हुए कान्यकुब्ज आचार्यों के मुख से निस्सृत "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" का घोर आकाश तक गूँज उठा और पुरातनवादी महायोद्धाओं की फड़कती हुई भुजाओं और लाल लाल आँखों से निकलती हुई अग्नि-शिखाओं से वायुमण्डल त्रस्त और स्पंदित हो उठा तब हम लोगों को सहभोज के प्रस्ताव को उपस्थित करने का साहस नहीं रहा और द्विवेदी जी ने कहा कि भैया, अब यहाँ से चलो; इस सभा में हम लोगों के लिए स्थान नहीं है।' सभा से लौटते समय, मुझको भली भाँति स्मरण है, 'कान्यकुब्ज-हितकारी' की जितनी फ़ाइलें आचार्य जी के पास थीं, सबकी सब उन्होंने पंडित मनोहरलाल जी को वापस कर दीं और कहा कि "भैया, यहु आपन कूड़ा करकट लेउ।" वयोवृद्ध होने पर भी द्विवेदी जी में सुधारक की उमंग युवकों से बढ़कर थी।

सन् १९०७-०८ ईसवी में बाबू श्यामसुन्दरदास (अब राय बहादुर) ने हिन्दी के लेखकों की एक 'चरितावली' निकालने का विचार किया था और मुझको लिखा था कि मैं द्विवेदी जी का एक छोटा-सा जीवनचरित लिखकर उनके पास भेज दूँ। उन दिनों मैं नीमराणा में था। नीमराणा राजपूताने में एक छोटी सी रियासत है। मैं इस कार्य के लिए नीमराणा से जुही गया और द्विवेदी जी से पूछ-पाछकर और इधर- उधर से कुछ सामग्री जोड़कर मैंने एक छोटा सा जीवनचरित तैयार किया और पाण्डुलिपि द्विवेदी जी को दिखाकर बाबू श्यामसुन्दरदास के पास भेज दी। मैंने ग़लती यह की थी कि पाण्डुलिपि द्विवेदी जी को दिखा दी थी। बाबू श्यामसुन्दरदास ने उस पाण्डुलिपि में कुछ परिवर्तन करके उसे इंडियन प्रेस में छापने के लिए भेज दिया। द्विवेदी जी उन दिनों 'सरस्वती' के सम्पादक थे ही। उनको जब यह ज्ञात हुआ कि बाबू श्यामसुन्दरदास ने कुछ परिवर्तन कर दिया है तब उन्होंने बहुत बुरा माना और अपना चरित छपने नहीं दिया। द्विवेदी जी में यह बात अवश्य थी कि जब कोई उनके मान को चोट पहुँचाता था तब वे अग्निशर्म्मा हो जाया करते थे। और कौन स्वाभिमानी मनुष्य है जो अपमान को सहन कर सकेगा?

द्विवेदी जी की समालोचना प्रसिद्ध थी। उनके लेखों में समालोचनात्मक लेख बड़े महत्त्व के हैं। उनका मज़ाक भी चुटीला और साहित्यिक दृष्टि से रसीला होता था। मुझे वकालत करते कई वर्ष हो गये थे। मैंने न तो उनको कोई पत्र लिखा और न उनसे भेंट ही की। ८-१० वर्ष हुए जब मुझको एकाएक उनका एक पोस्टकार्ड मिला। उसमें 'लखीमपुर' पर व्यंग्य करते हुए मुझे लिखा था कि लक्ष्मीपुर में रह कर लक्ष्मी की सेवा में इतने लवलीन हो गये हो कि तुमने सरस्वती की सेवा बिलकुल छोड़ ही दी है। और कुछ इसी आशय का एक संस्कृत का श्लोक भी उस पोस्टकार्ड में उद्धृत किया था। मुझे खेद है कि बहुत खोजने पर भी मुझे वह पोस्टकार्ड नहीं मिला और न श्लोक ही याद आ रहा है। वास्तव में द्विवेदी जी का आक्षेप सत्य था, क्योंकि वकालत के पेशे में पड़कर मुझे इतना समय ही नहीं मिलता था कि मातृ-भाषा की कुछ सेवा करता। पोस्टकार्ड पाकर मुझे लज्जा तो अवश्य हुई, किन्तु उस लज्जा को छिपाने के लिए मैंने द्विवेदी जी को वकीलों ऐसा एक उत्तर लिख दिया। द्विवेदी जी ने 'लक्ष्मीपुर' पर व्यंग्य किया था और मैंने 'दौलतपुर' का सहारा लिया। मैंने लिखा था कि जब तक आप दौलतपुर में रहते हैं तब तक आपको लखीमपुर में रहनेवाले एक क्षुद्र मित्र पर आक्षेप नहीं करना चाहिए।

वर्षों से द्विवेदी जी के दर्शन मुझे प्राप्त नहीं हुए थे। मेरे भाग्य में यह न था कि मैं अन्तिम बार उनके दर्शन कर लेता। आज-कल विचार कर रहा था कि एक-दो दिन का अवकाश निकाल कर दौलतपुर जाकर उनके दर्शन और सत्सङ्ग का लाभ प्राप्त करूँ। कि अकस्मात् उनके देहावसान का समाचार सुना और सुनकर स्तब्ध रह गया। यहाँ तक कि मैं संस्मरण लिखने में असमर्थ हूँ। भविष्य में यदि कभी स्मृति जाग्रत हुई तो आचार्य द्विवेदी जी के जीवन-चरित्र के चित्रों को अंकित करके आत्म-सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा।

मेरे आचार्य

लेखक, पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी

आचार्य द्विवेदी जी का नाम मैंने अब से ३८ वर्ष पहले सुना था। परन्तु उसके लगभग चार वर्ष के बाद कानपुर में उनकी जुही की बैठक में उनका दर्शन हुआ। मैं उस समय लगभग १६-१७ वर्ष का बालक था। मन में लेखक और कवि तथा देश का कोई बड़ा भारी नेता बनने की महत्त्वाकांक्षा जाग्रत हो उठी थी। एक ऊटपटाँग लेख, पंडित प्रतापनारायण मिश्र का जीवन-चरित, लिखकर 'सरस्वती' में छपाने के लिए साथ में ले गया था। मेरे साथ सुलेखाचार्य पंडित गौरीशंकर भट्ट भी थे। आचार्य ने हम दोनों का प्रेमपूर्ण स्वागत किया, पर उस समय मैं यह समझ न सका कि यही मेरे भावी आचार्य हैं।

शायद उसी साल कानपुर में या और किसी जगह किसी बड़े आदमी के दीवानख़ाने में मैंने दीवार पर लगा हुआ एक चित्र-समूह देखा। दिखानेवाले ने मुझे बतलाया कि भारत के सबसे बड़े ६४ महापुरुषों का यह एक 'ग्रुप' है। उन ६४ महापुरुषों में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का भी चित्र था। दादाभाई, तिलक, गोखले, फीरोज़शाह मेहता, मालवीय जी, लाला लाजपतराय इत्यादि भी उसमें थे। मैं चकित रह गया कि क्या द्विवेदी जी इतने महान् हैं!

इसके दो वर्ष बाद मैं नागपुर में स्वर्गीय पंडित माधवराव जी सप्रे के साथ 'हिन्दी-ग्रन्थमाला' और 'हिन्दी-केसरी' के सम्पादकों में था। वहीं से आचार्य द्विवेदी जी को मैंने जाना कि ये मेरे आचार्य हैं और इनका महत्त्व क्या है। अब मेरी अवस्था १९ वर्ष के लगभग थी। मैं गरम दल का राष्ट्रीय युवक हो चुका था। मैंने वहीं से देखा कि आचार्य द्विवेदी जी हिन्दी-भाषा के कितने बड़े पंडित हैं, इनकी प्रतिभा को छूनेवाले कितने व्यक्ति भारत में हैं।

द्विवेदी जी का प्रथम ग्रन्थ 'स्वाधीनता' मेरी ग्रन्थमाला में छप रहा था। प्रूफ़ मेरे ही हाथ से पास होते थे। मैं अध्ययन कर रहा था कि यह कितने तेज़ दिमाग़ का उद्भट विद्वान् है। इसके कुछ ही पहले काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा से द्विवेदी जी का तीव्र मतभेद हो चुका था। मतभेद का मुख्य कारण तो मुझे इस समय स्मरण नहीं; पर इस विवाद पर आचार्य ने अपना एक बड़ा 'वक्तव्य' दिया था, जो एक बड़ा पोथा बन गया था। वह पोथा पंडित माधवराव जी सप्रे के पास द्विवेदी जी ने भेजा और सम्मति माँगी कि यह 'ग्रन्थमाला' में पुस्तकाकार प्रकाशित क्यों न किया जाय। मैंने उस हस्तलिखित पोथे को उसी समय पढ़ा। मुझे मालूम हुआ कि मेरे आचार्य द्विवेदी जी प्रतिस्पर्धियों के लिए कितने भयंकर हैं शायद 'प्रतिवादि-भयंकर'—से भी बढ़कर तर्क की तलवार रखते हैं। वह हस्तलिखित पोथा शायद काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित रक्खा है।

> "कैसी दिल्लगी है; देहाती कूड़े-करकट में लोटा करें, निरक्षरता के गढ़े में पड़े रहें, बीमारी से अधमरे होकर एक पुड़िया कुनैन के लिए तरसें और उनके लगान व मालगुज़ारी से शहरों के लोग सफ़ाई और सुविधाओं का स्वाद चखें।"
>
> आचार्य द्विवेदी जी मार्च १९२०

उस समय अर्थात् सन् १९०७ में आचार्य का मेरे प्रति वात्सल्य-भाव उत्पन्न हो चुका था। मैं 'सरस्वती' का रेगुलर कान्ट्रिब्यूटर बन चुका था। आचार्य द्विवेदी जी मनुष्य की परीक्षा करना ख़ूब जानते थे। मेरे प्रति उनके ये भाव बन गये थे कि मैं उनका एक अनन्य भक्त हूँ और साथ ही वे यह समझ चुके थे कि इस नवयुवक को यदि प्रोत्साहन मिला तो यह आगे चलकर कुछ हो जायगा। इसका परिणाम यह हुआ कि मैंने जितने लेख या कवितायें 'सरस्वती' में छपने को भेजीं, प्रायः सभी छपीं—कोई न्यूनाधिक रूप में छपी, कोई ज्यों की त्यों।

मैंने ख़ास बात लेखक और सम्पादक के व्यवहार में

द्विवेदी जी में यह देखी कि वे अपने सम्पादन में अपनी एक ख़ास दृष्टि रखते थे। जो लेख-सामग्री उनके टेबुल पर आकर गिरती उसी में से वे लेखों का चुनाव नहीं करते थे; बल्कि वे यह सोचते रहते थे कि हमको अपने पाठकों को क्या चीज़ देनी है; और जो कुछ देनी है वह कहाँ कहाँ से प्राप्त हो सकती है। वे लेखकों और कवियों को जुटाना भी ख़ूब जानते थे। साथ ही उनकी पैनी दृष्टि यह भी ताड़ती रहती थी कि कौन लेखक किस विषय पर अच्छा लिख सकता है। अक्सर वे अपने लेखकों और कवियों को आदेश किया करते थे कि इस विषय पर लेख अथवा कविता भेजो। लेख या कविता उनके यहाँ पहुँची नहीं कि तुरन्त पहुँच और छपने न छपने का उत्तर तीसरे दिन भारत भर में सब कहीं पहुँच जाता था।

(पत्र का तुरन्त उत्तर देनेवाला ऐसा कोई भी व्यक्ति शायद दुनिया में दूसरा न मिलेगा। द्विवेदी जी की बैठक में एक छोटी टेबुल पर पोस्टकार्ड लिफ़ाफ़े और लेटर-पेपर, क़लम-दावात के साथ हर वक्त रक्खे रहते थे। कोई ख़त हो, चाहे लेख या कविता हो, वे पहुँचते ही तुरन्त उसे पढ़ते थे और उसी दम भेजनेवाले को उत्तर लिख देते थे। सौ काम छोड़कर वे पत्र का उत्तर देते थे। पत्र उनका बहुत ही संक्षिप्त, चोज़ भरा हुआ, बहुधा व्यंग्यपूर्ण और पढ़नेवाले को हर्षित करनेवाला होता था। लेखकों के प्रति शालीनता, नम्रता और ख़ुशामद की हद कर देते थे। आह! कौन समझ सकता था कि यह कितना महान् पुरुष है जो अपने छोटे से छोटे लेखकों के प्रति इतना उदार, इतना विनम्र और इतना ख़ुशामद से काम लेनेवाला है।)

एक बार आचार्य ने मेरे एक लेख का शीर्षक बदल दिया। 'सरस्वती' आई, मैंने शीर्षक बदला हुआ पाया। मुझे बड़ा क्रोध आया। लड़कपन था, मैंने डाँटकर पत्र लिखा। उत्तर में अत्यन्त विनम्र शब्दों में क्षमा माँगी गई थी। यह उस समय की बात है जब 'सरस्वती' में लेख छपने पर मैं अपने को कृतार्थ समझता था।

मेरे बारे में भी द्विवेदी जी का एक ख़याल बँध गया था। उनको मालूम था कि मैं उस समय (सन् १९०७-०८ में) महाराष्ट्रों के सम्पर्क में था, इसलिए उन्होंने मुझे आज्ञा दी कि मैं 'नाना फड़नवीस' पर कुछ लिखकर 'सरस्वती' के लिए भेजूँ। मैं नागपुर में 'हिन्दी-केसरी' में काम करता था, पर नाना फड़नवीस के बारे में मुझे प्रायः कुछ भी मालूम नहीं था। आचार्य की आज्ञा का पालन करने के लिए मैंने नाना फड़नवीस के बारे में जितनी भी पुस्तकें मुझे मिल सकीं, प्रयत्न से एकत्र कीं और सबका अध्ययन किया; फिर 'सरस्वती' के लिए लेख लिखना शुरू किया। मसाला मेरे सामने बहुत था, पर अनुभव कम। अतएव मैं लगभग ५० पृष्ठ हाफ़ फुलिस्केप शीट लिख गया और आचार्य जी के पास 'सरस्वती' में छपने को भेज दिया। लौटती डाक से द्विवेदी जी का पत्र मिला कि आपने यह 'सरस्वती' के लिए लेख लिखा है या ग्रन्थ लिखा है। ख़ैर, अब किसी तरह इसका उपयोग कर लिया जायगा। मैंने उत्तर में निवेदन किया कि महाराज, उपयोग करके मेरी हस्तलिखित कापी मुझे वापस कर दीजिएगा। द्विवेदी जी ने वैसा ही किया और मेरी कापी मेरे पास जब वापस आई तब मैंने देखा कि प्रत्येक कापी के हाशिये पर किनारे किनारे लेख के उतने ही अंश पर पेंसिल के निशान हैं, जितना लेख के लिए उपयोगी है—बीच बीच में अँगरेज़ी में कुछ टीकात्मक वाक्य भी हैं, जो मेरे लेख से प्रभावित होकर लिखे गये हैं। समय पर 'सरस्वती' आई और मैंने आश्चर्य और उत्सुकतापूर्वक देखा कि नाना फड़नवीस का मेरा वह ५० पृष्ठ में लिखा हुआ जीवन-चरित 'सरस्वती' के आठ पेज में छपा हुआ है। लेख का सार तथा सिलसिला इतना उत्तम बँधा हुआ कि कहीं विशृंखलता मालूम नहीं दी। इतना ही नहीं, बल्कि लेख मेरे नाम से छपा हुआ है और दो रुपये पेज के हिसाब से १६) का मनीआर्डर भी पुरस्कार में मेरे पास एक हफ़्ते के अन्दर ही—आप ही आप—आ गया! मैं तो भौचक्का रह गया कि यह कैसा महान् पत्रकार है कि जो अपने छोटे छोटे कृपापात्र लेखकों के प्रति इतना सजग रहता है!

मैं एक दो-साल से 'सरस्वती' का साधारण लेखक और कवि था; द्विवेदी जी ने बिना मेरी प्रार्थना के ही मुझे सूचित किया था कि अब 'सरस्वती' आपकी सेवा में 'फ़्री' आया करेगी और बिना माँगे ही पुरस्कार भिजवाना शुरू कर दिया था। मुझे इस बात का पता है कि मेरे साथ ही

द्विवेदी जी का ऐसा व्यवहार नहीं था, बल्कि उनके संसार में सैकड़ों ही ऐसे व्यक्ति थे जिनको वे प्यार करते थे।

सन् १९०७ से १९१४ तक लेखक और पत्रकार के नाते मेरा और द्विवेदी जी का अनवरत सम्पर्क रहा, और बराबर—मैं चाहे नागपुर में रहा या रायपुर में, या पूने में—पत्र आते-जाते रहे। सन् १९१४ के लगभग मैं 'आर्यमित्र' का सम्पादक होकर आगरे चला आया। द्विवेदी जी 'आर्यमित्र' से और आर्यसमाजियों से कुछ चिढ़े हुए थे। इसी बीच में स्वामी विरजानन्द जी के एक छोटे से जीवन-चरित की समालोचना करते हुए द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में एक ऐसी बात लिख दी कि आर्यसमाजियों और उनके अख़बारों में एक बड़ा भयानक आन्दोलन खड़ा हो गया। आर्यसमाजियों का सङ्गठन एक बर्रों के छत्ते की तरह है, इसको किसी ने छेड़ा नहीं कि एकदम बर्रों की तरह ये उस पर टूट पड़ते हैं। कई वर्ष पहले, पाठकों को याद होगा कि, महात्मा गांधी जी ने इनको थोड़ा सा छेड़ दिया था कि एकदम सब महात्मा जी पर टूट पड़े; और अन्त में महात्मा जी को इन्हें शान्त ही करना पड़ा। अस्तु, मैंने आर्यसमाजी दृष्टिकोण से आचार्य के विरुद्ध 'आर्यमित्र' में लेख लिखे और दूसरों के भी प्रकाशित किये। इस पर द्विवेदी जी मेरी ओर से कुछ खिच से गये और मुझे पत्र लिखना बन्द कर दिया। मैंने भी कोई पत्र नहीं लिखा और न कभी उनसे मिलने ही गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इतना होने पर भी आचार्य के प्रति मेरी श्रद्धा और मेरे प्रति आचार्य का स्नेह और सौहार्द कम नहीं था। इसका प्रमाण आगे चलकर कई वर्ष के बाद, जब कानपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन होने जा रहा था, तब मिला।

मेरे कानपुर के मित्रों ने सम्मेलन का संगठन करने के लिए मुझे लगभग एक मास पहले ही बुलाया था। सम्मेलन का स्वागताध्यक्ष कौन बनाया जाय? आचार्य जी कानपुर में ही जुही के बँगले में—बँगले में क्या, क्वार्टर में कहिए—रहते थे। हमारी मित्र-मंडली शहर में बैठी और यह तय हुआ कि जब हम सब लोग जो आचार्य के परम वात्सल्य-भाजन हैं, चलकर प्रार्थना करेंगे तब शायद वे स्वीकार कर लें, क्योंकि द्विवेदी जी को किसी सार्वजनिक भीड़भड़क्के में भाग लेने के लिए मना लेना कोई हँसीखेल नहीं था। जो व्यक्ति सदैव एकान्त साहित्य-तपस्वी था और जिसकी साधना आजीवन सभा-समाजों से विरक्त रहकर केवल एकमात्र सरस्वती देवी की पूजा और सरस्वती के सेवकों की आराधना और सेवा ही थी। जो दुनिया के जनसमूह में घूमकर एक एक व्यक्ति के हृदय में पलीता लगाना नहीं जानता था, बल्कि एकान्त-कोठरी में अकेला बैठकर अपने हृदय के अन्दर ही आग लगाता था और सारी दुनिया उसी में जलती थी—ऐसे व्यक्ति को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और द्विवेदी मेला के समान भयङ्कर जनसंमर्द में खींच लाकर उसका तमाशा बनाना कोई हँसी-ठट्ठा नहीं था। परन्तु वह कैसा सरल और करुण हृदय था भक्तवत्सल!—कि अपने भावुक और अनन्य भक्तों के सामने बिलकुल आत्म-समर्पण कर देता था!

हम लोगों ने स्वागताध्यक्ष बनने के लिए उनके चरणों में जाकर प्रार्थना की—कई वर्ष में मैंने जाकर उनके चरण छुए थे—मेरी ओर सिर उठाकर देखा और बोले—लक्ष्मीधर! बस, पानी पानी हो गये। बोले—"भाई, हमको इस झंझट में न डालो! मैं स्वागता-वागताध्यक्ष बनकर क्या करूँगा। उसमें आगत प्रतिनिधियों के स्वागत और सेवा का बड़ा भारी काम है, मैं कैसे करूँगा। बीमार आदमी। इतना बड़ा बोझ कैसे उठाऊँगा। हाँ, आप लोग नहीं मानते तो आगत सज्जनों के चरण धोने का कार्य मुझे दे दीजिएगा। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।" इस प्रकार बड़ी मुश्किल से स्वीकृति मिली, और बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन को सम्मेलन का सभापति बनाने की परामर्श करके हम लौट आये।

इसके कई वर्ष बाद जब हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान मन्त्री पंडित कृष्णकान्त मालवीय थे, सम्मेलन के एक अत्यन्त आवश्यक कार्यवश मुझे द्विवेदी जी की सेवा में उनके ग्राम दौलतपुर जाना पड़ा। सम्मेलन के अधिकारियों ने मुझसे कहा कि द्विवेदी जी सम्मेलन के अधिकारियों से बहुत प्रसन्न नहीं हैं, इसलिए आप ही उनसे इस कार्य को सम्मेलन के लिए करा सकते हैं। मैं प्रयाग से पहली ही ट्रेन से दौलतपुर के लिए चल दिया। बरसात का मौसिम था। जिस दिन मैं चला उसके दूसरे ही दिन मुझे कार्य पूरा करके प्रयाग वापस आना था; क्योंकि कार्य

ऐसा ही ज़रूरी था। मुझे द्विवेदी जी के गाँव दौलतपुर का रास्ता तक नहीं मालूम था। सीधा मैं कानपुर पहुँचा और वहाँ द्विवेदी जी के व्यावहारिक सहयोगी मित्र बाबू भगवानदास कमर्शल-प्रेसवालों से मिला। बाबू साहब ने बताया कि दौलतपुर के दो मार्ग हैं—एक बड़ी लाइन से कंसपुर-गोगौली स्टेशन से उतरकर गंगा पार करके जाना, जो नज़दीक का मार्ग अवश्य है, पर इस मौसिम में अत्यन्त दुर्गम है। दूसरा उन्नाव से तकिया-स्टेशन होकर, जो बहुत दूर का मार्ग है; पर इस समय कुछ सुगम पड़ सकता है। मैंने इसी दूसरे मार्ग से जाने का निश्चय किया; और शाम को छः बजे के लगभग तकियाँ स्टेशन पर जाकर उतरा। वहाँ पूछा तब मालूम हुआ कि दौलतपुर यहाँ से १६ मील के क़रीब है। मुझे तो जाना ही था; और कार्य करके दूसरे दिन वापस भी आना था। एक कुदर-बंडी बैलगाड़ी में बैठा, जो वहाँ से सिर्फ़ आधी दूर—नगर—तक जाती थी। बरसात का देहाती कच्चा रास्ता; और उस रद्दी बैलगाड़ी पर बैठने का मेरा नया अनुभव, जिस पर तीन ज़बर्दस्त ग्रामीण मेरे ऊपर बैठे हुए मुझको नीचे की ओर झुकती हुई गाड़ी में कुचल रहे थे और मार्ग का कीचड़ भी उछल उछलकर मेरे ऊपर गिरता था—मैं ९-१० बजे रात के क़रीब 'नगर' के बाज़ार में पहुँचा। वहाँ एक उत्साही नवयुवक पंडित चन्द्रिकाप्रसाद मेरे आगे आ गये, और मेरे नाम से परिचित होने के कारण रात को उन्होंने मुझे काफ़ी आराम दिया।

सुबह ४ बजे के क़रीब मैं उठा और बाक़ी का बिना जाना हुआ मार्ग, भूलते-भटकते, बड़ी कठिनाई से पैदल तय करके मैं लगभग ८ बजे सुबह दौलतपुर द्विवेदी जी के द्वार पर जाकर उपस्थित हुआ।

घर के सामने पक्का कुआँ, छोटी सी फुलवाड़ी, अगल-बगल में हिन्दी-पाठशाला, डाकघर, अतिथिशाला, गोशाला, सब उसी घर से मिले हुए छोटे दायरे में थे। सामने ही मैदान में एक ओर एक पक्का चबूतरा और उस पर छोटा सा महावीर जी का मन्दिर, फिर माता जी (आचार्य-पत्नी) का मन्दिर, फिर एक बड़ा सा गहरा तालाब! प्रथम दर्शन में ही उस बीहड़ देहात में यह दृश्य सचमुच एक तीर्थस्थान सा दिखाई दिया। मैं सामने ही चबूतरे पर चढ़कर पादत्राण बाहर उतार एकदम आचार्य के बैठके में घुस गया। आप एक बंडी पहने हुए, बिलकुल देहाती—बज्र गवाँर से—एक छोटा सा झाड़न लिये आल्मारियों की अपनी पुस्तकें पोंछ रहे थे। पुस्तकों में धूल चढ़ी हुई नहीं थी; पर आचार्य का यह क्रम था कि प्रतिदिन सुबह उठकर पहले सफ़ाई का काम करते और देखते थे। तमाम कमरा साफ़, सामान साफ़, जहाँ का तहाँ बाक़ायदा। बाहर चबूतरा बिलकुल साफ़ झाड़ा पोंछा हुआ!

आचार्य छोटा सा झाड़न लिये सिर झुकाये किताबें पोंछ रहे थे। मैं एकदम गया, और पैर छुए। आपने सिर ऊपर उठाया; और मेरी ओर अपनी स्वाभाविक जलदगम्भीर, पर मधुर स्नेह से भरी हुई, ध्वनि से बोल उठे—"लक्ष्मीधर!" एक-दो कुशल प्रश्न की बातें हुईं, और आचार्य फिर पुस्तकें पोंछने में लग गये। मैं बाहर तालाब की तरफ़ जाकर जंगल की तरफ़ इधर-उधर देखने लगा; पाँच-सात मिनट बाद आया तब देखता क्या हूँ कि मेरे पादत्राण जो कमरे के बाहर दरवाज़े के पास चबूतरे पर सामने ही धूलधूसरित रक्खे हुए थे—बिलकुल साफ़ लकदक़! मैं देखकर एकदम भौचक्का रह गया। भीतर गया तब आचार्य जी मेरी तरफ़ स्नेहभरी मुद्रा से बोले, तुम थके बहुत मालूम होते हो, इस पलँग पर थोड़ी देर लेट कर विश्राम कर लो। और लगे हाथ स्वयं पलँग बिछाने लगे। मैं मन ही मन लज्जित हुआ। थका हुआ तो था ही; लेटकर सो गया।

एक घंटे के बाद उठा तब द्विवेदी जी उसी कमरे में तख़्त पर बैठे कुछ काम कर रहे थे। मैंने अपने मुख्य कार्य—जिसके लिए मैं गया था—के विषय में पहले बातचीत की, फिर द्विवेदी जी ने मुझसे पूछा—"आपके भोजन का क्या प्रबन्ध हो? क्या पूड़ी आप मेरे यहाँ खायँगे? कच्ची रसोई तो आप मेरे यहाँ कैसे खायँगे; क्योंकि मैं कनौजियों में बहुत छोटा हूँ; और २० बिस्वावाले कनौजिया तो मेरे यहाँ पूड़ी तक खाने नहीं आते। कहते हैं, १६) दक्षिणा दो तो खायँ।' हाँ, बड़े बड़े पंडित, पुरोहित और पाधा यदि कोई पुराण-उराण देखना होता है तो ज़रूर आते हैं।"

इतने में एक देहाती किसान एक बड़ी भारी फूट (पकी हुई ककड़ी) लाकर द्विवेदी जी के कमरे में रख

गया। उसको देखकर मुझे आचार्य के शहरी जीवन का स्मरण हो आया और मैंने पूछा—"महाराज, यहाँ देहात में आपको तो बड़ी तकलीफ़ होती होगी। आपकी तबी-यत ख़राब रहती है। फल-वल यहाँ खाने को आपको कहाँ मिलते होंगे"? आचार्य ने कहा—"भाई, यहाँ का तो फल यही है (सामने लम्बी ज़बर्दस्त पड़ी हुई फूट की तरफ़ इशारा करके)—फूट!" मैं आचार्य का अभिप्राय समझ गया कि यहाँ देहात में आपस की फूट ही बड़ा भारी फल है। क्योंकि वहाँ द्विवेदी जी 'विलेज मुंसिफ़' का काम भी कई वर्ष से कर रहे थे; और आस-पास के देहात के तमाम मामलों को निपटाया करते थे। मुझे वहाँ के लोगों से मालूम हुआ कि बड़े बड़े लोग मामलों के सम्बन्ध में सलाह लेने के लिए "बाबू जी"* के पास आते हैं, और बाबू जी उनको समझाकर आपस में ही फ़ैसला करा देते हैं। मुक़दमेबाज़ी ज़्यादा नहीं चलने देते। आप किसानों और ग़रीबों को उधार तथा सूद तथा बिना सूद पर रुपया देकर उनकी मदद भी किया करते हैं। तब मुझे मालूम हुआ कि हमारा आचार्य कितना बड़ा देशभक्त और सुधारक है। वह ख़ाली साहित्य-महारथी ही नहीं है; बल्कि राष्ट्र का सच्चा सेवक भी है। ग्राम-सुधार का आन्दोलन कांग्रेस ने आज चलाया है, पर आचार्य द्विवेदी जी दौलतपुर में बैठे हुए लगभग २० वर्ष से यही काम कर रहे थे। अस्तु।

आचार्य ने मुझसे फिर पूछा—"भाई, तुम पक्के कनौजिया हो। मेरे यहाँ कैसे खाओगे?" मैंने उत्तर दिया—"महाराज, मैं तो आज ३० वर्ष से कनौजियापन को बिलकुल तलाक़ दे चुका हूँ; और सैकड़ों मील देहातों में पैदल घूमते हुए मैंने सब जातियों के लोगों के यहाँ कच्चा भोजन किया है। हिंदू-मुसलमान, चमार, पासी मुझसे कोई नहीं बचा है, लेकिन मैंने सिर्फ़ भोजन करने के लिए ही किसी के यहाँ भोजन नहीं किया है; बल्कि देश का काम करते हुए जहाँ मुझे भूख लगी; और मैं जिसके दरवाज़े ठहर गया, फिर मैंने जातपाँत नहीं पूछी; और यजमान से पहले ही प्रार्थना कर देता हूँ कि भाई, तेरी रसोई में जो कुछ रोज़ बनता है, उसी को पाऊँगा। मेरे लिए कोई विशेष आडम्बर न करना। नहीं तो मैं तुरन्त तेरे दरवाज़े से चलता बनूँगा। ऐसे मौक़े मेरे जीवन में सैकड़ों आये हैं; और आप, महाराज, तो मेरे गुरु हैं, ब्राह्मण हैं, पूज्य हैं, आपके यहाँ मैं भोजन न करूँगा!"

मेरे इस उत्तर को सुनकर तो द्विवेदी जी अवाक् रह गये; और बोले—"ऐसा!" उनकी पुत्रवधू राधादेवी अन्दर भोजन बना ही रही थीं। मैं भोजन के लिए तैयार हो गया; और मेरे साथ कमला भाई। द्विवेदी जी मुझे घर के अन्दर ले गये; और मेरे पैर धुलाने के लिए पानी लोटे में लेकर खड़े हुए! मैं [illegible]—[illegible] है यह आचार्य, मैं कमला भाई के साथ भोजन को बैठा। आचार्य वहीं खड़े थे; और बीच बीच में मुझसे पूँछते जाते थे—"भाई, क्या लाऊँ यहाँ देहात में? गोतक लाऊँ?" मैंने कहा—"महाराज, आपका यही आशीर्वाद है!" द्विवेदी जी चट से बाहर से गोतक गिलास में ले आये! आचार्य द्विवेदी जी को निकट से देखते तो पता चलता कि वे क्या थे—दूर से तो सिर्फ़ उनका 'उग्र स्वभाव' ही दिखाई देता था। पर वे क्या थे; और क्या नहीं थे, कितने गम्भीर थे, थाह पाना मुश्किल है। नमक की पुतली समुद्र की थाह लेने गई, घुलकर उसी में रह गई!

हाँ, एक घटना मैं भूल गया। द्विवेदी जी की बैठक में माता जी (आचार्यपत्नी) का फोटो लगा हुआ था। उसको देखकर मैंने आचार्य से पूछा—"महाराज, माता जी का फोटो शायद यही मालूम पड़ता है।" द्विवेदी जी ने कहा—"हाँ!" मैंने कहा—"महाराज, मैंने सुना है कि आपने इनका कोई मन्दिर बनवाया है!" आचार्य ने उत्तर दिया—"देखते नहीं हो। वह सामने!" मैंने कहा—"महाराज, उसमें तो ताला बन्द है। मैं तो दर्शन करना चाहता हूँ।" "भाई, ताला न बन्द रक्खूँ, क्या करूँ! आप जानते हैं, यहाँ देहात के आदमी, बड़े बड़े पण्डित पाधा पुरोहित, इसको देखकर जलते हैं, कहते हैं, इसने अपनी स्त्री की मूर्ति स्थापित की है, इसकी यही बड़ी देवता है! पुजवाना चाहता है!" मैंने कहा—"महाराज, ये लोग भ्रम में भूले हैं। बाद को यही एक तीर्थ-स्थान हो जायगा और हमारे समान हज़ारों पुजारी तो अब भी इसी दृष्टि से देखते हैं। आगे यहाँ के लोग भी समझ जायँगे। लेकिन मैं तो दर्शन अवश्य करूँगा।" आचार्य ख़ामोश रहे।

मैं भोजन करके कमला भाई के साथ निकला। आचार्य एक दूसरे कमरे में मालिश करा रहे थे। मैंने कमला से चुपके कहा—"भाई, कुंजी ले आओ। मामा को मालूम न होने पावे; मन्दिर खोल कर मुझे चुपके से दर्शन करा दो।" कमला ने ऐसा ही किया। मैं मन्दिर के अन्दर गया। दीवार के सहारे स्थापित मुझे संगमर्मर की तीन प्रतिमायें, एक के बाद एक, अत्यन्त सुन्दर दिखाई दीं। उन तीनों प्रतिमाओं के ऊपरी ओर आचार्य के रचे हुए संस्कृत श्लोक खचित हैं। श्लोक मैं सब लिख कर लाया था; पर मेरे पास से खो गये हैं। उनका भावार्थ यह है कि—मैंने (आचार्य ने) आजीवन 'सरस्वती' की सेवा की; और 'लक्ष्मी' के नाम पर सिर्फ़ तुम्हीं को पूजते रहे। तीन मूर्तियाँ—सरस्वती जी, लक्ष्मीजी और बीच में माता जी की। आचार्य की भावुकता का अन्त हो गया। हाँ! इस महापुरुष ने आजीवन सरस्वती की ही पूजा की और लक्ष्मी के नाम पर अपनी धर्मपत्नी-गृहलक्ष्मी की ही पूजा करता रहा! ऐसा ऊँचा आदर्श! दुनिया के पर्दे पर दूसरा नहीं मिलेगा।

आचार्य ने माता जी की मूर्ति स्थापित की। इसके अन्दर भी एक रहस्य है। मुझे वहाँ के एक ग्रामीण भाई ने बताया। उसने कहा—माता जी जब जीवित थीं, द्विवेदी जी एक दिन कुटुम्ब में बैठे थे। बातचीत में हँसी के तौर पर माता जी ने कहा—'तुम्हरा चबूतरा तो हमने बनवा दिया!' भावुक आचार्य माता जी से बोल उठे—"तुमने हमारा चबूतरा बनवाया है, मैं तुम्हारा मन्दिर बनवाऊँगा!"

बात यह थी कि आचार्य-पत्नी के घर में उनके पड़ोस की उनकी एक सहेली बैठती-उठती थीं। दोनों में बड़ा प्रेम था। सहेली ने माता जी से कहा कि महावीर जी की पुरानी मूर्ति दरवाज़े पर बुज़ुर्गों की स्थापित पड़ी है, इसके लिए एक पक्का चबूतरा बन जाता तो अच्छा था। माता जी ने उस सहेली की सलाह से चबूतरा बनवा दिया और महावीर जी के लिए वहीं एक मठिया भी। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'महावीर' जी उनके पूज्य मेरे आचार्य 'महावीर दुबे'। इसी पर आज उन्होंने हँसी में अपने पतिदेव से अचानक कह दिया! उनको क्या मालूम था कि यह महावीर उनको कितना पूजता है! महावीर के ऊपर भी दीवार में द्विवेदी जी के रचे हुए श्लोक खचित हैं, जिनमें माता जी और उनकी सहेली की प्रशस्ति है। आह! इस दम्पति का यह अकृत्रिम प्रेम! इसी में आचार्य के सफल जीवन का सारा रहस्य निहित है।

कहाँ तक लिखूँ, बहुत सी बातें हैं!

---

* वहाँ उस जवार में कई कोस के अन्दर लोग आचार्य द्विवेदी जी को "बाबू जी" ही कहते हैं। शायद रेलवे में नौकरी करने के ज़माने से ही आपका यह नाम वहाँ प्रसिद्ध है।

प्रणताञ्जलिः

लेखक, श्रीयुत प्रणयेश शुक्ल

आचार्य-श्री के चरणों में है कोटिशः प्रणाम।

(१)

गूँज रही है जिनकी वाणी,
बनकर हिन्दी की कल्याणी,
जिनके मनो-भाव सुमनों से पुष्पित है आराम!

(२)

था प्रसिद्ध जिनका न्यायासन,
दिया सदा ही समुचित शासन,
अपने कुशल कलाकारों का अमर कर गये नाम!

(३)

युगसंस्थापक, युगनिर्माता,
जो थे सत्साहित्य-विधाता;
जिनके इङ्गित से होते थे कितने ही शुभ काम!

❀ ❀ ❀

देव! कृपा का कण मिल जाये,
तो जीवन की श्री खिल जाये,
बाधा-हीन बने मेरा पथ, चला चलूँ अविराम॥

स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी

लेखक, पण्डित रामनारायण मिश्र

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी सचमुच महा-वीर थे। वे कभी किसी से दबे नहीं; साथ ही वे दूसरों की सेवा करने में सदा तत्पर रहते थे। ये दोनों गुण, जो एक दूसरे के विपरीत मालूम पड़ते हैं, केवल वीरों में ही पाये जाते हैं। वे योद्धा थे। साहित्य-क्षेत्र में इसका मुझे सबसे पहला प्रमाण उस समय मिला था जब स्वर्गीय पंडित माधवप्रसाद मिश्र 'सुदर्शन' पत्र निकालते थे। मेरा और पंडित माधवप्रसाद जी का बहुत साथ था। 'सुदर्शन' और 'सरस्वती' के द्वारा उन दिनों मिश्र जी और द्विवेदी जी में महीनों बहस चली थी। समय और सामग्री के अभाव से मेरे लिए उस वादविवाद के विषय का उल्लेख करना इस समय सम्भव नहीं, परन्तु मुझे याद है कि स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दन खत्री के घर जितने साहित्यसेवी एकत्र होते थे, सब उत्सुकता से प्रतीक्षा करते थे कि देखें अब की द्विवेदी जी मिश्र जी के लेख का क्या उत्तर देते हैं। दोनों ओर के लेख बड़े ओजस्वी और विद्वत्ता-पूर्ण होते थे। उसी समय से मेरे हृदय में द्विवेदी जी के लिए बड़ा ऊँचा स्थान था। मैं कभी कभी 'सुदर्शन' में कुछ लिख दिया करता था। बाबू श्यामसुन्दरदास के सम्पादकत्व के समय 'सरस्वती' में भी मैंने दो-एक लेख लिखे थे।

जब मैं स्कूलों का डिप्टी हुआ तब एक बार द्विवेदी जी का मेरे पास पत्र आया कि शिक्षा-विभाग की उस वर्ष की रिपोर्ट पर एक लेख लिख दो। मैं आश्चर्य से चकित हो गया। मुझे स्वप्न में भी यह ख़याल न था कि द्विवेदी जी स्वयं मुझे 'सरस्वती' के लिए लेख लिखने के लिए लिखेंगे। अस्तु, मैं सोच ही रहा था कि लिखूँ या न लिखूँ कि मेरे पास इण्डियन प्रेस से उक्त रिपोर्ट की एक प्रति डाक-द्वारा पहुँच गई। मैं समझ गया कि द्विवेदी जी ही ने उसे भेजवाया होगा। मैंने लेख भेजा और वह छप भी गया। मेरा उत्साह बढ़ गया और मैंने 'सरस्वती' में लिखना शुरू कर दिया। मेरे अनुकूल विषय वे बतलाते रहते थे और तक़ाज़ा करते रहते थे। 'क़ैदी बालकों के स्कूल', 'संयुक्त-प्रान्त में स्त्री-शिक्षा', 'प्रारम्भिक शिक्षा', 'डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और शिक्षा', 'भारतीय शासन-प्रणाली' इत्यादि विषयों पर उन्हीं की प्रेरणा से, समय-समय पर, मैंने लेख भेजे थे।

> "देहात में उस शिक्षा की आवश्यकता है जो किसानों को दो दफ़े खाने को दे सके। उन्हें खेती और छोटे-मोटे उद्योग-धंधे सिखाइए। औरंगजेब की राजनीति सिखाने और मिसीसिपी व वाल्गा के उद्गम रटाने की आवश्यकता नहीं है।"
>
> आचार्य द्विवेदी जी, अप्रैल १९२०

कहा जाता है कि रमेशचन्द्र दत्त एक बेर पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से मिलने गये थे। विद्यासागर जी ने उनसे कहा कि आपने अँगरेज़ी में तो कई पुस्तकें लिखी हैं, कुछ बङ्ग-भाषा में भी लिखिए। उन्होंने उत्तर दिया—बङ्ग-भाषा में लिखने का अभ्यास नहीं है। विद्यासागर जी बोले—जो विदेशी भाषा में इतना सुन्दर लिख सकता है, क्या वह मातृभाषा में नहीं लिख सकता? चेष्टा करने पर सब हो सकता है। रमेश बाबू ने बँगला में लिखना शुरू कर दिया और अच्छी ख्याति प्राप्त की।

द्विवेदी जी भी साहित्यिक प्रोत्साहन देने में 'विद्यासागर' थे। उनसे पहले विश्वविद्यालयों के बी० ए० और एम० ए० हिन्दी लिखते हुए कम दिखलाई देते थे। उन्होंने सैकड़ों को तैयार किया और आज अधिक संख्या में जो ऐसे लेखक मिल रहे हैं उसका श्रेय द्विवेदी जी को है। नये लेखकों के लेखों को शब्दों और पैराग्राफों के हेर-फेर से वे ऐसा सुन्दर बना देते थे कि उसमें रस आ जाता था। कभी कभी तो लेख की रूप-रेखा ही बदल देते थे,

पर प्रकाशित होता था नाम असली लेखक का ही। यह द्विवेदी जी की उदारता थी।

द्विवेदी जी थे तो अक्खड़, परन्तु उनमें संकीर्णता नहीं थी। अनेक विषयों के ज्ञाता थे, तिस पर भी जिज्ञासु थे। ज्ञान प्राप्त करने के अवसर को वे कभी हाथ से जाने नहीं देते थे।

साहित्यिक प्रभाव के अतिरिक्त नवयुवकों पर उनके व्यक्तिगत जीवन का भी बड़ा प्रभाव पड़ता था, पर इसका लाभ वे ही उठा सकते थे जो उनके निकट थे। उनकी वक़्त की पाबन्दी, उनका खरापन, उनकी दानशीलता का हाल तो वे ही बतला सकते हैं जिनको उनसे अधिक मिलने-जुलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

उनकी हर एक बात में निरालापन था। काशी के 'सेन्ट्रल हिन्दू-स्कूल' में एक छात्रवृत्ति हिन्दू-विश्वविद्यालय-द्वारा दी हुई है। उसको वही पा सकता है जो द्विवेदी जी की बिरादरी का हो। साथ ही वह या तो उनके गाँव का हो या ज़िले का या अवध का इत्यादि। इतने प्रतिबन्ध होने के कारण इस छात्रवृत्ति के योग्य छात्र ढूँढ़ने में महीने दो महीने की देर हो जाया करती है।

मेरा द्विवेदी जी का साक्षात्कार तीन-चार बार ही हुआ था। नागरी-प्रचारिणी सभा के सम्बन्ध में कई बार निजी पत्र-व्यवहार भी हुआ। थोड़ा संसर्ग होने पर भी मैं कह सकता हूँ कि उनमें प्रतिभा थी और व्यक्तित्व था। वे ऐसी ऊँचाई पर थे जिस पर उनके समकालीन और पीछे के लोग भी अब तक पहुँच नहीं सके हैं।

शोक-गाथा

लेखक, श्रीयुत पण्डित नयनचन्द्र मुखोपाध्याय

दीप्त सूर्यरश्मि यथा मध्याह्न-आकाशे
तेमति तोमार कीर्ति मातृभाषा माझे;
तोमार से काव्य-कुंज त्रिदिव-सुवासे
रेखेछे भरिया चित्त अपरूप साजे।

आज तुमि नाइ हेथा, उगो कर्मवीर!
डूबे गेछ चिरतरे काल-पारावारे।
उठिछे आकुल कण्ठ भाषा जननीर,
बेजेछे दारुण व्यथा हृदयेर तारे!

हिन्दीर साहित्याकाश आजि अन्धकार,
बहितेछे अश्रुजल कालेर प्रान्तरे;
समाप्ति जीवनव्यापी शव-साधनार;
लभेछ से ध्रुव मृत्यु जीवनेर परे।

मृत्यु किन्तु नहे शेष, नवीन जीवन
आछे परे, लभ देव, अनन्त-मिलन॥

अमरलोकवासी श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी

लेखक, साहित्यशिरोमणि पंडित गिरिधरशर्मा नवरत्न

वाग्देवतावतारश्री मम्मट-प्रतिरूपकः।
धीरोऽसौ स महावीरोऽञ्जलिनाऽनेन तृप्यताम् ॥

पण्डित श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी क्या न थे? वे विनोद-शील व्यंग्य-चित्रकार थे (देखो सन् १९०२ की 'सरस्वती' में 'साहित्य-समाचार'), सुन्दर गद्य-लेखक थे, उत्तम पद्य-निर्माता थे, स्पष्टवादी समालोचक थे, सफल सम्पादक थे और थे कलाकोविद सहृदय पुरुष। अनेक महापुरुषों की तरह उनका जन्म गाँव (दौलतपुर) में हुआ था। उनकी स्कूली शिक्षा न कुछ के बराबर थी, परन्तु स्वाध्यायशीलता के कारण गुजराती, मराठी, उर्दू, बंगाली, अँगरेज़ी आदि अनेक भाषाओं में उन्होंने प्रवीणता पाकर विपुल ज्ञान-राशि का सम्पादन किया था। उनकी जीवनी अनेक रङ्गों से रंजित थी और उनका अध्यवसाय कठिनाइयों पर विजय पानेवाला था। वे हिन्दी-कवियों की अपेक्षा संस्कृत-कवियों से अधिक परिचित थे; और यही कारण है कि हम 'नैषधचरित-चर्चा,' 'विक्रमाङ्कदेव-चरित,' 'कालिदास की निरंकुशता,' आदि चीज़ों को हिन्दी में पा सके हैं। रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत और किरातार्जुनीय आदि उनकी पुस्तकें हिन्दी-जनता को संस्कृत-कवियों के रस का आस्वादन कराती रहेंगी।

मैंने उनकी 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना,' 'हिन्दी-शब्दावली की आलोचना' पढ़ी थीं और वे मुझे स्वर्गीय राय देवीप्रसाद जी पूर्ण, बी० ए०, एल-एल० बी०, की 'साहित्य-हत्या' नामक समालोचना से कुछ कम नहीं जँची थीं; परन्तु मुझे जिस चीज़ ने आकृष्ट किया वह द्विवेदी जी की गुणग्राहकता थी, जो उन्होंने संस्कृत के आशुकवि अयोध्यानाथ के विषय में सन् १८९६ के आस-पास 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार' में प्रकट की थी। इस लेखमाला को यदि कोई 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार' की पुरानी फ़ाइलों में से उद्धृत कर प्रकट कर दे तो अच्छा ही हो। इस लेख-माला को पढ़कर मैं मुग्ध हो गया और मेरे चित्त में संस्कृत का जो प्यार लबालब भरा था, उमड़ पड़ा। द्विवेदी जी के 'सम्पादकस्य प्रतिस्तव', 'सूर्यग्रहणम्', 'कान्यकुब्जलीलामृतम्' 'कथमहं नास्तिकः' इत्यादि संस्कृत-काव्य और स्वर्गीय पण्डित अम्बिकादत्त व्यास साहित्याचार्य के सुललित गद्यकाव्य 'शिवराज-विजय' पर की हुई गद्यात्मक समालोचना देखने के योग्य है और उनके संस्कृत के गद्य-पद्य के नमूने हैं।

"शासन का अधिकारी वही हो सकता है जिसके हाथ में बल है। जो लम्बी लाठी रखता है उससे तब तक परित्राण नहीं हो सकता, जब तक निर्बलों का समुदाय उसका चारा-पानी बन्द नहीं कर देता। अन्य योजनायें व्यर्थ हैं।"

आचार्य द्विवेदी जी फ़रवरी १९२४

उनका मुझसे सौहार्द था। उन्होंने लाला सीताराम जी (जुहीवाले) से कह रक्खा था कि वे मेरी और पंडित पद्मसिंह जी शर्मा की चिट्ठियों को जहाँ पर द्विवेदी जी हों, डाक-द्वारा लौटा दिया करें। एक बार नौकरी छोड़ देने के बारे में पूछने पर द्विवेदी जी ने मुझे लिखा—

"हमारे अनेक मित्रों ने नौकरी छोड़ देने पर हमें बहुत बुरा-भला कहा। आपको लिखते तो आप भी हमारी ख़बर लेते।"

एक दूसरे पत्र में उन्होंने लिखा—

"हमारे नौकरी छोड़ देने पर लाला सीताराम जी ने हमें अपने यहाँ रख लिया था और ढाई हज़ार रुपये इसलिए दिये थे कि हम इनसे अपना काम चलावें और हिन्दी की सेवा करें। हम लाला जी के यहीं रह गये। ऊपर भी हमारे सीताराम हैं और नीचे भी सीताराम। अब तो यह रुपया चुक भी गया है।"

तीस वर्ष पहले कदाचित् सन् १९०९ में मैं अपने मामा के पुत्र ज्योतिषी नारायणसहाय को साथ लेकर

झालावाड़ के दीवान पंडित परमानन्द जी चतुर्वेदी (जिनको द्विवेदी जी ने 'शिक्षा' समर्पण की है) के आमन्त्रण पर कायमगंज गया था। वहीं लाला छोटेलाल जी 'बार्हस्पत्य' जो संस्कृत, फ़ारसी, अरबी और अँगरेज़ी आदि भाषाओं के उत्कृष्ट विद्वान् थे, मिले। वे द्विवेदी जी की बड़ी प्रशंसा करते थे और ख़ास करके द्विवेदी जी की नियमितता की। जहाँ तक मुझे मालूम है, 'सरस्वती' का एक ही अङ्क युग्माङ्क के रूप में प्रकाशित हुआ है; कदाचित् सन १९०४ में। बाक़ी यथासमय प्रकाशन होता रहा। ठीक समय पर काम का सम्पन्न होना इण्डियन प्रेस के स्वनामधन्य स्वामी स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि घोष को भी बहुत पसन्द था और द्विवेदी जी कर्तव्यनिष्ठ पुरुष थे।

कायमगज से मैं कानपुर गया। स्टेशन से सवारी करके जुही गया। सामान और अपने मामा के लड़के को बाहर बिठला गया और मैं भीतर जाकर द्विवेदी जी के कमरे में बैठ गया। द्विवेदी जी सन् १९०६ में मेरा चित्र 'सरस्वती' में लम्बी-चौड़ी प्रशंसा के साथ छाप चुके थे। मेरा ख़याल है कि हिन्दी-लेखक के नाते 'सरस्वती' में सबसे पहला चित्र यही छपा था और जायसवाल जी का दूसरा। फिर तो हिन्दी-पत्रों में धीरे धीरे यह परम्परा चल निकली। मेरा यह चित्र राजपूताने के ढंग का था और सन् १९०३ या १९०४ का लिया हुआ था। इस समय मैं युक्त-प्रान्त के वेश में था और यह सोच रहा था कि द्विवेदी जी मुझे न पहचानेंगे। हुआ भी वैसा ही। लाला सीताराम जी इस रहस्य को जानते थे। मैं द्विवेदी जी के पलँग के पास बैठा हुआ अख़बार पढ़ने में लग गया। द्विवेदी जी कोई पंद्रह मिनट में शौच जाकर आये—खुला बदन, कान पर उपवीत और हाथ में लोटा। उन्होंने आकर देखा, कोई पुरुष उनके अख़बार को पढ़ रहा है। प्रश्न हुआ—

"आप कौन हैं?"

जवाब दिया गया—"पुरुष"

"यह तो मैं भी जानता हूँ। परन्तु आप अन्दर कैसे आ गये?"

"अपना अधिकार समझकर।"

तीव्रता बढ़ गई। लाला सीताराम जी मन ही मन मज़ा ले रहे थे।

"आपका नाम?"

"पहले हाथ पैर-धोकर आइएगा, फिर बतलाया जायगा।"

भौंहें तन गईं। मुझे "सीधी से सहस्रगुनी टेढ़ी भौंहें मीठी हैं" का मज़ा आया। नाम बताया गया। बाहुयुद्ध की जगह बड़े ज़ोर से आश्लेष हुआ, जो कभी भुलाया नहीं जा सकता।

"वाह ख़ूब! सामान कहाँ है?"

"बाहर।"

बड़े आनन्द के साथ सामान भीतर लाया गया। दो एक दिन मैं वहाँ रहा। द्विवेदी जी के उत्साह और आनन्द का ठिकाना न था। जिस हैहयवंशीय क्षत्रिय-जाति ने महामहोपाध्याय डाक्टर काशीप्रसाद जी जायसवाल एम० ए०, बार-एट-ला, स्वर्गीय डाक्टर हीरालाल जी, सौजन्यमूर्ति डाक्टर गोरखप्रसाद जी आदि हिन्दी-प्रेमियों को उत्पन्न किया, उसी क्षत्रिय-जाति के परम हिन्दी-हितैषी थे लाला सीताराम जी। वे हम दोनों के मिलाप से अत्यन्त प्रसन्न थे, उत्साह का ठिकाना [illegible] ... [illegible] फ़ार्मों-प्रेस चलाते थे, बढ़ई का कारख़ाना था, ख़ुद देखभाल करते थे और मुस्तैदी के साथ काम करते थे। मुझसे कहने लगे—"द्विवेदी जी का इस कुटिया में रहना मेरे परम सौभाग्य की बात है। इनके कारण अनायास ही आप जैसे महानुभावों के दर्शन हो जाते हैं।" न मालूम कितने विषयों पर हम लोगों का वार्तालाप हुआ और न जाने कितने काव्यों के रसास्वादन से मुग्ध हुए। द्विवेदी जी मुझे राय देवीप्रसाद जी 'पूर्ण' के पास लिवा ले गये और उनके साथ हम लोगों का ख़ूब वार्तालाप हुआ। पूर्ण जी अच्छे लेखक और सुकवि थे और पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के प्रति उनका बड़ा ही सद्भाव था। 'कालिदास की निरंकुशता' और 'निरंकुशतानिदर्शन' तो साथ साथ छपे हैं, परन्तु क्या ही अच्छा होता कि पूर्ण जी की लिखी हुई 'आत्माराम की टें टें' भी छप गई होती। पूर्ण जी का विपद्विदारण-स्तोत्र अब भी भक्तों को गद्गद किये बिना नहीं रह सकता। पूर्ण जी की धाराधरधावन की इस पंक्ति से—

"मेरे जान है है सुकुमारी प्रानप्यारी—
सखा सुन्दर सरोजिनी तुषार की सताई सी।"

हम लोगों को बड़ा ही आनन्द आया। "इस पद्य में का 'सी' तो वस्तु को मूल से भी अधिक सुन्दर कर देती है", यह बात द्विवेदी जी के और मेरे मुँह से सहसा एक साथ निकल पड़ी।

एक रोज़ मैं कुछ कवित्त सुना रहा था। लाला सीताराम जी भी थे। मेरे इस कवित्त पर—

"आज करने का काम आज परिपूर्ण करो
कभी मत छोड़ो उसे कल के भरोसे पर
स्वयं जिसे कर सको और से कराओ मत
आप कर डालो उसे पूरा परिश्रम कर
समय पै श्रम किये होते सब अर्थ सिद्ध
जपो यही मूल मन्त्र चलो इसी मार्ग पर
पौरुष दिखाओ वीर पुरुषार्थ सिद्ध करो
बजाओ विजयवाद्य पाओ सुख निरन्तर।"

मैं तीसरे दिन वापस आया। जुही में उस वक्त सवारी न मिलती थी। मज़दूर के सिर पर सामान रखवाया गया तथा द्विवेदी जी और लाला सीताराम जी दोनों पहुँचाने को आये। सीताराम जी को और द्विवेदी जी को मैंने वापस जाने का आग्रह किया। किसी तरह लाला जी को तो मैं वापस भेज सका, परन्तु द्विवेदी जी ने एक न माना। वे स्टेशन तक आये और जब तक मैं चलती हुई रेल में नज़र आता रहा, अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते रहे। मैं कायमगंज होता हुआ जयपुर होकर यहाँ (झालरापाटन) आ गया।

द्विवेदी जी अपने सुख-दुख की बात मुझे लिखते थे और मेरे सुख-दुख की बात मुझसे पूछते थे।

एक बार आपने लिखा—

"आपकी तरह अब हम भी धृतराष्ट्र होने जा रहे हैं।"

एक बार बीमारी से तंग आकर आपने लिखा—"प्रार्थना कीजिए कि सुख से शरीरान्त हो जाय, दुःख न भोगना पड़े।"

एक बार आपने लिखा—

"क्या करता हूँ? जब उद्विग्न होता हूँ तो श्रीमद्भागवत का पाठ किया करता हूँ और भगवान् से प्रार्थना कर रोया करता हूँ।"

कितना कितना उद्धरण करूँ, द्विवेदी जी एक महापुरुष थे, उदार थे, अनेक जनों को हिन्दी-सेवा की प्रेरणा देनेवाली महाशक्ति थे। परमात्मा उन्हें स्वर्ग में शान्ति दे और हिन्दुस्तान में हिन्दी के द्वारा सब जातीय काम होने लगें।

द्विवेदी

लेखक, श्रीयुत लक्ष्मीप्रसाद मिस्त्री 'रमा'

तन में जब लौं रही शक्ति 'रमा'
लिखते वे रहे दृग-दृष्टि भी दे दो।
वर-भाँतिन भाँति के ग्रन्थ रचे,
भर दी शुचि हिन्दी सुमातु को वेदो।
बरनौ कहँ लौ शुभ कीरति मैं,
वह सारो साहित्य-कला के थे भेदो।
समता में न आन दिखात कोई,
अपने सम आप थे एक द्विवेदो।
('श्री वेंकटेश्वरसमाचार' से)

द्विवेदी जी

लेखक, रावराजा डाक्टर श्यामबिहारी मिश्र
और
राय बहादुर पंडित सुखदेवबिहारी मिश्र

शोक का विषय है कि मित्रवर पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी अब इस नश्वर लोक में नहीं हैं, पर आपका यश हिन्दी-संसार में बहुत समय तक स्थिर रहेगा। इसका सबसे बड़ा कारण है आपका हिन्दी पर असीम प्रेम। आपके जीवन की दो-चार मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख करके हम इस लेख के उद्देश्य पर आवेंगे।

आप दौलतपुर, रायबरेली ज़िला, के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। आपका जन्म संवत् १९२० (सन् १८६३ ईसवी) के लगभग हुआ था। बाल-काल से ही आपकी प्रतिभा प्रस्फुटित होने लगी थी और थोड़े ही समय में आप हिन्दी, संस्कृत और अँगरेज़ी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता समझे जाने लगे। कई स्थानों में सेवा करके अंत में आपने झाँसी से रेलवे-आफ़िस की हेड असिस्टेंटी के पद पर आरूढ़ रहकर विश्राम लिया। आपका विवाह समयानुकूल हुआ, पर आपने कोई संतति नहीं छोड़ी। कविवर पण्डित श्रीधर जी पाठक से आपका प्रगाढ़ प्रेम था तथा हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध कवियों और लेखकों से आपकी मैत्री थी। मैथिलीशरण जी गुप्त पर आप विशेष प्रेम रखते थे और पाठक जी को एक बड़ा उद्भट कवि ठीक ही मानते थे। हमारे सुहृद्वर पण्डित गिरिजादत्त जी बाजपेयी तथा पण्डित चन्द्रिकाप्रसाद जी तिवारी आपके प्रगाढ़ मित्रों में से थे। हमारा भी आपसे ख़ासा मैत्री-भाव था और कई वर्ष तक ख़ूब पत्र-व्यवहार रहा तथा दो-तीन बार आप हमारे मान्य अतिथि रहे। उन अवसरों पर जो साहित्यानन्द तथा प्रेमपूर्ण वार्तालाप रहा उसका स्मरण करके अब भी चित्त गद्गद हो जाता है। यों तो द्विवेदी जी ऊपर से कुछ शुष्क प्रकृति के मनुष्य प्रतीत होते थे, पर वास्तव में आप बड़े ही सज्जन पुरुष थे तथा हास्य एवं विनोद की मात्रा भी आपमें कम न थी। संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य में आपकी अच्छी गति थी और सार्वभौमिक ज्ञान भी बढ़ा-चढ़ा हुआ था। हमें शोक है कि आपसे जो हमारा पत्र-व्यवहार समय समय पर हुआ उसे हमने रख न छोड़ा और अपनी साधारण आदत के अनुसार क्रम से नष्ट करते गये, अन्यथा उससे द्विवेदी जी के विषय में हम अनेक जानने योग्य बातें पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर सकते। द्विवेदी जी हमें अपने छोटे भाई मानते थे और हम आपको ज्येष्ठ बंधुवत् मानने में अपना सौभाग्य समझते और आपके लिए पूज्य बुद्धि रखते थे। आपका स्वास्थ्य बहुत दिनों से कुछ गड़बड़ चला आता था। प्रायः ३७-३८ वर्ष हुए आपने हमें लिखा था कि आपकी आँख में बहुत ख़राबी हो रही थी और दृष्टि के सामने काले बिन्दु देख पड़ते थे तथा साधारण स्वास्थ्य भी अच्छा न था। इसको देखते आप काफ़ी दीर्घायु हुए और निगाह भी चिर काल तक भली-चंगी बनी रही। आर्थिक दृष्टि-कोण से भी आप अच्छी दशा में रहे और यद्यपि आप बहुत धनी न थे, तथापि

> "ताल्लुक़ेदारों के फ़ार्म खोल देने से कृषि की उन्नति नहीं हो सकती। पूरी उन्नति तो तभी होगी जब दस-बीस बीघे ज़मीन जोतनेवाला किसान भी वैज्ञानिक ढंग से खेती करने लगेगा।"
>
> आचार्य द्विवेदी जी, फ़रवरी १९२१

भरण-पोषण की पूरी सुविधा थी और सदा ही प्रसन्न रहा करते थे।

हिन्दी-संसार में द्विवेदी जी का बड़ा मान था और अंत में आप प्रायः ऋषिवत् पूज्य माने जाते थे। दो-तीन बार आपको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति बनाये जाने का विचार प्रस्तुत हुआ, पर कारणविशेष से जो हमें ख़ूब ज्ञात है, आपने उसे दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। अभी गत वार्षिक बैठक में सम्मेलन ने आपको 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि दी। यों भी कई साल से आपको लोग 'आचार्य' की उपाधि से विभूषित कर चुके थे। आपकी मृत्यु से हिन्दी-संसार में खलबली मच गई है और हिन्दी-रसिक इस विचार तथा उद्योग में निमग्न हैं कि आपका कौन-सा स्मारक बनाया जाय। यों तो काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने आपके ७०वें जन्मोत्सव के अवसर पर एक 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' प्रकाशित किया था, पर हम लोगों का दृढ़ विचार है कि हिन्दी के ऐसे प्रकाण्ड पंडित, उग्रलेखक, योग्य समालोचक और सत्कवि का एक अच्छा स्मारक अवश्य बनना चाहिए।

अब हम आपके एक मुख्य काम का कुछ उल्लेख करके इस छोटे से लेख को समाप्त करेंगे, और वह है आप का 'सरस्वती' पत्रिका से सम्बन्ध। आपकी योग्यता को इंडियन प्रेस के प्रस्थापक परम हिन्दी-प्रेमी तथा प्रसिद्ध नर-पारखी बाबू चिन्तामणि जी घोष ने पहचाना था और बरबस आपको 'सरस्वती' के सम्पादन का भार ग्रहण करना पड़ा। यह पत्रिका उस समय अपने बाल्यकाल में ही थी, पर द्विवेदी जी ने उसे जिस असीम योग्यता एवं महान् उत्साह के साथ सुचारुरूप से चलाया उसकी जो कुछ प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इस काम में आपने अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया, जिससे 'सरस्वती' का यश न केवल संयुक्त-प्रान्त वरन समस्त भारतवर्ष में फैल गया और इसकी गणना हिन्दी की सर्वोच्च मासिक-पत्रिकाओं में होने लगी। हिन्दी के प्रायः सभी तत्कालीन प्रसिद्ध लेखक और कवि इसमें अपने लेख तथा रचनायें चाव से भेजा करते थे। उन दिनों इसके मासिक अंकों की हिन्दी-रसिक बाट सी देखा करते थे, और अनेक बड़े मार्के के लेख तथा वाद-विवाद इसमें प्रकाशित हुए। द्विवेदी जी उग्र आलोचक और लेखक थे, जिससे कई नामी लेखकों से आपने तीव्र वाद-विवाद भी हुए। 'कालिदास की निरंकुशता,' 'अनस्थिरता' आदि विषयों पर ख़ूब नोक-झोंक हुई और बड़ा ही आनन्द आया।

कदाचित् यह लिख देना भी असङ्गत न होगा कि हमारी एवं कुछ अंशों तक द्विवेदी जी की भी भूल से आपसे हम लोगों की भी थोड़ी सी अनबन हो गई थी, पर हमारे बीच मित्र-भाव जैसा का तैसा स्थिर रहा, और हमारा आप से जब कभी साक्षात्कार हो गया तब उसी प्रेमभाव से बातचीत हुई जैसे पहले हुआ करती थी। यदि ऐसा न भी होता तो 'जियत लौं है बैर, बैर न मरे करत सुजान' के सिद्धान्तानुसार भला अब आपका यशगान करने में हमें कैसे संकोच हो सकता था? द्विवेदी जी सभी प्रकार से सुयोग्य और महामान्य थे तथा हिन्दी पर आपका भारी उपकार है। अतः हिन्दी के सभी रसिकों का यह पुनीत कर्तव्य है कि आपका समुचित स्मारक शीघ्र स्थापित करें।

वीर महावीर

लेखक, श्री शिवदुलारे शर्मा 'शिव'

चाहत की चोटी पै चढ़ा दूँ देवनागरी को, सोच ये जुटे स्वयं, न चाह को सहारा की !
नागरी हो मग्न लगी नाचने इशारों पर, होके वशवर्त्ती रही आरती उतारा की !
भारती समोद मंजु आनन निहारकर, वार कर प्राण जान लाल पुचकारा की !
वीर महावीर स्वर्ग करने पुनीत गये, करके पवित्र वरभूमि बैसवारा की !!

आचार्य द्विवेदी जी

लेखक, पण्डित बाबूराव विष्णु पराडकर

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी मेरे लिए गुरुतुल्य थे और इन कुछ पंक्तियों-द्वारा मैं उनकी पुण्य-स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पण करना चाहता हूँ। उनके जीवन पर प्रकाश डालने अथवा उन्होंने हिन्दी-साहित्य और पत्रकार-कला की जो सेवा की है उसका मूल्य आँकने का यह समय नहीं है। वस्तुतः किसी भी मनुष्य के कार्य का मूल्य उसकी मृत्यु के बहुत दिन बाद ही आँका जा सकता है। हमारे लिए, जिन्होंने उनके चरणों में बैठकर अथवा उनके लेखों से शिक्षा ग्रहण की है, वे अमूल्य थे और अन्त तक अमूल्य ही बने रहेंगे।

मेरे लिए आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का महत्त्व उनके सम्पादन-कौशल में है। वैसे तो स्कूल-कालेज में रहते भी मैं 'सरस्वती' पढ़ा करता था, पर सन १९०६ ईसवी से, जब मैंने स्वयं पत्रकार के क्षेत्र में प्रवेश किया, प्रतिमास 'सरस्वती' का अध्ययन करना मेरा एक कर्त्तव्य हो गया और यह सन् १९१५ के अन्त तक ज्यों का त्यों बना रहा। मैं 'सरस्वती' देखा करता था सम्पादन सीखने के लिए। कभी कभी स्वर्गीय श्री सखाराम गणेश देउसकर जी को भी, जो सम्पादन-कला में मेरे गुरु थे, पढ़कर सुनाया करता था और वे ही मुझे उसकी विशेषतायें बताया करते थे। वह विशेषता यह थी कि 'सरस्वती' का प्रत्येक अंग एक सर्वांगपूर्ण चित्र मालूम होता था। सारे अंगों में सामंजस्य हुआ करता था। यह नहीं कि जैसे जैसे लेख आये, वैसे वैसे छाप दिये गये। आदि से अन्त तक उसके चतुर चित्रकार का परिचय मिला करता था।

यह बात मैंने अब तक किसी मासिक पत्रिका में नहीं पाई। अँगरेज़ी की बात जाने दीजिए, उसका स्थान बहुत ऊँचा है। बँगला और मराठी सामयिक पत्र मुझे प्रायः पढ़ने पढ़ते थे, पर उनमें भी स्वर्गीय श्री सुरेशचन्द्र समाजपतिद्वारा सम्पादित बँगला 'साहित्य' के सिवा मैंने कोई ऐसा मासिक-पत्र नहीं देखा जिसका प्रत्येक अंक अपने सम्पादक के व्यक्तित्व की घोषणा करता रहा हो। यह 'सरस्वती' की ही विशेषता थी और वह स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का निजत्व था। दुःख से लिखना पड़ता है कि वह मैंने उन्हीं में पाया और उन्हीं के साथ लुप्त होते भी देखा।

इसी सम्पादन के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी की दूसरी विशेषता थी होनहार की पहचान और उसको उत्साह-प्रदान। आज हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों में अधिक ऐसे हैं जिन्हें द्विवेदी जी से लिखने का उत्साह मिला था। यह न मिला होता तो शायद वे लेखक न होते। नवीन होनहार लेखक को उत्साहित करने का अर्थ यह नहीं है कि उसका जो लेख आवे वही छाप दिया जाय। इससे तो उसका भविष्य नष्ट हो जाता है। वह अपने दोष समझ नहीं पाता, अतः सुधरने का यत्न भी नहीं करता। 'अहं' की वृत्ति बढ़ जाती है और सस्ते लेखकों की संख्या बढ़ती है। उत्साह-प्रदान के पहले यह आवश्यक है कि लेखक के भीतर जो कला छिपी पड़ी है उसे पहचाने तथा उसे बाहर निकालने का यत्न करे। यह काम द्विवेदी जी ही कर सकते थे। लेखक की विशेषताओं की रक्षा [illegible] उसके लेख का संशोधन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। मैंने आचार्य द्विवेदी की ऐसी संशोधित 'कापी' (पुस्तक की) देखी है, जिसमें आपने पन्ने के पन्ने फिर से लिखे थे, पर मूल लेखक की विशेषता कहीं भी नष्ट न होने पाई थी। सम्भवतः 'सरस्वती' में प्रकाशित अधिकतर लेख इसी तरह संशोधित हुआ करते थे। इतना संशोधन करके भी आप लेखकों से पत्र-व्यवहार करते, उन्हें उत्साह-प्रदान करते और कभी कभी चुटकियाँ भी लिया करते थे।

द्विवेदी जी के पोस्टकार्ड का प्रथम दर्शन मुझे सन् १९०८ ईसवी में हुआ था। उन दिनों मैं कलकत्ते में 'हितवार्त्ता' का सम्पादन करता था। उसके कुछ लेखों से संतुष्ट होकर आपने प्रथम कार्ड में मुझे केवल आशीर्वाद दिया था। बाद के कार्डों में मेरी भाषा की त्रुटियाँ दिखाई गई थीं—विषय के अनुरूप शैली न होने की बुराई की ओर मेरा ध्यान दिलाया गया था। उन दिनों मेरे सामने आदर्श था स्वर्गीय पंडित गोविन्दनारायण मिश्र का, जिनकी गम्भीर विद्वत्ता तथा प्राकृत और हिन्दी के साहित्यों का अध्ययन और मनन वस्तुतः अपूर्व था। पर

[प]ंडित गोविन्दनारायण जी का गद्य कादम्बरी का अनुकरण [कर]ता और मैं भी उनका पदानुसरण करने का यत्न किया [क]रता था। द्विवेदी जी को यह शैली पसन्द नहीं थी और [अ]पने एक कार्ड में आपने यह लिख भी दिया था। वर्षों [ब]ाद मुझे द्विवेदी जी के इस कथन की सत्यता का अनुभव [हु]आ। मैं भी भाषा सरल और वाक्य छोटे करने का यत्न करने लगा। 'आज' के कुछ लेख आपको बहुत पसन्द आये थे और जब जो लेख अच्छा मालूम हुआ, तुरन्त कार्ड लिखकर अपना सन्तोष प्रकट किया। कार्यक्षेत्र से अवसर ग्रहण करने के बाद भी मेरे जैसे एक साधारण पत्रकार पर भी ऐसी दयादृष्टि रखनेवाला आचार्य हिन्दी को पुनः कब प्राप्त होगा?

हा द्विवेदी जी !

लेखक, श्रीयुत सनेही

(१)

एक ही भारती-भक्त था भावुक राष्ट्र को भाषा का सच्चा पयम्बर।
विज्ञता में विधि दूसरा था तप त्याग विराग में जैसे दिगम्बर।
बारह-बाँट किया अड़तीस ने आगया नन्दन जाने का नम्बर।
तूने दसों किया तू थी उनीस तो क्यों बनो थी तू इकीस दिसम्बर॥

(२)

स्वत्व का तत्त्व महत्त्व जताकर जीवन-युद्ध में जान पै खेले।
सम्पदा की परवा नहीं की विपदायें सहीं दुख शान से झेले।
क्या कहिए गुरुता उनको गुरु के गुरु हैं जिनके हुए चेले।
मेले लगे जिन्हें देखने को सुरलोक गये वही हाय! अकेले॥

(३)

सुरलोक में हैं इस लोक में भी उनके यश की है पताका गड़ी।
जनता को जगा गये दे गये जोश जता गये जीवन की हैं जड़ी।
वचनावली से वे सरस्वती को हैं पिन्हा गये मोतियों की सी लड़ी।
उनके ही वियोग में रोती पड़ी जिनके बल से हुई हिन्दी खड़ी॥

(४)

जिसकी महावीरता 'शंकर' जी ने सरस्वती के मिस से थी बखानी।
जिसका वर पाके 'गणेश' गणेश हुए थे प्रताप-ध्वजा फहरानी।
जिसने कि पता दिया 'मैथिली' का अब भी जिसका न कहीं कोई सानी।
जिसके बल से बढ़ा आगे 'त्रिशूल' 'सनेही' वही हा! विभूति विलानी॥

(५)

सुध आती है तो फटता उर है पहरों लगी अश्रु-झड़ी रहती है।
उनके प्रिय व्यंग्य विनोद की सोच के शोक-घटा उमड़ी रहती है।
लिखूँ भी तो दिखाऊँ-सुनाऊँ किसे बस लेखनी मौन पड़ी रहती है।
सुरलोक से प्रेरणा देंगे हमें यही सामने आशा खड़ी रहती है॥

उनकी महत्ता

लेखक, श्रीयुत उदयनारायण त्रिपाठी, एम० ए०, साहित्यरत्न

द्विवेदी जी लेखक कितने बड़े थे, कितनी भाषाओं के वे पण्डित थे, सम्पादक-रूप में भाषा-परिष्कार, लेख-चयन और प्रतिभा की कितनी ऊँची परख वे रखते थे, ये सब बातें एक ओर छोड़कर जब मैं एक सत्य के पुजारी, निर्भीक किन्तु विनम्र साहित्यिक के रूप में उन्हें देखता हूँ तब मुझे ऐसा जान पड़ता है, जैसे ऐसा देवोपम मृदुल स्वभाव का व्यक्ति हमारे साहित्यिक-समाज में इधर सदियों से नहीं हुआ। इसी सम्बन्ध की एक घटना का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

'द्विवेदी-मेला' के नाम से प्रयाग में जो साहित्यिक समारोह सन् १९३३ के अप्रैल में हुआ था वह वास्तव में प्रयाग के इतिहास में अभूतपूर्व था। आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की ७०वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने एक 'अभिनंदन-ग्रंथ' देने का आयोजन किया था। इसी अवसर पर प्रयाग के साहित्य-सेवियों ने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में यह प्रस्ताव किया कि आचार्य के सम्मानार्थ प्रयाग में एक द्विवेदी-मेला किया जाय। आरंभ में इस मेले का कार्य मन्द गति से चलता रहा, किन्तु जब लगभग २०-२५ दिन शेष रह गये तब प्रयाग का प्रायः प्रत्येक साहित्य-सेवी इस साहित्यिक अनुष्ठान को सफल बनाने के लिए कटिबद्ध होगया।

> "इस संसार की सृष्टि एक ऐसे ईश्वर ने की है जिसकी कोई जाति नहीं, जो नीचता और उच्चता का क़ायल नहीं, जो ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों के हृदय-मन्दिरों में बैठा रहता है, जो चाण्डालों ही में नहीं, कीड़ों-मकोड़ों तक में अपनी सत्ता प्रकट करता है।"
>
> (आचार्य द्विवेदी जी, अगस्त १९२४)

उस समय का दृश्य आज भी मेरे स्मृति-पटल पर पूर्ववत् अंकित है। मेले के समारंभ के समय युक्त-प्रांत, बिहार तथा मध्य-प्रांत के प्रायः सभी लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक तथा कवि उपस्थित थे। अनेक राजाओं, ताल्लुक़दारों तथा विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसरों से सभा-मंडप सुसज्जित था। मंच पर आचार्य द्विवेदी जी के अतिरिक्त 'लीडर' के यशस्वी सम्पादक श्री सी० वाई० चिन्तामणि, जस्टिस उमाशंकर जी वाजपेयी, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा, महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी जैसे महानुभाव आसीन थे। महामना मालवीय जी ने ही इस मेले का उद्घाटन किया था। इसके पश्चात् हिन्दी तथा संस्कृत में कतिपय प्रशस्तियाँ पढ़ी गईं। तदनन्तर डाक्टर गंगानाथ झा जो इस समारोह के सभापति थे, भाषण देने के लिए उठे।

झा महोदय ने अपने भाषण में क्या कहा, इसके लिखने के पूर्व उनके सभापतित्व-पद के स्वीकार करने के सम्बन्ध में भी यहाँ मुझे एक बात कहनी है। यों तो महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा को प्रयाग-विश्वविद्यालय से सम्बन्ध [illegible] वाला प्रायः प्रत्येक व्यक्ति जानता है; किन्तु झा महोदय का कार्यक्षेत्र विश्वविद्यालय तक ही सीमित नहीं रहा है। वे केवल विद्या के ही अर्णव नहीं हैं, बल्कि शील और विनय की भी साक्षात् मूर्ति हैं और यही कारण है कि प्रयाग की छोटी-छोटी पाठशालाओं से लेकर देश की बड़ी-से-बड़ी सभाओं में भी वे सभापति के रूप में अभिनिमंत्रित होते रहते हैं। हाँ, तो द्विवेदी-मेला के लिए भी एक सभापति की आवश्यकता थी। इस मेले के डिक्टेटर पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी के हृदय में यह बात आई कि इस शुभ अनुष्ठान का समारंभ नृप-तुल्य झा महोदय के कर-कमलों से ही होना चाहिए। वाजपेयी जी अपने कतिपय सहयोगियों के साथ झा जी के बँगले पर जा पहुँचे। उन्होंने उनसे द्विवेदी मेले का सभापतित्व स्वीकार करने को कहा। झा जी को उसी समय आवश्यक कार्यवश दरभंगा जाना था। किन्तु थोड़ी देर तक मौन तर्क-वितर्क के पश्चात् उन्होंने कहा—"अच्छा, मैं

आ जाऊँगा।" झा महोदय किस तर्क-वितर्क में पड़े थे, इसका रहस्य उस समय किसी की समझ में नहीं आया। किन्तु जब उन्होंने सभापति-पद से भाषण देना प्रारंभ किया तब वह स्पष्ट होगया।

हाँ, तो भाषण में झा महोदय ने कहा—

"सज्जनो, यहाँ जब मैं म्योर-सेन्ट्रल कॉलेज में काम करता था; एक दिन पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी, अपनी लठिया टेकते हुए, मेरे बँगले पर आये। यथोचित आदर-सम्मान के पश्चात् उन्होंने मुझसे कहा—"झा जी, आप 'सरस्वती' में लेख क्यों नहीं लिखते?" मैंने कहा—"पंडित जी, मेरी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है। संस्कृत और अँगरेज़ी में तो मुझे लिखने का अभ्यास है। लेकिन हिन्दी में तो कदाचित् मैं लिख ही नहीं सकता। मैं घबड़ाता हूँ कि हिन्दी में व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ हो जायँगी।" द्विवेदी जी इसे गंभीर मौन के साथ सुनते रहे, फिर बोले—"आप लिखिए तो। आप पंडित हैं। आप जो लिखेंगे, वह अच्छा ही होगा। अच्छा तो आप लेख भेज रहे हैं न।" यह कह कर द्विवेदी जी वहाँ से चले गये।

इसके पश्चात् साहस करके मैंने 'सरस्वती' में एक लेख भेजा और महीने के अंत में मेरे पास 'सरस्वती' आ पहुँची। मैंने जब ध्यान-पूर्वक उस लेख को पढ़ा तब मुझे विदित हुआ कि यद्यपि भाव सब मेरे ही हैं; किन्तु भाषा में एक प्रकार से आमूल परिवर्तन कर दिया गया है।

झा महोदय ने कहा—"सज्जनो, इस प्रकार, आप देखेंगे कि द्विवेदी जी मेरे हिन्दी के गुरु हैं।" यह कहते-कहते उनका कंठ रुद्ध हो गया और वे द्विवेदी जी का चरण-स्पर्श करने के लिए झुक पड़े।

द्विवेदी जी झट कुर्सी छोड़कर अलग जाकर खड़े होगये। समस्त जनता इस दृश्य को मंत्र-मुग्ध की भाँति देखती रही। जब आवेग कुछ शांत हुआ तब द्विवेदी जी अपने स्थान पर आये और बोले—

"भाइयो, जिस समय डाक्टर गंगानाथ झा मेरी ओर बढ़े, मैंने सोचा, यदि पृथ्वी फट जाती और मैं उसमें समा जाता तो अच्छा होता। झा जी जो मुझे अपना गुरु बतला रहे हैं, यह इनकी नम्रता और विनयशीलता है; किन्तु इन्हें क्या मालूम कि जब मैं इनसे लेख माँगने गया, उससे बहुत पहले ही मैं इन्हें अपना गुरु बना चुका था। प्रत्यक्ष रूप से साक्षात्कार न होने पर भी मैं झा जी के द्वारा सम्पादित संस्कृत की अनेक पुस्तकें पढ़ा करता था। उस समय मैं इन्हें अपने गुरु के ही रूप में देखता था और मन ही मन सोचता था कि अपनी लेखनी-द्वारा जो विभूति ये संस्कृत और अँगरेज़ी को प्रदान कर रहे हैं, यदि वही हिन्दी को भी ये देने लगें तो सचमुच इससे राष्ट्र और हिन्दी का कितना कल्याण होगा!"

मैंने देखा कि इस बात को कहते-कहते द्विवेदी जी का कंठ रुद्ध होगया और उनके नेत्रों में आँसू छलछला आये। वास्तव में यह दो आचार्यों का नहीं, ऋषियों का नहीं, महात्माओं का सम्मिलन था!

इस घटना का महत्त्व उस समय और बढ़ जाता है, जब हम द्विवेदी जी को अपने युग के भाषा-निर्माता, एक सर्वश्रेष्ठ सम्पादक तथा साहित्य-निर्देशक की दृष्टि से देखकर उनकी गुरुगम्भीर कर्तव्य-निष्ठा तथा एकरस (टस-से-मस न होनेवाली) कार्य-शैली पर दृष्टिपात करते हैं। हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य के नव-निर्म्माण के सम्बन्ध में जो व्यक्ति लौहस्तम्भ की भाँति दृढ़ रहा हो, आप देखेंगे कि वही अपने जीवन में कितना भाव-प्रवण, कैसा कुसुमादपि मृदुल था!

"शोकाञ्जलि"

लेखक, श्रीयुत लक्ष्मीशङ्कर मिश्र 'निशङ्क'

ग्रन्थियाँ अनेक काव्य-भाषा में पड़ेंगी जब,
विश्व में द्विवेदी बिना कौन सुलझायेगा।
गद्य का प्रवाह मन्द होगा जब भारत में,
बन अग्रदूत कौन युक्तियाँ बतायेगा।

होकर 'निशंक' समालोचना-जगत बीच,
कौन अब लेखनी प्रखर चमकायेगा।
शारदा के हेतु कौन बुद्धि-रवि-रश्मियों से,
कल्पना-सरों में भाव-पंकज खिलायेगा।

श्रद्धाञ्जलि

लेखक, डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, डी० एस-सी०

आचार्य श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी विद्यावाचस्पति के स्वर्गारोहण का समाचार पढ़कर प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी के हृदय पर भारी चोट लगी होगी। हिन्दी-संसार में उनका जो स्थान था वह सम्भवतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद आज तक किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ है। हिन्दी के आधुनिक आकार-प्रकार और स्वरूप का निर्धारण करने में उन्होंने जो कार्य किया है वह वैसा ही है जैसा कि संस्कृत के लिए पाणिनि और पतञ्जलि ने किया था। इसके सिवा आधुनिक हिन्दी-साहित्य की रचना में भी उन्होंने बड़े महत्त्व का काम किया है। हिन्दी गद्य में निबन्ध-रचना, समालोचना और गंभीर लेखों की शैली के भी पथ-प्रदर्शक थे। हिन्दी-पद्य-विभाग में उन्होंने खड़ी बोली की कविता और नवीन विषयों पर कविता करने को ऐसा प्रोत्साहन दिया कि हिन्दी-काव्य की प्रवृत्ति ही दूसरी ओर हो गई। आज कितने ही प्रसिद्ध लेखक और कवि उनकी सहायता और प्रोत्साहन का गुण-गान कर रहे हैं। इन्हीं अपूर्व सेवाओं के कारण उनका आदर सारा हिन्दी-संसार करता है और करता रहेगा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनकी कीर्ति सदैव स्वर्णाक्षरों में अमर रहेगी।

आचार्य द्विवेदी जी को अपने काम करने में अनेक बाधाओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। किन्तु अपने त्याग, सन्तोष, दृढ़ व्रत और निर्भीकता के प्रभाव से सब कठिनाइयों को झेलकर उन्होंने अपना संकल्प पूर्ण किया और अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लिया। द्विवेदी जी का आत्म-बल और अदम्य उत्साह देखकर सब आश्चर्य करते और उन पर श्रद्धा रखते थे। वे जिस बात को तथ्य और सत्य समझते थे उसको निर्भय होकर बिना वाग्जाल और लल्लो-पत्तो के साफ़ साफ़ कह देते थे। इस कर्तव्य के पालन में वे मित्र-अमित्र का भेद नहीं रखते थे। वे प्रशंसा अथवा निन्दा के कारण अपने कर्तव्य से कभी विचलित नहीं हुए।

आचार्य द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से जिस प्रकार लोग कृतकृत्य और हर्षित होते थे, उसी प्रकार उनकी लेखनी के आघात से लोग घबरा और तिलमिला उठते थे। हिन्दी के बड़े बड़े लेखक उनका सामना करने से डरते रहते थे। इसी कारण यह अपवाद उठ खड़ा हुआ कि द्विवेदी जी का स्वभाव उग्र और तीखा था। किन्तु वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है जैसा कि इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं अपने अनुभव से ज्ञात हुआ। मैंने हिन्दी की कुछ रीडरों का सम्पादन किया था, जिनको शिक्षा-विभाग ने स्वीकृत कर लिया था। द्विवेदी जी के किसी बालक को वे पढ़ने को मिलीं और इस प्रकार वे उन तक पहुँच गईं। उनमें द्विवेदी जी को कुछ ऐसे दोष दिखाई पड़े जिनसे उनका हृदय क्षुब्ध हो गया। यद्यपि उन्होंने इस समय लिखना बन्द कर दिया था, तथापि बालकों की शिक्षा के हित के लिए उन्होंने उन रीडरों की ज़ोरदार आलोचना प्रकाशित की। उन लेखों को पढ़कर प्रकाशक तो काँपकर अनाप-शनाप कहने लगे, और सच तो यह है कि मैं भी स्तब्ध हो गया। किन्तु ऐसे गुरुवर का तमाचा खाकर भी उनके प्रति मेरी श्रद्धा में तनिक भी बल न आया। उन्होंने अपना कर्तव्य समझकर मेरे और बच्चों के हित के लिए ही मुझे कनेठी दी थी। यह उनका अधिकार ही था। मैं क्या कहता और क्या करता। यह बात उनको मेरे एक परम मित्र के द्वारा मालूम हो गई। उन्होंने कृपा करके मुझे उन्हीं मित्र के द्वारा सान्त्वना दी। समय बीत गया और बात भूल-सी गई। किन्तु जब 'साहित्य-सम्मेलन' ने प्रयाग में अभिनन्दन करने के लिए उनको निमन्त्रित किया तब 'हिन्दी-प्रेस' में उनके दर्शन करने का मुझे दूसरी बार सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस अवसर पर उनका ध्यान मैंने अपनी ओर आकर्षित किया। मेरा कुछ देर तक उनसे वार्तालाप हुआ। उस समय उनके हृदय की कोमलता, वत्सलता, सहृदयता, सुहृदता, सरलता और मानसिक पवित्रता का जो अनुभव मुझको हुआ वह मैं कभी न भूलूँगा। वह एक प्रकार से अनिर्वचनीय है। उसने द्विवेदी जी के सम्बन्ध में प्रचलित अपवाद का मेरे हृदय से मूलोच्छेदन ही नहीं कर दिया, बल्कि उनके प्रति मेरी श्रद्धा को कई गुना बढ़ा कर अटल भी कर दिया। जो लोग दृढ़व्रत, निर्भयता, सत्यता, निष्पक्षता और गंभीर एवं उत्तरदायित्वपूर्ण उदारता और सुहृद भाव का साहित्य-क्षेत्र में आदर करते हैं उनके लिए तो द्विवेदी जी ऋषि के समान और आदर्शरूप अवश्य रहेंगे।

शोकोच्छ्वास

लेखक, श्रीयुत जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'

स्वर्ण उषा का लूटा किसने—
रजनी के हैं रत्न चुराये।
सूर्य्य सुधाकर तारे, सारे
किसने हाय! त्रिशङ्कु बनाये?

कौन रसा को सुमन-स्मित से
मधु-ऋतु में है नित्य हँसाता
अम्बर को अम्बुद-आँसू से
पावस में है कौन रुलाता?

एक विहग प्यासे के प्राणों—
को दे वारिद-वारि-पिपासा।
एक विहग को दे चिनगारी—
चुगकर चन्द्रमिलन की आशा।

दिन का हास्य, रुदन रजनी का
दे नभ को—कर उज्ज्वल, नीला।
दे सागर को लोल लहरियाँ—
को उत्थान, पतन की लीला।

राका शशि-मुख कालिख देकर,
नीचे, उडुगण उच्च गिराये।
विश्व प्रकाशित करनेवाले—
रवि में अगणित दाग़ लगाये।

सुन्दर सुन्दर स्वप्न दिखाकर
आशा का नव बाग़ लगाकर।
पृथ्वी पर आरोपित करके
दिव से कल्पद्रुम को लाकर।

पूर्ति हमारी आकांक्षाओं—
की करने का अभिनय रचकर।

सुख दिखलाकर दुख देता है
कौन अलख, आँखों से बचकर?

× × ×

दृग मुद्रित कर लेता मैं, यदि—
होती केवल दर्श-पिपासा।
विरह-वह्नि ही उर में होती
तो न निकलती शीतल श्वासा।

रहता मौन प्रलाप न करता—
मैं टूटी-फूटी भाषा में।
यों न निराशा लेकर रोता—
होता मैं हर्षित आशा में।

धीरज-बाँध बाँध अवरुद्धा
नयनों को धारा कर लेता।
मिल जाता जो दैव अदय तो
मैं वारा-न्यारा कर लेता।

× × ×

अरे! राष्ट्रभाषा-निर्माता—
पूज्याचार्य महान् द्विवेदी।
वर्तमान हैं नहीं जगत में—
क्या? हम सबके प्रान द्विवेदी।

मैं तो आँखें मूँदे मूँदे-
दर्श कर रहा अब भी उनके।
प्रभु के-से पावन पाँवों का—
स्पर्श कर रहा अब भी उनके।

नतशिर हो आकाशस्पर्शी—
जब लेकर पद-रज उठता है।
"चिरजीवी होवो" परिचित स्वर
इन कानों में बज उठता है।

मुदित बनाने को मन मेरा
सरस कथायें जो कहते थे।
छोटों को छोटे कार्यों पर
प्रोत्साहन देते रहते थे।

सीख रहा था इङ्गित से मैं
चलना जिनकी तर्जनि धरके।
पीछे थे जो, गिरते-पड़ते—
शिशु को आगे आगे करके।

एक अजाने पथ में मुझको
छोड़ गये विश्वास नहीं है।
देव अमर मर सकते हैं? यह
क्या है, यदि परिहास नहीं है?

× × ×

संध्या और उषा दोनों ही...
एक अलक्ष्य जगत् तक जातीं।
अपने अपने नियत समय पर
हँसती [illegible]सती हैं फिर आतीं।

नभ नालाञ्चल में दो बालक
जो दिन-रात चला करते हैं।
खेला करते हैं लुक-छिपकर
फिर सम्मुख निकला करते हैं।

ऐसे ही वह आर्य्य हमारे
लुक-छिपकर फिर आ जायेंगे।
हस्त अभय शिर पर फेरेंगे
प्यार करेंगे दुलरायेंगे।

मेरी श्रद्धाञ्जलि

लेखक, श्रीयुत कालिदास कपूर, एम० ए०, एल-टी०

सन् १९३१ की कातिकी पूर्णिमा के अवसर पर मुझे द्विवेदी-तीर्थ में उसके देवता का सदेह दर्शन प्राप्त हुआ था। उसके पश्चात् भी कई बार दर्शन हुए, परन्तु द्विवेदी-तीर्थ जाने का सौभाग्य न प्राप्त हो सका। इधर सुना था कि द्विवेदी जी बहुत बीमार हैं, रायबरेली आगयेहैं, रायबरेली जाकर द्विवेदी जी के अंतिम दर्शन करने की इच्छा भी हुई, परन्तु दर्शन भाग्य में न थे और २१ दिसबर के ब्राह्ममुहूर्त पर उन्होंने अपना नश्वर शरीर छोड़ कर अमरत्व प्राप्त किया।

द्विवेदी जी के शरीर-पात की ख़बर सुनकर दुःख होना स्वाभाविक था। बचपन का समय याद आया जब मैं उनकी 'सरस्वती' के सहारे हिन्दी सीखता था; फिर, उस पत्र की याद आई जिसमें पहला लेख उनकी सेवा में पहुँचने पर, उन्होंने मेरे प्रति अपनी आत्मीयता प्रदर्शित की और मुझे सेवा करने के लिए प्रोत्साहित किया। गुरु-शिष्य का संबंध जो अब तक हम दोनों के बीच परोक्ष रूप से था, अब प्रत्यक्ष हो गया और उनका आदेश-पालन मेरा जीवन-धर्म हो गया। कई बार अपने देवता के दर्शन कर सका, उनके आशीर्वाद से हिन्दी की थोड़ी बहुत सेवा भी कर सका, परन्तु परिस्थितियाँ मुझसे हिन्दी-साहित्य की अनवरत सेवा कराने के प्रतिकूल थीं। मैं उनके आदेश-पालन में अपना पूरा समय न दे सका।

द्विवेदी जी के निधन की सूचना से मेरी व्यक्तिगत कल्पना में दुःख की रेखायें अवश्य पड़ीं, परन्तु उनका साहित्यिक जन्म तो उनके शरीरांत होने पर ही हुआ। हम शोक-सभा क्यों करें, उनका कीर्तन क्यों न करें? जिस महापुरुष ने हिन्दी-गद्य को राष्ट्र-भाषा का पद पाने योग्य बनाया, जिसने अपने अनुशासन और प्रोत्साहन से सैकड़ों हिन्दी-लेखक उस काल में तैयार किये जब हिन्दी का विश्वविद्यालयों में कोई स्थान न था, जिसने खड़ीबोली की कविता के युग का प्रवर्तन किया और जिसके जीवन-चरित में बीसवीं शताब्दी के जन्म से अब तक के हिन्दी-साहित्य का इतिहास निहित है, उसके अमरत्व प्राप्त करने पर हम क्यों शोच करें? क्यों न तुलसीदास जी के शब्दों को कुछ बदलकर हम भी यह कहें—

सोचनीय नहिं हिन्दी राऊ। भुवन चारि दस प्रगट प्रभाऊ॥

परन्तु क्या द्विवेदी-कीर्तन करने से ही हिन्दी-साहित्य के महावीर की आत्मा को शान्ति मिलेगी? शिष्यवर प्रेमनारायण टंडन ने द्विवेदी जी के साहित्यिक और वैयक्तिक महत्त्व पर कुछ लेख लिखे हैं और उनका संग्रह वे पुस्तकाकार प्रकाशित कर रहे हैं। इस संग्रह-द्वारा उन्होंने द्विवेदी जी की जो स्मृति-सेवा की है वह सराहनीय है। अभिनंदन-ग्रंथ के पश्चात् हिन्दी-साहित्य में अभी तक उनकी पुण्यगाथा पर एक यही पुस्तिका प्रकाशित होने जा रही है। परन्तु क्या इतना ही यथेष्ट है? मैं जानता हूँ कि मुझे रास्ता दिखाने का हक़ नहीं है क्योंकि मैं स्वयं अभी तक 'खुदरा फ़ज़ीहत' ही रहा, द्विवेदी-युग पर एक विशद ग्रंथ लिखने की योजना हृदय में रखते हुए भी साहित्य की यह आवश्यक सेवा न कर सका; परन्तु अब हिन्दी-संसार में उच्च शिक्षाप्राप्त साहित्य-सेवियों की कमी नहीं है। इसलिए 'पर उपदेश' की धृष्टता अपने लिए क्षम्य समझता हूँ।

इस सम्बन्ध में यह भी आवश्यक है कि द्विवेदी जी के जो प्रकाशित लेख-संग्रह हैं उनके साथ साथ उन प्रतिलिपियों का चुना हुआ संग्रह भी प्रकाशित किया जाय जिनमें आये हुए लेखों को उन्होंने अपनी क़लम से संशोधित और परिमार्जित किया था। इस तरह के दो-एक लेख मैंने 'सरस्वती' में देखे थे। परन्तु उनका पुस्तकाकार प्रकाशन भी आवश्यक है।

क्या द्विवेदी जी का कोई प्रस्तर-स्मारक भी हो सकता है? क्या हम उनकी जन्मभूमि दौलतपुर में हिन्दी-साहित्य का एक आधुनिक तीर्थ स्थापित करने की योजना नहीं कर सकते? मनोहारिणी जाह्नवीतट के किनारे बैसवाड़े की वीरभूमि के केन्द्र में देश के साहित्यिकों के लिए यहाँ एक विश्रांति-गृह बनना सब प्रकार से उचित है। अभी दौलतपुर का मार्ग भी दुर्गम है। द्विवेदी जी एक राष्ट्रीय व्यक्ति थे; द्विवेदी-तीर्थ एक राष्ट्रीय तीर्थ होगा। हमारी राष्ट्रीय सरकार अन्य तीर्थों तक जनता को सुविधायें

पहुँचाने का प्रयत्न करती है। क्यों न उससे यह भी विनम्र निवेदन करें कि वह दौलतपुर के दुर्गम मार्ग को सड़क बनाकर सुगम कर दे। फिर वहाँ द्विवेदी-मंदिर स्थापित हो जिसमें उनकी कृतियों के साथ साथ हिन्दी-साहित्य के अन्य रत्न भी संगृहीत हों; विश्रांति के लिए कुटियाँ हों, जहाँ थके हुए साहित्यिक स्वास्थ्य लाभ कर सकें और साहित्य-सेवा कर सकें।

शोकाञ्जलि*

लेखक, श्रीयुत ज्वालाप्रसाद मिश्र, रायगढ़ स्टेट, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०

आचार्य द्विवेदी जो अपने, क्या कहा? लोक में नहीं रहे।
उस कर्णधार को खोकर हम फिर रहे आज फिर बहे बहे॥
खो दिया आज हमने अपना हिन्दी का दुर्धर महारथी।
वह अपनी उपमा आप रहा उसकी बस कहीं मिसाल न थी॥

हिन्दी के वर्तमानयुग का वह आदि प्रवर्तक पथदर्शक।
साहित्य-स्वरूपिणी वसुधा का था मानो कुशल कृती कर्षक॥
उसकी बोई भी कृषि कैसी फल-फूलों-युत लहलहा रही।
कितने कवि और लेखकों को वह पालनकर्त्री कहा रही॥

कितनी गुरु गौरवमयी हुई उसको पाकरके सरस्वती।
हिन्दी-सेवा के व्रत का वह आजन्म रहा आदर्श व्रती॥
था कूट कूट कर भरा हुआ उसमें हरदम आत्माभिमान।
दीनों दुखियों के लिए नित्य न्यौछावर उसके रहे प्राण॥

वह दौलत थी 'दौलतपुर' की जो सहसा थी लुट गई आज।
उजड़ी हिन्दी की हाट बाट बिखरे हैं उसके सकल साज॥
इस रोने में क्या है आओ हम हिन्दी का वह काम करें।
जिससे आचार्य द्विवेदी का युग युग तक जीवित नाम करें॥

निज भाषा की उन्नति ही तो उनकी सुन्दर-सी स्मृति होगी।
उनका स्मारक, अपनी कोई सुन्दर साहित्यिक कृति होगी॥
वह अमर रहेंगे, अमर रही यदि अपनी यह प्यारी हिन्दी।
हैं कृष्ण कहाँ? पर उनके गुन गाती है अब भी कालिन्दी॥

* रायगढ़ में द्विवेदी-शोकसभा के अवसर पर लेखक-द्वारा पठित।
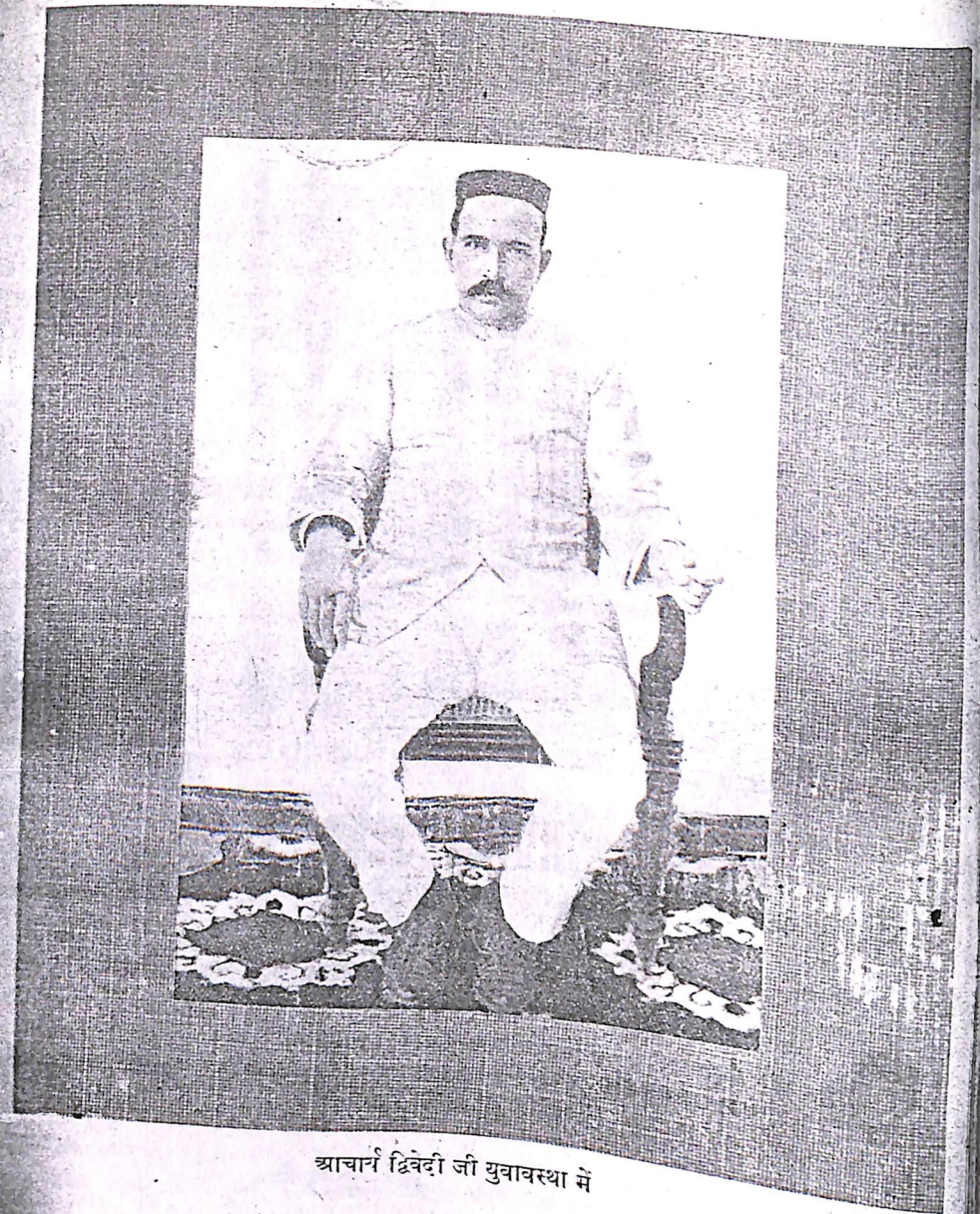
आचार्य द्विवेदी जी युवावस्था में
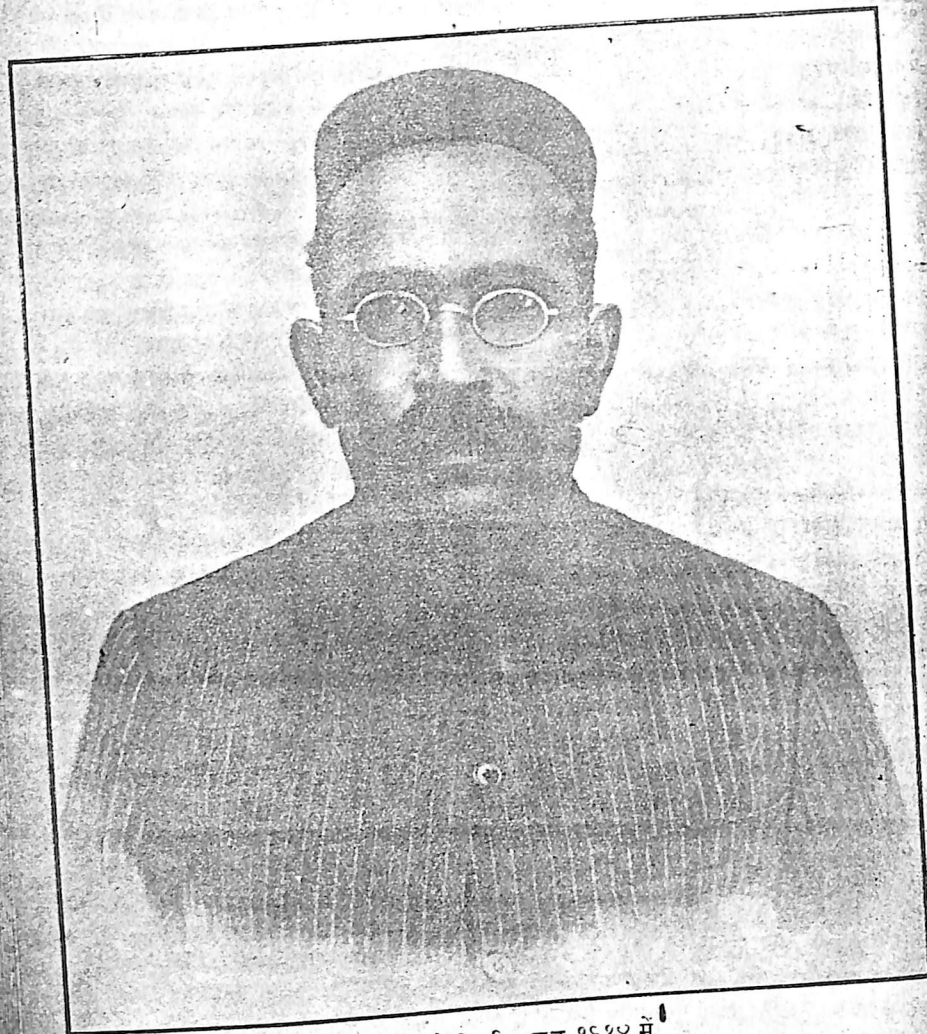
आचार्य द्विवेदी जी—सन् १९१४ में

मेरी श्रद्धाञ्जलि

लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास

स्वर्गवासी पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी से मेरा परिचय सन् १८९८ के लगभग हुआ जब उन्होंने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में अपने लेख और पद्य देने आरम्भ किये। मुझे स्मरण है कि एक बेर उन्होने विधवा-विलाप पर एक कविता लिखकर पत्रिका में प्रकाशित होने के लिए भेजी थी। उस समय पत्रिका के संपादक गोलोकवासी बाबू राधाकृष्णदास थे। भारतेन्दु जी के घराने से उनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस वंश का प्रमुख व्यक्ति अग्रवालों की पंचायत का चौधरी होता था। उस समय विधवाओं के पुनर्विवाह की चरचा किसी प्रतिष्ठित कुल में कोई नहीं करता था। बाबू राधाकृष्णदास ने द्विवेदी जी की उस कविता को छापना स्वीकार न किया। इससे चिढ़कर उन्होंने एक 'गर्दभस्तोत्र' लिख भेजा जो पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

सन् १९०२ में जब मैंने 'सरस्वती' के संपादकत्व से इस्तीफ़ा दिया तो इंडियनप्रेस के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष को एक सुयोग्य व्यक्ति को संपादक बनाने की विशेष चिंता हुई। उन्होने मुझसे परामर्श करके पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी को चुना और उनसे पत्र-व्यवहार किया। कुछ लिखा-पढ़ी के अनन्तर उन्होंने यह कार्य करना स्वीकार किया और जनवरी सन् १९०३ से वे 'सरस्वती' का संपादन करने लगे। उनके हाथों में जाकर 'सरस्वती' ने जो उन्नति की और अपनी धाक जमाई वह सबको विदित है। चिंतामणि बाबू ने द्विवेदी जी से कहा था कि हमें 'सरस्वती' को स्थायी बनाना है। अभी तो उसकी छपाई का भी ख़र्च नहीं निकलता है। आप सरल से सरल भाषा में अनेक विषयों पर लेख लिखें और लिखवावें जिसमें सब लोग उसकी ओर आकृष्ट हों। द्विवेदी जी ने इस परामर्श को स्वीकार किया और तदनुसार वे संपादन-कार्य करने लगे। अतएव 'सरस्वती' के लेखों से उनकी भाषा के आदर्श को नहीं समझना चाहिए। उनकी वास्तविक भाषा का परिचय तो उनके उस भाषण से मिल सकता है जो उन्होंने कानपुर में होनेवाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में, स्वागताध्यक्ष के पद से, दिया था।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती'-द्वारा हिंदी-भाषा को सुन्दर और व्याकरणसिद्ध रूप दिया। इस समय तक लोग भाष की शुद्धता पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। जो जिसके म में आता, लिख मारता था। यों तो हिन्दी लिखनेवाल की संख्या ही बहुत कम थी, जो लिखते भी थे वे भाष के सौष्ठव का उतना ध्यान नहीं रखते थे। द्विवेदी जी ने इस उच्छृङ्खलता को बड़े ज़ोर के साथ रोका और शुद्ध भाषा लिखने पर ज़ोर दिया। साथ ही वे नवयुवकों औ अँगरेज़ी पढ़े लिखे लोगों को विविध विषयों पर लेख लिखने के लिए उत्साहित करने लगे। जो लेख छपने के लिए आते थे उनका वे स्वयं संशोधन और सम्पादन करते थे। उनके सम्पादन-काल में 'सरस्वती' में जितने गद्य-पद्यमय लेख छपे उनकी पूरी फ़ाइल, उनके किये संशोधनों के साथ, 'नागरी-प्रचारिणी सभा' काशी, के पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसको देखकर जिज्ञासु व्यक्ति अपनी ज्ञान पिपासा शांत कर सकते हैं।

द्विवेदी जी का महत्त्व उनके लेखों में नहीं है। उनक महत्त्व विशेषकर इसी बात में है कि उन्होंने भाषा को परिमार्जित और सुन्दर रूप देने का सफलता-पूर्वक उद्योग किया। कहें तो कह सकते हैं कि वे वर्त्तमान हिंदी-भाष के निर्माता के नाम से प्रसिद्ध रहेंगे। वे कुछ दिनों तक बम्बई में रहे थे। वहाँ उन्होंने मराठी-भाषा सीखी औ फिर संस्कृत छंदों में, खड़ी बोली में, कविता का मार प्रदर्शित किया। सारांश यह है कि द्विवेदी जी ने भाषा के निर्माता और खड़ी बोली की कविता के प्रचारक के रूप में आशातीत सफलता प्राप्त की।

इस उद्देश्य को लेकर उनको अपनी धाक जमान आवश्यक हुआ। बाबू बालमुकुंद गुप्त से, जो उस समय के प्रसिद्ध साप्ताहिक-संपादकों में थे, उनकी मुठभेड़ हुई औ पत्रों में दोनों ओर से खूब लेख निकले। उन्हें पढ़कर लोग समझ सकते हैं कि भाषा के रणक्षेत्र में दो बली योद्धाओं का कैसा मल्लयुद्ध हुआ था।

मुझे उनके सम्बन्ध की बहुत सी बातें स्मरण आ रही हैं जिससे उनके चरित्र का कुछ स्पष्टीकरण हो सकता है पर इस समय न इतना अवकाश ही है और न लंबे लेख के लिए 'सरस्वती' में स्थान ही है अतएव यदि अवसर

मिला तो सब बातों को लिखने का उद्योग करूँगा। केवल एक बात यहाँ लिख देना चाहता हूँ। जब 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' के लिए मुझे उनके चरित्र की आवश्यकता हुई तब इसके लिए मैंने उनसे प्रार्थना की। उन्होंने लिख देना स्वीकार किया। अंत में लखीमपुर (खेरी) के पंडित सूर्यनारायण दीक्षित, जो उस समय सेंट्रल हिन्दू कालेज के छात्र थे, मेरे अनुरोध से द्विवेदी जी से मिले और उनका जीवन-वृत्तांत जानकर उन्होंने लिखा तथा संशोधन के लिए उनके पास भेजा। उसका संशोधन कर उन्होंने दीक्षित जी के पास भेज दिया। उसी में यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन कर मैंने उसे पुस्तक में दे दिया। उसमें मैंने अंत में इतना बढ़ा दिया था कि द्विवेदी जी का स्वभाव किंचित् उग्र है। यह छप गया तब उनको उसका पता लगा! 'उग्र' शब्द पर वे आपे से बाहर होगये और प्रेस को लिखा कि या तो इस वाक्य को निकाल दो या मेरा चरित्र ही न छापो। बाबू चिंतामणि शांतिप्रिय मनुष्य थे। उन्होंने मुझे समझाया कि तुम्हारा लिखना तो प्रकाशित हो गया, अब आग्रह करके क्यों विवाद बढ़ाते हो। मैं मान गया और वह चरित्र उस वाक्य को छोड़कर पुनः छापा गया। द्विवेदी जी के चरित्र की, उन्हीं के हाथ से संशोधित, प्रति अब तक मेरे पास है। समय हुआ तो किसी समय उसका फोटो चित्र छपवा दूँगा।

मैं अंत में द्विवेदी जी के परलोकगत आत्मा को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। उन्होंने हिन्दी की सेवा का जो बीड़ा उठाया था उसे २० वर्ष तक अविचल रूप से निबाहा और वे हिन्दी-भाषा के विकास और प्रचार में दृढ़ता-पूर्वक अपना कर्तव्य पालन करते रहे। यों तो मनुष्य में कोई न कोई त्रुटि होती ही है पर हमको तो उनके किये उपकारों का ध्यान करना चाहिए और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए।

क्या ही अच्छा होता यदि इंडियन प्रेस उनकी समस्त कृतियों का, समयानुक्रम से, एक सुन्दर संग्रह निकालता जिससे आगे चलकर भाषा के तत्त्व की खोज करनेवालों को ईप्सित सामग्री प्रस्तुत मिलती।

पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी

लेखक, पंडित गिरिजादत्त वाजपेयी, एम० ए०

आपने हमको यह आज्ञा देकर कि मैं श्रीमान् पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का कुछ चरित्र आपके फ़रवरी के अंक के लिए, जो उनकी यादगार में होगा, लिखकर भेजूँ, मुझे अनुगृहीत किया है।

मैं एक तो ऐसे ही इस योग्य नहीं कि ऐसे महान् विषय पर उनकी महत्ता के माफ़िक कुछ लिख सकूँ, दूसरे अस्वस्थ होने के कारण अधिक दिमाग़ को ज़ोर नहीं दे सकता, परन्तु एक तो आपकी आज्ञापालन करने का ख़याल, दूसरे हमारा और स्वर्गीय पंडित जी का घनिष्ट सम्बन्ध मुझे मजबूर करता है कि जो कुछ हो सके आपकी सेवा में लिखकर भेजूँ।

यों तो बड़े बड़े पंडित द्विवेदी जी की विद्वत्ता, गंभीरता, परोपकार आदि का वर्णन करेंगे ही मैं इनके बारे में कुछ न कहूँगा, न कहने के समर्थ ही हूँ। मैं केवल वह हाल लिखूँगा जिसका उनके साथ झाँसी में मुझे खुद व्यक्तिगत अनुभव हुआ।

मेरा द्विवेदी जी का सम्बन्ध सन् १८९४-९५ से शुरू हुआ था। उसी साल स्कूली तालीम ख़तम करके मैं अपने पिता के आज्ञानुसार उनके साथ झाँसी में गर्मी की छुट्टियाँ बिताने गया था।

उस समय पंडित जी झाँसी के इंडियन मिडलैंड रेलवे में जो पीछे से ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे में मिल गया, एक मामूली क्लर्क थे। हाँ थे तो केवल एक मामूली क्लर्क, मगर उनकी विद्या और गुणों के कारण उनका जो मान और दबदबा देखा उससे मुझे आश्चर्य होता था। सब हिन्दुस्तानी लोग तो उन्हें अपना अगुआ मानते ही थे, बड़े साहब यानी जनरल ट्रैफ़िक मैनेजर जिनके दफ़्तर में द्विवेदी जी काम करते थे वे भी हर बात में उन्हीं से राय लेते और उसी पर अमल करते थे। उन दिनों की उनकी दिनचर्या जो मैंने देखी वह यह थी।

बहुत सवेरे उठकर पहले तो संस्कृत के ग्रन्थों का अवलोकन करते, फिर चाय के बाद ७ बजे से ८ बजे तक एक महाराष्ट्र पंडित से, जिनको उन्होंने अपना मास्टर बनाया था, कुछ ग्रन्थों के बारे में पूछ-पाँछ करते, फिर कुछ गुजराती, बंगाली, संस्कृत की पत्रिकाओं का अवलोकन करते और उसके बाद थोड़ा सा ख़ुद भी लिखते। १० बजे के क़रीब भोजनोपरान्त दफ़्तर जाते थे। वहाँ जो सिर झुकाया तो १ बजे तक ढेर के ढेर फ़ाइलों को साफ़ करके तब २ बजे के क़रीब उठकर कुछ जलपान किया करते। लौटकर अँगरेज़ी अख़बार अवलोकन करते और जो काम आता जाता उसे समाप्त करते। ४-५ बजे के निकट घर आकर हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलकर दरवाज़े पर बैठ जाते। जो लोग आते उनसे वार्तालाप होता। उनको नेक सलाह देना और किसी को कुछ ज़रूरत हुई तो उसका भी इन्तिज़ाम करना। बस घंटे डेढ़ घंटे यही उनका दिल-बहलाव होता। इसके बाद फिर किताबों का अवलोकन करके ९-१० बजे तक बिस्तर पर चले जाते।

इस कठिन मेहनत की उनको यों ज़रूरत हुई कि उनकी स्कूली तालीम बहुत थोड़ी थी।

अपनी ख़ास ज़रूरतें इतनी कम रखते थे कि शायद आमदनी के तिहाई हिस्से में अपना सब काम चला लेते थे। बाक़ी अख़बारों के चन्दों में, पुस्तकें ख़रीदने में और दूसरों की मदद करने में जाता। उस वक़्त उनको केवल १०० या १२० रुपये मिलते थे। इसमें से १० या १५ महाराष्ट्र पंडित के नज़र होता था। केवल ५ रुपये महीने का मकान था। दफ़्तर हमेशा पैदल ही जाते और किसी क़िस्म का विद्या के सिवा और कोई शौक़ न रखते थे। उनके साहब ने उन्हें तरक़्क़ी पर इधर-उधर भेजना चाहा, यहाँ तक कि झाँसी का ही स्टेशन-मास्टर बनाना चाहा, मगर इस डर से कि कहीं उनकी दिनचर्या में तबदीली न करनी पड़े या विद्योपार्जन का समय न कम हो जाय वे बराबर इनकार ही करते रहे।

उसी दफ़्तर में ३ या ४ वर्ष में चीफ़ क्लर्की तक पहुँचे। इसके पीछे रेलवेवालों ने उनको बड़े ओहदों पर बम्बई को भेजना चाहा, मगर उनको न तो लोभ था, न कोई शौक़। उन्होंने अपना पुस्तकालय और सरल जीवन छोड़ना पसन्द न किया। जब आई० एम० आर० लाइन के जी० आई० पी० में मिल जाने पर उन्हें बम्बई जाना ही पड़ा तब थोड़े ही दिनों के बाद नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया और बिलकुल ही विद्याव्यसन में लग गये। यह वह समय था जब वे 'सरस्वती' के सम्पादन का भार अपने ऊपर ले चुके थे। वे झाँसी छोड़कर कानपुर में जुही में एक छोटे से मकान में जाकर रहे। उस वक़्त उनकी अवस्था केवल ४० वर्ष के लगभग थी। इतनी थोड़ी अवस्था में कई भाषाओं के विशेषकर संस्कृत के महान् पंडित भी होगये और काफ़ी धनोपार्जन भी कर लिया कि स्वाधीन रह सकें और लोगों की मदद भी कर सकें।

यह मैंने पहले ही कहा है कि स्कूली तालीम उनकी बहुत थोड़ी थी। अपने पराक्रम से इस वक़्त तक उन्होंने संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती और उर्दू में भी अच्छे पंडित हो गये। अँगरेज़ी में सिर्फ़ यही नहीं कि सभी किताबें, किसी विषय पर हों, पढ़ लेते थे, बल्कि यह भी कि किसी ग्रेजुएट के मुक़ाबिले में लेख लिख सकते थे। मगर सबसे ज़्यादा प्रेम उनको मातृभाषा और संस्कृत से था। संस्कृत में तो पढ़ने-लिखने के अलावा धाराप्रवाह बोल भी सकते थे। इस महान् परिश्रम का असर उनके स्वास्थ्य पर ख़राब हुआ। ४० वर्ष की उम्र के पहले ही निद्रा न आने की शिकायत शुरू हुई और धीरे धीरे बढ़ती गई, क़ब्ज़ की शिकायत भी बढ़ती गई, हफ़्तों हरारत रहती। मगर इस पर भी उन्होंने पढ़ने-लिखने का व्यसन जारी रक्खा। फिर भी वे हिन्दुस्तानी हिसाब से दीर्घायु हुए। इसका कारण केवल उनकी पैदायशी काठी की मज़बूती तथा नियमपूर्वक रहना एवं सब दुर्व्यसनों से दूर रहना ही था।

देशभक्ति भी उनकी असीम थी। जहाँ तक हो सकता था कोई विदेशी चीज़ काम में न लाते। मिजाज़ में बेहद मृदुलता और दया थी। मगर उसके साथ ही ज़रा सी बात में बहुत क्रोध होता। हाँ इसे वे बहुत जल्दी ही भूल जाते। फिर वही स्वाभाविक कोमलता और दया आ जाती। उनकी ज़िन्दगी महर्षियों की सी थी। दौलतपुर गाँव में जहाँ वे रहते थे उनका वह सम्मान और दबाव था जो बड़े-बड़े ज़मींदारों का होता है।

आचार्य द्विवेदी जी

लेखक, श्रीयुत कृष्णप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल-टी०

प्राणी के शरीर में जिस प्रकार से आत्मा होती है उसी प्रकार से साहित्य में भी आत्मा होती है। जैसी तेजःपूर्ण आत्मा का निवास साहित्य में होगा वैसा ही उस काल का साहित्य बलवान् और तेजोमय होगा। आचार्य द्विवेदी जी ऐसी ही आत्मा थे। जब तक यह आत्मा हिन्दी को स्पंदित करता था तब तक हिन्दी-साहित्य में एक विशेष प्रकार की ज्योति थी। और आज जो एक विशिष्ट रूप हिन्दी-साहित्य का हमारे सामने है उसके निर्माण में द्विवेदी जी का कुशल हाथ पूर्णरूप से था।

आज घर-घर में हिन्दी के लिए जाग्रति है। परन्तु आज से तीस-पैंतीस साल पहले की अवस्था का सिंहावलो-कन कीजिए जब न तो सम्मेलन की परीक्षायें थीं, न विश्वविद्यालयों और कालेजों में हिन्दी थी, न रङ्ग-बिरंगे मासिक-पत्र थे। ऐसे ही समय द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का संपादन अपने हाथों में लिया। 'सरस्वती'-प्रकाशन का आरम्भ नागरी-प्रचारिणी सभा काशी की प्रेरणा थी। पहले पाँच विद्वान् उसका संपादन करते थे। द्विवेदी जी के हाथों में 'सरस्वती' गई और उन्होंने अपने अनवरत परिश्रम से, मनोयोग से, ऐसे स्थान पर पहुँचाया कि बड़े से बड़े विद्वान् इस बात के लिए लालायित रहते थे कि मेरा लेख उसमें छप जाय। 'सरस्वती' को द्विवेदी जी ने ऐसी पत्रिका बना दिया कि जो 'सरस्वती' में भाषा लिखी जाय वही हिन्दी है। एक वस्तु को लेना, बनाना और इतनी ऊँची श्रेणी में ले जाकर रख देना साधारण मनुष्य का काम नहीं है। उस समय हिन्दी-जगत् में और भी विद्वान् थे। संस्कृत के, प्राकृत के, अपभ्रंश के बड़े बड़े विद्वान् थे, बड़े बड़े कवि थे और संपादक थे। मैं उन लोगों की विद्वत्ता का आदर करता हूँ। उनमें से कितनों के संपर्क का मुझे सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। उन लोगों की कृतियाँ भी हिन्दी को अलंकृत करती हैं। उन लोगों के कार्यों को मैं उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता। परन्तु यह तो स्पष्ट सत्य है कि हिन्दी-भाषा और साहित्य पर द्विवेदी की जो छाप है वह और किसी की नहीं।

खड़ी बोली गद्य का जो स्वरूप आज हम देखते हैं उसका आरम्भ तो पहले हो चुका था, परन्तु उसकी शैली सुगठित और प्रांजल न थी। द्विवेदी जी ने शैली गढ़ने और भाषा बनाने के लिए न तो कमिटियाँ बनाईं और न वे घर-घर डेपुटेशन ही ले गये। उन्होंने स्वयं लिखकर और दूसरों के लेखों को काट-छाँट कर, गढ़ कर, हिन्दी-भाषा-भाषियों के सम्मुख उदाहरण रक्खा। और यदि कहीं लचर और बेढंगी भाषा का प्रयोग देखते थे तो तीव्र रूप से उसकी निन्दा करते थे। यही कारण था कि उनके द्वारा हिन्दी की इतनी उन्नति हुई। उन्हें हिन्दी से इतना प्रेम था कि वह भाषा और साहित्य को ग़लत राह पर जाते देख उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। आरम्भ की 'सरस्वती' की फाइलें उठा लीजिए। विज्ञान पर द्विवेदी जी लिख रहे हैं, व्याकरण पर भी, साहित्य पर भी, और राजनीति पर भी।

आज-कल की पत्रिकाओं की भाँति 'सरस्वती' में केवल बड़े आदमियों को प्रसन्न करने के लिए अथवा डिग्री देखकर लेख कभी नहीं छपे। हाँ, यदि लेख में तत्त्व होता तो भाषा ठीक कर द्विवेदी जी छाप देते थे।

कितने लोगों के लेख, लाल रोशनाई से दुरुस्त करके, उनके पास लौटा दिया करते थे। बहुत से लोग इससे रुष्ट हो जाते थे। एक बार काशी के एक सज्जन ने 'सरस्वती' में छपने के लिए एक कविता भेजी। वह न छपी। इस पर उक्त सज्जन ने पद्यबद्ध लंबा पत्र, द्विवेदी जी को बुरा-भला लिखकर, उनके पास भेजा। कविता की अन्तिम पंक्ति थी 'आपका सेवक एक दुष्ट'। द्विवेदी जी ने सारा पत्र 'सरस्वती' में छाप दिया। उक्त सज्जन ने नाराज़ होकर 'सरस्वती' की होड़ में 'तरंगिणी' नाम की एक पत्रिका निकाली। तरङ्गिणी तो तरङ्ग में विलीन हो गई, लेकिन 'सरस्वती' इस पर उड़ रही है। परन्तु होनहार लेखकों को उन्होंने कभी निरु-त्साहित नहीं किया; ऐसा कितने ही लोगों का अनुभव होगा। मुझे याद है, आज से लगभग बीस साल पहले की बात है। मेरे एक युवक मित्र ने, जो अब इस संसार में नहीं है, 'समय' नाम का एक नाटक लिखा। एक अनु-भवी लेखक की रचना में जो त्रुटियाँ हो सकती हैं, सब

उसमें थीं। परन्तु नाटक में गुण भी थे। नाटक की भूमिका में लेखक ने लिखा था—'यह प्रारम्भिक प्रयास है, परन्तु समालोचकों की क्रूर कटार से आशंका है कि कहीं शैशवा-वस्था में ही इसका प्राण न हर लिया जाय। आशा है, समालोचक-गण इस पर दया की दृष्टि रखेंगे'। नाटक की एक प्रति सपादक-सरस्वती के नाम भेजी गई। उस समय प्रत्येक पुस्तक की दो-दो प्रतियाँ भेजने का 'जनैली' हुक्म न था। हम लोगों का विश्वास था कि समालोचना तो क्या इसकी प्राप्ति भी स्वीकार न की जायगी। दो महीने के बाद 'सरस्वती' में 'समय' की समालोचना निकली। दो वाक्यों में गुणों का उल्लेख करने के बाद त्रुटियों के सम्बन्ध में लेखक की भूमिका का हवाला देकर द्विवेदी जी ने लिखा था 'इसलिए अब इसका कुछ लिखना ठीक नहीं।' इस प्रकार से यथा-योग्य उनका व्यवहार होता था। यदि उन्हें कोई ललकारता था तो वे भी ताल ठोंककर खड़े हो जाते थे। वे महावीर की भाँति निडर और साहसी थे। भाषा की 'अनस्थिरता' वाली कहानी पुराने साहित्यसेवियों को न भूली होगी। वे साहित्य की रणस्थली में डटना जानते थे, भागना नहीं।

द्विवेदी जी की चुटकी बड़ी मीठी होती थी। एक बार एक पुस्तक की समालोचना करते हुए आपने लिखा—"प्रकाशक ने मेरे पास पुस्तक भेजने में चार आने की किफ़ायत की है"। प्रकाशक ने अजिल्द पुस्तक भेजी थी। स्वर्गीय गोखले को के० सी० आई० ई० की पदवी मिल रही थी, जिसे लेने से उन्होंने इनकार कर दिया। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में इसका उल्लेख करके यह लिखा कि 'यह सुन कर मुझे उनका सी० आई० ई० याद आ गया।' इस छोटे से वाक्य में जो अर्थ भरा है, पाठक समझ सकते हैं।

मैंने अपनी पुस्तक उनके पास भेजी। उसके आरंभ में, समर्पण में, एक ही वाक्य में असावधानी से 'मुझे' और 'हमें' आगया। पुस्तक की बड़ी प्रशंसा करते हुए अंत में आपने लिखा—'वाह रे एम० ए० कुछ मैं-हम का भी ख़याल है'।

जो द्विवेदी जी एक मात्रा और एक अक्षर की भी भूल नहीं सहन कर सकते थे वही जीवन के संध्याकाल में सबको आशीर्वाद देते और सबकी प्रशंसा क्यों करते थे? वे एक वीर सेनानी थे। परन्तु हृदय बड़ा कोमल था। जब तक जेनरल की भाँति साहित्य-क्षेत्र में रहे भाषा के हित के लिए, उसके मान की रक्षा... उसके गौरव के लिए लड़ते रहे। जब अवकाश ग्रहण किया, उनकी स्वाभाविक हृदय की कोमलता फूट पड़ी। अभिनदनोत्सव के समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के मच पर से जो भाषण उन्होंने दिया था उससे उनके हृदय की भावना ख़ूब टपकती है। वे करुणा के आगार थे।

स्वभाव से वे विनोदी भी थे। बहुत कम लोगों को यह मालूम होगा कि जब साहित्य-सम्मेलन ने अपनी परीक्षायें चलाईं तब प्रथमा परीक्षा के लिए द्विवेदी जी ने आवेदन-पत्र भरके भेजा था। जब पहले-पहल राय कृष्ण-दास जी ने मेरा उनसे परिचय कराया, वे अस्वस्थ थे, उठ खड़े हुए। संस्कृत में एक श्लोक तत्काल बना कर, जिसमें मेरा नाम भी था, आशीर्वाद दिया और बोले—मैं भी 'चिकित्सा के चक्कर' में हूँ। इस नाम का मेरा लेख 'सरस्वती' में छपा था, जिसे संभवतः उन्होंने पढ़ा था।

पत्रों में ऐसा लिखा करते थे मानो वे किसी आत्मीय को लिख रहे हों। मुझे उन्होंने कई बार लिखा कि मार्क ट्वेन पढ़ो, हास्य लिखने में सहायता मिलेगी।

उनका जैसा नाम था, वैसे साहित्यिक महावीर वे थे। कुछ लोगों का विचार है कि उनका उपयुक्त सम्मान नहीं हुआ। यों तो ऐसे महान् व्यक्तियों का जितना भी आदर किया जाय, कम है। परन्तु जो हम हिन्दीवालों के हाथ में था वह हुआ। प्रत्येक हिन्दी-साहित्य-प्रेमी का हृदय उनके चरणों पर था। हिन्दीवालों के हाथ में 'सर' या 'राय बहादुर' या 'डाक्टर' तो है नहीं। और बहुत ठीक हुआ कि हिन्दी-वालों ने सरकार या किसी से द्विवेदी जी के लिए भिक्षा नहीं माँगी। वे हिन्दी के 'आचार्य' थे, हिन्दी-भाषा-भाषियों के आचार्य थे। जिस श्रद्धा और प्रेम से हम हिन्दीवाले उन्हें आचार्य कहते थे और जिस भाव से समस्त हिन्दी जनता ने अपने मन से उन्हें यह पदवी दी उससे बढ़कर अनमोल प्रेमपूर्ण पदवी और हो नहीं सकती।

कुछ संस्मरण

लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी०

इस लेख में द्विवेदी जी का जीवन-चरित लिखने की आवश्यकता नहीं है। मुझे तो कुछ अपने से संबंध रखनेवाले उनके संस्मरण ही देना है। बहुत वर्षों तक द्विवेदी जी कानपुर शहर के पास जुही में रहे थे। वे वहीं से 'सरस्वती' का सम्पादन भी करते थे और पुस्तकें भी लिखा करते थे। कभी-कभी वे अपने घर दौलतपुर भी चले जाते थे, पर अधिकतर जुही में ही रहते थे। इसी लिए कानपुर के हिन्दी-प्रेमियों को उनके साक्षात्कार का और उनसे शिक्षा लेने का अमूल्य अवसर प्राप्त था। हम लोग प्रायः उनके यहाँ जाया करते थे, और विभिन्न विषयों पर बातचीत किया करते थे। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपना साहित्यिक जीवन 'सरस्वती' के सहायक-सम्पादक की हैसियत से प्रारम्भ किया था। विद्यार्थी जी के साथ मैं भी जुही जाया करता था और द्विवेदी जी के पुस्तकालय से पुस्तकें ले आया करता था। प्रथम साक्षात्कार के पूर्व ही अर्थात् सन् १९१२ ईसवी में मैंने एक लेख इतिहास पर 'सरस्वती' के लिए भेजा था। द्विवेदी जी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे अपनी पत्रिका में स्थान दिया था। मैं हिन्दी में १९१० ई० से 'सत्येन्दु' उपनाम से लेख लिखा करता था। पर द्विवेदी जी के कहने से 'सरस्वती' के लिए मैंने एक दूसरा ही उपनाम 'सत्यशोधक' रख लिया। १९१२ से १९१८ तक मुझे उनसे मिलने और उनका प्रेमपात्र रहने का सौभाग्य प्राप्त रहा।

अभाग्यवश हिन्दी के बहुत से लेखकों से उन दिनों द्विवेदी जी का व्यवहार प्रेममय नहीं था। कुछ लोगों से वे नाराज़ थे और बहुत से लोग उनसे नाराज़ थे। कुछ लोग तो द्विवेदी जी से इसलिए नाराज़ हो गये थे कि वे उनके किसी लेख को छापने से इनकार कर चुके थे या उसमें कुछ परिवर्तन करना चाहते थे। कुछ इसलिए नाराज़ थे कि द्विवेदी जी ने उनके ग्रन्थों की तीव्र आलोचना की थी। कुछ लोगों को द्विवेदी जी की कीर्त्ति से कुछ जलन भी होती थी। द्विवेदी जी का स्वभाव भी ऐसा था कि जिससे वे नाराज़ हो गये उससे वे बहुधा सभी सम्बन्ध तोड़ देते थे। इन सब घटनाओं में उनको कुछ मानसिक कष्ट रहा करता था। नगर से दूर जुही में रहने के कारण द्विवेदी जी का जीवन भी कुछ एकान्तमय होगया था और इधर-उधर की घटनायें उनके मन में चक्कर काटा करती थीं। इन सब बातों का प्रभाव उनके जीवन और स्वास्थ्य पर भी पड़ा। ज्यों ज्यों स्वास्थ्य निर्बल होता गया उनका मिज़ाज भी तेज़ होता गया। पर कानपुर में कुछ ऐसे नवयुवक भी थे जिनके साथ द्विवेदी जी के सम्बन्ध सदा स्नेहमय रहे। द्विवेदी जी ने उनके साहित्यिक जीवन को बहुत सहारा दिया और उन्होंने भी द्विवेदी जी को सदैव कृतज्ञता और श्रद्धा की दृष्टि से देखा। हम लोगों के प्रति द्विवेदी जी का विश्वास था कि और कोई प्रसन्न हो या अप्रसन्न, हम लोग सदैव उनके भक्त रहेंगे। उनका यह विश्वास उनके अन्त-समय तक बिलकुल ठीक उतरा। हिन्दी-संसार ने तो द्विवेदी जी को 'आचार्य' की पदवी बहुत पीछे दी, पर कानपुर में हम लोग द्विवेदी जी को सदा से अपना 'आचार्य' मानते रहे थे। उनका आशीर्वाद लेकर गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'सरस्वती' का काम छोड़ कर 'अभ्युदय' का भार अपने ऊपर लिया, फिर कुछ दिनों के बाद कानपुर में ही 'प्रताप' की स्थापना की तब द्विवेदी जी से ही वह मूल-मंत्र लिया जो आज तक 'प्रताप' पर छपता है :

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है
वह नर नहीं नर-पशु निरा है और मृतक समान है।"

द्विवेदी जी में कुछ गुण ऐसे भी थे जो हमीं लोगों को ज्ञात थे। बाहरी लोग उनके विषय में बहुत कम जानकारी रखते थे। अपने कुटुम्बियों, सम्बन्धियों और मित्रों के साथ व्यवहार करने में द्विवेदी जी सदा अत्यन्त उदारता से काम लिया करते थे। हम साक्षात् देखा करते थे कि द्विवेदी जी स्वयं मोटा कपड़ा पहन कर और सादा जीवन व्यतीत कर दूसरों की सहायता भरसक किया करते थे। फिर भी कभी किसी ने इस विषय में अपनी डींग मारते उन्हें नहीं सुना—यहाँ तक कि वे किसी से अपने किये

हुए उपकार का ज़िक्र तक न करते थे। कभी-कभी तो स्वार्थत्याग दिखाने में वे बहुत आगे बढ़ जाते थे। उन्होंने अकसर लोगों की मदद करना उस समय तक जारी रक्खा जब कि वे लोग अपने को इसके अयोग्य साबित कर चुके थे। अकृतज्ञता का कोई प्रभाव द्विवेदी जी के मन पर नहीं पड़ा। सच तो यह है कि वे नेकी के लिए नेकी करते थे, कृतज्ञता के लिए नहीं। वही मसल थी—नेकी कर, कुएं में डाल! इस परोपकार की वृत्ति तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण द्विवेदी जी के कार्यक्रम में अद्भुत व्यवस्था आ गई थी। उनका हर एक काम बड़े ढंग से होता था। उनके पास बहुत-सी किताबें थीं, पर प्रत्येक पुस्तक के लिए नियत स्थान था। 'सरस्वती' के लिए आये हुए लेख और चिट्ठी-पत्री सब यथास्थान दिखाई देते थे। सम्पत्ति का दुरुपयोग न होने देते थे। चिट्ठियों में यदि कोई सादे पन्ने आते तो फाड़ कर काम के लिए रख लेते थे। समय का वे सदैव सदुपयोग करते थे।

द्विवेदी जी ने जीवन भर साहित्य की सेवा की। उसके तीन विशेष अंग हमारे सामने आये, अर्थात् द्विवेदी जी ने साहित्य की ३ प्रवृत्तियों में विशेष योग दिया—(१) वे उन थोड़े से लेखकों में थे जिन्होंने हिन्दी-गद्य का परिमार्जन किया और उसे अर्वाचीन विज्ञान और शास्त्रों के योग्य बनाया। (२) उन्होंने हिन्दी-गद्य में प्रसादगुण लाने का प्रयत्न किया, अर्थात् उसे जनता के लिए बोधगम्य बनाने की आवश्यकता समझी। (३) द्विवेदी जी ने समालोचना का महत्त्व समझा और उसके मार्ग पर प्रकाश डाला। यद्यपि इन तीनों बातों का प्रारम्भ द्विवेदी जी के पहले से ही हो गया था, पर इनमें पूर्ण सफलता हिन्दी-साहित्य को आज तक नहीं मिली है। द्विवेदी जी ने अपने लेखों, पुस्तकों और संपादन के द्वारा इस दिशा में अग्रगण्य काम किया। अगर अभी तक ये काम पूरे नहीं हुए तो इससे यही सिद्ध होता है कि हिन्दी-संसार को अभी उनके जैसे प्रतिभाशाली लेखकों की आवश्यकता है।

भाषा का परिमार्जन

अभी हमारी देशी भाषाओं में—और विशेष करके हिन्दी में—व्यञ्जना की पूर्ण शक्ति नहीं आई है। जिन लोगों को अँगरेज़ी के ग्रन्थों या लेखों को हिन्दी में अनुवाद करने का अवसर आया है या जो वैज्ञानिक या दार्शनिक विषयों पर लिखने का प्रयत्न करते हैं वे जानते हैं कि शब्दों और मुहाविरों के चयन में कितनी भारी अड़चन आती है। एक समय था जब अँगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन आदि योरपीय भाषाओं की भी यही दशा थी, पर धीरे धीरे इनकी क्षमता का विकास होता रहा। हिन्दी-गद्य के इस प्रकार के विकास में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद द्विवेदी जी का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने भाषा को व्याकरण के ठीक ठीक नियमों में बाँधने का प्रयत्न किया। उन्हीं के प्रयत्नों से हिन्दी-गद्य का रूप निखर गया।

'बेकन-विचाररत्नावली' में स्वयं द्विवेदी जी ने क्लि[ष्ट] भाषा का प्रयोग किया है। पर यह उनका पहला प्रया[स] था। आगे चलकर उन्होंने यह ज़रूर समझा कि भाष[ा] में बनावटीपन न हो और वह बोधगम्य हो। आज कल कुछ लोग 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन इसलिए करते हैं कि उससे हिन्दू-मुसलिम मैत्री में सहायता मिलेगी। पर खेद का विषय है कि भाषा का यह प्रश्न हिन्दू मुसलिम समस्या से नत्थी हो गया है और इसलिए दिन पर दिन उलझता जाता है। द्विवेदी जी ने इस प्रश्न को वास्तविक रूप में देखा था। असल में यह प्रश्न हिन्दू-मुसलमान का नहीं है, यह जनता तक साहित्य और विज्ञान के पहुँचाने का है। भाषा में प्रसादगुण वहाँ भी रहना चाहिए जहाँ न हिन्दू हैं, न मुसलमान। 'सरस्वती' के सम्पादक की हैसि[य]त से द्विवेदी जी ने बहुत से लेखकों को इसका महत्त्व समझाया। १९१४ ई० में योरपीय लड़ाई छिड़ने पर उन्होंने मुझे इसके कारणों पर एक लंबा लेख लिखने की आज्ञा दी। जब लेख दौलतपुर पहुँचा तब उन्होंने उसे कुछ साधारण पढ़े-लिखे किसानों को सुनाया। वे बहुत प्रसन्न हुए कि लेख का बहुत भाग उनकी समझ में आ गया। पर इसके यह अर्थ नहीं कि वे गूढ़ विषयों को भी इतनी ही सरल भाषा में प्रकट करने की आशा करते थे। इसी समय के लगभग जब मैंने जान स्टुअर्ट मिल की दो पुस्तकों—'उपयोगितावाद' और 'स्त्रियों की पराधीनता' का संक्षेप 'सरस्वती' के लिए भेजा तब उन्होंने उसे एक दम छाप दिया। जान स्टुअर्ट मिल [illegible] संक्षेप आसानी से [illegible] मिल की विचार-धारा [illegible] आसानी से किसी की समझ में नहीं आ सकते और साधारण शब्दों में रक्खे भी नहीं जा सकते। ऐसे अव

तों पर आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि भाषा
ं कृत्रिमता न हो। द्विवेदी जी ये सब बातें अच्छे प्रकार
ानते थे।

समालोचना

हिन्दी में आज-कल जैसी समालोचना होती है, वैसी
५ वर्ष पहले न होती थी। पुराने कवियों की प्रशंसा तो
हुत होती थी, पर समालोचना बहुत कम देखने में आती
ी। उस समय के लेखक और सच पूछिए तो बहुत से
स समय के लेखक भी—अपनी पुस्तकों के विषय में केवल
तुति ही पढ़ना चाहते हैं। द्विवेदी जी उन बहुत थोड़े से
ादमियों में से थे जिन्होंने इस पुराने मार्ग को छोड़कर
ास्तविक समालोचना का साहस किया। जब 'कालिदास
ी निरंकुशता' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने उस महाकवि
ी कुछ भूलें दिखाई तब साहित्य-संसार में तूफ़ान सा
ा गया। चारों ओर से द्विवेदी जी पर बौछारें पड़ने लगीं।
र उनको इसकी कुछ परवा न हुई, और शायद एक ही
ख में बड़े गौरव के साथ अपनी शैली के पक्ष में कुछ
कहा। द्विवेदी जी के हाथों से हिन्दी रीडरों की समालोचना
जो समय-समय पर हुई वह स्कूलों के लिए अत्यन्त उप-
योगी सिद्ध हुई।

द्विवेदी जी अब इस संसार में नहीं हैं। पर अभी बहुत
वर्षों तक उनकी रचनायें जीवित रहेंगी। संभव है,
सुदूरवर्त्ती काल में उनकी रचनायें भी काल के गाल में
चली जायँ, तथापि हिन्दी-गद्य के इतिहास में द्विवेदी जी
का नाम अजर-अमर रहेगा। जब हिन्दी-साहित्य का क्षेत्र
बहुत विशाल हो जायगा; जब हिन्दी-भाषा की शक्तियाँ
पूरी तरह से विकसित हो जायँगी; जब हिन्दी की शैली में
कृत्रिमता के स्थान पर स्वाभाविकता का राज्य हो जायगा
और जब यथेष्ट समालोचना की परिपाटी भी स्थिर हो
जायगी, तब भी द्विवेदी जी का नाम उन थोड़े से लेखकों
के साथ लिया जायगा जिन्होंने साहित्य की प्रवृत्तियों को
आगे बढ़ाने में भाग लिया है और जो आगे भाग लेंगे।
द्विवेदी जी उदारता और साहित्य-सेवा का एक उज्ज्वल
दृष्टान्त सदा के लिए स्थिर कर गये हैं।

सम्पादकीय निवेदन

'सरस्वती' के 'द्विवेदी-स्मृति-अंक' को इस रूप में
ाकालने में हमारी जिन महानुभावों ने सहायता की है
नके हम हृदय से कृतज्ञ हैं। द्विवेदी जी के सम्बन्ध में
ो महत्वपूर्ण संस्मरण तथा मर्मस्पर्शी श्रद्धाञ्जलियाँ इस
ंक में प्रकाशित हुई हैं उन्हें उनके मित्रों, सहयोगियों
था शिष्यों ने लिखा है और उनमें दिवंगत आचार्य के
हत्त्व का ही निदर्शन नहीं हुआ है, किन्तु उनसे यह भी
प्रकट हुआ है कि वे हिन्दी के क्षेत्र में क्यों इतने अधिक
समादृत थे। इस अंक में छापने के लिए हमें इतने
अधिक लेख तथा कवितायें मिलीं कि स्थानाभाव के कारण
हम उन सबको नहीं छाप सके। इसका हमें खेद है और
जिन महानुभावों के लेखों तथा कविताओं का इस अंक में
समावेश नहीं हो सका है उनसे हम क्षमा माँगते हैं।

वर्ग नं० ३० का नतीजा

प्रथम पुरस्कार ३००) (शुद्ध पूर्ति पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित २ व्यक्तियों में बाँटा गया। प्रत्येक को १५०) मिले।

(१) श्रीयुत सद्गुरुशरण, अरदलीबाज़ार, बनारस।
(२) श्री तुलसीराम रामकिशनदास, कलकत्ता।

द्वितीय पुरस्कार १७४) (एक अशुद्धि पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित २ व्यक्तियों में बाँटा गया। प्रत्येक को ८७) मिले।

(१) श्री गुरुदयाल, अरदलीबाज़ार, बनारस।
(२) श्री वीरेन्द्रकुमार, पोस्ट जयनगर, ज़िला २४ परगना।

तृतीय पुरस्कार २०) (चार अशुद्धियों पर)

(१) श्री शिवबालकप्रसाद बाजपेयी, इलाहाबाद।

चतुर्थ पुरस्कार ६) (पाँच अशुद्धियों पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित ६ व्यक्तियों में बाँटा गया। प्रत्येक को १) मिला।

(१) श्री कन्हैयालाल वर्मन, बनारस।
(२) श्री रामनिरञ्जन, बिसाऊ, जयपुर।
(३) श्री रविप्रकाश वर्मा, नरसिंहपुर, सी० पी०।
(४) श्री शिवबोध मालवीय, इलाहाबाद।
(५) श्री नाथूराम गुप्ता, कानपुर।
(६) श्री हरिशङ्करलाल खत्री, बनारस।

उपर्युक्त सब पुरस्कार २३ फ़रवरी को भेज दिये जायँगे।

नोट—जाँच का फ़ार्म ठीक समय पर आने से यदि किसी को और भी पुरस्कार पाने का अधिकार सिद्ध हुआ तो उपर्युक्त पुरस्कारों में से जो उसकी पूर्ति के अनुसार होगा वह फिर से बाँटा जायगा।
केवल वे ही लोग जाँच का फ़ार्म भेजें जिनका नाम यहाँ नहीं छपा है, पर जिनको यह सन्देह हो कि वे पुरस्कार पाने के अधिकारी हैं।
जिनको १) का पुरस्कार मिला है उन्हें १) के दो प्रवेश-शुल्क-पत्र भेज दिये जायँगे, जो नियम के अनुसार तीन महीने के भीतर इसके साथ दो पूर्तियाँ भेज सकेंगे।

नियम :—

(१) किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जितनी पूर्ति-संख्यायें भेजना चाहे, भेजे, किन्तु प्रत्येक वर्ग-पूर्ति सरस्वती पत्रिका के ही छपे हुए फ़ार्म पर होनी चाहिए। इस प्रतियोगिता में एक व्यक्ति को केवल एक ही इनाम मिल सकता है। इंडियन प्रेस के कर्मचारी इसमें भाग नहीं ले सकेंगे। प्रत्येक वर्ग की पूर्ति स्याही से की जाय। पेंसिल से की गई पूर्तियाँ स्वीकार न की जायँगी। अक्षर सुन्दर, सुडौल और छापे के सदृश स्पष्ट लिखने चाहिए। जो अक्षर पढ़ा न जा सकेगा अथवा बिगाड़ कर या काटकर दूसरी बार लिखा गया होगा वह अशुद्ध माना जायगा।

(२) प्रतियोगिता में शामिल होने के लिए जो फ़ीस वर्ग के ऊपर छपी है, दाख़िल करनी होगी। फ़ीस मनीआर्डर-द्वारा या सरस्वती-प्रतियोगिता के प्रवेश-शुल्क-पत्र (Credit voucher) के द्वारा दाख़िल की जा सकती है। इन प्रवेश-शुल्क-पत्रों की किताबें हमारे कार्यालय से ३) या ६) में ख़रीदी जा सकती हैं। ३) की किताब में आठ आने मूल्य के और ६) की किताब में १) मूल्य के ६ पत्र बँधे हैं। एक ही कुटुम्ब के अनेक व्यक्ति जिनका पता-ठिकाना भी एक ही हो, एक ही मनीआर्डर-द्वारा अपनी अपनी फ़ीस भेज सकते हैं और उनकी वर्ग-पूर्तियाँ भी एक ही लिफ़ाफ़े या पैकेट में भेजी जा सकती हैं।

वर्ग-पूर्ति की फ़ीस किसी भी दशा में नहीं लौटाई जायगी। मनीआर्डर व वर्ग-पूर्तियाँ 'प्रबन्धक, वर्ग-नम्बर ३१, इंडियन प्रेस, लि०, इलाहाबाद' के पते से आनी चाहिए।

(३) लिफ़ाफ़े में वर्ग-पूर्ति के साथ मनीआर्डर की रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र नत्थी होकर आना अनिवार्य है। रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र न होने पर वर्ग-पूर्ति की जाँच न की जायगी। लिफ़ाफ़े की दूसरी ओर अर्थात् पीठ पर मनीआर्डर भेजनेवाले का नाम और पूर्ति-संख्या लिखना आवश्यक है।

(४) जो वर्ग-पूर्ति २४ फ़रवरी तक नहीं पहुँचेगी, जाँच में शामिल नहीं की जायगी। स्थानीय पूर्तियाँ २२ ता० के पाँच बजे तक बक्स में पड़ जानी चाहिए और दूर के स्थान (अर्थात् जहाँ से इलाहाबाद को डाकगाड़ी से चिट्ठी पहुँचने में २४ घंटे या अधिक लगता है) से भेजनेवालों की पूर्ति २ दिन बाद तक ली जायँगी। वर्ग-निर्माता का निर्णय सब प्रकार से और प्रत्येक दशा में मान्य होगा। शुद्ध वर्ग-पूर्ति की प्रतिलिपि सरस्वती पत्रिका के अगले अङ्क में प्रकाशित होगी, जिससे पूर्ति करनेवाले सज्जन अपनी अपनी वर्ग-पूर्ति की शुद्धता-अशुद्धता की जाँच कर सकें।

(५) वर्ग-निर्माता की पूर्ति से, जो मुहर लगा करके रख दी गई है, जो पूर्ति मिलेगी वही सही मानी जायगी। यदि कोई पूर्ति शुद्ध न निकली तो मैनेजर शुद्ध पूर्ति के इनाम जिस तरह उचित समझेंगे, बाँटेंगे।

अङ्क-परिचय

दाहिने से बायें

१-देवताओं का लोक।
४-यह सभी लोगों की सुन्दर नहीं होती।
६-कितने ही बच्चे इससे पलते हैं।
७-कितने ही महत्त्वाकांक्षी ऐसे होते देखे गये हैं।
८-जहाँ अच्छे मंत्री नहीं होते वहाँ यही होता है।
९-इसे देखना सब लोग पसन्द करते हैं।
१-बहुत से लोग युवकों का यह पसन्द नहीं करते।
३-तिब्बत के यात्री इसके भी दर्शन करते हैं।
७-आर्य लोग इसके बराबर गीत गाते आये हैं।
८-मनुष्य इसका शिकार हुआ और गया।
९-लड़के इससे भी आनन्द खोज लेते हैं।
४-मार्ग में इसकी अधिकता यात्रियों के कपड़े ख़राब कर देती है।
५-भारतीय किसान का यह एक ख़ास गुण है।
७-स्त्रियों के ओढ़ने का एक बहुरंगी वस्त्र।
८-जितना ही स्वच्छ हो उतना ही लाभदायक होता है।
९-एक सुन्दर मादा-पशु।
०-इसकी लकड़ी चिकनी और मज़बूत होती है।
२-छोटा सा कण।
३३-स्त्रियाँ सावन में इसे लगाना बहुत पसन्द करती हैं।
३४-चलना ही इसका काम है।
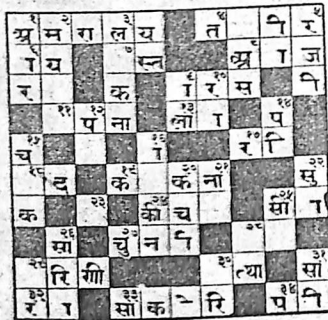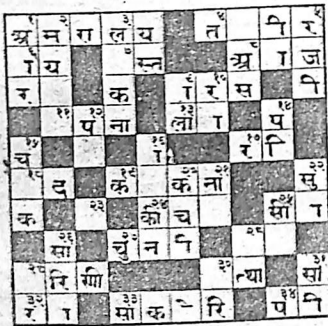
ऊपर से नीचे

१-इसके बिना स्त्री का जीवन विशेष दुःखी हो जाता है।
२-इससे दूर ही रहना अच्छा है।
३-इससे मार्ग जल्दी तय होता है।
५-यह चोरों को बहुत प्यारी है।
९-इसकी प्रधानता घर को बरबाद कर देती है।
१०-जिसके वश में यह हो उसका क्या कहना।
१२-इनके बिना मनुष्य लँगड़ा रहता है।
१४-पहले ज़माने की स्त्रियाँ इससे डरकर इसकी पूजा करती थीं। पर अब वे इससे प्रेम करती हैं।
१५-हलका मीठा दर्द। १६-एक प्रकार का सूती वस्त्र।
२०-एक प्रकार का फल। २१-शरीर का एक अंग।
२२-यह देवताओं को बहुत प्रिय है।
२३-यह अकेला भी किसी को कुछ करने नहीं देता।
२५-मकान में इसकी अधिकता स्वास्थ्य के लिए घातक होती है।
२९-इसे न चलानेवाला काश्तकार तबाह हो जाता है।
३०-कुछ लोग इसी की सवारी पसन्द करते हैं।
३१-देहाती रास्तों में यह सच्चे मित्र का काम देता है।

अपनी याददाश्त के लिए वर्ग ३१ की पूर्ति की नक़ल यहाँ पर कर लीजिए। और इसे निर्णय प्रकाशित होने तक अपने पास रखिए।

वर्ग नं० ३० की शुद्ध पूर्ति

वर्ग नम्बर ३० की शुद्ध पूर्ति जो बंद लिफ़ाफ़े में मुहर लगाकर रख दी गई थी, यहाँ दी जा रही है।
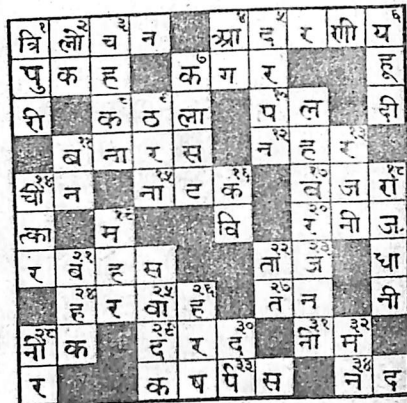
वर्ग नं० ३० (जाँच का फ़ार्म)

मैंने सरस्वती में छपे वर्ग नं० ३० के आपके उत्तर से अपना उत्तर मिलाया। मेरी पूर्ति नं०...में } कोई अशुद्धि नहीं है। १, २, ३, ४, ५ हैं। मेरी पूर्ति पर जो पारितोषिक मिला हो उसे तुरन्त भेजिए। मैं १) जाँच की फ़ीस भेज रहा हूँ।

इस्ताक्षर ______

पता ______

बिन्दीदार लाइन पर काटिए

नोट—जो पुरस्कार आपकी पूर्ति के अनुसार होगा वह फिर से बँटेगा और फ़ीस लौटा दी जायगी। पर यदि पूर्ति ठीक न निकली तो फ़ीस नहीं लौटाई जायगी। जो समझें कि उनका नाम ठीक जगह पर छपा है उन्हें इस फ़ार्म के भेजने की ज़रूरत नहीं। यह फ़ार्म १५ फ़रवरी के बाद नहीं लिया जायगा।

इसे काटकर लिफ़ाफ़े पर चिपका दीजिए

मैनेजर वर्ग नं० ३१

इंडियन प्रेस, लि०,

इलाहाबाद

मुफ़्त कूपन की नक़ल यहाँ कीजिए।

वर्ग नं० ३१ मुफ़्त कूपन पूर्ति नं०...

इस लाइन से काटिए

वर्ग नं० ३१ पूर्ति नं०... फ़ीस ।)

वर्ग नं० ३१ पूर्ति नं०... फ़ीस ।)

नाम

पता

रिक्त कोष्ठों के अक्षर मात्रा रहित और पूर्ण हैं।

नई शंकायें

'नायक' और 'नाटक'

मान् वर्ग-सम्पादक जी,

वर्ग नं० २९ के पाँचवें अंक-परिचय में इस ...ार है—काव्यों में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ...के उत्तर में मैंने नाटक लिखा था, और मेरा विश्वास ... कि चाहे मेरे और सब अंक-परिचय के उत्तर ग़लत हों ...किन यह ज़रूर ठीक होगा, क्योंकि मुझे साहित्य में ...रू से ही प्रेम रहा है, और मैंने इसे अंक-परिचय में और ...के उत्तर में साहित्यिक प्रश्न समझा है। वर्ग-निर्माता इसके जवाब में "नायक" रक्खा है। जब मैं इस वर्ग पूर्ति करने बैठा था तब किसी महाशय ने मुझसे कहा कि नायक भी हो सकता है, परन्तु जब मैंने नाटक के ...म्बन्ध में अपने तर्क उनके सामने रक्खे तब उन्होंने मेरी ...त मान ली और नाटक ही ठीक समझा।

किसी संस्कृत के विद्वान् ने कहा है 'काव्येषु नाटकं ...यम्'। अब आप अंक-परिचय को पढ़िए और संस्कृत के ...द्वान् की इस उक्ति को पढ़िए। काव्य में नाटक की ही ...पेक्षा नहीं की जा सकती है, यानी जहाँ काव्य या कविता ...ी वहाँ नाटक की भी चर्चा होगी। जहाँ काव्य या कविता ...ी वहाँ नायक की भी गिनती होगी, यह दलील मेरे ...मझ में नहीं आती!

बिना नायक के भी काव्य हो सकता है। मगर सिर्फ़ ...ह कि साहित्य में काव्य की उपेक्षा नहीं हो सकती ...या बुद्धि नायक की तरफ़ दौड़ती है। वर्गनिर्माता का संकेत काव्यों की भिन्न भिन्न संख्या की ओर है, न कि काव्य के अन्तर्गत वर्णित व्यक्ति की ओर जैसा कि आपने इस वर्ग के संकेत में किया है। मुझे आशा है कि आप वर्ग-निर्माता महाशय के इस प्रश्न के पहलू पर अपनी राय दे कर मेरे जैसे पाठकों की शंका का समाधान करेंगे।

कला-प्रेमी या कथा-प्रेमी ?

प्रिय सम्पादक जी

वर्ग न० २९ की शुद्ध पूर्ति में अंक नं० ६ ऊपर से नीचे इस प्रकार है— सरस्वती के कुछ पाठक ऐसे भी हैं। उसके उत्तर में कला-प्रेमी दिया गया है। मेरे ख़्याल में यह भी ग़लत है क्योंकि कला-प्रेमी तो सरस्वती के सभी पाठक हैं। सरस्वती कला की उच्च कोटि की पत्रिका है और बहुत से लोग इसी ख़्याल से इसे पढ़ते हैं। मैं वास्तव में कला के ख़्याल से पढ़ता हूँ और इसी से ग्राहक बना हूँ। कहने का मतलब यह कि अधिकांश प्रेमी पाठकों को कला से प्रेम है और कथा से प्रेम कुछ ही को है। मुझे आशा है कि वर्ग-निर्माता महोदय प्रश्न के इस पहलू पर भी विचार करेंगे।

आपका
कृष्णमुरारी
बड़कर, बाँदा।

रिक्त कोष्ठों के अक्षर मात्रारहित और पूर्ण हैं

आवश्यक सूचनायें

(१) इस बार पाठक देखेंगे कि एक कूपन में एक नाम अधिक भरने की गुंजाइश नहीं है परन्तु प्रत्येक कूपन में ी सुविधा की गई है कि वर्ग नं० ३१ की तीन पूर्तियाँ साथ भेजी जा सकेंगी। दो आठ आठ आने की र तीसरी मुफ़्त। मुफ़्त पूर्ति सिर्फ़ उन्हीं की स्वीकार की गी जो दो पूर्तियों के लिए १) भेजेंगे। और तीनों पूर्तियाँ ही नाम से भेजेंगे। एक पूर्ति भेजनेवाले को भी पूरा कूपन काटकर भेजना चाहिए और दो ख़ाने ख़ाली छोड़ देने चाहिए।

(२) स्थानीय पूर्तियाँ 'सरस्वती-प्रतियोगिता-बक्स' में जो कार्यालय के सामने रक्खा गया है, दिन में दस और पाँच के बीच में डाली जा सकती हैं।

(३) वर्ग नम्बर ३१ का नतीजा जो बन्द लिफ़ाफ़े में मुहर लगाकर रख दिया गया है, ता० २५ फ़रवरी सन् १९३९ को सरस्वती-सम्पादकीय विभाग में ११ बजे दिन में सर्वसाधारण के सामने खोला जायगा। उस समय जो सज्जन चाहें स्वयं उपस्थित होकर उसे देख सकते हैं।

एक महान् संपादक

लेखक, श्रीयुत हरिकेशव घोष

सन् १९१० का शीतकाल था। एक दिन सवेरे ही मेरे पूज्य पिता ने बड़े भाई के साथ, मुझे उन महान् साहित्यिक का दर्शन कराया। उस पुण्य प्रभात की स्मृति अब भी मेरे मस्तिष्क में ताज़ी है। द्विवेदी जी ने मेरी पीठ पर हाथ फेरा; मुझे प्यार किया। उसी दिन से मैं उनका वात्सल्य-भाजन बन गया। शाम को वे घंटों मुझे राजपूताना के इतिहास की वीरतापूर्ण और शिक्षाप्रद कहानियाँ सुनाया करते थे। इलाहाबाद में कुछ दिन रुककर जब वे जुही को चले जाते थे तब भी हम उनके महान् व्यक्तित्व का अनुभव बहुत दिनों तक करते रहते थे। कानों में पड़े हुए उनके अमूल्य और उत्साहवर्द्धक उपदेश मुझे आज तक याद हैं। उनके वियोग की इस शोकपूर्ण अवस्था में मैं उन समस्त छोटी-छोटी घटनाओं का चित्र खींच सकता हूँ जिन्होंने द्विवेदी जी को हमारे इतने समीप कर दिया था। मेरे प्रकाशन-सम्बन्धी कार्यों में वे मुझे जीवनभर बराबर प्रोत्साहन देते रहे। उनकी बहुमूल्य शिक्षायें—जो मुझे हृदयङ्गम हो गई हैं—आज तक कार्य-सञ्चालन में मेरा पथ-प्रदर्शन करती हैं।

द्विवेदी जी और इंडियन प्रेस का सम्मिलन मैत्री और मेलजोल का एक लम्बा रेकार्ड है। एक आदर्श सम्पादक और प्रकाशक का इससे अच्छा सहयोग शायद ही कहीं देखने में आये। 'सरस्वती'-द्वारा हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य की उन्नति ही एक ऐसा आदर्श था जिसने इन दोनों महान् आत्माओं—मेरे पिता जी और द्विवेदी जी—को एक कर दिया। दोनों महापुरुष अपने जीवन के उद्देश्य में सफल हुए और उन दोनों के मिलन की स्मृति इस संस्था को क़ायम रखना मैं अपना कर्त्तव्य मानता हूँ।

द्विवेदी जी नियमों के कड़े पाबन्द और आदर्श सम्पादक थे। इन गुणों को देखते हुए उनकी स्थानपूर्ति हो सकना बहुत काल तक कठिन है। उनका स्वभाव दया-पूर्ण था; उनकी कार्यप्रणाली स्वच्छ थी और उनके उपदेश यथार्थ थे।

'सरस्वती'-विभाग का प्रत्येक व्यक्ति उन्हें श्रद्धा और स्नेह की दृष्टि से देखता था। यद्यपि अस्वस्थता के कारण 'सरस्वती' का सम्पादन वे जुही से करते थे पर मुद्रकों को सदा यही अनुभव होता था मानों द्विवेदी जी सामने मौजूद हैं। उनके पास से प्रकाशनार्थ आई हुई सामग्री इतनी शुद्ध और स्पष्ट होती थी कि उनसे किसी बात को दुबारा पूछने की ज़रूरत शायद ही पड़ती थी। वे ग़ज़ब के प्रूफ़ संशोधक थे। शैली, स्पेलिङ्ग और विरामचिह्नों की एक-रूपता का उन्हें बड़ा ध्यान रहता था। छापे की छोटी-से छोटी भूल भी उन्हें असह्य थी। उनके कठोर व्यक्तित्व ने साहित्यिक-जीवन के आरम्भ-काल में उनके कई आलोचक भी पैदा कर दिये थे। फिर भी, जब तक द्विवेदी जी को अपनी भूल का निश्चय न हो जाय, किसी के सामने झुकना उन्हें आता ही न था। फिर जिस विषय में उन्हें अपने 'ठीक' होने का निश्चय रहता था, उसमें वे तीव्र से तीव्र टिप्पणियाँ देने में भी हिचकते न थे।

यद्यपि तत्कालीन दक़ियानूसी लेखकों में वे इतने प्रख्यात न थे, पर हिन्दी-लेखक न जाने उन्होंने कितने पैदा कर दिये। वे लेखक, जिन्हें प्रोत्साहित करके द्विवेदी जी ने लिखना सिखाया, सदैव उनके समर्थक बने रहे। इस प्रकार उनके अनुयायियों की भी संख्या बहुत बड़ी थी। नये लेखकों का उत्साह बढ़ाने के लिए, द्विवेदी जी उनके लेख शुद्ध करके—और कभी कभी दुबारा स्वयं लिख कर—उनके नाम से छाप दिया करते थे। सरस्वती से अवकाश ग्रहण कर लेने के उपरान्त भी वे प्रायः उसमें अपने बहुमूल्य लेख भेजते रहे।

यद्यपि वे अब हमारे बीच में नहीं हैं फिर भी उनकी अदृश्य सत्ता और उनका आदर्श व्यक्तित्व चिर काल तक 'सरस्वती' के संचालन में पथ-प्रदर्शन करता रहेगा।

श्रद्धेय आचार्य श्री द्विवेदीजी

लेखक, श्रीयुत बाबा राघवदास

१९२९ की बात है। पूज्य महात्मा गांधी गोरखपुर आदि ज़िलों में खादी-सहायतार्थ दौरा कर चुके थे और उसी साल गोरखपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का वार्षिकाधिवेशन होनेवाला था। गोरखपुर के सभी मित्रों ने यह तय किया कि श्रद्धेय आचार्य द्विवेदीजी को सभापति बनाया जाय। और यह काम मुझे सौंपा गया कि मैं कानपुर जाऊँ और स्वर्गीय गणेशशंकर जी विद्यार्थी की सहायता से आचार्य जी को इस पद के लिए राज़ी करूँ। मैं कानपुर गया। श्री गणेश जी से मिला। श्री गणेश जी ने कहा—मैं इस कार्य में आपकी सहायता नहीं कर सकूँगा। आचार्य जी इस बारे में निश्चय कर चुके हैं, पर आप उनके पास जायँ और प्रयत्न करें। देखिए, क्या जवाब देते हैं।

श्री गणेश जी से दौलतपुर का रास्ता पूछकर मैं वहाँ गया। क़रीब ११ बजे बिन्दकी स्टेशन से पैदल चल कर गंगापार करके दौलतपुर पहुँचा। आचार्य जी मेरा नाम तो पहले से ही जानते थे। पास जाने पर वे मुझे पहचान गये और आने का कारण पूछा। मैंने उनसे कहा कि गोरखपुर के सभी मित्रों का सविनय आग्रह है कि आप सम्मेलन के अध्यक्ष होकर पधारने की कृपा करें। इस पर वे बोले कि भाई, मैं तो वृद्ध हो गया हूँ। मुझे अपना रोज़ का काम भी कठिन हो गया है। इस झंझट में कहाँ डालते हो! आदि। मेरे बार बार विनय करने पर भी उन्होंने असमर्थता प्रकट की। इसके बाद मैंने सन्देश माँगा जो उन्होंने लिखकर दे दिया।

दौलतपुर में जाकर वहाँ की सफ़ाई, पंचायत, पाठशाला आदि का प्रबन्ध देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई थी। आचार्य जी केवल हिन्दी के ही आचार्य नहीं थे, पर जिस ग्राम-सुधार-सेवा की चर्चा आज इतने ज़ोरों से हो रही है उसको उन्होंने अपनी वृद्धावस्था में आज से १० वर्ष पहले कर दिखाया था। वे जैसे लेखक थे, वैसे ही कर्मठ ग्राम-सेवक भी थे।

बरहज आश्रम में हम लोग हाथ से काग़ज़ बनाते हैं। इसकी सूचना हरिजनसेवक में प्रकाशित की गई। उसके प्रकाशित होते ही आचार्य जी का एक कार्ड मिला, जिसमें इस ग्रामोद्योग के लिए प्रसन्नता प्रकट की गई थी और १) का हाथ का काग़ज़ वी० पी० से माँगा था। पत्र पढ़कर मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। कहाँ हमारा यह प्राथमिक कार्य और कहाँ यह आचार्य जी के द्वारा मिला हुआ प्रोत्साहन! आचार्य जी नवयुवकों का उत्साह कैसे बढ़ाते रहे हैं, इसका यह एक सुन्दर उदाहरण है।

मैंने विचार किया कि श्री रामायण-प्रचार-समिति बरहज से जो हज़ारों छात्र रामायण-परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं उनको दिये जानेवाले प्रमाण-पत्रों पर अध्यक्ष की हैसियत से आचार्य से हस्ताक्षर कराया जाय। 'कल्याण'-सम्पादक श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार से इस विषय में बातें हुईं। आचार्य जी से पत्र-व्यवहार हुआ। बड़ी कठिनाई से वे राज़ी हुए। आश्रम से श्री पाठक जी रामायण-परीक्षा के सभी प्रमाण-पत्र लेकर गये और ५।६ दिन आचार्य जी के चरणों में बैठकर उनसे हस्ताक्षर कराये। आचार्य जी को इस कार्य में कष्ट हुआ, पर हमारे आग्रह को वे टाल न सके। रामायण-प्रचार-समिति के प्रमाण-पत्रों पर पहले-पहल आचार्य जी ने ही अध्यक्ष की हैसियत से हस्ताक्षर किये थे।

आचार्य जी को मराठी-भाषा से बहुत प्रेम था। मैं जैसे दौलतपुर पहुँचा और उनसे बातें करने लगा, वे बोले, आपकी बोली में मराठी-भाषा की बू आती है। मैंने कहा—"हाँ, मैं तो महाराष्ट्र का ही हूँ!" इस पर उन्होंने मुझसे मोरोपंत, एकनाथ, मुक्तेश्वर आदि कई प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय कवियों के बारे में कई प्रश्न पूछे। मैं उनके प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर न दे सका। मुझे उनकी मराठी में भी जो विशद जानकारी थी उसको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

उनका शिष्टाचार, वात्सल्य, ग्रामीणों के प्रति अपार प्रेम और विद्वत्ता देखकर उनके सामने बरबस सिर झुक जाता है।
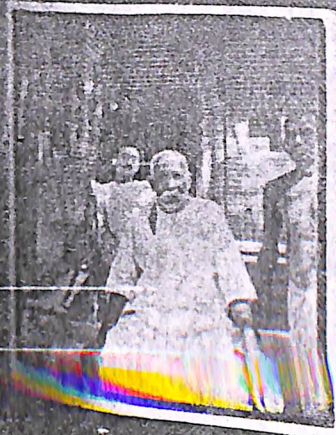
ऊपर बायें—द्विवेदी जी अपने प्यारे कुत्ते के साथ। ऊपर दाहने—द्विवेदी जी के दरवाज़े पर ग्राम-पाठशाला। बीच में—द्विवेदी जी अपने खेत के पास। नीचे बायें—द्विवेदी जी अपनी बैठक के बाहर। नीचे दाहने—द्विवेदी जी के उत्तराधिकारी पण्डित कमलाकिशोर त्रिपाठी।

आचार्य द्विवेदी जी अपने गाँव में वायुसेवन के लिए जा रहे हैं
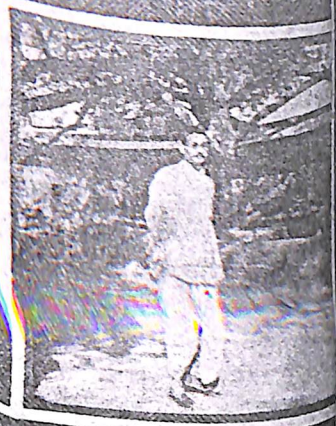
द्विवेदी जी सहृदय पुरुष

लेखक, पण्डित ज्वालादत्त शर्मा

बहुत सहृदय पुरुष थे, थोड़ी सी सचाई पर भी बहुत रीझ जाते थे और कपट की गन्ध पर खीज। जिसमें प्रेम का थोड़ा भी अंश पाते थे उसे अपना लेते थे, द्वेष की गन्ध पाते ही उसे तत्काल और सदा के लिए त्याग देते थे। 'सदा के लिए' उनकी विशेषता थी। अपने दिल के आइने को साफ़ रखना चाहते थे, सत्य और प्रेम की आभा से वह उज्ज्वल रहता था। ईर्ष्याद्वेष की धूल और मिथ्या कपट का धुवाँ उसके पास न आ जाय इस पर उनकी बड़ी कड़ी नज़र रहती थी। बालकों की तरह सरल, भक्तों की तरह नम्र और पण्डितों की तरह विवेकशील थे, साथ ही एक बार सोच-विचार कर जो निर्णय और तदनुसार निश्चय कर लेतें थे उसके पालन में पत्थर की तरह कठोर और हिमालय की तरह स्थिर हो जाते थे; आडम्बर से दूर रहते थे किन्तु सुव्यवस्था के स्वरूप थे, ख़ुशामद उनकी आदत में न थी; न करते थे न सुनना पसन्द करते थे किन्तु विनय और नम्रता के अवतार थे। विद्वान् उच्च कोटि के थे साथ ही निरभिमान भी परले सिरे के थे, भीतर से पक्के ज्ञानी भक्त थे किन्तु बाहर के मोहमुग्ध संसारी जीव थे। अन्तःकरण नवनीत की तरह कोमल और स्वच्छ था, बाहर से रूखे और कठोर से दिखाई पड़ते थे, उनमें जिन अलौकिक गुणों का समावेश हुआ था उसके कारण ही वे साधारण से असाधारण बने थे और उन्हीं के संग्रह और संरक्षण में उन्होंने अपने ढङ्ग से—दीखने में अद्‌भुत—परिसमाप्ति की। हाली के नीचे लिखे शेर उन पर पूरे घटते हैं—

> नुक्ता दाँ नुक्ता संज नुक्ता शनास,
> पाकदिल पाकज़ात पाक सिफ़ात।
> लाख मज़मून और उसका एक ठिठोल,
> सौ तकल्लुफ़ और उसकी सीधी बात।
> एक रोशन दिमाग़ था न रहा,
> शहर में एक चिराग़ था न रहा।
> नक़दे मानी का गंजदाँ न रहा,
> ख़ाने मज़मूँ का मेज़बाँ न रहा।
> कोई वैसा नज़र नहीं आता,
> वह ज़मीं और वह आस्माँ न रहा।
> ख़ाकसारों से ख़ाकसारी थी,
> सर बुलन्दों से इनकिसार न था।
> अब न दुनिया में आयँगे यह लोग,
> कहीं ढूँढे न पायँगे यह लोग।
> मज़हरे शान हुस्ने फ़ितरत था।
> मानिये लफ़्ज़ आदमीयत था।

श्रद्धा के फूल

लेखक, श्रीयुत श्रीचूड़ामणि शर्मा 'चातक'

> आज न घन-माला में मुकुलित सतरंगा सुर-चाप,
> आज न अपने में पाता हूँ परिचित प्रचुर प्रताप।
> मानस के कोने-कोने में श्याम अमा की रात,
> उर में चिर पतझर का नर्तन, नयनों में बरसात।
> विषमविषादाकुल मुखधूमिल सत्साहित्याकाश,
> हुआ तिरोहित तमसा-तट पर, रवि का प्रखर प्रकाश।
> मौन विवशता के अंचल से सजलनयन साहित्य,
> खोज रहा पश्चिम-जल-निधि में वह अपना आदित्य।
> बदल गया बस एक पलक में मधुवन का सब साज,
> पतझर के कर में कर देकर चले गये ऋतु-राज।
> सरस्वती-मन्दिर के तुम थे सुन्दर बन्दनवार,
> अर्पित हो सेवा में वन्दन-अभिनन्दन शत बार।

द्विवेदी जी का आचार्यत्व

लेखक, पण्डित केशवप्रसाद मिश्र काव्यतीर्थ

तीस-छत्तीस वर्ष की बात है। मैं संस्कृत का विद्यार्थी था। काशी में व्याकरण पढ़ता था। यों मेरी दुनिया ही दूसरी थी। मेरे संसार में हिन्दी का कोई स्थान न था। 'भाखा' कहकर उसे तुच्छ समझने-वालों की मण्डली में मेरे दिन बीतते थे सही, पर न जाने क्यों 'सरस्वती' मुझे बहुत अच्छी लगती थी। अवच्छेदकता-प्रकारता की गुलझटों से उचटता कि 'सरस्वती' में ग़ोते लगाता। 'सरस्वती' मेरे यहाँ नहीं आती थी, एक पड़ोसी की होती थी, इससे कभी कभी सूखा भी पड़ जाता था। पर किसी न किसी फेर से बिना अथ से इति तक चाटे मुझे चैन ही न पड़ता था। जब किसी परिचित का लेख या कविता पढ़ता तब मन के किसी कोने में एक आकांक्षा जाग उठती—काश मेरी भी कोई चीज़ 'सरस्वती' में निकलती!

यों ही दस वर्ष बीत गये। सन् १९१३ के दिसम्बर में आख़िर हिम्मत कर ही तो डाली। 'सुदामा' पर एक लम्बी तुकबन्दी लिखकर उत्साह से द्विवेदी जी के पास भेज दी और मान लिया कि अब पंच बराबर होने में बस सिर्फ़ एक ही महीने की देर है। 'सरस्वती' में मेरी 'कविता' निकली कि मैं लेखकों में गिना गया।

लेकिन द्विवेदी जी ने तुकबन्दी लौटा दी। लिखा कि इसमें ये दोष हैं, इन्हें दूर करके किसी और पत्रिका में प्रकाशित करा लो। मैंने ठीक करके उसे 'मर्यादा' में भेज दिया और वह यथासमय प्रकाशित भी हो गई।

हाँ, द्विवेदी जी ने मुझे उसी पत्र में यह भी लिखा था कि 'वर्त्तमान दुर्भिक्ष' पर एक अच्छी कविता भेजो तो मैं 'सरस्वती' में प्रकाशित कर दूँगा। इससे मेरा उत्साह भग्न नहीं हुआ, मेरी पहली कविता के लौट आने से उसे थोड़ी-बहुत ठेस भले ही लगी हो।

मैं रोम रोम से मा सरस्वती की वन्दना करने लगा, वरदे! शारदे! थोड़ी ही देर के लिए मुझ पर पसीज जा! मैं भी 'सरस्वती' का लेखक बन जाऊँ। मैंने तन-मन से दुर्भिक्ष पर कुछ पंक्तियाँ लिख डालीं। इनकी रचना में मुझे कुछ देर न लगी। फिर क्या था, तुरन्त ही द्विवेदी जी को भेज दीं। उन्होंने दाद दी और मैं उनकी दीक्षा से 'सरस्वती' का लेखक बन गया। थोड़े ही दिनों में द्विवेदी जी का यह पत्र आया कि "सरदार शहर राजपुताना के एक सज्जन तुम्हारी कविता से प्रभावित होकर तुम्हें ही स्वतः दुर्भिक्ष-पीड़ित समझ कर कुछ सहायता करना चाहते हैं। मैंने उन्हें सच्ची बात लिख दी है।"

कुछ दिनों के बाद जीविका के लिए मुझे इटावे में रहना पड़ा। द्विवेदी जी उन दिनों जुही, कानपुर, में ही रहते थे। मेरी इच्छा हुई कि एक बार द्विवेदी जी के दर्शन तो कर लूँ, इतना समीप आ गया हूँ। मैंने आज्ञा माँगी। उन्होंने लिखा—"आइए, ख़ुशी से आइए। पर आज-कल मेरे पास कोई आदमी नहीं। इसलिए तकलीफ़ का ख़याल कर लीजिएगा।" मैं तकलीफ़ का क्या ख़याल करता! संस्कृत का विद्यार्थी था। दूसरे ही दिन जा पहुँचा।

जाड़े के दिन थे। मैंने एक सज्जन को अमौवे की बंडी और पण्डिताऊ कन्टोप पहने चारपाई पर बैठे देखा। समझा, ये कोई ग्रामीण विद्वज्जन हैं और इनसे द्विवेदी जी का पता चलेगा। मैंने नाम बताया और द्विवेदी जी के दर्शनों की अभिलाषा प्रकट की। आचार्य उठ खड़े हुए और मुझे भुजाओं में समेट लिया।

जिस स्नेहसिक्त वात्सल्य का आलम्बन मैं उस दिन बन सका, शायद अब इस जीवन में मुझे उसकी अनुभूति न होगी।

बातें होने लगीं। आचार्य की सोई संस्कृत-सरस्वती जाग उठी। कितने काव्यों और शास्त्रों की चर्चा हुई, कह नहीं सकता। सायंकाल मैं बैठा कुछ देख रहा था। आचार्य सामने आये। मैं उठ खड़ा हुआ। बोले—

"विरम्यतां भूतवती सपर्या
निविश्यतामासनमुज्झितं किम्" (नैषधीयचरित)

मैं चकित होकर रह गया। बात बात में संस्कृत का प्रवाह! सच तो यह है कि उनके सत्संग में मैंने जो संस्कृत-सागर की लहरें लीं वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। गया था बारह घंटे के लिए, रह गया डेढ़ दिन!

सवेरे उठता हूँ तब देखता हूँ कि पानी का लोटा

लिये आचार्य स्वयं खड़े हैं। मैं लज्जा में डूब गया। बोले—वाह! तुम तो मेरे अतिथि हो!

दस बजे। द्विवेदी जी ने मुझे कुछ पुस्तकें दीं और कहा कि अब पाँच बजे तक मुझसे बातचीत न हो सकेगी, अब इन्हें पढ़ो और आर्मप्रेस के मैनेजर भगवान्दास जी से बातचीत करो।

द्विवेदी जी तो तल्लीन होकर 'सरस्वती' का सम्पादन करने लगे और मेरे वे घंटे दूभर हो गये।

रात्रि के समय द्विवेदी जी 'सैंटिफ़िक अमेरिकन' पढ़ते और उसके आधार पर वैज्ञानिक नोट लिखते। मैंने देखा, कितने ही नामी नामी लेखक किस प्रकार वहाँ सुधारे-सँवारे जाते हैं।

द्विवेदी जी कभी 'नियमनारायण शर्मा' के रूप में हिन्दी के अक्षरविन्यास को व्यवस्थित करते, कभी 'श्रीकण्ठ पाठक एम० ए०' होकर भाषा की मिट्टी पलीद करनेवालों को राह पर लाते, कभी 'भुजङ्गभूषण भट्टाचार्य' बनकर कथासाहित्य की नींव डालते तो कभी 'कश्चित् कान्यकुब्जः' का जामा पहनकर समाज को सुधारने का प्रयत्न करते। ऐसे थे वे सर्वाङ्गसेवक!

जो कुछ कहना होता, निर्भीक होकर कहते और किसी फिसलन में पड़कर अपने सिद्धान्तों से बाल भर न टलते।

आलोचना-प्रत्यालोचना के क्षेत्र में ही उनकी लेखनी का दिल खुलता और वे खुल खेलते। क्या मजाल कोई साहित्य-संसार में रत्ती भर भी अन्याय करने पाता। जहाँ जो सिर उठाता वहीं उस पर महावीर की चपेट पड़ती।

जैसे द्रोणाचार्य एकलव्य के गुरु थे, वैसे ही द्विवेदी जी को मैं अपना गुरु मानता हूँ। 'सरस्वती' से ही मैंने हिन्दी सीखी है और आज इतनी संस्कृत पढ़ने पर भी हिन्दी की ही रोटी खाता हूँ।

श्रद्धाञ्जलि

लेखक, श्रीयुत राजमणि शर्मा

खिला कविकुल-कुसुमों का पुञ्ज
बना नव गौरवमय साहित्य—
अचानक आह! हो गया अस्त,
वही हिंदी-जग का आदित्य।

रिझकर मा वाणी की गोद—
दुखो हिंदी-जग का परिवार
अमर-पद पाया उसने आज—
गया कर भवसागर को पार।

समर्पित श्रद्धाञ्जलि है आज,
उसे जो हम सबका आचार्य—
सतत सुरपुर हो अविचल वास,
शांति सद्गति पावे वह आर्य।

* साहित्यिक गोष्ठी कानपुर की शोक-सभा में पठित।

मेरे पथप्रदर्शक गुरु

लेखक, पंडित विश्वम्भरनाथ शर्म्मा कौशिक

हले-पहल द्विवेदी जी के दर्शनों का सौभाग्य मुझे सन् १९१२ में प्राप्त हुआ था। सन् १९०९ से 'सरस्वती' का ग्राहक था। सरस्वती का ग्राहक होने के पश्चात् मेरे हृदय में लेखक बनने की महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न हुई। परन्तु लिखूँ तो क्या लिखूँ ?

सन् १९१२ तक मैं इसी उधेड़-बुन में रहा। जब जब 'सरस्वती' का नया अङ्क आता तभी लेखक बनने का चाव उमड़ पड़ता, परन्तु चार-छः दिनों के पश्चात् फिर उस पर तुषार-पात हो जाता। अन्त को सन् १९१२ में बड़ा साहस करके मैंने एक कहानी 'नक़ली जन्टिल-मैन' के नाम से भेजी और धड़कते हुए हृदय से परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा। दस-बारह दिनों के पश्चात् कहानी वापस आई। उस समय मुझे जैसी निराशा हुई वह वर्णनातीत है। मैंने समझ लिया कि मैं इस जन्म में लेखक न बन सकूँगा और उसी दिन से लेखक बनने का ख़याल छोड़ दिया। परन्तु जब 'सरस्वती' का अङ्क आता तब उसे देखकर हृदय में एक टीस सी होने लगती थी। "ऐसी सुन्दर पत्रिका! ऐसे सुन्दर चित्र! ऐसा सुन्दर काग़ज़! ऐसी छपाई-सफ़ाई! आह! यदि इसमें मेरे लेख निकल सकते तो जन्म सफल हो जाता।"

अन्त को लेखक बनने की अन्तर्ज्वाला ने चैन से न बैठने दिया। इस बार ख़ूब सोच-समझकर यह निश्चय किया कि कहानी न लिख कर कोई ऐसा लेख लिखना चाहिए जो अवश्य ही छप जाय। अतएव 'एयर पंप' पर एक सचित्र लेख लिखा। ख़ूब रच रच कर लिखा—उसके चित्र भी स्वयम् ही बनाये, क्योंकि स्कूल में ड्राइङ्ग का अच्छा अभ्यास कर लिया था, और देवी-देवताओं का स्मरण करके उसे भेजा। उसका शीर्षक मैंने 'वायुपम्प' रक्खा था। लेख भेजकर आशा तथा निराशा के मध्य में झूलने लगा। एक सप्ताह व्यतीत होने पर भी जब कोई उत्तर न मिला तब बेचैनी पैदा हुई। यह तो ज्ञात था ही कि भाग्यविधाता (द्विवेदी जी) कानपुर में ही रहते हैं। अतएव दिल कड़ा करके यह निश्चय किया कि "चलो, ज़रा पता तो लगाओ कि छपेगा या नहीं! शायद आमना-सामना होने पर विधाता जी को कुछ दया आ जाय।" यह निश्चय करके जुही पहुँचा। सौभाग्य से द्विवेदी जी उस समय अकेले ही मिल गये। कमरे के बाहर एक खरहरी (बिना बिछौने की) चारपाई पर बैठे थे। शरीर पर एक बण्डी, घुटनों तक धोती, पैर में खड़ाऊँ! बैठे अपने विशाल उन्नत ललाट पर हाथ फेर रहे थे और कुछ ध्यान-मग्न से थे। मेरी आहट पाकर निगाह ऊपर उठाई। मैंने सकुचाते हुए कहा—"मैं द्विवेदी जी से मिलना चाहता हूँ।" आपने गम्भीरतापूर्वक एक कुर्सी की ओर (चारपाई के पास दो-तीन कुर्सियाँ रक्खी थीं) संकेत करते हुए कहा—"बैठिए! मैं ही द्विवेदी हूँ।" मैं हाथ जोड़कर संकुचित होता हुआ कुर्सी पर बैठ गया। क्या यह देहाती ही 'सरस्वती' का सम्पादक है!—यह विचार हृदय में उठा ही था कि द्विवेदी जी बोल उठे—"कहिए!" मेरी उनकी दृष्टि मिली। दृष्टि मिलते ही ऐसा प्रतीत हुआ, मानो किसी ने सिर पर हाथ रखकर नीचे को दाब दिया। मुझ पर उनका रोब छा गया। विशाल उन्नत ललाट की दमक, लम्बे बालों की घनी भौंहें, अन्तर्तल को छेदनेवाले नेत्र, घनी मूँछें, गम्भीर मुद्रा—इन सबका ऐसा प्रभाव पड़ा कि मेरी आँखों के सामने से बण्डी और ऊँची धोती लुप्त हो गई—केवल उनका रोबीला मुखमण्डल आँखों के सामने रह गया। उसे देखकर मैंने समझा कि मैं किसी बहुत बड़े आदमी के सामने बैठा हूँ। मैं बोला—"मैंने आपकी सेवा में एक लेख.........।"

"लेख का नाम क्या है?" द्विवेदी जी ने कहा।

"वायु-पम्प!" मैंने उत्तर दिया।

द्विवेदी जी की गम्भीरता मृदुता में बदल गई। किञ्चित् मुस्कराकर बोले—"हाँ वह लेख! वह लेख तो आप ही की तरह सुन्दर है।"

मैं इस वाक्य का तात्पर्य समझने की चेष्टा कर रहा था कि द्विवेदी जी पुनः बोले—"आपका लेख ख़ूब अच्छा है। मैं उसे छापूँगा।" कैसे मीठे थे वे शब्द!

ऐसे मीठे शब्द इतने जीवन में दो-चार बार ही सुनने को मिले। द्विवेदी जी मेरे लिए देवता थे और उनके शब्द वरदान। कुछ क्षणों तक स्तब्ध बैठा रहा। द्विवेदी जी ने पूछा—"पहले भी कभी कुछ लिखा है?"

"जी नहीं!"

यद्यपि मैंने एक उपन्यास लिखा था, जो मित्र-मण्डली में चक्कर काटते हुए वह खो गया, एक नष्ट वस्तु का ज़िक्र करके व्यर्थ में बात बढ़ाना रुचिकर प्रतीत न हुआ।

"आप ख़ासा लिखते हैं, लिखा करें!"

"लिखूँ क्या, यह समझ में नहीं आता!"

"रुचि किस ओर है?"

मैं अपनी रुचि बताते हुए झिझका। मेरी रुचि उपन्यास और गल्पों की ओर अधिक थी; क्योंकि उस समय स्कूली शिक्षा के अतिरिक्त केवल इन्हीं का अध्ययन बढ़ा हुआ था।

मैं सोच ही रहा था कि क्या कहूँ कि द्विवेदी जी ने दूसरा प्रश्न किया—"शिक्षा कहाँ तक पाई है?"

"मेट्रिक तक!" मैंने झेंपते हुए उत्तर दिया।

"क्या पढ़ना छोड़ दिया?"

"जी हाँ!"

"क्यों?"

"मेथेमेटिक्स (गणित) से तबीयत बहुत उलझती थी और उसी के कारण दो बार फ़ेल हुआ। तब से जी उचाट हो गया।" मैंने उत्तर दिया।

द्विवेदी जी मुस्कराये। मेरा साहस बढ़ा। मैंने कहा—"और सच तो यह है कि स्कूली शिक्षा में मेरा मन पूरी तरह कभी नहीं लगा।"

"कोई चिन्ता नहीं। बिना स्कूल की सहायता के भी बहुत कुछ पढ़ा जा सकता है—शौक़ होना चाहिए।"

"पढ़ता तो कुछ न कुछ रहता ही हूँ।"

"क्या पढ़ते हैं?"

इस बार साहस करके कह दिया—"अधिकतर तो उपन्यास और गल्पें ही पढ़ी हैं।"

"अच्छा! कौन कौन उपन्यास पढ़े हैं?"

मैंने अँगरेज़ी, हिन्दी, बँगला तथा उर्दू के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम बताये।

"उपन्यास तो ख़ूब पढ़े हैं।"

"जी हाँ। और लिखने की रुचि भी कुछ इसी ओर है।"

"बड़ी अच्छी बात है। छोटी छोटी कहानियाँ और गल्पें तो पढ़ी ही होंगी—वैसी ही लिखा कीजिए।"

"देखिए, प्रयत्न करूँगा।"

द्विवेदी जी सिर झुकाकर मस्तक पर हाथ फेरने लगे। कुछ क्षणों पश्चात् बग़ल से पानों की डिबिया उठाकर उसमें से दो पान निकाले और मुझे दिये। इसके पश्चात् बोले—"मैं एक मिनिट में आता हूँ।" यह कहकर उठे और कमरे के अन्दर चले गये। लौटकर एक पुस्तक हाथ में लिये हुए आये। चारपाई पर बैठकर बोले—"बँगला तो आप जानते ही हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गल्पें पढ़ी होंगी—उन्हीं की गल्पों का यह संग्रह है। इसमें से कोई एक गल्प जिसे आप सबसे अच्छी समझें, हिन्दी में अनुवाद करके मुझे दें—मैं उसे छापूँगा। लेकिन इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तक में कहीं क़लम या पेन्सिल का निशान लगाइएगा, न स्याही के धब्बे पड़ने दीजिएगा, न पृष्ठ मोड़िएगा।"

इतनी पाबन्दियाँ सुनकर मैं घबराया; परन्तु लेखक बनने के उत्साह में मैंने तुरन्त यह सोच लिया कि यदि आवश्यकता पड़ेगी तो नई पुस्तक ख़रीद कर दे दूँगा। पुस्तक को मैंने बहुत सँभाल कर लिया और खोलकर देखा तो 'षोडशी' नामक संग्रह था। मेरा पढ़ा हुआ था। इसके पश्चात् थोड़ी देर और बैठा। द्विवेदी जी ने मेरा अधिक परिचय जानने की इच्छा प्रकट की। मैंने इन्हें अपना विस्तृत परिचय बताया। इसके पश्चात् विदा माँगी। उन्होंने फिर दो पान दिये। मैं चलने लगा तो बोले—"ख़ूब पढ़ा कीजिए! केवल उपन्यास और गल्पें ही नहीं, अन्य विषयों की पुस्तकें भी पढ़ा कीजिए।"

मैं उनकी बात शिरोधार्य्य करके विदा हुआ। द्विवेदी जी के दर्शन करने का यही मेरा पहला अवसर था।

तब से मैं बराबर मौलिक कहानियाँ लिखकर देने लगा और द्विवेदी जी उन्हें प्रकाशित करने लगे। कभी कभी कोई अँगरेज़ी अथवा बँगला का लेख मुझे अनुवाद करने के लिए दे दिया करते थे। मैं अनुवाद करके दे देता था। उसे वे मूल लेखक के नाम से ही प्रकाशित किया करते थे—अनुवादक के स्थान में मेरा नाम नहीं देते थे। मैंने कभी इस बात की इच्छा भी प्रकट नहीं की कि

अनुवादक की हैसियत से मेरा नाम दिया जाय। एक दिन अपने-आप ही बोले—"मैं अनुवादक की जगह आपका नाम नहीं देता हूँ। आपको बुरा तो नहीं लगता ?

मैंने हाथ जोड़कर कहा—"बिलकुल नहीं! मुझे विश्वास है कि आप मेरे लिए जो उचित समझेंगे वही करेंगे।"

बोले—"अब तो आप मौलिक लिखने लगे—अब आपका नाम अनुवादक में अच्छा नहीं लगेगा, इसी लिए मैं नहीं देता।"

मेरी तीन-चार कहानियाँ तथा लेख प्रकाशित होने के पश्चात् एक दिन बोले—"आप 'सरस्वती' ध्यान से नहीं पढ़ते।"

मैं घबराकर बोला—"पढ़ता तो हूँ।"

"पढ़ते होते तो 'सरस्वती' की लेखनशैली की ओर आपका ध्यान अवश्य जाता। 'सरस्वती' की अपनी निजी लेखनशैली है। वह मैं आपको बताता हूँ। देखिए—लेने के अर्थ में जब 'लिये' शब्द लिखा जाता है तब 'यकार' से लिखा जाता है और जब विभक्ति के रूप में आता है तब 'एकार' से लिखा जाता है। जो शब्द एक वचन में यकारांत रहते हैं वे बहुवचन में भी यकारान्त ही रहेंगे। जैसे 'किया' 'किये' 'गया' 'गये', परन्तु स्त्रीलिङ्ग में 'गयी' न लिखकर ईकार से 'गई' लिखा जाता है। 'कहिए', 'चाहिए', 'दीजिए' इत्यादि में 'एकार' लिखा जाता है। अकारान्त शब्दों का बहुवचन एकारांत होता है। जैसे, 'हुआ' का बहुवचन 'हुए'। जहाँ पूरा अनुस्वार बोले वहाँ अनुस्वार लगाया जाता है। जैसे 'संस्कार' और जहाँ आधा अनुस्वार, जिसे उर्दू में 'नून गुन्नः' कहते हैं, बोले वहाँ चन्द्र-बिन्दु लगाया जाता है—जैसे 'काँपना'। सम्भव है, मेरी इस शैली से आपका मतभेद हो; परन्तु प्रार्थना यह है कि 'सरस्वती' के लिए जब लिखिए तब इन बातों का ध्यान रखिए। इससे मुझे बड़ी सुविधा हो जायगी। मुझे जितनी ही सुविधा आपकी ओर से मिलेगी, उतना ही मेरा हृदय आपको आशीर्वाद देगा।"

मेरी आँखें सी खुल गईं। 'सरस्वती' पढ़ते कई बरस हो गये थे, पर इन बातों की ओर कभी ध्यान ही न गया था। तब से मैं आज तक द्विवेदी जी की बताई हुई शैली ग्रहण किये हुए हूँ।

इसके पश्चात् तो उनकी सेवा में उपस्थित होने का सौभाग्य ख़ूब ही प्राप्त होता रहा।

मुझ पर उनका बड़ा स्नेह था।

उनकी बातों का कहाँ तक वर्णन किया जाय! सब बातें लिखी जायँ तो एक पुस्तक तैयार हो जाय। उनकी सेवा में मेरे जीवन के जो क्षण व्यतीत हुए हैं वे मेरे जीवन की सुखद स्मृतियाँ हैं। परमात्मा इन स्मृतियों को अमिट रक्खे और इन स्मृतियों को अङ्कित करनेवाले उस महापुरुष को परमपद प्रदान करे।

'श्रद्धेय द्विवेदी जी के प्रति'

लेखक, श्रीयुत दलमर्दनसिंह राठौर

ओ हिन्दी के तुम पुण्य-प्राण!
इस भूमण्डल के मधुर गान!
तुमने उस पल्लव को सींचा
जब सोते थे सब नर अजान।
हम सब रोते गाते केवल
रह जाते अपनी हार मान॥

तुमन अपनी लघु असि से ही
काटे झाड़ झंखड़ महान।
ओ हिन्दी के तुम पूज्य-प्राण!
हम आज व्यथित, एकाकी हैं
तुम हाय कर गये हो प्रयाण!
अब हमको कौन बढ़ायेगा,

देकर नित नव उत्साह दान!
ओ हिन्दी के तुम पर्व-प्राण!

सम्पादकाचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संस्मरण

लेखक, साहित्य-भूषण पण्डित द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी

जो जन्मा है वह कभी न कभी निधनत्व को भी अवश्य प्राप्त होगा। यह ईश्वरीय नियम है और सबके लिए अनिवार्य है। यह जानते हुए भी हम लोगों को अपने किसी आत्मीय अथवा किसी प्रियजन के पञ्चत्व को प्राप्त होने पर शोक हुए बिना नहीं रहता। एक साहित्य-सेवी के नाते द्विवेदी जी प्रत्येक हिन्दी-साहित्य-सेवी एवं अनुरागी के परम प्रिय बन्धु थे, अतः अपने एक परमप्रिय बन्धु के वियोग का दुःखद दुस्संवाद सुन आज प्रायः समस्त हिन्दी-भाषा-भाषी शोकग्रस्त हैं। द्विवेदी जी यद्यपि पौन सौ वर्षों का वय प्राप्त कर स्वर्ग को सिधारे हैं, तथापि उनका हमसे सदा के लिए वियोग हमको अधिकाधिक इसलिए अखर रहा है कि उनके चले जाने से हमारी जो क्षति हुई है उसकी पूर्त्ति का कोई साधन देख नहीं पड़ रहा है।

द्विवेदी जी से हमारी सर्वप्रथम भेंट महोबा के स्टेशन पर उस समय हुई थी जब उनका नाम हिन्दी-संसार में अप्रसिद्ध था। उस समय वे इण्डियन मिडलैंड रेलवे में हेड टेलीग्राफ इंस्पेक्टर थे और हमारे एक चचेरे भाई वहाँ तार बाबू थे। द्विवेदी जी वहाँ इंस्पेक्शन करने आये थे और हम वहाँ अपने भाई के पास थे। हमारे माथे पर लगे ऊर्ध्वपुण्ड्र ने द्विवेदी जी का ध्यान हमारी ओर बलात् आकर्षित किया और कुछ ही क्षणों के परस्पर वार्त्तालाप के अनन्तर हम दोनों के हृदयों में एक दूसरे के लिए स्थान हो गया। ब्राह्मणोचित कर्त्तव्यों की चर्चा चल पड़ी और द्विवेदी जी ने सन्ध्योपासन की आवश्यकता और महत्त्व बतलाते हुए अघमर्षण-मंत्र की हृदयग्राही युक्तियुक्त व्याख्या की। अन्त में हमारे नित्यानुष्ठान की बातें सुनकर आप हम पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उपहार-स्वरूप हमें एक प्रति गायत्री-पञ्चाङ्ग की दी, जो आज तक हमारे पास है। द्विवेदी जी इसके बाद झाँसी लौट गये और हम कुछ दिनों के बाद महोबा से इटावे चले आये। तब से कितने ही वर्षों तक हम दोनों एक दूसरे को भूले से रहे। फिर जब द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन-भार ग्रहण किया और हमें प्रयाग में सिविलसर्जन के दफ़्तर में काम मिला तब एक दिन अचानक कटरे के चौराहे पर द्विवेदी जी हमें मिले। पूर्व-परिचय का स्मरण कराते ही सहृदय द्विवेदी जी बड़े आग्रह के साथ हमसे वैसे ही मिले, जैसे चिर काल के बिछुड़े दो सहोदर भ्राता मिलते हैं। इस बार द्विवेदी जी ने हमें अपनी फुटकर कविताओं का संग्रह जिसे जयपुर के मिस्टर जैन वैद्य ने 'काव्य-मञ्जूषा' के नाम से प्रकाशित किया था, दिया। पुस्तक हाथ में आने पर हमारी उत्सुकता इतनी बढ़ी कि हम द्विवेदी जी के सामने ही एक बार उस पुस्तक के सब पन्ने उलट गये और हमें बड़ी प्रसन्नता हुई।

सन् १९१० में हम इटावे आते हुए कार्यवश कानपुर गये और द्विवेदी जी से मिले। इस बार आपने हमें निज-रचित 'सम्पत्ति-शास्त्र' की एक प्रति दी। सन् १९११ में हमने अपनी समझ के अनुसार इस पुस्तक पर एक प्रलम्ब आलोचना लिखकर द्विवेदी जी के पास भेजी। उसे पढ़कर द्विवेदी जी ने एक लम्बा पत्र हमें लिखा। वह पत्र इस समय हमारे पास नहीं है, किन्तु उसका सारांश याद है। उन्होंने लिखा था कि जहाँ परस्पर प्रेम होता है वहाँ

> "गवर्नमेंट की नीति यह होना चाहिए कि जहाँ तक संभव हो, सभी शिक्षा देशी भाषाओं द्वारा दी जाय। बच्चे जो विषय हिन्दी भाषा में आसानी से समझ सकते हैं उन्हें अँगरेज़ी में पढ़ाना उनका समय और स्वास्थ्य ख़राब करना है।"
>
> आचार्य द्विवेदी जी, अप्रैल १९१५

स्तविक दोष भी गुण ही जान पड़ते हैं। तुम्हारी लिखी शंसा के योग्य वह पुस्तक नहीं है। द्विवेदी जी ने इस त्र में हमें मुक्तकण्ठ से धन्यवाद तो अनेक दिये, किन्तु मारी उस आलोचना को प्रकाशित न किया।

द्विवेदी जी ने रामायण एवं महाभारत पर भी लेख खे। इन लेखों को पढ़ औरों की बात नहीं कहते, हम यं द्विवेदी जी के धार्मिक विचारों के सम्बन्ध में भ्रम में ड़ गये और कई एक वर्षों तक उनके सम्बन्ध में हमारी रणा विपरीत बनी रही। जब द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' सम्पादन-कार्य से अवकाश ग्रहण किया तब एक बार नपुर में हमारी उनसे अचानक भेंट हो गई और वे बड़े ग्रह के साथ हमें अपने आवस-स्थान पर लिवा ले गये। न दिनों वे श्रीमद्भागवत का नित्य स्वाध्याय किया रते थे। अतः जब तक हम उनके पास रहे तब तक सी की चर्चा होती रही। वृत्रासुरकृत स्तुति के तिपय श्लोकों को पढ़ते समय द्विवेदी जी की दशा क वैसी ही हो गई, जैसी भगवन्नाम-कीर्त्तन रते समय गौराङ्ग महाप्रभु की हुआ करती थी। नके नेत्रों से अविरल अश्रुप्रवाह हो रहा था, और गवद्भक्ति में वे विभोर हो उठे थे। यह देख हम अपनी र्व-धारणा को बदलने के लिए केवल हठात् बाध्य हो न ए, प्रत्युत हमें इस भागवतापचार के प्रशमनार्थ प्रायश्चित्त-प द्विवेदी जी से क्षमायाचना भी करनी पड़ी। बनावटी और सच्ची बात छिपाये नहीं छिपती—अतः हमारे उस च्चे पश्चात्ताप को देख द्विवेदी ने हमें अपने कण्ठ से गाया और कहा—चतुर्वेदी जी! अकेले आप ही को नहीं, मारे अनेक परिचित व्यक्तियों को भी ऐसा ही भ्रम है। र हमें इस बात से परम सन्तोष है कि आपका भ्रम ज दूर हो गया। हम द्विवेदी जी की इस उदारता से ज्जावनत थे। अतः हमारा ध्यान बटाने को द्विवेदी जी ने र्तालाप का प्रसङ्ग बदल दिया। द्विवेदी जी का वर्त्ताव भी कभी बड़ा रूखा अवश्य होता था, जिससे अनेक ोग, हमारी तरह, धोखा खा जाते थे। परन्तु वास्तव में द्विवेदी जी बड़े ही सहृदय, बड़े ही उदार थे और उनका दय बड़ा कोमल था।

द्विवेदी जी सस्ती ख्याति, मानप्रतिष्ठा और हिन्दी-साहित्य-आडम्बर से भागते थे। सम्मेलन के सभापति बनने को द्विवेदी जी से कितनी ही बार साग्रह अनुरोध किया गया, किन्तु उन्होंने कभी स्वीकृति ही न दी।

प्रायः गत ४० वर्षों से द्विवेदी जी हमें जानते थे। हमारा पौत्र चिरंजीवी उपेन्द्रनाथ रायबरेली में सबडिप्टी इंस्पेक्टर है। वह कभी कभी दौलतपुर द्विवेदी जी के दर्शन करने जाया करता था। जब जब वह मिलता, द्विवेदी जी हमारा स्मरण अवश्य करते और हमारा क्षेमकुशल-समाचार पूछा करते थे। हमने द्विवेदी जी को सहृदय, विनम्र और परदुःखकातर एवं मिलनसार पाया। उनसे वार्त्तालाप करने में बड़ा आनन्द प्राप्त होता था। मौक़े मौक़े पर वे उपयुक्त श्लोक पढ़ दिया करते थे। उनका संस्कृत के शब्दों का उच्चारण अत्यन्त शुद्ध और स्पष्ट होता था। वे जनसमुदाय से घबराते थे। अतः उनके जीवन का अधिक भाग एकान्त में ही व्यतीत हुआ था। उनका जीवन स्वावलम्बन और स्वाभिमान का जीवन था। न दैन्यं न पलायनं उनके जीवन का सिद्धान्तवाक्य था। सरस्वती को प्रथम श्रेणी का मासिक-पत्र बनाने में द्विवेदी जी को बड़ा परिश्रम करना पड़ा।

उनकी लेखनशैली बड़ी प्रभावोत्पादक थी। क्लिष्ट विषयों को सरलता से समझाने की असाधारण शक्ति उनमें थी। उनका ध्यान पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर उतना नहीं रहता था, जितना लेख को सुबोध बनाने की ओर रहता था। लेख को सुबोध बनाने के लिए वे अरबी, फ़ारसी, उर्दू, अँगरेज़ी के शब्दों का प्रयोग निस्सङ्कोचभाव से करते थे। व्यंग्यपूर्ण लेख लिखने में द्विवेदी जी बड़े पटु थे।

सम्पादकाचार्य द्विवेदी जी में अनेक गुण और विशेषतायें थीं। उन सबका उल्लेख यदि किया जाय तो एक पोथा तैयार हो जाय। ऐसे एक असाधारण एवं उत्कृष्ट विद्वान् का इस संसार से उठ जाना किसे विकल न करेगा! यद्यपि द्विवेदी जी का भौतिक शरीर अब इस संसार में नहीं, तथापि वे जो कुछ छोड़ गये हैं वही उनका नाम इस जगत् में स्थायी बनाये रखने को यथेष्ट है। दयालु भगवान् इस साहित्यसेवी को परलोक में सुखशान्ति प्रदान करें।

हा द्विवेदी जी!

लेखक, पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

माननीय पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के पुण्डरीकाक्षपुर-गमन से हिन्दी-संसार की जो हानि हुई है वह वर्णनातीत है। जो स्थान रिक्त हुआ है उसका पूर्ण होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। द्विवेदी जी अपने ढंग के एक ही थे। वे बड़े परिश्रमी, अध्यवसायी और उद्योगी थे। केवल निज उद्योग से उन्नति किस तरह की जाती है, इसके वे आदर्श थे। नवयुवकों को उनके चरित से शिक्षा लेनी चाहिए।

> "भारत इन्हीं गन्दे गाँवों के अस्तित्व के कारण आबाद है जहाँ निरक्षरता का समुद्र उमड़ रहा है। इन्हीं में शिक्षा-प्रचार करने से भारत की उन्नति होगी। यह बात ध्रुव सत्य है।"
>
> आचार्य द्विवेदी जी, जुलाई १९१४

हिन्दी की सेवा उन्होंने खूब की और शिक्षित युवकों को भी इसके लिए उत्साहित ही नहीं किया, उन्हें सुलेखक और सुकवि भी बनाया। उनके अनुयायियों की संख्या यथेष्ट है। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में युवकों की रचनायें छापकर उन्हें उत्साहित और सुप्रसिद्ध किया। द्विवेदी जी-रचित 'बेकन-विचार-रत्नावली' आदि की भाषाशैली और 'सरस्वती' के पिछले लेखों की शैली में आकाश-पाताल का अन्तर है। शैली में शनैः शनैः कैसे सुधार हुआ है, यह उनके पढ़ने से ही प्रकट हो जायगा।

राय बहादुर श्री श्यामसुन्दरदास जी के बाद द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक होकर उसे सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने के लिए विविध विषयों के लेख लिखा करते थे। 'भारतमित्र' में प्रतिमास 'सरस्वती' की समालोचना हुआ करती थी। 'भाषा की अनस्थिरता' आदि इसके प्रमाण हैं।

मेरी और द्विवेदी जी की खूब छेड़-छाड़ चलती थी। मैं 'भारतमित्र' में लिखता और वे 'सरस्वती' में। उनकी 'कालिदास की निरङ्कुशता' और मेरा 'निरंकुशता-निदर्शन' इसका प्रमाण है। इसके सिवा और भी लिखा-पढ़ी हुई थी, जिसकी चर्चा फिर कभी की जायगी। यह सब होने पर भी मेरे उनके मित्रभाव में कभी अन्तर नहीं पड़ा। मैं जब कानपुर जाता तब उनके दर्शन अवश्य करता और वे भी बड़े सद्भाव से मिलते थे। घंटों बात-चीत होती थी। ये सब बातें यादकर सचमुच दुःख होता है। उनसे छेड़-छाड़ करने में भी मज़ा आता था, क्योंकि वे भी तुर्की-बतुर्की जवाब दिये बिना नहीं रहते थे। अब न वह समय है और न वे मनुष्य ही हैं जिनसे छेड़-छाड़ की जाय।

अस्वस्थ और निर्बल होने के कारण और अधिक न लिख सका। द्विवेदी जी के सम्मानार्थ ही ये कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं।

सवैया

लेखक, श्रीयुत हरिनाथ

रवि प्रेम के चंदै न मंद करै,
जयशंकरै सम्भु प्रचारं नहीं।
निसानाथ सौं पद्म सकोचिकै आपु,
अलोचना आयुध डारैं नहीं॥

यहै देखै दुवेदी गये, नवनीत,
गुरू समुहे पग टारैं नहीं॥
कविता के विवादीन मैं कवि सौं
रतनाकर जू कहूँ हारैं नहीं॥

आचार्यदेव

लेखक, श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त

मैं जब और कुछ न बन सका तब मैंने कवि बनने की ठानी। हाय, कहीं सब पोले बाँस वेणु बन सकते हैं!

एक जन, जो गधे पर बैठने की भी योग्यता न रखता था, बनानेवालों के बढ़ावे में आकर घोड़े पर चढ़ बैठा। घोड़ा भी ऐसा जो धरती पर पैर ही न रखना चाहता था। ऐसा आरोही तो उसके लिए अपमानजनक था। परन्तु क्या जानें, घोड़े को भी विनोद सूझा और वह उसे एक वर्जित स्थान में ले दौड़ा। वहाँ का प्रहरी सतर्क होकर चिल्लाया—सावधान! परन्तु आरोही सावधान होकर भी क्या करे? तब प्रहरी ने शस्त्र सँभालकर कहा—अच्छा, चला आ—ऐसे ही! अब आरोही चिल्लाया—दुहाई आपकी! मैं स्वयं नहीं आ रहा हूँ, यह दुर्मुख मुझे लिये आ रहा है! प्रहरी भी समझ गया और जिसे अनधिकार प्रवेश करने का दण्ड देने जा रहा था उस भाग्यहीन अथवा भाग्यवान् की उसे उलटी सँभाल करनी पड़ी।

कवि तो बनाये नहीं जाते, परन्तु कोप-भाजन होने योग्य होकर भी मैं पूज्य द्विवेदी जी महाराज का अनुग्रह-भाजन हो गया। इससे बढ़कर किसी का क्या सौभाग्य होगा?

पैंतीस-छत्तीस वर्ष पहले की बात है। मैं कुछ पद्य बनाने लगा था। पण्डित जी उन दिनों झाँसी में ही थे। उनका नाम मैं सुन चुका था और उनकी 'सरस्वती' के दर्शन भी मैंने पा लिये थे। मेरे मन में प्रश्न उठा—क्या 'सरस्वती' में अन्य कवियों की भाँति मेरा नाम नहीं छप सकता? इसका उत्तर अपने ही दीर्घ निःश्वास के रूप में मुझे मिल जाना चाहिए था। परन्तु लड़कपन अल्हड़ होता है और दुस्साहसी भी।

पिता जी के साकेतवास के पीछे, उनके नाते कृपा बनाये रखने के प्रार्थी होकर, अपने काका जी के साथ हम लोग पहली बार कलक्टर साहब को जुहारने झाँसी गये थे। मेरे जाने का प्रधान उत्साह और ही था। भीतर भीतर 'सरस्वती' में अपना नाम छपाने का डौल लगाने की लालसा से, और बाहर बाहर ऐसे महानुभाव के दर्शन करने की इच्छा से, अपने अग्रज को साथ लेकर मैं पण्डित जी के स्थान पर पहुँचा। घर छोटा ही था। द्वार पर बाँस की सींकों की बनी लिपटी हुई चिक बँधी थी, जिसकी गोट का हरा कपड़ा कुछ फीका पड़ चला था। एक ओर उनके नाम की पट्टी लगी थी। दूसरी ओर भी एक पटली थी। उसमें लिखा था—सवेरे भेंट न होगी। हम लोग इस बात को सुन चुके थे, अतएव तीसरे पहर गये थे। तब भी वे आफ़िस से नहीं लौटे थे। छोटे से उसारे में एक बेंच पड़ी थी। उस पर हम बैठ गये।

> "अपने देश, अपने प्रान्त और अपने जन-समुदाय के सर्वाङ्गीण कल्याण की रामबाण औषध है हिन्दी भाषा का प्रचार।"
>
> आचार्य द्विवेदी जी, अप्रैल १९१५

भीतर कमरे में खुली अलमारियों की पुस्तकों की दूसरी दीवार-सी बनी थी। बाईं ओर के पक्खे से सटकर एक पलँग पड़ा था। उस पर लपेटे हुए बिछौने ने लोड़ का रूप धारण कर रक्खा था। दाईं ओर के पक्खे से लगी दो-तीन कुर्सियाँ पड़ी थीं। बीच के रिक्त स्थान में पलँग से कुछ हटकर प्रवेशद्वार के खुले किवाड़ को छूता हुआ एक छोटा-सा टेबुल या चेयर डेस्क था। उसके सामने भी एक कुर्सी पड़ी थी। टेबुल लिखने-पढ़ने की सामग्री से भरा था, परन्तु सब सामग्री बड़े ढंग से सजाई गई थी। प्रवेश-द्वार के सामने ही भीतर जाने का द्वार था। उसी से एक मँझरौरिया दिखाई देती थी। सारा स्थान बहुत ही परिष्कृत, स्वच्छ और शान्त-कान्त दिखाई पड़ता था। तो भी पण्डित जी के आने का समय निकट जानकर घर की परिचारिका हाथ में गमछा लिये उसे कमरे में इधर-उधर फटकार रही थी। ऐसा जान पड़ता था मानो यह एक नियम है, जिसे आवश्यक हो या न हो, पूरा करना ही चाहिए। ऐसी समझदार और कुशल सेविकायें बिरली ही होती हैं। बड़ी अपनाहट के साथ उसने हम लोगों का स्वागत

सत्कार किया। उसकी मृत्यु होने पर पण्डित जी ने मुझे यथार्थ ही लिखा था—ऐसा जन अब मिलने का नहीं।

तनिक देर पीछे उसने एक बार इधर-उधर देखा। फिर उसारे से नीचे उतरकर कुछ दूर तक पण्डित जी के आने का मार्ग भी बुहार दिया। इतना करके मानो वह उस समय के कार्य से निश्चिन्त हो गई। उसी समय पण्डित जी आते हुए दिखाई दिये। व्यक्तियों की विशिष्टता मानों उनके आगे चलती है। हम लोगों ने देखते ही समझ लिया, यही पण्डित जी हैं, यद्यपि बिना पगड़ी के मैं पण्डितों का अनुमान ही न कर सकता था और उनके सिर पर टोपी थी। मैंने सन्ध्या-समय दफ़्तर से लौटते हुए बहुत से बाबुओं को झाँसी में ही देखा था। परन्तु पण्डित जी जैसा कोई बाबू न देखा था। जान पड़ा, 'बाबू' के वेश में वे कोई 'साहब' हैं। विलायती साहब बहादुर से तो हम लोग मिल ही चुके थे। उसका जो तेज था वह बहुत कुछ उसके अधिकार के कारण था, पण्डित जी का प्रताप सर्वथा व्यक्तिगत। हम लोग ससम्भ्रम उठ खड़े हुए। जाड़े के दिन थे। वे हलके कत्थई रङ्ग का नीचा ऊनी कोट या अचकन पहने थे और ऊनी ही सफ़ेद फलालैन का पतलून जैसा पाजामा। बायें हाथ में कुछ काग़ज़-पत्र लिये थे, दायें में छड़ी। दफ़्तर से लौटनेवालों के विपरीत अनातुर धीर गति से पैदल आ रहे थे, ऐसे मानो अभी सवारी से उतरे हों! आफ़िस दूर न था, और पैदल आने-जाने से वे छोटे नहीं होते थे, क्योंकि स्वभावतः बड़े थे। झूठे सम्मान के पीछे वे टहलने के सुयोग से वंचित क्यों होते जब सच्चा सम्मान उन्हें सुलभ था? ऊँचे ललाट के नीचे घनी और मोटी भौंहें उसके अनुरूप ही थीं। उनकी छाया में विशेष चमकती हुई आँखें बड़ी न होने पर भी तेज से भरी दिखाई देती थीं। पण्डित जी वेश-भूषा से सुसंस्कृत, आकृति से गौरवशाली और प्रकृति से गम्भीर तथा चिन्तनशील जान पड़ते थे। हम लोगों का प्रणाम स्वीकारकर और हम पर एक दृष्टि डालकर वे कमरे के भीतर जाकर ही रुके। वहाँ इधर-उधर देखकर और तुरन्त ही 'आइए' कहकर उन्होंने हमें भीतर बुलाया। जब तक हम कमरे में पहुँचे तब तक छड़ी और काग़ज़-पत्र यथास्थान रखकर उन्होंने अपनी टाइम-पीस घड़ी उठा ली थी और उसमें ताली देना आरम्भ कर दिया था। वे बड़े ही नियमबद्ध थे और सम्भवतः आफ़िस से लौटकर घड़ी कूकने का समय उन्होंने बाँध रक्खा था।

"बैठिए" सुनकर भी हम लोग खड़े ही रहे। हमारा भाव समझकर घड़ी रखते हुए वे पलँग पर बैठ गये। सामने की कुर्सियों की ओर हाथ बढ़ाते हुए फिर स्निग्ध स्वर में बोले—बैठिए। हम लोगों के नाम और परिचय से वे कुछ आकर्षित से हुए और हाल ही में हमें पितृहीन हुआ सुनकर सहानुभूति प्रकट करने लगे। पिता जी की अनन्यभक्ति की चर्चा के प्रसङ्ग में उन्होंने यह पूछा कि आप लोग किस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। 'विशिष्टाद्वैत' सुनकर बोले—हाँ। बहुत दिन पीछे प्रसिद्ध विद्वान् माननीय 'बार्हस्पत्य' जी से जब मैं पहली बार मिला तब उन्होंने भी मुझसे यही पूछा था और उत्तर सुनकर कहा था, हम विशिष्टाद्वैत मत के तो नहीं हैं, पर अच्छा उसी को मानते हैं। यह कहकर वे मुसकराने लगे थे। मैं भी उन्हीं का अनुसरण करके हँस गया था। पण्डित जी ने हाँ कहते हुए अपना सम्प्रदाय भी बताया था, सम्भवतः—वल्लभ। इसी सम्बन्ध में उन्होंने एक बार कहा था, हमारे पिता कुछ लिखने के पहले लिखा करते थे—'श्री ल[illegible]लेश्वराय नमः।' परन्तु अब हम देखते हैं, यह 'लाड़ले' औ[illegible] 'ईश्वर' का संधि-संयोग ही ठीक नहीं है!

पण्डित जी से हम लोगों की बातचीत आरम्भ [illegible] हुई थी, इतने में भीतर से एक सुन्दर और हृष्टपुष्ट बिल्ली आई और उछलकर पण्डितजी की गोद में आ बैठी। उनके कण्ठस्वर से उन्हें आया जानकर ही वह भीतर से दौड़ आई थी। पशु-पक्षी मैंने भी पाले हैं, परन्तु पली बिल्ली मैंने पहले-पहल वहीं देखी थी। मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। मैंने देखा, पण्डित जी धीरे धीरे उसे हाथ फेर रहे हैं और वह हर्ष और गर्व से एक असाधारण शब्द कर रही है। जो लोग पक्के गाने से चिढ़कर उसे बिल्लियों का लड़ना कहते हैं वे कहीं उस बिल्ली का शब्द सुनते तो जानते बिल्लियाँ भी स्नेह में कैसा प्यारा बोलती हैं। पण्डित जी ने पशुपक्षियों की चेष्टाओं पर 'सरस्वती' में एक लेख लिखा था। मुझे ठीक स्मरण नहीं, इस बिल्ली को देखकर मुझे उसका ध्यान आ गया था अथवा उसे देखकर इसका।

परन्तु जिस उद्देश्य को लेकर मैं पण्डित जी के यहाँ

गया था उसके विषय में कुछ कहने का मुझे साहस ही न हुआ। मेरा सारा उत्साह न जाने कहाँ चला गया। मेरे अग्रज ने प्रसङ्ग चलाकर एक बार कहा भी कि ये भी कुछ कविता बनाते हैं। 'बड़ी अच्छी बात है' कहकर पण्डित जी ने मेरी ओर देखा। मैं तो कुछ नहीं, कुछ नहीं, कहकर संकोच से सिकुड़ सा गया। मुझे विपत्ति में पड़ा देखकर फिर उन्होंने कुछ नहीं कहा। कुछ कहने के लिए मैंने कहा—हम लोग तो सवेरे ही आनेवाले थे, परन्तु सुना कि सन्ध्या को ही आप से भेंट होती है, इसलिए इस समय सेवा में उपस्थित हुए हैं। वे हँसकर बोले—हाँ, सवेरे हम 'सरस्वती' का काम करते हैं और कुछ लेख आदि लिखते हैं। फिर अवकाश नहीं पाते। परन्तु जब आप इतनी दूर से आये हैं तब क्या हम उस समय भी आपसे न मिलते। कभी झाँसी आया कीजिए और सुविधा हो तो मिला कीजिए।

उनका अधिक समय लेना अपराध करना था। रोकने पर भी हम लोगों को बिदा करने वे बाहर आये। आगत का स्वागत सभी करते हैं, परन्तु अपने छोटों के प्रति भी उनका सदा ऐसा ही उदार व्यवहार रहा।

अपने पद्यों के विषय में प्रत्यक्ष कुछ कहने की अपेक्षा पत्र-व्यवहार करने में ही मुझे सुविधा दिखाई पड़ी। वस्तुतः उनके प्रभाव से मैं अभिभूत हो गया। पीछे न जाने कितनी बार उनकी सेवा में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे भी कृपाकर एक बार यहाँ पधारे, परन्तु वैसा आतंक कभी नहीं जान पड़ा। इसके विरुद्ध जैसे जैसे निकट से उनका परिचय मिलता गया, वैसे वैसे उनकी सदयता और सहृदयता का ही अधिकाधिक अनुभव होता रहा। अपने कर्त्तव्य में ही वे कठोर प्रतीत होते थे, आत्मसम्मान का प्रश्न आ जाने पर उनमें उग्रता भी आ जाती थी, अन्यथा उनका सा कोमल हृदय दुर्लभ ही है। एक बार वाद-विवाद में दूसरे पक्ष ने लिखा—यह विवाद व्यर्थ है। आप तो ब्राह्मण हैं, आपको क्षमा नहीं छोड़नी चाहिए। पण्डित जी ने उत्तर में लिखा—हमने जो आरोप लगाये हैं उन्हें व्यर्थ कहने से काम न चलेगा। या तो आप कहिए, वे झूठे हैं, हम आपसे क्षमा-याचना करेंगे या उनके लिए खेद प्रकट कीजिए। उस समय हम आपको हृदय से क्षमा न कर दें तो ब्राह्मण नहीं।

उनकी वैसी वेश-भूषा भी फिर मैंने नहीं देखी। एक बार पेंट के साथ उन्हें बंडा कोट पहने देखकर तो ऐसा भी लगा, जैसे यह उनके अनुरूप न हो।

इधर प्रायः कुरता और धोती ही वे पहना करते थे और यह वेश उन्हें बहुत सोहता भी था। अभिनन्दन के अवसर पर भी वे इसी परिच्छद में थे। अस्तु।

उस दिन लौटकर मुझे कुछ आत्मग्लानि सी हुई कि मैं क्यों इतना हतप्रभ हो गया कि अपनी बात भी उनसे न कह सका। और, झूठ क्यों कहूँ, उनके प्रति कुछ ईर्ष्या भी मन में उत्पन्न हो गई। परन्तु 'सरस्वती' में नाम छपने का लोभ प्रबल था। आशा भी बलवती थी। कुछ दिन पीछे मैंने एक रचना भेज ही दी और उत्सुकता से मैं उनके पत्र की प्रतीक्षा करने लगा। मुझे स्मरण नहीं, इतने लम्बे समय में भी, पण्डित जी ने मेरे किसी पत्र का उत्तर देने में विलम्ब किया हो। इतनी तत्परता मैंने और किसी के पत्र-व्यवहार में नहीं पाई। मैंने भी बहुत दिन उनका अनुकरण करने की चेष्टा की, परन्तु अन्त में मैं हार गया और अब तो शरीर और मन प्रकृतिस्थ न रहने से एक-आध पत्र लिखना भी भारी हो उठा है। परन्तु पण्डित जी वृद्ध और क्षीण होने पर भी अन्त तक अपना नियम निभाते रहे। कितनी दृढ़ता थी उनमें!

यथासमय उनका उत्तर आ गया—"आपकी कविता पुरानी भाषा में लिखी गई है। 'सरस्वती' में हम बोलचाल की भाषा में ही लिखी गई कवितायें छापना पसन्द करते हैं।" राय कृष्णदास जैसे बन्धु के संसर्ग से भी जो एक एक चिट भी यत्न से छाँट कर रखते हैं, मैं पत्रों के संग्रह में उदासीन ही रहा हूँ। इसके लिए समय समय पर मुझे अनुताप भी हुआ है। इसी प्रकार डायरी न रखने से प्रसंगवश अथवा अचानक उठे हुए कितने ही विचार किंवा भाव भी मुझे खो देने पड़े हैं। परन्तु पण्डित जी के पत्र न जाने कैसे मैं आरम्भ से ही रखता रहा। कुछ प्रारम्भिक पत्रों की एक गड्डी सम्भवतः कहीं ऐसी सुरक्षित रक्खी है कि इस समय मुझे भी नहीं मिल रही है! ऊपर मैंने जिस पत्र का उद्धरण दिया है, सम्भव है, उसमें शब्दों का हेर-फेर हो, किन्तु बात वही है।

'बोलचाल की भाषा' अर्थात् 'खड़ी बोली' और 'पुरानी भाषा' अर्थात् 'व्रजभाषा।' पाठक ही समझ सकते हैं, मेरे मन में अपनी रचना की अस्वीकृति खली या व्रजभाषा की उपेक्षा। मन कुछ विद्रोही था ही, आशा भी पूरी न हुई। अब क्या था, एक कड़ा सा पत्र लिख दिया। एक बात सुनी थी कि शेख़सादी साहब को फ़ारसी-भाषा की मधुरता का बड़ा अभिमान था। एक बार वे यहाँ आये। व्रजभाषा की प्रशंसा सुनकर उन्होंने नाक सिकोड़ी और भौंह चढ़ाई। घूमते-घामते वे व्रज में पहुँचे। वहाँ मार्ग में पहले-पहल उन्होंने एक छोटी सी लड़की की बात सुनी। वह अपनी माता से कह रही थी—'मायरी माय, मग चल्यौ न जाय—साँकरी गली, पाय काँकरी गड़तु है।' इस बात का संकेत भी मैंने अपने पत्र में कर दिया और समझ लिया कि बदला ले लिया। परन्तु उस पत्र का कोई उत्तर न मिला। भगवान् ही जाने, इसे मैं अपनी जीत समझा या अपने प्रहार को सर्वथा निष्फल समझकर और भी हताश हो गया। प्रतिघात सह लिया जा सकता है, किन्तु आघात का व्यर्थ होना प्रतिघात से भी कठोर होता है। तथापि मेरी क्षुद्रता का वे क्या उत्तर देते? मैंने धृष्टतापूर्वक एक पत्र और भी इस सम्बन्ध में भेजा। वह वैसा ही लौट आया अथवा लौटा दिया गया।

इस बीच कलकत्ते के 'वैश्योपकारक' मासिक पत्र में मेरे पद्य छपने लगे थे। इससे मुझे कुछ अभिमान भी हो गया था। परन्तु हिन्दी की एकमात्र प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' थी। मन मेरा उधर ही लगा था। झख मारकर खड़ी बोली के नाम से 'हेमन्त' शीर्षक कुछ पद्य लिखे। उन्हीं दिनों स्वर्गीय राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की 'शरद' नाम की एक कविता 'सरस्वती' में छपी थी। वह पुरानी भाषा में ही थी। 'शरद' छपी तो 'हेमन्त' भी छप सकता है। उसे भेजते हुए मैंने निर्लज्जतापूर्वक इतना और लिख दिया कि प्रसन्नता की बात है, अब 'पुरानी भाषा' के सम्बन्ध में आपका वह विचार बदला है। जिस दिन उत्तर मिलना चाहिए था, उत्सुकतापूर्वक मैं स्वयं डाकघर पहुँचा। उनका उत्तर पोस्ट-कार्ड के रूप में उपस्थित था। धड़कते हृदय से पढ़ा। लिखा था—'आपकी कविता मिली। राय साहब की कविता अच्छी होने से हमने छापी है।' अब समझ में आया कि नई-पुरानी भाषा का तो एक बहाना था, मेरी कविता अच्छी न होने से न छप सकी थी। यह उस समय भी न समझ में आया कि मेरी रचना अच्छी न थी, फिर भी उन्होंने उसे बुरा न बताकर भाषा की बात कहकर—कितनी शिष्टता से मुझे उत्तर दिया, यद्यपि यह ठीक था कि बोलचाल की भाषा की कविता के ही वे पक्षपाती थे और उसी का प्रचार भी कर रहे थे। जो हो, मेरा जी बैठ गया। 'सरस्वती' आई, पर 'हेमन्त' न आया। वह क्यों नहीं आया, आवेगा भी या नहीं, यह पूछने का भी धीरज न रहा। कन्नौज से 'मोहनी' नाम की एक समाचारपत्रिका निकलती थी। उसी में छपने के लिए मैंने 'हेमन्त' भेज दिया और अगले सप्ताह ही वह छप कर आ गया। एक द्विवेदी जी न सही तो दूसरे गुण-ग्राहक तो विद्यमान हैं, यों मैंने मन समझाने की चेष्टा की। मन ने मान भी लिया, कारण, अपमान भी उसी ने माना था। तथापि उसके एक कोने से यह शब्द उठे बिना न रहा कि—हाय सरस्वती!

नये वर्ष की 'सरस्वती' आई नई ही सजधज से। अब उसका रूप-रंग और भी सुन्दर हो गया। देखकर जी ललच गया। परन्तु जिस बात की आशा भी न थी उस 'हेमन्त' को भी वह ले आई। मेरा रोम रोम पुलक उठा। जिस रूप में मैंने उसे भेजा था उससे दूसरी ही वस्तु वह दिखाई पड़ती थी—बाहर से ही नहीं, भीतर से भी। पढ़ने पर मेरा आनन्द आश्चर्य में बदल गया। इसमें तो इतना संशोधन और परिवर्द्धन हुआ था कि यह मेरी रचना ही नहीं कही जा सकती थी। कहाँ वह कंकाल और कहाँ यह मूर्त्ति! वह कितना विकृत और यह कितनी परिष्कृत। फिर भी शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा है। मुझे अपनी हीनता पर लज्जा आई और पण्डित जी की उदारता देखकर श्रद्धा से मेरा मस्तक झुक गया। इतना परिश्रम उन्होंने किया और उसका फल मुझे दे डाला। यह तो मुझे पीछे ज्ञात हुआ कि मेरे ऐसे न जाने कितने लोग उनसे इस प्रकार उपकृत हुए हैं। नाम की अपेक्षा न रखकर काम करना साधारण बात नहीं, परन्तु काम आप करके नाम दूसरे का करना और भी असाधारण है। पण्डित जी अपने सम्पादकीय जीवन भर यही करते रहे। उनके तप और त्याग का मूल्य आँकना सहज नहीं। हिन्दी के प्रभविष्णु कवि स्वर्गीय नाथूराम शंकर शर्मा ने एक पत्र में मुझे लिखा था—"सम्पादक जी बहुधा कवि-

ताओं में संशोधन भी कर देते हैं। 'केरल की तारा' नाम की कविता में मैंने लिखा था—

पीठ पर टपका पड़ा तो आँख मेरी खुल गई
चार बूँदों से मिले मन की लँगोटी धुल गई

इसमें नीचे की पंक्ति उन्होंने बदलकर छापी—

विशद बूँदों से मिले मन मौज मिश्री घुल गई।"

लाभ से मेरा लोभ और भी बढ़ गया। कुछ दिन पीछे 'क्रोधाष्टक' नामक एक तुकबन्दी मैंने और भेज दी। उपद्रव सहने की भी एक सीमा होती है। इस बार क्षुब्ध होकर उन्होंने जो पत्र लिखा वह, इधर स्मृति विकृत होने पर भी, मुझे भली भाँति स्मरण है—

"हम लोग सिद्ध कवि नहीं। बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं। आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते हैं। कुछ भी लिखकर उसे छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गये। पहला ही पद्य लीजिए—

होवे तुरन्त उनकी बलहीन काया
जानें न वे तनिक भी अपना-पराया
होवें विवेक वर बुद्धि विहीन पापी
रे क्रोध, जो जन करें तुझको कदापि

क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे हैं जो आपने ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया? इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे, परन्तु आगे से आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहें तो इधर-उधर अपनी कवितायें छपाने का विचार छोड़ दीजिए। जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे, जिसे न चाहें उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए, न किसी को दिखाइए। ताले में बन्द करके रखिए।"

रोष ही मेरे लिए परितोष बन गया। अयोग्य देखकर भी पण्डित जी ने मुझे त्यागा नहीं, सदा के लिए अपना लिया। इसी पद्य में मुझे बोलचाल की भाषा में पद्य रचने का 'गुर' मिल गया। बातें इतनी ही नहीं हैं। परन्तु आज मैं और कुछ न लिखकर अपने प्रभु से यही प्रार्थना करता हूँ कि परलोक में भी उनका सा पथ-प्रदर्शक मुझे प्राप्त हो।

जुही का गुरुद्वारा

जुही के इसी खपरैले में १८ वर्ष रहकर आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' का सम्पादन किया था। यह चित्र हमें वर्तमान सञ्चालक पण्डित रमाशंकर अवस्थी की कृपा से मिला है।
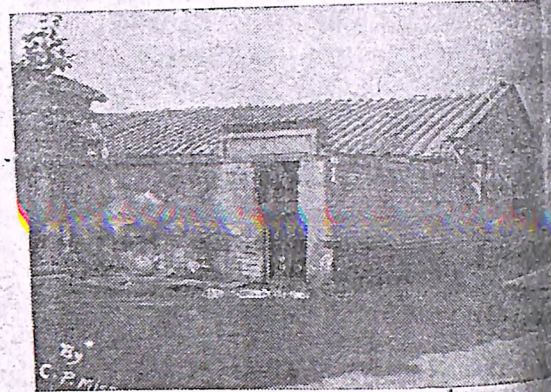
दो दर्शन

लेखक, पण्डित शिवाधार पाण्डेय, एम० ए०

द्विवेदी जी को पहले-पहल मैंने देखा जब मैं सत्रह बरस का था—कन्नौज में—कान्यकुब्ज-महासभा के मंडप में। आप आये—ऊँचा माथा, ऊँचा शरीर, बड़ी बड़ी मूँछें, तेज से भरी आँखें। हँसकर बोले—"मेरा सिर वैसा ही गरम है, जैसा वह तवा जिस पर मैं रोटी करके आ रहा हूँ। जो कुछ लिख सका हूँ, सेवा में उपस्थित है। आपकी आज्ञा का पालन करना मेरा धर्म है।" एक छोटी सी स्वागत की कविता आपने सुनाई। ज्वर होते हुए भी लोगों के कहने से वह लिखी गई थी। रोटी भी छोटों के लिए बनाई थी।

जुही में द्विवेदी जी को मैंने देखा सन् १९११ में। बीमार थे: छुट्टी ली थी। शय्या पर पड़े हुए थे। उन दिनों मैं 'अभ्युदय' का सम्पादक था। 'सरस्वती' और 'मर्यादा' में कुछ अनबन हो गई थी। पूरे एक घंटे भर आपने बातें कीं। उत्साह की नदी बहा दी। आपे को भूल गये। अपनी पत्रिका से आपको कितना प्रेम था, साहित्य पर आप कितना न्यौछावर थे, प्रत्यक्ष हो गया।

(महावीरप्रसाद द्विवेदी सिंह-से निडर थे, समुद्र-से गंभीर थे। रोष में ब्राह्मण थे, क्षमा में ब्राह्मण थे। रोष उनका टिकता नहीं था। रोष से भरे हों, पर उस पर पूरा शासन करते थे। उनके रोष में पक्षपात नहीं था। अपने पक्ष के समर्थन के लिए उन्होंने कभी रोष नहीं किया। उनकी हँसी में एक अद्भुत आनन्द था—अभी तो गरज और कड़क और अभी सुनहली धूप! उनका चित्त कितना कोमल था, कितना मृदुल था, सारा हिन्दी-संसार जानता है। बच्चे उनको बहुत पसन्द थे। पश्चिम की कोरी डींग उन्हें भाले की नोक-सी चुभती थी। हिन्दी पर वे प्राण देते थे। कष्टों से उनका साहस बढ़ता था, क्लेशों को चुनौती देते थे। कर्त्तव्य को वे पूरा पूरा समझते थे, सत्य की पूरी खोज करते थे। चंगे हों या न हों, हृदय उनका [illegible] की उमंग से सर्वदा चंगा रहता था। सम्पादकों में वे महारथी थे, सरस्वती के तो पुजारी थे।)

बीसवीं सदी के हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी जी का स्थान क्या होगा? वे कहते थे, यह गद्य का युग है। परन्तु खड़ी बोली का पद्य उन्हीं की दया से लड़खड़ाता हुआ उठ बैठा और चल निकला। कविता की भाषा का साँचा ही बदल गया। गद्य में जो जो रंग बदले, जो जो शैलियाँ निकलीं, जिन जिन भावों की बाढ़ आई, वह क्या एक इस काया-पलट के बराबर है जिससे हिन्दी-कविता भारतवर्ष भर में एक दिन जगमगा उठेगी और काश्मीर से सिंहल तक लिखी जायगी।

बल, गौरव, स्वाभिमान—सम्पादक-समुदाय पर द्विवेदी जी का यह दूसरा प्रभाव पड़ा। [illegible] बेचारी मासिक, परन्तु [illegible] और [illegible]। बड़े बड़े दैनिक-सम्पादक, बड़े बड़े साहित्यिक आज जो उछलकूद मचा रहे हैं, लोकप्रियता बटोर रहे हैं, इसकी शिक्षा द्विवेदी जी ने ही दी। क्या अगली सदी की भी कोई पत्रिका इस उत्सुकता से जोही जायगी, इस उत्साह से उड़ाई जायगी, जैसे द्विवेदी जी की 'सरस्वती'?

ये दोनों बातें डाक्टर जॉनसन में नहीं थीं। कविता की भाषा महाकवि ही बदलते हैं। अँगरेज़ी की चौसर ने नींव डाली। पोप ने पद्य की भाषा का संस्कार करना चाहा। वर्ड्सवर्थ ने सौ बरस के लिए ढाँचा बदला। इस सदी में भी उसमें परिवर्तन हो रहा है। परन्तु जितना दूरदर्शीपन, जितना उत्साह हिन्दी के लिए इस विषय में द्विवेदी जी ने दिखाया, उतना तो इतनी परिमित शक्ति में ले कदाचित किसी ही मनुष्य ने सारे संसार के इतिहास में दर्शाया होगा। जानसन ने साहित्यिकों को स्वाधीनता दी। द्विवेदी जी ने जो किया वह अँगरेज़ी की किसी मासिक-पत्रिका के सम्पादक से नहीं हुआ।

गद्य में द्विवेदी जी ने क्या क्या किया और क्या क्या नहीं किया, इसके लिए इस समय [illegible] नहीं स्थान नहीं है। हिन्दी में सच्ची साहित्यिक रचनाओं में ही कौन स्वाधीन जीवन का पथ पूरा पूरा खोलने में सफल होगा, यह भी अभी नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह निस्सन्देह है कि सन् १९०५ और १९३९ की द्विवेदी जी की मूर्त्ति ध्यान में आने से उन विद्यावीरों का स्मरण आता है जो अपने मार्ग में अद्वितीय थे और जो [illegible] होने का दम भरते थे।

पुण्यस्मृति

लेखक, पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल, बी० ए०

र्गीय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है इस विषय में कुशल साहित्यज्ञ लिखने के अधिकारी हैं। मुझ ऐसे अल्पज्ञ को तो द्विवेदी जी की पुण्यस्मृति में कुछ पंक्तियाँ ही लिखकर संतोष करना है। यों तो द्विवेदी जी की कीर्ति मैं लड़कपन ही में सुना करता था परन्तु तब मुझे ये समाचार ही मिलते थे कि द्विवेदी जी ने आज इस आदमी को रेल में नौकर रखवा दिया, कल उस आदमी को। उस समय उनके विषय में मेरी धारणा थी कि वे एक प्रभावशाली व्यक्ति हैं, जिन्हें परोपकार करने में आनन्द आता है। कुछ दिनों के बाद मुझे उनके लेखों के पढ़ने का अवसर इधर-उधर समाचार-पत्रों में प्राप्त हुआ, विशेषकर अजमेर से निकलनेवाले 'कान्य-कुब्ज-सुधाकर' में। लगभग ३८ वर्ष हुए पहली कान्य-कुब्ज-कान्फ़रेन्स कानपुर में हुई थी। उसमें द्विवेदी जी भी पधारे थे। वहाँ द्विवेदी जी के दर्शन मुझे पहले-पहल हुए, परन्तु दूर ही से। समयाभाव के कारण मैं उनसे वार्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त न कर सका। कान्फ़रेन्स में पहले दिन थोड़ी देर बैठ कर वे फिर न आ सके। इसके तीन वर्ष के बाद जब कानपुर में प्लेग का प्रकोप हुआ, रेलवे-स्टेशन पर एक रिश्तेदार के निकट तम्बू लगाकर मुझे शरण लेनी पड़ी। उन दिनों 'कान्यकुब्ज-सभा' में प्रतिष्ठित कान्यकुब्जों को भर्ती कराने की धुन मेरे ऊपर सवार थी। पता लगा कि द्विवेदी जी समीप ही जुही नामक गाँव में आ बसे हैं। बस, फिर क्या था! सोचा कि भारी शिकार हाथ आया। प्रवेशपत्र लेकर द्विवेदी जी के स्थान पर जा पहुँचा। देखा कि द्विवेदी जी जल्दी फँसनेवाले असामी नहीं हैं। परन्तु उन्होंने मेरा स्वागत और सत्कार बड़े उत्साह से किया, जिसका प्रभाव मेरे हृदय पर बहुत कुछ पड़ा। शिष्टता की तो वे मूर्ति ही थे। दूसरे ही दिन वे 'विज़िट रिटर्न' करने को मेरे तम्बू में अपने मित्र आर्मी-प्रेस के प्रोप्राइटर लाला सीताराम के साथ आ पहुँचे। तदनन्तर उस 'वनवास' की दशा में मेरा आना-जाना द्विवेदी जी के स्थान पर शीघ्रता के साथ होने लगा। प्रायः साहित्यिक चर्चा भी हुआ करती थी। तभी द्विवेदी जी ने मुझे अपनी 'काव्य-मञ्जूषा' भेंट की थी, जिसे पढ़कर मेरा हृदय अब भी गद्गद हो जाता है। प्लेगप्रकोप के शान्त होने पर जब मैं अपने घर कुर्सी लौट आया तब वहाँ भी द्विवेदी जी मेरे घर प्रायः पधारा करते थे। तब से उनकी कृपा मुझपर यावज्जीवन अनवरत बनी रही। यह उनकी दयादृष्टि ही थी कि उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार मुझे दो दफ़े सौंपा। अन्यथा कहाँ 'सरस्वती' ऐसी पत्रिका का सम्पादन और कहाँ मेरी अल्पज्ञता!

"हमारे देश के ९० फ़ी सदी मनुष्यों का पेट खेती से पलता है। पर उसकी बुरी दशा है। इसका कारण है सरकार की भूमि-कर-संबंधी नीति और किसानों की निरक्षरता।"

आचार्य द्विवेदी, मई १९१५

सच तो यह है कि मेरे ऐसे कृपापात्र द्विवेदी जी के कितने ही लोग हैं। परोपकार करना उनकी प्रकृति थी। खरा और सच्चा व्यवहार करनेवाले उनसे बढ़कर थोड़े ही लोग होंगे। यही कारण है कि जिन-जिन लोगों का किसी न किसी रूप में उनसे सम्बन्ध रहा उनकी श्रद्धा और भक्ति द्विवेदी जी के प्रति बढ़ती ही गई। द्विवेदी जी की उग्र समालोचनाओं से उनके स्वभाव का पता लगाना मुश्किल है। मुझे द्विवेदी जी की तरह कोमलहृदय सज्जन बहुत कम मिले हैं। मैंने दो-एक बार उनसे कहा भी कि 'आप समालोचना बहुत कड़ी करते हैं'। उत्तर मिला कि 'किन्तु-परन्तु' और 'अगर-मगर'वाली समालोचना का असर नहीं होता। उस ज़माने में बहुतेरे लेखक बङ्गला और मराठी पत्रिकाओं से लेख चुराकर हिन्दी में

अनुवाद करके अपने नाम से चलता कर दिया करते थे। यह डाकेज़नी द्विवेदी जी से कम छिपती थी, क्योंकि वे अन्य भाषाओं की भी पत्र-पत्रिकायें ध्यान से पढ़ा करते थे। आख़िर 'वागपहरण' भी तो पाप ही है। शब्दचौर्य का बन्द कराना भी समालोचना का एक अङ्ग है। यों भी कड़ी समालोचना करने के स्वभाव ने ही कभी कभी उनमें और उनके बाज़ बाज़ मित्रों के बीच कुछ दिनों के लिए अनबन पैदा कर दी थी। उदाहरणार्थ 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', 'हिन्दी-भाषा और व्याकरण' आदि लेखों ने तत्कालीन हिन्दी-साहित्य-संसार में कुछ हलचल उत्पन्न कर दी थी और वाद-विवाद महीनों चलता रहा। एक ओर 'भारतमित्र' के सम्पादक स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त और उनकी मित्र-मण्डली थी और दूसरी ओर द्विवेदी जी, पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र और वेङ्कटेश्वर-समाचार के सम्पादक श्री अमृतलाल चक्रवर्ती तथा पण्डित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री थे। उस समय के प्रकाशित बाज़ बाज़ लेख तो साहित्य की दृष्टि से अब भी रुचिकर हैं। 'सरस्वती' काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित थी। द्विवेदी जी ने अपने सम्पादकत्व में 'सरस्वती' में सभा की खोज की पुस्तकों की रिपोर्ट की समालोचना कर डाली। इस पर सभा के कुछ पदाधिकारियों ने एतराज़ किया और सभा के 'अनुमोदन का अन्त' हो गया। द्विवेदी जी का पक्ष था कि सभा की कार्य्यवाही की समालोचना करने का 'सरस्वती' को सभा की संरक्षा में रहते हुए भी अधिकार है। इसी विचार की पुष्टि में द्विवेदी जी ने मिल की 'लिबर्टी' नामक पुस्तक का अनुवाद कर डाला। इसी प्रकार 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' लिखने के अनन्तर जब किसी ने उनसे ये व्यङ्ग्यात्मक शब्द कहे कि 'भला आप ही कुछ लिख कर बतलाइए कि हिन्दी-कविता में कालिदास के भाव कैसे प्रकट किये जायँ' तब नमूने के तौर पर द्विवेदी जी ने कुमारसम्भव के प्रारम्भ के ५ सर्गों का अनुवाद कर 'कुमारसम्भवसार' के नाम से प्रकाशित किया।

'सरस्वती' के सम्पादन का भार लेने के पहले से ही द्विवेदी जी का ध्यान गद्य लिखने की ओर आकृष्ट हो गया था। कविता लिखना कम कर दिया था। और लिखते भी थे तो 'खड़ी बोली' में। अपने मित्रों को भी वे खड़ी बोली ही में कविता करने के लिए उत्साहित करने लगे थे। उनका विचार था कि कविता भी उसी भाषा में होनी चाहिए जिसमें गद्य लिखा जाता है। उत्तम कविता के लिए किसी भाषा विशेष की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी प्रतिभा की। भावशून्य और नीरस जन किसी भी बोली में अच्छी कविता नहीं कर सकते। पण्डित नाथूराम-शङ्कर, पण्डित रामचरित उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि मित्रों की कविता खड़ी बोली में ही 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगी। राय साहब यद्यपि खड़ी बोली में कविता करने लगे, तथापि उनका अनुराग 'व्रजभाषा' से कभी नहीं छूटा। राय साहब का 'रसिकसमाज' व्रजभाषा ही का भक्त रहा और उनकी 'रसिक-वाटिका' भी व्रजभाषा ही से प्रफुल्लित रही। कविता के विषय और विधि में भी द्विवेदी जी स्वातंत्र्य चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि कविजन समस्या-पूर्त्तियों और नायक-नायिकाओं की मीमांसा में न उलझकर परमेश्वर की सृष्टि में उत्पन्न और भी पदार्थों का वर्णन करें, सिर्फ़ दोहे-चौपाई, सवैया, कवित्त आदि इने-गिने कुछ छन्दों में ही नहीं, किन्तु और भी अनेक छन्दों में। द्विवेदी जी की गद्यशैली में भी शीघ्र ही परिवर्त्तन हो गया। 'बेकन-विचार-रत्नावली' की भाषा और कुछ काल के बाद 'सरस्वती' की भाषा में अन्तर साफ़ साफ़ मालूम होने लगा। जहाँ तक हो सकता था वे भाषा सरल और सुबोध लिखते थे और अन्यान्य भाषाओं के ऐसे शब्दों के प्रयोग करने में उन्हें ज़रा भी परहेज़ न रह गया था जो शब्द व्यवहार में प्रचलित हो गये थे। वे मुझसे कहते थे कि 'सरस्वती' के पाठकों की संख्या बढ़ने का एक यह भी कारण है कि उसकी भाषा उत्तरोत्तर सरल होती जाती है। जो हो, जैसा मैंने पहले कहा, अपनी अल्पज्ञता के कारण द्विवेदी जी की साहित्य-सेवा और उसकी विवेचना करने के सम्बन्ध में मैं अपने को अधिकारी नहीं समझता। प्रसङ्ग-वश मैंने ये बातें लिख दी हैं। मेरा अभिप्राय उनके शील-स्वभाव के विषय में ही कुछ चर्चा कर देने का है।

द्विवेदी जी ने किसी यूनिवर्सिटी में शिक्षा प्राप्तकर डिग्रियाँ हासिल नहीं की थीं। आर्थिक दृष्टि से भी उनका बाल्यकाल साधारण घर में ही बीता था। जीविका भी उन्हें अत्यल्प वेतनवाली रेलवे में ही मिली। परन्तु उनकी बुद्धि ऐसी प्रखर थी और उनका विद्यानुराग ऐसा

प्रबल था कि प्रतिकूल परिस्थितियों में रहते हुए भी अनेक भाषाओं में उन्होंने पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। अपने रेलवे के कार्य्य में भी दक्ष होकर शीघ्र ही उच्च पद पर विराजमान हो प्रभावशाली बन गये। उनके अफ़सर उन्हें बहुत मानते थे। अपने दफ़्तर का कार्य थोड़ी ही देर में सुचारु-रूप से समाप्त कर बाक़ी वक्त साहित्यावलोकन में व्यतीत करते थे। समय परिवर्तनशील है। द्विवेदी जी की क़द्र करनेवाले अफ़सरों के चले जाने के बाद कुछ लोग ऐसे आये जिन्हें द्विवेदी जी का रङ्ग-ढङ्ग पसन्द न आया और न द्विवेदी जी को उनका। एक दिन उनके अफ़सर नये साहब बहादुर ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हुए उनसे कह दिया कि यदि आपकी ऐसी ही गति रही तो कहीं आपको इस्तीफ़ा न देना पड़े। साहब बहादुर की यह धमकी द्विवेदी जी कब बर्दाश्त कर सकते थे! उन्होंने दूसरे ही दिन इस्तीफ़ा दे दिया। अपने प्रतिष्ठित और पर्याप्त वेतनवाले पद के परित्याग करने में उन्हें ज़रा भी हिचक न हुई। दफ़्तर से आकर उन्होंने केवल अपनी धर्म्मपत्नी से इसका ज़िक्र करते हुए कहा कि अब हम लोगों को ग़रीबी में ही ज़िन्दगी बसर करनी पड़ेगी। द्विवेदी जी की धर्म्मपत्नी भी पतिव्रता हिन्दूमहिला थीं। उन्हें भला ग़रीबी और अमीरी से क्या मतलब! उनकी प्रसन्नता तो द्विवेदी जी के प्रसन्न रहने में थी। तदनन्तर साहब बहादुर के पश्चात्ताप करने और अनेक मित्रों के समझाने पर भी द्विवेदी जी ने इस्तीफ़ा वापस न लिया। 'सरस्वती'-सम्पादन का भार उन दिनों में लिया ही था। उसकी ग्राहक-संख्या भी थोड़ी थी। उसके द्वारा प्राप्त अत्यल्प वेतन के सहारे ही जुही में एक मित्र के घर के एक कोने में द्विवेदी जी आ विराजे। अपनी लम्बी तन-ख़्वाहवाली रेलवे की नौकरी को लात मारने के पहले उन्होंने ७ सितम्बर १९०२ के अवध-समाचार में प्रकाशित 'सेवावृत्ति की विगर्हणा' शीर्षक कविता लिखी थी, जिसकी निम्नलिखित पंक्तियों से सेवावृत्ति के विरुद्ध उनका हृदयगत भाव प्रकट होता है—

"सेवा-समान अति दुस्तर दुःखदायी
दुर्वृत्ति और अवलोकन में न आई।
जीना कभी न उसका जग में भला है;
जो पेट हेत पर-सेवन को चला है॥

"आलस्यलीन, शुचि-सज्जनता-विहीन,
अन्तर्मलीन, पर-पीड़न में प्रवीण।
दे दैव! दण्ड मन जो कुछ और आवै;
ऐसे प्रभु-प्रवर से पर तू बचावै॥

द्विवेदी जी परोपकारी, दयालु और बात के धनी थे। कितने ही लोगों की जीविका उनकी बदौलत रेल में और अन्यत्र हो गई। अपने कुछ रिश्तेदारों और मित्रों के न रहने पर उनके कुटुम्बों की रक्षा और आर्थिक सहायता अपने ऊपर अनेक कष्ट उठाकर भी द्विवेदी जी ने बरसों की। सद्व्यवहार में तो वे कभी चूकते ही न थे। मैंने एक दफ़े यों ही बातें करते हुए उनसे पूछा—चापलूसी करना तो आपके स्वभाव के विरुद्ध है तब फिर आपने 'अयोध्याधिपस्य प्रशस्तिः' संस्कृत में क्यों लिख डाली! फिर चाटूक्तियाँ भी कैसी, कुछ ठिकाना है?

त्वां वीक्ष्य दाननिरतं सततं नरेश!
लज्जाविनम्रवदनः सुरपादपः सः॥
शङ्के सुमेरुगिरिगह्वरमाविवेश;
नो चेत्, कथं न भुवि लोचनलक्ष्यमेति?

हे नरेश! आपको सतत दाननिरत देखकर, लज्जा से अपना सिर नीचा करके वह जगत्प्रसिद्ध कल्पवृक्ष हमारे जान मेरु पर्वत की कन्दरा में छिप गया है। यदि ऐसा न होता तो वह भूमंडल में दिखाई क्यों न देता?

दानं, दयाधन! दयां, नयनैपुणञ्च
शास्त्रे गतिं जनहिताचरणे रतिं ते।
दृष्ट्वा दिलीपरघुरामकुशाजमुख्यान्
भूपांश्च न स्मरति पूर्वभवानयोध्या॥

हे दयाधन! आपकी दया, आपका नीतिनैपुण्य, शास्त्र में आपकी गति तथा लोक-हित में आपकी प्रीति को देखकर आपकी राजधानी यह अयोध्या दिलीप, रघु, रामचन्द्र, कुश, अज आदि पहले के राजाओं को भूल गई।

'श्रीधरसप्तक' आपने लिखा तो इसलिए कि पाठक जी आपके मित्र थे और उन्होंने आपकी बड़ी ख़ातिर की थी। उनकी कविता की प्रशंसा करना बेजा नहीं। इसमें अत्युक्ति भले ही हो—'

बाला-वधू अधर-अद्भुत स्वादुताई,
द्राक्षाहु की मधुरिमा, मधु की मिठाई।
एकत्र जो चहहु पेखन प्रेम-पागी,
तो श्रीधरोक्त-कविता पढ़ियेऽनुरागी॥
पीयूष है यदि पदार्थ, यथार्थ कोऊ
काहे न ताहि करि पान प्रसन्न होऊ।
प्रत्येक पद्य, प्रति पंक्तिहु में, सदाहीं
सो विद्यमान कवि-श्रीधर-काव्य माहीं॥

आपने कवि की प्रशंसा करके उनसे उचित ही प्रार्थना की है—

तोसौं कहौं कछु कवे! मम ओर जोवौ,
हिन्दी-दरिद्र हरि तासु कलङ्क धोवौ।
होवौ शतायु, सुख सों रहि, दुःख खोवौ,
फैलै त्वदीय यश; सर्व-व्यथा विगोवौ॥

अप्रैल १९०० के 'सुदर्शन' में प्रकाशित 'कृतज्ञता-प्रकाश' नामक कविता भी जिसमें सर एन्टनी मेकडानल की प्रशंसा की गई है, सार्थक है। लाट साहब के उद्योग और कृपा से नागरी-अक्षरों का प्रवेश अदालतों में हुआ था। उनके विषय में यह कहना उपयुक्त था—

"हे न्यायधाम! गुण-गौरव-धर्म्म-धाम!
सत्शीलधाम! म्यकडानल पूर्णकाम!
सारी प्रजा पुलक-पूरित-गातधारी
उन्मत्तवत् कहहि "जै जय जै" तिहारी।"

× × ×
× × ×

सत्यानुरोध, नय, दिव्य दया-निधान,
तीनों, त्रिवेणिवत, ये गुणभासमान।
सीखे प्रयाग सन काह? कहो बुझाय;
हे तीर्थराजपुर लाट! पुनीत-काय!

× × ×

परन्तु अयोध्यानरेश ददुआ साहब की प्रशंसा में आपकी अत्युक्तियाँ कुछ समझ में न आईं? द्विवेदी जी ने उत्तर दिया—"बात तो ठीक कही है। परन्तु यह स्तुति भी मैंने किसी स्वार्थ-साधन के लिए नहीं लिखी थी। अवध-निवासी अमुक व्यक्ति को मैं शिक्षा दिला रहा था। जहाँ तक भारतवर्ष में उनकी शिक्षा हो सकी, मैं इसका ख़र्च करता रहा। इसके आगे मेरा सामर्थ्य नहीं था कि विलायत भेजकर उन्हें शिक्षा दिलाऊँ। [illegible] करके अमुक व्यक्ति को विलायत में पढ़ाने का उद्योग किया था।" ये व्यक्ति न तो द्विवेदी जी के वंशज थे और न कोई रिश्तेदार। परन्तु द्विवेदी जी जिसकी मदद करते थे, दिलोजान से करते थे। अपने धुन के पक्के थे। वादाख़िलाफ़ी से उन्हें सख़्त नफ़रत थी। यदि अनायास ही कभी उनकी ज़बान से कोई बात निकल जाती थी तो अपने वचन के प्रतिपालन करने में वे कुछ उठा न रखते थे, चाहे उन्हें इसमें कितना ही कष्ट क्यों न हो। मुझे स्मरण है कि यदि उनके मुख से कभी यह निकल गया कि अमुक दिन आपके घर अमुक समय आऊँगा तो फिर चाहे कितने ही विघ्न क्यों न उपस्थित हो जायँ, उस दिन और उसी समय वे वहाँ पहुँच ही जायँगे। कितनी ही बार ऐसा हुआ कि ज्येष्ठ मास के अपराह्न में द्विवेदी जी कानों में दुपट्टा लपेटे, लू में, छाता लिये मेरे मकान पर कम से कम ढाई कोस पैदल आ पहुँचते थे। मैंने उनसे कहा भी कि ऐसा क्या काम था, लू चल रही है, फिर कभी दर्शन हो जाते। उत्तर मिलता, भाई, कह दिया था, आते कैसे न? जिन लोगों को उनसे पत्र-व्यवहार करने का अवसर मिला है वे जानते होंगे कि पत्रोत्तर वे यथाशक्ति वापसी डाक ही से दिया करते थे। उनमें त्रुटि यही थी कि वे आशा करते थे कि दूसरे लोग भी उनके साथ ऐसा ही बर्ताव करें। जब और जहाँ यह बात न पाते थे, चिढ़ जाते थे। मुझ ऐसे ढीले-ढाले आदमी पर तो कई बार उनकी ख़फ़गी हुई, परन्तु बहुत दिन ठहरी नहीं। थोड़ी ही डाँट-फटकार खाने के बाद मेरा छुटकारा हो जाता था।

[illegible] और सम्बन्धियों के प्रति द्विवेदी जी का जो सद्व्यवहार था उसे जाने दीजिए। अपने दास और दासियों की ओर भी सदा सदय रहते थे। अपराध करने पर भी नौकरों को कठोर वचन कहते मैंने उन्हें कभी नहीं सुना। बहुत दिनों के बाद ही मुझे यह पता लगा कि वे लोग उनके दासदासी हैं। उनकी वेषभूषा और उनके प्रति किये गये बर्ताव को देखकर तो यही जान पड़ता था कि वे लोग नौकर नहीं, कुटुम्बी हैं। दूसरों को भी अपने आश्रितों और सेवकों के साथ कठोरता का व्यवहार देखकर वे दुःखी हो जाते थे।

द्विवेदी जी के कोई सन्तति न होने के कारण उनकी माता सदैव दुःखी रहीं। एक दिन अपनी माता की

विशेष सन्तप्त देखकर उनसे न रहा गया। उन्हें समझाने के बाद ८ जनवरी १९०० के 'भारतमित्र' में प्रकाशित 'सुतपञ्चाशिका' लिख डाली। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

हे मातु ! वृथा कत करहु शोक ?
सुनि कैहहिं कह बुधिवन्त लोक ?
जामे न कछू अपनी बसाय,
खेदित तदर्थ को होहि माय ?
सुत-वदन-धूरि धरि भूरि लोक,
दुखहू महँ होवहिं विगत-शोक।
यह सर्व सत्य, पै सुनहु तत्त्व,
कर अपने में नहि ईश्वरत्व॥

× × ×

सुतही सुमुक्ति-दाता प्रवीन,
अस बोलहिं केवल बुद्धिहीन।
जिहि जाति माँहिं नहिं पिण्डदान,
सब जावै नरकहि ! कह प्रमान ?
सत्कर्म्म, धर्म्म, अरु दयाभाव,
उपकार, सदा सरलस्वभाव।
सन्मुक्ति हेत एही समर्थ;
आडम्बर और विशेष व्यर्थ॥

यद्यपि द्विवेदी जी के स्वभाव में गाम्भीर्य्य की मात्रा विशेष थी, तथापि उनका हृदय परिहास से सर्वथा शून्य नहीं था। एक बार उनके पास एक सम्पादक महोदय की ओर से कविता की माँग आई, परन्तु यह शर्त थी कि वह न तो धार्मिक विषय की हो और न सामाजिक या राजनैतिक हो। इसपर द्विवेदी जी को मज़ाक सूझा। कहने लगे कि इस तरह तो प्रायः सभी विषय निकल गये, कविता काहे पर की जाय ? गधे पर ? बहुत अच्छा, "गर्दभकाव्य" ही सही। यह कविता २९ अगस्त १८९८ के 'हिन्दीवङ्गवासी' में प्रकाशित हो गई, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

विप्रवर्ग से छठि आठैं है, छत्री महा जुझारा है,
वैश्य जाति के यहाँ हमारो घंटा भरि न गुज़ारा है।
योग्य जानि यजमान आपनों हम धोबी स्वीकारा है;
सच्ची कहना ऐसो उज्ज्वल कोई और निहारा है ?
परम प्रसिद्ध राम को वैरी खर सो ससुर हमारा है,
कानकान्ह के खड़े कीन जिन धेनुक, सोई सारा है
नाम धरैं जे तऊ हमारो तिन मानहु झख मारा है;
जाके असि ऊँचे सम्बन्धी ताको कहँ नकारा है ?
बड़े बड़े कवि, पण्डित, ज्ञानी, जग जिनते उजियारा है;
तेऊ लहैं उपाधि हमारी जब तब; अस सत्कारा है॥

इसी तरह का मज़ाक १९ अक्टोबर १९०० के 'वेङ्कटेश्वर-समाचार' में प्रकाशित 'बलीवर्द' शीर्षक कविता में किया गया है। द्विवेदी जी एक महाशय से मिलने गये। वे बड़े अहङ्कारी निकले। उन्होंने द्विवेदी जी की कुछ भी परवा न की। वस्तुतः बलीवर्द की उपमा अहङ्कारी पुरुष से नहीं की गई है; किन्तु बलीवर्द के रूप में उन गर्विष्ठ के स्वरूप और महिमा का वर्णन किया गया है—

अभिमानी में वृषभ ! तुम्हारा लक्षण सभी समाता है।
तौल तुम्हारी करें उसी से यही चित्त में आता है।
बलीवर्द ! मत बुरा मानना, बात सत्य हम कहते हैं,
झूठ बोलनेवाले से हम सदा दूर ही रहते हैं।
गज भी जो आवै, तुम उसकी ओर न आँख उठाते हो,
लेटे कभी, कभी बैठे ही, कभी खड़े रह जाते हो,

मैं पहले कह चुका हूँ कि कितने ही लोगों की सहायता द्विवेदी जी गुप्तरूप से यथाशक्ति किया करते थे। बाज़ बाज़ ख़ानदानों का परिपालन तब तक करते रहे जब तक उस ख़ानदान का कोई लड़का समर्थ न हो गया। ऐसे ही एक कुटुम्ब में बरात आई। सम्बन्धी उच्च कुलाभिमानी कान्यकुब्ज थे। विवाहों में जैसा होता है, किसी कारण से नाराज़ हो गये। लड़कीवालों की ओर से द्विवेदी जी भेजे गये कि वही रुष्ट समधी जी को मनावें, शायद मान जायँ। द्विवेदी जी जनवासे गये। पता लगा कि समधी जी दुशाला ताने निद्रा के बहाने लेटे हुए हैं। बरातियों में एक ऐसे व्यक्ति थे जिनको द्विवेदी जी की ही कृपा से रेलवे में जमादारी मिली थी। द्विवेदी जी ने सोचा कि जमादार साहब की मार्फ़त ही समधी जी तक रसाई हो जायगी। उन्हें क्या पता था कि बरात में जमादार साहब का और ही स्वरूप है। सहायता करना तो दूर रहा, अकड़कर उन्होंने कहा—"जैहौ इहाँ ते, यहु काव्य करबु न आय, यहु [illegible] जियन क्यार मामिला है, तुम्हरी बातन ते न सुरझी"। [illegible] फटकार सुन द्विवेदी जी अपना सा मुँह लेकर लौट आये। 'संस्कृतचन्द्रिका' में प्रकाशित 'कान्यकुब्जलीलामृत' नामक कविता लिखकर अपना मनस्ताप मिटाया। [illegible]

सुन्दर कविता का पूर्वार्द्ध व्यङ्ग्योक्तियों से परिपूर्ण है और उत्तरार्द्ध उपदेशों से। देखिए—

सदैव शुक्लारुणपीतवर्ण-
पाटीरपङ्कावृतसर्वभाल।
आभूतलालम्बिदुकूलधारिन् !
हे कान्यकुब्ज द्विज ! ते नमोऽस्तु॥

सफ़ेद, लाल और पीले रङ्ग के चंदन का खौर जिसके सारे मस्तक पर चढ़ा हुआ है, धोती जिसकी इतनी लम्बी है कि ज़मीन तक ख़बर लेती है; ऐसे हे कान्यकुब्ज देवता जी ! आपको हमारा नमस्कार है।

भवन्ति ते धन्यतमा द्विजा ये
त्वदीयसम्बन्धमवाप्नुवन्ति।
व्रजन्ति ते ब्रह्मपदं तथान्ते
त एव वंशं निजमुन्नयन्ति॥

जिन पुण्यवान् ब्राह्मणों से आप सम्बन्ध करते हैं, वे धन्य हैं, ब्रह्मपद उन्हीं को अन्त में मिलता है; और वही अपना वंश उच्च पदवी को पहुँचाते हैं।

दिनानि ते तानि गतानि नातः शुष्काभिमानेन सुवंशजेन।
भविष्यति त्वत्कुशलं कदापि; विचिन्तयान्तःकरणे त्वमेव॥

आपके वे पहले दिन गये। उच्च कुल में पैदा होने के शुष्क अभिमान को आप अब जाने दीजिए। ऐसा न करने से आप कदापि अपनी कुशल न समझें। आप अपने अन्तःकरण में विचार करके देखिए इसी में आपकी भलाई है।

त्यजालसं शीलय विप्र विद्यां विधेहि दुष्टव्यवहारनाशम्।
उदारतां बन्धुषु दर्शय त्वं, कुरुष्व कार्यं सुजनादृतं च॥

विप्र जी ! आप आलस छोड़िए, विद्या पढ़िए, बुरे बुरे व्यवहारों की इतिश्री कीजिए। अपनी जातिवालों के ऊपर अधिक उदार हूजिए और भले आदमी जिस काम को अच्छा कहते हैं उसे करना सीखिए।

द्विवेदी जी अपने आय-व्यय का हिसाब पैसे पैसे का रखते थे। इसी तरह अपने समय का भी। फ़िज़ूल वक्त जाना उन्हें अखर जाता था। स्थान की स्वच्छता, चीज़ों की सँभाल और सजाकर यथास्थान रखना उन्हें बहुत प्रिय था। उनमें मितव्ययिता और उदारता का अच्छा संयोग था। बाहर से आये हुए पत्र-पत्रिकाओं के पैकटों के कवर और बन्धनों को रख छोड़ते थे और अपनी ओर से जानेवाले पैकटों के काम में ले आते थे। मन्दाग्नि और उन्निद्र रोग से वे यावज्जीवन पीड़ित रहे, पर उनका संयम ऐसा था जिससे उनके कामों में बाधायें कम पड़ने पाती थीं और जिसकी बदौलत उनका जीवन इस संसार में इतने दिन चल सका। रुग्णावस्था में भी निरामिषान्न ही ग्रहण करते थे। मांसाहार से उन्हें घृणा थी, जैसा उनकी 'मांसाहारी को हंटर'-शीर्षक कविता से प्रकट है—

रे रे अजान ! रसनारत ! बोलु बोलु;
मौनावलम्ब कत ? रे मुख खोलु खोलु।
मिष्टान्नहू न कह एकहु तोहिं भावै ?
स्वादिष्ट मूल-फलहू न कहा सुहावै ?
जो तू अरे ! कहत कम्पित होत गात,
लीलै महामलिन मांस मिलाय भात।
जानै नहीं निज हिताहितयुक्त बात;
है हानि जाहि महँ तोहिं सुई सुहात !!
आरक्तरक्त जिहि माँहिं सनो बनेरो;
मज्जा-प्रपुञ्ज सन जो सब ओर घेरो।
जामे भरो अति अपावन अ[illegible]-जाल;
तू सोइ मांस गटकै नित ला[illegible]ाल॥
लै अस्थि, ताहि अपने मु[illegible]ाहिं डारी,
चूसै शुनी शुनक हर्ष [illegible]शेषधारी।
जो तूहु मोद-युत चाबतु हाड़ हा हा !
तो श्वानवर्ग अरु तो महँ भेद काहा ?
माता समान पय-पान सदा करावै;
बेरी, पलाश अरु आक, जवास खावै।
सोई अजा भखत तोहिं न लाज आई,
हा हन्त ! हा ! इतिक घोर कृतघ्नताई !!!
नाई जु भूलि नख जीवित काटि देवै;
तू आर्तनाद करिकै कर खैंचि लेवै।
तो कण्ठ काटि पशु मारन में कितेक
होवै व्यथा शठ ! हिये महँ सोचु नेक।
अत्यल्प काल अथवा बहुकाल माहीं
रे ! नाश है अवशि संशय लेश नाहीं
जो अन्त, मांस-रस-पुष्ट-शरीर छूटै,
तो मूढ़ ! व्यर्थ कत पातक-पुञ्ज लूटै !

स्वप्राण हैं प्रिय अरे शठ ! तोहि जैसे,
अन्यान्य जीवगणहू कहँ मूर्ख तैसे
काहे कमात पर-पीड़न-पाप भार !
धिक्कार तोहिं शत बार सहस्र बार।

यद्यपि द्विवेदी जी हर एक रस में कविता करने की योग्यता रखते थे, तथापि शृङ्गाररस की ओर उनकी प्रवृत्ति कम थी। इसका बहुत कुछ कारण यह भी था कि वे तत्कालीन कवियों की रुचि अन्यान्य रसों और विषयों की ओर फेरना चाहते थे। करुणरस की ओर उनकी लेखनी जल्दी झुकती थी, जैसा कि 'अयोध्या का विलाप', 'स्वप्न', 'नागरी ! तेरी यह दशा !!!' 'त्राहि नाथ त्राहि,' 'भारतदुर्भिक्ष' आदि कविताओं से प्रतीत होता है। इन सभों में ७ आक्टोबर १८९८ के 'भारतमित्र' में प्रकाशित 'बाल-विधवा-विलाप' शीर्षक कविता अधिक हृदयग्राहिणी हुई है। कविता तभी बन पड़ती है जब कवि का हृदय किसी भाव से भरा हो। भावोद्‌गार अवसर पाकर ही होता है। द्विवेदी जी की भी वे कवितायें ख़ासकर हिन्दी की, बड़ी सरस हैं जो किसी ख़ास मौक़े पर की गई हैं, जिनके बनाये जाने में कोई विशेष कारण रहा है। यों तो सुन्दर कल्पनाओं और उत्प्रेक्षाओं की छटा उनकी संस्कृत-कविता में जिसका पहले उन्हें शौक़ था, बहुतायत से मिलती है। 'शिवाष्टकम्', 'प्रभातवर्णनम्', 'सूर्यग्रहणम्', 'मेघमालां प्रति चन्द्रिकोक्तिः', 'काक-कूजितम्', 'समाचारपत्रसम्पादकस्तववार्द' कविताओं को पढ़-कर बड़ा आनन्द प्राप्त होता है, परन्तु जो रसोद्रेक पूर्वोक्त 'बाल-विधवा-विलाप' में है वह अन्यत्र नहीं मिलता। इसका यही कारण है कि द्विवेदी जी को अपने साले की मृत्यु हो जाने पर अपनी विधवा सरहज को देखकर भारतवर्ष की हिन्दू बाल-विधवाओं की दशा का स्मरण हो आया और उन्होंने उनका मर्मस्पर्शी वर्णन कर डाला—

आकाश-मध्य रवि अंशु अनन्तधारी,
देखो प्रदीप्त दिन में तमपुञ्जहारी।
ताराधिनाथ जनमानसमोदकारी,
नक्षत्रयुक्त विलसै रजनीविहारी।
विद्युत्प्रकाश अनलोद्भवभास भारी,
नाना नई विमलदीपशिखा सुखारी।
तेजोमयी शुचि महामणिमूर्ति सारी।
रत्नादिराशि महि माहिं घनी निहारी।
काहे तऊ अहह ! मोहिं महाऽन्धकारा
सर्वत्र सम्प्रति दिखाय अहो ! अपारा।
सत्प्रश्न हाय ! यह, जीवन के अधारा !
पापिष्ठ हृत्पटल फारि करै दरारा !!

मेरे दिनेश तुमहीं, तुमहीं निशेशा,
तारादि हू तुमहिं नाथ ! रहे अशेषा।
प्राणेश ! अस्त तव होतहि लोक माहीं,
सारे प्रकाश सम अस्त भये लखाहीं।
वैधव्यजातदुखसम्मुख तीव्र आगी,
है कः पदार्थ ! जरु देह ! अरे अभागी।
हे प्राणनाथ ! नहिं सम्भव सोउ हा हा,
जानौं भले विधिविरुद्ध शरीरदाहा।

देखी कहूँ न विटपाश्रयहीन बेली,
प्राचीन होहु अथवा अति ही नवेली।
मैं मन्दभाग्य तिनतेऽधिक भूमि आई,
आधारहीन जउ जीव तऊ न जाई।
प्राणाधिक ! त्वदनुराग हिये जगाई,
राखौं शरीर यदि दारुण दुःख पाई।

गालि-प्रदान निशिवासर नित्य पैहौं
हा हन्त ! दुःखमय जीवन यों बितैहौं।
"रंडे ! तुही अवश मत्सुत लीन खाई"
त्वन्मातु नाथ ! जब तर्जहि यों रिसाई।
है है इहै तव मदीय मताऽधिकाई
पृथ्वी फटै त्वरित जाहुँ तहाँ समाई।

ऐसो भयो कहहु मोसन कौन पापा ?
जो देहिं मोहि सिगरे मिलि तीव्र तापा।
आपै मरो जु तिहि मारन में उछाहा !
अन्याय हाय ! इहि ते बढ़ि और काहा ?
धोती मलीन तन, कज्जलहीन नैन,
सिन्दूरबिन्दु बिन मस्तक, दीन बैन।
एरंड दंड सम हस्त जटालुकेश,
सद्देशवासि अस कीन मदीय वेश।
एहो समाज कुलदीप ! इती हमारी
विज्ञप्ति लेहु सुनि दीन दशा निहारी।

स्मृति-मन्दिर के पास श्री हनुमानजी की मढ़िया
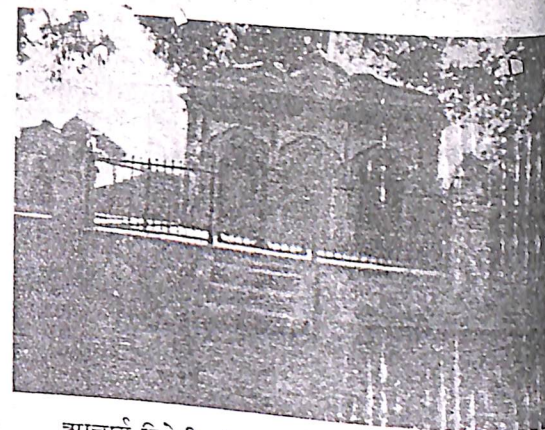
आचार्य द्विवेदी जी की धर्मपत्नी का स्मृति-मन्दिर

पीछे की पंक्ति [में खड़े] बायीं ओर से—श्रीम[ती] विद्यावती, पंडित कमलाकि[शोर] त्रिपाठी, श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी की धर्मपत्नी श्रीमती राधादेवी।

बीच की पंक्ति में कुर्सी पर बैठे बायीं ओर से—द्विवेदी जी की चचेरी बहन लक्ष्मीदेवी (९० वर्ष) आचार्य द्विवेदी जी, उनकी गोद में श्रीमती विद्यावती का पुत्र इन्द्रदत्त (७ मास), लक्ष्मीदेवी की लड़की की लड़की श्रीमती दुलारीदेवी।

नीचे की पंक्ति में—श्री कमलाकिशोर के साले की लड़की रानीदेवी, श्रीमती विद्यावती का पुत्र रुद्रदत्त, श्री कमलाकिशोर की पुत्री मनोरमा।
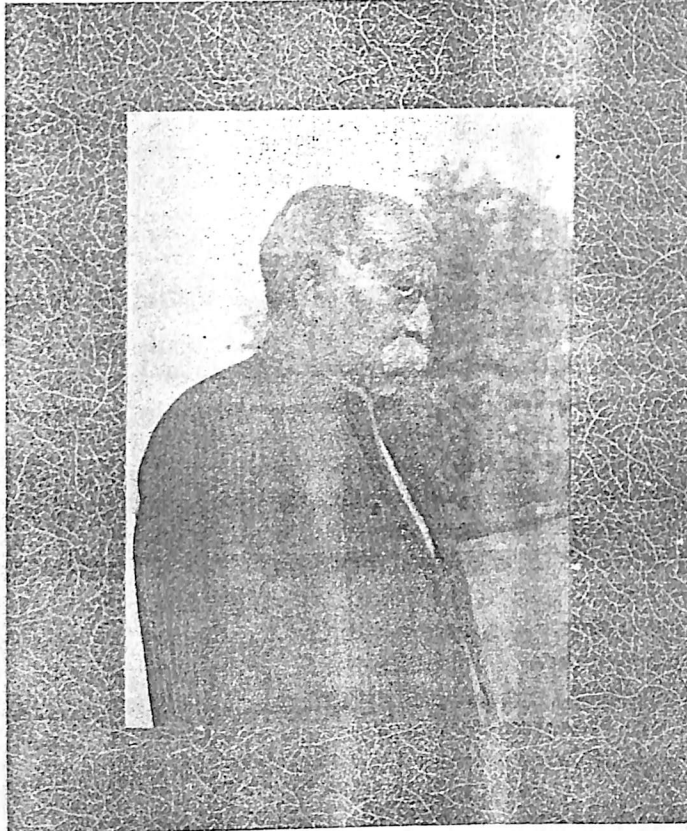
आचार्य द्विवेदी जी—जनवरी सन १९३४ में

जो पै करो न सधवा विधवा न भाई !
दीजौ तदीय दुख अन्य अहो ! नसाई ॥

ऐसा जान पड़ता है कि द्विवेदी जी की इस विज्ञप्ति का कुछ लोगों के हृदय पर उल्टा ही असर पड़ा। वे कहने लगे कि द्विवेदी जी विधवा-विवाह के पक्षपाती हैं। यद्यपि आचार और खानपान में द्विवेदी जी ने कभी उच्छृङ्खलता नहीं की, यहाँ तक कि कान्यकुब्जों में प्रचलित मर्यादा के भीतर ही रहे, तो भी बहुत से लोगों के इस विषय में उनके उदार विचार असह्य ही थे। इसमें सन्देह नहीं कि रूढ़ियों के वे क़ायल न थे और न वैदिक कर्म्मकाण्ड के झमेलों में उलझने की उनमें बहुत श्रद्धा थी, परन्तु उनका हृदय भगवद्भक्ति से परिपूर्ण था। श्रीमद्भागवत के स्तोत्रों को पढ़कर तल्लीन हो जाते और अश्रुपात करने लगते थे। मत्सरग्रस्त महानुभावों को किसी के तात्त्विक विचारों और सदाचरण से क्या मतलब ! द्विवेदी जी को नास्तिक कहने से न चूके। अपने धार्मिक सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए द्विवेदी जी ने ऐसे निन्दकों को स्वयं १७ मई १८९९ को राजस्थान में प्रकाशित निम्नलिखित उत्तर दे दिया है—

"कथमहं नास्तिकः ?"

(१)

जागर्ति देव ! तव शक्तिरनन्तरूपा,
व्याप्ता चराचरमये भुवनत्रयेऽस्मिन् ।
तारापथे, भुवि, नरे च, नरेश्वरे च,
तोयेऽनले, मरुति मृद्यपि साऽऽविरास्ते ।

हे देव ! आपकी अनन्त शक्ति इस चराचरपूरित त्रिभुवन में व्याप्त होकर देदीप्यमान हो रही है। वह कहाँ नहीं है ? आकाश में, पृथ्वी में, राजा में, प्रजा में, अग्नि में, जल में, वायु में, सब कहीं है। और कहाँ तक कहें—पत्तियों तक में वह विद्यमान है।

(२)

पत्रं न कम्पमयते धरणीरुहाणा-
माज्ञां विनैव तव तत्त्वविदो वदन्ति ।
जानामि सवमहमीश्वर ! चेतसीदं
तर्हि प्रभो ! कथमहो ननु नास्तिकोऽस्मि ?

हे ईश ! आपकी आज्ञा बिना पत्ता तक नहीं हिलता—यह बड़े बड़े तत्त्वज्ञानी महात्मा कह रहे हैं। इस बात को हम भी भली भाँति जानते हैं अतः हे प्रभो ! हम नास्तिक क्योंकर हैं ? यह हमें नहीं समझ पड़ता।

(३)

वेदास्त्वदीयवचसां यदयं विलासो
जानाम्यहं तदपि; तान् हृदि धारयामि ।
केनास्तु नाम मम नास्तिक ? इत्यवैषि,
त्वञ्चेद्दयाधन ! दयालुतयाऽभिधेहि ॥

चारों वेद आपकी वाणी का विलास हैं अर्थात् आप ही के मुख से निकले हुए हैं, इसे भी हम जानते हैं; जानते ही नहीं किन्तु वेदों को हृदय से मानते भी हैं। फिर हमारा नाम "नास्तिक" क्योंकर हो सकता है ? हे दया-धन ! यदि इसका भेद आप जानते हों तो दया कर आप ही हमें बतलाइए।

(४)

जानाति तत्त्वमिदमेव सदा जनो ये
ब्रूहि त्वमेव भगवन् किमु नास्तिकः सः ?
एवं भवेद्यदि तदा जगतीतलेऽस्मिन्
मन्ये ह्यभावमहमीश ! सदास्तिकानाम् ॥

हे भगवान् ! जो मनुष्य इस तत्त्व को जानता है, आप ही कहिए क्या वह नास्तिक है ? हे ईश यदि ऐसी बात सम्भव है तो इस महीतल में हमारी समझ में कोई आस्तिक ही नहीं है; सभी नास्तिक हैं।

(५)

मूर्त्तिस्तु नौमि निखिलेष्वमरालयेषु,
नाहं, न, देव ! शृणु सत्यवचो वदामि ।
सत्तां विलोक्य सकले जगति त्वदीयां
प्रीतिस्तथाप्यतिशया प्रतिमासु नो मे ॥

हे देव ! जितने देवमन्दिर हैं, उनमें स्थापन की गई मूर्तियों को हम नमस्कार नहीं करते, ऐसा नहीं, हम नमस्कार करते हैं। हमारे इस कथन को आप सत्य समझिए तथापि, आपकी सत्ता को, इस सारे जगत् में विद्यमान देख, केवल प्रतिमाओं में ही हमारा अतिशय प्रेम नहीं।

(६)

आश्चर्य्यमेतदखिलेश ! न ते प्रभूतां
शक्तिं विलोकयत एव चराचरे मे ।

सर्वत्र पश्यति तव प्रभुतां प्रभो ! यः
स त्वेकवस्तुनि कथं ! विदधातु भक्तिम् ?

हे अखिलेश ! आपकी महती शक्ति को, चराचर में देखनेवाले हमारे लिए, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। हे प्रभो ! आपकी प्रभुता को जो सर्वत्र, सारी वस्तुओं में देख रहा है, वह एक ही वस्तु की भक्ति में, किस प्रकार लीन हो सकता है ?

(७)

सद्धर्म्मसारमनुमाय यथामतीदं,
शोकार्तबालविधवासु दयां दधेऽहम्।
तेनैव नास्तिकनरः किमहं भवेयम् ?
पश्य त्वमीश ! जड़ता जगतोऽस्य केयम् ?

हे ईश ! इस प्रकार, यथामति, सब धर्म्मों का सार समझकर शोकार्त्त बाल-विधवाओं के ऊपर हमको दया आती है। तो क्या, इससे हम नास्तिक हो गये ? देखिए तो सही; संसार की इस जड़ता का कहीं ठिकाना है ?

हस्तः कदापि कलितो नहि गोमुखीषु
सन्ध्यापि देव समये समुपासिता न।
जानासि सर्वमिदमेव वदाम्यहं किं ?
स्वान्ते सदैव यत ईश ! विराजसे त्वम् ॥

हे देव ! हमने भूल से भी कभी गोमुखी में हाथ नहीं डाला; यही नहीं किन्तु यथासमय सन्ध्योपासन भी नहीं किया। हे ईश, यह सब आप स्वयं जानते ही हैं, हमारे कहने की क्या आवश्यकता ? क्योंकि आप तो सदैव सबके हृदयारविन्द में विराजमान हैं।

नित्यं जपामि यदहं शुचि सत्यसूत्रं
लोके तदस्तु मम मन्त्रजपः पवित्रः।
या सज्जनेषु भगवन् ! मम भक्तिरेषा;
सैव प्रभो भवतु देवगणस्य पूजा ॥

हे भगवन् ! पवित्र सत्य का जो हम सदैव जप किया करते हैं, उसी को आप हमारा मन्त्र-जप समझिए; और सत्पुरुषों में जो हमारी भक्ति है, उसी को हे प्रभो ! हमारी देवपूजा मानिए।

सर्वेषु जीवनिचयेषु दयाव्रतं मे
श्रेयो ददातु नियतं निखिलव्रतानाम्।
अच्छाच्छचन्दनरसादपि शीततोमा-
मानन्दयत्वनिशमीश परोपकारः ॥

हे ईश ! जीवमात्र के विषय में हमने जो दयाव्रत धारण किया है, वही हमारे लिए, प्रदोषादि सारे व्रतों के फल का दाता होवे और उत्तमोत्तम चन्दन से भी अधिक शीतलता को धारण करनेवाला परोपकार सदैव हमको आनन्द देता रहे।

अन्यद् ब्रवीमि किमहं ? जगदेकबन्धो !
बन्धुर्न कोऽपि मम देव ! सुतोऽपि नास्ति।
तन्नास्तिकस्य भगवन्नथवाऽस्तिकस्य;
हस्ते तवैव करुणाम्बुनिधे ! गतिर्मे ॥

हे देव ! और अधिक हम क्या कहें ? आप इस जगत् के एकमात्र बन्धु हैं परन्तु संसार में हमारे कोई बन्धु नहीं; पुत्र भी कोई नहीं। अतएव, हे करुणासागर ! हे भगवन् ! इस नास्तिक अथवा आस्तिक की गति केवल आप ही के हाथ है।

हा ! द्विवेदी जी

श्रीयुत कवीन्द्र अम्बिकेश

प्यारो राष्ट्र-भाषा का एकान्त जो उपासो रहा,
वासी सुरपुर का द्विवेदी हुआ प्यारा हाय।
जिसका बना है ऋणी हिन्दी-भाषा-भाषो प्रान्त,
प्यारा महावोर हमसे है हुआ न्यारा हाय।

जिसको आचार्यता का चार्ज लेनेवाला और,—
भारत में कोई है न आर्य हा ! दुलारा हाय।
फूटा हिन्द-माता के सुबिन्दी का अमूल्य रत्न,
टूटा आज हिन्दी के सुभाग्य का सितारा हाय।

अव्यक्त-वेदना

लेखक, श्रीयुत व्रजेश्वर

रही न कुछ लालसा हृदय में,
सफल हुईं आशायें।
खिल खिल कर हँस रहीं आज
मेरी कल्पना - लतायें।
स्वर्णिम-नभ में इंद्र-धनुष-सी
जीवन-संध्या फूली।
शरद्-पूर्णिमा-सी निशि भी,
कालिमा-मलिनता भूली।
अपने मन की संचित निधि मैं
बाँट चुका जन-जन में।
कुछ भी अंतर रहा न मन में
परजन और स्वजन में।
सब मेरे हैं, मैं सबका हूँ,
विस्तृत है मेरा परिवार।
पर बढ़ता जाता क्यों दिन दिन
मेरे भारी मन का भार ?
अपनों-ही के बीच समझता,
मैं क्यों अपने को एकान्त ?
(शान्ति-सौम्यता) की बेला में
क्यों होता जाता उर क्लान्त ?

❀ ❀ ❀

मूर्त्त बन गये भाव न जाने
कितने कोमल और कठोर !
मूक बनी दब गई कौन-सी
पर मेरी भावना-हिलोर ?
हाँ, मैं नहीं निकाल सका हूँ
अपने मन का भारो चोर।
इसी लिए भर भर आता है
उर मेरा वेदना-विभोर !
नीरस और कठोर बना था
मेरे जीवन का व्यापार।
इसी लिए मैं उठा न पाया
कोमल-कान्त-मधुर-सा भार !
यह जीवन-अवकाश बन गया
मौन-व्यथा का पारावार
कैसे पाऊँ पार अकेला,
छोड़ गया माझी मँझधार।

❀ ❀ ❀

मन का भार भुलाने को ही
हा, कितने उपचार किये !
जीवन की आराध्य भारती
के नित नव शृंगार किये !
व्यर्थ गई सब पूजा मेरी
सभी याचना रिक्त हुई।
मेरे मन की पीर घुमड़-घिर
आँखों में आ व्यक्त हुई।
जीवन ही यह व्यर्थ गया, यदि
तुम्हें मूर्त्त कर सका नहीं।
हे मेरी आराध्य,
हृदय में, ही जब तक तुम छिपी रहीं।
मूर्तिकार पत्थर में कैसे
सके तुम्हारी मूर्ति उतार।
चित्रकार को कैसे दे दूँ,
अपना कोमल भाव उधार ?
कविता बन तुम उठ आतीं हो,
जब हिलोर-सी मानस में।
ये निष्ठुर-बेदर्द नयन
भर देते चार मधुर रस में !

❀ ❀ ❀

मिल जातीं यदि एक बार भी
देवि, कभी फिर जीवन में !
हरा भरा उपवन लग जाता
फिर निर्जन बीहड़-बन में !
तुम्हें अमर कर पाता यदि मैं,
देवि, हृदय की ज्योति-अमंद !
मन का भार उतार शान्ति से
कर सकता निज आँखें बंद !

द्विवेदी जी से मेरी घनिष्ठता

लेखक, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

हज़रत ईसा मसीह की बीसवीं शताब्दी के शुभागमन की सूचना मिल चुकी थी। मैं इन्हीं दिनों स्वतन्त्रता की खोज में भटकता हुआ श्री विश्वनाथ जी की ज्ञानपुरी काशी में पहुँचा। मेरा वहाँ किसी से परिचय नहीं था, केवल आर्यसमाज ही एक-मात्र आधारभूत साधन था और उसका भी था बुलानाला में एक खण्डहर-मात्र—कोई अपना मकान नहीं था। मैं था आर्यसमाजी और वह भी १०४ डिग्री टेम्परेचर रखनेवाला—बड़ा कट्टर, जिसको बचपन से ही स्वामी दयानन्द जी महाराज के सिद्धान्तों की घूँटी पिलाई गई थी। सो. मैं लगा अपने आर्यबन्धुओं की तलाश करने।

यहाँ पर तीन मुख्य आर्यसमाजी थे, जिनमें बाबू माधोप्रसाद जी खत्री बड़े सुसभ्य और सुशिक्षित व्यक्ति थे। मैं उन्हीं के पास पहुँचा। उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत था। जहाँ एक ओर वे पक्के समाजसुधारक थे, वहाँ दूसरी ओर नागरी-प्रचार के ज़बर्दस्त पोषक और साथ ही खत्रियों के परम सहायक। खत्री होने के नाते उन्होंने मुझे अपना लिया और मेरा वहीं रहने का प्रबन्ध कर दिया।

चूँकि बाबू माधोप्रसाद जी काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में बराबर आते जाते थे, अतएव मेरा भी वहाँ पहुँच जाना स्वाभाविक ही था। सभा में मेरा परिचय बाबू श्यामसुन्दरदास जी खत्री से हुआ। वे थे सभा के प्राण और उन्हीं के इर्द-गिर्द काशी के साहित्य-प्रेमी जुगुनुओं की तरह टिमटिमाते थे।

बाबू श्यामसुन्दरदास जी की प्रेरणा से मेरी वाक़फ़ियत 'सरस्वती' देवी के साथ हुई; बाबू साहब थे उसके सम्पादक और उन्हें तलाश थी लेखकों की। मैं लेख लिखने की कला से बिलकुल अनभिज्ञ न था। पञ्जाब के उर्दू-पत्रों में मैं कई लेख लिख चुका था और उर्दू के प्रसिद्ध ग्रन्थ—'फ़साना आज़ाद' के बीच से भी मैं गुज़र चुका था, इसी लिए मुझे 'राजर्षि भीष्म पितामह की जीवनी' लिखने में कुछ दिक़्क़त न हुई और वह 'एक विद्यार्थी' के नाम से 'सरस्वती' में छप गई। वहीं से मेरा हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश हुआ।

न जाने क्यों स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि जी घोष ने 'सरस्वती' का सम्पादन-भार बाबू श्यामसुंदरदास जी से लेकर द्विवेदी जी को सौंप दिया। बाबू साहब शीघ्र ही 'सरस्वती' से अलग हो गये।

इसी समय मैं नई दुनिया की ओर जाने के लिए काशी छोड़ने का अपना प्रोग्राम बना चुका था। ईश्वर ने मेरी इच्छा पूर्ण की और मैं बड़ी जद्दोजहद के बाद अपने निर्दिष्ट स्थान पर जाकर बैठ गया। पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने मेरी तलाश की। वे थे बड़े जागरूक सम्पादक। 'सरस्वती' में लेख लिखनेवाले व्यक्तियों [illegible] जब उन्होंने एक 'विद्यार्थी' के द्वारा लिखा हुआ भीष्म [illegible] का जीवन-चरित पढ़ा तब उन्होंने उस छात्र की खोज की। जब उन्हें मालूम हो गया कि वह विद्यार्थी शिकागो विश्वविद्यालय (अमरीका) में पहुँच गया है तब उनके हर्ष का ठिकाना न रहा। जनता को आवश्यकता थी नवीन ज्ञान की, स्वाधीनता की पहचान की और आधुनिक [illegible] स्नान की। 'सरस्वती'-द्वारा वे उस पुनीत कार्य को भली प्रकार कर सकते थे। वे थे कुशल सम्पादक और कर्तव्य-परायण व्यक्ति। उन्हें पता था कि मासिक पत्रिका ज्ञान-प्रचार के लिए अत्यन्त उपयोगी अध्यापिका बन सकती है और वे उसके द्वारा दूर ग्रामों में बैठे हुए देहातियों के ज्ञान का दीपक जला सकते हैं। उन्होंने 'सरस्वती' को ऊँचे दर्जे की ज्ञान-पत्रिका बनाने का दृढ़ सङ्कल्प किया था। वे थे धुन के पूरे। सम्पादक कुछ भी सेवा नहीं कर सकता बिना योग्य लेखकों की सहायता के। अकेला वह कहाँ तक लिखेगा? आख़िर व्यक्ति की शक्तियों की भी कुछ सीमा होती है। पहले कुछ अंक तो द्विवेदी जी ने दिन-रात [illegible] श्रम कर अपने ही बूते पर निकाले, क्योंकि बाबू श्यामसुन्दरदास जी के अलग हो जाने से कुछ लेखकों ने 'सरस्वती' में लिखने से हाथ खींच लिया था। द्विवेदी जी ने [illegible] नहीं छोड़ा; उन्होंने चारों तरफ़ निगाह दौड़ाई और [illegible] लेखक पैदा करने का इरादा किया।

अतएव द्विवेदी जी का पत्र मेरे पास पहुँचा। कुछ भेजने के लिए और 'सरस्वती' के दर्शन मुझे प्रत्येक मास होने लगे। चूँकि मैं इस नये सम्पादक को जानता नहीं था, इसलिए मैं लेख भेजने में संकोच करता था—शायद छपे, न छपे; इस नये सम्पादक के पसन्द न आये और काट-छाँट कर दे। मैंने उत्तर में उनसे निवेदन किया कि मैं जो कुछ लिखूँ उसमें आप भाषा का संशोधन भले ही कर दें, किन्तु विचारों को न बिगाड़ें। द्विवेदी जी ने मुझसे एक लेख माँगा नमूने के तौर पर; मैंने 'शिकागो में मेरी प्रथम रात्रि'—शीर्षक लेख लिखकर भेज दिया। द्विवेदी जी ख़ुश हो गये, क्योंकि भाषा के थे वे पण्डित, उन्हें दरकार थे नवीन भाव। जब मैंने 'आश्चर्यजनक घण्टी' शीर्षक कहानी लिखकर भेजी तब 'सरस्वती'-सम्पादक का हृदय नाच उठा, क्योंकि उस गल्प में बड़ी ख़ूबसूरती से वैज्ञानिक शिक्षा दी गई थी और कहानी भी बहुत ही दिलचस्प थी।

मैं बैठा था नई दुनिया में और पूजा कर रहा था स्वाधीनतादेवी की, इस कारण स्वभावत: मैं अपने लेखों में राजनीति की पुट दे देता था और अपने हृदय के उद्गारों को ज़ोरदार भाषा में लिख डालता था। द्विवेदी जी कभी कभी मेरे वाक्य काट डालते, कभी भाषा को मृदु बना देते। जब मैं ग़ुस्से में आकर उनसे रूठ बैठता और लिखना बन्द कर देता तब वे बड़ी मीठी भाषा में मुझे अपनी परिस्थिति समझाने का प्रयत्न करते। एक सच्चे मित्र के तौर पर मुझे सब बातें स्पष्ट लिख देते थे। वे दिन थे दमन के। ऐसे ज़माने में मेरे जैसा व्यक्ति जब अमरीका के स्वाधीन वातावरण से ओतप्रोत होकर भारत-वर्ष की ग़ुलामी का दुःखद चित्र खींचता था तब भला द्विवेदी जी उसे कैसे छाप सकते थे? ज़िम्मेदारी बड़ी चीज़ है; वह मनुष्य में संयम लाती है और उसमें दूरदर्शिता भरती है। इस प्रकार चार वर्ष तक मैं 'सरस्वती' में निरन्तर लेख लिखता रहा और द्विवेदी जी मेरा पुरस्कार आवश्यकता पड़ने पर मेरे पास भिजवा देते थे। बड़े ही ईमानदार थे वे। कभी किसी लेखक को उनसे पैसे के सम्बन्ध में शिकायत नहीं रही। जिसका जो हक़ होता था उसको वह बराबर मिलता था। इन चार वर्षों के अन्दर अपनी राजनैतिक उग्रता के कारण मेरी द्विवेदी जी से कई बार अनबन हुई, किन्तु उन्होंने मुझे सदा राज़ी कर लिया और प्रेम-पूर्वक समझाकर अपना दृष्टिकोण बतलाया। मैंने भी बाद में अपने और उनके अन्तर को समझ लिया। मैंने अनुभव कर लिया कि द्विवेदी जी अपनी परिस्थिति के अनुसार जितना कर सकते हैं, उससे बहुत अधिक वे कर रहे हैं; उससे अधिक 'स्वाधीनता' के प्रचार की आशा उनसे नहीं करनी चाहिए।

मैं निकला अमरीका-भ्रमण के लिए। इन्हीं दिनों मेरे पास 'मर्यादा' के सम्पादक पंडित कृष्णकान्त जी मालवीय के पत्र पहुँचे। उन्होंने भी लेख माँगे। मैंने लेख भेज दिये। यहीं से मेरे और द्विवेदी जी के बीच में ग़लतफ़हमी की जड़ जमी। मैं दोनों पत्रिकाओं को बराबर लेख भेजता रहा।

ख़ैर, मैं सन् १९११ की जुलाई में अपना विद्याध्ययन समाप्त कर भारतवर्ष लौटा और बम्बई से सीधा प्रयाग आया। यहाँ मैं 'मर्यादा'वालों से मिला और [illegible] में जुही जाकर द्विवेदी जी के दर्शन किये। वह दोपहरी मुझे कभी भूलेगी नहीं, जब मैं कानपुर के स्टेशन से इक्के में बैठकर जुही की ओर गया था। मैंने द्विवेदी जी को उनके कमरे में बैठा हुआ पाया। वे बड़े स्नेह से मिले, किन्तु 'मर्यादा' में छपी हुई बातों के कारण खिन्न-से थे। उनमें यही एक दोष था कि वे आवश्यकता से अधिक कोमल प्रकृति के थे। दूसरों के फेंके हुए पैने बाण उन्हें बुरी तरह चुभ जाते थे, इसी कारण उन्होंने अपनी निद्रा खो दी और एक असाध्य बीमारी के शिकार हो गये। पब्लिक में काम करनेवालों की चमड़ी बड़ी मोटी और कठोर होनी चाहिए—ऐसी जो किसी के शब्दबाण-द्वारा बेधी न जा सके। ऐसे ही व्यक्ति अपने विरोधियों के साथ सफलतापूर्वक युद्ध कर सकते हैं और बराबर आगे बढ़ सकते हैं। प्रतिद्वन्द्वी ईमानदार तो होते नहीं, वे प्रत्येक बुरे-भले उपाय से प्रतिस्पर्धी को गिराने की कोशिश करते हैं। 'सरस्वती' थी बड़ी सफल पत्रिका और ग्राहकों की बड़ी प्यारी; उसकी टिप्पणियाँ और लेख देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों में बड़े चाव से पढ़े जाते थे, जिसके कारण द्विवेदी जी की कीर्ति-कौमुदी का प्रकाश दूर दूर तक फैल रहा था। विरोधियों से यह सब न देखा गया और वे लगे 'सरस्वती' के विरुद्ध प्रोपेगण्डा करने। इस

झगड़े में 'सरस्वती'-सम्पादक की तन्दुरुस्ती बहुत बिगड़ गई।

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र के इस परम आदरणीय आचार्य की जीवन-कथा का अन्तिम भाग सचमुच बड़ा दर्दनाक है। वे कई बार मृत्यु के द्वार तक पहुँच चुके थे।

सन् १९२५ की ग्रीष्म ऋतु में भी वे बहुत बीमार थे और जुही में निराशाजनक अवस्था में पड़े थे। वहीं के एक प्रेस में मेरा 'संगठन का बिगुल' छप रहा था। मुझे जब उनकी बीमारी का पता लगा तब मैं बड़ी श्रद्धा से उनसे मिलने गया। वे सूखकर काँटा हो गये थे। लेकिन तिस पर भी उनकी सहृदयता देखिए। पेन्सिल से झट आदरसूचक एक श्लोक बनाकर मुझे भेंट कर दिया। वे आशु-कवि थे—हिन्दी और संस्कृत, दोनों के। इसके बाद भी वे कई बार बीमार हुए, किन्तु उनकी काठी बड़ी मज़बूत होने के कारण वे सदा अपना सिर धारा से ऊपर निकाल लेते थे। इस प्रकार उनका जीवन-संग्राम वर्षों तक होता रहा।

यद्यपि पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी आज हमारे बीच नहीं रहे, तथापि उनकी साहित्य-सेवायें भावी सन्तान कभी भूलेगी नहीं। सारा जीवन इस ब्राह्मण ने योद्धा के रूप में व्यतीत किया और हिन्दी के लिए अपनी तन्दुरुस्ती तक खो दी। वे दिन-रात राष्ट्र-भाषा के उत्थान के लिए चिन्तित रहते थे और बड़े प्रसन्न होते थे किसी अच्छी मौलिक हिन्दी-पुस्तक को देखकर। मुझ पर सदा उनकी कृपा रही और वे मेरी पुस्तकों और लेखों को बड़े शौक़ से पढ़ते थे। हिन्दी-माता के प्रति मेरा अनुराग तो बचपन से ही हो चुका था, किन्तु इस साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने का सौभाग्य मुझे द्विवेदी जी द्वारा ही प्राप्त हुआ। जब 'सरस्वती' में मेरे लेख छपने लगे और इन्होंने अपनी मित्र-मण्डली में मेरी प्रशंसा की तब हिन्दी-संसार मुझे जानने लगा। मेरे लिए सारे देश में एक विस्तृत कार्य-क्षेत्र तैयार हो गया। सचमुच मैं द्विवेदी जी का बड़ा कृतज्ञ हूँ और मेरी तरह कितने ही लेखक उनका हृदय से अभिनन्दन करते हैं, क्योंकि उनकी वजह से ही वे हिन्दी-माता के मन्दिर के पुजारी बन सके। मृत्यु तो सबके लिए अवश्यम्भावी है, किन्तु वे स्त्री-पुरुष धन्य हैं, जो सेवा और बलिदान से अमरत्व-पद प्राप्त करते हैं। जब भी मैं साहित्य-सम्बन्धी अपने प्रारम्भिक जीवन पर दृष्टि डालता हूँ, मुझे द्विवेदी जी 'सरस्वती' हाथ में लिये हुए खड़े दिखलाई देते हैं। मुझे खेद इतना ही है कि हम लोगों ने उनके जीवन का पूरा लाभ न लिया, नहीं तो वे राष्ट्र-भाषा के लिए और भी अधिक उपयोगी हो सकते थे; लेकिन तो भी उनकी कृतियाँ सदा प्रकाश-स्तम्भ बन कर साहित्य-पथिकों को मार्ग दिखलाती रहेंगी।

गुरुदेव

लेखक, ठाकुर गोपालशरणसिंह

मैं भी एक कवि बन जाऊँ यही कामना है,
मेरी प्रतिभा का हो विकास क्षण-क्षण में।
और मैं बटोर लूँ मनोज्ञ-मृदु भाव सभी,
जो भरे पड़े हैं जगती के कण-कण में।
भर दूँ सरसता-मधुरता त्रिलोक की मैं,
निज रचनाओं के सुवर्ण-आभरण में।
फिर वे समस्त भारती की भावनायें भव्य,
भक्ति से चढ़ा दूँ गुरुदेव के चरण में।

जुही का गुरु-द्वारा

लेखक, श्रीयुत नारायणप्रसाद अरोड़ा, बी॰ ए॰

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम तो बचपन से सुनता था, परन्तु साक्षात्कार कभी नहीं हुआ था। पण्डित उदयनारायण बाजपेयी द्विवेदी जी के सहायक थे और प्रतिदिन 'सरस्वती' के लेखों का एक पोथा लेकर मेरे दरवाज़े से जाया-आया करते थे। एक दिन उनसे कहा कि मुझे भी जुही के गुरुद्वारे ले चलो तो बड़ी कृपा हो। वे राज़ी हो गये और मैंने जाकर अपने हिन्दी-भाषा के भावी गुरु के दर्शन किये। मैंने द्विवेदी जी से कहा—"मुझे हिन्दी लिखना नहीं आता। सिखा दीजिए। बड़ी कृपा होगी।" गुरु जी ने कहा—"माता से बात करना घर में कौन सिखाता है? उसी तरह जो बोलो वह लिख लो। ठीक मैं कर दूँगा। बस फिर क्या था।" लिखना, दिखाना और अक्सर का आना-जाना शुरू हो गया।

> "मूर्ख, अपढ़ या अल्पज्ञ यदि कर्त्तव्य-पालन न करे तो उसे क्षमा मिल सकती है। विद्वान् और बहुज्ञ के इस अपराध की क्षमा नहीं। उसकी कर्त्तव्य-च्युति का कुफल बहुत ही भयंकर होता है।"
>
> आचार्य द्विवेदी, सितम्बर १९१४

द्विवेदी जी केवल मुझ सरीखे नाचीज़ के ही गुरु नहीं थे, बल्कि सैकड़ों हिन्दी-लेखकों के गुरु थे। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी उनको अपना गुरु मानते थे और 'प्रताप' के मुख-पृष्ठ पर जो कविता—

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक समान है"—

छपती है वह द्विवेदी जी की ही बनाई हुई है। पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी भी द्विवेदी जी के चेलों में से हैं।

एक दिन मैंने द्विवेदी जी से उनकी 'काव्य-मंजूषा' पढ़ने को माँगी। पुस्तक मेरे हाथ में देते हुए द्विवेदी जी ने कहा—"क्या दोस्तों को देना है?" उनका मतलब पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी से था, जो उन दिनों 'मर्यादा' में द्विवेदी जी की कविता की समालोचना कर रहे थे। मैंने कहा—"नहीं। मैं किसी को पुस्तक दूँगा नहीं। केवल स्वयं पढ़ूँगा।" और ऐसा मैंने किया भी। शीघ्र ही पढ़कर पुस्तक वापस कर दी और उक्त समालोचना के समझने में सहायता भी प्राप्त की।

द्विवेदी जी का यह दस्तूर था कि जो कोई भी उनसे मिलने जाता उसे अपनी डिबिया से दो पान भेंट करते और बातचीत समाप्त कर लेने पर दो पान और भेंट करते, जो इस बात का इशारा था कि बस अब आप तशरीफ़ ले जाइए जैसा कि महात्मा गांधी भी बातचीत समाप्त करने पर कह देते हैं कि "बस खलास।" इससे यह प्रकट होता है कि द्विवेदी जी व्यर्थ की बकवास और समय का नष्ट करना पसन्द नहीं करते थे। बड़े आदमियों की छोटी छोटी बातों से भी अगर हम चाहें तो बहुत कुछ सीख सकते हैं। द्विवेदी जी के कमरे में प्रत्येक वस्तु क़रीने से रक्खी रहती थी। जहाँ से जो चीज़ उठाई गई उसी स्थान पर उसे पुनः रखना आवश्यक था। अगर कोई आदमी इसके ख़िलाफ़ करता तो वे नाराज़ होते थे। कुछ लिखने के बाद जब [illegible] अपने स्थान पर रक्खी जाती थी तब निब की स्याही साफ़ कर दी जाती थी। उनका कमरा ठसाठस तो अवश्य रहता था, परन्तु हर एक चीज़ साफ़-सुथरी दिखाई देती थी। उनको सफ़ाई पसन्द थी और प्रत्येक वस्तु को ढंग से रखने के आदी थे।

पत्रों का उत्तर भी द्विवेदी जी शीघ्र और अवश्य देते थे और दूसरों से भी यही आशा रखते थे।

उनके कमरे में एक फरसा भी टँगा रहता था, जो उनके उग्र स्वभाव का द्योतक था। यदि वे एक बार किसी से नाराज़ हुए तो शीघ्र माफ़ करनेवाले नहीं थे। शायद उसी फरसे को ही देखकर पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी ने उन्हें 'वाक्य-शूर परशुराम' लिखा था।

महात्मा गांधी से मिलती हुई दूसरी बात द्विवेदी जी

में यह थी कि पत्र आने पर उसका लिफ़ाफ़ा द्विवेदी जी फेंक नहीं देते थे, बल्कि चाकू से काटकर उसे रख लेते थे और उसकी पीठ पर लिखते थे। यह उनकी किफ़ायतशारी का नमूना है।

कानपुर से तीन मील दूर जुही की जिस कुटिया में बैठकर द्विवेदी जी ने बरसों 'सरस्वती' का सम्पादन किया है उसे हिन्दी-प्रेमियों को एक साहित्यिक तीर्थ बनाना चाहिए। यह उनकी एक ख़ास यादगार भी रहेगी।

जुही छोड़ने के पश्चात् जब कभी द्विवेदी जी दौलतपुर से कानपुर आते थे तब मनीराम की बगिया में ठहरा करते थे और एक बार वहीं सख्त बीमार भी हो गये थे।

द्विवेदी जी सफल सम्पादक, सच्चे समालोचक, उत्तम अनुवादक और आधुनिक कवि थे। इसमें जिसे शक हो वह 'सरस्वती' की पुरानी फ़ाइलें उठाकर देख ले उसका शंका-समाधान हो जायगा। द्विवेदी जी में जो ख़ास बात थी वह यह थी कि वे हर लेख को अपने साँचे में ढाल लेते थे और ऐसा बढ़िया संशोधन कर देते थे कि छोटे से छोटे लेखक का लेख भी स्वयं द्विवेदी जी की लेखनी में परिवर्तित हो जाता था और एक उत्तम लेख जैसे लगता था। परिणाम यह होता था कि लेखक को उत्साह मिलता था और द्विवेदी जी ने जो शैली स्थापित की थी वह भी बिगड़ने नहीं पाती थी। वर्तमान साहित्य में यह शैली 'द्विवेदी-स्कूल' के नाम से प्रसिद्ध है।

गद्य, पद्य, अनुवाद, समालोचना और मौलिक पुस्तकें द्विवेदी जी ने कई लिखी हैं। साथ ही उन्होंने छोटी छोटी पुस्तकें भी लिखी हैं, और उनमें 'कानपुर का भूगोल' भी एक है। आशा है, उनके स्मारक में उनका लिखा हुआ सारा साहित्य एक आकार-प्रकार में वैसे ही निकलेगा जैसे कि पाश्चात्य लेखकों के ग्रन्थ निकले हैं।

वज्रपात

लेखक, श्रीयुत सागरसिंह 'नागर'

यह वज्रपात !!
सा के मन्दिर में पतझड़-सा है उदासीन जीवन प्रभात !
कविता के वे सुख-स्वप्न अमर,
कल्पना सहचरी का मधु स्वर,
सूने पथ पर का मूक प्यार
गीले पलकों के भाव सजल
लो, फूट पड़े बन करुण-गीत !
लुट गया आह !
यह अरे कौन !
स्पन्दित उर, कवि का हृदय मौन।
उद्गार शान्त, जग-पथ अनन्त—आशा विलीन—
जल-कण में बिखरा हृदय दीन
अस्फुट स्वर में चित्रित अतीत
हैं रहे सिसक कर नयन देख
जग का ताण्डव।
रुक गया क्षितिज के पास कहीं
सन्देश नवल औ' मलय-वात
जीवन की कलियाँ नरम पात—
जो मुस्काते थे अभी अभी—
जीवन की मधु आशा लेकर
द्रुत म्लान हो गये हाय ! सभी।
धिक् वात, अरे धिक् नियति तुझे,
हा ! आई ले यह वज्रपात।

मर्म्मान्तिक मरण

लेखक, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तञ्च जीवनम् ॥१॥
'अद्यैवाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवम्,
'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः,
'धरा को प्रमाव यहै तुलसी
जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना।
'लाई हयात आये क़ज़ा ले चली चले।
अपनी ख़ुशी न आये न अपनी ख़ुशी चले ॥

क्या विवशता है, कैसा अद्भुत परिवर्तन है, क्षणमात्र में क्या से क्या हो जाता है, कुछ कहा नहीं जा सकता। क्षण भर पहले एक संसार सामने था, पर क्षण भर बाद कहीं कुछ नहीं, कैसा आश्चर्यजनक दृश्य है ! क्या कहा जाय—

क्या ठिकाना है ज़िन्दगानी का।
आदमी बुलबुला है पानी का।
'दम आवे न आवे ठिकाना क्या'।

यद्यपि ऐसे वाक्य मिलते हैं, जिससे मरण भयङ्कर नहीं माना जाता। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

कबीर साहब कहते हैं—

मरने से सब जग डरे मेरे मन आनन्द।
मरने ही से पाइए पूरन परमानन्द।

जो कुछ हो, बड़ों की बड़ी बातें होती हैं। जो दिव्य दृष्टिवाले हैं उनकी दृष्टि ही और है, पर हम संसारियों के लिए मृत्यु से बढ़कर भयंकर और कुछ नहीं। सबका मरण मरण ही है, परन्तु विशेष पुरुषों का मरण मर्म्मान्तक मरण है। जिनसे देश, जाति, भाषा और समाज का उत्थान हुआ हो, जो अपने उतने नहीं थे जितने लोक के थे, आजीवन जिनका सेवाव्रत ही रहा, उनका मरण वज्रपात से कम नहीं। स्वर्गीय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का मरण ऐसा ही मरण है। हिन्दी-संसार में वे एक युगप्रवर्तक थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद इस पद को यदि किसी ने प्राप्त किया तो उन्हीं ने प्राप्त किया। किन्तु 'हरेरिच्छा बलीयसी'। मनुष्य के हाथ में सिवा हाय, हाय, करने के और है ही क्या ?

मेरे तो वे ज्येष्ठ भ्राता थे, मुझसे छः महीने बड़े थे। उनका आजीवन मेरे साथ ज्येष्ठ भ्राता का-सा ही बर्ताव रहा। आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा ने मेरे अभिनन्दन-ग्रन्थ के लिए जब उनसे आशीर्वाद माँगा, उन्होंने यह श्लोक लिखकर भेजा—

"अयोध्यासिंहशर्म्माणमुपाध्यायकुलोद्भवम्।
साहित्यज्ञं कविश्रेष्ठं प्रणमामि पुनः पुनः ॥"

मुझको जब यह बात ज्ञात हुई तब मैंने उनसे प्रार्थना की कि आप श्लोक बदल दीजिए, क्योंकि आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं, आपको मुझे आशीर्वाद देना चाहिए, न कि उलटे प्रणाम करना चाहिए, परन्तु उन्होंने मेरी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। मुझको यही लिखा कि मेरी आन्तरिक इच्छा यही है कि आपके अभिनन्दन-ग्रंथ में मेरा श्लोक इसी रूप में रहे। देखिए उनका महत्त्व और औदार्य। मेरे पौत्र ने 'झलक' नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका मेरे विषय में लिखी है। उसने उनकी सेवा में उस पुस्तिका को भेजा था। उसकी प्राप्ति स्वीकार करते हुए वे लिखते हैं—यह पत्र २०।१०।३८ का लिखा हुआ है—मेरे पास उनका यही अन्तिम पत्र है—

"आपने बड़े पुण्य का काम किया। हरिऔध जी मेरे पुराने प्रेमी हैं, वे हिन्दी-साहित्य के उन्नायक और महाकवि हैं। उनके विषय में लिखी गई आपकी पुस्तक यत्र तत्र पढ़कर मुझे परमानन्द हुआ। चिरञ्जीवी भूयाः।"

देखिए इस पत्र में उनका कितना स्नेह और कितनी ममता भरी है। अधिक क्या लिखूँ। लेख लिखते समय मेरा जी बार बार भर आता है, कुछ लिखते भी नहीं बनता ! वास्तव में उनका वियोग मेरे लिए आत्मीय वियोग है। मैं उनको जीवित ही समझता हूँ, क्योंकि 'कीर्त्तिर्यस्य स जीवति', किन्तु परम्परानुसार मैं उनकी सद्गति की कामना करता हूँ, और उनके उत्तराधिकारी से समवेदना प्रकट करते हुए निम्नलिखित पद्य के साथ इस लेख को समाप्त करता हूँ—

चिरजीवी कैसे वे रसिकजन होंगे नहीं
नाना रस ले ले जो रसायन बनाते हैं।
लोग क्यों सकेंगे भूल उन्हें जो लगन साथ
कीर्त्ति-बेलि उर आलबाल में उगाते हैं।
'हरिऔध' कैसे वे न जीवित रहेंगे सदा
जग में सजीव कविता जो छोड़ जाते हैं।
कैसे वे मरेंगे जो अमर रचनायें कर
मर मेदिनी ही में अमर-पद पाते हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के चरणों में श्रद्धाञ्जलि

लेखक, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, काशी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी अब इस असार संसार में नहीं रहे, किन्तु उनकी प्रतिभा, उनका कार्य, उनका त्याग, उनकी महान् विद्वत्ता चिरस्थायी है और चिरकाल तक हिन्दी के सेवकों के पथ-प्रदर्शन का कार्य करती रहेगी। इस ज्योति-स्तम्भ को देखकर हिन्दी के पथिकों को इस भवसागर में पोताश्रय पाने का सहारा मिलता रहेगा। द्विवेदी जी की महान् स्मृति भुलाने से भी न भूलेगी।

बहुत समय हुआ, जब मुझे पहले-पहल आचार्य द्विवेदी जी का परिचय एक कविता से मिला था। उस समय सरस्वती काशी के बाबू श्यामसुन्दरदास जी व अन्य कई सज्जनों के सम्पादकत्व में निकलती थी। द्विवेदी जी की भेजी हुई अनेक कविताओं को सामयिक सम्पादकों ने यह कह कहकर लौटा दिया था कि उनमें राजनीति की, समाज-सुधार की और अन्य इसी प्रकार की गन्ध आती है। तब द्विवेदी जी ने एक कविता 'गर्दभ' पर लिखकर छापी थी। उस कविता की एकाध पंक्तियाँ मुझे स्मरण हैं, जो यहाँ उद्धृत करने की धृष्टता करता हूँ—

"लच्छेदार, चीथड़े कूड़े, जिन्हें बुहारि निकारा है,
सोई, सुनौ सुजानशिरोमणि, मोहनभोग हमारा है ॥"

इसी कविता द्वारा प्रथम दर्शन मुझे द्विवेदी जी का प्राप्त हुआ था। कुछ दिन पीछे जब 'सरस्वती' आचार्य द्विवेदी जी के सम्पादकत्व में आ गई, उस समय भी 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा-द्वारा अनुमोदित" यह वाक्य छपा करता था। पीछे सभा की एक समालोचना 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, जिससे असन्तुष्ट होकर सभा ने इस वाक्य को उस पर से हटा देने का निश्चय किया और बहुत आग्रह करने पर भी उसके रक्खे रहने देने की अनुमति न दी। तब द्विवेदी जी ने सभा से विदा लेते हुए अनीस की एक सुन्दर कविता 'सरस्वती' में छापकर सभा से विदा ली थी। वह कविता भी पाठकों के मनोरञ्जनार्थ यहाँ उद्धृत करता हूँ—

"ए हो विटपवर पुहुप तिहारे हम,
राखिहो हमैं तो शोभा राउरे बढ़ावैंगे।
तजिहौ कदाचित तो विलग न मानैं कछू,
जहाँ जहाँ जैहैं, तहाँ दूनौ यश छावैंगे।
सुरन चढ़ैंगे, नरसिरन चढ़ैंगे,
'सुकवि अनीस' हाट-बाटन बिकावैंगे।
देस में रहैंगे, परदेस में रहैंगे,
काहू भेस में रहैंगे, तऊ राउरे कहावैंगे ॥"

अनीस की इस सुन्दर कविता को उद्धृत करके द्विवेदी जी ने सरस्वती का नाता काशी की नागरी-प्रचारिणीसभा से तोड़ा। उसके उपरान्त द्विवेदी जी के सम्पादकत्व में वह दिनों दिन फली-फूली और हिन्दी के विकसित लेखकों और पाठकों को 'भाखा' के लेखकों के नाम से उठाकर हिन्दी-लेखकों के उच्च सिंहासन पर आरूढ़ किया। मैं उस ज़माने की चर्चा कर रहा हूँ, जब बाबू राधाकृष्ण दास जी ऐसे स्वनामधन्य विद्वान् लोगों को भी नागरी-प्रचारिणीसभा में बैठकर महारानी विक्टोरिया की मृत्यु पर 'अरबी-लिपि' में प्रस्ताव लिखकर उपस्थित लोगों के सामने पेश करना पड़ा था। मैं उस समय बच्चा था, पर यह घटना मुझे अच्छी तरह स्मरण है। उस ज़माने की तुलना आज से कीजिए, जब जगह जगह 'अरबी-अक्षरों' के भक्तों को इस बात की चेष्टा करनी पड़ रही है कि हिन्दी के साथ 'अरबी-अक्षर' भी पाठशालाओं में सब विद्यार्थियों को अनिवार्य-रूप से पढ़ाये जायँ और दुःख से कहना पड़ता है कि आज दिन देश के चिर स्मरणीय महान् नेता लोग भी अनेक विचारों से प्रेरित होकर इसका समर्थन कर रहे हैं। आज जो स्थान हिन्दी को प्राप्त है उसके लाने में आचार्य द्विवेदी जी का अन्यों के साथ महान् स्थान है। अब वह समय आ गया और हिन्दी अपने उस स्थान पर विराजमान है, जहाँ से उसे हटाने में भगीरथप्रयत्न का भी सफल होना कठिन है और इसका श्रेय बहुत कुछ आचार्य द्विवेदी जी को भी है।

आचार्य द्विवेदी जी युग-प्रवर्तक थे, उन्होंने एक युग

की समाप्ति देखी है और दूसरे युग के आरम्भ कराने में हाथ बँटाया है, किन्तु स्वयं उनको इस असार संसार को उसी दीनावस्था में त्यागना पड़ा जैसा कि ऐसे पराधीन देश में विद्वानों और युगप्रवर्तकों को करना पड़ता है। अभी द्विवेदी जी से थोड़े दिन पहले स्वनामधन्य अमृतलाल चक्रवर्ती के अन्तिम समय की अवस्था का ज्ञान जिन लोगों को है वे भली-भाँति जानते हैं कि ऐसे विद्वान् और हिन्दी के बङ्गाली सेवक का अन्तिम समय किस कष्ट और आर्थिक सङ्कट में बीता था। भगवान् इण्डियन प्रेस के मालिकों को इसका सुफल दे जिनकी उदारता से आचार्य द्विवेदी जी के अन्तिम समय में थोड़ी सहायता मिलती रही, अन्यथा उनका अन्तिम समय किस कष्ट में बीतता, इस विचार से ही रोमांच हो आता है।

मुझे इधर पचीस-तीस वर्षों से आचार्य द्विवेदी जी से थोड़ा परिचय था, एकाध बार उनकी चरण-सेवा का मुझे अवसर भी मिला था, मैं भली-भाँति इसका अनुभव कर सकता हूँ कि हिन्दी के ऐसे उत्कट युग-प्रवर्तक विद्वान् सेवक का हिन्दी-जनता ने कुछ भी ख़याल नहीं किया व न उनके अन्तिम समय को सुखी बनाने में कोई हाथ ही बँटाया। उनका इधर का दस-बारह वर्षों का समय शारीरिक रुग्णावस्था और अर्थ-सङ्कट में ही बीता। अब वे इस दुःखमय असार संसार को छोड़कर वहाँ चले गये हैं, जहाँ का पूरा ज्ञान इस संसार में रहनेवाले व्यक्तियों को न है, न हो सकता है और मेरी प्रार्थना उस जगन्नियंता के चरणों में यही है कि जहाँ कहीं भी वह आत्मा हो, उसे शान्ति और सन्तोष प्रदान करे। इति।

पुण्य-स्मृतिः

लेखक, ईशदत्तशास्त्री 'श्रीशः' साहित्याचार्यः साहित्यरत्नं काव्यतीर्थः

सरस्वति ! त्वं विधिवञ्चिताऽस्यहो,
हताऽसि 'हिन्दी'-जननि ! प्रभाभरे !
यदद्यकालाद् भविता न भूतले,
पुन'र्महावीरप्रसाद'-दर्शनम् ॥

तडिन्निपातोऽभवदार्यमण्डले,
गताऽऽर्यभापागतवैभवप्रभा;
यतः स 'आचार्य'-वरो दिवङ्गतः,
श्रुत-द्विवेदी-कुल-कीर्ति-सङ्गतः ॥

प्रसिद्ध'चिन्तामणि'-मंत्र-[illegible]-[illegible]:
स्व - देश - सद्धर्म - समाज - [illegible]
महामनीषी जग[illegible]कर [illegible]:
न [illegible]ऽद्यधुना [illegible]लोक्यते

न यो [illegible]सार [illegible]यहो सकृद्
गृहागताँस्ताननतिथीनपि भृशम्।
कथं दयार्द्रेण बुधेन तेन हा !-
विविस्मृताऽसौ जननी च जन्मभूः ॥

द्विवेदी जी की विशेषतायें

लेखक, पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की जीवनी से जो अमूल्य शिक्षा युवकों को मिल सकती है वह यह है कि मनुष्य आप अपना विधाता है, वह अपने को बना और बिगाड़ सकता है। द्विवेदी जी ने अपने को आप बनाया था। उन्होंने कोई उच्च परीक्षा नहीं पास की थी, तथापि वे उच्च परीक्षा पास लोगों के गुरु थे। उन्होंने बीस वर्षों में जो काम किया उसके लिए जगह जगह उनका गुणानुवाद होता है। यदि वे झाँसी में रेलवे की नौकरी करके पेनशन ले लेते तो आज उनका नाम कौन जानता और कौन उनकी याद करता? रेलवे की नौकरी छोड़ने में उनके त्याग के साथ ही जो स्वाभिमान की भावना देखी गई वही उनको आज उच्चासन पर बैठाने का कारण हुई।

द्विवेदी जी से हमारा परिचय सन् १९०८ में हुआ था और तीस वर्षों के इस लम्बे अन्तर में कभी हमारा उनके साथ मनमुटाव वा विवाद नहीं हुआ। जो सुसम्बन्ध आरम्भ में हुआ था वह अन्त तक बना रहा। यह बात नहीं थी कि ऐसी घटनायें न हुई हों जिनसे वैमनस्य होना स्वाभाविक था। परन्तु जब भेंट होती तब कभी उनकी चर्चा ही न उठती थी। पत्र में द्विवेदी जी के असन्तोष का कभी घुणाक्षरन्याय से भी पता नहीं लगता था। द्विवेदी जी से मित्रता होना साधारण लाभ न था, क्योंकि वे मित्र की सहायता अपनपौ खोकर किया करते थे। द्विवेदी जी के स्वभाव की उग्रता की जो लोग शिकायत करते थे वे उसके मूल ब्राह्मणोचित स्वाभिमान की अवहेलना करते थे और स्वाभिमान को धक्का लगते ही ब्रह्मवर्च्चस् जागरित होता है यह उनके ध्यान में नहीं आता था। हम तो इसे मनुष्य का आवश्यक गुण मानते हैं।

द्विवेदी जी और 'सरस्वती' का अभिन्न सम्बन्ध था। आज इस प्रश्न का उत्तर कोई नहीं दे सकता कि यदि द्विवेदी जी को 'सरस्वती' न मिलती और द्विवेदी जी 'सरस्वती' को न मिलते तो आज उनकी जो प्रशंसा और पूजा हो रही है वह होती या न होती अथवा हिन्दी की जो उन्नति उर्दू-प्रधान लोगों में आज देखी जाती है वह दिखाई देती या नहीं। जिस समय द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन-भार लिया था, उस समय भी हिन्दी के अच्छे लेखक थे; पत्र-पत्रिकायें भी निकलती थीं। परन्तु दो बातों का अभाव था। एक तो द्विवेदी जी जितनी भाषायें जानते थे और अपने कार्य के लिए उनका उपयोग कर सकते थे, उतनी भाषायें शायद उनमें कोई नहीं जानता था और दूसरे जिस लगन से द्विवेदी जी कार्य करते थे उस लगन से शायद कोई नहीं करता था। जहाँ तक पता है, उस समय अधिक से अधिक चार भाषायें जाननेवाले सम्पादक थे, परन्तु द्विवेदी जी आठ भाषायें जानते थे। उनके कार्य में इस ज्ञान से बड़ी सहायता मिलती थी। सम्पादनकार्य में द्विवेदी जी जितना परिश्रम करते थे, उतना कोई सम्पादक न करता था और न करता है। उनके स्वास्थ्य के बिगड़ने का यह बहुत बड़ा कारण था।

द्विवेदी जी ने व्याकरणसिद्ध भाषा लिखनेवाले बहुत से लेखक तैयार किये थे। वे आप शुद्ध लिखते और दूसरों से शुद्ध लिखने का आग्रह करते। परन्तु खेद है कि उनके जीते जी ही अशुद्ध भाषा ज़ोरों से लिखी जाने लगी। जब अशुद्ध प्रयोगों और भद्दी भाषा की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जाता तब उत्तर देते, "बर्रे के छत्ते को कौन छेड़े?" हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा हो या न हो, वह उत्तर-भारत और मध्य-भारत के बड़े भाग की भाषा है, इसमें तो किसी प्रकार का सन्देह नहीं। परन्तु क्या यह परिताप का विषय नहीं कि हिन्दी-भाषी अपनी भाषा की शुद्धता की ओर सम्यक् रूप से ध्यान नहीं देते? हम समझते हैं कि 'सरस्वती' को द्विवेदी जी की वह परम्परा जारी रखनी चाहिए और शुद्ध भाषा की आग्रह करना चाहिए। द्विवेदी जी का यह सबसे उत्तम स्मारक होगा।

रेखा-चित्र

लेखक, पण्डित किशोरीदास वाजपेयी

कौटुम्बिक जीवन

आचार्य द्विवेदी जी का कौटुम्बिक जीवन सुखमय न हुआ! उनके मन में यह बात शायद खटकती भी रहती थी। १२।८।३३ के एक पत्र में उन्होंने लिखा था—

"आपकी कौटुम्बिक व्यवस्था से मिलता-जुलता ही मेरा हाल है। अपना निज का कोई नहीं है। दूर दूर की चिड़ियाँ जमा हुई हैं। खूब चुगती हैं। पुरस्कार-स्वरूप दिन-रात पीड़ित किये रहती हैं!"

५-५-३८ के पत्र में एक जगह लिखा था—"मेरे कुटुम्बी तो आप ही के सदृश सन्मित्र हैं। उन्हीं का भरोसा है।"

परन्तु द्विवेदी जी का यह दुःख सामान्यतः प्रकट नहीं हो पाता था। उन्होंने अपनी विधवा बहन, बहन की विधवा लड़की, भानजा, भानजे की वधू और लड़की, इन सबको जिस प्रेम और आत्मीयता से अपनाया वह अश्रुतपूर्व है। भानजे की वधू अत्यन्त कर्तव्यपरायण तथा सुशील है। उसकी तारीफ़ वे ख़ुद किया करते थे। भानजे की लड़की मनोरमा को वे बहुत चाहते थे।

द्विवेदी जी अत्यन्त भावुक थे, इस बात का पता उन्हें नहीं लग सकता जो उनके निकट सम्पर्क में कभी नहीं आये। कारण, उनका साहित्यिक जीवन अति कठोर रहा है, जो कर्तव्य-पथ के अनुसरण का आवश्यक अंग है। वस्तुतः द्विवेदी जी अत्यन्त कोमल हृदय रखते थे। उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा आतंक छा जाता था और उसे यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान् ज्ञानराशि के नीचे आ गया हूँ। प्रायः लोग उनके सामने बोलने में भी गड़बड़ा जाते थे। परन्तु उनके समीप रहने से उनके हृदय की कोमलता तथा भावुकता का पता चलता था। इसी भावुकता और कर्तव्यपरायणता का फल उनका—

एकपत्नीव्रत

था। उनकी धर्मपत्नी को शुरू से हिस्टीरिया की बीमारी थी। उनके कोई सन्तान भी नहीं हुई थी। वे एक साधारण ग्रामीण स्त्री थीं और शिक्षित भी उतना न थीं। इतना सब होने पर भी आचार्य द्विवेदी ने अपनी अर्द्धाङ्गिनी को हृदय से प्यार किया।

कान्यकुब्जों में एक स्त्री के होते हुए भी दूसरा विवाह कर लेने का चलन रहा है और जब पहली स्त्री को कोई भयानक रोग हो और उसके सन्तान भी न होती हो तब तो दूसरा विवाह कर लेना कोई अनहोनी बात नहीं थी। परन्तु द्विवेदी जी से यह बात लाखों कोस दूर रही। उन्होंने सपने में भी दूसरे विवाह का नाम न लिया और अपनी धर्मपत्नी को प्राणाधिक समझकर प्यार करते रहे। वे उन्हें गंगा जी पर स्नान करने अकेले नहीं जाने देते थे; क्योंकि हिस्टीरिया का रोग जल के किनारे प्रायः उठ आता है! विधि की बात। एक दिन किसी तरह वे गंगा-स्नान करने चली गईं। वहाँ रोग का दौरा हो गया और वे वहीं डूबकर स्वर्गवासिनी होगईं।

द्विवेदी जी का हृदय तिलमिला उठा। वे व्याकुल हो गये। धीरज धरा और अपनी स्वर्गीय पत्नी की एक सुन्दर मूर्ति बनवाकर मकान के सामने नव-निर्मित मण्डप में विराजमान कराई। वहाँ आपने जो संस्कृत-पद्य रच कर अंकित कराये हैं उनसे आपकी भावना स्पष्ट सामने आ जाती है। द्विवेदी ने जब अपनी अर्द्धाङ्गिनी की मूर्ति यों स्थापित की तब लोगों ने बड़ा मज़ाक़ उड़ाया। जगह-जगह गाँव के लोग कहने लगे—"दुबौना कलजुगी है कलजुगी। द्याखौ ना, मेहेरिया कै मूरति बनवाय कै पधराइसि हइ! यहौ कौनिउ वेद-पुरान कै मरजाद आय?" द्विवेदी जी के सामने भी लोग ताना मारते रहे। परन्तु उस भावमूर्ति पर कुछ असर न हुआ।

द्विवेदी जी अब भी अपनी धर्मपत्नी की बातें करते-करते सजल हो जाते थे। जब उनकी धर्मपत्नी का स्वर्गवास हुआ तब वे पूर्ण युवा थे। धन कमाते थे, यश था, नाम था, सुन्दर स्वास्थ्य था, सुसंगठित और सुन्दर शरीर था। सब कुछ था। एक नहीं, हज़ार विवाह अच्छे से अच्छे हो सकते थे। परन्तु आपने इधर ध्यान ही न दिया और आजन्म अपनी पत्नी के प्रति निष्ठा निबाही। इसे कहते हैं प्रेम।

सामाजिक जीवन

द्विवेदी जी का सामाजिक जीवन भी उनके साहित्यिक जीवन की ही तरह खरा और निर्मल था। वे अपने भानजे की लड़की मनोरमा का विवाह करना चाहते थे। मुझे मालूम था। मैंने सोचा कि इस बहाने एक बार और दर्शन कर आऊँगा। वे कुछ अधिक अस्वस्थ थे, इसलिए उनके भानजे श्री कमलाकिशोर जी त्रिपाठी को मैंने पत्र लिखा कि जब आपकी आयुष्मती पुत्री का विवाह निश्चित हो तब इस मंगलमय तिथि से मुझे सूचित कीजिएगा। यह पत्र द्विवेदी जी को मिल गया और तबीयत ठीक होने पर यथासमय उन्होंने एक पत्र में मुझे लिखा था—

"मेरी बीमारी में आपने कमलाकिशोर को लिखा था कि बिटिया के विवाह की सूचना आपको ज़रूर दी जाय। आपकी इच्छा का विघात मैं नहीं करना चाहता; परन्तु तीन भानजियों के विवाह मैं कर चुका; मान्यों को छोड़कर किसी को सूचना तक नहीं दी, निमन्त्रण तो दूर की बात। निमन्त्रण देना मानो कुछ माँगना है। इस बार भी निमन्त्रणपत्र तक नहीं छपाया, यद्यपि लग्नपत्रिका छपाई है।

"अच्छा, तो विवाह ६ मार्च ३७ को है। रायबरेली के डाक्टर शंकरदत्त शर्मा के लड़के के साथ होगा। आप आशीर्वाद के सिवा और कुछ भेजिएगा नहीं।"

इससे अधिक व्यवहार में निर्लेपता और क्या हो सकती है!

सियारामसय सब जग

पहले-पहल आचार्य द्विवेदी जी ने ही मेरे ऊपर कृपा करके पत्र भेजा था आशीर्वाद तथा उत्साहवर्द्धक शब्दों से भरा हुआ। तब मेरी हिम्मत पड़ी उनके पास पत्र भेजने की।

आप अपने पत्रों में मुझे 'प्रणाम' लिख कर भेजा करते थे। मुझे यह बहुत बुरा लगता था, हृदय पर चोट-सी लगती थी। मैंने लिखा कि आप मुझे आशीर्वाद दिया करें, 'प्रणाम' न लिखा करें। मैंने यह भी लिखा कि यह भारतीय सभ्यता नहीं है कि पिता को पुत्र 'नमस्ते' करे और पुत्र को पिता भी 'नमस्ते' से जवाब दे। बड़े को आशीर्वाद ही देना चाहिए। इससे छोटे का कल्याण होता है।

मेरे इस पत्र के उत्तर में आपने लिखा—

"आप तो संस्कृतज्ञ ही नहीं, शास्त्रज्ञ भी हैं। फिर भी न मालूम आपने क्या-क्या लिख मारा! नमस्ते ही नहीं, आप मिलें तो मैं आप के पैरों पर अपना सिर रख दूँ—मैं सेवक सचराचर रूपराशि भगवन्त। मेरे मनोभावों पर किसी का क्या ज़ोर!"

परन्तु ज़ोर चल ही गया। मैंने फिर ज़रा कड़ाई के साथ लिखा कि विचार तथा व्यवहार में अन्तर होना चाहिए, अन्यथा काम न चलेगा। मैंने खूब दलीलें भी दीं और ज़रा गुस्सा भी हुआ। मैंने लिख दिया कि आप मुझे 'प्रणाम' या 'नमो नमः' लिख कर भेजेंगे, तो मैं उत्तर न दूँगा। इस पत्र का असर हुआ और फिर आप वात्सल्य-पूर्ण हृदय से मुझे आशीर्वाद लिख कर भेजने लगे।

साहित्यिक परामर्श

इस वृद्धावस्था में भी आप साहित्यिक परामर्श बराबर दिया करते थे। अपने पत्रों में अक्सर चर्चा किया करते थे कि हिन्दी-साहित्य किधर जा रहा है और किधर जाना चाहिए। भाषा के सम्बन्ध में वे अब भी सावधान थे। कई बार वे ऐसी बातें लिखा करते थे और कहा करते थे कि इन लोगों को ज़रा खटखटाते रहा करो। उनके ये सब पत्र मेरे पास संगृहीत हैं, जो बड़े काम की चीज़ हैं। उन सब बातों का ज़िक्र इस छोटे से लेख में असम्भव है और अनावश्यक भी।

इसी तरह उनके अनेक उपदेश मिला करते थे। प्रत्येक पत्र में अपने स्वास्थ्य का करुण ज़िक्र ज़रूर करते थे।

अन्तिम पत्र

द्विवेदी जी ने अपने हाथ से यह अन्तिम पत्र लिख कर मेरे पास भेजा था। इससे कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। उसे हम यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत करते हैं—

दौलतपुर
रायबरेली
२-११-३८

शुभाशिषः सन्तु,

३० तारीख़ का पत्र मिला। सम्मेलन की कितनी ही आज्ञाओं का उल्लङ्घन मैं कर चुका था। सोचा, मेरा भी प्रस्थान निकट है। इस बार उसकी इच्छापूर्ति कर दूँ। नतीजा यह हुआ कि ताम्रपत्र में मेरा नाम तक शुद्ध न खुदाया गया—द्विवेदी का द्विवेदि हो गया। ख़ैर, गतं न शोचामि।

गङ्गा जी का बुरा हाल है। कछार, पानी सभी कुछ है। आइए ज़रूर। आने के ८ दिन पहले मुझे लिखियेगा। तब मैं रास्ता बता दूँगा और अपना आदमी भी भेज दूँगा।

मैं कोई २ महीने से नरकयातनायें भोग रहा हूँ। पड़ा रहता हूँ। चल फिर कम सकता हूँ। दूर की चीज़ भी नहीं देख पड़ती। लिखना-पढ़ना प्रायः बन्द है। ज़रा सी दलिया और शाक खा लेता था। अब वह कुछ हज़म नहीं होता। ३ पाव के क़रीब दूध पीकर रहता हूँ—३ दफ़े में। सूखी खुजली अलग तङ्ग कर रही है। बहुत दवायें कीं, नहीं जाती।

शुभैषी
म० प्र० द्विवेदी

स्वर्गीय द्विवेदी जी की स्मृति में

लेखक, श्रीयुत चन्द्रप्रकाश वर्मा 'चन्द्र'

निर्मोही वन, हाथ छुड़ाकर, भागे क्यों बड़भागी?

(१)

तुमको पाकर सफल हुआ था जीवन-स्वप्न हमारा,
लगता था संसार हमें यह और अधिक कुछ प्यारा;
किन्तु अचानक अन्तर में फिर सुप्त वेदना जागी!
निर्मोही वन, हाथ छुड़ाकर, भागे क्यों बड़भागी?

(२)

भूल रहे हैं सत्य आज हम—काया तो नश्वर है,
यह अज्ञान हमारा कितना प्रिय कितना सुन्दर है!
ज्ञान न रुचिकर हमें, हमें प्रिय मधुर-मोह, हे त्यागी!
निर्मोही वन, हाथ छुड़ाकर, भागे क्यों बड़भागी?

(३)

लगा गये हो एक बाग़ तुम अपने हाथों-द्वारा,
जगा गये हो कुसुम-कुसुम में सौरभ न्यारा, न्यारा,
वह फुलवारी भूल गये क्यों फूलों के अनुरागी?
निर्मोही वन, हाथ छुड़ाकर, भागे क्यों बड़भागी?

(४)

समझ न पाते चिर वियोग क्यों देव, तुम्हें मनभाया?
प्रेम हमारा क्या तुमको बन्धन में बाँध न पाया?
चले गये तुम हाय, भारती रोती रही अभागी,
निर्मोही वन, हाथ छुड़ाकर, भागे क्यों बड़भागी?

स्वर्गीय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी

स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि घोष

याभ्यां भूति-विभूति, भाव-विभवै-
रराधिता नागरी,
नीता भूरि विधर्षिताऽपि विबुधै-
र्यद्राष्ट्रवाणीपदम्।
साहित्य-क्षितिजे प्रभातममलं
मैत्री ययोः शाश्वती,
मान्यौ तावरुणार्किनौ बुध-
महावीरश्च चिन्तामणिः॥

जिन्होंने अपनी सत्ता और सम्पत्ति, भाव और विभव के द्वारा नागरी की आराधना की। जिससे पददलित हिन्दी-भाषा भी राष्ट्रभाषा के उच्चासन पर प्रतिष्ठित हो गई। जिन दोनों महापुरुषों की शाश्वत मैत्री हिन्दी के लिए सुप्रभात के समान आनन्ददायी हुई। ये वे ही, हिन्दी-आकाश के अरुण और सूर्य, श्री पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी व 'श्री बाबू चिन्तामणि घोष' हैं।

Printed and published by K. Mittra at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल—उमेशचन्द्रदेव

मार्च १९३९ } भाग ४०, खंड १
संख्या ३, पूर्ण संख्या ४७१ { फाल्गुन १९९५

पुष्पवाण

लेखक, श्रीयुत आरसीप्रसादसिंह

ये कुसुम के बाण कोमल;
रूप की ज्या पर चढ़े
फिर-से विशिख विष से हलाहल!

विश्व को उन्मत्त करने;
आज, सुमनों के धनुष को
है उठाया पंचशर ने!
प्रेम के तूणीर से
सुकुमार केशर-शर विचञ्चल!

तितलियों के जग सजग हो;
आज, उड़ने को स्वयं उद्यत
चपल मन्मथ विहग हो!
वासना के पंख से थर-थर
विकल, नभ से धरातल!

रूप की चिनगारियाँ-सी
जल रहीं ये कौन किंशुक-
कुञ्ज में सुकुमारियाँ-सी?
रेशमी जिसके मलय-
निःश्वास से सुरभित कमल-दल।

सरकारी नौकरियों का साम्प्रदायिक बँटवारा

लेखक, पण्डित वेंकटेशनारायण तिवारी, एम० एल० ए०

(१)

इस सूबे में, जैसे और सूबों में, मध्यम श्रेणी के पढ़े-लिखे लोगों की निगाह में रोज़ी का सवाल एक विशेष महत्त्व रखता है। हमारी यह परम्परागत धारणा रही है कि सब वृत्तियों में राजवृत्ति या सरकारी नौकरी प्रमुख है। सरकारी नौकरियों में जहाँ और नौकरियों के मुक़ाबले में मुलाज़िमों को ज़्यादा वेतन मिलता है, वहाँ साथ ही साथ राजकर्मचारी होने के कारण समाज में उनका मान और आदर भी अधिक होने लगता है। यह मनोवृत्ति ठीक है या नहीं, इस बात से हमें यहाँ कोई सरोकार नहीं। इस लेख का लेखक सरकारी नौकरियों या अन्य प्रकार की नौकरियों को देश के कल्याण के लिए न तो उतना हितकर समझता है और न आवश्यक, जितना अधिकांश मध्यम श्रेणी के लोग उनको मानते हैं। मेरे लिए तो किसान और मज़दूर कहीं ज़्यादा आवश्यक काम करते हैं, क्योंकि उनके परिश्रम से समाज की सम्पत्ति की वृद्धि होती है। ये उत्पादक हैं, सम्पत्ति के स्रष्टा हैं। ये ही हमारे अन्नदाता हैं। इसलिए इनको आदर की दृष्टि से देखने की ज़रूरत है। लेकिन दूषित मनोवृत्ति के कारण हमने सम्पत्ति के उत्पादकों के ऊपर दूसरे पेशेवालों को चढ़ा दिया, जो उनकी गाढ़ी कमाई के बल पर चैन से खाते और सुख की नींद सोते हैं। इन्हें हम अमर-बेलि तो नहीं कहेंगे। लेकिन समाज के साम्पत्तिक संगठन में इनका स्थान, सम्पत्ति-उत्पादकों के मुक़ाबले में, गौण अवश्य है। हाँ यह सही है कि धीरे-धीरे सरकारी नौकरियों के प्रति लोगों की मनोवृत्ति बदल रही है। समाज की दृष्टि से इन नौकरियों का अब वह महत्त्व नहीं रह गया है, जो २० या ३० वर्ष पहले इन्हें प्राप्त था। इस सबके होते हुए भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि मध्यम श्रेणी के लोगों की दृष्टि में सरकारी नौकरियों के बँटवारे का सवाल का एक विशेष महत्त्व है। धारा-सभाओं (Legeslative Houses) में, स्थानीय बोर्डों (Local Boards) में तथा विविध सभाओं और कानफ़ेंसों में किसी न किसी रूप में यह सवाल बराबर उठता रहता है।

इंडियन नेशनल कांग्रेस ने सन् १९२० से तो इस मसले पर विचार करना एक तरह से बन्द-सा कर दिया है। उसकी मनोवृत्ति में तब से जो बुनियादी परिवर्तन होते गये, उनके कारण सरकारी नौकरियों में हिन्दुस्तानियों को कितने पद मिलें, यह एक गौण बात हो गई। देश के शासन का संचालन गोरे या काले हाथों से कराया जाय या न कराया जाय, इस सवाल की अहमियत उसकी दृष्टि में बहुत ही घट गई। उसके लिए तो बुनियादी सवाल यह था और है कि इस देश में विदेशी शासन हो या देशवासियों का? काले और गोरे हाथों की गिनती करना उसने छोड़ दिया। विदेशी हाथों से शक्ति छीनने को उसने प्रधानता दी। लेकिन १९२० के पहले कांग्रेस अपने जन्म-काल से बराबर इस प्रश्न पर हर साल प्रस्ताव पास करती रही कि देश के विभिन्न शासन-विभागों में हिन्दुस्तानियों को अँगरेज़ों के मुक़ाबले में अधिक संख्या में नौकरियाँ मिलें। शुरू में तो कांग्रेस के सामने यही एक प्रधान ध्येय था। शासन की बागडोर को परदेशियों के हाथ से छीनने की ओर कांग्रेस ने उतनी चेष्टा अपने जीवन के आरम्भिक काल में नहीं की, जितनी बाद में वह करने लगी। सरकारी कर्मचारियों में हिन्दुस्तानियों की उत्तरोत्तर भरती बढ़वाने की कोशिश करना उसके लिए शुरू शुरू में स्वाभाविक था, क्योंकि सन् १९२० के पहले मध्यम श्रेणी के लोग अपने बच्चों को सरकारी नौकरियों में भरती कराने के लिए लालायित थे। उनका यही स्वार्थ था; लेकिन सन् १९२० के बाद कांग्रेस की विचार-धारा एकदम पलट गई। वह जनता की संस्था हो गई, ग़रीबों की पनाह बन गई, देश के भुक्कड़ों और पददलितों की आवाज़ उसके मण्डप में सुनाई देने लगी। आज भी यह कहना एकदम ग़लत न होगा कि कांग्रेस की बागडोर ऐसे हाथों में है, जो या तो स्वयं पूँजीपति हैं, या सरमाएदारों के हिमायती हैं। कांग्रेस के अन्दर आज दिन जो संघर्ष चल रहा है उस संघर्ष की तह में एक ही सवाल है, यानी कांग्रेस भुक्कड़ों की सक्रिय संस्था हो जाय या सुधारकों के हाथ का खिलौना बनी रहे। श्रेणी-संघर्ष कांग्रेस का अभी ध्येय नहीं, लेकिन सरमाएदारों के विरोधियों की आवाज़ें उसके जलसों में सुनाई देने लगी हैं। इसलिए सरकारी नौकरियों का प्रश्न कांग्रेस के लिए एक बहुत गौण प्रश्न हो गया है।

गौण हो जाना भी चाहिए, क्योंकि जो करोड़ों ग़रीब भुक्कड़ इस वक़्त देश में बिलबिलाते फिर रहे हैं उन सबके लिए इतनी सरकारी नौकरियाँ कहाँ, जो सबको दी जा सकें? सरकारी नौकरियों में इने-गिने आदमी ही लिये जा सकते हैं। मुट्ठी भर आदमियों के भरण-पोषण का सवाल कांग्रेस के सामने नहीं है। उसके सामने सवाल है इस देश के कंगालों को रोटी देने का, उनके तन ढकने का, और उनके अन्धकारमय जीवन में ज्ञान और विश्राम की एक रश्मि पहुँचाने का। लेकिन फ़िरक़ेवाराना—साम्प्रदायिक—जमाअतें आज भी कांग्रेस की इस परित्यक्त नीति का अनुसरण कर रही हैं। उनके पास न तो नये विचार हैं, न नई दृष्टि। वे तो कांग्रेस की नक़ल करती हैं, लेकिन नक़ल करती हैं उन बातों को लेकर, जिन्हें कांग्रेस छोड़ चुकी है। उनमें न तो मानसिक स्वतन्त्रता है और न सूझ-बूझ है जिनसे वे कांग्रेस का मुक़ाबला करने में जनता के सामने नये आदर्शों को रख सकें। कांग्रेस ने जिन चीज़ों को, फटे-पुराने कपड़ों की तरह उतारकर फेंक दिया था, उन्हीं को अपनाकर आज फ़िरक़ेवाराना मजलिसें में मौलवी या पंडित कांग्रेस के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने के लिए तैयार हैं। इन्हीं लोगों ने इस मसले को आजकल एक ख़ास महत्त्व दे रक्खा है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण रखनेवाले लोग—चाहे वे हिन्दू हों, चाहे ईसाई या मुसलमान—इन बातों को लेकर असन्तोष की आग भड़काने में लगे हुए हैं। उनके अनुसार सरकारी नौकरियों का ठीक बँटवारा कराना देश और समाज के हित से परमावश्यक है। उनके लिए सरकारी नौकरियों में दाख़िल हो जाना, मानो, बहिश्त में पहुँच जाने के बराबर है। इसी लिए वे ज़ोर देते हैं कि सरकार लोगों को योग्यता और पटुता के आधार पर नहीं, किन्तु साम्प्रदायिक हिस्सारसदी के लिहाज़ से, नौकरियाँ दे।

ऊपर जो कुछ हमने कहा है, सम्भव है, उससे पाठकों को भ्रम हो जाय कि मैं सामाजिक जीवन में सरकारी नौकरियों के महत्त्व को नहीं समझता। जब देश के पूरे शासन की बागडोर देश-वासियों के हाथ में आ जाय तब यह ज़रूरी होगा कि उसके संचालन का भार ऐसे हाथों में हो, जो योग्य और साथ ही साथ कुशल हों। अकुशल, अयोग्य और बेईमाना हाथों में अगर यह बागडोर चली गई तो देश और समाज दोनों का अहित होकर रहेगा। सार्वजनिक नौकरियों के लिए उम्मीदवारों का चुनाव जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही वह जटिल भी है। स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले इस बात पर ज़ोर दिया करते थे कि सार्वजनिक नौकरियों का प्रश्न न केवल साम्पत्तिक है किन्तु नैतिक भी है। जहाँ हम यह नहीं देख सकते कि हमारे देश में ऊँचे ऊँचे पदों पर विदेशी आसीन रहें वहाँ हम इस बात के भी समर्थक नहीं हैं कि किसी सम्प्रदाय-विशेष या समूह-विशिष्ट का सरकारी नौकरियों में एकाधिपत्य स्थापित हो जाय। प्रत्येक श्रेणी, वर्ग या सम्प्रदाय के लोगों को सार्वजनिक सेवा का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। समाज-सेवा करने के लिए जो वेतन कर्मचारियों को दिये जाते हैं, उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्पत्ति का जो वितरण होता है, उस वितरण का ढंग ऐसा होना चाहिए कि समाज की प्रत्येक श्रेणी उससे समान लाभ उठा सके। सरकारी नौकरियों का किसी वर्ग-विशेष या सम्प्रदाय-विशिष्ट की बपौती बन जाना ठीक नहीं। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि जिनके हाथों में सूबे के शासन की बागडोर हो वे जहाँ सरकारी नौकरियों के लिए योग्य और कुशल आदमियों को चुनें, वहाँ उनका यह भी धर्म है कि वे इस बात से भी सतर्क रहें कि किसी सम्प्रदाय या वर्ग-विशेष के व्यक्ति अधिकांश सरकारी नौकरियों को न बटोर लें।

ऊपर कही गई बातों से दो सिद्धान्त निकलते हैं। एक तो यह कि सरकारी नौकरियों के लिए योग्यता के आधार पर व्यक्तियों को चुनना चाहिए; और दूसरा यह कि पहले सिद्धान्त की रक्षा करते हुए इस बात की चेष्टा करना परमावश्यक है कि सब विभागों में भरती होने के लिए सब श्रेणियों के लोगों को समान अवसर प्राप्त हो। यदि किसी कारण से समानता के इस सिद्धान्त को धक्का पहुँचे तो उस बाधा को दूर करने के लिए राष्ट्र के संचालकों को प्रयत्न करना चाहिए।

आइए, इन दोनों सिद्धान्तों के आधार पर सरकारी

नौकरियों के मसले के सम्बन्ध में इस सूबे में जो माँगें पेश की जा रही हैं, उनके ऊपर स्वस्थ और शान्त चित्त होकर हम विचार करें और देखें कि क्या कोई ऐसा रास्ता निकल सकता है, जिससे सब सम्प्रदाय के लोगों को यह आश्वासन हो जाय कि इस सूबे में सबको सरकारी नौकरियों-द्वारा समाज-सेवा करने का समान अवसर सुगमता से प्राप्त है ?

यहाँ पर यह कह देना अनावश्यक न होगा कि सरकारी नौकरियों के प्रश्न के अनेक पहलू हैं। उन सब पहलुओं पर विचार करने का हमारा कोई इरादा नहीं। जैसा शीर्षक से प्रकट है, इस लेख में हम केवल सरकारी नौकरियों के साम्प्रदायिक बँटवारे ही पर विचार करेंगे, क्योंकि इसी के विषय में यहाँ मतभेद है; और इसी विषय को लेकर आजकल सूबे में बहुत-गर्मागर्मी फैल रही है। अगर हम सरकारी नौकरियों और हिन्दी-उर्दू के मसलों को समझौते के साथ तय कर सकें तो जहाँ तक इस सूबे का सम्बन्ध है, मैं यह दावे के साथ कहने को तैयार हूँ कि साम्प्रदायिक विद्वेष की जो आग सूबे में भड़क रही है वह यदि बिलकुल बुझ न गई तो प्रायः ठंढी हो जायगी।

इस सूबे की आबादी को लेकर, आइए, हम देखें कि इस सूबे के विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों की संख्या क्या है। इस सूबे में हज़ार आदमी पीछे १४८ मुसलमान हैं, ४ ईसाई और १ अन्य जाति या धर्म के लोग। बाक़ी ८४७ हिन्दू हैं। शैड्यूल्ड कास्ट के लोगों या हरिजनों की संख्या, सूबे की आबादी के लिहाज़ से, लगभग २२ प्रतिशत है। इन आँकड़ों को पाठक कृपया ध्यान में रक्खें ताकि हम जो कुछ आगे निवेदन करने जा रहे हैं उसका वास्तविक अर्थ आसानी से समझ सकें।

मुसलमानों की माँग है कि उन्हें सरकारी नौकरियों में ३० सैकड़ा जगहें मिलनी चाहिए, यद्यपि आबादी के लिहाज़ से वे १५ प्रतिशत से भी कम हैं। ईसाइयों की माँग है कि उनको १० सैकड़ा सरकारी नौकरियाँ दी जानी चाहिए, यद्यपि आबादी के लिहाज़ से वे हज़ार में केवल ४ हैं। ईसाई और मुसलमानों की माँगों को यदि आप जोड़ दें तो उसका फल यह होगा कि आबादी के लिहाज़ से जो केवल १५ सैकड़ा से कुछ अधिक हैं, उनको ४० सैकड़ा नौकरियाँ मिलने लगेंगी, और ८५% को केवल ६० सैकड़ा। हमारे हरिजन भाई सरकारी नौकरियों में २५% पद माँगते हैं। अगर मुसलमानों, ईसाइयों, और हरिजनों की माँग जोड़ दी जाय तो इसका यह अर्थ होगा कि जो लोग आबादी के लिहाज़ से ३७ प्रतिशत हैं उनको सरकारी नौकरियों का ६५ प्रतिशत भाग मिलना चाहिए और सवर्ण हिन्दुओं को, जिनकी आबादी ६३ प्रतिशत है, सरकारी नौकरियों में इस हिसाब से केवल ३५% स्थान मिलेंगे। इन माँगों के औचित्य पर कृपया विचार कीजिए। मुसलमान भाई ३० सैकड़ा सरकारी नौकरियाँ चाहते हैं, यद्यपि आबादी में वे केवल १५ हैं। क्यों? इसलिए कि वे अपने को अल्पसंख्यक कहते हैं; और अल्पसंख्यकों की रक्षा, उनके विचार से, तभी सम्भव है जब सरकारी नौकरियों में उनकी संख्या ३० प्रतिशत हो। इस दावे को देखकर ग़ैरमुस्लिमों को यह न समझना चाहिए कि इस सूबे के हमारे मुसलमान भाई अक्सरियत—बहुतता की राय से हुकूमत—के उसूल के हामी नहीं हैं। हामी हैं, लेकिन इस दृष्टिकोण से कि बहुसंख्यकों के कुछ अधिकार नहीं किन्तु केवल कर्तव्य होते हैं; और साथ ही साथ अक़्लियत अर्थात् अल्पसंख्यकों के कोई फ़र्ज़ नहीं—कुछ कर्तव्य नहीं, उनके तो केवल अधिकार होते हैं। इन दोस्तों की निगाह में कमाने, टैक्स देने और शासन के भार को बरदाश्त करने का अधिकार तो प्राप्त है बहुसंख्यकों को; लेकिन अल्पसंख्यकों का महज़ फ़र्ज़ यह है कि वे बहुसंख्यकों के ऊपर हुकूमत करें।

हमारे ईसाई भाई भी आजकल मुसलमान दोस्तों की देखादेखी बेसिरपैर की माँगें पेश कर अपनी साम्प्रदायिक निष्ठा को सिद्ध करने में पूरी तेज़ी से आगे बढ़ रहे हैं। हमारे मुसलमान भाई तो आबादी के लिहाज़ से दूना प्रतिनिधित्व माँगते हैं, अथवा १०० के स्थान में सिर्फ़ २०० पद माँग कर संतोष कर लेते हैं। लेकिन ईसाई भाई अपनी न्याय-प्रियता में मुसलमानों को भी पीछे छोड़ जाते हैं! जहाँ उन्हें १०० स्थान मिलने चाहिए वहाँ वे सिर्फ़ २,००० की माँग पेश करते और उसके हासिल हो जाने पर हमें बख़्श देने को तैयार हैं। आबादी के लिहाज़ से सरकारी नौकरियों में हमारे ईसाई भाई जितने पदों के हक़दार हैं, उससे महज़ २० गुनी अधिक की माँग उन्होंने पेश की है। ८५ को ६० और १५ को ४०, इनकी दृष्टि में, समुचित है। लेकिन इतने ही से इन्हें सन्तोष नहीं हुआ।

हमारे ईसाई और मुसलमान भाई कौन्सिलों और असेम्बलियों में आजकल हरिजनों के सबसे बड़े पृष्ठपोषक और हमदर्द बन गये हैं। कोई ऐसा मौक़ा वे हाथ से नहीं जाने देते जब वे हरिजनों के प्रति अपनी सहानुभूति न प्रदर्शित करें। मौक़े-बे-मौक़े हरिजनों के साथ वे हमदर्दी के आँसू बहाया करते हैं। लेकिन जहाँ एक तो अपने लिए द्विगुने पद चाहता है और दूसरा २० गुनी अधिक जगहें माँगता है, वहाँ हरिजनों के साथ उनकी इस हद तक सहानुभूति नहीं है कि वे २२ प्रतिशत के लिए २५ प्रतिशत से अधिक की माँग पेश करें। अपने लिए २० गुना माँगना भी थोड़ा है; लेकिन हरिजनों के लिए आबादी के लिहाज़ से जितने पदों के वे हक़दार हैं उनमें कुछ थोड़ा-सा घेलौना—घलुवा—मिला देने से हरिजनों के जायज़ हक़ों की, इन मुस्लिम और ईसाई हमदर्दों के अनुसार, रक्षा हो जायगी। सार्वजनिक जीवन में मैंने ढोंग और ढकोसले के बहुत से उदाहरण देखे और सुने हैं, लेकिन हरिजनों के साथ सौतेली मा की-सी इस बनावटी हमदर्दी के सामने और सब ढोंग और ढकोसले तुच्छ हो जाते हैं!

(२)

हमारे मुसलमान मित्रों का ३० प्रतिशत का जो दावा है, उसके समर्थन में वे क्या दलीलें पेश करते हैं? किस सिद्धान्त पर वे अपनी इस माँग को जायज़ और उचित साबित करने की चेष्टा करते हैं? जहाँ तक मैं उनके नेताओं के भाषणों और लेखों से उनके विचारों को समझ सका हूँ, वहाँ तक मैंने उनकी माँगों के समर्थन में एक ही दलील पाई है; और वह दलील यह है कि जिस तरह उन्हें धारासभाओं में ३० प्रतिशत प्रतिनिधित्व मिला है उसी तरह नौकरियों में भी उनको ३० प्रतिशत पद मिलने चाहिए। इसी एक दलील को मुसलमान नेता पेश किया करते हैं। इसके अलावा जो कुछ और कहा जाता है, वह सब निस्सार और अप्रासंगिक है। उसमें कुछ भी तुक नहीं है; क्योंकि इस सिद्धान्त को कि प्रत्येक सम्प्रदाय को सरकारी नौकरियों में उचित रूप से और उचित अंश में प्रतिनिधित्व मिले, हम सभी स्वीकार करते हैं। लेकिन प्रतिनिधित्व कितना हो, इस प्रश्न पर मतभेद है, और मतभेद का होना स्वाभाविक भी है। मुसलमान भाई जितना प्रतिनिधित्व चाहते हैं, क्या उनको उतना ही दे दिया जाय? जितना ईसाई भाई चाहते हैं, क्या उनको उतना ही मिलना चाहिए? उससे अधिक उन्हें क्यों न मिले या उससे कम उन्हें क्यों न दिया जाय? इन बातों का निर्णय कौन करे? अल्पसंख्यकों की प्रत्येक माँग न तो जायज़ हो सकती है, और न बहुसंख्यकों के प्रत्येक दावे सही हो सकते हैं। दोनों के दावे स्वार्थ, हठ और संकीर्णता से प्रेरित हो सकते हैं। किसी हिन्दू के लिए यह कहना कि मुसलमान और ईसाई भाइयों के दावे ग़लत हैं, ईसाई और मुसलमान भाइयों के दिल में यदि शक और सन्देह उत्पन्न करे तो कोई अचरज की बात न होगी। इसी तरह मुसलमान या ईसाई भाई इस सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, उसे सुनकर यदि हिन्दू यह समझने लगें कि उनका दावा न्यायोचित नहीं तो कोई अचम्भे की बात नहीं। ऐसी दशा में प्रतिनिधित्व के परिमाण का निर्णय कैसे हो और कौन करे? दोनों को आपस में एक-दूसरे का विश्वास नहीं। दोनों एक-दूसरे से सशंकित हैं। दोनों, सम्भव है, एक-दूसरे के साथ ज़्यादती करने पर तुले हों। ऐसी दशा में समझौता कैसे हो? क्या कोई ऐसा मार्ग नहीं है, जिसके अनुसरण से इस सूबे के रहनेवाले किसी एक ऐसे निर्णय पर पहुँच सकें, जिससे सबको सन्तोष हो और कोई यह न समझे कि उसके साथ दूसरे ने अन्याय किया? समस्या जटिल ज़रूर है, लेकिन इतनी जटिल नहीं जितनी वह देखने में मालूम होती है।

इसके पहले कि हम इस बात का विचार करें कि हमारे अल्पसंख्यकों की जो माँगें हैं उनमें कहाँ तक औचित्य की मात्रा है, आइए देखें कि इस समय हमारे सूबे में मुसलमान भाइयों को सरकारी नौकरियों में कहाँ तक प्रतिनिधित्व प्राप्त है। डिप्टी कलक्टरों में लगभग ४० फ़ी सदी, तहसीलदारों में ४४ फ़ी सदी, नायब तहसीलदारों में ३१ फ़ी सदी मुस्लिम हैं। पुलिस-विभाग में, डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्टों में २८ फ़ी सदी, इंस्पेक्टरों में ३० फ़ी सदी, हेड कांस्टेबिलों में ६४ फ़ी सदी, नायकों और कांस्टेबिलों में ४८ फ़ी सदी मुसलमान हैं। विटैनरी (पशु-चिकित्सा)-विभाग में लगभग ५५ फ़ी सदी मुसलमान हैं।

इसी तरह को-आपरेटिव विभाग में इनकी तायदाद ३० फ़ी सदी से अधिक मिलेगी। इन्कमटैक्स डिपार्टमेंट में इनकी तायदाद ३० फ़ी सदी है। प्रान्तिक जुडीशल डिपार्टमेंट में २५ फ़ी सदी मुसलमान हैं। २९ फ़ी सदी जेलर और ४४ फ़ी सदी डिप्टी जेलर मुसलमान हैं। रजिस्ट्रेशन विभाग में इंस्पेक्टरों में ३३ फ़ी सदी, और सब रजिस्ट्रारों में मुसलमान ४० फ़ी सदी हैं। कुछ विभाग ऐसे हैं जिनमें मुसलमानों की तायदाद कम है, लेकिन ऐसे बहुत इने-गिने विभाग निकलेंगे जिनमें मुसलमानों की तायदाद १५ फ़ी सदी से कम निकले। ऊपर दिये गये आँकड़ों से यह साफ़ ज़ाहिर है कि जहाँ तक सरकारी नौकरियों का सम्बन्ध है वहाँ तक इस सूबे के मुसलमानों को शिकायत का कोई मौक़ा नहीं है। अगर शिकायत हो सकती है तो हिन्दुओं की हो सकती है कि मुसलमानों को इतना अधिक और उन्हें इतना कम हिस्सा मिला है। जब से कांग्रेस-सरकार ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली तब से उसने मुसलमानों एवं अन्य अल्पसंख्यकों को सरकारी नौकरियों में पद देने में बड़ी फ़ैयाज़ी और दरियायदिली से काम लिया है। अगर सरकारी फ़ाइलें प्रकाशित कर दी जायँ तो न सिर्फ़ इस सूबे में बल्कि हिन्दुस्तान के दूसरे सूबे में लोग चकित हो जायँगे इस सूबे की सरकार की इस सम्बन्ध में उदारता को देखकर। अनुमान से यह कहा जा सकता है कि इस सूबे की निम्न श्रेणी की नौकरियों को छोड़कर बाक़ी सब नौकरियों में मुसलमानों की संख्या २५ फ़ी सदी के लगभग होगी; और निम्न श्रेणी में ३० और ४० के बीच में निकलेगी। ऐसी दशा में कम से कम मुसलमान भाइयों को तो इस बात की शिकायत न होनी चाहिए कि सरकारी नौकरियों में उन्हें काफ़ी जगहें नहीं प्राप्त हैं। उन्हें धन्यवादपूर्वक इस सूबे की सरकार की उदारता को स्वीकार करना चाहिए। यदि ऐसा उन्हें करना मंज़ूर नहीं था इसे वे मुनासिब नहीं समझते तो कम से कम अपने स्वार्थ की दृष्टि ही से उन्हें ख़ामोश तो रहना ही था। मुझे दुःख है कि उन्होंने सब्र और समझ से काम नहीं लिया। इसका परिणाम यह होने लगा है कि हिन्दू चिल्लाने लगे हैं, और चारों तरफ़ से अब यह आवाज़ उठने लगी है कि हिन्दुओं के साथ जो अन्याय हो रहा है वह जल्द से जल्द बन्द कर दिया जाय। गड़े मुरदे उखाड़ कर मुसलमान दूसरों को सजग कर रहे हैं। क्या इनके लिए यह उचित होगा?

यह तो हुई युक्तप्रान्त की बात। आइए अपने पड़ोसी प्रान्त बिहार पर एक नज़र डालें। वहाँ मुसलमानों की संख्या आबादी के लिहाज़ से १२·८ है, लेकिन सरकारी नौकरियों में उन्हें कांग्रेसी सरकार ने २७·४ प्रतिशत स्थायी जगहों पर उनकी नियुक्ति की है। ये आँकड़े नीचे दिये गये हैं। ब्योरे को ज़रा देखिए। इसे बिहार की कांग्रेसी सरकार ने हाल ही में जनता की सूचना के लिए प्रकाशित किया था।

विभिन्न पद		नियुक्ति-सं० का योग	मुस्लिम सं०
डिप्टी कलक्टर्स	...	१४	४
सब " "	...	१२	४
मुंसिफ़	...	४	१
अस्थायी डिप्टी कलक्टर जो पुनः नियुक्त हुए		१२	२
" सब " " "		३	२
पुलीस-सर्विस में	...	१३	२
तरक्क़ी देकर भरी गई अस्थायी जगहें			
मेडिकल सर्विस	...	२	१
" सबार्डिनेट	...	७	२
एज्युकेशनल सर्विस	...	१२	५
इन्फ़ार्मेशन आफ़िसर	...	१	१
पब्लिसिटी " उर्दू-सेक्सन		१	१
इन्फ़ार्मेशन आफ़िस आफ़िसर		६	२
चीफ़ सेक्रेटरी मिनिस्ट्रेरियल स्टाफ़		१०	३
लेजिस्लेचर "		२७	४
पब्लिक-वर्क्स	...	४४	८
गवर्नमेन्ट-प्रेस	...	२६	९
जेल-विभाग	...	१३	३
सर्वे-आफ़िस	...	१२	५
अग्रिकल्चर डिपार्टमेन्ट, असिस्टेन्ट डाइरेक्टर आफ़ अग्रिकल्चर, अस्थायी		५	१
असिस्टेन्ट डाइरेक्टर आफ़ अग्रिकल्चर, तरक्क़ी से,	...	१०	३

विभिन्न पद		नियुक्ति सं० का योग	मुस्लिम सं०
कृषि-कालेज, कानपुर के लिए			
वज़ीफ़ा पानेवाले	...	१	१
असिस्टेन्ट शूगर केमिस्ट	...	४	१
सब रजिस्ट्रार	...	६	१
को-आपरेटिव सर्विस की केवल तीन नई नियुक्तियाँ सबार्डिनेट	...	११३	२६
आफ़िस आफ़ डिस्ट्रिक्ट जजेज़			
पूर्नियाँ	...	१६	५
दरभङ्गा	...	१९	८
गया	...	१०	४
मुंगेर	...	३७	५
सारन	...	२८	१०
पटना	...	२२	६
मुज़फ़्फ़रपुर	...	१७	४
भागलपुर	...	२३	९
सेक्रेटरी लीगल एज्युकेशन-कमेटी		३	२
रिपोर्टर हाईकोर्ट	...	१	१
आफ़िस आफ़ इंस्पेक्टर आफ़ वायलेर्स			
कलक्टरेट	...	१	१
मुज़फ़्फ़रपुर टेम्परेरी	...	२	१
प्रोबेशनर्स	...	१५	४
मुंगेर	...	५	१
शाहाबाद	...	५	१

ऊपर का ब्योरा इस बात का गवाह है कि बिहार में कांग्रेसी गवर्नमेन्ट मुसलमानों के साथ बेहद उदारता का व्योहार कर रही है। लेकिन मुस्लिम लीग पटनेवाले के अधिवेशन में मुसलमान नेताओं ने बिहार की गवर्नमेन्ट के ऊपर संकीर्णता का झूठा इल्ज़ाम लगाया। मुझे दुःख है कि अगर मुस्लिम लीग और उसके बहकाने में पड़ कर हमारे मुसलिम भाई इसी तरह ऊल-जलूल बातें करते रहें तो बहुत सम्भव है कि उसकी प्रतिक्रिया उनके लिए अनिष्टकर साबित हो। राजनीति में कृतघ्नता का सिद्धान्त बड़ा भयानक सिद्ध होता है। दूसरों की उदारता के प्रति कृतज्ञता को प्रकट करना न केवल नैतिक दृष्टियों से उपयोगी है, किन्तु अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए इससे बढ़कर दूसरा साधन मिलना कठिन है। इस भूल की ज़िम्मेदारी मुसलमान जनता पर नहीं; दोष है उनके नेताओं का, जो उन्हें जानबूझ कर झूठी सच्ची बातें सुनाते और इस प्रकार उनमें कांग्रेस के ख़िलाफ़ विद्वेष की आग भड़काने की कोशिशें करते हैं।

(३)

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे तो मसला हल होता नहीं दिखाई देता। ज़रूरत है सिद्धान्तों के निर्णय करने की। इसी पर अब हम विचार करेंगे। इस समस्या का हल होना दुस्तर है, यदि हम युक्तप्रान्त ही पर अपनी नज़र गड़ाये रहेंगे; क्योंकि जहाँ साम्प्रदायिक अविश्वास और सन्देह का वातावरण फैल रहा है वहाँ बँटवारे के उसूलों का समझौते से तय होना आसान नहीं। कांग्रेसी सरकारों की नेकनीयती पर हमला करना आजकल एक फ़ैशन-सा हो गया है। राह चलता हुआ मुसाफ़िर भी उनको गाली देकर अपनी आज़ादी-परस्ती का सबूत दे देना चाहता है। मुस्लिम लीगवालों ने यह खुला इलज़ाम लगाया है कि वे न सिर्फ़ अपने-अपने सूबों के अल्पसंख्यकों के साथ अन्याय कर रही हैं, बल्कि उन्हें हर तरीक़े से नष्ट-भ्रष्ट कर मिटा देने पर तुली बैठी हैं। इसलिए कांग्रेसी सूबों में सरकारी नौकरियों के सम्बन्ध में जो नीति निर्धारित की गई है, उसकी दोहाई देना या उसको इस सूबे के लिए अपनाना मुनासिब न होगा। मुस्लिम लीगवालों की राय में तो कांग्रेसी सूबों में तुक की एक बात का भी ढूँढ़ निकालना बिलकुल ही नामुमकिन है। उनके कथनानुसार, कांग्रेस का बाना तो बेईमानी का बाना है। इसलिए, आइए, हम उन सूबों को लें, जहाँ पर मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के हाथ में शासन की बागडोर है।

चलिए, युक्तप्रान्त के बाहर चलें और देखें कि पंजाब और बंगाल की न्यायप्रिय सरकारों ने इस मसले पर क्या फ़ैसला किया है? या क्या करने का उनका इरादा है? पंजाब में सर सिकन्दरहयात की गवर्नमेन्ट है और बंगाल के वज़ीरआज़म के पद पर मि० फ़ज़लुलहक़ आसीन हैं, दोनों ही मौक़े-बे मौक़े इस बात का ढिंढोरा पीटते रहते हैं कि वे अपने-अपने सूबे में अल्पसंख्यकों के साथ बेहद हमदर्दी और फ़ैयाज़ी के साथ पेश आ रहे हैं। वे उपदेश

देते हैं कि कांग्रेसी सूबों की सरकारों को उन्हीं की अल्पसंख्यक-सम्बन्धी नीति का आँख बन्द कर अनुसरण करना चाहिए। वे मुक़ाबला करते हैं अल्पसंख्यकों के प्रति अपनी उदारता का, कांग्रेसी सरकारों की मन-गढ़ंत अनुदारता के साथ! इस सूबे के हमारे मुसलमान भाई भी पंजाब और बंगाल के वज़ीर-आज़मों के इस दावे का समर्थन करते हैं। ऐसी दशा में, जो पंजाब या बंगाल में नौकरियों के मामले में अल्पसंख्यकों को अधिकार दिये गये हैं उनका हम विवेचन करें और देखें कि बंगाल या पञ्जाब ने अपने-अपने हिन्दुओं और सिक्खों या ईसाइयों के साथ कैसा व्यवहार किया है। यदि युक्तप्रान्त के मुसलमानों और ईसाइयों के साथ उसी के अनुरूप व्यवहार किया जाय तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारे सब मुसलिम लीगर्स हमें शाबाशी देंगे; क्योंकि वे तब यह न कह सकेंगे कि पञ्जाब या बङ्गाल में अल्पसंख्यकों के साथ उनके भाई-बन्धु जो व्यवहार कर रहे हैं वह तो ठीक है, लेकिन अगर वही व्यवहार इस सूबे के अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के साथ किया जाय तो वह अनुचित होगा। २७ अगस्त सन् १९३८ को मि० फ़ज़लुलहक़ की पार्टी के एक सदस्य ने बङ्गाल की धारा-सभा में एक प्रस्ताव पेश किया था, जिसमें सरकार से यह सिफ़ारिश की गई थी कि सरकारी नौकरियों में,......

मुसलमानों को ... ६० प्रतिशत
हरिजनों को ... २० ,,
और दूसरे सम्प्रदायों को ... २० ,,

जगहें दी जायें। इस प्रस्ताव का समर्थन श्री फ़ज़लुलहक़ की पार्टी ने एक स्वर से किया। याद रखिए कि पार्टी में मुसलमानों की अधिक संख्या है लेकिन उसमें वे योरपियन, ऐंग्लो-इण्डियन और ईसाई भी शामिल हैं, जो बङ्गाल धारा-सभा के सदस्य हैं। कुछ हरिजन भी इस पार्टी में हैं। अतएव यह कहना ग़लत न होगा कि इस प्रस्ताव का समर्थन बङ्गाल के मुसलमानों, योरपियनों, ऐंग्लो-इण्डियनों, ईसाइयों और हरिजनों के प्रतिनिधियों ने किया। इस प्रस्ताव की माँगों को आबादी की कसौटी पर हमें कसना और देखना चाहिए कि किन सिद्धान्तों पर यह सिफ़ारिश अवलम्बित है। क्या इन माँगों के पीछे कोई सिद्धान्त भी है या साम्प्रदायिकता की सहज लोलुपता ही इसकी प्रेरक है? बङ्गाल की आबादी में,

मुसलमान ... ५५ प्रतिशत,
हरिजन ... १८ ,,
सवर्ण हिन्दू ... २५ ,, और
अन्य अर्थात् ईसाई, सिक्ख, और
बौद्ध आदिक ... ... २ प्रतिशत है।

मुसलमान आबादी के लिहाज़ से वहाँ ५५ प्रतिशत है, लेकिन प्रस्ताव के अनुसार सरकारी नौकरियों में उनका हिस्सा ६० प्रतिशत होना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकला कि बङ्गाल के मुसलमानों की राय में अकसरियत—बहुसंख्यक समुदाय—को आबादी के लिहाज़ से जितने पद मिलने चाहिए, उतने से अधिक देना न तो अनुचित है और न न्यायघातक। दूसरा सिद्धान्त, जो इस प्रस्ताव से निकलता है, यह है कि जो अल्पसंख्यक हैं उनको सरकारी नौकरियों में उतना हिस्सा भी न मिलना चाहिए जितने के वे आबादी के आधार पर पाने के अधिकारी हैं। तभी तो सवर्ण हिन्दुओं को जो २५ प्रतिशत हैं और अन्य जो २ प्रतिशत हैं, अर्थात् दोनों को मिलाकर जो २७ प्रतिशत हैं, उनके लिए सरकारी नौकरियों में कुल २० प्रतिशत जगहें सुरक्षित करने की सिफ़ारिश की गई है। याद रहे कि इस प्रस्ताव का मुसलमानों, ईसाइयों, अँगरेज़ों और हरिजनों ने समर्थन किया। हाँ, उन्होंने केवल हरिजनों के लिए १८ के स्थान में २० जगहों के सुरक्षित करने की सिफ़ारिश की।

आइए, बङ्गाल के इस प्रस्ताव के सिद्धान्तों को ठीक मान कर हम अपने सूबे की समस्या पर विचार करें। बङ्गाल में ५५ प्रतिशत मुसलमानों को जब ६० प्रतिशत नौकरियाँ मिलनी चाहिए तब युक्त-प्रान्त के ८५ प्रतिशत हिन्दुओं को लगभग ९३ प्रतिशत सरकारी नौकरियाँ देना उचित है। जब २७ प्रतिशत सवर्ण हिन्दुओं और अन्य सम्प्रदायवालों को २० प्रतिशत सरकारी नौकरियों का बङ्गाल में प्रस्ताव किया गया है तो उसी हिसाब से ११ प्रतिशत मुसलमान और ईसाइयों को इस सूबे में ११ प्रतिशत से अधिक स्थानों का देना इस उसूल से सरासर अन्याय होगा। कहाँ ४० प्रतिशत और कहाँ ११ प्रतिशत! हमारे मुसलमान भाई यह बताएँ कि क्या वे चाहते हैं कि जिन सिद्धान्तों पर बङ्गाल में इस समस्या को हल करने का प्रस्ताव किया गया है, उन्हीं सिद्धान्तों पर इस मसले का निर्णय इस सूबे में भी कर दिया जाय? यदि नहीं, तो क्यों? क्या वे यह मानने के लिए तैयार हैं कि बङ्गाल की मुसलिम लीग पार्टी अपने अल्पसंख्यकों के साथ जो कुछ करने जा रही है, वह न्यायोचित है? यदि हाँ, तो फिर हमारे सूबे के मुसलमानों को कोई शिकायत नहीं हो सकती यदि उन्हें और ईसाइयों के लिए इस सूबे में सरकारी नौकरियों का ११ प्रतिशत हिस्सा सुरक्षित कर दिया जाय?

बङ्गाल का फ़ार्मूला, सम्भव है, इस सूबे के मुसलमान और ईसाई भाइयों को न भाये तो, आइए, गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ने इस सम्बन्ध में जिस नीति का अवलम्बन किया है उस पर हम विचार करें और देखें कि गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया के सन् १९३४ वाले प्रस्ताव के सिद्धान्तों के अनुसार इस सूबे के हमारे मुसलमान और ईसाई भाइयों को प्रान्त की सरकारी नौकरियों में क्या प्रतिनिधित्व मिल सकता है। गवर्नमेंण्ट आफ़ इण्डिया ने उन नौकरियों के विषय में, जो उनके अधीन हैं, १९३४ में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के बारे में अपना मन्तव्य प्रकाशित किया था। उस मन्तव्य के अनुसार मुसलमानों के लिए कम से कम २५ प्रतिशत जगहें सुरक्षित रक्खी गई हैं। यह संरक्षण केवल नई भरती के विषय में है। एक पद से दूसरे पद पर तरक्क़ी के सम्बन्ध में यह अनुपात लागू न होगा। यदि आज किसी विभाग में मुसलमानों की संख्या कम है और किसी में उनकी संख्या अधिक है तो उसका कुछ भी लिहाज़ न किया जायगा। दोनों ही विभागों में, जैसे-जैसे जगहें ख़ाली होती जाएँगी, वैसे-वैसे सिर्फ़ उन्हीं रिक्त पदों में से २५ प्रतिशत पद मुसलमानों के लिए सुरक्षित रहेंगे। जो भर्ती होगी, वह पब्लिक सर्विस कमीशन के इम्तहान द्वारा की जायगी। उस इम्तहान में अगर २५ प्रतिशत से ज़्यादा मुसलमान कामयाब होते हैं तो उनको ज़्यादा स्थान मिल जायँगे और यदि कम होते हैं तो उस कमी को पूरा करने के लिए कुछ मुसलमानों की नामज़दगी कर दी जायगी। यह बात ध्यान में रहे कि सारे हिन्दुस्तान में मुसलमानों की आबादी २५ प्रतिशत से कुछ अधिक है। अर्थात्, गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ने मुसलमानों के लिए कम से कम उतने ही प्रतिशत स्थानों का संरक्षण आवश्यक समझा जितने के वे आबादी के आधार पर हक़दार हैं। इस हिसाब से इस सूबे में मुसलमानों के लिए १५ प्रतिशत स्थानों का संरक्षण कर देना मुनासिब होगा। गवर्नमेन्ट आफ़ इंडिया ने मुसलमानों को अपनी नौकरियों में उतने प्रतिशत स्थान नहीं दिये, जितने प्रतिशत उन्होंने केन्द्रीय अथवा धारा सभा में मुसलमान सदस्यों की संख्या निर्धारित की है। उदाहरण के लिए, केन्द्रीय एसेम्बली में मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या ३३·३३ प्रतिशत रक्खी गई है, लेकिन नौकरियों में महज़ २५ प्रतिशत। गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ने मुसलमान भाइयों के इस दावे को स्वीकार नहीं किया कि जिस हिसाब से धारा-सभा में प्रतिनिधित्व दिया गया है उसी हिसाब से सरकारी नौकरियों में भी उन्हें हिस्सा मिलना चाहिए। यदि गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ने इस दलील को मान लिया होता तो मुसलमानों के लिए उसे अपनी नौकरियों में २५ नहीं बल्कि ३३·३३ के हिसाब से स्थान सुरक्षित करना चाहिए था। गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ने इस सम्बन्ध में जो निर्णय किया, उससे दो सिद्धान्त निकलते हैं :—

१—धारा-सभाओं में प्रतिनिधित्व से नौकरियों में प्रतिनिधित्व का कोई सम्बन्ध नहीं।

२—सम्प्रदाय-विशेष को सरकारी नौकरियों में कम से कम उतने स्थान देने का प्रबन्ध कर देने की ज़रूरत है जितने स्थान पाने की वह आबादी के लिहाज़ से हक़दार हैं।

इन दोनों सिद्धान्तों से युक्त-प्रान्त के मुसलमान भाइयों की ३० प्रतिशत की माँग और उस माँग के समर्थन में धारा-सभा में प्रतिनिधित्व का हवाला, इन दोनों का खंडन हो जाता है। माँग भी ग़लत और उसके सम्बन्ध में दी गई दलील भी बेबुनियाद सिद्ध हो जाती है। याद रहे कि गवर्नमेंट आफ़ इंडया का यह फ़ैसला कम्यूनैल एवार्ड के फ़ैसले का एक अंग है। यह फ़ैसला गवर्नमेंट ने उस वक्त दिया था जब मियाँ सर फ़जले हुसेन वायसराय के कौंसिल के सर्वेसर्वा थे। यह भी याद रहे कि यह फ़ैसला गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ने उस समय दिया था, जब मुसलमानों ने राउंड टेबिल कानफ़रैन्स में यह धमकी दी थी कि अगर सरकारी नौकरियों और धारासभाओं में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का फ़ैसला गवर्नमेंट आफ़ इंडिया इस ढंग से नहीं करती जिससे मुसलमानों को सन्तोष हो तो वह राउंड टेबिल कानफ़रैन्स के वैधानिक सुधारों का

...क स्वर से विरोध करेगी। अतएव गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ...यह फ़ैसला मुसलमानों के आग्रह पर हुआ है। इस ... में जो सिद्धान्त स्वीकृत हुए हैं उन सिद्धान्तों को मुसलमानों ने स्वीकार कर लिया है। फिर कोई वजह नहीं मालूम होती कि ब्रिटिश भारतवर्ष के लिए जो सिद्धान्त हमारे मुसलमान भाइयों ने सही माने, उन्हीं सिद्धान्तों को वे इस सूबे के लिए क्यों अहितकर समझें? तो फिर क्या, केन्द्रीय नौकरियों के हिसाब से, सूबे के मुसलमान भाइयों के लिए उतने ही स्थान सुरक्षित कर दिये जायँ जितने के वे आबादी के आधार पर भागी हैं?

इसी सिलसिले में, आइए, देखें कि क्या बंगाल और पंजाब की गवर्नमेन्टों ने अपने अपने सूबे के लिए धारा-सभाओं और नौकरियों में समान प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया है? बंगाल की एसेम्बली में मुसलमानों को ४६ फ़ी सदी प्रतिनिधित्व दिया गया है, यद्यपि आबादी के लिहाज़ से उनकी संख्या ५५ फ़ी सदी है। लेकिन बंगाल की गवर्नमेंट ने मुसलमानों के लिए सरकारी नौकरियों में उतना हिस्सा नहीं दिया, जितना उन्हें एसेम्बली में प्राप्त है। आबादी के लिहाज़ से ५५ फ़ी सदीवाली जमात को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व बंगाल की धारासभा में तो ४६ फ़ी सदी और सरकारी नौकरियों में ६० फ़ी सदी प्राप्त है और होगा। इसी तरह से पंजाब में मुसलमानों की आबादी ५७ फ़ी सदी है और धारासभाओं में उनको ४८ फ़ी सदी प्रतिनिधित्व मिला है। सरकारी नौकरी में उन्होंने अपने लिए ५० फ़ी सदी पद लेना मुनासिब समझा। इन बातों से यह साफ़ ज़ाहिर है कि तीनों ही ग़ैर कांग्रेसी सरकारों ने युक्तप्रान्त के मुसलमानों के इस दावे को उचित नहीं क़रार दिया कि किसी सम्प्रदाय-विशेष को सरकारी नौकरियों में उतना ही हिस्सा दिया जाय, जितना उसे धारासभा में प्राप्त है। बंगाल और पंजाब के हिन्दू या ईसाइयों को भी वहाँ की मुस्लिम लीगी सरकारों ने नौकरियों में उतने पद नहीं दिये जितने उन्हें धारासभाओं में प्रतिनिधित्व के आधार पर मिलते। यह विचारणीय बात है कि क्यों युक्त-प्रान्त में बंगाल, पंजाब या भारत की गवर्नमेन्टों के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों की अवहेलना की जाय और क्यों यहाँ पर उनके विपरीत एक ऐसा निर्णय किया जाय जिससे अल्पसंख्यकों की माँगों को पूरा करने की वजह से बहुसंख्यकों को शिकायतों का मौक़ा मिले?

गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ने मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के लिए भी अपनी नौकरियों में न्यूनतम स्थानों का संरक्षण किया है। ऐंग्लो-इंडियनों को छोड़ कर, बाक़ी सम्प्रदायों और जातियों के लिए जिनकी आबादी सन् १९३४ में ९·४ और बर्मा के पृथक् हो जाने के बाद ५ हो गई, उनके लिए उसने ६ प्रतिशत स्थान सुरक्षित किये हैं। ऐंग्लो-इंडियनों के लिए उन्होंने विशेष पक्षपात से काम लिया है। इस पक्षपात को देखकर किसी को अचरज न होना चाहिए, क्योंकि ब्रिटिश सरकार जब अखिल भारतीय नौकरियों में अँगरेज़ों के लिए ४० या ५० प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर सकती है तब ऐंग्लो-इंडियनों के साथ पक्षपात करना उसके लिए कोई असम्भव बात नहीं। लेकिन इस मुल्क में दूसरी जातियों के लिए, जिनमें पारसी, ईसाई, बौद्ध और जैन आदि शामिल हैं, इसने ६ प्रतिशत नौकरियाँ सुरक्षित की हैं, जब आबादी में उनकी संख्या लगभग ५ के बराबर है। यानी, आबादी को देखते हुए नौकरियों में भी उसने उनको २० सैकड़ा विशेषाधिकार दिया है। हमारे सूबे में ऐसी जातियों की संख्या २०० में १ है। गवर्नमेंट आफ़ इंडिया के सिद्धान्तों के अनुसार इन अन्य जातियों को आबादी के आधार से २० सैकड़ा अधिक नौकरियाँ मिल जानी चाहिए। कहाँ गवर्नमेंट आफ़ इंडिया के मन्तव्य के अनुसार अन्य सम्प्रदायवालों को इस सूबे में १० हज़ार में १२ पद मिलने चाहिए और कहाँ इस सूबे में इन सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों की १० हज़ार में एक हज़ार की माँग! क्या हमारे ईसाई प्रतिनिधि गवर्नमेंट आफ़ इंडिया के इस निर्णय को स्वीकार करेंगे? यदि नहीं, तो क्यों?

(४)

अब चलिए, पंजाब चलें और देखें कि वहाँ की लीग मिनिस्टरी ने इस मामले को किस तरह तय किया है। मुस्लिम लीग के पटनावाले अधिवेशन में पंजाब के प्रधान मंत्री, सर सिकन्दर हयात, ने अपनी प्रशंसा में बहुत कुछ कह डाला। अल्पसंख्यकों के प्रति अपनी उदारता का गान उन्होंने बेहद किया और कांग्रेसी सूबों के प्रधान मंत्रियों को यह सिखावन दी है कि जिस उदारता से उन्होंने अपने अल्प-संख्यकों की माँगों को पूरा किया है उसी उदारता के साथ कांग्रेस को भी अपने सूबे के अल्प-संख्यकों की माँगों को पूरा करना चाहिए। पंजाब के विभिन्न सम्प्रदायों की आबादी निम्न प्रकार है:—

मुसलमान	...	५० प्रतिशत;
हिन्दू	...	२७ ,, ;
सिक्ख	...	२० ,, ; और
अन्य—ईसाई, आदिक		३ ,,

नौकरियों का विभाजन वहाँ पर जिस तरह किया गया है उसे ब्यौरेवार हम नीचे देते हैं।

मुसलमानों को	...	५१ प्रतिशत;
हिन्दुओं को	...	२९ ,, और
सिक्खों, ईसाइयों आदि को		२० ,,

ऊपर हमने जो ब्यौरा दिया है, वह उन मुसलमान नेताओं के कथन के आधार पर दिया है जिनको पंजाब के हालात की काफ़ी जानकारी है। लेकिन एक हिन्दू मित्र ने सरकारी नौकरियों के सम्बन्ध में जो अनुपात भेजा है उसे भी हम नीचे दे रहे हैं—

मुसलमानों को	...	५० प्रतिशत;
सिक्खों को	...	२० ,, और
हिन्दू, ईसाई आदि को		३० ,,

वहाँ हिन्दू और ईसाइयों की संख्या मिलाकर ३० प्रतिशत है। सर सिकन्दर हयात ने ३० प्रतिशतवाले अल्पसंख्यकों को नौकरियों में उतनी ही जगहें दी हैं, जितने स्थानों के वे आबादी के लिहाज़ से हक़दार थे। जो मुसलमान वहाँ पर ५७ प्रतिशत हैं, उन्हें ५० प्रतिशत मिला है; और सिक्खों को, जो १३ प्रतिशत हैं, २० प्रतिशत दिया गया है। इस हिसाब से यदि पंजाब में मुसलमानों को, आबादी में सिर्फ़ ५७ प्रतिशत होते हुए भी, ५० या ५१ प्रतिशत नौकरियाँ दी जाती हैं, तो युक्त-प्रान्त के हिन्दुओं को, जिनकी संख्या ८५ फ़ी सदी है ७४·५ या ७६ फ़ी सदी जगहें दी जायें, और ईसाई और मुसलमानों को उसी अनुपात से स्थान इस सूबे में दिये जायँ, जिस अनुपात से पंजाब में ईसाइयों और हिन्दुओं को दिये गये हैं। जो शेष स्थान बचें, उन्हें, मेरी राय में, उस संख्या में जोड़ देना चाहिए, जिसके—आबादी के लिहाज़ से—हरिजन अधिकारी हैं। इस तरह से युक्त-प्रान्त में—

हरिजनों को	...	३२ प्रतिशत;
सवर्ण हिन्दुओं को	...	५३ ,, और
मुसलमान तथा ईसाइयों को		१५ ,,

जगहें इस सूबे में मिलनी चाहिए।

(५)

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका निष्कर्ष हम संक्षेप में पाठकों के सामने उनके मनोरंजनार्थ निकाल कर रख देना चाहते हैं। बंगाल में अल्प-संख्यकों को आबादी के लिहाज़ से कम जगहें दी गई हैं और बहुसंख्यकों को आबादी से ज़्यादा स्थान देने का प्रस्ताव किया गया है। गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ने अपने निर्णय में आबादी के आधार को नौकरियों के विभाजन में ठीक समझा। पंजाब ने बहुसंख्यकों को आबादी के देखते हुए कुछ कम नौकरियाँ दी हैं, लेकिन जहाँ उन्होंने एक अल्प-संख्यक सम्प्रदाय के साथ उदारता दिखाई वहाँ उन्होंने सिक्खों को छोड़ कर हिन्दुओं तथा अन्य सम्प्रदायवालों के साथ रिआयत करना उचित नहीं समझा। यदि पंजाब का पहला फ़ार्मूला सही हो तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वहाँ बहुसंख्यकों को कम देकर अल्प-संख्यकों को आबादी के आधार से कुछ अधिक दिया गया है; यानी वहाँ ५७ प्रतिशत मुसलमानों को ५१ प्रतिशत स्थान देकर २७ प्रतिशत हिन्दुओं को स्थान २९ प्रतिशत और १६ प्रतिशतवाले अन्य अल्प-संख्यकों को (सिक्ख १३ अन्य सम्प्रदाय ३) को २० प्रतिशत दिये गये हैं। इस तरह से युक्तप्रान्त में भी ईसाइयों, ऐंग्लो इंडियनों, सिक्खों, बौद्धों, पारसियों तथा मुसलमानों को, जिनकी सम्मिलित संख्या १५ प्रतिशत से कुछ अधिक है, २० प्रतिशत सरकारी नौकरियों में स्थान सुरक्षित कर देना चाहिए।

अब हम अपनी ओर से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं समझते। ईसाई, मुसलमान, सिक्ख प्रभृति अल्प-संख्यक सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों को चाहिए कि वे हमें बताएँ कि वे किस आधार पर इस सूबे में सरकारी नौकरियों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का फ़ैसला कराना चाहते हैं? वे बंगाल के सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहते हैं, या पंजाब के या भारत-सरकार के? तीनों ही ग़ैर-कांग्रेसी सरकारें हैं। दो में तो मुस्लिम लीगवालों का प्राधान्य है। पंजाब और बंगाल के प्रधान मन्त्री मुस्लिम लीग के मुख्य

स्तम्भ माने जाते हैं। उन्होंने अपने-अपने सूबे में अल्प-संख्यक सम्प्रदायों के लिए जो निर्णय किया है क्या उन निर्णयों में निहित सिद्धान्तों को हमारे सूबे के अल्प-सख्यक सम्प्रदायवाले अपनाना ठीक समझते हैं? इस प्रश्न का निर्णय हम अपने दोस्तों के ऊपर छोड़ देना चाहते हैं। उनके फ़ैसले को हम मान लेने को तैयार हैं, क्योंकि उस दशा में वे फिर यह न कह सकेंगे कि हमने जान-बूझ कर उनके साथ अनौचित्य का व्यवहार किया।

जिस प्रश्न पर ऊपर विचार किया गया है, उस प्रश्न का एक पहलू और भी है। क्या सब प्रकार की नौकरियों में एक ही सिद्धान्त के अनुसार भरती करने की ज़रूरत होगी? कई विभाग ऐसे हैं जिनमें विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, इंजीनियरिंग को ले लीजिए। यदि किसी समुदाय-विशेष में पर्याप्त संख्या में योग्य व्यक्ति न मिलें तो क्या इस कमी को दूसरे विभागों से उस समुदाय-विशेष के व्यक्तियों को अधिक संख्या में लेकर पूरी कर दी जाय? सरकारी नौकरियों को साधारण रूप से हम पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं।

१—गज़टेड सर्विसेज़
२—नान गज़टेड ,,
३—सुपीरियर सर्विसेज़
४—सबारडिनेट ,,
५—इन्फ़ीरियर ,,

मेरी राय में जो कुछ भी अनुपात सरकारी नौकरियों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के बारे में निश्चित हो, वह सिर्फ़ पहली तीन श्रेणियों की नौकरियों के विषय में लागू होना चाहिए। परन्तु चौथी और पाँचवीं श्रेणी में आबादी के आधार ही पर प्रत्येक समुदाय को नौकरी देना उचित होगा; क्योंकि इन पदों के कर्मचारियों पर नीति के संचालन का दायित्व नहीं होता। अतएव इनका तो केवल साम्पत्तिक दृष्टि ही से विभाजन होना चाहिए। चपरासी, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, वह चपरासी ही है। वह हाकिम नहीं। वह हुकूमत नहीं कर सकता। क्या इनकी नियुक्ति को प्रान्तिक अनुपात से लगाई जाय? इन प्रश्नों पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, कहा जा सकता है कि नम्बर १ से ३ तक की श्रेणियों की नौकरियों की हालत भिन्न है। उनके ऊपर दायित्व भी है। शासन में भाग लेने और उसके द्वारा समाज की सेवा करने में सब सम्प्रदायों के व्यक्तियों को समान अवसर मिलना चाहिए। इन तीनों श्रेणियों की नौकरियों का न केवल साम्पत्तिक पहलू है, किन्तु उनका शासनाधिकार से भी सम्बन्ध है।

इनके बँटवारे का, प्रश्न हो सकता है, क्या आधार हो?—इसके विषय में, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहना चाहता। अल्प-संख्यकों के जो नेता हैं, जिनको उनकी ओर से बोलने का अधिकार है, और उनकी तरफ़ से समझौता करने का जो दावा करते हैं, उनका यह धर्म है कि वे दिल खोलकर हमें बतायें कि वे क्या चाहते हैं? अभी तक उन्होंने जो माँगें पेश कीं; वे पंजाब, बंगाल और केन्द्रीय सरकार के निर्णय के सामने असंगत और बेबुनियाद साबित हुई हैं। कोई वजह नहीं मालूम होती कि युक्तप्रान्त के बहुसंख्यकों के साथ क्यों इतना अन्याय किया जाय, जितना न बंगाल और न पंजाब ने अपने बहुसंख्यकों के साथ करने की जुर्रत की। क्या कोई यह कहने का दावा करेगा कि युक्तप्रान्त में बहुसंख्यकों के कोई अधिकार नहीं और बंगाल या पंजाब के अल्प-संख्यकों के कोई स्वत्व नहीं? यदि युक्तप्रान्त के बहुसंख्यकों का अपने अल्प-संख्यकों के प्रति कुछ कर्तव्य है तो इस सूबे के अल्प-संख्यकों का भी अपने बहुसंख्यकों के प्रति कुछ फ़र्ज़ है। कर्तव्य-रहित न कोई अधिकार है, और न अधिकार-विहीन कर्तव्य। हमें कोई शिकायत नहीं यदि हमारे अल्प-संख्यक अपने अधिकारों की ओर बहु-संख्यकों के कर्तव्यों पर ज़ोर देते या उनकी याद बराबर दिलाया करते हैं। ऐसा करने का उन्हें पूरा अधिकार है। उनका ऐसा करना धर्म भी है। लेकिन साथ ही साथ यह भी उनको स्वीकार करना पड़ेगा कि जहाँ उनके अधिकार हैं तहाँ उनके कुछ कर्तव्य भी हैं। अधिकारों ही को याद रखना और उन्हीं की याद दिलाना जहाँ मुनासिब है वहाँ कर्तव्यों को भूल जाना या नज़रन्दाज़ कर देना न उनके लिए हितकर है और न सबके लिए लाभकारी सिद्ध हो सकता है। न उन्हें भूलना चाहिए—और न हमें भूलना चाहिए—कि मनमुटाव होते हुए भी हमें और उन्हें, हम सबको, जो इस मुल्क में पैदा हुए हैं, इसी मुल्क में रहना और इसी मुल्क में मरना है। हम सबके ऊपर इस बात की ज़िम्मेदारी है कि आपसी बातों को लेकर कोई ऐसा वचन न बोलें और न कोई ऐसा काम करें, जिससे आपसी मनमुटाव बढ़े या शान्ति की जगह पर संघर्ष का बोलबाला हो। हठधर्मी से तो हमें काम नहीं लेना है। हमें विश्वास है कि अल्प-संख्यक सम्प्रदायों के लोग भी हठधर्मी से काम नहीं लेना चाहेंगे। हमारी यह नीयत है कि आपस के झगड़े जल्द से जल्द मिट जाएँ, मिटा दिये जायें, ताकि यह सूबा हिन्दुस्तान में अन्य सूबों के मुक़ाबले में उन्नतिशील हो, ताकि यहाँ की ग़रीबी, यहाँ की दीनता, जितनी जल्दी मिट सके मिट जाय, और इस सूबे का नाम उसी तरह से रोशन हो जाय जैसे इसका नाम हर्ष या अकबर के ज़माने में न सिर्फ़ इस मुल्क के अन्दर बल्कि इस मुल्क के बाहर भी रोशन था।

स्वप्न-निर्वाण

लेखक, श्रीयुत व्रजेश्वर

क्या मैं गाऊँ सखे आज
जीवन के वे सुख बीते?
लगते हैं अब तो तेरे ये
मधु घट रीते रीते।
स्वप्न मेरे मन चीते—
भंग कर दिये क्रूर काल ने
देकर धक्का एक!
चौंक पड़ा मैं देखा मैंने
जागा बुद्धि-विवेक
कल्पना का सुखमय संसार
उड़ गया कुहरे सा अज्ञात!
लगी झुलसाने तीखी रश्मि
नवल कलिका के कोमल गात
नहीं है मधु-ऋतु का यह प्रात—
यहाँ उड़ रही धूल बह रही
तप्त प्रचंड बयार
बरस रही है आग, जल रहा
यह समस्त संसार
सत्य का यह कठोर व्यापार!

सरिता का तट और बाग़ की
मस्ती भरी बहार।
मादक प्रेम मधुप-कलिका का
मान और मनुहार।
सुधा की यह मधु धार—
बुझा न सकी निरतंर पीनेवालों
की भी प्यास।
उसका क्या सारा जीवन ही
हो जिसका उपवास।
हुई कल्पना कुंठित मेरी
कविता सूखी आज
आगे पीछे सभी ओर हैं
मानव और समाज
और उनके सुख साज—
कहाँ कहाँ मैं खोज रहा हूँ
भटक रहा हूँ हाय!
नहीं मिला अब तक सीधा-पथ
आगे कौन उपाय!
कठिन मेरा व्यवसाय!

आँखों का दोष

लेखक, श्रीयुत योगेन्द्रनाथ शर्मा

(१)

"इन्दु रानी !"

"आई ।"

"विलम्ब हो रहा है ।"

"अब आ ही गई ।"

स्फटिक-भित्ति से सटा विशाल दर्पण था । उँचान में इन्दु से कुछ बड़ा था । एक इन्दु दर्पण के सम्मुख खड़ी थी, दूसरी उसके वक्षःस्थल में धँसी थी । यदि बाहर की इन्दु बीस थी, तो आइने की सुन्दरी इक्कीस; राज-कुमारी ने फिर कंघा उठाया, रेशम के तह-से बैठे बालों में कंघे के दाँत घुस कर पीछे निकल गये; मख़मली गालों के उभरे स्थल पर इन्दु ने गुलाब-लेप लगाया; स्पर्द्धा-भरी आँखों से दर्पण की ओर देखा, ओठों को स्फुरित करते हुए कहा 'अब भी नहीं' । मन में आया 'हार के बिना गर्दन उदास लगती है'; लपक कर खुले सन्दूक़ से मुक्ता-हार निकाला—स्वच्छ बड़े बड़े काबुली अंगूर । उसे गले के हवाले कर इन्दु ने भाल पर अरुण-बिन्दु लगाया, सूना चेहरा खिल उठा; डट कर आइने के सामने खड़ी हो गई, दर्पण की सुन्दरी भी अकड़ गई ।

"इन्दु रानी !" फिर पुष्पा ने ऊँचे कंठ से पुकारा ।

"एक दम आ गई ।" कहती हुई इन्दु ने चोरी से एक कटाक्ष दर्पण में गड़ाया, बदले में वैसा ही कटाक्ष पाकर वह प्रकोष्ठ की सीढ़ियों से धड़धड़ाती हुई नीचे उतरी ।

इन्दु—सिंहल की राज-कुमारी; पुष्पा—सचिव-कुमारी; बनानेवाले ने जोड़ी ही लगा दी थी । एक अवस्था, एक रंग, एक ढंग, सब कुछ एक; अन्तर सुई की नोक भर भी नहीं । हाँ एक बात थी, और वह कोई पक्का कलाकार ही परख सकता था । इन्दु-कुमारी की आँखें—बड़ी-बड़ी, गोल-गोल, उठी हुई बरौनियाँ—जहाँ पड़तीं वहाँ सीधी; तिरछे घुमाने में कुछ कृत्रिमता की बू आती थी । पुष्पा के चेहरे में आम की फाँकें जड़ी थीं, बरौनियाँ बरसाती मेघ की तरह नीचे उनयी रहती थीं, पलक के भीतर से ही वह किसी वस्तु को देख लेतीं—स्पष्ट और पूर्ण । उसके सरल भाव से देखने पर भी बे-पहचान का व्यक्ति अपने को परिचित-प्रेमी समझने का भ्रम करता ।

एक ने अपनी बाईं बाँह दूसरी की दाईं बाँह में उलझाई; दोनों घाट की ओर चल पड़ीं । ऊँघता हुआ वृद्ध माँझी चकबका कर उठा, बाँस के लग्गे को खड़खड़ाता हुआ पानी में टेक कर संपान को स्थल से भिड़ा दिया; गाढ़े महावर से मढ़ी दो एड़ियाँ एक साथ उठीं, और नौका के पटरे पर गिरीं—'भद्द' । दोनों सँभलकर बैठ गईं ।

"सरकार ! कहाँ चलना है ?"—माँझी ने अवस्था से झुकी कमर को नम्रता से और झुका कर पूछा ।

"अरे, यह तो हम लोगों ने निश्चय ही न किया कि आज घूमने चला कहाँ जाय ।"—इन्दु ने पुष्पा के कन्धे को हिलाते हुए कहा ।

पुष्पा कुछ सोचती-सी मौन रही, फिर बोली—

"अच्छा, माँझी, आज अपने मन से ले चलो, किसी सुन्दर स्थान पर ।"

"सुन्दर स्थान तो कई हैं, उनमें से कहाँ ले चलूँ ?"

"पहले ही कह दिया कि आज अपने मन से ले चलो ।"

माँझी कुछ देर तक इसी उधेड़ बुन में पड़ा रहा... सुन्दर स्थान !...कहाँ ले चलूँ ? कुछ समझ में नहीं आता ...ऐसा न हो जहाँ ले चलूँ वह सरकार को सुन्दर न लगे ...अच्छा, बन्दी-दुर्ग की ओर ले चलूँ, आकाश को छूता हुआ पहाड़ की तरह ऊँचा दुर्ग है, मूल्यवान् सुन्दर पत्थरों से बना, भला वह न सुन्दर होगा तो होगा कौन ?

इसी विचार को मन में जमा कर माँझी ने लग्गा मारा, नदी की गति को अपनी गति में जोड़ कर पतली हलकी सम्पान बिछलती हुई दौड़ पड़ी ।

ढलती अवस्था के कारण माँझी एक तो वैसे ही कानों से ऊँचा सुनता था, दूसरे नदी की हरहराहट, लग्गे का खड़खड़ाना, नाव को कभी किनारे से धारा में लाना और कभी धारा से किनारे की ओर, ऊँचे कगारों से बचाना—ये व्यापार सहेली-युग्म के संलाप को अपनी घोर ध्वनि में डुबो रहे थे । माँझी अपनी धुन में नाव बढ़ाता चला जाता था । कभी भूलकर इधर दृष्टि डाली तो केवल सर का हिलना, गर्दन का तिरछा होना अथवा अँगुलियों का संचालन—यही दीख पड़ता !

एक नारंगी की दो अर्द्ध-फाँकों की तरह दोनों सखियाँ घुल-घुल कर बातें कर रही थीं । राज-कुमारी ने स्नेह-पूर्ण शब्दों में कहा—

"जैसी मित्रता महाराज और सचिवदेव में है, वैसी ही राज-पुत्री और अमात्य-पुत्री में भी ।"

"इसमें सन्देह नहीं; ब्रह्मा ने जोड़ी ही मिला दी है ।"

"पुष्पा, जल के स्तर में हम दोनों का मुख-मण्डल कैसा नाच रहा है ! मेरी छाया कौन है, और तेरी कौन—यह तो पहचान ही में नहीं आता ।"

"हाँ, इन्दु, क्या याद है ? उस दिन गुरु-माता ने कहा था कि जैसे भगवान् ने भूलकर तुम दोनों को एक ही साँचे में ढाल दिया है ।"

"अरे, वह तो जाने दो, देखो, अभी उस दिन मा ने मुझे दूर से देख पुष्पा कह कर पुकारा ।"

"सच ?"

"सच ।"

"और मेरी माँ ने कहा था कि हम दोनों का जन्म भी एक ही साथ का है, तुम दिन में पैदा हुई थीं, मैं रात को ।"

"यानी मैं तुम से जेठी हूँ ।"

"वाह ! घंटों की बड़ी-छोटी का क्या ख़याल ? फिर भी मैं छोटी ही हूँ, चाहिए भी यही, आप हर प्रकार से बड़ी हैं ।"

"अच्छा, यह तो बताओ फूलों में तुम्हें सबसे मनोहर कौन लगता है ?"

"गुलाब—गन्ध और रंग दोनों ही में सुन्दर ।"

"अरे, तुम मेरे मन की बात कैसे जान गईं ? यही तो मेरा भी प्यारा फूल है; अजीब सी बात है, हम दोनों की रुचि में भी एकत्व है ।"

"अच्छा, मैं भी एक बात पूछूँ; कौन जाने उसमें भी आपके मन की बात मेरे मन की बात से मेल खा जाय ।"

"हाँ, हाँ; पूछूँ तो ।"

"बात यह है कि विवाह के लिए आप कैसा वर पसन्द करेंगी ? साँवला या गोरा; सुकुमार या हृष्ट; कवि, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, चित्रकार या वीर सैनिक ?"

"तुम्हें अभी से वर की भी चिन्ता सवार हो गई, मैंने तो यह बात कभी सोची भी नहीं थी । अच्छा, जिसका प्रश्न वही बतावे कि वह कैसा वर चाहती है ?"

"इसी लिए तो मैं पूछ नहीं रही थी; मेरा मन रखने के लिए आप अपने मन की बात पहले कहिए ।"

"चुनाव तो बड़ा टेढ़ा है, पर यदि चुनना ही है तो मैं चाहूँगी—गोरा, हृष्ट-पुष्ट, वीर सैनिक ।"

पुष्पा भाल को सिकोड़े, एक गहरी साँस खींचती हुई बोली—

"सचमुच संसार की दो वस्तुएँ—बाहर, भीतर, हर बात में एक नहीं हो सकतीं; ईश्वर को कुछ न कुछ भिन्नता डालनी ही पड़ती है ।"

"पहले अपने मन की बात तो बताओ, सयानी ! ईश्वर के कार्य पर टिप्पणी पीछे करना ।"

"मैं...मैं...तो साँवला, सुकुमार, कवि जो दो एक आने दार्शनिक भी हो—ऐसा पसन्द करूँगी ।"

"नहीं, नहीं ।"

"हाँ, हाँ, सचमुच ।"

वर-निर्वाचन की इस विषमता पर राजकुमारी को कुछ क्षोभ हुआ । सचिव-कन्या को वह अपना हृदय ही समझती थी—अपनी ही प्रतिमूर्ति, बाह्य और अन्तः दोनों से । फिर भी इसे अपने वश से बाहर की बात जानकर प्यारभरे शब्दों में उसने पुष्पा से कहा—

"पुष्पा, यदि एक ऐसा राज्य हो जहाँ का राजकुमार तो मेरा मनमाँगा और मंत्री-कुमार तुम्हारे चयन का हो तो अलबत्ता हम एक दूसरे से अलग न हो सकेंगी ।"

"यदि ऐसा संयोग बैठ जाय तो ।"

"मेरी प्रतिज्ञा ही यही रहेगी, दोनों की रुचि के अनुकूल एक राज्य में राजकुमार और मंत्री-कुमार मिलें तब तो विवाहिता, नहीं तो आजन्म कुमारी ।"

"यदि ऐसा जोड़ न लाया तो मैं भी आजीवन कुमारी ।"

"पक्की बात ?"

"एकदम पक्की।"

दोनों ने एक दूसरे को अंक में समेट लिया। संपान का सिरा तट-स्थल से लगा—'हच'। बाहु-बन्धन को खोल दोनों चैतन्य हो गई। माँझी ने नाव को तटस्थ वृक्ष की सोर में बाँध दिया। दोनों उतरकर टहलने लगीं।

(२)

तारा नदी दुर्ग की जड़ को चूमती हुई बहती थी। यह दुर्ग बन्दी-दुर्ग था। कृष्ण-पत्थर के उत्तुंग स्तूपों की छाया नदी को लाँघकर उस पार तक पहुँचती थी। बड़, पीपल तथा शालमली के बूढ़े और जीर्ण वृक्ष इस दुर्ग के समवयस्क थे। गढ़ के भीतर हर प्रकार के बन्दियों के लिए भिन्न भिन्न स्थान थे। विजित राज्य के क़ैदी एक ओर रहते थे। दस वर्ष पहले सिंहल के राजा ने माल राज्य पर चढ़ाई की थी, वहाँ के कुछ पराजित सैनिक बन्दी होकर गढ़ में बन्द थे। उनमें एक कवि भी था, जो युद्ध में माली सैनिकों की रगों में जोश भरने के लिए अपनी ओजमयी कवितायें पढ़ता हुआ सेना के आगे रहा; सैनिकों के साथ वह भी पकड़ा गया था, और अब दुर्ग में बन्दी-जीवन व्यतीत करता था। माल के राज-कवि होने के कारण दूसरे बन्दियों की तुलना में उसे कुछ सुविधायें मिली थीं। लोहे के स्थान पर सोने की पैकड़ी थी, दोनों हाथ मुक्त थे। नदी के तट से लगा नन्हा-सा प्रकोष्ठ था जिसमें हवा और धूप के लिए लौह की प्रौढ़ छड़ोंवाला एक बड़ा जँगला था। जँगले के बीच लौह-दंडों के बीच अपने दो विशाल नेत्रों को जमाये तारा की वीचि क्रीड़ा को देखना ही कवि का दिन-रात का काम था। खड़े खड़े जब अशक्त पाँव हिलने लगते तो बैठ जाता। भरा हुआ शरीर सूखकर काँटा हो चला था, पसलियाँ एक-एक करके गिनी जा सकती थीं। मूँछें बढ़कर दाढ़ी की सीमा में हल गई थीं। बड़े नाखूनों को कवि ने दाँतों से गढ़-गढ़कर ठीक किया था। पैकड़ी की रगड़ से पाँवों में क्षत आ गये थे। नाम में पैकड़ी सोने की थी, काम लोहे ही का था। बाहर का कवि उकठ गया था, परन्तु भीतर के छिपे कवि की हरियाली जैसी की तैसी थी। वियुक्त पत्नी की एक धुँधली-सी स्मृति मस्तिष्क के किसी कोने में दबकी थी। आज दस वर्ष के लम्बे युग के बाद दूर नदी के तट पर कवि ने दो युवतियों को देखा था; आँखों ने बलपूर्वक विश्वास दिलाया था कि हाँ स्त्रियाँ ऐसी होती हैं। स्मृति के धागों को पकड़कर उसकी नवागत प्यारी पत्नी हृदय में उतरी; देर से खड़े खड़े निर्बल पैर काँपने लगे, कवि बैठ गया; वह सहम-सा गया, जान पड़ा उसकी रानी भी बन्दी-गृह में जकड़ी हुई है। आँखों में आँसुओं के साथ कवि के कण्ठ से कातर ध्वनि फूट निकली—

"न स्मृति में आओ हे सुकुमारि,
महा यह कारागार कठोर।"

जितनी बार कवि इन पदों को गाता, उतनी बार आँसू की बूँदें ढुलक कर दाढ़ी के घने जंगल में लुप्त हो जातीं।

इन्दु और पुष्पा दुर्ग देखने के लिए आ रही थीं; कानों में किसी की करुण-राग पड़ी। पुष्पा का हृदय स्पंदित हो उठा, उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई...कहीं कुछ नहीं। बैठे बैठे उकताकर कवि फिर उठा और तारा की लहरों को देखने लगा। कण्ठ से गान अपने आप निकला जाता था। बन्दी को गाते हुए देखकर दोनों सहेलियाँ जँगले के सम्मुख आ गईं, और चुपचाप सुनने लगीं। बन्दी की दृष्टि अचानक शशि के इन दो गोलों पर पड़ी, आँखें बन्द कर कवि धीरे से नीचे बैठ गया और गान के लिए जैसे कण्ठ को कोसने लगा।

"बैठ क्यों गये बन्दी, ज़रा वही गान फिर गाओ।"

पुष्पा ने लौह-छड़ को पकड़कर कहा।

कवि के हृदय में धड़कन थी, कण्ठ सूख गया था, उत्तर देने की तैयारी कर रहा था। पुष्पा ने सोचा क्या चित् बन्दी बहरा हो गया है। ऊँचे स्वर में कहा—

"बन्दी, ऐ बन्दी, ज़रा वही गान फिर गाओ।"

"कण्ठ सूख गया है, थोड़ी देर में फिर गा रहा हूँ।"

इन्दु ने पुष्पा के कान में कहा—

"राज-दर्बार में गुणियों का संगीत सुनते सुनते कान पक गये, अब बाक़ी है बन्दी का रोना सुनना।"

"लगता ही क्या है, इसे भी सुन लें, बड़ा करुणाजनक है, केवल थोड़ी देर"—पुष्पा ने इन्दु से नम्र मुद्रा में कहा। तब तक बन्दी उठा और उसने फिर गाया—

"न स्मृति में आओ हे सुकुमारि,
महा यह कारागार कठोर।"

पुष्पा का मर्म हिल उठा। उसने इन्दु से कहा—"कैसी कोमल कल्पना है! बन्दी कारागार में है, उसकी स्मृति में उसकी प्यारी आयेगी तो उसे भी अपने प्रियतम के दुःख को बँटाना होगा; इसी डर से बन्दी अपनी तन्वंगी प्रियतमा को स्मृति में भी आने से रोकता है।"

"अवश्य; बड़ी मृदु भावना है।" इन्दु ने केवल हामी भरने के लिए कह दिया।

कवि के हृदय में कुतूहलों का तूफ़ान उठा था; प्रयत्न करने पर भी वह उसे दबा न सका। करबद्ध हो दीन-वाणी में बोल ही उठा—

"क्या आप लोग राजघराने की देवी हैं ?"

"हाँ"—इन्दु ने कहा।

"ऐसा जान पड़ता है आप दोनों एक मा की जुड़वाँ पुत्री हैं; एक मटर की दो दाल, एक काया की दो छाया, एक सत्ता के दो रूप, एक ही चाँद की दो अर्द्ध-कला; सोलहो आना एक।"

"बन्दी, तुम तो जैसे कविता करने लगे। अच्छा, कल्पना और उपमाओं की दुनिया से उतर कर सत्य पर आओ, तुम कवि हो, बताओ हम दोनों में अधिक रूपवती कौन है ?" इन्दु ने पुष्पा की ओर मुस्करा कर पूछा।

बन्दी ने कुछ सोचकर कहा—

"आप दोनों समान सुन्दरी हैं; अन्तर एक जौं का भी नहीं। मुझे रमणियों को देखे दस वर्ष हो गये, सौंदर्य-परख कुछ मंद पड़ गई है, असमर्थ हूँ। फिर भी मेरा ही कहा सर्व-सत्य तो हो नहीं सकता; प्रत्येक व्यक्ति का अपना माप-दंड होता है।"

इन्दु ने विनोदपूर्वक फिर पूछा—

"समान-सुन्दरी तो सब लोग कहते हैं; तुम तो कवि हो—सूक्ष्मदर्शी। मान लो दोनों में से तुम्हें एक को प्यार करना है, तो किसको चाहोगे ? अपने ही माप-दंड से बताओ।"

कवि ने दोनों को एक बार आपादमस्तक देखा, और इन्दु से कहा—

"यदि आप कहने के लिए मुझे बाध्य ही करती हैं, तो आते ही आते उस कुमारी ने मेरे हृदय को चुम्बक की तरह खींच लिया; सब कुछ एक होते हुए भी उनके नेत्र पतले, खिंचे हुए, कटीले हैं; आपके गोल, बड़े, और सरल हैं। वे कलापूर्ण हैं, आपके साधारण; मुझे तो आपसे अधिक सुन्दरी वही जान पड़ती हैं, क्षमा कीजिएगा।"

इन शब्दों ने इन्दु के मर्म पर सीधा प्रहार किया; विनोद की बात से हृदय में ईर्ष्या का जन्म हुआ, कवि पर क्रोध आया; उसके बन्दी-जीवन पर दया की जगह घृणा उत्पन्न हुई। इन सब भावनाओं को बलपूर्वक दबाने पर भी, गाल की गुलाबी चटक हो गई। इन्दु की हार थी, पुष्पा की जीत। दोनों आकर संपान पर बैठ गईं।

काँपते हुए लाल सूर्य को संध्या ने अंचल में छिपा लिया था; फिर भी लालिमा की दमक अम्बर के छोर से छन-छन कर आ रही थी। पत्थर के विशाल दुर्ग को तारा ने अपने अन्तस्तल में छिपाया था।

माँझी ने नाव खोली और लग्गे को सारी शक्ति से मारा, पानी को चीरती हुई सर्पिणी की तरह संपान भागने लगी। दोनों सहेलियाँ चुप साधे बैठी थीं। पुष्पा यदि कोई बात छेड़ती, तो उत्तर में इन्दु या तो मौन ही रहती, या कभी टूटे दिल से हामी भर देती। भोली पुष्पा इन्दु के गहरे दिल की थाह न पा सकी। समझती थी कि यात्रा की थकावट और नदी की शीतलता के कारण तबीअत कुछ भारी हो गई होगी।

नाव घाट पर लगी, दोनों उतरीं। अगले दिनों पर्यटन के बाद दोनों एक साथ पहले राज-प्रासाद में आती थीं, फिर पुष्पा अपने घर जाती। आज पुष्पा से विदा लेकर इन्दु अकेली आई। अपने प्रकोष्ठ में पहुँचकर कपड़े बदले, फिर शयनागार में जा चेतना-विहीन-सी होकर पलँग पर गिर पड़ी। हृदय को थाम कर सोचने लगी......हैं, हैं एक साँचे में ढाला है, एक काया की दो छाया,......पतली और कटीली भरी आँखें;.. सीधी बात को कहने के लिए संसार अजीब ढंग निकालता है;......कहाँ राजकुमारी और कहाँ मंत्री की बेटी; कहाँ स्वामी का सारा वैभव, कहाँ सेवक का तुच्छ वेतन;......कहाँ वह, कहाँ मैं; तिल और ताड़ का अन्तर; वह अभागा, बंदी भी बड़ा धृष्ट है,......नरक का कीट,......सड़ने दो उसी कारागार में,......प्रिया की याद आती है,......पूछो उन बेड़ियों से।

हृदय पर कड़ी ठेस लगी थी, ज्यों ज्यों इन्दु सोचती जाती थी, ईर्ष्या धीरे धीरे प्रतिहिंसा बनती जाती थी।

इन्दु सिंहल-नरेश की अकेली संतान थी। मा-बाप की लाड़ली निधि थी; राज-भवन क्या सारे राज्य की ज्योति थी। पुत्री को पास न पाकर मा झपटी हुई इन्दु के कमरे में आई; घबराहट सुनकर राजा भी रानी के साथ ही आये। दोनों ने हत-चेतना-सी पड़ी इन्दु को जगाया, इन्दु ने करवट बदली। मा ने पूछा—

"क्या हो गया बेटी? अभी तो घूम कर आई है।"

"कुछ नहीं, हृदय में पीड़ा है; बन्दी-दुर्ग की ओर गई थी, भूत की आकृति के बन्दी-कवि ने घूर कर मुझे डरा दिया, और मुँहलगी पुष्पा ने मेरा अपमान किया।"

"पुष्पा का ताब कितना कि मेरी गुलाब की कली को कुछ कहे! दरबार का अन्न लग गया, शेख़ी सँभाल में नहीं आती है। इन्दु ने ही उसे साथ घुमा घुमाकर सर चढ़ाया है; तुच्छ मंत्री की लड़की राज-कुमारी की पाँत में बैठना चाहती है। और वह नीच बंदी कल फाँसी पर लटका दिया जाय।" रानी ने तमतमाते हुए कहा।

मा का बल पाकर इन्दु कराहते हुए बोली—

"अभी मुझसे स्वप्न में कोई कह रहा था कि मर्म का यह घाव तभी पुजेगा जब मंत्री राज्य से निर्वासित कर दिया जाय और माल का बन्दी कवि सूली पर चढ़ा दिया जाय।"

इन्दु की कातर वाणी सुनकर रानी के हृदय में एक ओर तो पुत्री के प्रति स्नेह उमड़ा, दूसरी ओर मंत्री के प्रति क्रोध। राजा खड़े ही थे। रानी ने आँधी की तरह दौड़कर घोषणा-पत्र लिखा—"कल सूर्यास्त तक मंत्री का राज्य-निर्वासन और माल के बन्दी कवि का शिरश्छेदन।"

रानी के कहने से राजा को अपना हस्ताक्षर करना ही पड़ा। प्रभात होते ही घोषणाकारों ने इस विषाक्त आदेश को सिंहल के कोने कोने में फैला दिया।

भिखारिन से

लेखिका, श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिनहा

क्यों भला भिखारिन द्वार द्वार कर रही करुण स्वर में पुकार?
जग के भीषण कोलाहल में हो रही लीन तेरी गुहार!
तू चलते चलते रुककर क्यों देती है निज अञ्चल पसार।
दृग-शिशु कर उठते फूट रुदन पाकर न प्यार, प्रत्युत प्रहार!
रीती झोली ले एकाकी,
यह कठिन पंथ कर रही पार।
चलना है बहुत दूर अञ्चल में ले अपयश भिक्षा अपार।
चोटें सह सह उर भग्न हुआ जाना है जग के किन्तु पार।
थक कर मग में मत बैठ, अरी, हो जाय न हलका कहीं भार।
पल-पल जल-जल कर तिल तिल री, क्यों जीवन का कर रही मोह?
है कौन? कहाँ? अपना किसका? किसको किसका है यहाँ छोह?
इस पथ पर कितने धूल हुए,
कितनों की बिखरी अभिलाषें।
दीवानी! तू भी लुटा चले, आँसू-कण, कुछ ठंडी साँसें।
है बीत चली ऊषावेला, संध्या उदास आती जाती,
बढ़ चली भिखारिन धीरे से नश्वरता का गाना गाती।
दे दो, दे दो, कुछ दे डालो, मुझसे ले लो आशीष-गीत।
कुछ दिये चलो, कुछ लिये चलो, जग की है नियमित यही रीत।

मैं तिब्बत कैसे गया?

लेखक, श्रीयुत फेनी मुकर्जी

इस लेख-माला के लेखक श्रीयुत फेनी मुकर्जी जन्मजात पथिक हैं। इन्होंने कश्मीर से लेकर बंगाल तक समग्र उत्तर-भारत का भ्रमण किया है और हाल में तिब्बत भी हो आये हैं। कलकत्ते के सचित्र अँगरेज़ी साप्ताहिक 'ओरियंट' के लिए चित्र प्रस्तुत करने में इन्होंने अपनी कला का ख़ासा परिचय दिया है। ये तिब्बत में छः महीने रहकर हाल में लौटे हैं। अपने इस रोचक लेख में इन्होंने अपनी यात्रा का वर्णन किया है और जो चित्र इस लेख में छापे गये वे सब इन्हीं के खींचे हुए हैं। आशा है, यह लेख-माला सरस्वती के पाठकों को अधिक रुचिकर प्रतीत होगी।

[लेखक, तिब्बत में]

(१)

समाचार-पत्रों के पाठकों को मालूम होगा कि पिछली बार बिहार की प्रान्तीय सरकार ने एक अन्वेषक-दल तिब्बत को भेजने का यत्न किया था। संयुक्त-प्रान्त के स्कूलों के इन्स्पेक्टर पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने मेरा भी उस दल में समावेश कर दिया; क्योंकि मैं कुछ ही समय पहले कश्मीर की यात्रा से लौटा था, पर तिब्बत की यात्रा करने की बात से मुझे बड़ी ख़ुशी हुई। यह ख़बर मुझे सितम्बर में मिली और यह भी मालूम हुआ कि उक्त दल जून में रवाना होगा। यह सोचकर कि तिब्बत की यात्रा के लिए तन्दुरुस्ती सबसे ज़रूरी चीज़ है, मैं सहारनपुर चला गया और वहाँ तीन महीने तक अपना स्वास्थ्य सुधारता रहा। वहाँ से चतुर्वेदी जी के पास फ़ैज़ाबाद में गया। वहाँ यात्री-दल के प्रधान श्री राहुल सांकृत्यायन से भेंट हुई और उनसे सारा हाल मालूम हुआ। पहले जो दल मिस्टर ए० बनर्जी के नेतृत्व में जा रहा था उसे तिब्बत की सरकार ने पासपोर्ट देना अस्वीकृत कर दिया था।

परन्तु राहुल जी ने तो तिब्बत जाने का निश्चय कर लिया था, अतएव उन्होंने कहा कि अब हम लोगों को बहुत गुप्त रीति से तिब्बत में प्रवेश करना चाहिए। इसके लिए हम लोगों को अलग-अलग ब्रिटिश पासपोर्ट लेना होगा। इस विचार के अनुसार मैंने फ़ैज़ाबाद में कमिश्नर को यह दरख़्वास्त दी कि मैं फ़ोटोग्राफ़ी व्यवसाय के लिए ग्यानसी जाना चाहता हूँ। उन्होंने कहा कि इस दरख़्वास्त को सिक्किम पोलिटिकल एजेंट को भेजो और उसमें अपने व्यवसाय की बात खोल कर लिखो। इस पर मैंने पोलिटिकल-एजेंट के नाम एक दरख़्वास्त दी और जैसा राहुल जी ने कहा था कलकत्ता जाकर अगफा फ़ोटो कम्पनी को सामान जमा करने के लिए आर्डर दे दिया। फिर कई ख़त राहुल जी को सारनाथ के पते पर लिखे। क़रीब दो महीने तक प्रतीक्षा की। अन्त में २५

[कलिम्पोंग का एक सुन्दर दृश्य]

[बायें—श्री राहुल सांकृत्यायन। दाहने—श्री गेशेला, श्री गंडुम चोम्फेल तिब्बती पोशाक में—यह चित्र ४ मई को केलिम्पोंग में लिया गया था।]

अप्रैल को राहुल जी का गन्टक स्टेशन से तार मिला कि पासपोर्ट की मञ्ज़ूरी मिल गई है। हम लोग ६ महीने के लिए तिब्बत जा रहे थे, इसलिए ६ महीने के लिए आवश्यक सामान जमा करने में लगे। बहुत भागदौड़ के बाद ४८ घंटे के अन्दर १४ सौ रुपये का सामान ख़रीदा। इसमें क़रीब सौ रुपये का खाने का सामान, सूखी तरकारियाँ, टीन के डिब्बों में बन्द मछलियाँ और दूसरा खाने का सामान था। क़रीब ५ सौ रुपये का सामान तो हम लोगों ने यात्रा की ज़रूरतों का लिया और बाक़ी रुपये का सामान तिब्बत के बड़े बड़े लोगों को भेंट देने के लिए लिया गया। इन सामानों में तेज रङ्ग के रुमाल, सेन्ट, क्रीम साबुन, लोजन्स की रङ्गबिरङ्गी बोतलें और अचार की शीशियाँ इत्यादि थीं। ३० अप्रैल की रात को सवा दस बजे सियालदा स्टेशन से दार्जिलिंग-मेल से रवाना हुए और दूसरे दिन सबेरे ६ बजे सिलगुरी पहुँच गये।

[दार्जिलिंग-हिमालय रेलवे]
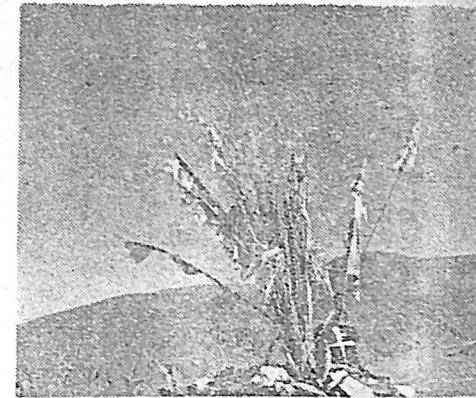
[तिब्बत में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए झाड़ियों पर चिथड़े चढ़ाये जाते हैं।

वहाँ पहुँचने पर चिन्ता ने मुझे आ घेरा, क्योंकि हज़ारों रुपये की ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर थी। बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी ने मुझे एक फ़ोटोग्राफ़र के रूप में भेजा था। तिब्बत जाकर मुझे तालपत्रों पर लिखी पुरानी किताबों के हर एक पृष्ठ का फ़ोटो लेना था। न तो उन किताबों को मैंने कभी देखा था और न इस प्रकार का काम पहले कभी किया था। केवल घूमने के शौक़ से यह ज़िम्मेदारी उठा ली थी। यह सब सोचता हुआ मैं मोटरों के अड्डे पर गया। वहाँ जाकर मैंने केलिम्पोंग जाने के लिए एक टैक्सी १५) पर तय की। केलिम्पोंग वहाँ से ४० मील है। रास्ता पहाड़ी जंगलों के बीच से घूमता हुआ जाता है। मोटर के मार्ग के बग़ल में ही रेल की सड़क है जो कभी नीचे उतरती हुई मालूम होती है और कभी फिर बराबर में आ जाती है। मोटर की सड़क चुम्बी नदी के साथ साथ गई है। चुम्बी को वहाँ के लोग सुबुक नदी कहते हैं। मार्ग का दृश्य बहुत ही सुहावना है।

मार्ग में हमें एक दुर्घटना का सामना करना पड़ा। हमारे
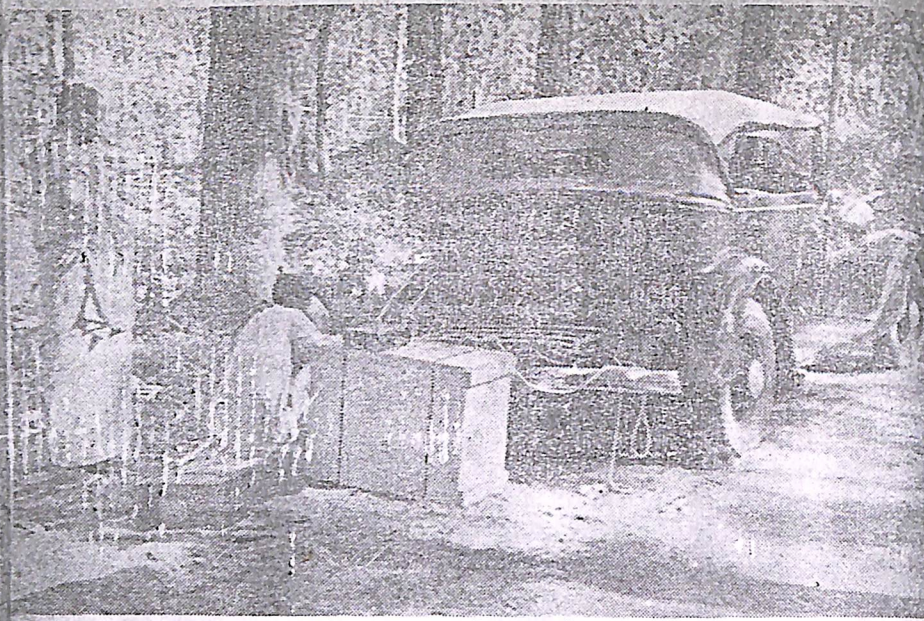
[केलिम्पोंग की राह में मोटर-दुर्घटना]
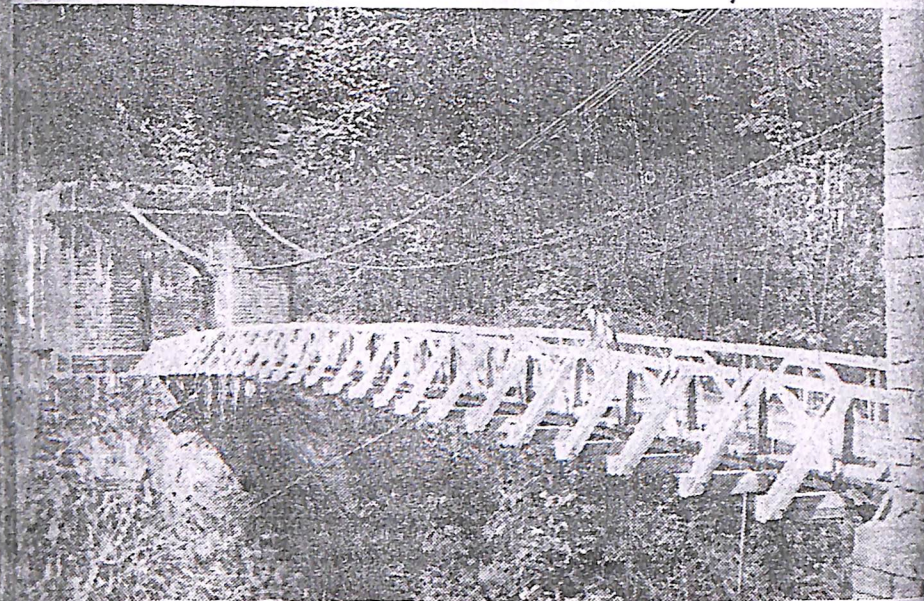
[केलिम्पोंग और सिलगुरी के बीच में झूले का पुल। इस पर से सवारी भरी हुई मोटरें नहीं निकलने दी जातीं।]

ड्राइवर ने सामने आती हुई दूसरी मोटर गाड़ी के आगे अपने मोटर को ले जाने का यत्न किया। संयोगवश उसका पिछला बाँया पहिया निकल गया और गाड़ी घिसटते घिसटते डरावनी आवाज़ के साथ जाकर पत्थरों में अटक गई और नीचे जा गिरने से बाल बाल बची। अन्दर से हमने देखा कि दूसरी मोटर उन्हीं पहियों से पत्थरों से टकराती हुई आगे को निकल गई। हमारे मोटर के चालक ने उतर कर पहिये की खोज की और मोटर की मरम्मत होने लगी। एक दूसरे मोटर ने जो पीछे आ रहा था हम लोगों को काफ़ी मदद की। कोई दो घंटे के बाद हमारा मोटर काम के लायक़ हुआ। मोटर में ख़राबी हो गई थी अतः हमें मध्यम चाल से यात्रा करनी पड़ी। आस-पास के दृश्यों का आनन्द लेते हुए २५ मील चलकर हम रम्बी बाज़ार १० बजे दिन में पहुँच गये। अगर उक्त दुर्घटना न हुई होती तो हम लोग १० बजे केलिम्पोंग पहुँच जाते। हमारा मोटर मार्गगत जंगलों में घूमता

इस लेख के लेखक श्रीयुत फेनी (तिब्बत-यात्रा करने के पहले)

श्री लखपा (यात्री-दल के ख़च्चरों की निगरानी करने वाला खम्बा जातीय तिब्बती)

रेलगाड़ी से आँखमिचौनी खेलता हुआ टिस्टा-ब्रिज प[र] जा पहुँचा। यह चुम्बी नदी पर एक पुल है। बहुत ह[ी] डरावना [illegible] है। कुछ झाड़ियों और दरख़्तों पर कपड़े की झालरें लगी हुई दिखाई दीं। पूछने पर मालूम हु[आ] कि भूतों और चुड़ैलों को प्रसन्न रखने के लिए यह स[...] किया गया है। इस पुल के पास से एक सड़क गैन्टोक [को] जाती है और एक दार्जिलिङ्ग को। इस जगह की ऊँचा[ई] १५०० फ़ुट है। लगातार दायें और बायें घूमती हुई मोट[र] गाड़ी केलिम्पोंग क़रीब ११॥ जा पहुँची।

मैंने बहुत से पहाड़ी रास्तों पर मोटर से सैर की है लेकिन जो आनन्द इस मार्ग में मिला वह अन्यत्र नह[ीं] प्राप्त हुआ। मोटर की यात्रा के लिए यह सड़क अजी[ब] सुन्दर है। केलिम्पोंग एक चोटी पर बहुत ही सुन्दर बस्[ती] है। वह कई ऊँचे-नीचे पहाड़ों पर बसी हुई है। पहले तिब्बत

युद्ध के समय यह नया रास्ता निकाला गया था। इसी रास्ते से बराबर ग्यानसी को ब्रिटिश-डाक आती जाती है। हमारा मोटर साहू धरमरतन नाम के एक नैपाली महाजन की कोठी के सामने जाकर ठहरा। हम लोगों ने सामान उतारा और मोटर का किराया चुकाया। किराया १५) कुछ ज़्यादा मालूम पड़ा। लेकिन सिलगुरी की अजीब हालत देखी। वहाँ तीन जगहों को जानेवाले मुसाफ़िर ठहरते हैं। यहीं से दार्जिलिङ्ग, गैन्टोक और कलिम्पोंग को सवारियाँ जाती हैं। एक छोटी लाइन से रेलगाड़ी दार्जिलिङ्ग को जाती है, लेकिन यह गाड़ी तकलीफ़देह है। इसलिए मोटर या लारी में ज़्यादा भीड़ रहती है। एक दफ़ा किराया तय करने पर भी आप यह भरोसा नहीं कर सकते कि वह आपकी होगई। जब तक आप सवार होकर चल न दें क्योंकि तय करने के बाद भी अगर कहीं कोई अच्छी सवारी मिल गई तो आपका असबाब उतार कर फेंक दिया जा सकता है। इस भीड़-भाड़ और परेशानी में मैं एक बंडल को, जिसमें पहाड़ पर चढ़नेवाले जूते थे, रेलगाड़ी से उतारना भूल गया था। लेकिन [illegible] स्टेशन के किसी इन्स्पेक्टर ने आकर हमको इस बात की [illegible] दी और वह उतार लिया गया। यहाँ कुछ नये नये ढंग [illegible] आदमी दिखलाई पड़े। ये लोग काफ़ी स्वस्थ होते हैं और ढीली ढाली पोशाक पहने हथियारबन्द घूमते रहते हैं। ये लोग भोटिया हैं; तिब्बत का राज 'भोट सल्तनत' कहलाती है जिसको अँगरेज़ी में चंग गवर्नमेंट कहते हैं। इसी वजह से ये लोग भोटिया कहलाने में गर्व का अनुभव करते समझते हैं।

जो कुछ रह गया था वह सामान यहाँ ख़रीदा गया। ख़च्चर और नौकरों का बन्दोबस्त किया गया और ज़रूरी डाक रवाना की गई। फ़ोटो और एक मज़मून अख़बारों में छपने के लिए भेजा गया। यहाँ हमारी एक तीसरे आदमी से भेंट हुई। ये तिब्बती हैं और तिब्बत के पश्चिमी अञ्चल में लामा चुने गये थे, लेकिन बाल्यावस्था से पढ़ने-लिखने का शौक़ होने से लासा में डेबुंग मानेस्ट्री में जो तिब्बत की सबसे बड़ी यूनिवर्सिटी है, भर्ती हुए। यहाँ ७ साल पढ़ने के बाद इन्हें गेशेला की पदवी मिली। गेशेला के माने कृपालु मित्र है। इनका नाम गेन्डम चाम्पेल है, लेकिन लोग इन्हें गेशेला भी कहते हैं। ये एक श्रेष्ठ चित्रकार हैं। इन्होंने केवल बौद्ध दर्शन का ही अध्ययन नहीं किया बल्कि १० साल तक तिब्बत के आर्ट का भी ख़ूब अभ्यास किया। अब इनका ध्यान योरपीय आर्ट पर गया है और आज-कल ये ५ सालों से भारत में खोज का काम कर रहे हैं, साथ ही योरपीय आर्ट का भी अभ्यास कर रहे हैं। ये थोड़ी-बहुत अँगरेज़ी भी जानते हैं, इसलिए हमारे मित्रों में हो गये।

इधर दो-चार दिन ख़ुफ़िया पुलिस की ख़ूब दौड़धूप रही। लेकिन हम तो यही कहेंगे कि यहाँ की पुलिस बहुत ही साधारण है। नाम के लिए 'ख़ुफ़िया' कहलाते हैं, वास्तव में प्रकट काम भी मुश्किल से कर पाते हैं। ख़ैर, पुलिस के दफ़्तर से किसी तरह छुट्टी मिल गई और ४ मई १९३८ को हम ३ साथी और २ नौकर ख़च्चरों पर रवाना हुए। शुरू में ही ख़च्चरों की भागदौड़ को देखकर मैंने समझ लिया कि सफ़र का रंग कैसा होगा। हम लोगों को सवारी के लिए प्रति ख़च्चर १०) और माल लादने के लिए प्रतिख़च्चर ७) देना पड़ा। प्रत्येक नौकर की तनख़्वाह, जो भोटिया थे, ८) माहवार तय हुई। हम लोग ११ बजे के लगभग चले थे। ३ घंटे चलकर अलगढ़ा पहुँचे; यहाँ क़रीब १५ मिनट रुके। यह एक छोटा सा बाज़ार है, जहाँ नैपाली दूकानें हैं। हम लोगों ने एक लालटेन ख़रीदी। यहाँ से दो आदमी जो साहु धरमरतन की तरफ़ से हम लोगों के साथ आये थे, लौट गये। अब हम लोग आगे बढ़े। नीचे की तरफ़ उतरना शुरू हुआ। रास्ता बहुत ही सुन्दर था, दोनों तरफ़ छोटी छोटी फलदार झाड़ियाँ थीं। उनके बेर जैसे फल खाने में बहुत स्वादिष्ट थे। राहुल जी ने कहा कि यही वे फल हैं जिनको पुराने ज़माने में ऋषि-मुनि खाकर रहते थे। ढाल ज़्यादा था इसलिए ख़च्चरों से उतर कर पैदल चलना पड़ा। राह में आगे तीन आदमी क़तार बाँधे भालों में घुँघरू लगाये झनझन करते हुए आते दिखाई दिये। उनको देखते ही हम लोग डर गये, लेकिन बाद में मालूम हुआ कि वे डाक ले जानेवाले आदमी हैं। शाम को क़रीब १४ मील का सफ़र तय करने के बाद हम लोग पेडांग ४॥ बजे पहुँच गये। यही पहला स्टेशन था, जहाँ हम लोगों ने तिब्बत-यात्रा की पहली रात गुज़ारी—

मकान

लेखक, कुँवर राजेन्द्रसिंह

हम मकानों में रहते हैं, पर आज तक हमें इस विषय में बहुत कम मालूम है कि 'मकान' का विकास क्रमशः किस प्रकार हुआ और कैसे वे अपनी मौजूदा हालत में आये। इसी विषय का इस लेख में बड़े मनोरंजक ढंग से विवेचन किया गया है।

क अँगरेज़ी लेखक ने लिखा है कि मेरा मकान मेरा क़िला है। एक मकान की तारीफ़ पजनेश ने की है—'जड़े मनि मन्दिर मोतिन की चिकैं मानिक रौसैं रचीं पजनेश।' ऐसे मकान लक्ष्मी के क्रीड़ास्थल होते हैं। उन मकानों का ठाठ-बाट निराला होता है, जहाँ दरिद्रनारायण का वास होता है। उनकी तारीफ़ रहीम जी ने की है—'टूट टाट घर टपकत खटियौ टूटि।' कहने को तो देहात में लोग कहते हैं कि 'काहे किसी की दाब सहें यहाँ क्या लेना और लादना है', 'लात मारी झोंपड़ी और चूल्हेमियाँ सलाम'; लेकिन चूल्हेमियाँ को सलाम करने में जो तकलीफ़ होती है वह वही हृदय जानता है जिसको कभी इस दुर्दिन का सामना करना पड़ा है। जीर्ण-शीर्ण दीवारों और टपकते हुए छप्परों को भी छोड़ने में किसी का कलेजा मुँह को नहीं आता है! ये पुरानी स्मृतियाँ होती हैं जो रुला देती हैं। देहात में कहते हैं कि कैसे यह मकान छोड़ें—इसी में बाप मरा, मा मरी, इसी में खेल-कूद कर इतने बड़े हुए। बचपन की अवस्था का वर्णन करने में अँगरेज़ी के कवि गोल्ड स्मिथ ने कहा है—जब हर एक खेल तबीयत को ख़ुश कर देता था।

एक पथिक घर को लौट रहा है। उसके मनोभावों को अँगरेज़ी के एक कवि ने चित्रित किया है। 'पथिक सोच रहा है कि विश्राम का समय निकट आ रहा है, परिश्रम का अन्त हो रहा है, क्योंकि घर की तरफ़ क़दम बढ़ रहे हैं।' कितने सादे शब्द हैं और कितना सीधा भाव है।

अपने यहाँ इसका कोई इतिहास नहीं मिलता है कि मकानों का शनैः शनैः कैसे संवर्धन हुआ। हमारे और विदेशियों के दृष्टि-कोण में बड़ा अन्तर है। बहुत सी बातों का प्रकाशित करना हम दिखावा समझते हैं और वहाँ वे इतिहास का आधार समझी जाती हैं। एक बात और भी है, जो हमारी खोज और इतिहास था वह सब खो चुका; अब अपने लिए हम वही जानते हैं जो विदेशी हमको बतलाते हैं। अब हमसे यह कहा जाता है कि हम कभी कुछ नहीं थे और हम फ़ौरन मान लेते हैं। उनको अब कुछ ज़्यादा कहने की ज़रूरत भी नहीं है; हम ख़ुद अपनी निगाहों में गिरे हुए हैं। अब तो वह दिन आ गया है कि अगर वे लोग कहते भी हैं कि अमुक वस्तु का आविष्कार हिन्दुस्तानियों ने किया था तो हमें विश्वास नहीं होता है। जो कुछ पुराना लिखा-पढ़ा मिलता भी है उसको अब हम पौराणिक कहने लगे हैं और आधुनिक सभ्य समाज की भाषा में इसके अर्थ कपोल कल्पित बातों के हो गये हैं। अभी दो ही तीन साल हुए जब इस सूबे के अस्पतालों के इन्स्पेक्टर जनरल ने हमारे वैद्यक शास्त्र पर कुछ आक्षेप किये थे। उसका जवाब मैंने दिया था, जो 'लीडर' पत्र में प्रकाशित हुआ था। इस बात का पूरा ध्यान रक्खा गया था कि उत्तर में पौराणिक बात एक भी न कही जाय—केवल उन्हीं मतों का उल्लेख था जिनको इन्स्पेक्टर जनरल से अधिक योग्य उनके देशवासियों ने हमारे वैद्यक शास्त्र के सम्बन्ध में प्रकट किया था। अन्य प्रान्तों से लोगों ने मुझे पत्र लिखे और लेख से सन्तोष प्रकट किया, यहाँ तक कि एक अँगरेज़ ने मुझसे कहा कि जो कुछ आपने लिखा है वह ठीक है। इन बातों से मुझे ख़ुशी उतनी नहीं हुई जितना इस बात से दुःख हुआ कि एक अपने ही देशवासी ने मुझसे पूछा कि और अँगरेज़ डाक्टरों ने अपने देश के वैद्यक शास्त्र के लिए जो लिखा है, क्या वह सही है!

अँगरेज़ी में इसका इतिहास है कि उनके देश के मकानों का संवर्धन कैसे हुआ। उनका इतिहास बतलाता है कि पहले लोग कन्दराओं में रहते थे। जो तसवीरें उनकी दी हैं उनके देखने से मालूम होता है कि जैसे ये जानवरों के वासस्थान हों। कहा जाता है कि ब्रिटेन में पहले ऐसे

ही मकान बनते थे। इन कन्दराओं की प्रशंसा में कहा जाता है कि ये गर्म रहती थीं, और इनमें पानी और हवा से पूरी बचतँ रहती थी, और आसानी से दुश्मन नहीं खोज लगा पाता था। इनके मुँह इतने कम चौड़े होते थे कि लोग फिसल कर इनके अन्दर जा सकते थे। वह शीतप्रधान देश ठहरा--वहाँ के लिए तो ऐसे महल ठीक थे, परन्तु अपने देश में शायद ऐसी कन्दराओं में जाड़ों में भी बसर न हो। इसका पता लगाये नहीं लगता है कि पहले अपने देशवाले यहाँ किस तरह रहते थे। कन्दराओं का स्थान फिर झोंपड़ों ने लिया। यह तो हम लोगों की समझ में आता है। सभी देशों का राष्ट्र झोंपड़ों में ही रहता है। अँगरेज़ों का कहना है कि उस समय इस पर ध्यान नहीं दिया जाता था कि कन्दराओं में धूप आये। पहले यह मालूम ही न होगा कि धूप से भी कुछ फ़ायदा होता है और अगर मालूम भी होगा तो धूप पहुँचाने की कोई तरकीब उनकी समझ में न आई होगी। आधुनिक समय में भी बहुत दिनों तक मकान में धूप आने के इन्तिज़ाम पर ध्यान नहीं दिया गया था। दो हज़ार बरस पहले के रोम देश में जो बने हुए मकान हैं उनके देखने से मालूम होता है कि उनके बनाने में इस ओर कुछ ध्यान दिया गया था। उन मकानों के सोनेवाले कमरे बेडौल होते थे।

१०६६ के पहले वहाँ (जब नारमंडी के विलियम ने इँग्लैंड पर विजय प्राप्त की थी) मकानों के बनाने में मिट्टी और टट्टियों से ही काम लिया जाता था जैसा कि प्राचीन भारत में होता था और उन जगहों में अब भी है जहाँ नदियों की बाढ़ के कारण मकान प्रायः बह जाते हैं। घर साथ लिये हुए फिरनेवाली जातियाँ ऐसे ही झोंपड़ों में अब भी रहती हैं। नारमंडीवाले इँग्लैंडवालों से ज़्यादा सभ्य थे और उन्हीं से इन लोगों ने पत्थर के मकान बनाना सीखा था। जंगलों के निकट रहनेवाले लकड़ी और पहाड़ियों के पास रहनेवाले पत्थर काम में लाते थे। एक जगह से दूसरी जगह चीज़ें पहुँचाने का कोई प्रबन्ध नहीं था। इससे भी भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता का पता चलता है कि जब इँग्लैंड में लोग कन्दराओं और टट्टियों में रहते थे उसके हज़ारों वर्ष पहले से इस देश में शिल्प-कला का पूर्ण विकास था। यदि आधुनिक इतिहास के उदय-काल के पूर्व के समय पर हम निगाह न डालें तब भी सन् ईसवी के बहुत पहले के प्रमाण मिलते हैं। रामायण और महाभारत की बातें जाने दीजिए और उस समय को लीजिए जो चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक और बुद्ध का था, तो यही पता चलता है कि जब अन्य देशवाले गुहाओं और झोंपड़ों में रहते थे तब यहाँ राजप्रासादों के निर्माण करने की कला मालूम थी। अस्तु! केवल १३वीं शताब्दी के अन्त में इँग्लैंडवालों ने ईंटें बनाना जाना। ईंटें वहाँ पहले-पहल फ़्लैन्डर्स से आई थीं। फ़्लैन्डर्स बेलजियम का एक ज़िला है, जिसका कुछ हिस्सा फ़्रांस के राज्य में है। पहले ईंटें छोटे छोटे झोंपड़े बनाने के काम में आती थीं। १५वीं शताब्दी के अन्त से (जब अपने देश में अकबर का शासन था) फ़्लैन्डर्स से इँग्लैंड को जहाज़ों से ईंटें आने लगीं। यह कोई 'पौराणिक' बात नहीं है, जिस पर विश्वास न किया जाय। अकबर के शासन की बनी हुई बहुत बढ़िया हज़ारों इमारतें आज भी मौजूद हैं। उस समय इँग्लैंड में जो मकान बनते थे वे एक-मंज़िले होते थे। उस समय अपने यहाँ जिस तरह के मकान बनाये जाते थे उनका ऐतिहासिक नमूना फ़तेहपुर सीकरी है। यह भी लिखा हुआ है कि उन मकानों में रोशनी आने के लिए दराज़ें रक्खी जाती थीं और जाड़ों में ठंड और पानी को अन्दर न आने देने के लिए उन दराज़ों में तेल में डुबो कर या तो रुई रख देते थे या सींगों को पतला पतला काटकर भर देते थे। खिड़कियों में शीशे लगाने की प्रथा १५वीं शताब्दी के मध्य तक नहीं थी और जब शुरू हुई तब ऊपर के हिस्से में शीशे लगाते थे और नीचे झिलमिलियाँ रहती थीं। उस समय के बने हुए यहाँ के मकान इँग्लंड के मकानों से तो अच्छे ही होते थे। चरखा चलाने का पहले वहाँ भी दस्तूर था और उसके बहुत पहले से अपने देश में था। कबीरदास जी ने वृद्ध शरीर की उपमा चरखे से दी है—'चरखा नहीं निगोड़ा चलता।' विदेशों में तो यह दस्तूर है कि जब स्त्रियाँ बेकार होती हैं तब लड़कों या पतियों के लिए मोज़े या स्वीटर बुना करती हैं। परन्तु अपने देश का रंग बिलकुल बदल गया है—जो कपड़े पहले दर्ज़ी का दरवाज़ा नहीं देख पाते थे उनमें भी अब एक टाँका लगाये नहीं लगता। अब तो नग्नता ही सभ्यता की पहचान है—कपड़ों का भी झगड़ा थोड़े दिनों में मिट जायगा।

कमरे में आग रखने की जगह बनाने का पहले इँग्लैंड में भी दस्तूर नहीं था—अपने यहाँ तो था ही नहीं। आवश्यकता ही नहीं थी तो आविष्कार कैसे होता? अपने देश में कमरा या हम्माम गरम करने के लिए अँगेठी काम में लाई जाती थी। वह प्रथा अभी बिलकुल नहीं मिटी है। अब तो शायद ही कोई मकान अपने देश में भी ऐसा हो जिसमें आग सुलगाने की ख़ास जगह बैठने और खानेवाले कमरे में न बनी हो, चाहे उसकी आवश्यकता पड़े या न पड़े। बिस्तर गरम करनेवाली युक्तियों की यहाँ ज़रूरत नहीं पड़ती थी। बहुत से आदमी अभी ऐसे हैं जो किसी भी मौसम में रात को नंगे बदन सोते हैं। परन्तु उनकी संख्या अब घटती जा रही है। अब आधुनिक प्रथानुसार लोग जाड़ों में सूती चादर के ऊपर कम्बल बिछाते हैं या रबड़ की बोतल में गर्म पानी भर कर रखते हैं। इससे उन लोगों को बड़ी सहायता मिलती है जिनको वायु का विकार होता है।

कहा जाता है कि चार सौ वर्ष पहले केवल बड़े आदमियों के मकानों में सामान होता था और दो सौ साल पहले न तो कुर्सियों पर गद्दियाँ होती थीं और न उन पर कपड़ा। अब अपने देश में किसी बड़े आदमी का मकान विदेशी सामानों की दूकान-सा मालूम होता है—एक भी चीज़ यहाँ की बनी हुई वहाँ नहीं दिखलाई देती। चार सौ बरस पहले इँग्लैंड का जो हाल था वही अब इस देश में साधारण मकानों और झोंपड़ों का है। यहाँ ज़मीन पर बैठने का दस्तूर है। ग़रीब आदमी ईंटों, मचियों और पीढ़ों पर बैठते हैं; मध्य श्रेणी के लोग दरी या चारपाई पर, बड़े आदमी क़ालीनों, गद्दों और तख़्तों पर। बहुत सी ऐसी जगहें हैं जहाँ लोग ज़मीन ही पर सोते हैं। नेपाल में बड़े से बड़ा आदमी भी ज़मीन पर ही सोता है। वे लोग ज़मीन पर इतने ज़्यादा गद्दे बिछाते हैं कि वे पलँग की ऊँचाई के हो जाते हैं। अपने यहाँ लोग तीर्थ-यात्रा या गमी में बिस्तर पर नहीं सोते। व्रत इत्यादि में भी पलँग पर सोना मना है, क्योंकि पलँग विलासिता की वस्तु समझी जाती है। इँग्लैंड में पहले एक चबूतरा बनाते थे और उसी पर बैठते तथा उसी पर जानवरों की खालें बिछाकर सोते भी थे। अपने देश में शेर और हिरन की खाल को बहुत पवित्र मानते हैं। साधु और महात्मा चाहे ज़मीन पर बैठ भी जायँ, परन्तु 'सित्ताराम' कहनेवाले 'बाबा जी' बिना मृगचर्म के आसन नहीं लगायेंगे। गजचर्म का कहीं और कभी प्रयोग नहीं होता है। वह तो भगवान शंकर जी के निराले ठाठ-बाट की एक सामग्री है। विलायत में पहले एक बड़े पेड़ के नीचे के हिस्से को ठीक ठाक करके उससे मेज़ का काम लेते थे। देहात में यहाँ अब भी मेज़ की ज़रूरत नहीं पड़ती है। ज़मीन पर बैठ कर खाना खाते हैं और पानी चारपाई के नीचे कटोरे से ढक कर लोटे में रख लेते हैं। घुटने पर रख कर लिखते हैं—पर १०० में चार ही छः, और वे भी कभी कभी। प्रायः पुस्तकें हाथ में लेकर पढ़ते हैं या अगर पुस्तक मोटी हुई तो उसके रखने के लिए एक ख़ास तरह की 'तिगोड़िया' काम में लाते हैं। यही तो मेज़ के काम हैं। पर अब देहात में भी रंग बदल रहा है। जिनका शहरों में आना-जाना रहता है उनका अब घर में भी बग़ैर मेज़ के काम नहीं चलता। देहात में एक कहावत है—'देखकर खरबूज़ा रंग बदलता है।' पुराने निर्धारित पथ से हटाने का नाम शायद अब स्वतंत्रता कहलाता है। देहात में एक ने अपने मालिक को कुर्सी पर बैठ कर और मेज़ सामने रख कर खाना खाते देखा था। वह शौक़ ही काहे का जो दबाये से दब-जाय! नौकर साहब चारपाई पर बैठ गये। सामने दस-पाँच ईंटें रख लीं। उन्हीं पर रूखी-सूखी रोटी के दो-चार टुकड़े रख कर नमक और मिर्चे से उड़ा गये। जब पहले-पहल देहात में चम्मचों का प्रचार हुआ था तब अनेक मनचले नवयुवक उन्हीं से पानी पीते थे। देहात में तोलों और माशों से नाप कर पानी नहीं पिया जाता। हम अनुमान कर सकते हैं कि एक लोटाभर पानी चम्मच से पीने में कितनी देर लगती होगी। खूब मेहनत करने और खूब पानी पीने की वजह से देहात में पाचक और रेचक दवाओं की ज़रूरत नहीं पड़ती है।

इँग्लैंड से तो रोम की सभ्यता पुरानी है। वहाँ के लोग बहुत दिनों से कुर्सी और मेज़ का उपयोग जानते थे। पर वे लोग कोचों पर बैठ करके खाना खाते थे। उस ज़माने में उन लोगों में यह दस्तूर था कि बाईं करवट हाथ के सहारे लेटकर खाना खाते थे। अपने देश में इस तरह लेट कर छोटे बच्चे भी खाना नहीं खाने पाते। वे लोग बर्तनों के रखने की अलमारी, बड़े बड़े बक्स, लेम्प,

शीशे, पलँग और परदे इत्यादि बनाना जानते थे। जब रोम में ये सब चीज़ें बनती थीं तब इंग्लेंड में साधारण आदमियों के मकानों में केवल तीन पैरों के स्टूल होते थे। खाना खाने के वक्त बैठने के लिए लकड़ी की तकियादार बेंचें होती थीं। घर के बड़े बूढ़ों के लिए लकड़ी की एक आराम कुर्सी होती थी। अपने यहाँ देहात में घर के बड़े-बूढ़े चारपाई पर बैठते हैं। उनका बिस्तर हमेशा बिछा रहता है। बिस्तर की प्रशंसा में एक अँगरेज़ी लेखक ने लिखा है कि, 'बिस्तर में हम हँसते हैं, बिस्तर में हम रोते हैं; बिस्तर में हम पैदा होते हैं और बिस्तर में हम मरते हैं—बिस्तर ही मनुष्यों के सुखों और दुखों से निकटतर है।' उनके उद्योग और परिश्रम का यह परिणाम है कि आज प्रत्येक देश में उनकी बनाई हुई हर एक चीज़ मौजूद है और एक हम हैं कि हमारे ही घरों में हमारे देश की बनी हुई चीज़ें नहीं हैं।

१५वीं शताब्दी तक लकड़ी पर खोदाई करना इँग्लेंड वाले नहीं जानते थे। बादशाह आठवें हेनरी के समय में बड़ी तरक़्क़ी हुई। उसने इटली और फ़्लैन्डर्स के कारीगरों को बुला कर कुछ काम बनवाया था और उन लोगों से इँग्लेंडवालों ने सीखा। यह तो ठीक है कि जहाँ से जो सीख मिले, वह सीखनी चाहिए, परन्तु उसके साथ यह भी होना चाहिए कि जो काम देशवासी सीख जायँ उसका बायकाट न किया जाय। हज़ारों अँगरेज़ी दवायें इस देश में बनती हैं और बड़े से बड़े डाक्टरों की यह राय है कि ये भी उतनी ही अच्छी होती हैं जितनी कि वे जो बाहर से बन कर यहाँ आती हैं। परन्तु उनका प्रयोग यहाँवाले ही नहीं करते हैं। एक घर में एक नवजात शिशु की बीमारी में एक अँगरेज़ नर्स काम कर रही थी। अँगरेज़ काहे को थी—देशी फूल और विदेशी गन्ध वाला मामला था। बच्चे को 'कास्ट्रायल' (रेंड़ी का तेल) देने की आवश्यकता थी। दवा बेचनेवाले ने कलकत्ते का बना हुआ 'कास्ट्रायल' भेज दिया। नर्स साहबा नाख़ुश हो गई और कहने लगीं कि जो दवा इँग्लेंड की बनी नहीं होगी उसको वे अपने हाथ से नहीं देंगी, क्योंकि ज़िम्मेदारी उनकी है। पर जिनके घर में वे काम करती थीं वे महाशय भी ज़रा टेढ़ी तरह के थे। उन्होंने वही 'कास्ट्रायल' दिलवाया।

महारानी एलिज़बेथ के समय में हर एक चीज़ की तरह लकड़ी की चीज़ें बनने में भी बड़ी तरक़्क़ी हुई। उस ज़माने में लकड़ी पर खोदाई का काम बहुत होता था। बेहत्थे की कुर्सियों का रवाज इस वजह से हो गया था कि उस समय वहाँ की स्त्रियाँ जो कपड़े पहनती थीं उन्हें पहन कर वे हत्थेवाली कुर्सियों पर नहीं बैठ सकती थीं। इन कपड़ों की नक़ल स्पेन से की गई थी। बादशाह द्वितीय चार्ल्स को लकड़ी की चीज़ों पर नक़्क़ाशी करवाने का बहुत शौक़ था और तभी से वहाँ बहुत ख़ूबसूरत सामान बनने भी लगा। विलियम और मेरी के ज़माने से बेंत की कुर्सियाँ बनने लगीं। कहा जाता है कि क्वीन विक्टोरिया के समय में इस कला का संवर्धन कुछ नहीं हुआ।

शीत-प्रधान देशों की भाँति मकानों को गर्म रखने का प्रश्न हमारे देश में नहीं उठता। यहाँ हाथ पैर सेंकने के लिए तवे में आग रख लेते हैं या किसी मिट्टी के बर्तन या अँगीठी में। अपने देश में आग सामने रख कर तापते हैं, 'सेइय भानु पीठ उर आगी।' शीत की अधिकता प्रकट करने के लिए कहते हैं—'सर्दी से कलेजा काँप गया।' इन लोगों के विश्वासानुसार जब परमात्मा को सृष्टि की रचना करने की इच्छा हुई तब प्रथम एक ज्योति उत्पन्न हुई, उससे विराट् स्वरूप हुआ, उससे तीन गुण पैदा हुए और फिर उनसे पाँच तत्त्व। योरप में बहुत से क़िस्से मशहूर हैं। एक यह है कि एक कुँवारी कन्या ने किसी अस्त्र को किसी चीज़ पर मार कर अग्नि को उत्पन्न किया था। दूसरा यह है कि आग संसार में एक सर्प-द्वारा पहुँची थी। तीसरा यह है कि आग एक चिड़िया ले आई थी। पश्चिमीय योरपवाले प्लेटो के कथन पर विश्वास करते हैं। उसका कहना है कि जब देवताओं ने सृष्टि की रचना की तब प्रामीथियस और इपीमीथीयस को हुक्म दिया कि जीवधारियों को जिन जिन चीज़ों की ज़रूरत हो वे दे दी जायँ। इपीमीथियस के सुपुर्द यह काम हुआ। उसने जानवरों को मोटी खाल दी, चिड़ियों को पर दिए, कमज़ोरों को शीघ्रगामी और बलवानों को मन्दगामी बनाया और हर एक को वह चीज़ दी जिसकी उसे ज़रूरत थी। सब के बाद आदमी की तरफ़ ख़याल गया। उसे कुछ नहीं मिला था, जिससे वह अपनी रक्षा करता या अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध करता। प्रामीथियस ने कृपा की और देवताओं के यहाँ से चुरा कर आग, बुद्धि

और योग्यता ला दी, जिससे वह अपनी रक्षा का प्रबन्ध कर सके। बहुत से देशों में आग को गुल न होने देने की प्रथा थी। रोम देश में कुँवारी लड़कियाँ उसकी रक्षा करती थीं। पारसियों में भी यही दस्तूर था। हम लोग होली से आग अब भी ले आते हैं। पुरानी किताबों से पता चलता है कि दो सूखी लकड़ियों को घिस कर या दो पत्थरों को टकरा कर पहले ज़माने में आग उत्पन्न की जाती थी।

१८५५ में स्वीडन में दियासलाइयों का आविष्कार हुआ था। अब तो सिगरट और बीड़ी की बदौलत हर एक की जेब में दियासलाई का बक्स रहता है। फिर आज-कल के 'सिगरट जलानेवालों' का आविष्कार हुआ। इनमें भी वही पुराना सिद्धान्त काम करता है—लोहे और चकमक पत्थर की रगड़ से आग पैदा होती है और वह पिटरौल में डूबी हुई बत्ती को पकड़ लेती है। इससे दियासलाई बनानेवालों का बड़ा नुक़सान होने लगा। सुना गया है कि इस सूबे में अब यह हुक्म हुआ है कि 'सिगरेट जलानेवाले' न बिकने पायें।

१२वीं और १३वीं शताब्दियों से इँग्लेंड में मकानों में चिमनियों की प्रथा प्रचलित हुई थी। यहाँ बड़े आदमियों के मकानों को छोड़कर ग़रीब आदमियों के यहाँ अब भी ढिबियाँ या चिराग़ जलते हैं—वही सैकड़ों बरस का पुराना दस्तूर है। फिर मोमबत्तियाँ निकलीं। अपने देश में शाही ज़माने तक इनकी प्रथा रही। उस ज़माने की मोमबत्तियाँ डंडे का भी काम दे सकती थीं। नेपाल में अब भी वैसी ही बनती हैं।

इँग्लेंड में जिन्हें ज्योतिष-शास्त्र पर विश्वास है वे अपने सोनेवाले कमरे का वह रंग रखते हैं जो उनकी राशि से मिलता हो। उनका कहना है कि मेष राशिवालों को सफ़ेद, वृष राशिवालों के लिए पीला, मिथुन राशिवालों के लिए लाल, कर्क राशिवालों के लिए पन्ने का ऐसा हरा, सिंह राशिवालों के लिए सुनहला बसंती, कन्या राशिवालों के लिए पीला-नीला, तुला राशिवालों के लिए बैंगनी, वृश्चिक राशि वालों के लिए हल्का सुर्ख़-बादामी, धनु राशिवालों के लिए नारंगी, मकर राशिवालों के लिए बादामी, कुम्भ राशिवालों के लिए गहरा नीला और मीन राशिवालों के लिए सफ़ेद रंग ठीक होता है।

राशि और रङ्गों के सम्बन्ध में अपने यहाँ का यह मत है—रक्तःश्वेतः शुकतनुनिभःपाटलो धूम्रपाण्डुश्चित्रः कृष्णः कनकसदृशः पिंगलः कबुरश्च, बभ्रुः स्वच्छः।

अर्थात् लाल (मेष), सफ़ेद (वृष), धानी (मिथुन), पाटल (कर्क), धूम्र (सिंह), पाण्डु (कन्या), चित्र (तुला), काला (वृश्चिक), सुवर्ण का रंग (धनु), पिंगल (मकर), चित्रित (कुंभ), भूरा सफ़ेद (मीन)। उन लोगों का फिर यह कहना है कि सफ़ेद के साथ बैंगनी, पीले के साथ सुर्ख़ी लिये हुए बादामी, लाल के साथ में नारंगी, पन्ने के के ऐसे हरे रङ्ग के साथ बादामी, सुनहरे पीले का साथ गहरा नीला और नीले-पीले के साथ सफ़ेद रङ्ग न मिलाना चाहिए।

अपने मतानुसार सब राशि के तत्त्व होते हैं—अग्नि और वायु की एवं जल और पृथ्वी की मैत्री होती है। किसी भी कला के संवर्धन का इतिहास बहुत मनोरञ्जक होता है।

इस लेख के लिखने में मुझे मार्गरेट वेंडेल की पुस्तक 'दि हाउस बुक' से बड़ी सहायता मिली है, जो कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार की जाती है। —लेखक

करेंसी की लोच और उसका रुपये की विनिमय-दर पर प्रभाव

लेखक, प्रोफ़ेसर प्रेमचन्द मलहोत्रा

सरकारी मुद्रा-नीति का प्रश्न बड़ा जटिल है। सरकार कहती है कि उसने रुपये की जो विनिमय-दर निश्चित कर दी है वह देश के हित की दृष्टि से की है। परन्तु लोकनेता उसके इस कथन का विरोध करते हैं। प्रोफ़ेसर मलहोत्रा ने अपने इस लेख में इसी पक्ष को बड़े अच्छे ढंग से पुष्ट किया है।

रत में दो प्रकार के मुद्रा-चलन हैं। एक तो काग़ज़ी मुद्रा और दूसरा चाँदी का रुपया। रुपये में चाँदी का मूल्य रुपये के क़ानूनी मूल्य से कम है अर्थात् रुपये में चाँदी १६ आने से कम मूल्य की है। इसलिए रुपया भी सांकेतिक मुद्रा है। हम रुपये को चाँदी पर छपा हुआ नोट कह सकते हैं।

करेंसी के लोच से यह अभिप्राय है कि करेंसी का प्रसार तथा संकोच व्यापार की आवश्यकता के अनुसार स्वयंचल हो। जब काग़ज़ी मुद्रा और रुपयों की जानबूझ कर कमी की जाय तब उसे करेंसी का संकोच कहते हैं। करेंसी की वृद्धि को करेंसी का प्रसार कहते हैं।

भारत की करेंसी की प्रथा में सबसे मोटा दोष हिल्टन-यंग-कमीशन (१९२६) ने यह बतलाया था कि करेंसी का प्रसार और संकोच स्वयंचल नहीं है, बल्कि सरकार की इच्छा पर निर्भर है।

रुपये की विनिमय-दर अथवा रुपये की विदेशी क्रय शक्ति करेंसी के प्रसार और संकोच से निर्धारित की जाती है। (रुपये की विनिमय-दर और करेंसी की लोच का सम्बन्ध हम अभी बतलायेंगे।) जब रुपये की विदेशों में माँग बढ़ जाती है तब विनिमय-दर भारत के पक्ष में होती है। विदेशों में रुपये की माँग कब होती है? जब वहाँ के लोगों को भारत का ऋण चुकाना होता है। और जब भारतीय रुपये को बेचकर किसी विदेश की करेंसी ख़रीदते हैं तब रुपये की विनिमय-दर भारत के प्रतिकूल हो जाती है।

सरकार पर यह दोषारोपण किया जाता है कि १९१९ से लेकर आज तक सरकार करेंसी का जानबूझ कर संकोच करती रही है। इस अभियोग का वास्तविक अभिप्राय यह है कि ऐसा करके सरकार गिरती हुई विनिमय-दर को रोकती है। भारत की करेंसी की नीति के इतिहास से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि सरकार तो सदा तेज़ विनिमय-दर का पक्ष लेती रही है और जनता मंदी दर चाहती रही है।

सरकार विनिमय की तेज़ दर को इसलिए पसन्द करती है कि विनिमय के भाव के चढ़ने से आयात-व्यापार को सहायता मिलती है और होम चारजेज़ (भारत का इँगलैंड में होनेवाला ख़र्च) को अदा करने में बचत होती है।

विनिमय-दर तभी तक चढ़ी रह सकती है जब तक विदेश में रुपये की माँग रहती है। जब तक हमारे देश में निर्यात-व्यापार में सरप्लस (बचत) है तब तक विदेशों में रुपये की माँग अधिक रहेगी। निर्यात-व्यापार की बचत विनिमय-दर का स्तम्भ है। कई एक कारणों से (जिनमें विनिमय का चढ़ा हुआ भाव भी एक कारण है) हमारे निर्यात-व्यापार की बचत घटती ही गई है। कुछ पिछले वर्षों से हमारा निर्यात घटता गया है। व्यापार की विषमता के आँकड़े निम्नलिखित हैं—

१९३३-३४—३५ करोड़ रुपये
१९३४-३५—२३ ,, ,,
१९३७-३८—१६·२१ ,, ,,

विनिमय के भाव के चढ़ाव का सहारा तो अब टल रहा है। यह विचार किया जाता है कि यदि विनिमय-दर में हस्तक्षेप न किया जाय तो वह अवश्य नीचे उतर

जाय। परन्तु सरकार विनिमय-दर को १ शिलिङ्ग ६ पेंस पर जकड़ रखना चाहती है। इसका केवल यही मतलब है कि रुपये का मूल्य बढ़ा रहे। ऐसा होने की सम्भावना तभी तक है जब तक भारत के निर्यात-व्यापार में काफ़ी बचत है। इस सहारे के टूटने पर दूसरा साधन रुपये की दर के चढ़ाव का यही है कि रुपये की पूर्ति घटाई जाय ताकि रुपये की क्रय-शक्ति चढ़ी रहे। इसी अभिप्राय से सरकार क्रमशः करेंसी का संकोच करती रही है।

अब देखना यह है कि करेंसी की कमी (contraction of currency) किस विधि से होती है। यह समझने के लिए हमें रिज़र्व बैंक के साप्ताहिक ब्योरे की सहायता लेनी पड़ेगी। रिज़र्व बैंक प्रतिसप्ताह दो विज्ञापन प्रकाशित करता है—एक तो अपने विभाग के बारे में और दूसरा करेंसी-विभाग के विषय में।

रिज़र्व बैंक के काग़ज़ी मुद्रा-विभाग की साप्ताहिक सूचना

७ अक्टोबर, १९३८

ऋण—

काग़ज़ी मुद्रा	२,०९,१८,३९,००० रु०

पूँजी—

सोने के सिक्के और सोना (भारत में)	४१,५४,५३,००० रु०
सोना भारत के बाहर	२,८६,९८,०००
स्टर्लिंग सिक्युरिटीज़	६२,१६,२५०००
	१,०६,५७,७६,०००
रुपये मुद्रा	७०,२३,०७,०००
भारतीय सरकार की सिक्युरिटीज़	३२,६७,५६,०००
	२,०९,१६,३९,०००

यदि करेंसी में से ५ करोड़ रुपये वापस ले लिये जायँ तो चलन में २०४·१८ करोड़ रुपये के नोट रह जाते हैं। पूँजी में भी इतनी ही कमी करनी पड़ेगी। या तो ५ करोड़ का सोना या स्टर्लिंग सिक्युरिटीज़, या रुपये, या भारत-सरकार की सिक्युरिटीज़ पूँजी में से अलग कर ली जाती है। पूँजी में से सोने की कमी नहीं की जा सकती, क्योंकि स्वर्ण-कोष वर्तमान रक़म से न्यून नहीं होना चाहिए। रिज़र्व बैंक के क़ानून के अनुसार स्वर्ण-कोष और स्टर्लिंग सिक्युरिटीज़ कुल काग़ज़ी करेंसी का ४० प्रतिशत भाग होना चाहिए। २०९·१८ करोड़ रुपये का ४० प्रतिशत ८४ करोड़ रुपये हुए। पूँजी में मौजूदा स्वर्ण-कोष और स्टर्लिंग सिक्युरिटीज़ मिलाकर कुल रक़म १०६½ करोड़ रुपये हैं। न्यूनतम पूँजी के ऊपर काग़ज़ी मुद्रा-विभाग के कोष में २२½ करोड़ रुपया है।

करेंसी का संकोच रुपये की ज़मानतों के कमी करने से भी हो सकता है। रिज़र्व बैंक रुपये की ज़मानतों की अपेक्षा स्टर्लिंग सिक्युरिटीज़ की कमी कर रहा है। स्टर्लिंग सिक्युरिटीज़ करेंसी-विभाग से बैंकिंग-विभाग में डाल दी जाती है। परन्तु इन ज़मानतों की जगह पर कोई और ज़मानतें नहीं रक्खी जाती हैं, इसलिए यह करेंसी का संकोच जानबूझ कर किया जाता है और इसका अभिप्राय १ शिलिंग ६ पेंस की दर को अचल रखना है।

६ जून १९३८ को कलकत्ते में तार की हुंडी की दर १७⅜ पेंस थी। यह दर सामान्य दर से उतरी हुई थी। करेंसी की हालत तब से अच्छी नहीं हुई। इस साल के गत छः मासों के निर्यात और आयात के आँकड़ों से पता चलता है कि विदेशी व्यापार की हालत के सुधरने का निकट में कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। व्यापार की विषमता गत छः मासों की ११·४९ करोड़ रुपये थी। इसके मुक़ाबले में पिछले साल के शुरू के छः मासों में व्यापार की विषमता १६·०५ करोड़ रुपये थी। सोने का निर्यात भी सूखता हुआ प्रतीत होता है। रुपये की विदेशी क्रयशक्ति को थामने में सरकार को बहुत कठिनाई हो रही है, क्योंकि भारत के व्यापार की विषमता बहुत घट गई है। इसी कारण सरकार को रुपये की विनिमय-दर को १ शिलिंग ६ पेंस पर स्थिर रखने के लिए हस्तक्षेप करना पड़ रहा है और करेंसी का संकोच अनिवार्य हो गया है।

रिज़र्व बैंक के स्थापन का यह एक मूल सिद्धान्त था कि करेंसी में सरकार हस्तक्षेप न करे तथा रिज़र्व बैंक की नीति पर राजनीति का प्रभाव न पड़े। रिज़र्व बैंक के केन्द्रीय बोर्ड को सरकार के इस अनुचित हस्तक्षेप को रोकना चाहिए। यदि यह सम्भव नहीं है तो भारत की करेंसी की नीति पर यह अभियोग लगा ही रहेगा कि रिज़र्व बैंक स्वाधीन संस्था होने पर भी अपनी नीति को सरकार की राजनीति के अधीन रखता है।

आज इसके हृदय में शोषण और ग्लानि की कितनी कथायें लिखी हैं ? क्या किसी उदार दानी ने, मुक्तहस्त, इसे भी कुछ देकर यश लूटने का कष्ट किया है ? या धर्म के नाम का कृत्रिम प्रदर्शन करनेवाले पण्डे और पुरोहित ही इसके उपयुक्त पात्र हैं ?

पूछा—'क्यों जी जाड़ा लग रहा है ?'

कोई उत्तर नहीं, कोई बात नहीं।

'भूख लगी है ? खाना चाहिए ?'

'जा, जा; भग जा; बड़ा चला है खाना देनेवाला। देख लिया है बड़े-बड़ों को ! तू क्या मुझे खाना दे सकता है ? दिल चाहिए।'

बूँदें पड़ने लगीं। मैं कुछ समय तक और ठहरता किन्तु··रिमझिम-रिमझिम के कारण रुकना दुरूह हो गया। घर की ओर चल दिया। भिक्षुक का चित्र मेरे अन्दर अब भी नाच रहा था।

× × × ×

राघव का जीवन सुख-दुख की एक अजीब पहेली है। जब वह ७ वर्ष का निरा बालक था, तब उस पर शीतला का भयानक आक्रमण हुआ। बुखार ने शरीर को तहस-नहस कर दिया। माँ-बाप को उसके बचने की आशा ही नहीं थी। किन्तु राघव को अभी दुनिया में और भटकना था, और नीचे जाना था, बच गया। आँखें ख़राब हो गई थीं। धुँधला दिखाई देता था।

जब वह स्वस्थ होकर धीरे-धीरे भविष्य के पथ पर चलने लगा तब दस वर्ष की आयु में उसके पिता की हैज़े से मृत्यु हो गई। गृहस्थी का सारा भार उस पर आ पड़ा। उसकी माँ भी काफ़ी वृद्ध थी, फिर भी पुत्र की यथेष्ट सहायता कर देती थीं।

एकाएक एक दिन उसकी माँ भी सख़्त बीमार हो गईं। उसने भरसक प्रयत्न किये कि माँ बच जाय; पर न बची। रात्रि को उसकी दशा बिगड़ गई। चारों ओर अन्धकार था। जाड़े के दिन थे। राघव की माँ की आत्मा, शरीर छोड़ कर, उसी अन्धकार में मिलकर विलीनप्राय हो गई। वह फूट-फूटकर रात भर रोता रहा।—हाँ अपनी उसी मड़ैया में।......

और दिन व्यतीत होने लगे।

अब वह एक छोटा-मोटा किसान था। दो खेत, दो बैल और एक भैंस। रिश्तेदारों ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती विवाह भी करा दिया। घर का काम ठीक से चलने लगा।

किन्तु एक दिन उसके जीवन में ऐसा भी आया, जो उसे बिलकुल निर्धन और कङ्काल बना गया। उस दिन का स्मरण करके राघव सिहर उठता है।

वे धान के हरे-हरे लहलहाते हुए खेत। बैलों की जोड़ी और मोटी ताज़ी भैंस। इसके अतिरिक्त उसके पास अन्य कितनी ही, गृहस्थी-सम्बन्धी, सुन्दर वस्तुएँ थीं, जो उसके अधिकार से, उसकी इच्छा के विरुद्ध छीन ली गईं। वह खड़ा-खड़ा देखता रह गया। जिस दिन से उसके बैलों की जोड़ी और भैंस हाथ से गई, उस दिन से राघव को ललितपुर काटने-सा लगा। उसकी धुँधली आँखों में व्यथा के बादल छाये हुए थे। किन्तु वह कर ही क्या सकता था ? पितामह द्वारा लिया गया ऋण उसे देना ही था। हरे-हरे धान के दोनों खेत भी हाथ से बेहाथ हो गये।

तब प्रत्येक दिन भोजन-पेट की समस्या एक भयानक रूप में उसके सामने आ खड़ी हुई। जब गाँव में भी भोजन न प्राप्त हो सका, प्रतिदिन उसे बेगार ही भुगतनी पड़ी, तो वह गाँव से प्रायः सात मील पर स्थित शहर को चला आया। यह सोचकर, वहीं किसी प्रकार दो रोटी कमा खाऊँगा, किसी प्रकार ! अपने साथ अपनी पत्नी को भी लेता आया। वह उसे बेहद चाहता था, प्यार करता था। सोचता था—भगवान् ने दया करके, हमारे लिए यह जो वरदान दिया है, क्यों न इसे ही सँभाल कर रक्खें ! क्यों न इसी से सन्तोष पाऊँ ? और सत्य ही उस पत्नी के अलावा उसके पास और था ही क्या ?

हाँ, तो राघव कई दिनों तक शहर में इधर-उधर भटकता रहा, पर नौकरी न मिल सकी। अपने ही एक परिचित साथी के घर में रहता था। वह अकेला था। राघव से बड़ी प्रीति मानता था। कभी-कभी कहता—राघव भैया, खाने-पीने की चिन्ता न करो। मिल से जो चार पैसे मिलते हैं, उनमें तुम्हारा भी तो हिस्सा है। और भाभी तुम्हें किसी बात के लिए........

परन्तु राघव को इन बातों से सन्तोष न होता। वह भारस्वरूप नहीं रहना चाहता था।

पन्द्रह दिन बेकार बीत गये।

एक दिन राघव जब परेशान और नौकरी की ओर से

हताश हो लौटा, तब उसके जी में आया—कल यदि नौकरी नहीं मिलेगी, तो मैं विष खाकर आत्म-हत्या कर लूँगा। पर तत्काल ही उसे यह भी स्मरण हो आया—ज़हर खा लेना भी ऐसा-वैसा आसान कार्य नहीं है। उसमें भी पैसे लगेंगे ही, पैसा.....? ओह ! आज इच्छा रखते हुए भी वह नहीं मर पाता ? बहुत से लोग मरने को तरसते हैं और नहीं मर पाते, परन्तु राघव मरना चाहता है, पर मरने नहीं पाता—परिस्थितियों के कारण ! विधि का भी कैसा अटल विधान है ? और यदि वह किसी प्रकार मर भी जाय, तो पत्नी पर, जिसे वह जी से प्यार करता है, क्या बीतेगी ? वह कोमल कलिका इस वज्राघात को कैसे बर्दाश्त कर सकेगी ? कहाँ से लायेगी वह बेचारी इस व्यक्ति के लिए, व्यक्ति के लिए नहीं—शव ढकने के लिए—कफ़न के पैसे ? आभूषण भी नहीं कि उन्हीं को बेचकर........ अच्छा वह नहीं मरेगा, नहीं मरेगा।

रात्रि को भले प्रकार भोजन भी नहीं किया और सो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब उसकी नींद टूटी, तो अपने आपको घर में निरा अकेला पाया। देखा—पत्नी ग़ायब है। उसके आश्चर्य की सीमा न रही। भौंचक्का-सा वह घर के कोने-कोने की ओर देखता फिरा। फिर उसे ऐसा प्रतीत हुआ, चारों ओर अन्धकार घनीभूत हो रहा है और वह उसी में विलीन होता हुआ-सा अदृश्य होता जा रहा है।

सोचने लगा—अजी दुनिया धोखे की टट्टी है। कौन है यहाँ किसी का ? मायाजाल। जिसे अपना समझो, वही बेगाना। गले का हार ही काला साँप बन कर काटने को तैयार रहता है।........हाँ, जग्गू ही उसे उड़ा ले गया है। मुझे पूरा विश्वास है। इसी लिए वह मेरे पास घण्टों निष्प्रयोजन बैठा रहता था।......छिः-छिः जग्गू तुझे ऐसा विश्वासघात शोभा नहीं देता। ख़ैर, यदि तू उससे सन्तुष्ट है, तो ले जा। मैं ख़ुशी से उसे तुझे सौंपता हूँ। जहाँ भी रहे आनन्द से रहे, यही मैं चाहता हूँ। चलो, अच्छा ही हुआ; अब मैं शान्तिपूर्वक मर सकूँगा। चिन्ता दूर हुई।

और तब उसे मकान छोड़कर सड़कों पर भटकना पड़ा। नौकरी न मिलने पर वह भिक्षुक बन गया। माँग-माँग कर उदर-पूर्ति करने लगा।

रात्रि को अधपेट भोजन खाकर जब वह सड़क पर सोता, तो उसकी आँखों में करुणा के आँसू छलछला आते। उसके क्रान्तिपूर्ण जीवन के अनेक चित्र रह-रहकर उसके हृदय में घूमने लगते। वह पड़ा-पड़ा रोता रहता। न सिसकियाँ ले पाता और न कुछ कह ही पाता। केवल आँसू झर-झरकर बहते रहते।

एक दिन आफ़त ने उसे आ घेरा। उस दिन सुबह से शाम तक उसे भटकते हो गया और कुछ भी भिक्षा न न प्राप्त हो सकी। मर्माहत हो जब वह सड़क को पार कर रहा था, एक ताँगा उससे आ भिड़ा। भारी भरकम शरीर के एक सेठ जी उस पर विराजमान थे। गरज कर बोले—'अन्धे कहीं के, देखकर नहीं चलता !'

क्या पता उसने ये शब्द सुने या नहीं। जब उसे होश आया, तो अपने आपको ख़ैराती अस्पताल में पड़ा पाया। दोनों हाथ और एक पैर टूट गये थे !

अस्पताल में भी उसे विशेष लाभ नहीं हुआ। डाक्टर उसकी ओर घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। और वहाँ से बाहर आते ही उसने सड़क से हटकर, फुटपाथ पर, अस्पताल के पड़ोस में ही एक झोंपड़ी बना ली है, वहीं रहता है। काम करने से लाचार है, जीवन के शेष दिन किसी प्रकार व्यतीत कर रहा है।

× × × ×

घर में प्रवेश करते न करते प्रबल वायु के साथ पानी भी आया। प्रायः आध घण्टे तक मूसलाधार वर्षा होती रही।

चारों ओर सन्नाटा छाकर रह गया था। मानो प्रलय की घड़ी अधिकाधिक निकट आती जाती हो। सायँ-सायँ कर वायु शरीर को बेध रहा था।

और कुछ काल अनन्तर भयङ्कर बादलों का भीषण अट्टहास चहुँओर व्याप्त हो गया। काले-काले बादलों के उर को चीर कर बिजली कड़क उठी—'कड़ड् कड़-कड़ !'

पत्नी चौंक उठी। बोली—'अरे बाप रे !'

'घबड़ाने की कोई ज़रूरत नहीं', मैंने कहा—'पानी घनघोर हो रहा है।'

और उसी समय रसोईघर पर छाई टीन पर पत्थरों की वर्षा होने लगी। आश्चर्य-चकित हो बाहर झाँकने लगा। पत्नी पीछे की ओर घसीटती हुई बोली—'अरे ! क्या कर रहे हो ? वहाँ नहीं, ओले गिर रहे हैं।'

'ओले ? इतने बड़े-बड़े ?'

'हाँ, इतने बड़े-बड़े !'

मैं निश्चल पाषाणवत् खड़ा का खड़ा रह गया। मेरे समक्ष मानो वह मूक आत्मा कह रही हो—'देखो न, एक मैं हूँ, जो हँसते-हँसते अपने जीवन से युद्ध कर रहा हूँ और एक..........।'

× × × ×

दूसरे दिन—

प्रातःकाल भयानक शांत था। सड़कों पर अब भी, कहीं-कहीं पर, जमी बरफ़ दिखाई दे जाती थी। पक्षियों के निर्जीव शरीर सड़क पर पड़े थे।

और आगे बढ़ गया—छोटे-छोटे दो-चार जानवर भी मरे मिले।

तब कोतवाली के निकट जा पहुँचा। देखा—मढ़ैया का नाम-निशान तक नहीं। टीन के डब्बे बिखरे पड़े हैं। एक अतिशय गन्दी मानवकाया बदबू छोड़ रही है। एक कुत्ता भी उसी के निकट मरा पड़ा है। लोग उधर से निकलते हैं, तो रूमाल से अपनी नाक ढक लेते हैं, ताकि दूषित वायु अन्दर न जा सके। कुछ हिंसक पक्षी उसकी आँखों पर चोंच चला रहे हैं। अब भी जैसे उस भिक्षुक की आत्मा कह रही हो—"नेत्रहीन होते हुए मैंने संसार को, प्राणिमात्र को, देख लिया है—पहचान लिया है; किन्तु संसार नेत्रयुक्त होकर भी मेरे अन्तःकरण को, मेरे प्रकृत उज्ज्वल स्वरूप को नहीं देख सका है।"*

* अमर कथाकार गोर्की की 'स्टार्म' शीर्षक रचना के आधार पर। —लेखक

झोली

लेखक, श्रीयुत यज्ञदत्त 'त्यागी'

किस आशा से हे ! जीर्ण शीर्ण
फिरती जग में मुख फैलाये ?
युग-युग को तेरी माँग सखी !
किन लालों से जग भर पाये ?

उर पर करुणा-दृग - कोर - कृपा
तेरे दो आँसू ढल जाती,
बुझती जीवन की ज्योति नवल
आशा ले पल पल खिल जाती।

तू निर्धनता की प्रिय बाले !
वैभव से तेरा नाता क्या ?
धन के प्रति पल हँसते जग में
तेरा उन्मन मन पाता क्या ?

तेरी कोमल कोमल आशा
क्रन्दन का अभिनन्दन करती,
संकट के पाले दीन दुखी
जन-आहों से निज उर भरती।

दलितों की करुण - पुकारों में
तूने अपना जीवन पाया,
कंकालों की बस्ती में जा
उन्मन - मन जीवन भर लाया।

धन के वैभव में जो न मिला
निधनों की आहों में पाया,
बुझते दीपक में स्नेह सखी !
दलितों के दृग से ढल आया।

क्या निष्ठुर जग को ज्ञान भला
भोली झोली का रिक्त हृदय
ठहरा बैठा मन में कितने
निधनों के धन ? माना मृन्मय !

आस्ट्रेलिया का वैभव

लेखिका, श्रीमती रामेश्वरी नेहरू

इस लेख का अधिकांश १९३८ की आस्ट्रेलिया-यात्रा-शीर्षक में दिसम्बर की 'सरस्वती' में छप चुका है। शेषांश इस अंक में छप रहा है। इससे पाठकों को ज्ञात होगा कि आस्ट्रेलिया की कैसी उन्नति हुई है और इस समय उसकी क्या दशा है।

जिन चीज़ों से आस्ट्रेलियावाले धनी हुए हैं उनमें सबसे बड़ा भाग भेड़ों का है। इस समय आस्ट्रेलिया में १०,८६,००,००० भेड़ें पली हुई हैं। पशुओं के पालन-पोषण के लिए वहाँ की आबोहवा बहुत उपयुक्त है। हरी हरी पुष्टिकारक घास काफ़ी अधिक है।

एक एक गोरा हज़ारों भेड़ें पालता है। एक एक के पास औसत ग़ल्ला ५०० भेड़ों का होता है, परन्तु बड़े ग़ल्ले में ५०,००० भेड़ें होती हैं। ७३ आदमी इस समय पचास पचास हज़ार भेड़ों के ग़ल्लों को पाल रहे हैं। पाठक अनुमान कर सकते हैं कि इतनी भेड़ों के लिए एक एक आदमी के पास कितनी अधिक ज़मीन रहती होगी। बहुधा इस ज़मीन में ही उसका मालिक अपने रहने के लिए कोठी बना लेता है। बड़े बड़े ज़मींदार अपनी बिजली, अपने पानी और सफ़ाई का अपना निजी प्रबन्ध कर लेते हैं। मकान भी अच्छे प्रकार के सामान से भरे रहते हैं। परन्तु काम के वास्ते इनके पास बहुत कम लोग होते हैं। इन ज़मींदार गड़रियों का जीवन बिलकुल रसहीन होता है। इन्हें शहरों से मीलों दूर रहना पड़ता है। मिलने और बात करने को आदमी नहीं मिलते। भेड़ों में ही इन्हें अपना जीवन बिताना पड़ता है। सूर्योदय होते ही पुरुष बाहर के काम में और स्त्रियाँ घर के काम में जुट जाती हैं। झाड़ू-बुहारू, रसोई, बर्तन माँजना, रसोई बनाना, बच्चे पालना बहुधा घर की अकेली स्त्री को ही करना पड़ता है। सहायता के लिए जो नौकरानी रखते हैं, वह रहे या न रहे, इसका कुछ ठीक नहीं होता। जंगल का यह कड़ा जीवन युवा स्त्री-पुरुष सहन नहीं कर सकते, इसलिए नौकर नहीं रहते और मालिक को बहुधा ख़ुद ही सब काम करना पड़ता है। मालिक को भी कुछ कम काम नहीं होता। इतनी भेड़ों की देख-रेख कोई छोटी बात नहीं होती। उनको बीमारी से बचाना, उनके ऊन को कीड़ों से सुरक्षित रखना—समय पर ऊन का काटना, भेड़ों को दवाई के पानी में स्नान कराना, ये सब छोटे काम नहीं। बाल तो आज-कल मशीन से काटे जाते हैं और उनके काटनेवाले विशेषज्ञ होते हैं, जो वर्ष में एक बार आकर मालिक के सामने सब भेड़ों का ऊन काटने का काम कर जाते हैं। ये गड़रिये ज़मींदार जहाँ रहते हैं उस स्थान को 'स्टेशन' कहते हैं। एक ऐसे स्टेशन पर हम भी गये थे। ये लोग कुत्तों से किस प्रकार आदमियों का काम लेते हैं, यह देखकर मैं चकित रह गई। वहाँ एक विशेष प्रकार के कुत्ते ऐसे होते हैं जो सुगमता से भेड़ों को चराने और उनकी देख-रेख करने का काम सीख जाते हैं। मालिक के इशारे पर ये कुत्ते काम करते हैं और एक एक भेड़ का वैसे ही ध्यान रखते हैं जैसे कोई मनुष्य। जिस स्टेशन पर हम गये थे उसके मालिक ने हमें दिखाने को अपने एक ऐसे ही कुत्ते को चरती हुई भेड़ों को घर बुला लाने को भेजा। इस छोटे से कुत्ते ने जितनी चतुरता और शीघ्रता से इस काम को किया, कोई मनुष्य नहीं कर सकता था। मालिक के इशारे पर लपकते हुए जाकर दम के दम में बिखरी हुई भेड़ों को एकत्र कर मालिक के सम्मुख लाकर खड़ा कर दिया। मशीन के समान शीघ्रता से सब काम हो गया। मालिक ने हमको विश्वास दिलाया कि उस ग़ल्ले की एक भी भेड़ उससे नहीं छूटी थी।

इन भेड़ों से ऊन की सालाना पैदावार ६,००,००,००० पौंड होती है। १,२०,००,००० भेड़ों का प्रतिवर्ष वध किया जाता है, जिनका मांस कुछ देश में कुछ विदेशों में ख़र्च होता है। सारांश यह कि भेड़ों का पालन-पोषण आस्ट्रेलिया का सबसे बड़ा व्यवसाय है। इससे दूसरे दर्जे का व्यवसाय गाय-बैल और घोड़ों का पालना है।

जैसा मैं पहले लिख चुकी हूँ, घोड़ों का व्यवसाय पहले से कुछ कम हो गया है, फिर भी २२,५०,००० घोड़े इस समय भी वहाँ पले हुए हैं। और घोड़ों को पैदा करने में आस्ट्रेलिया का स्थान संसार में दसवाँ है।

१९२५ में आस्ट्रेलिया में गाय-बैलों की १,३२,८०,००० संख्या थी। इस दृष्टि से इस देश का दर्जा इस विषय में संसार भर में नवाँ है। यहाँ प्रतिवर्ष २५,००,००० गाय-बैल मारे जाते हैं, जिनमें का बहुत सा मांस विदेशों को भेजा जाता है। दूध, मक्खन और पनीर का भी अच्छा व्यापार है। दूध सुखाकर और बोतलों में भरकर बाहर भेजा जाता है। मक्खन और पनीर भी बड़े परिमाण में टीनों में बन्द करके विदेशों को जाता है। दूध, मक्खन और पनीर से आस्ट्रेलिया के किसानों को प्रतिवर्ष ४,००,००,००० पौंड की आय है। इसके बाद गेहूँ की पैदावार है। वहाँ प्रतिवर्ष ३,५०,००,००० पौंड का गेहूँ पैदा होता है। यह भी बाहर जाता है। इस बात को भारतवासी अच्छे प्रकार जानते हैं, क्योंकि आस्ट्रेलिया का गेहूँ भारत में भी बहुत आता है।

मुर्ग़ी के अण्डे का व्यवसाय भी किसानों के लिए अच्छी आय का साधन है।

आस्ट्रेलिया में तम्बाकू, कपास और ऊख भी होते हैं। अब तो वहाँ शक्कर भी बनती है। बाहर से शक्कर की आमद बिलकुल बंद कर दी गई है। ५०,००,००० पौंड की शक्कर बाहर भी जाने लगी है। मेवे भी बहुत अच्छे होते हैं। अंगूर, सेब, नारंगी, आड़ू, केले, माक, अनन्नास लाखों पौंड के पैदा होते हैं। सैकड़ों एकड़ ज़मीन मेवे की काश्त में लगी है। वहाँ से मेवा विदेशों को भी जाता है और मुरब्बे, जैम वग़ैरह बनाकर उनका भी व्यापार होता है। तरकारियाँ भी भाँति भाँति से पकाकर टीनों में और बोतलों में भर भर कर विदेशों को जाती हैं।

आस्ट्रेलिया कृषि-प्रधान देश है, परन्तु वे लोग इस बात का भारी प्रयत्न कर रहे हैं कि अपनी आवश्यकता का सब सामान वे वहीं तैयार करें। अतएव काफ़ी कल-कारख़ाने भी खुल गये हैं। मूल्य की दृष्टि से यदि देखा जाय तो कल-कारख़ानों की पैदावार वहाँ खेती की पैदावार से अधिक होती है। परन्तु वे अपनी बनाई हुई किसी चीज़ को विदेशों में नहीं भेज पाते। कारण यह है कि मज़दूरी अधिक होने के कारण उनकी बनाई हुई चीजों का मूल्य बहुत अधिक होता है। वे बाहर के माल को अपने देश में आने से बड़ी कठिनाई से रोक सकते हैं। ५० और ७५ फ़ी सदी कर लगाने पर भी बाहर का माल विशेष कर इँग्लेंड का माल आकर बिकता ही है। धीरे-धीरे वे अपने कारख़ानों को मज़बूत करते जाते हैं और इस बात की आशा रखते हैं कि बहुत जल्दी वे अपनी आवश्यकताओं को आप ही पूरा करने लगेंगे।

परन्तु अभी तक तो यह दशा है कि उनकी बड़ी बड़ी दूकानों में जो इँग्लेंड की बड़ी दूकानों से किसी प्रकार कम नहीं हैं, आधे से ज़्यादा माल विदेशों का होता है।

आस्ट्रेलिया इँग्लेंड के समान एक प्रजातंत्र राज्य है। अँगरेज़ी साम्राज्य का एक अङ्ग है, तथापि लगभग ७० वर्ष से उसे स्वराज्य प्राप्त है। अँगरेज़ी सरकार उनके आन्तरिक मामलों में बिलकुल हस्तक्षेप नहीं करती। परन्तु अभी तक भिन्न भिन्न प्रान्तों के गवर्नर और गवर्नर-जनरल इँग्लेंड से ही आते हैं। अब कहीं-कहीं इस बात की चर्चा होने लगी है कि हमारे अपने देश के आदमी ही इन पदों को ग्रहण करें। परन्तु अभी तक अधिकतर आस्ट्रेलिया-निवासी उनको इँग्लेंड से ही बुलाना चाहते हैं।

समस्त आस्ट्रेलिया महाद्वीप प्रान्तों में बँटा हुआ है। प्रान्त 'रियासत' कहलाते हैं। ये सब रियासतें १९०१ तक अलग अलग थीं। उसी वर्ष इन सबको मिला कर आस्ट्रेलिया का एक संयुक्त राज्य बना दिया गया और तब से यही पद्धति चल रही है। शासन-विधान अँगरेज़ी शासन-विधान के ही समान है। अधिकतर रियासतों में दो दो व्यवस्थापक सभायें हैं, जिनके अधीन देश का शासन होता है। वोट का अधिकार सब स्त्री-पुरुषों को एक समान है।

शिक्षा बहुत उच्च है। सभी स्त्री-पुरुष पढ़े-लिखे हैं। सब रियासतों में यूनीवर्सिटियाँ हैं। प्रारंभिक शिक्षा मुफ़्त और अनिवार्य्य है। परन्तु किसी रियासत में तो यूनीवर्सिटी की शिक्षा मुफ़्त ही दी जाती है। जहाँ मुफ़्त नहीं भी है, वहाँ सरकार की ओर से छात्रों को बड़ी उदारता से वृत्ति दी जाती है। यहाँ तक कि कोई भी दरिद्र बालक या बालिका अपनी दरिद्रता के कारण शिक्षा से वंचित नहीं रह सकता। वहाँ के नर्सरी स्कूल अर्थात् छोटे बालकों के स्कूल, इतने

सुव्यवस्थित हैं कि अमरीका और अन्य देशों के लोग उनको देखने और उनसे व्यवस्था सीखने को आते हैं।

शिक्षा आम और उच्च होने के कारण यहाँ के मज़दूर सुसंगठित हैं। उसके 'ट्रेड यूनियन' बड़े ज़ोरदार हैं। यही कारण है कि उनकी दशा अच्छी है और उनकी बात बहुत मानी जाती है। मज़दूरों और मालिकों में झगड़ा होने पर पंचायत बोर्ड के द्वारा मामला तय हो जाता है। इन बोर्डों के फ़ैसले क़ानूनी तौर पर दोनों पक्षवालों को मानना अनिवार्य है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यहाँ मालिकों और मज़दूरों में झगड़ा नहीं है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अन्य देशों की अपेक्षा थोड़े परिश्रम से ही मज़दूरों को बड़े हक़ मिल गये हैं। अन्य देशों की अपेक्षा वहाँ हड़ताल भी कम होती है।

शासन की नीति में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि ग़रीब-अमीर में भेद न किया जाय। कर लगाने में और क़ानून बनाने में इस बात का उद्योग किया जाता है कि जहाँ तक हो सके, ग़रीब-अमीर का अन्तर कम होता जाय। यही कारण है कि बड़े बड़े ज़मींदार और कारख़ानों के मालिक होने पर भी वहाँ अन्य देशों की नाईं बड़े बड़े करोड़पति नहीं हैं और ऐसे दरिद्र भी कहीं नहीं हैं जो भूखे या नंगे रहें। लगभग सभी खाते-पीते ख़ुशहाल हैं। मैं विशेषकर वहाँ के दरिद्रों के निवासस्थानों में गई थी। वे लोग उस भाग को 'स्लम्स' कहते थे। परन्तु हमारे यहाँ तो ख़ासे पैसेवालों के रहने के घर भी वैसे नहीं होते। स्त्रियों को कोई क़ानूनी रुकावटें नहीं हैं। उनकी और पुरुषों की शिक्षा में कोई अन्तर नहीं किया जाता। पुरुषों के समान उनको भी वोट देने का अधिकार है और वे राजनीति या व्यापार या किसी भी व्यवसाय और धंधे को करने के लिए स्वतंत्र हैं। फिर भी राजनीति में बहुत स्त्रियाँ भाग नहीं लेतीं। सारे आस्ट्रेलिया में, मैं जानती हूँ, दो या तीन स्त्रियों से अधिक व्यवस्थापिका सभाओं की मेम्बर नहीं हैं। मेम्बर न होना तो कुछ ऐसी आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि स्त्रियाँ स्वयं ही स्त्रियों का राजनीति में भाग लेना पसन्द नहीं करतीं और बहुधा स्त्रियों को स्त्रियों से वोट भी नहीं मिलते। कारपोरेशन और म्यूनिसिपैलिटी की मेम्बर भी स्त्रियाँ कम ही होती हैं। सिडनी में एक मेयरेस म्यूनिसिपैलिटी की स्त्री-प्रेसिडेंट मुझे अवश्य मिली थी।

राजनीति की ओर अरुचि होते हुए भी स्त्रियों में संगठन और व्यवस्था काफ़ी है। लगभग सभी बड़ी बड़ी स्त्रियों की अन्तर्जातीय संस्थाओं की शाखायें वहाँ मौजूद हैं। लंदन में मैंने जिस-जिस अन्तर्जातीय संस्था में काम किया था उस-उसमें बहुतों ने मुझे और मेरे पति को निमन्त्रित किया और बहुत से स्थानों पर हमसे भारत की दशा पर व्याख्यान देने को भी कहा। इस प्रकार लगभग १०-११ संस्थाओं के अधीन हमको बोलने का अवसर मिला और कइयों ने हमसे मिलने और हमें सम्मानित करने के लिए चाय-पार्टियाँ और खाने भी दिये।

उन लोगों ने जिस प्रेम से हमारी आव-भगत और सम्मान किया उसका हमारे दिलों पर बहुत प्रभाव पड़ा। ऐसा लगता था कि आस्ट्रेलिया की नीति के पक्षपाती होते हुए भी वहाँ के गोरों के मन में जाति और वर्ण का भेद बिलकुल नहीं है।

आस्ट्रेलिया में कुछ भारतवासी भी रहते हैं। उनकी संख्या लगभग २० हज़ार के या इससे कुछ कम होगी। काले लोगों का वहाँ जाना बन्द होने से पहले ही वे लोग वहाँ जा बसे थे। उनमें से अधिकतर पठान, पंजाबी मुसलमान और सिख हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब वहाँ सोने की खान निकली थी उन दिनों में बहुत से पठान और पंजाबी अपने ऊँटों की पलटनें ले लेकर वहाँ पहुँच गये थे और उस समय जब न वहाँ रेल थी, न सड़कें थीं, उन्होंने माल लाने ले जाने में बहुत सहायता की थी। वे लोग और अन्य बहुत से व्यापारी वर्षों से वहाँ रहते हैं। उनके साथ कोई क़ानूनी अन्तर नहीं किया जाता। उनको वोट देने का अधिकार है। वे जायदाद भी जहाँ चाहें ख़रीद सकते हैं, जहाँ चाहें रह सकते हैं, ज़मीन-मकान ले सकते हैं। परन्तु फिर भी वे वहाँ ख़ुश नहीं हैं। बहुत से हिन्दुस्तानी भाई हमसे पर्थ में मिले। उन्होंने हमें एक बड़ी दावत भी दी थी, जिसमें पर्थ के रहनेवाले लगभग सभी भारतवासी आये थे। उस अवसर पर उन्होंने अपने दुःखों का वर्णन किया था।

बात यह है कि वहाँ के रहनेवाले लगभग सभी भारतवासी अशिक्षित हैं। ३०-३० और ४०-४० वर्ष उस

देश में रहने पर भी उन्होंने वहाँ की भाषा तक अच्छे प्रकार नहीं सीखी है। उनका रहन-सहन भी उस दर्जे का नहीं, जैसा गोरों का है। सभी ने गोरी स्त्रियों से शादियाँ की हैं। भारतीय नारी तो वहाँ एक भी नहीं है। वहाँ का कमाया हुआ रुपया-पैसा भी वे हिन्दुस्तान बहुत कम ला सकते हैं। वहाँ से भारत पैसा लाने में इतना टैक्स देना पड़ता है कि पैसा आधा-चौथाई रह जाता है, इसलिए जो लोग वहाँ हैं अब वे वहाँ से वापस भी नहीं आ सकते। उनका कहना यह है कि व्यवहार में उनके साथ बड़ी घृणा की जाती है। जिस रेल के डिब्बे में वे बैठते हैं उसमें कोई गोरा बैठना पसन्द नहीं करता। उनके बाल-बच्चों के साथ स्कूलों में उनके सहपाठी अच्छा व्यवहार नहीं करते। घरों में उनके अपने बाल-बच्चे उनको आदर की दृष्टि से नहीं देखते। अपने ही घरों में वे अजनबियों के समान रहते हैं, इसलिए उनका जीवन दुःखमय रहता है। परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि जो थोड़े से लोग वहाँ रहते हैं उनके ये दुःख दूर नहीं हो सकते। उनके बाल-बच्चे गोरों के साथ मिल जाते हैं, उन्हीं से ब्याह-शादियाँ कर लेते हैं। थोड़े दिनों के बाद वे लोग यह भूल जायँगे कि वे भारतवासियों की सन्तान हैं और वे गोरों में बिलकुल मिल जायँगे।

आस्ट्रेलिया को बसाने और रहने के योग्य बनाने में वहाँवालों को बहुत कड़ा परिश्रम करना पड़ा है। पानी की कमी और आने-जाने के लिए रास्तों की कमी ये दो बड़ी भारी कठिनाइयाँ उनके सामने रही हैं। इन्हीं की कमी के कारण अभी तक उस देश का अधिकतर भाग वीरान पड़ा है। केन्द्रीय भाग तो रेगिस्तान है और रहने के योग्य भी नहीं है, परन्तु अन्य बहुत सी उपजाऊ भूमि अभी ऐसी पड़ी है जो काम में लाई जा सकती है, विशेष कर उत्तरीय और पश्चिमीय भाग अभी तक बहुत उजाड़ पड़ा है। आस्ट्रेलिया में वर्षा कम होती है। नदियाँ बहुत कम हैं और जो हैं वे बहुत छोटी हैं और बहुधा गर्मी में सूख जाती हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए बहुत से उपाय किये जा रहे हैं। कई नदियों का जल बाँध-बाँध कर बह जाने से रोका जा रहा है। ऐसे कुछ बाँध तैयार हो चुके हैं, कुछ हो रहे हैं। इस उपाय से ज्यों-ज्यों पानी की कमी पूरी होती जायगी, नये नये जंगल साफ़ होते जायँगे। बहुतेरे स्थानों पर ट्यूब वेल लगाये गये हैं, जिनमें से हवा चक्की पानी खींच कर ऊपर लाती है।

रेलें-सड़कें भी बहुत कुछ तैयार हो गई हैं। २७,००० मील रेलवे तैयार है और आस्ट्रेलिया के एक भाग से दूसरे तक बराबर रेल पर ही जा सकते हैं। ऐरोप्लेनों की भी कई लाइनें खुल गई हैं और लगभग सभी जगह हवाई जहाज़ों से आ-जा सकते हैं। परन्तु आस्ट्रेलिया इतना बड़ा देश है कि यह सब होते हुए भी काफ़ी नहीं है और अभी और की ज़रूरत है। जिस प्रकार उन्होंने गत डेढ़ सौ वर्ष में उन्नति की है, उसी भाँति यदि आगे भी करते जायँ तो जल्दी ही अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लेंगे। इस देश में यदि उसके आकार के मुताबिक़ कभी आबादी होगई तो यह संसार के बड़े से बड़े देशों में से एक होगा।

मेरी सत्ता

लेखक, श्रीयुत पद्मकान्त मालवीय

जगत उपवनो में खिले जितने कुसुम मैंने खिलाये।
अश्रु से मेरे गये पाटल सभो जिनके धुलाये॥
मानवों का मरु हृदयस्थल रक्त से मेरे सिंचा है,
तब कहीं लोहित जवा के पुष्प इनमें लहलहाये॥
मैं प्रलयकारो अनिल रखकर नयन में घूमता हूँ।
र गरों को ले हृदय में चन्द्रमा को चूमता हूँ॥

सृष्टि का प्रथला बना इस देह की ही मृत्तिका से।
सैकड़ों अम्बोधि मंथन का गरल पी झूमता हूँ॥
आज आओ प्रेम का कुछ पाठ जग को भी पढ़ा दूँ।
प्रेम के दो अक्षरों का अर्थ इसको भो बता दूँ॥
प्रेम-मद छाने बिना पंडित न मुझ तक पहुँच पाये,
मैं अभी चाहूँ अगर तो बूँद में लहरें उठा दूँ॥

द्विवेदी जी का लेखन-कौशल

लेखक, उमेशचन्द्रदेव

क्षेत्रेऽसमे परीक्षेत—
'सूतञ्च यतिनं कविम्'

रथवान्, योगी और कवि, इन तीनों के कौशल की ठीक परीक्षा 'असम धरातल' पर होती है। भीड़-भाड़ से रहित समतल सीधी सड़क पर रथ हाँकने में लगता ही क्या है। एक लड़का भी ऐसे स्थल पर अपनी कुशलता दिखला सकता है। अनुकूल परिस्थितियाँ और उपयुक्त साधन प्रत्येक काम को आसान कर देते हैं। कठिनता तो वहाँ पड़ती है—और धैर्य तथा कौशल की परीक्षा तो उस अवसर पर होती है—जहाँ ऊबड़-खाबड़ और नई राह हो; चारों ओर झाड़-झंकाड़ खड़े हों; शत्रु और हिंस्र जन्तुओं का अलग भय हो; घोड़े भी नये और उकड़ हों। इतनी बाधाओं और ईति-भीतियों को कुचलता हुआ भी जो रथवान् अपने गन्तव्य स्थान की ओर साहस के साथ बढ़ता चला जाता है—यही नहीं, पीछे आनेवालों के लिए राजमार्ग भी तैयार करता जाता है, वही कुशल रथवान् है। विषम धरातल पर पहुँच कर, विघ्नों और प्रलोभनों का शिकार बनकर योगियों को तपोभ्रष्ट होते हम आये दिन देखते रहते हैं। पर जो योगी इन विघ्नों को ठुकराता और प्रलोभनों की उपेक्षा करता हुआ हिमालय की भाँति अपनी साधना में अचल रहता है, उसी के कण्ठ में ध्येय-सिद्धि जयमाल डाल देती है। ऐसे ही मनस्वी इतिहास के आकाश में ध्रुवपद के अधिकारी होते हैं।

कवि के विषय में 'असम-धरातल' दो प्रकार का होता है। एक भाषा-सम्बन्धी और दूसरा भाव-सम्बन्धी। उस भाषा की—जिसे कवि अपने भाव-प्रकाशन के लिए माध्यम बनाना चाहता है—आरंभिक अवस्था होना, उसके पास पूर्वोपार्जित ज्ञान-कोश का न होना, शब्दों में अभिव्यञ्जक शक्ति की हीनता और उनके स्वरूपों की अस्थिरता, प्रयोगों और मुहावरों में टकसालीपन न होना और उस भाषा को शिष्ट-समाज की सहानुभूति और प्रोत्साहन प्राप्त न होना, भाषा-सम्बन्धी अथवा धरातल-सम्बन्धी असमता है। दूसरी असमता भाव-सम्बन्धी होती है जो गद्य और पद्य के लिए अपने-अपने ढंग की होती है। इसी असमता को विभाजक रेखा मानकर विद्वान् गद्य और पद्य की मूल-प्रकृति में भेद स्थापित करते हैं। पद्य के लिए जो धरातल असम होता है वही गद्य के लिए सम। इतिवृत्तात्मक स्थलों पर रस-संचार के लिए उपयुक्त आधार न पाकर पद्य की आत्मा संकुचित हो जाती है, फलतः वह गद्य के आवरण में छिपना चाहती है। पद्य का यह दोगला रूप पाठकों के लिए अरुचिकर होता है। "आगे चले बहुरि रघुराई" सरीखे सन्दर्भ इसी कारण रसहीन और गद्यात्मक बन जाते हैं। गद्य के लिए ठीक इससे उलटी बात होती है। इतिवृत्तात्मक विवेचन गद्य में बड़ी सरलता और कुशलता से हो सकते हैं। इसी प्रकार वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए गद्य में काफ़ी क्षमता होती है। पर मनोभावों और उद्वेगों के चित्रण एवं शब्द-चित्रों तथा भावचित्रों के अंकन में गद्य पद्य का परिधान पहनने की चेष्टा करते हुए बुरी तरह उलझ जाता है। इस प्रकार उसमें कही हुई बात अस्पष्ट और दुर्बोध बन जाती है। हिन्दी के अनेक महाकवियों के गद्य-पद्य में ये दोष पद पद पर दिखाई देते हैं। अभिप्राय यह कि गद्य-लेखक के कौशल की परीक्षा वहाँ अच्छी तरह कर सकते हैं, जहाँ उसने मनोभावों के चित्रण करने का प्रयत्न किया हो या किसी उद्वेगजनक घटना का वर्णन किया हो। यदि ऐसे अवसरों पर भी उसका गद्य उलझ नहीं जाता, स्पष्ट रहता है और उसके भीतर से पद्य की आत्मा नहीं बोलने लगती, साथ ही लेखक भी अपनी इतिवृत्तात्मक शैली से बहुत दूर नहीं पड़ जाता तो वह निस्सन्देह सफल गद्यलेखक है। या फिर उसकी परीक्षा वहाँ हो सकती है जहाँ गद्य का आधार लेकर ही उसने शब्द-चित्र बनाने की चेष्टा की हो। कालिदास आदि कवियों ने ऐसी आवश्यकता पड़ने पर पद्य का आश्रय लिया है। पद्य में छन्दोबन्धन और ताल-स्वर के नियम के कारण शब्द अनावश्यक उछलकूद नहीं कर पाते और वे मन्त्रमुग्ध सर्प की भाँति सँपेरे की कुण्डली के अन्दर रहते हुए अपना खेल दिखाते रहते हैं। सँपेरे की कुण्डली चित्र की सीमारेखाओं का काम दे देती है और

सर्प का उत्थान-पतन, रोष और अनुराग भाव-व्यञ्जना का काम दे देता है। फलतः चित्र अपने में सम्पूर्ण हो जाता है। दूसरी बात यह होती है कि पद्यगत सङ्गीत का माधुर्य भी श्रोता के चित्र को आवश्यकतानुसार आकर्षित और अवस्थित करके मनःपटल पर कल्पित चित्र की अवतारणा करने में सहायक होता है। यही कारण है कि "ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्त-दृष्टिः" के पढ़ने में ही छन्द की गति और स्वरों के आरोहावरोह द्वारा मृग के भागने और बार बार रुक कर पीछे देखने तथा फिर भागने का दृश्य हमारे सामने आ जाता है। इसी प्रकार "कार्याः सैकतलीनहंसमिथुनाः स्रोतोवहा मालिनीः" में छन्द के प्रसार और अल्पप्राण मित्रवर्णों के समवाय ने मालनी की मन्दधारा और उसके सुविस्तृत पुलिनों पर शान्ति से बैठे हुए हंस-मिथुनों का चित्र अंकित कर दिया है।

पर गद्य में ये सुविधायें कहाँ! वहाँ तो अनेक उच्छृंखल शब्दों की भरमार के कारण—जिनका लाना व्याकरण के आदेश के लिए अनिवार्य हो जाता है—हमारा ध्यान चित्र से बार बार हट जाता है। पाठक का चित्त एकाग्र करने के लिए स्वर-माधुर्य का भी सहयोग गद्य में प्राप्त नहीं होता। फिर भी, गद्य की प्रकृति की पूर्णतया रक्षा करते हुए भी, यदि कोई गद्य-लेखक कालिदास की टक्कर के पूर्ण शब्दचित्र प्रस्तुत करने में सफल होता है तो उसमें कौशल की चरम सीमा ही समझनी चाहिए।

हिन्दी-रथ की बागें जिस समय द्विवेदी जी के सुदृढ़ हाथों में आईं उस समय उनके आगे सचमुच 'असम क्षेत्र' था। हिन्दी का रूप नितान्त अनिश्चित था। काव्य-भाषा ब्रज की रहे या बोल-चाल की हिन्दी, उस समय तक यह भी तय न हो पाया था। वह समय हिन्दी-काव्य के लिए क्रान्ति की मध्य-संधि थी, इधर सितारे हिन्द और भारतेन्दु के प्रयत्नों से बोल-चाल की हिन्दी गद्य के लिए उपयुक्त अवश्य मान ली गई थी, पर उसके रूप के विषय में साहित्यिकों के विचार बहुत डाँवाडोल थे। 'आइये' और 'आइए' में कौन रूप साधु है, यही झमेला पड़ा रहता था। इस ओर अपनी हमजोली ब्रजभाषा से उसका संघर्ष चल रहा था तो उस ओर उसकी बेटी उर्दू, उसी की सौत बनकर रंगमञ्च पर चटक-मटक रही थी और उसके हिमायती हिन्दी को 'हिन्दी गंदी' कहकर उसकी ओर फूटी आँख देखना भी गवारा न करते थे। हिन्दी के पुत्र अपनी मान-मर्यादा और गौरव की रक्षा सात समुद्र पार की भाषा—अपने महाप्रभुओं की भाषा—के भांडार को भरने में समझते थे। यही नहीं, हिन्दी पर बाहरी आक्रमण भी न जाने कितने हो रहे थे। एक ओर से साहित्य-श्री-सम्पन्न बँगला हिन्दी का प्रभाव नामशेष करने पर तुली हुई थी तो दूसरी ओर से डाक्टर ग्रियर्सन और डाक्टर गेट जैसे प्रबल पृष्ठपोषक पाकर रोमन-लिपि उसका चोला ही बदल डालने की फ़िक्र में थी। इधर हिन्दी में लेखक बहुत कम थे, जो थे वे भी कम पढ़े-लिखे और नौसिखिये। उस समय हिन्दी-रथ को, चातुर्दिक् प्रहारों से बचाते हुए आगे बढ़ाने में कुशल सारथी द्विवेदी जी को कितना परिश्रम करना पड़ा, उन प्रहारों का किस सतर्कता और सजगता के साथ उन्होंने निराकरण किया, कितनी जागरूकता से अपने रँगरूटों का उन्होंने शिक्षण, प्रोत्साहन, नियमन और मार्ग-प्रदर्शन किया, यह नीचे दिये हुए उनके कुछ उद्धरणों से विदित हो जायगा। बँगला-भाषा और रोमन-लिपि के प्रहार व्यर्थ करने के लिए वे लिखते हैं—

> "× × सो जिस भाषा के समझनेवाले भारत के कोने कोने में विद्यमान हैं, उसी का—उसी हिन्दी का—उसी के घर में यहाँ तक अनादर है कि अब बंगाली अपनी भाषा को उसी के पास ला बिठाने की चेष्टा में हैं। भारत की तृतीयांश जन-संख्या की जन्म-भाषा होकर भी हिन्दी की इतनी हीन दशा! संयुक्त-प्रान्त में दस-बीस प्रभुताशाली पुरुष भी उसके प्रेमी और पृष्ठपोषक नहीं! हिन्दी की कुछ क़दर नहीं!! हिन्दी-लेखकों की कुछ क़दर नहीं!! हिन्दी में लिखी गई पुस्तकों की कुछ क़दर नहीं!!! बंगीय-साहित्य-सम्मेलन के कर्णधार! आओ, तुम्हारे लिए मैदान ख़ाली पड़ा है। शेक्सपियर, बायरन, मेकाले और मार्ले के पूजक ज़बान तक हिलानेवाले नहीं, उनके लिए जैसे हिन्दी, वैसे ही बँगला।"
>
> (सरस्वती, जुलाई १९१४)

> "रोमन-लिपि की सर्वोपयोगिता के आलाप बहुत दिनों से सुनाई दे रहे हैं। आश्चर्य की बात है कि डाक्टर ग्रियर्सन भी उसी लिपि के प्रचार के पक्ष में हैं। न जाने इन विलायती पण्डितों का आन्तरिक अभिप्राय क्या है। ये वही डाक्टर साहब हैं जिनकी राय में ब्रज ही की बोली में अच्छी हिन्दी-कविता हो सकती है, बोल-चाल की भाषा में नहीं। × × हमारी प्रार्थना है कि हमारे अमुकनाथ डाक्टर, अमुकदत्त शास्त्री, अमुक शर्मा पण्डित, अमुक भूषण आचार्य, अमुक गाँवकर एम० ए० क्या करते हैं। ये लोग क्या एम० आर० ए० एस० का पुछल्ला लगाने ही के लिए—एशियाटिक सोसायटी के मेम्बर बनते हैं। यों तो ये लोग बाल की खाल निकालेंगे। किसी शिलालेख में 'क' की जगह 'ख' होना चाहिए,—इस पर बरसों क़लम घिसेंगे; पर देवनागरी-लिपि की उपयोगिता और रोमन-लिपि के दोष दिखाने के लिए ये दस-बीस सतरें भी न लिखेंगे।"
>
> (सरस्वती, दिसम्बर १९१२)

साथ ही हिन्दी में सुलेखक पैदा करने का काम भी द्विवेदी जी के माथे पड़ा था। हिन्दी के लेखक उस समय टूटी-फूटी भाषा लिख सकते थे। उसे व्याकरण-सम्मत बनाने में सरस्वती-संपादक की हैसियत से द्विवेदी जी को घोर परिश्रम करना पड़ता था। उन दिनों हिन्दी के उच्च लेखकों का सहयोग प्राप्त न था। जिन्हें योग्यता थी, वे अपनी बात अँगरेज़ी में कहने में अपना गौरव समझते थे। द्विवेदी जी इन उकड़ रँगरूटों को किस प्रकार पहले हंटर फटकार कर फिर चूम-पुचकार कर सीधी राह पर लाते थे, यह देखने योग्य है—

> "हिन्दुस्तान रिव्यू में डाक्टर × × × × शास्त्री का प्लेटो और शंकराचार्य के तत्त्वज्ञान पर एक लम्बा लेख प्रकाशित हुआ है। ये शायद वे ही डाक्टर साहब हैं जो पंजाब-सरकार से वज़ीफ़ा पाकर अपना संस्कृत-ज्ञान पक्का करने के लिए योरप गये थे। × × क्या आप पर उन लोगों का कुछ भी हक़ नहीं जिनसे कर के रूप में वसूल किया हुआ रुपया वज़ीफ़े के रूप में पाकर आपने अपनी विद्वत्ता की सीमा बढ़ाई है। × × × यह कैसी कृतज्ञता है। यह कैसा प्रत्युपकार है! जिन लोगों की गाढ़ी कमाई के पैसे से आप सुशिक्षित और सुपण्डित बने बैठे हैं, उनको, तथा उनकी सन्तति को तो पढ़ने के लिए उनकी निज भाषा में ढूँढ़ने से भी दस-पाँच तक अच्छी पुस्तकें न मिलें; और आप मेज़-कुर्सी लगाये, मूँछें ऐंठते, प्लेटो, पिथागोरस और सेनेका, शंकर, जैमिनि और श्रीहर्ष के दार्शनिक विचारों की समालोचना सात समुद्र पार की भाषा में लिखें। × × × क्या केवल अँगरेज़ीदाँ हज़रत ही इस देश में रहते हैं! क्या ये स्कूल, कालेज और वज़ीफ़े उन्हीं के घर के रुपये से चलते हैं और मिलते हैं?
>
> हमारी यह शिकायत × × × शास्त्री से ही नहीं उत्तरी भारत के अन्यान्य अँगरेज़ीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया कीजिए। लिखना नहीं आता तो सीखिए। अपना कर्त्तव्य पालन कीजिए।"
>
> (सरस्वती, सितंबर १९१४)

ब्रज-भाषा के हिमायतियों की कटूक्ति बौछारों से हिन्दी के उदीयमान कवि निराश हो जाते थे और कभी-कभी मैदान छोड़ भागने को तैयार हो जाते थे। इसलिए अपने रंगरूटों को वे समय समय पर प्रोत्साहित भी करते थे और ब्रज-भाषा पर भी करारी चोट पहुँचाते थे। यह उन्हीं के प्रोत्साहन का प्रताप था कि ब्रज-भाषा की बेल उखाड़कर बोलचाल की हिन्दी का बाग़ साफ़ हो सका और उसमें गुप्त और गोपालशरण, प्रसाद और पन्त जैसे रसीले पौधे पनप सके।

> "जब से सरस्वती ने बोलचाल की भाषा में की गई कविता को आश्रय दिया, तब से इसका प्रचार बढ़ने लगा। पन्द्रह वर्ष पहले शायद ही कभी किसी अख़बार या मासिक पत्र में ऐसी कविता निकलती रही हो। पर अब आप किसी भी अख़बार या मासिक पुस्तक को उठा लीजिए, प्रायः सर्वत्र ही आपको बोलचाल की भाषा में कविता मिलेगी। ब्रज-भाषा में लिखी गई कविता बहुत कम देखने को मिलेगी। इससे सिद्ध है कि समय ऐसी ही कविता माँगता है। गद्य-पद्य की भाषा होनी भी एक ही चाहिए।

बोलचाल की भाषा ही लोगों की समझ में शीघ्र आती है। इसी से लोग उसे पसन्द भी करते हैं। ब्रज-भाषा की कविता के महत्त्व के गीत अलापने का समय चला गया। अब वह फिर नहीं आने का। ब्रज की बोली में कविता न करने या उस बोली के न जाननेवाले चाहे लंगूर बनाये जायँ, चाहे गीदड़ बनाये जायें। इससे बोलचाल की भाषा की कविता का प्रवाह बन्द न होगा। अतएव बोलचाल की हिन्दी में कविता करनेवालों को इस तरह के निन्दावाद की कुछ भी परवा न करके गुणवती कविता लिखने में चुपचाप लगे रहना चाहिए। भविष्य निश्चित है और वह उनके हाथ में है।"

(सरस्वती, अप्रैल १९१४)

हिन्दी में 'बँटवारा' उन्हें असह्य था क्योंकि हिन्दी के विरोधी इसी के सहारे हिन्दी-भाषियों की संख्या कम दिखलाने का प्रयत्न करते थे। ऐसी परिस्थिति आने पर वह 'हिन्दी के विभाजकों' की कैसी बुरी तरह ख़बर लेते थे—

"गवर्नमेंट के कर्मचारियों ने हमारी भाषा को खंड-खंड करके उसकी व्यापकता के भाव को कम करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने उसके पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी आदि कई विभाग कर डाले हैं। × × साहब ने अपनी रिपोर्ट में बड़ौदा राज्य में हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू ये तीन भाषायें अलग-अलग दिखाई हैं। हिन्दुस्तानी और उर्दू ये दो जुदा भाषायें कौन सी हैं, यह भगवान् ही जानें, या जानें साहब, जिन्होंने यह रिपोर्ट लिखी है।"

(सरस्वती, जुलाई १९१४)

हिन्दी की रूपरेखा के सम्बन्ध में अपनी पालिसी द्विवेदी जी किस सुलझे हुए ढंग से डिक्टेट करते हैं :—

"हिन्दी में आप लोग यदि कुछ लिखने की दया करें तो भाषा ऐसी लिखी जाय जिसे केवल हिन्दी जाननेवाले भी सहज ही समझ जायँ। 'तारीख़ मुअय्यना' 'इस्तेहक़ाक़' और 'मुतसव्विर' जैसे महा-क्लिष्ट शब्द हिन्दी के जामे में रखना भोली जनता के सामने लोहे के चने रखना है। इसी प्रकार संस्कृत और अँगरेज़ी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रकट हो, पर उससे ज्ञान और आनन्द दान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता।"

(सरस्वती, जुलाई १९१४)

यहाँ तक तो हुई क्षेत्र और मार्ग-परिष्कार-सम्बन्धी बात; द्विवेदी जी ने इस सम्बन्ध में जो कुछ और जितना अधिक किया है वह सर्वविदित ही है और अधिक उद्धरणों की अपेक्षा नहीं रखता। अब हम उनके कौशल की परीक्षा दूसरी कसौटी पर करना चाहते हैं। द्विवेदी जी को हिन्दी के परिमार्जन का एक-मात्र श्रेय देनेवाले भी अक्सर यह समझने की ग़लती कर जाते हैं कि द्विवेदी जी ने सिर्फ़ भाषा का व्याकरणसम्मत एक रूप बना दिया, जिसमें उसका रूप निश्चित होगया और उसकी व्यंजना-शक्ति बढ़ गई, फलतः उसमें आगे चलकर विभिन्न शैलियों का विकास हो सका। पर वे इतना समझने का कष्ट नहीं करते कि द्विवेदी जी की कुछ अपनी भी कला है।

जो गद्य का अपना अधिकृत क्षेत्र है, उसमें तो द्विवेदी जी का कौशल अद्वितीय ही है। उनका वाक्य-विन्यास ऐसा विलक्षण होता है, कि उसमें प्रयुक्त प्रत्येक शब्द अपना अनुरूप अर्थ रखता है। फलतः प्रत्येक वाक्यांश सजीव और अर्थपूर्ण होता है। हलके या भारी शब्दों और लम्बे लम्बे या छोटे छोटे वाक्यांशों की यथावश्यक अवतारणा उनके वर्णित विषय को पूर्णतया प्रकाश में ला देती है। विषय कैसा ही क्लिष्ट, रूखा और दुर्बोधगम्य क्यों न हो, द्विवेदी जी का हाथ लगते ही हस्तामलक बन जाता है। उदाहरण के लिए अध्यात्मविद्या, भाषाविज्ञान, शिक्षा, सम्पत्तिशास्त्र और ऐसे ही अनेक विषयों पर लिखे गये उनके सैकड़ों लेखों व पुस्तकों का नाम लिया जा सकता है जिनको पढ़कर उन दुर्गम क्षेत्रों में भी साधारण पाठक का यथावश्यक प्रवेश हो जाता है।

पर द्विवेदी जी की कला का अनोखा दर्शन हमें उनके व्यंग्यों, शब्दचित्रों और भावपूर्ण स्थलों पर होता है। उनका व्यंग्य बड़ा प्रभावशाली है। वह कहीं पर सीधा और बड़ा तीखा होता है और कहीं छिपा हुआ और मधुर। जिसे लक्ष्य बना लिया उसे भागने का अवसर देना उनकी शान से बाहर की बात है। आवश्यकतानुसार वे दंश से भी काम लेते हैं। एक दंश चुभो दिया, उसका असर देखने को कुछ देर ठहर गये। फिर दंश चलाया, फिर

रुक गये। फिर अपनी सफ़ाई देते हुए अलग होगये। खेला खेला कर मारने की उनकी यह शैली हिन्दी में बेजोड़ है, और उनकी प्रतिकूल आलोचनाओं में इसका बहुत बार दर्शन होता है। पर ऐसा वे अत्यन्त क्षुब्ध होने पर ही करते थे। उनके इस दंश से घबड़ाकर बड़े-बड़े पंडित भी आसन छोड़कर, त्राहि त्राहि करते हुए, भाग खड़े होते थे।

सीधा प्रहार करते समय द्विवेदी जी बड़े धैर्य से काम लेते हैं। पहले वे अपने शिकार के आस पास का मैदान साफ़ करके उसकी परिस्थिति स्पष्ट कर देते हैं, फिर अपना अचूक प्रहार करते हैं। जिन्हें द्विवेदी जी की शैली का परिचय है वे ऐसे स्थलों पर शब्दों की शाहख़र्ची देखकर पहले ही से अन्दाज़ा लगा लेते हैं कि अब प्रहार होने ही वाला है। ऐसे स्थलों के दो-एक नमूने यहाँ देते हैं—

योरप के पंडितों की अध्यात्मविद्या पर प्रहार करते समय वे ऐसे ही ढंग से मैदान साफ़ करते हैं—

"कोई ४० वर्ष हुए, बम्बई में हौवर्ड नाम के एक साहब शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर थे। भोरघाट में रेल लड़ जाने से आपकी जान गई। आपने एक प्राइमर बनाई थी। वह बहुत समय तक स्कूलों में जारी रही। उसका एक वाक्य हमें अब तक याद है। वह था—"ए काउ हैज़ नो सोल" अर्थात् गाय के आत्मा नहीं होती। परन्तु ये बातें बहुत पुरानी होगईं। अब तो हौवर्ड साहब के भाई बन्द भी पशुओं में आत्मा का होना क़बूल करते हैं, मनुष्यों की तो कुछ बात ही नहीं।......।"

(मुक्तात्माओं से बातचीत शीर्षक लेख)

ऐसे ही एक और वर्णन के सिलसिले में आप परिस्थिति साफ़ कर रहे हैं—

"कोई ३५ वर्ष हुए, हम झाँसी में जनरल ट्राफ़िक मैनेजर के दफ़्तर में मुलाज़िम थे। जो काम हम करते थे, उसी में मदद देने के लिए एक और महाशय हमारी मातहती में थे। उनका नाम था विद्याप्रसाद। वे कायस्थ थे। उम्र कोई ३० साल की रही होगी। शरीर से दुर्बल थे। आगरे के रहने-वाले थे।"

('मुक्तात्माओं से बात-चीत' लेख)

उपर्युक्त अवतरण में न केवल लक्ष्य को सामने टिकाने की चेष्टा मात्र है प्रत्युत आपने लक्ष्य का शब्दचित्र भी बना दिया है।

द्विवेदी जी के दंशशैली के नमूने इस प्रकार के हैं—"कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बोलपुरवाले, अपने शान्ति-निकेतन में ईश्वर की स्तुति और प्रार्थना भी समय समय पर किया करते हैं। और अनतिविस्तृत उपदेश भी दिया करते हैं। उनके उन उपदेश-कुसुमों के मधुप "पुरोसिटी" के ४८३ "शनवार पेठ" में कोई सरस्वतीतनय निवास करते हैं। इन उपदेशों का प्रचार करने के लिए आपने भी एक कचहरी खोल दी है। उसका नाम है—"शान्ति निकेतन कचेरी" जैसे—बोलपुर के शान्ति-निकेतन का दफ़्तर उठकर पुरोसिटी चला गया हो।

सरस्वतीतनय जी ने अपनी माला के दो भाग समालोचनार्थ भेजे हैं और लिखा है कि जो "अभिप्राय" देना, "उत्तेजन" पर देना और "विस्तृत" भी देना। यही नहीं, उस अभिप्राय को "स्मरण-पूर्वक" उनके पास भेज भी देना। अभी आपकी आशायें ख़तम नहीं हुईं। आपका यह भी हुक्म है कि आपके पास हिन्दी की नामी पत्रिकायें जाती हैं। इससे सरस्वती को भी भेजा करना। आपकी एक आज्ञा रही गई। वह यह है कि "अभिप्राय" अगले ही अंक में प्रकाशित करना और प्रकाशक का नाम और पता देना न भूल जाना।

नहीं, साहब, क्या ऐसा भी कहीं हो सकता है? भला नाम और पता भूल जायगा तो माला बिकेगी कैसे?........"

(सरस्वती, जनवरी १९२४)

दंश शैली में लेखक के शब्दों द्वारा उसे बनाना और स्वयं उसके विषय में केवल निर्देशक शब्द कहना द्विवेदी जी को बहुत प्रिय था। उस शैली का प्रयोग वे प्रायः पाण्डित्याभिमानी और अहंमन्य लेखकों की ख़बर लेने में किया करते थे। यह भी उनकी पेटेंट शैली का एक प्रकार था जो पंडित पद्मसिंह शर्मा के ढंग से मिलता-जुलता होने पर भी उससे कहीं अधिक शिष्ट तथा चोटीला था।

इसी शैली में "भाषापद्यव्याकरण" की आलोचना करते हुए आप लिखते हैं—

इसे—"पण्डित × × पांडेय, आचार्य, हेड पण्डित, गवर्नमेंट हाई स्कूल, × × ने रचकर प्रकाशित किया" है। इसके—"सर्वाधिकार रक्षित" हैं।

इस व्याकरण के कर्त्ता आचार्य जी व्याकरण को भी पद्य में लिखकर वे उसे लड़कों से रटाना चाहते हैं। और पद्य भी कैसा, ज़रा देखिए तो—

"पाण्डेय कुल जन्म भयो × × × दत्तप्रधान।
पण्डित पुत्र ज्येष्ठ भयो × × × दत्त विद्वान॥
पदवी आचार्य पाई संस्कृत पढ़ी प्रधान।
सेवा करी सरकार की पण्डित भये प्रधान॥
पाठशाला प्रयाग में गवर्नमेंट विख्यात।
संस्कृत की शिक्षा करैं पण्डितन मैं विख्यात॥
सज्जन विशेष जानि कर पइहैं तोष अगाध।
दुर्जन विषय न जानि कर हँसिहैं अज्ञ अगाध"॥

हाँ, महाराज! आप विद्वान्, आप आचार्य, आप प्रधान पंडित, आप विख्यात पंडित और हम अगाध, अज्ञ और दुर्जन, क्योंकि हमें आपका यह व्याकरण तोषप्रद नहीं। "सरकार की सेवा करते करते" और "प्रधानतया संस्कृत पढ़ते-पढ़ाते आपने अज्ञता और दुर्जनता की अच्छी पहचान बताई। आपकी संस्कृतज्ञ लेखनी सचमुच ही विलक्षणताओं की कामधेनु है।"

(सरस्वती, अगस्त १९१३)

धार्मिक खंडन-मंडन-सम्बन्धी पुस्तकों की आलोचना करते समय आप प्रायः उक्त शैली प्रयोग करते हैं। कुछ नमूने देखिए—

"आर्य-समाज की कृपा से सनातनधर्मियों में भी अनेक संरक्षक उत्पन्न हो गये हैं। शास्त्रार्थ करना, लेक्चर देना और ज़रूरत पड़ने पर कीचड़ उछालना भी ये लोग ख़ूब सीख गये हैं। कानपुर ज़िले के × × ग्राम में × × × राम शास्त्री नाम के एक महोपदेशक हैं। "आर्य-समाजियों के महामोह-निवारणार्थ" ईश्वरअर्थ और शास्त्रविचार में रत हैं। और सबसे बड़ी बात यह कि अपने प्रतिपक्षी समाजियों की तरह आप भी बड़े मधुरभाषी हैं। "साइंस" के भी आप उत्कट ज्ञाता मालूम होते हैं, क्योंकि आपने लिखा है कि—"चन्द्रमा बिलकुल बूढ़ा हो गया है। वह ज़्यादा-से-ज़्यादा पाँच सौ वर्ष तक काम दे सकेगा।" आपकी राय है—"चैतन्यता (!) से ईश्वर-सिद्धि पुष्ट है, अकाट्य है, अतएव मान्य है"। ऐसे विद्वान् और ऐसे संस्कृतज्ञ के तर्कों और सिद्धान्तों पर हम जैसे अल्पज्ञ क्या कह सकते हैं! शास्त्री जी ने पहली पुस्तक के ८० पृष्ठ लिखकर, प्रस्तुत विषय का उपसंहार किये बिना ही, उसकी समाप्ति कर दी है, और टाइटलपेज लगाकर उसको अलग पुस्तक बना डाली है। दूसरी पुस्तक का आरम्भ बिना कुछ कहे सुने या भूमिका लिखे, फिर ८१ वें पृष्ठ से किया है। इसका कारण समझ में नहीं आया। आज-कल तो इस तरह पुस्तकें लिखी नहीं जातीं। वेदों के ज़माने में लिखी जाती रही हों तो मालूम नहीं!"

× × × ×

पर व्यक्तिगत कटाक्ष करते समय आप व्यंजना से अधिक सहायता लेते हैं। स्पष्ट है कि इस शैली से प्रहार करने में वितण्डा बढ़ने की संभावना कम रहती है और चोट भी ठीक निशाने पर बैठती है—इस शैली के नमूने देखिए—

"खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्ट—जिस खोज की यह रिपोर्ट है, उसके सुपरिंटेंडेंट थे श्रीयुत पंडित श्यामविहारी मिश्र, एम० ए०। पर काम था बहुत बड़ा; अकेले आपसे न हो सकता था। इस कारण आपके छोटे भाई श्रीयुत शुकदेव बिहारी मिश्र, बी० ए०, आपके सहायक हो गये थे। अर्थात् वे खोज के असिस्टेंट सुपरिन्टेंडेंट थे। इन दो-दो सुपरिन्टेंडेंटों ने मिलकर जो रिपोर्ट लिखी है, उसकी पृष्ठसंख्या ० है। हाँ, आरम्भ में एक पृष्ठ की एक प्रस्तावना भी आप लोगों की लिखी हुई है।"

(सरस्वती, नवम्बर १९२४)

× × × ऋग्वेद पर व्याख्यान—यह संस्कृताध्यापक पण्डित भगवद्दत्त बी० ए० की कृति है। इसमें निष्कर्ष यह निकाला गया है कि "वेद मानवरचना से परे हैं। ऋषियों में प्रविष्ट हुई किसी और ही

वाणी ने उनकी रचना की है। उस वाणी में होनेवाले वेद मनुष्यरचित कैसे हो सकते हैं।" मतलब यह कि जैसे व्याख्याता जी भगवद्दत्त हैं, वैसे ही उनके वेद भी भगवद्दत्त हैं।

(सरस्वती; अप्रैल १९२४)

इसमें भगवद्दत्त शब्द की श्लेष-मूलक व्यञ्जना-द्वारा आपने विपक्ष का किस कौशल के साथ खंडन कर दिया। वेदों में भी उतनी ही अपौरुषेयता है जितनी किसी मनुष्य में है। केवल एक शब्द से कितना बड़ा काम ले लिया और वह भी विवाद का अवसर न देते हुए।

ये तो हुए उनकी दंश शैली और सीधे प्रहार के नमूने, अब कुछ नमूने आड़े प्रहार के भी देखिए—

पागलों के मनोरञ्जन के लिए सरकार ने पागलख़ानों में जो-जो प्रबन्ध किये हैं उनका विस्तृत परिचय देते हुए अन्त में आप लिखते हैं—

"सरकार की हितैषणा और दीन-दयालुता की एक बात लिखना हम भूल ही गये। उसने पागलों के मनोरञ्जन के लिए भी बहुत से प्रबन्ध कर रखे हैं। पागलों के लिए पचीसी, शतरञ्ज और ताश खेलने के लिए वक़्त मुक़र्रर है। वे लोग फ़ुटबाल और टेनिस भी खेलते हैं। हर रविवार को ढोलक बजती है, मँजीरे की भी किट किट होती है और साथ ही दिल लुभानेवाला गाना भी होता है। जनाबेआली, रण्डियाँ भी कभी-कभी पागलख़ानों में छमाछम करती हुई पधराई जाती हैं। वे नाचते समय अपने हाव-भाव दिखाकर और गाना सुनाकर हर कक्षा के पागलों के दिमाग़ को ठिकाने लाने की चेष्टा करती हैं। पर एक बात की कमी है। पागलख़ानों में कुछ ग्रामोफ़ोन भी रहने चाहिए। उन पर बजाने के लिए और रेकार्डों के साथ एक रिकार्ड, पीछे से बजाने के लिए, यह भी रहना चाहिए—

राज करें अँगरेज़ सदा ही।"

(सरस्वती, आक्टोबर १९२७)

किसी विलायती डाक्टर ने आँसुओं की कीटाणु-नाशक शक्ति का पता लगाकर अनेक रोगों पर उसके सफल प्रयोगों का अनुभव किया। विलायती पत्रों ने भी उस आविष्कार का ख़ूब विज्ञापन किया। सामयिक बात थी और अनोखी भी थी, अतः द्विवेदी जी भी उसकी उपयोगिता की प्रशंसा कैसे न करते। पर आपकी प्रशंसा का ढङ्ग बड़ा चुटीला था। तारीफ़ के सिलसिले में आप लिखते हैं—

"ओषधियों में काम आने के लिए अभी जैसे बहुत से आदमी अपना रक्त बेचते हैं, वैसे ही रुवकड़ कुमारियाँ और कामिनियाँ घड़ों आँसू बेचा करेंगी। इससे उन्हें न कोई कष्ट होगा और न कोई हानि ही होगी। तुरह उठीं और रोकर आँसुओं से एक ग्लास भर दिया। महीने भर का नहीं तो हफ़्ते भर का ख़र्च ज़रा देर में निकल आया।" सचमुच यह आविष्कार बड़े काम का है। इससे तो हज़ारों की रोज़ी चल सकती है। (सरस्वती, जून १९२४)

पागलख़ानों की रिपोर्ट लिखते हुए आप लगे हाथ साहित्यिक-पागलपन पर भी फ़बती कस देते हैं, और वह भी इतने छिपे हुए ढंग से कि समझनेवाले उसे समझ जायँ पर ऐतराज़ करने का मौक़ा भी किसी को न मिले। शिष्ट भाषा में इतनी छिपी हुई और उच्च कोटि की फ़बती साहित्य में बहुत कम मिलती है। फिर भाषा भी इतनी लोचदार और मुलायम कि शिकायत की गुंजाइश ही नहीं।

"पागलख़ाने की रिपोर्ट देखकर हमें सहसा सतत-संग्राम-विजयी "राजा रामपालसिंह" की याद आ गई। आप पागलख़ाने को सदा "बावरालय" लिखा करते थे। किसी-किसी शब्द के सम्बन्ध में आपकी वर्णस्थापना-पद्धति भी विलक्षणता से ख़ाली न थी। आप "हिन्दोस्तान" और "हिन्दुस्थान" शब्द को या तो अशुद्ध समझते थे या वह उन्हें अप्रिय था। क्योंकि आपने अपने पत्र का नाम रक्खा था—"हिन्दोस्थान"। मालूम नहीं कि अरबी, फ़ारसी, तुर्की हिन्दी या संस्कृत—किस भाषा के व्याकरण के अनुसार आप उसे शुद्ध मानते थे। आपके स्वभाव में विचित्रतायें भी थीं। एक बार अपने निवास-स्थान के सामने कुछ विलायती सुअरों को चरते देखकर आपने कवियों को समस्या दी थी—"जिन शूकर न खावा तिन व्यर्थ जन्म पावा है।" (सरस्वती, जुलाई १९२४)

अन्त में द्विवेदी जी का बनाया हुआ एक शब्द-चित्र जो शुद्ध गद्य में रहते हुए भी सर्वांगपूर्ण और स्पष्ट बन पड़ा है—तथा एक भावोद्रेकमय वर्णन—जिसमें शुद्ध गद्य

रहते हुए भी पद्य से अधिक हृदय-ग्राहिता है—देकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

पण्डित मथुराप्रसाद जी के सम्बन्ध में आप लिखते हैं—

"खेद है हमको मिश्र जी का चित्र नहीं मिल सका। सुनते हैं, उन्होंने अपना चित्र तैयार ही नहीं कराया। न मिला न सही। पाठक, आप हमारे साथ, बनारस कालिज के हेडमास्टर के कमरे में एक मिनट के लिए चलिए और वहाँ एक बेंच पर ध्यानस्थ हो जाइए। दस बजने में कोई आधा घंटा बाक़ी है। इसी समय एक पालकी आती हुई देख पड़ी और वह कालेज के बरामदे में रख दी गई। पालकी दोनों तरफ़ से बन्द है। उसके एक तरफ़ का दरवाज़ा खुला। एक पुरुष उससे बाहर आया। उसके सिर पर बिलकुल पुरानी चाल की पगड़ी है; बदन में बिलकुल पुरानी चाल का बालाबर अँगरखा है; उस पर एक काला चोग़ा है; कन्धे पर चोग़े के ऊपर घड़ी किया हुआ, बिल्कुल पुरानी चाल का सफ़ेद दुपट्टा रक्खा है। मारकीन की धोती लम्बी लटक रही है। सिर और दाढ़ी के बाल मुँड़े हुए हैं। मूँछें बड़ी-बड़ी हैं। ओठ कुछ मोटे हैं। नाक और आँखें बड़ी हैं। शरीर-लता लम्बी पर मोटी नहीं है। रङ्ग साँवला है। ललाट पर सफ़ेद चन्दन की दो टिकलियाँ लगी हुई हैं। वह मूर्त्ति कमरे के भीतर आई और अपनी कुर्सी पर बैठ गई। अब तक, बिलकुल पुरानी चाल के उसके देशी जूते पालकी ही में थे। उन्हें एक चपरासी या दफ़्तरी उठा लाया और मेज़ के नीचे उसने रख दिया।"

(कोविद-कीर्तन)

अपने परम स्नेही मित्र पंडित बालकृष्ण भट्ट के देहावसान पर—ऐसे अवसर पर जब कि हृदयगत भावों को व्यक्त करना ही कठिन हो जाता है और फिर ऐसे कलापूर्ण ढंग से कि पाठक भी करुण-रस में ग़ोते लगाने लगे और मृतात्मा के साथ आत्मीयता अनुभव करने लगे, साथ ही गद्य की आत्मा भी विकृत न हो सके—आप लिखते हैं—

"भट्ट जी, तुम्हारे शरीर-त्याग का समाचार सुनकर बड़ी व्यथा हुई। उस व्यथा की इयत्ता हम किस प्रकार बतावें। हमारा कण्ठ रुँधा हुआ है; हमारे नेत्र साश्रु हैं; हमारा शरीर अवसन्न है। इलाहाबाद में तुम्हारे यहाँ जाने पर, यह जन तुम्हारे दर्शनों से बहुधा वंचित नहीं हुआ। अपने आने की सूचना भी, वह, प्रायः दो दिन पहले ही, तुम्हें देता रहा है। इसलिए कि तुम मकान पर ही मिलो और तुम्हारा गिलौरीदान भी भरा हुआ मिले। तुम्हारी इच्छा न रहते भी तुम्हारे पान हम तुम्हारे पानदान से निकाल कर खा गये! कितनी ही बार मिठाई और फल तुमसे बलवत् मँगवाकर हमने खाये। और भी न मालूम कितनी तकलीफ़ें तुम्हें दीं! तुम्हें खिजाने में, तुम्हें चिढ़ाने में, तुम्हारे मुख से निकले हुए निर्भर्त्सना वाक्य सुनने में सुख था। इसी से तुमको हम दिक़ करते थे—"बाला चिरं चुम्बिता" की याद दिलाकर। × × भट्ट जी, अब वे सरस कथायें और पुराने कवियों की वे हृदय-रञ्जिनी उक्तियाँ कहाँ सुनने को मिलेंगी! तुम तो चल दिये!"

(सरस्वती, अगस्त-१९१४)

उपर्युक्त अवतरण में दो अभिन्न हृदय साहित्यिकों के मिलन का कैसा सजीव चित्र बन पड़ा है। पाठक कुछ काल तक देश-काल का आवरण हटा इसे अपनी आँखों के सामने देखने लगता है। कुछ ही दूर पहुँचते पहुँचते वह दर्शक के स्थान से उठकर अभिनेता के पद पर स्वयं को प्रतिष्ठित कर लेता है और स्वयं को भी इस गोष्ठी का सदस्य मान बैठता है। अन्त में "तुम तो चल दिये" की अन्तक ताल-द्वारा उसका स्वप्न भंग हो जाता है तब इस कठोर सत्य पर विश्वास करने को उसका जी नहीं चाहता, और वह चित्र की शाश्वता में आस्था रखता हुआ अनन्तकाल तक उसे अपने हृदय-पटल पर रखना चाहता है। वैसा ही ताज़ा, वैसा ही सजीव, वैसा ही सत्य; कला के संसार में अतीत की सत्ता नहीं है। अतीत तो वहाँ असत्य का प्रतीक मात्र है। वहाँ तो चिरन्तन सत्य का ही एकच्छत्र साम्राज्य प्रतिष्ठित है, जिसमें देश, काल और पात्रों का पार्थक्य कुछ महत्ता नहीं रखता।

तस्माद् वात्स्यायन! यद् दृष्टं तदपूर्णं तच्छश्वच्चयापचयविषयम्। यन्मसि चिन्तितं तद्धि शाश्वतम्। तत्प्रेयम्, तत्प्रमेयम्। न तद् देशकालयोर्भूमिः। चिरन्तनम्॥

कवि से—

लेखक, श्रीयुत निरङ्कारदेव सेवक

कवि! कभी क्या सत्य तेरे स्वप्न का संसार होगा?

ज्ञात है तुझको यहाँ वर-
दान है अभिशाप भी है
हर्ष भी है, शोक भी है
पुण्य भी है, पाप भी है

हास्य-रोदन, मृत्यु-जीवन
वेदना-उल्लास, सुख दुख
शान्ति है, उत्क्रान्ति भी है
शीत भी है ताप भी है

हैं दुखों से हो सुखों का
कर यहाँ अनुमान लेते
स्वर्ग का तेरे मगर
आधार क्या उस पार होगा?

भूमि पर सौन्दर्य-रस का
प्राप्य पूर्ण विकास तेरा
रूप यौवन पर जगत के
पर नहीं विश्वास तेरा

भूषणों की कान्ति से
जगमग सुभग सौंदर्य बन में
कवि! कभी आता न दिखता
है मधुर मधुमास तेरा

सौम्य सुषमा की छबीली
अप्सरायें भी सजायें
किन्तु क्या अनुकूल तेरे
भाव के शृङ्गार होगा?

भूमिखंडों में किया
जब से धरातल को विभाजित
भावना विद्रोह की है
कर रहा मानव प्रचारित

शक्ति सीमाहीन अपनी
देश तक सीमित बनाकर
हैं विजित हँसते व्यथा लख
औ' बिलखते हैं पराजित

उच्च दीवारें गिराकर
मानवी बन्दी ग्रहों की
क्या कभी संसार सारा
एक हो परिवार होगा?

बुद्धि को भी संयमी होना
सिखाते हैं यहाँ पर
सभ्यता प्रतिबन्ध है
जग के लिए कितना भयंकर?

सर्वपूजित है विकृत-जीवन,
तिरस्कृत सत्य निश्छल
स्वच्छ वस्त्रों में छिपाना
चाहते हैं कालिमा नर

क्या कभी जीवन-तरंगिणि
मस्त मौजों में बहेगी
छल कपट से मुक्त पावन
प्रेम का व्यवहार होगा?

स्वर्ग पाने को क्षितिज के
पार जाना चाहता है
व्योम के नक्षत्र-चुनकर
भाग आना चाहता है

दूर हलचल से जगत की
शून्य निर्जन में कहीं पर
प्रेम औ' सौंदर्य की
नगरी बसाना चाहता है

आज दीवाना बना तू
फिर रहा जिसके लिए; उस
रूपसी-कवि-कल्पना से
क्या कभी अभिसार होगा?

स्वार्थ मिथ्या दम्भ का
अस्तित्व ही जग से मिटा दे
दुर्ग-दुर्जय द्रोह का
विध्वंस कर पल में गिरा दे

वासनामय हो रहा है
प्रेम का साम्राज्य सारा
चाहता है तू कि सबको
पुण्य-सा पावन बना दे

सह रही है दीनता
अन्याय की यम-यातनायें
लोक में तेरे सभी को
क्या न सम-अधिकार होगा?

स्वर्ग के सारे सुखों के
स्रोत भूतल पर बहेगा
जीवधारी जब न कोई
मुक्ति-बन्धन में रहेगा

भेदभावों को भुला एकात्म्य
का अनुभव जगत कर
पूर्ण नीरव शान्त भी
विद्रोह की न कथा कहेगा

एक ही ध्वनि में जगत के
स्वर सभी हो जायँगे लय
स्वप्न का संसार तेरा
क्या तभी साकार होगा?

मथुरा की ऐतिहासिकता और कला

लेखक, श्रीयुत सतीशचन्द्र काला

असंख्य टीलों के मध्य में स्थित वर्तमान मथुरा नगरी आज दिन भी सैकड़ों धर्मभीरुओं को पवित्र आचरण का सन्देश दे रही है। लेकिन उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण सन्देश हमें वहाँ के उजाड़ टीलों से मिलता है। किसी समय वे असंख्य लोगों के वासस्थान थे। पर आज वे शून्य हैं। मथुरा के गौरव, यश व सुखी दिनों पर प्रकाश डालने के लिए इन टीलों की खुदाई आवश्यक होगी।

[गुप्तकालीन बुद्ध]

युग बीत गये। मथुरा शूरसेनों की राजधानी थी। कालान्तर में शुंग, कुषाण व गुप्तवंशीय नरेशों ने मथुरा को अपने राज्यों का केन्द्र बनाया। सभी ने मथुरा की महत्ता को उच्चतर बनाने की चेष्टा की। बौद्ध, जैन व हिन्दू आदि धर्मों के अनुयायियों को राजाश्रय मिला। वे भी यहाँ बसे। ५वीं शताब्दी के बाद मथुरा का ह्रास अवनति की ओर अग्रसर होता है। और आज तो मथुरा की धूलभरी सड़कों पर नंगे, फटे कपड़े पहने भक्त लोगों के सिवा अन्य कोई नहीं देख पड़ता। प्राचीन काल में ऐसा नहीं था। उस काल के लोग विरक्त थे, किन्तु उनके चेहरों से प्रसन्नता टपकती थी।

प्रसिद्ध चीनी यात्री फ़ाह्यान ४०० ईसवी में मथुरा आया था। उस समय यमुना के दोनों ओर २० बौद्ध-विहार थे, जिनमें ३,००० भिक्षु रहते थे। लगभग ३ शताब्दियों के बाद दूसरा चीनी यात्री हुयेनसांग आया। उस समय इन विहारों में २,००० ही भिक्षु रह गये थे। इससे मालूम होता है कि हिन्दू-धर्म धीरे धीरे अपना प्रभाव फैला रहा था। संभवतः, बौद्ध-धर्म राजाओं की सहायता से उस समय वञ्चित हो रहा था।

कुषाणकालीन सम्राटों के काल में (सन् ७२ से १७८ ई०) मथुरा ने कला व कौशल में बड़ी उन्नति की। इन सम्राटों की राजधानी सुदूर गांधार प्रदेश (वर्तमान पेशावर) में थी। सुविधा के लिए उन्होंने मथुरा को अपना पूर्वी केन्द्र बनाया था। सम्राट् कनिष्क बौद्ध-धर्म का बड़ा प्रेमी था। किन्तु मथुरा को नवीन प्राण देने का श्रेय सम्राट् हुविष्क को दिया जाता है। मथुरा के पश्चिम में हुविष्क ने एक विशाल विहार बनवाया था। इस स्थान पर आज-कल कलक्टरी कचहरी स्थित है। इस स्थान में प्राप्त एक शिलालेख से विदित होता है कि मथुरा में 'कुंडसुख' नामक एक विहार भी था। कटरा केशवदेव में स्तूपों की कई वेष्टनियाँ मिली हैं। कनिंघम को इसी स्थान पर बुद्ध की एक मूर्ति प्राप्त हुई थी। इस मूर्ति के शिलालेख से विदित होता है कि यह मूर्ति शाक्य भिक्षु ने ३५६ ईसवी में यशविहार को प्रदान की थी। २७५ ईसवी के लगभग गुप्तवंशीय सम्राटों ने मथुरा को अपना केन्द्र बनाया। २-३ शताब्दियों तक मथुरा में

विद्वत्ता की बड़ी चहल-पहल रही। इस युग को इतिहासज्ञों ने 'स्वर्ण-युग' कहा है। कहते हैं, इस युग की तुलना केवल अकबरकालीन समय से की जा सकती है।

मथुरा में बौद्ध, जैन व हिन्दू-धर्म की सैकड़ों मूर्त्तियाँ मिली हैं, जो आजकल मथुरा के अजायबघर में सुरक्षित हैं। महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् बुद्ध की पूजा सांकेतिक चिह्नों के द्वारा होने लगी। ये चिह्न धर्म-चक्र, बोधिवृक्ष, बुद्ध की पगड़ी, स्तूप व भिक्षुपात्र थे। बुद्ध की मूर्त्ति सर्वप्रथम पहली शताब्दी में बनी। कुछ योरपीय विद्वानों का मत है कि गांधार प्रदेश में सबसे प्रथम बुद्ध-प्रतिमा बनी थी। किन्तु अनेक प्रमाणों द्वारा प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर आनंदकुमार स्वामी कहते हैं कि बुद्ध की सर्वप्रथम मूर्ति मथुरा में बनी थी। गांधार-कला का प्रभाव मथुरा-कला पर परिलक्षित होता है। किन्तु इतना होते हुए भी मथुरा की मूर्तियाँ आत्मा में विशुद्ध भारतीय हैं। गांधार के नीले पत्थर की एक मूर्ति मथुरा में मिली है। ऐसा मालूम होता है कि यह मूर्ति गांधार प्रांत से यहाँ आई है, क्योंकि मथुरा की सभी मूर्तियाँ सिकरी के लाल पत्थर की हैं। 'गुप्तकालीन बुद्ध' जिसका निर्माण पाँचवीं शताब्दी में हुआ था, मथुरा-अजायबघर की एक अमूल्य निधि है। कलाकार ने अपनी छेनी से बुद्ध के चेहरे के शांत भाव को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। 'बोधिसत्व' की मथुरा में कई मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें बड़े सुन्दर मुकुट, हार तथा कंठ-मालायें हैं।

मौर्य-काल के यक्ष की एक मूर्ति मथुरा के परखम नामक गाँव में प्राप्त हुई है। यह भारतीय मूर्तिकला की अग्रतम मूर्तियों में से एक है। डाक्टर वोगेल इसको कुबेर की मूर्ति बतलाते हैं। इसके शिलालेख से पता चलता है कि इसका निर्माण कुणिक के शिष्य भाद पुगारिन ने किया था। स्वर्गीय डाक्टर जायसवाल का मत है कि कुणिक अजातशत्रु का उपनाम था। मथुरा-संग्रहालय के क्यूरेटर श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने कुणिक शब्द को कई शिलालेखों में पाया है। उनके अनुसार कुणिक एक मूर्तिकार था। यह मूर्ति चारों ओर कोरी गई है।

अपने यश के दिनों में कुषाण सम्राटों का मथुरा में एक 'देवकुल' भी था। यह माट नामक स्थान में स्थित था। इस स्थान से शिरहीन दो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। एक मूर्ति सम्राट् कनिष्क (७८ से १०१ ई० तक) व दूसरी वीमा खडफसीस (१ से ४० ई० तक) की है। इन दोनों मूर्तियों पर शिलालेख हैं। ये मूर्तियाँ मनुष्य-शरीर के बराबर हैं। इनसे उन सम्राटों के गौरव व वीरता का पूर्ण आभास मिलता है।

[कुषाण सम्राट् कनिष्क]

मथुरा जैनों का भी किसी समय बहुत बड़ा केन्द्र था। संभव है जैन-मूर्तियों का भी निर्माण मथुरा से ही शुरू हुआ हो। डाक्टर फुहेर ने कंकाली टीले में कई वर्ष पूर्व खुदाई की थी। उस समय वहाँ जैन-तीर्थंकरों की कई मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। अभी तक सर्वप्रथम जैन-मूर्ति (संभवतः मौर्यकालीन) स्वर्गीय डाक्टर जायसवाल को बाँकीपुर में मिली थी। मथुरा की जैन-मूर्तियाँ, कला की दृष्टि से बहुत उच्च नहीं ठहरती हैं। सूक्ष्मता व सुकुमारता का इन मूर्तियों में लेश तक नहीं है। अगणित जैन-

[परखम यक्ष]

मूर्तियों को देखकर मालूम होता है कि यहाँ जैन लोगों के कई विहार थे।

भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मथुरा ही थी। वैष्णव-धर्म का भारतीय संस्कृति व साहित्य पर कितना प्रभाव पड़ा है, यह सबको विदित है। आश्चर्य है कि श्रीकृष्ण के जीवन-सम्बन्धी घटनाओं की केवल एक प्राचीन मूर्ति मथुरा में प्राप्त हुई है। इस मूर्ति में बालक श्रीकृष्ण को वसुदेव यमुना के पार उतार रहे हैं। हिंदू-देवी-देवताओं की असंख्य मूर्तियाँ मथुरा में निकली हैं। कुषाण-काल में मथुरा में १५ प्रकार के देवताओं की मूर्तियों का निर्माण हुआ था, किन्तु गुप्त-काल में इन देवताओं की संख्या बढ़कर २४ तक हो गई थी। मथुरा के अजायबघर में इस समय ब्रह्मा की तीन अति सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। ये ब्रह्मा की त्रिमुखी मूर्त्तियाँ हैं। बाद में चार चतुर्मुखी मूर्त्तियों का निर्माण हुआ था। विष्णु-पूजा का मथुरा में पहली शताब्दी में बड़ा प्रचलन था। कटरा केशवदेव में विष्णु का एक विशाल मंदिर था। शिव की कई सुन्दर (विशेषकर गुप्तकालीन) मूर्त्तियाँ मथुरा के कई मंदिरों में अभी तक पूजी जाती हैं। ऐसा विदित होता है कि हिन्दू मूर्त्तियों का भी आदि-निर्माण-स्थान मथुरा ही है।

उक्त वेष्टनियों पर यक्षिणियों की जो मूर्त्तियाँ हैं वे बड़ी सुन्दर हैं। उनकी महत्ता के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि ये रक्षक का काम करती हैं और कुछ कहते हैं कि इनका सम्बन्ध 'उत्पत्ति' से है। ये मूर्त्तियाँ प्रायः नग्न हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषणों से अलंकृत हैं। भूतेश्वर में प्राप्त वेष्टनियों की मूर्त्तियाँ जिनका निर्माण कुषाणकाल में हुआ था, भाव-भंगी व शारीरिक लालित्य-प्रदर्शन के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

[गंधार-कला में स्त्री-मूर्ति]

शुंगकाल में यक्षिणियों का अनूठा चित्रण हुआ था। भारत की यक्षिणियाँ तो भारतीय कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। मथुरा-संग्रहालय में रक्खी गुह्यक पर सवार यक्षिणी बड़ी मनोहर है। यक्षिणी दोनों हाथों से अपना कमरबंद खोल रही है।

कला में कलाकार की सूझ तथा कल्पना का झीना आवरण रहता है। पाश्चात्य देशों की कला में यह गुण बहुत कम मात्रा में है। भारतीय कलाकार 'साधक' कहे जाते हैं। वे प्रत्येक वस्तु आदर्श भावनाओं से चित्रित करते हैं। कुषाण और गुप्तकालीन कलाकारों ने भी मीठे स्वप्न देखे थे। सभी महान् कलाकारों की तरह उन्होंने भी कल्पना-क्षेत्र में आश्रय लिया था। फूल, पत्ती, वृक्ष, पशु, पक्षी सभी को कलाकारों ने अपनी कल्पना-शक्ति से चित्रित किया है। वे यथार्थवादी चित्रण से बहुत दूर हैं। कुछ शेरों की पूंछ मछलियों की तरह व कुछ शेर पंखों-सहित चित्रित किये गये हैं। हारों को लेकर हवा में उड़ते हुए मनुष्य, बौनों तथा हंसों के मुख से निकलते हुए मुक्ताहार व पक्षियों की क्रीड़ा का चित्रण मथुरा की कला में बहुत सुन्दर हुआ है।

[माता और पुत्र]

[वेदिका-स्तम्भ पर नृत्य करती हुई स्त्री-मूर्ति]

प्रकृति तथा मनुष्य-जीवन की सुकुमार भावनाओं से भी ये कलाकार अनभिज्ञ न थे। प्रवेश-द्वार को फूल तथा बेलों से सुसज्जित करना वे जानते थे। अशोक व शाल वृक्ष मथुरा-कला में खूब आये हैं। नागराजी नामक मूर्त्ति के पीछे के भाग में अशोक वृक्ष पर गिलहरी को चढ़ते हुए देखा गया है। इसी प्रकार भिक्षुपात्र की कारीगरी व बेल देखते ही बनती है। एक मूर्त्ति में स्त्री के सिर पर सुन्दर पुष्प गूँथे गये हैं। स्नान के पश्चात् एक 'स्त्री तथा मुक्ता-लोभी हंस' नामक मूर्त्ति कलाकार की सूझ का अच्छा परिचय देती है। इसमें एक स्त्री स्नान के पश्चात् बाल सँवार रही है और उसके मौक्तिक-कमरबंद की ओर हंस अपनी चोंच बढ़ा रहा है। कुछ स्त्रियाँ अपने हाथों से शाल व अशोक वृक्ष की टहनियों को पकड़े हुए हैं और कुछ संगीत-वादन में मग्न दिखाई गई हैं। इन सब

मूर्त्तियों तथा अन्य कलात्मक वस्तुओं से उस काल की वेशभूषा, आभूषण व जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मिट्टी के खिलौनों (टेराकोट्टा) का प्राचीन भारत में बहुत प्रचार था। मोहें-जो-दड़ों की खुदाई में भी सैकड़ों खिलौने प्राप्त हुए हैं। मथुरा में प्राग्-मौर्य-युग से गुप्त-काल तक के खिलौने मिले हैं। इस कला के उत्थान और पतन को जानने के लिए मथुरा-अजायब-घर में सुरक्षित खिलौने बड़े काम के हैं। प्राग्-मौर्य-युग के खिलौने कुरूप हैं, किन्तु शुंग, कुषाण व गुप्त-काल के खिलौने इस कला के अच्छे उदाहरण हैं। शुंगकाल के बाद मूर्त्तियाँ ढाँचों से तैयार की जाती थीं। गुप्त-काल में खिलौनों का आकार बड़ा हो गया था। भीटा में प्राप्त कुछ खिलौनों की तुलना मथुरा के खिलौनों से की जा सकती है। खेद है कि मथुरा के कई खिलौने योरप के कई देशों में पहुँच गये हैं।

इनके अतिरिक्त मथुरा से अनेक नागमूर्त्तियाँ, द्वार-स्तंभ तथा कई उच्च वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। अपने अपने ढंग की वे वस्तुएँ एक ही हैं। मथुरा के जंगलों में तथा निकटवर्ती गाँवों में अभी हज़ारों वस्तुएँ पड़ी हैं। समय ने आज मथुरा के रूप को ही बदल दिया है। भारतवर्ष के अन्य किसी नगर को इतने सम्राटों तथा धर्मों के केंद्र होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। फिर भी कितने भारतीय ऐसे हैं जिन्हें कि मथुरा की महत्ता विदित है। इसे लोग आज भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि के ही कारण अधिकतर जानते हैं। मथुरा की महत्ता इसी में है कि इसको बाहर की कई संस्कृतियों ने प्रभावित करने की चेष्टा की। इसने उनकी संस्कृतियों को ठुकराया नहीं, वरन उन्हें अपनी भारतीय आत्मा में मिलाया। सम्राटों से संरक्षण पाकर यहाँ की कला खूब फूली-फली। सुदूर नगरों प्रयाग, काशी (सारनाथ), कौशांबी, बुद्ध गया व पाटलीपुत्र तक मथुरा से मूर्त्तियाँ भेजी जाती थीं। मथुरा के यश का वर्णन करते हुए हुयेनसांग लिखता है—"मथुरा में जब भक्तों के जुलूस निकलते थे, तब वातावरण सुगन्धित पदार्थों से शुद्ध किया जाता था। फूलों की इतनी वर्षा होती थी कि चन्द्र व सूर्य का प्रकाश होते हुए भी अँधेरा मालूम होता था"।

मथुरा का विनाश कैसे हुआ? अपनी कमज़ोरी से नहीं, वरन बाहरी हमलों के कारण। डाक्टर वोगेल का अनुमान है कि हूणों ने मथुरा पर हमला किया, वे लोग बौद्ध-धर्म के बड़े विरोधी थे; हुयेनसांग भी लिखता है कि हूणों का सरदार मिहिरकुल बौद्ध-धर्म का बड़ा ज़बर्दस्त विरोधी था। कुछ समय के पश्चात् यवनों ने भी मथुरा पर धावा किया। कटरा केशवदेव में दो बार हिन्दू मंदिर बने, किन्तु दोनों बार वे नष्ट किये गये। बाद को इसी स्थान पर औरङ्गज़ेब ने एक मसजिद बनाई। महमूद ग़ज़नवी भी २० दिन तक मथुरा में ठहरा था। इस बीच यहाँ के मंदिरों को उसने खूब लूटा और विध्वंस किया।

मथुरा-अजायब-घर जिसकी स्थापना १८७४ ईसवी में मि० ग्रौस व रायबहादुर पंडित राधाकृष्ण के परिश्रम से हुई थी, आज भारतवर्ष के प्रमुख अजायबघरों में गिना जाता है। इसकी प्रथम रूप-रेखा रायबहादुर श्री रामप्रसाद चन्दा ने की थी, किन्तु नये ढंग से इसकी सजावट का श्रेय इसके वर्तमान विद्वान् क्यूरेटर श्री वासुदेवशरण अग्रवाल को है।

आशा है, भविष्य में भारत-सरकार का पुरातत्त्व-विभाग मथुरा के टीलों की खुदाई कर भारतीय इतिहास पर नवीन प्रकाश डालेगा।

दुआ-बन्दगी

लेखक, श्रीयुत 'केवल'

'दुआ-बंदगी' सभ्य संसार में शिष्टाचार का एक प्रधान अंग है, पर उसका असामयिक और अत्यधिक प्रयोग उपहास अथवा झुंझलाहट का कारण भी बन जाता है। इसी विषय पर लेखक महोदय ने बड़े मनोरंजक ढंग से प्रकाश डाला है।

जब हम बीती हुई ज़िन्दगी पर एक सरसरी दृष्टि डालते हैं तो कुछ अनुभव रेत के टीलों की भाँति धुँधली स्मृतियों की भूमि से कुछ ऐसे उठे हुए प्रतीत होते हैं कि ध्यान उनकी तरफ़ अपने आप खिंच जाता है और वे एकदम इतने सार्थक और स्पष्ट हो जाते हैं कि मन उन्हें जीवित समझकर उनसे कल्लोलें करता हुआ किधर का किधर बहने लगता है। जब परसों डाकिये ने बड़े ढंग से सलाम किया और एक दवाइयों का सूचीपत्र दिया तब मुझे कुछ ऐसी ही घटनाओं की याद आगई। छुट्टी का दिन था, ९ बज चुके थे, बिस्तर हमारे साथ दमबाज़ी कर रहा था। बाहर निखरी हुई धूप रह-रह कर दिल को खींचती, इशारों से बुलाती, पर लिहाफ़ की मीठी लपेट, तकिये का आसन और वह चारपाई पर इधर से उधर करवट बदलने की आज़ादी बिस्तर से उठने न देती। छुट्टी के दिन सुस्ताने में कुछ ऐसा ही ख़ास मज़ा आता है जिसकी तुलना किसी घमंडी अफ़सर को नीचा दिखाने अथवा किसी वाहियात पाबन्दी को ठुकराने की खुशी से ही की जा सकती है। बिस्तर पर पड़े हुए हम अनोखी आज़ादी का अनुभव करते हैं। समझते हैं कि दुनिया की सारी शक्तियों, पाबन्दियों और ज़हमतों से हम सुरक्षित हैं। आख़िर हमारे पास कितना ज़बरदस्त हथियार है; हम चुटकी में सिर लिहाफ़ के अंदर ढक सकते हैं और फिर हमारा कोई क्या बिगाड़ सकता है! यह हमारे बचपन के विचारों का अवशेष है। जब हम मुँह ढक लेने पर किसी से नहीं डरते थे। अँधेरे से भी नहीं। दवाइयों का सूचीपत्र एक ओर फेंक हम इस आज़ादी का आनन्द लूटने लगे।

अचानक डाकिये के सलाम का ध्यान आया। बड़ा भला आदमी है। क्यों, सलाम से ही अनुमान कर लिया? उसको चाहिए था कि चिट्ठी देता और रास्ता लेता। क्या वह हमारा नौकर है। नौकर भी हो तो सलाम से मतलब? अपने काम से काम, न दुआ न सलाम। नहीं, वह हमारी इज़्ज़त करता है। हम मुस्कराये, थोड़े फूले, लिहाफ़ भी फैला, हमने उसे बड़े तपाक से फिर लपेटा। मन ने चुटकी भरी, बड़ी इज़्ज़त के क़ाबिल हो, कितने बड़े आदमी हो कि लोग सलाम करते हैं। हम अपने आप पर हँसे कि कितने घोंघाबसंत हैं हम, चले बड़प्पन की धाक जमाने—और अपने ही ऊपर। हाँ, तो लोग सलाम क्यों करते हैं? जब हम स्कूल में पढ़ते थे सलाम इज़्ज़त के लिए ही की जाती थी। यह ज़िक्र २० साल पहले का है जब योरप का महायुद्ध समाप्त हो चुका था। छुट्टी में गाँव में जाते थे तो जहाँ से हमारे गाँव की ज़मीन शुरू होती वहाँ से हम 'पाँ-लागन' की क़वायद शुरू कर देते थे। चमार, भंगी, लुहार, नाई, ब्राह्मण, क्षत्री, डाकिया, चौकीदार इसी तरह की जितनी भी श्रेणियाँ हैं, उनका अगर कोई भी प्रतिनिधि सामने आता, हम दोनों हाथों से—और अगर हाथ में सामान होता तो सिर झुकाकर—'पाँ-लागन' का शब्द दोहराते। घर पहुँचने पर मुहल्ले की छोटी-बड़ी, भली-बुरी सभी स्त्रियों को प्रणाम करना पड़ता। आशीर्वाद हमारे सिर पर मूसलाधार बरसते, कुछ हमारे कंधों को चूमतीं, कुछ केवल हाथ फेर कर ही रह जातीं। दूसरे दिन बाज़ार जाते तो रेशमी कुरता फटकार कर सब दुकानों पर खड़े होते, सबको 'पाँ-लागन' बजा लाते, कहीं एक-आध मिनट बैठ भी जाते। इस 'पाँ-लागन' में वात्सल्य था, सरल प्रेम था। प्रेम के राज्य में ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं होता। वह प्रजातंत्रवाद का यथार्थ व्यावहारिक रूप था। आज स्कूलों-कालिजों में पढ़ाये जाने पर भी और अख़बारों और लेक्चरबाज़ों के चिल्लाने पर भी वह मनोवृत्ति नहीं पनपने पाती, इसका ह्रास हो चुका है। उस 'पाँ-लागन' में प्रेम था, सम्मान था।

हाई स्कूल की परीक्षा पास कर चुकने पर लड़कों को

लेख पढ़ने और लेक्चर सुनने का शौक़ चर्राने लगता है। यह भूत हम पर भी सवार हुआ। एक लेक्चर में हमने 'पाँ-लागन'-प्रथा की कड़ी समालोचना सुनी—"इसमें दासत्व का भाव है, नमस्ते में एकता और भ्रातृत्व है।" ये शब्द पहले दिल में चुभे, फिर अटक गये। शहर में हम नमस्ते का भरसक प्रयोग करते थे। किसी ने हमारे सामने आने की धृष्टता की नहीं कि हमने ज़ोर से फटकारा नहीं—'नमस्ते महाराज'। गाँव में पहुँचकर इसे जारी करना चाहा, पर ख़ुद ही फीके पड़े। पर शायद बीज हमने ही बोया हो, दो बरस बाद 'पाँ-लागन' का स्थान 'नमस्ते' ने ले लिया। देहात की आत्मा का एक अंग कट गया।

कालिज में आये। दो-चार दिन नमस्ते की। लोगों ने श्रीमान् महाशय कहकर उल्लू बनाना शुरू किया, 'गुड मानिङ्ग' की आदत हो गई। दिन में कितनी बार एक ही प्रोफ़ेसर से हमने 'गुड मानिङ्ग' कही होगी, इसका कोई हिसाब नहीं। जितनी बार कालिज के जितने कोनों पर हम उनसे मिलते, अँगरेज़ी के यह दो शब्द अनायास मुँह से निकल पड़ते जिस तरह दो चींटियाँ मिलती हैं तो मुँह से मुँह जोड़कर आगे बढ़ती हैं। एक अँगरेज़ प्रोफ़ेसर तो देखते ही 'गुड मानिङ्ग' बोल उठते। हमने कई घमंडियों को देखा है कि आँखें गाड़ कर हमारी तरफ़ देखते रहते हैं, जब तक उन्हें सादर-प्रणाम न करो पहचानते तक नहीं। पर इस प्रोफ़ेसर से हमने कई बार मन ही मन में बाज़ी लगाई कि 'गुड मानिङ्ग' हम पहले करेंगे, लेकिन उनकी 'गुड मानिङ्ग' ने हमेशा हमें परास्त किया। वह थी उनके सद्भावों का परिणाम और उनके सद्गुणों की परिचायक।

* * * *

फिर याद आई नवाजिश अली साहब की। आप लखनवी ठाठ के नमूना थे। उन्हें देखकर विश्वास होने लगता था कि अगर लखनऊ में लोग चाँदनी में छाता लगाते हों, या वसंत की मंद मुस्कान में उनके पैर ज़मीन से उठ जाते हों तो तअज्जुब नहीं। आप लाल रूमी टोपी लगाये मुँह में पान भरे—जिसकी लाली सारे चेहरे पर छाई रहती, एक साफ़ सुथरी पैरगाड़ी पर अठखेलियाँ करते हुए आया करते थे।

'आदाब अर्ज़, जनाब'

'तस-स-स-लीमात, मिज़ाज शरीफ़'

'नवाज़िश साहब की नवाज़िश'

एक महाशय नेकीराम उर्दू से कोरे थे पर उन्हें चिकनी-चुपड़ी बातें सुनकर उर्दू छाँटने का शौक़ चर्राता और कहा करते 'आधा बरस'। उन्हें जवाब मिलता 'छः महीने'। इस दुआ-सलाम में थी ज़बान की क़वायद, शिष्टाचार, छेड़खानी, मसख़रापन, चोंचलापन। सम्मान और प्रेम की बू न थी।

* * *

शेख़ साहब थे अपने ढंग के एक ही आदमी; मतलब की बात करते और वह भी दो-चार शब्दों में। उन्होंने रूखेपन के लिए नाम पैदा कर रखा था। हमने 'सलाम, शेख़ साहब', 'आदाब अर्ज़, जनाब' 'गुड मानिङ्ग' आदि कई प्रकार से उन्हें मनाने और अपनाने की कोशिश की लेकिन वह बनावटी-सी मुस्कराहट होठों पर लाते और गिरा देते केवल 'अच्छा'। हम बड़े झुँझलाते। एक बार हम पूछ बैठे—"शेख़ साहब, मिज़ाज अच्छा है", जवाब मिला—"फिर"। शेख़ साहब को झूठे-सच्चे शिष्टाचार से सख़्त नफ़रत थी और हमें याद नहीं कि उन्होंने कभी किसी से हाथ मिलाया हो। बाद में रहस्य खुला कि शेख़ साहब की सगाई छूट गई थी और चूँकि अभी दूसरी जगह नहीं हुई थी इसलिए वे सारी दुनिया से नाराज़ थे।

* * * *

मिस्टर सतीश इनका पूरा अपवाद थे। "सुनाओ जी", हाथ में हाथ ले लेते और घंटों लिये रहते। हमेशा दिल की बात पूछते। एक बार मिलते समय ज़ोर से हाथ दबाते और झटकते और एक बार जाते समय। मिलनसार और ख़ुश-मिज़ाज थे। लोग कहते—सतीश यारों का यार है; अर्थात् मित्रता दिलोजान से निभानेवाला आदमी है। सतीश विलायत गया, स्टेशन पर दोस्तों की एक भीड़ थी। सतीश सबसे गले मिला, उसकी आँखें डबडबा आईं, पर चेहरे पर मधुर हँसी बनी रही। गाड़ी चली, सतीश आवेश में आकर गाड़ी के दरवाज़े से बोला—"फिर मिलेंगे अगर ख़ुदा लाया।" यों तो हमने मिशन स्कूल की लड़कियों को भी प्रेम दर्शाते देखा है। एक क़तार में एक दूसरे के कन्धे पर हाथ रखे बाईसिकल चलाती जाती हैं और चौक में पहुँचकर एक दूसरे से विदा होने पर दायें हाथ की दो पतली-सी उँगलियों को चूमकर हवा में

हिलाती हैं। लेकिन सतीश की भावुकता सच्ची और सरल थी। शिष्टाचार का वह भी दुश्मन था।

*　　*　　*　　*

'जयराम जी की साहब, जयराम जी की'।

रिवाड़ी का स्टेशन, दिसम्बर की सरदी, सुबह की सुनसान अँधेरी। जब गाड़ी के तंग तख़्ते पर हम दोहरे-तेहरे होकर लिहाफ़ में इस तरह सिमटे हुए थे जैसे डाक में पैकट यह 'जयराम जी की', का थप्पड़ बड़ा चुभा।

"बाबू ताराचन्द हैं क्या। ओ बाबू ताराचन्द जी कहाँ हो, जयराम जी की"।

हम आपे से बाहर होने से बाल-बाल बचे। साथ के तख़्ते से एक दबी हुई फटे हुए ढोल की-सी आवाज़ हुई—"जुम्मा काँटेवाला है कि, जयराम जी की" और साथ ही एक काला सा हाथ बढ़ा जो बाहर के आदमी ने दबाया।

"अच्छा जयराम जी की, गड्डी जाती है, जयराम जी की"।

"जयराम जी की, स्टेशन पर मेरी सबको जयराम जी की कह देना"।

एक चीख़—घड़ड़ड़—गाड़ी चली। "रींगस में सबको मेरी जयराम जी की कह देना"।

"अच्छा जयराम जी की, जयराम जी की"।

यह 'जयराम जी की' समस्या आज तक समझ नहीं आई। एक दफ़ा तो विचार हुआ कि उठकर पूछें कि इस काटती हुई सरदी में बार-बार की जयराम जी की से आपका क्या मतलब? पर अपना सारा साहस बटोरने पर भी लिहाफ़ से मुँह निकालने की हिम्मत न पड़ी। सरदी ने हमारी उत्कंठा का कंठ दबा दिया और एक महत्त्वपूर्ण रहस्य जानने से हमें हमेशा के लिए वंचित कर दिया। यह केवल तकिया-कलाम था या दिमाग़ी दिवालियेपन का विज्ञापन, इसकी खोज किसी फ़ुरसत के वक़्त करेंगे। हाँ, इतना अनुमान अवश्य होता है कि जब कहने को कुछ नहीं होता, जब दिमाग़ को कुछ नहीं सूझता और ज़बान कुछ कहने को चर्राती है, तो दुआ-बन्दगी का आश्रय लेती है। कुछ दार्शनिकों का विचार है कि इससे बात-चीत की भूमिका बाँधने में बड़ी सहायता मिलती है। पर हमारा अनुभव तो यह है कि कुछ भले आदमी रिवाड़ी के मुसाफ़िर की तरह भूमिका से आगे बढ़ ही नहीं पाते। शायद इनका जीवन एक बड़ी भूमिका ही है और यह केवल जीने की तैयारी में ही जीते हैं। ऐसे भविष्यवादी अगर वर्तमान को तुच्छ समझते हुए जीवन के आनन्द से वंचित रह जायँ तो क्या आश्चर्य है।

*　　*　　*　　*

"डैडी, हजामत का पानी ठंडा हो रहा है।" कल्लू ने विचारों का ताँता तोड़ दिया, हमें बिस्तर से अलग होना पड़ा।

मानव-हृदय

लेखक, श्रीयुत श्रीमन्नारायण अग्रवाल, एम० ए०

खोजता था ईश को, पर
　　पा गया मानव-हृदय को।
धर्म कहता है जिसे जग,
　　ईश की सत्ता बताता!
योग कहता है जिस जग,
　　ब्रह्म का गौरव दिखाता!
ढूँढ़ती आनन्द दुनिया,
　　धर्म को पागल बनी है

किन्तु दिल से प्रेम करना
　　कौन जग को है सिखाता?
भागकर मानव-जगत से,
　　अस्त-जीवन चाहता था,
पा गया पर हृदय में ही,
　　प्रेममय जीवन-उदय को!
खोजता था ईश को, पर
　　पा गया मानव-हृदय को।

भारतवर्ष में खेती की भूमि और उसकी समस्यायें

लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना, एम० ए०, एम० काम

खेती भारतवर्ष का प्रधान व्यवसाय है। बिना इसकी उन्नति किये यहाँ के किसानों की आर्थिक समस्यायें हल नहीं हो सकतीं। कांग्रेस-सरकार भी इस दशा में भरसक प्रयत्न कर रही है। पर कुछ परंपरागत प्रथाओं के कारण यहाँ की भूमि की दशा ऐसी होगई है कि वैज्ञानिक साधनों-द्वारा खेती करना भी यहाँ अधिक लाभदायक नहीं हो सकता। इन्हीं समस्याओं पर इस लेख में गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है।

भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है। यहाँ की जन-संख्या का तीन चौथाई भाग प्रत्यक्ष रूप से खेती पर ही निर्भर है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हमारे देश का सारा आर्थिक संगठन उसी दशा में सुव्यवस्थित रूप से चल सकता है जब कि देश के इस प्रमुख उद्योग की स्थिति पूर्णतः संतोषजनक हो। साथ ही हमसे यह भी छिपा नहीं है कि देश में कृषि की दशा कितनी असंतोषजनक है। आज सब ओर से यह प्रयत्न होता दिखलाई दे रहा है कि खेती की पैदावार और उसका लाभ किसी प्रकार बढ़ाया जाय। प्रान्तीय कृषि-विभाग खेती की उन्नति के लिए प्रयत्नशील है। अच्छे औज़ारों, अच्छे बैलों, अच्छे बीज और उत्तम खाद का प्रचार किया जा रहा है, और किसानों को वैज्ञानिक खेती की शिक्षा दी जा रही है। यह सारे कार्य प्रशंसनीय एवं आवश्यक हैं किन्तु अभी तक खेती की भूमि और उसकी समस्याओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। और जब तक कि भारतवर्ष में भूमि-संबंधी समस्याओं को हल नहीं कर दिया जाता तब तक स्थायी रूप से खेती की उन्नति होना सम्भव नहीं है।

आज भारतवर्ष में खेती की भूमि का अभाव है। भूमि पर जनसंख्या का इतना अधिक बोझ है कि वह उसे सहन नहीं कर सकती। खेती पर निर्भर रहनेवालों की संख्या पिछले सौ सालों से बढ़ती ही गई; इसका फल यह हुआ कि आज प्रत्येक किसान के पास साधारणतः बहुत कम भूमि रह गई है। वह भी छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी हुई होने के कारण इस योग्य नहीं रह गई है कि उस पर खेती करना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हो सके।

अब प्रश्न यह है कि आख़िर यह हुआ क्यों कर? क्या भारतवर्ष में उद्योग-धंधों का अभाव था जो कि सारे की सारी जनसंख्या खेती की ओर ही झुक पड़ी। बात यह नहीं थी। अँगरेज़ों के आने के समय भारतवर्ष औद्योगिक तथा कृषिप्रधान देश था। क्रमशः यहाँ विदेशियों का राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित होगया और उसी समय इँगलेंड में औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप इँगलेंड में बड़ी मात्रा में सम्पत्ति का उत्पादन आरम्भ हुआ। किन्तु इँगलेंड की औद्योगिक क्रान्ति की सफलता के लिए पूँजी और बाज़ार की आवश्यकता थी। इन दोनों आवश्यकताओं को पूरा करने का केवल एक ही साधन था—भारतवर्ष का आर्थिक शोषण करके पूँजी एकत्रित करना और भारतवर्ष के धंधों को नष्ट करके यहाँ के बाज़ार को अपने माल के लिए सुरक्षित कर लेना। अँगरेज़ शासकों को मातृभूमि इँगलेंड के उद्योग-धंधों की सफलता के लिए इस बात की ज़रूरत पड़ी कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन के कल-कारख़ानों के लिए कच्चा माल बराबर भेजता रहे और उसके बदले में वहाँ का तैयार माल ख़रीदता रहे। इसके लिए यह अनिवार्य था कि हिन्दुस्तान की अनेक कलापूर्ण दस्तकारियों और उद्योगधंधों का, जो ब्रिटिश मिलों में तैयार हुए माल का मुक़ाबिला करनेवाले थे, सर्वथा नाश कर दिया जाय। अपनी राजनैतिक सत्ता का अँगरेज़ी हुकूमत ने भारतवर्ष के आर्थिक शोषण के

लिए पूरा पूरा उपयोग किया—जैसा कि आज भी वह कर रही है—और ज़ुल्म और ज़बरदस्ती के साथ हिन्दुस्तान के प्राचीन उद्योगों (गृह-धंधों) का नाश कर दिया। इस प्रकार अपने पुराने पेशों से हाथ धो बैठने पर वे लोग, जो अब तक दस्तकारी और गृह-उद्योग में लगे हुए थे, अपने जीवननिर्वाह के लिए खेती करने के लिए विवश होगये। फल यह हुआ कि खेती करनेवालों की संख्या बराबर बढ़ने लगी और उनकी इस बाढ़ का प्रभाव कृषि पर बहुत बुरा पड़ा। जहाँ खेती करनेवालों की संख्या में बराबर वृद्धि होती रही है वहाँ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि भारतवर्ष में यह वृद्धि ऐसे समय में होती रही है जब कि संसार के अन्य देशों में खेती पर निर्भर रहनेवाली जनसंख्या का अन्य उद्योगों में लगे हुए लोगों से अनुपात बराबर घटता जा रहा था। अतः हमारे देश की कृषि-सुधार-संबंधी सबसे पहली आवश्यकता यह है कि धरती पर बढ़ते हुए इस भार को किसी न किसी प्रकार कम किया जाय और भविष्य के लिए इस बात का समुचित प्रबन्ध हो कि फिर से यह भार बढ़ने न पाये। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि आवश्यकता से अधिक खेती में लगे हुए लोगों को उससे पृथक् करके अन्य उद्योग-धंधों में लगाया जाय। इससे एक और महत्त्वपूर्ण बात स्पष्ट हो जाती है जिसके सम्बन्ध में प्रायः कुछ लोगों में भ्रमोत्पादक विचार भी उत्पन्न होगये हैं, वह यह कि भारतवर्ष में कृषि-सुधार का प्रश्न एकांगी नहीं है अतः वह स्वतंत्र रूप से हल भी नहीं हो सकता। देश में कृषि-सुधार के लिए उसका उद्योगीकरण भी इस दृष्टि से आवश्यक हो जाता है। जब तक हम नये नये उद्योग-धंधे स्थापित नहीं करते, पुराने गृह-उद्योगों का पुनः निर्माण करने का प्रयत्न नहीं करते, तब तक आवश्यकता से अधिक खेती में लगे हुए लोगों को वहाँ से हटाकर उनके जीवन-निर्वाह का अन्य कोई प्रबन्ध करना असम्भव-सा है। अतः देश के कृषिसुधार और औद्योगिक उन्नति का प्रश्न एक ही साथ सुलझाया जा सकता है। एक को दूसरे से पृथक रखने का प्रयत्न करना उस प्रश्न के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करने के बराबर है। इस सम्बन्ध में एक बात और है जिसको स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि भारतवर्ष केवल एक कृषिप्रधान देश है और भविष्य में भी वह सदा वैसा ही रहेगा। इस धारणा के पीछे कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। अँगरेज़ी साम्राज्य के आगमन के पहले और बाद तक भी भारतवर्ष अपने गृह-उद्योगों के लिए समस्त संसार में प्रसिद्ध था। इस विषय पर सन् १९१८ की औद्योगिक कमीशन की राय उल्लेखनीय है। "उस समय जब कि आधुनिक औद्योगिकवाद के उद्गम-स्थान पश्चिमी योरप में असभ्य लोग निवास करते थे, हिन्दुस्तान अपने शासकों के धन के लिए और अपने दस्तकारों की कार्यकुशलता और कलापूर्ण हुनर के लिए मशहूर था। और उसके बहुत बाद भी जब कि पश्चिम से व्यापारी लोग पहले-पहल भारतवर्ष में आये, यहाँ की औद्योगिक उन्नति किसी भी दशा में योरप के अधिक प्रगतिशील देशों से कम न थी।" अतः यह कहना कि भारतवर्ष कभी औद्योगिक देश रहा ही नहीं भ्रमपूर्ण है। इसमें सत्य का केवल इतना ही अंश है कि कृषि हिन्दुस्तान का सदा से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धन्धा रहा है और आगे भी रहेगा। हाँ, आधुनिक उद्योग-धन्धों का हिन्दुस्तान में (जैसा कि औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व संसार के अन्य देशों में भी था) पूर्ण अभाव था।

भूमि पर भार बढ़ने का दूसरा कारण देश की बढ़ती हुई जनसंख्या है। सन् १८७२ की मनुष्य-गणना के अनुसार भारतवर्ष की जनसंख्या बीस करोड़ के लगभग थी और १९४१ में विशेषज्ञों का अनुमान है कि वह चालीस करोड़ के लगभग पहुँच जायगी। इस बढ़ती हुई जनसंख्या को अपनी उदरपूर्ति के लिए खेती के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन ही नहीं था। गृह-उद्योग-धन्धे नष्ट हो चुके थे, आधुनिक उद्योग-धन्धे इस मन्द गति से स्थापित हुए कि आज भारतवर्ष के सारे कारख़ानों, खानों, चाय, क़हवा, रबर और सिनकोना के बाग़ीचों, रेलवे वर्कशापों तथा बन्दरगाहों में देश की केवल एक प्रतिशत जनसंख्या काम पा सकी है। इसका परिणाम यह हुआ कि खेती में आवश्यकता से अधिक लोग काम करने लगे। हमारे कृषि-सुधार का सबसे पहला और तात्त्विक ध्येय भूमि के बोझ को हलका करना है। यह तभी हो सकता है कि जब देश की कुछ जनसंख्या को उद्योग-धन्धों में काम मिले। इसके लिए हमें देश की औद्योगिक उन्नति करनी ही होगी। हाँ,

देश की परिस्थिति को देखते हुए हमारा औद्योगिक संगठन दूसरे देशों से भिन्न हो सकता है।

भूमि-सम्बन्धी इस मौलिक प्रश्न को समझ लेने के उपरान्त अब अन्य कृषि-सम्बन्धी समस्याओं का समझ लेना आवश्यक है।

भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों में बिखरा होना—खेती की सफलता के लिए किसान के पास इतनी ज़मीन का होना अत्यन्त आवश्यक है कि जिसमें उसकी सारी शक्ति और साधन के पूरा पूरा उपयोग होने की पूर्ण सम्भावना हो। भारतवर्ष में एक किसान के पास कम से कम एक जोड़ी बैल और एक हल तो होता ही है। इसके अतिरिक्त एक औसत कुटुम्ब में ५ व्यक्तियों का होना भी स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी हालत में खेती में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए एक किसान के पास इतनी ज़मीन होनी आवश्यक है जिसमें एक हल, एक जोड़ी बैल और कुटुम्ब के सब व्यक्तियों की मज़दूरी का पूरा-पूरा उपयोग हो सके। यदि ज़मीन इससे कम है तो किसान अपनी शक्ति और साधनों को पूरा पूरा काम में नहीं ला सकेगा और अन्य किसी कार्य के अभाव में वे व्यर्थ जावेंगे। इसी प्रकार यदि ज़मीन आवश्यकता से अधिक हुई तो उसके शक्ति और साधन उस भूमि की दृष्टि से कम रहेंगे। परिणाम यह होगा कि उस ज़मीन से पूरा पूरा लाभ उठाने के लिए जितनी शक्ति और साधन की आवश्यकता है उसमें कमी होने से उस ज़मीन का पूरा फ़ायदा नहीं लिया जा सकेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों ही दशाओं में, चाहे शक्ति और साधन की कमी हो, या ज़्यादती, अधिकतम उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः भूमि तथा खेती के अन्य साधनों में एक प्रकार से समन्वय होना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही किसी किसान के अधिकार में केवल उतनी भूमि का होना भर ही काफ़ी नहीं है जितनी कि उसकी शक्ति और साधन की दृष्टि से आवश्यक है, किन्तु ज़रूरत इस बात की भी है कि वह ज़मीन इकट्ठी हो, अलग अलग कई टुकड़ों में बँटी हुई न हो। उदाहरण-स्वरूप यदि हम यह मान लें कि एक जोड़ी बैल, एक हल और ५ व्यक्तियों के एक कुटुम्ब के लिए २० एकड़ ज़मीन का होना ज़रूरी है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि उपयुक्त शक्ति और साधनवाले किसान के अधिकार में यदि एक एक एकड़ के २० टुकड़े हैं तो वह अपनी शक्ति और साधन का पूर्णतया उपयोग कर सकेगा। इसके लिए तो २० एकड़ भूमि का एक ही टुकड़ा होना चाहिए।

अब इस सम्बन्ध में हम भारतवर्ष की कृषि की वर्तमान स्थिति पर विचार करेंगे। सबसे पहली बात तो यह है कि भारतीय किसान के सामने यह सवाल तो कभी आता ही नहीं है कि उसकी शक्ति और साधन को ध्यान में रखते हुए उसके पास भूमि अधिक है। हमारे कृषि-उद्योग के सामने तो समस्या यह है कि एक साधारण दर्जे के किसान के पास जो शक्ति और साधन मौजूद हैं उनके लिए भी उसके पास काफ़ी ज़मीन नहीं होती और जो कुछ ज़मीन होती है वह कई टुकड़ों में बँटी हुई होती है। अस्तु इस प्रश्न को दो पहलू से विचारना होगा (१) भूमि का कम मात्रा में होना और (२) उसका कई टुकड़ों में बँटा रहना।

भूमि के अपर्याप्त होने का कारण तो स्पष्ट ही है। भूमि पर निर्भर रहनेवालों की संख्या भयंकर वेग से बढ़ जाने के कारण प्रतिव्यक्ति के भाग में भूमि बहुत कम आती है। भारतवर्ष में प्रतिकिसान भूमि का औसत ढाई एकड़ है। परन्तु यह ढाई एकड़ भी एक चक में न होकर छोटे छोटे खण्डों में बँटी होती है। हमें इस बँटवारे के कारणों का ज़मीन के मालिकों और ज़मीन पर खेती करनेवालों दोनों की दृष्टियों से विचार करना होगा।

भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त होने के कारण—पहले हम भूमि के स्वामियों का प्रश्न लेते हैं। ऐसे लोगों का भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों में बाँटने का कारण यह है कि जब पाश्चात्य देशों की सभ्यता के प्रभाव से हिन्दुस्तान में भी व्यक्तिवाद का उदय हुआ तो संयुक्त परिवार की प्रथा नष्ट होने लगी। और इसी कारण भूमि का बँटवारा आवश्यक हो गया। किसान की मृत्यु के उपरान्त उसके यदि चार लड़के हुए तो उसकी सारी ज़मीन के चार छोटे छोटे भाग हो गये। हिन्दू और मुसलमानों के प्रचलित उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार इस प्रकार के बँटवारे को और भी प्रोत्साहन मिला। जन-संख्या के बढ़ने तथा उद्योग-धन्धों में बढ़ी हुई जन-संख्या के लिए काम न मिलने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को खेती पर निर्भर होना पड़ा। यदि एक घर में चार भाई हुए तो

चारों को खेती से ही गुज़र करनी पड़ी और इसलिए भी पिता की भूमि को चार भागों में बाँटना आवश्यक हो गया। व्यक्तिवाद की भावना ने सम्मिलित खेती के प्रश्न का तो अन्त ही कर दिया था। भूमि की माँग बढ़ जाने से भी उसका कई टुकड़ों में विभाजित होना अनिवार्य हो गया।

यदि पिता के पास दस दस एकड़ के चार खेत हों और उसके चार पुत्र एक एक खेत बाँट लें तब भी कुशल है। पर ऐसा नहीं होता। प्रत्येक पुत्र प्रत्येक खेत का एक चौथियाई टुकड़ा लेता है क्योंकि हर एक खेत की भूमि एक-सी नहीं होती। इस प्रकार चार खेतों के सोलह टुकड़े हो जाते हैं और हर एक भाई के पास दस एकड़ का एक टुकड़ा न रहकर ढाई ढाई एकड़ के चार छोटे छोटे खेत हो जाते हैं।

अभी तक हमने ज़मीन के छोटे छोटे टुकड़ों में बँट जाने और एक व्यक्ति के पास की भूमि का कई जगह बिखरे होने के कारणों का केवल ज़मीन पर हक़ रखनेवालों की दृष्टि से विचार किया है और इस सम्बन्धी आँकड़ों को देखने से मालूम होगा कि भारतवर्ष की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि बिहार और उड़ीसा में एक व्यक्ति की औसत भूमि आधा एकड़ से भी कम है, आसाम में औसत ३ एकड़ के लगभग है और संयुक्त-प्रान्त में लगभग २·५ एकड़। किन्तु स्थिति की विषमता का अन्दाज़ इतने से ही नहीं लगाया जा सकता, प्रत्येक व्यक्ति की भूमि कई कई टुकड़ों में भी बँटी हुई है। पूना-ज़िले के पींपला सौदागर नामक गाँव की जाँच का परिणाम डाक्टर मेन के शब्दों में इस प्रकार है—"१५६ व्यक्तियों के पास ७२६ ज़मीन के टुकड़े थे जिनमें से ४६३ तो एक एकड़ से कम और २११ चौथाई एकड़ से भी कम थे।"

इस प्रश्न पर हम ज़मीन पर हक़ रखनेवालों का विचार किये बिना यदि केवल खेती करनेवालों की दृष्टि से ही विचार करें तो स्थिति और भी भयंकर होगी और इसका कारण स्पष्ट है कि खेती करनेवालों की संख्या ज़मीन पर अधिकार रखनेवालों से अधिक होनी स्वाभाविक है। बहुत से लोग जिनके पास जीवन-निर्वाह का अन्य कोई साधन नहीं है खेती से अपना गुज़र चलाते हैं, और क्योंकि खेती के लिए उनको एक नहीं किन्तु कई व्यक्तियों से ज़मीन किराये पर लेनी होती है और एक व्यक्ति अपनी सारी ज़मीन एक ही आदमी को प्रायः खेती करने के लिए नहीं देता है, ज़मीन के छोटे छोटे टुकड़ों में बँटे रहने और बिखरे रहने की समस्या खेती करनेवालों की दृष्टि से और भी भयंकर हो जाती है। पंजाब में २२·५ प्रतिशत खेती करनेवालों के पास एक एकड़ या उससे भी कम भूमि है और डाक्टर मेन के अनुसार पींपला सौदागर के ६२ प्रतिशत किसानों की भूमि के टुकड़े एक एकड़ से भी कम हैं।

इस प्रकार भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित होने और एक व्यक्ति के पास की भूमि के कई हिस्सों में बँटे रहने का खेती पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। औसत किसान अपनी शक्ति और साधन का ऐसी हालत में उचित उपयोग नहीं कर सकता। एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े तक जाने में उसे बहुत सा समय नष्ट करना पड़ता है, और कई टुकड़े तो इतने छोटे होते हैं कि उन पर खेती की ही नहीं जा सकती। फिर ज़मीन के अलग अलग टुकड़ों में होने के कारण किसान हर एक टुकड़े की स्वयं देख-भाल भी नहीं कर सकता। पास के टुकड़े का दूसरा व्यक्ति मालिक होता है अतः बहुत सी ज़मीन मेड़ बनाने में व्यर्थ चली जाती है। कभी मेड़ के मामले में मुक़दमेबाज़ी तक की नौबत आ जाती है। कभी कभी सिँचाई के मामले में भी अड़चन होती है क्योंकि एक खेत से दूसरे खेत तक नाली ले जाने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति के खेत में से होकर जाना पड़ता है। फिर एक किसान के पास ज़मीन की मात्रा कम होने से किसान न क़ीमती औज़ार काम में ला सकता है और न अन्य कोई सुधार कर सकता है। छोटे छोटे खेतों में बाढ़ लगाने का ख़र्च भी नहीं किया जा सकता इस कारण बिना बाढ़ के खेती करनी होती है। इसका एक आवश्यक परिणाम यह होता है कि एक किसान अपने पास की भूमिवाले किसान से भिन्न और उन्नत तरीक़े से खेती नहीं कर सकता न उसमें बोई गई वस्तु से भिन्न चीज़ स्वयं पैदा कर सकता है, क्योंकि पास के खेत में से जानवरों के आने का और खेती को नष्ट करने का भय सदा लगा रहता है। ज़मीन की सतह में पानी होते हुए भी छोटे

छोटे खेत एक-एक कुआँ बनवाने का व्यय सहन नहीं कर सकते। सारांश यह है कि ज़मीन का छोटे छोटे टुकड़ों में बँटा होना और एक आदमी के पास की भूमि में बराबर कमी होते रहना, खेती की उन्नति में बहुत बाधक हैं और इसमें सुधार अत्यन्त ज़रूरी और पहली बात है।

भूमि की चकबन्दी और भावी विभाजन को रोकने के उपाय—यह तब ही सम्भव हो सकता है जब कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी ज़मीन (जो अभी अलग अलग टुकड़ों में विभाजित है) के बराबर ज़मीन का एक ही टुकड़ा दे दिया जाय और आगे से इस बात का उचित प्रबन्ध कर दिया जाय कि एक निश्चित क्षेत्रफल के बाद ज़मीन के टुकड़े नहीं किये जा सकेंगे। पहला प्रश्न ज़मीन के विभिन्न टुकड़ों की चकबन्दी का है, और दूसरा भविष्य में ज़मीन के बँटवारे को रोकने का। मौजूदा टुकड़ों की चकबन्दी दो प्रकार से सम्भव है, सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार, और क़ानून बनाकर। पहला तरीक़ा पंजाब में बहुत कुछ हद तक सफल हो सका है। वे लोग जो चकबन्दी के फ़ायदे को स्वीकार करते हैं और उसको कार्यरूप में परिणत करना चाहते हैं एक सहकारी-चकबन्दी-समिति के सदस्य हो जाते हैं। जब उनमें से अधिकांश या अन्य कोई निश्चित संख्या ज़मीन के फिर से बँटवारे के किसी विशेष तरीक़े को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर प्रत्येक सदस्य को उसकी अलग अलग टुकड़ों में बँटी हुई ज़मीन के बजाय एक ही टुकड़ा ज़मीन का दे दिया जाता है। ज़मीन का बँटवारा करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि नये बँटवारे के प्रति किसी भी व्यक्ति को कोई शिकायत न रहे। यह तरीक़ा उन्हीं लोगों के लिए काम में लाया जा सकता है जो कि स्वयं ज़मीन के मालिक हैं और मालिक नहीं तो उसमें कुछ स्वामित्व के हक़ तो अवश्य रखते हैं। इस प्रकार से चकबन्दी करने में कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं और प्रगति भी बहुत धीरे धीरे होती है। यदि एक भी व्यक्ति को किसी प्रकार की शिकायत होती है तो प्रायः सारा काम रुक जाता है, क्योंकि चाहे समिति के नियमानुसार बहुमत होने पर ही बँटवारा किया जा सकता हो, दरअसल कोशिश यही की जाती है कि सब लोगों की सलाह से ही चकबन्दी हो ताकि वह स्थायी हो सके। इसके अतिरिक्त चकबन्दी का यह तरीक़ा केवल एक व्यक्ति को उसके पास के अलग अलग ज़मीन के टुकड़ों की बजाय एक ही टुकड़ा देने के उद्देश्य से काम में लाया जाता है, किन्तु ज़मीन के होनेवाले बँटवारे को नहीं रोक सकता। इन सब बातों का विचार करते हुए अधिकतर मत इस पक्ष में है कि इस प्रकार के सुधार के लिए क़ानून की जब तक सहायता नहीं ली जायगी अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। पंजाब में प्रतिवर्ष लगभग एक लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी सहकारी समितियों के द्वारा हो जाती है, परन्तु वहाँ भी कार्यकर्ताओं को यह अनुभव होने लगा कि जब तक कि ऐसा क़ानून न बना दिया जाय कि—यदि तीन चौथियाई सदस्य चकबन्दी की योजना को स्वीकार कर लेंगे तो शेष को उसे स्वीकार करना ही होगा—तब तक चकबन्दी आन्दोलन अधिक तेज़ी से नहीं चल सकता। संयुक्त-प्रान्त, बड़ौदा, तथा काश्मीर राज्यों में सहकारी समितियों के द्वारा कहीं कहीं चकबन्दी की जा रही है। मध्यप्रान्त में सरकार ने एक क़ानून बनाकर चकबन्दी कराने की सुविधा प्रदान कर दी है। क़ानून के अनुसार किसी गाँव के कम से कम दो मालगुज़ार जिनके पास गाँव की एक निश्चित भूमि हो चकबन्दी के लिए अर्ज़ी दे सकते हैं। सरकार कर्मचारी (चकबन्दी आफ़िसर) चकबन्दी की एक योजना तैयार करेगा यदि गाँव के आधे मालगुज़ार जिनके पास गाँव की कम से कम दो तिहाई भूमि हो उस योजना को स्वीकार करें तो अल्पमत को वह योजना माननी ही होगी और उनके अनुसार चकबन्दी हो जायगी।

चकबन्दी से किसी को हानि नहीं पहुँचती। हर एक व्यक्ति को अपनी सारी भूमि (जो टुकड़ों में बँटी है) के बराबर भूमि एक चक या अधिक से अधिक दो चकों में मिल जाती है। मेड़ों के कम हो जाने से थोड़ी भूमि बच रहती है और खेतों में जाने के लिए रास्ते निकाले जा सकते हैं। जहाँ जहाँ चकबन्दी हो गई है वहाँ गाँव में सिँचाई के लिए कुएँ खोदे गये हैं क्योंकि अब किसान एक ही कुएँ से अपनी सारी ज़मीन की सिँचाई कर सकता है। कहीं कहीं किसान चकबन्दी के उपरान्त अपने खेत पर ही रहने लगा है जो कि खेती की उन्नति के लिए आवश्यक है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जहाँ जहाँ चकबन्दी

हो चुकी है वहाँ खेती की दशा सुधर रही है। यह तो मानी हुई बात है कि जब तक इन बिखरे हुए खेतों की चकबन्दी नहीं की जाती तब तक खेती की उन्नति होनी कठिन है। परन्तु चकबन्दी में बहुत सी अड़चनें होती हैं। गाँव के लोग रूढ़िवाद में फँसे होते हैं वे अपने बाप-दादाओं की भूमि को छोड़ना नहीं चाहते। गाँव का पटवारी छिपे छिपे चकबन्दी का विरोध करता है और कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिनका एक आध छोटा टुकड़ा ही गाँव में होता है वे समझते हैं कि चकबन्दी से क्या लाभ जब कि उनके पास तो केवल एक ही टुकड़ा है। ऐसी दशा में वे अपने टुकड़े को बदलना नहीं चाहते। इसके अतिरिक्त भूमि की विभिन्नता तथा उन पर कुएँ और पेड़ होने के कारण उनके मूल्य के निर्धारण करने में मतभेद होता है। सहकारी समितियों के द्वारा चकबन्दी करने में कभी महीनों का परिश्रम कुछ थोड़े से व्यक्तियों के विरोध करने के कारण व्यर्थ चला जाता है। साथ ही अल्पमतवालों को नये बँटवारे को मानने के लिए विवश करने में इस आन्दोलन का विरोध होने की सम्भावना है। हिन्दुस्तान में भूमि मनुष्य के लिए अत्यन्त मूल्यवान् तथा पवित्र वस्तु है इस कारण क़ानून बन जाने पर भी प्रयत्न यही करना चाहिए कि सब लोग नये बँटवारे को मान लें।

किन्तु चकबन्दी कर देने से भविष्य में उसके फिर टुकड़े टुकड़े होकर बँट जाने की सम्भावना तो बनी ही रहती है। भविष्य में भूमि के टुकड़े टुकड़े न हों इसके लिए सरकार को क़ानून बनाकर उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ेगी जो कि अधिकांश जनसंख्या को मान्य न होगी। यदि यह क़ानून बना दिया जाय कि एक निश्चित क्षेत्रफल के नीचे भूमि का बँटवारा न हो सके तो फिर यदि एक भाई भूमि को जोते तो अन्य भाई क्या करेंगे? जब तक कि उद्योग-धन्धों की उन्नति न हो जाय जिससे अन्य भाइयों को उनमें काम मिल सके तब तक उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन करना कठिन है। पंजाब की कैनाल कालोनियों में सरकार ने भूमि इस शर्त पर दी है कि भूमि का बँटवारा नहीं हो सकता, किन्तु वहाँ एक भाई के द्वारा दूसरे भाई के मार डालने की बहुत सी घटनायें आये दिन होती रहती हैं। जब तक कि उन लोगों के लिए जो कि ऐसे परिवर्तन से भूमि से हटा दिये जायँगे कोई काम नहीं दिलाया जा सकता तब तक भूमि का बँटवारा रुकना कठिन है। बम्बई में एक बार इस आशय का एक बिल उपस्थित किया गया था कि एक "स्टैन्डर्ड यूनिट" खेत का निर्धारित कर दिया जाय जिसमें लाभपूर्वक खेती की जा सके और इस बात का भी प्रबन्ध हो कि कोई भी खेत उस यूनिट से कम न हो। भविष्य में किसी "स्टैन्डर्ड यूनिट" से छोटे टुकड़े में खेती न की जाय इसका प्रबन्ध भी कर दिया गया था। बिल के दूसरे भाग में मौजूदा बिखरे हुए टुकड़ों की चकबन्दी की व्यवस्था की गई थी। किन्तु इस बिल का प्रान्त में इतना घोर विरोध हुआ और जिस दिन बिल कौंसिल में उपस्थित किया जानेवाला था उस दिन हज़ारों की संख्या में किसानों ने कौंसिल-चैम्बर को घेर कर सरकार को विवश कर दिया कि वह बिल वापस ले ले। इस प्रकार का क़ानून तभी जनता स्वीकार कर सकती है जब कि सरकार भूमि से हटनेवाले व्यक्तियों को काम दिलाने का भी आयोजन करे। यह बात अवश्य है कि इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को हल करने के लिए कभी न कभी क़ानून का सहारा लेना ही होगा। संसार के अन्य देशों में भी इस समस्या का सामना करना पड़ा था और अनुभव यह बतलाता है कि बिना क़ानून बनाये यह समस्या हल नहीं हो सकती। अतएव यदि हिन्दुस्तान को भी क़ानून का सहारा लेना पड़े तो आश्चर्य नहीं है।

वर्तमान परिस्थिति में इस प्रश्न को सुलझाने का एक मार्ग सहकारी-कृषि भी है। इटली में इस प्रयोग को यथेष्ट सफलता मिली है और रूस में तो जिस सफलता से इस कार्य को किया है वह अवश्य ही आश्चर्यजनक है। किसान लोग एक सहकारी-समिति के सदस्य बन जाते हैं और या तो सब लोग अपनी अपनी ज़मीन तथा औज़ार आदि जो कुछ हो समिति को सौंप देते हैं और फिर सब मिलकर सारी ज़मीन पर खेती करते हैं तथा बाद में पैदावार बाँट लेते हैं, या प्रत्येक किसान को उसकी शक्ति और सुविधा का ध्यान रखते हुए उसकी आवश्यकता के अनुसार समिति से ज़मीन मिल जाती है और वह स्वयं खेती करता है। समिति अपने सदस्यों को क़ीमती औज़ार, अच्छे बीज और खाद आदि के मिलने का प्रबन्ध करती है।

स्थायी सुधारों का प्रश्न—ज़मीन से सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी समस्या जो हमारे कृषि की उन्नति के लिए बाधक सिद्ध हो रही है खेतों में स्थायी सुधारों के सर्वथा अभाव की है। उदाहरण के तौर पर अधिकतर खेतों के चारों ओर कोई स्थायी बाड़ नहीं होती, जिसके अभाव में पैदावार को जानवरों से बहुत हानि पहुँचती है, हद के मामले में पास के खेतवालों से बराबर झगड़े होते हैं और फ़सल की रखवाली करने में बहुत असुविधा होती है। खेतों में मेड़ों का भी पूर्ण अभाव है जिससे किसान को काफ़ी नुक़सान होता है। सिंचाई का उचित प्रबन्ध नहीं होता। परिणामस्वरूप कई स्थानों में पानी इकट्ठा हो जाता है और उसको बहाने के लिए दूसरे व्यक्ति की ज़मीन पर से उसका गुज़रना ज़रूरी होता है जिससे उस ज़मीन को भी नुक़सान पहुँचता है। और इन सबसे ज़्यादा खटकनेवाली कमी खेतों पर किसी मकान का न होना है। इसका नतीजा यह होता है कि किसान अपने जानवर घर पर रखता है, और इससे उनके खेत पर रहने से जो खाद का लाभ हो सकता है वह नहीं हो पाता। फिर किसान को भी खेतों की देखभाल करने में बहुत असुविधा होती है। यदि ऊपर बताई हुई कमियों को ध्यान से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि उनमें से कतिपय मुख्य मुख्य सुधार भूमि में तब तक नहीं हो सकते जब तक कि किसान के पास भूमि एक चक में न हो। उदाहरण के लिए खेतों की बाड़ बनाना, सिंचाई के लिए कुआँ खोदना, अपने खेत पर ही मकान बनाकर रहना, इत्यादि। किन्तु यह सब सुधार केवल चकबंदी होते ही नहीं हो जायँगे। चकबंदी का आवश्यक परिणाम यह होगा कि किसान कतिपय सुधार, जो उसकी शक्ति में है, तुरन्त ही कर लेगा और उनके फलस्वरूप, जैसे जैसे उसकी आर्थिक स्थिति सुधरती जावेगी वैसे ही वैसे, वह अन्य स्थायी सुधार कर सकेगा।

क्यों

लेखक, श्रीयुत नरेन्द्र

यदि यों रग-रग, रोम-रोम में,
प्राणों में पीड़ा भरनी थी,
मुझ जैसे पाषाणों में तब
प्राण-प्रतिष्ठा ही क्यों की थी?

व्यर्थ जगा दीं क्यों ठुकराकर
सुप्त भावनायें, पाषाणी?
इस खँडहर के मूक प्रस्तरों—
को दे दी फिर से क्यों वाणी?

मेरी इस कातर वाणी को
सुननेवाला आज कौन है?—
मुझसे, मेरी प्रतिध्वनियों से
ऊब विजन भी आज मौन है!

सौंप दिया क्यों कालरात्रि को
महाशून्य से मुझे जगाकर?
क्यों दिखलाया अंधकार यह
क्षण भर विद्युत-दीप जलाकर?

खींच लिया क्यों बिंधी कोख से?—
बुझा हुआ वह अग्निबाण था!
करुणाकर! मेरे प्राणों का
एक सहारा वही बाण था!

कहो देव! दे दया-दान
दे डाला मुझको कैसा वैभव?—
मेरा अपना रहा सहा था
जो कुछ, वह भी नहीं रहा अब!
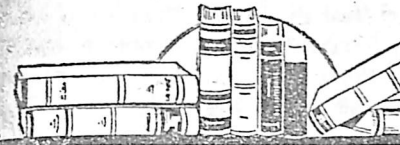
१—मुद्रण-प्रवेश अथवा कम्पोज़-कला—लेखक और प्रकाशक, श्रीयुत शंकर रामचन्द्र दाँते, बी० ए०, लोक-संग्रह प्रेस, ६२४ सदाशिव पेठ, पूना हैं। अनुवादक, श्रीयुत गोपीवल्लभ उपाध्याय हैं। पृष्ठ-संख्या २३१, अनेक चित्र-युक्त और सजिल्द पुस्तक का मूल्य २) है।

साहित्य-सम्मेलन की सम्पादन-कला-परीक्षा में एक विषय है—छपाई-सम्बन्धी मशीनों और प्रेस के प्रबन्ध का ज्ञान। पर इस विषय पर हिन्दी में, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अभी तक कोई पुस्तक उपलब्ध न थी। पाठ्यक्रम-निर्धारकों ने 'साहित्यालोचन' का नाम निर्देश कर दिया था क्योंकि शायद उनकी राय में वेदों के बाद 'साहित्यालोचन' ही संसार की समस्त विद्याओं और कलाओं का भण्डार है। प्रस्तुत पुस्तक ने उस बड़े अभाव की सुंदरतापूर्वक पूर्ति की है, यह देखकर प्रसन्नता होती है। अब सम्पादन-कला के परीक्षार्थियों को इधर-उधर भटकना न पड़ेगा। छापाखाने में काम करनेवाले कम्पोज़ीटरों, प्रूफ़रीडरों, सम्पादकों, प्रेस-मैनेजरों आदि प्रेस से सम्बन्धित लोगों के लिए यह पुस्तक विशेष उपयोगी है। लेखक ने छापाख़ाने की साधन-सामग्री का विशद-विवेचन देते हुए छपाई की समस्त पद्धतियों और प्रणालियों का अच्छा विवेचन किया है। कम्पोज़ करना, प्रूफ़ सुधारना, टाइप छोड़ना, पृष्ठ बाँधना, फार्म खींचना और छपने के लिए देना आदि समस्त क्रियाओं को लेखक ने सरल भाषा में अच्छे प्रकार से समझाया है। नया प्रेस खोलने की इच्छा करनेवालों को भी इसमें बहुत सी सम्मतियाँ दी गई हैं। पुस्तक सभी दृष्टियों से उपयोगी है।

२—कथा-कुञ्ज—सम्पादक, प्रोफ़ेसर जगन्नाथ अग्रवाल एम० ए०, और श्री उपेन्द्रनाथ "अश्क" बी० ए०, एल-एल० बी० हैं। प्रकाशक, श्रीयुत मोतीलाल बनारसीदास, सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर हैं। पृष्ठ-संख्या ३०३ और दाम २) है।

यह पुस्तक सम्पादकों के कथनानुसार हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों का संग्रह है। इसमें नीचे लिखे हुए लेखकों की कहानियाँ संगृहीत हैं—

श्री प्रेमचन्द, श्री सुदर्शन, श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री राजेश्वरप्रसादसिंह, श्री विनोदशंकर व्यास, श्री वाचस्पति पाठक, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्री श्रीनाथसिंह, श्री कृष्णानन्द गुप्त, श्री अज्ञेय, श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्रीमती शिवरानी देवी, श्री पृथीनाथ शर्मा, श्री उपेन्द्रनाथ "अश्क"। सम्पादकों में स्वयं उपेन्द्रनाथ "अश्क" अच्छे कहानी-लेखक हैं। और निस्सन्देह कहानियों का चुनाव उन्होंने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है।

प्रारम्भ में सम्पादकों ने लगभग ३८ पृष्ठों की भूमिका भी लिखी है, जिसमें कहानियों के भूत, वर्तमान और भविष्य, और उनकी कला आदि पर अपने विचार प्रकट किये हैं। यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए ख़ास तौर से उपयोगी प्रतीत होती है।

३—सामवेदीय संस्कार-दर्पणम्—लेखक, श्रीयुत प्रेमवल्लभ शास्त्री और प्रकाशक, श्री औषधालय, अमीनाबाद, लखनऊ हैं। पृष्ठ-संख्या १०३ और मूल्य २) है।

इसमें संस्कृत में समापवर्त्तन-संस्कार तक की विधियाँ बतलाई गई हैं। छापे की अशुद्धियाँ अधिक हैं। पुस्तक पुरोहितों के बड़े काम की है। भाषा-टीका होने से और भी उपयोगी हो सकती थी।

४—ज्वर के कारण व चिकित्सा—लेखक व प्रकाशक, श्रीयुत युगुलकिशोर चौधरी, पोस्ट नीम का थाना (जयपुर स्टेट) हैं। मूल्य =) है। पृष्ठ-संख्या ५० है।

इसमें प्राकृतिक साधनों-द्वारा ज्वर को आरोग्य करने के उपाय बतलाये हैं। लेखक महोदय के प्रयोग शत-प्रति-शत सत्य नहीं हो सकते, जैसा कि उन्होंने दावा किया है।

५—'इतिहासप्रवेश'—लेखक, श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार हैं, पृष्ठ-संख्या ४६५ है। प्रकाशक, सरस्वती पब्लिशिङ्ग हाउस, इलाहाबाद है। मूल्य २॥) है

इस पुस्तक में ईसा के २,००० वर्ष पूर्व से लगाकर १८वीं सदी तक का भारतवर्ष का इतिहास है। पुस्तक तीन भागों में बँटी है। इनमें से प्राचीन भारत का इतिहास उच्च कोटि का है क्योंकि सभी ख्यातनामा इतिहासकारों के विभिन्न मतों का सविस्तर वर्णन है। पुरातत्त्व के आधार पर श्री राखालदास वन्द्योपाध्याय ने सिन्धुनदी के आस-पास 'सुमेर' सभ्यता का स्थान बताया है। पुस्तक में सुमेरियन सभ्यता की रूपरेखा की सुन्दर व्याख्या है।

११वीं सदी के बाद का केवल शृंखलाबद्ध इतिहास दिया है। मुसलमान युग का इतिहास अधूरा है। अलाउद्दीन, मुहम्मद तुग़लक़ तथा अहमदशाह बहमनी के बारे में डाक्टर ईश्वरीप्रसाद तथा सर वूल्जले हेग ने कई नूतन तथ्यों की खोज की है। आश्चर्य है कि लेखक ने इस सामग्री का उपयोग नहीं किया। मुसलमान काल की संस्कृति के सम्बन्ध में केवल कबीर का नाम आता है। मुग़लकाल की सामाजिक व्यवस्था बड़े ही संक्षेप में लिखी है। मराठों का इतिहास बिना उनकी शासन-पद्धति की व्याख्या के अधूरा रह जाता है।

आधुनिक इतिहासकार देश की सामाजिक तथा ऐतिहासिक प्रगतियों का क्रम-विकास दिखाते हैं पर इस पुस्तक में अधिकांश केवल कालक्रमानुसार घटनाओं का प्रामाणिक उल्लेख है। लेखक ने ऐतिहासिक नामों को नवीन शुद्ध रूप देने का प्रयास किया है जो इतिहास के विद्यार्थियों के लिए कुछ दुरूह और अजीब-सा लगता है।

पुस्तक की छपाई चित्ताकर्षक है। जनता और स्कूली विद्यार्थियों के यह बड़े काम की वस्तु है।

६—संक्षिप्त जैन-इतिहास—द्वितीय खण्ड, पृष्ठ-संख्या १६४ है। लेखक, श्रीयुत कामताप्रसाद जैन और प्रकाशक, श्रीयुत मूलचन्द किशनचन्द कापडिया हैं। मूल्य दिया नहीं।

इस पुस्तक में दक्षिण-भारत और सुदूर दक्षिण का इतिहास है। ईसवी सन् के प्रारम्भकाल से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक का वर्णन है। इन राज्यों की प्राचीनतम ललित कला और साहित्य के आधार पर यह अनुमान किया गया है कि इन प्रदेशों के राजा जैनी थे और इनके निकटवर्ती स्थानों में जैनधर्म के अनुयायी रहते थे। मद्रासी इतिहासकारों की भी यही धारणा है पर डाक्टर बेनीप्रसाद को जैनधर्म के दक्षिण-भारत में सर्वव्यापी होने में सन्देह है। यह एक महत्त्वपूर्ण तर्कघटित विषय है।

इस पुस्तक में वैयक्तिक चरित्रों का पक्षपातरहित एवं ऐतिहासिक चित्रण है। विशेषतया गङ्गवंश के प्रसिद्ध मंत्री चामुण्डराय का चरित्र बड़ी खोज के बाद लिखा गया है। यह पुस्तक पाश्चात्य शैली के ढंग पर लिखी गई है। ऐतिहासिक सामग्री का अच्छा एकत्रीकरण है। पुस्तक की छपाई और 'गेट-अप' साधारण है पर इसके पढ़ने से वास्तविक पांडित्य झलकता है।

—भवनाथ वाजपेयी

७—संगीताञ्जलि—लेखक तथा प्रकाशक, पण्डित ओंकारनाथ, गौरीशंकर ठाकुर, आचार्य श्री संगीत-निकेतन। मूल्य १।) पृष्ठ-संख्या १०८ है।

प्रस्तुत पुस्तक में राग-रागिनियों में संगीताभ्यास की शिक्षा दी गई है। रागों के साथ तालों का भी निर्देश कर दिया गया है और स्वर-सन्धान की विधि भी दे दी गई है। इसमें सब मिलाकर नौ राग हैं। भूपाली, हंसध्वनी, दुर्गा, सारंग, तिलंग, भिन्नषड्ज, खमाज, देश और काफ़ी और प्रत्येक राग के चार गाने (दो त्रिताल में, एक झपताल, एक चार ताल में) स्वरसन्धान के साथ दिये गये हैं। साथ ही साथ प्रत्येक राग के प्रारम्भ में सूचना के रूप में विधि—निषेध का उल्लेख कर दिया गया है।

लेखक महाशय महाराष्ट्रीय हैं इसलिए उन्हें हिन्दी का ज्ञान बहुत कम है। इस कारण इस पुस्तक में व्याकरण-दोष और लेखन-दोष भरे पड़े हैं। फिर भी पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। छपाई-सफ़ाई और गेट-अप बड़ा ही चित्ताकर्षक है।

८—सच्ची कहानियाँ—प्रकाशक, दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा है, मूल्य ६ आने है। पृष्ठ-संख्या १०२ है।

प्रस्तुत पुस्तक में इक्कीस कहानियाँ हैं जिनके कथानक कई देशों के इतिहास से लिये गये हैं। अधिकांश भारत के प्राचीन इतिहास और साहित्य से लिये गये हैं। इनमें से कुछ कहानियाँ सुन्दर भी हैं, जैसे 'हरिणी की रक्षा', राजा अशोक, सिंहगढ़-विजय इत्यादि। पुस्तक की भाषा बहुत ही सरल, सुबोध और चलती हुई है। प्रचार के लिए जिस प्रकार की भाषा चाहिए, इस पुस्तक की भाषा ठीक उसी प्रकार की है।

प्रस्तुत पुस्तक स्त्रियों और बच्चों के लिए बहुत ही उपयोगी है। छपाई, सफ़ाई बहुत ही आकर्षक है। बीच बीच में छोटे छोटे चित्र भी दे दिये गये हैं जिससे पुस्तक की उपयोगिता बहुत ही बढ़ गई है।

९—ज्योतिप्रसाद (जीवन-चरित्र, लेखांश और कवितायें)—लेखक, श्रीयुत माईदयाल जैन बी० ए० (आनर्स) बी० टी० और प्रकाशक लाला जौहरीमल जैन सर्राफ़, दरीबा कलाँ, देहली हैं। पृष्ठ-संख्या १६८ और मूल्य ॥) है।

प्रस्तुत पुस्तक जैनधर्म के एक सुप्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता स्वर्गीय ज्योतिप्रसाद का जीवन-चरित्र है। साथ ही साथ लेखक ने उनके कुछ लेखांश और कवितायें भी संकलित कर दी हैं। कवितायें और लेख समाज की हित-भावना से परिपूर्ण हैं। पुस्तक जैन भाइयों के लिए उपयोगी है।

पुस्तक की छपाई, सफ़ाई और गेट-अप बहुत साधारण है।

—विश्वनाथ रावत एम० एस-सी०

१०—विजय (दो भाग)—सामाजिक उपन्यास—लेखक, श्रीयुत प्रतापनारायण श्रीवास्तव और प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला, कार्यालय, लखनऊ हैं। मूल्य-प्रति भाग सजिल्द २॥), सादी २) है।

यह उपन्यास श्रीवास्तव जी की नवीन कृति है। इसमें नागरिक जीवन का चित्र खींचा गया है।

लेखक ने कथा का ताना-बाना बड़ी सुन्दरता से बुना है। प्रयागविश्वविद्यालय का एक उज्ज्वल रत्न, टेनिस का खिलाड़ी, सौन्दर्य का पुजारी और विद्यार्जन में निपुण, राजेन्द्रप्रसाद, लखनऊ सभ्यसमाज में हलचल डाल देता है। कुसुमलता और मिस ट्रेवीलियन उसे प्यार करने लगती हैं, परन्तु वह दृढ़ बना रहता है। कुसुमलता तो सँभल जाती है परन्तु मिस ट्रेवीलियन इसका बहुत बुरा बदला लेती है। यहीं पर लेखक ने एक आदर्श उपस्थित किया है। मनोरमा को राजा प्रकाशेन्द्र का गर्भ रह जाता है। परन्तु इसमें मनोरमा का कुछ भी दोष नहीं। दोनों को मादक द्रव्य-द्वारा चेतना-शून्य कर दिया गया था। परन्तु मनोरमा मारे लाज के अपना मुँह भी नहीं दिखा सकती। उस समय जब राजेन्द्रप्रसाद एक बुद्धिमान् पुरुष की भाँति कहता है "पवित्रता का सम्बन्ध आत्मा से है, शरीर से नहीं। जब तक आत्मा पवित्र है, सब कुछ पवित्र है। यह शरीर तो आत्मा का परिधान है" तब जान पड़ता है कि हिन्दूधर्म में यदि कोई कमी है तो इसी बुद्धिवाद की। अन्धे की तरह पुरानी लीक पीटना ही आज हिन्दुत्व का सार समझा जाता है, लेखक ने इस कमी को अच्छी तरह प्रकट कर दिया है।

दूसरी समस्या जो लेखक ने सुलझाई है वह इससे भी दुरूह है। कुसुमलता एक हिन्दू बाल-विधवा है। पहले-पहल उसने प्यार किया राजेन्द्रप्रसाद को, परन्तु राजेन्द्रप्रसाद से उसका विवाह हो ही कैसे सकता था। राजेन्द्र विवाहित है और वह भी उसी की प्रियतमा सखी मनोरमा से। मनोरमा भी अपनी सखी का गुप्त भेद समझ गई है परन्तु कुसुम का राजेन्द्र से विवाह न तो राजेन्द्र ही स्वीकार कर सकते थे, न कुसुम और न मनोरमा के पिता। उस प्रेम-विरहिणी कुसुम का विवाह डाक्टर आनन्दीप्रसाद से होता है। परन्तु वे दोनों सुखी नहीं हो सकते। डाक्टर साहब कुसुम के प्रेम का आभास पा जाते हैं और उसका दुःख दूर करने के लिए स्वयं प्राण देने को उद्यत होते हैं। कुसुम से उनकी यह आत्महत्या नहीं सही जाती, वह उनका पैर पकड़ कर कहती है—"तुम जीते और मैं हारी। .... मेरा अपराध क्षमा करो, मुझको अपने हृदय में स्थान दो। नारी का जीवन पुरुष के साथ कितना संलिप्त है, यह मुझे अब मालूम हुआ।"

उपन्यास की भाषा सुन्दर है। कहीं कहीं लेखक ने कवित्व का भी आभास दिया है। उदाहरणस्वरूप कुसुमलता और राजेन्द्रप्रसाद का रमणी-प्रेम के सम्बन्ध में विवाह बहुत सुन्दर है और उसी प्रकार रूपगढ़ हाउस और गोमती नदी का वार्तालाप बहुत ही कवित्वपूर्ण है।

कला की दृष्टि से 'विजय' एक सुन्दर रचना है। मिस ट्रेवीलियन का भयंकर चित्र और कुसुमलता का मृदुल-चरित्र दोनों ही सुन्दर हैं, परन्तु इस समय जब कि साहित्य की प्रगति के लिए जनता की रुचि को उन्नत और संस्कृत

बनाने की अत्यावश्यकता है, लेखक का समाज और साहित्य के हित के लिए, इस प्रकार के नग्न सामाजिक चित्रों का चित्रण न करना ही अधिक श्रेयस्कर होता।

—श्रीकृष्ण, एम० ए०

११—कलिवध या सत्ययुग-आगमन या आन्दोलन, भूत या वर्त्तमान या भविष्यखंड (पहला और दूसरा भाग)—लेखक और प्रकाशक, श्रीयुत श्यामविहारीलाल रस्तोगी "बल" हैं। पृष्ठ-संख्या ७०, छपाई-सफ़ाई रद्दी और मूल्य ढाई आना है।

लेखक का पाण्डित्य पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है। उसके विचार भी भूतकाल के हैं। सब मिलाकर पुस्तक अजायबघर में रखने योग्य है।

१२—जपुजी साहिब व शब्द हज़ारे—लेखक श्रीयुत सोढी तेजासिंह और प्रकाशक, श्रीयुत वेदीज्ञानसिंह गुरुवाणी पुस्तकालय, गुमटी बाज़ार, लाहौर हैं। मूल्य ६) सैकड़ा और पृष्ठ-संख्या १२८ है। छपाई-सफ़ाई साधारणतः अच्छी है।

इसमें गुरु नानक जी के उपदेशों का सरल हिन्दी-भाषा में अनुवाद किया है। सन्तों की वाणी में आस्था रखनेवाले भक्तों को इसकी क़द्र करनी चाहिए।

१३—व्यापारिक सफलता के बारह साधन—लेखक, और प्रकाशक, श्रीयुत राधाकृष्ण नेवटिया, मंत्री, व्यापारिक-विभाग, अखिल भारतीय मारवाड़ीसम्मेलन, १५६, हरिसन रोड कलकत्ता हैं। मूल्य एक आना, छपाई-सफ़ाई अच्छी और पृष्ठ-संख्या ६२ है।

पुस्तक का विषय नाम से स्पष्ट है। व्यापारी इससे कुछ नई बातें सीखकर अपने व्यापार में सफलता पा सकते हैं।

१४—गीत—लेखक व प्रकाशक, श्रीयुत बालकृष्ण बलदुवा ६५७ सिरकी मुहाल, कानपुर हैं। पृष्ठ-संख्या और मूल्य अनिर्दिष्ट, छपाई-सफ़ाई उत्तम है।

इसमें लेखक के कुछ गद्य और कुछ पद्य-गीत हैं। सब गीत सुन्दर हैं और सबमें अव्यक्त वेदना की टीस है।

१५—महापुरुष मुहम्मद साहेब तथा इस्लाम-धर्म के कुछ मूलभूत सिद्धान्त—लेखक, श्रीयुत कुमार यशःपालसिंह, विद्यालंकार और प्रकाशक, सेमीनार महाविद्यालय, बड़ौदा कालिज बड़ौदा हैं। काग़ज़ व छपाई अच्छी, मूल्य साढ़े पाँच आने और पृष्ठ-संख्या ४१ है।

बड़ौदा के "श्रीमंत सरकार महाराज सयाजी राव गायकवाड़" ने तुलनात्मक धर्मशास्त्र के अध्ययन के लिए बड़ौदा-महाविद्यालय में सेमीनार की स्थापना की है। उसी के तत्त्वावधान में कुमार यशःपाल जी ने इस पुस्तक की रचना की है। पुस्तक में मुहम्मद साहब के जीवन-वृत्त और सिद्धान्तों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। इस्लाम-धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का भी थोड़ा बहुत परिचय दिया गया है। उद्देश्य की दृष्टि से पुस्तक उपादेय है। पर खेद है कि लेखक ने इस दिशा में अधिक अध्ययनशीलता का परिचय नहीं दिया अन्यथा पुस्तक और भी उपयोगी हो सकती थी।

इसकी भाषा बड़ी शिथिल है—ठीक वैसी ही—जैसी सन् १९०० के आस-पास ईसाई-मिशनरियों की अनुवादित पुस्तकों में पाई जाती थी। इस पुस्तक के प्रणेता 'विद्यालंकार' जी अपने नाम में तो विसर्गों का लोप भी सहन न कर सके, पर भाषा की शुद्धि की ओर उनका ध्यान न गया। उदाहरण के लिए कुछ वाक्य देखिए—

"वे बालक मुहम्मद साहब को भी बुला भेजे" "हालिमा नामक दायी ने मुहम्मद साहब को उनकी माता अमीना से कुछ लिये बिना ही उनकी कुछ समय तक भरण पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया।"

शब्दों के रूप लग और विराम-चिह्नों में तो एकदम मराठी घिस-घिस दिखाई देती है। सुनते हैं इस सीरीज़ में आगे भी पुस्तकें निकल रही हैं। बड़ौदा-नरेश का हिन्दी-प्रेम प्रख्यात है। यदि इस सीरीज़ को वे किसी हिन्दी जाननेवाले विद्वान् से संशोधित कराके छपायें तो बड़ी कृपा हो।

१६-१९—मेसर्स मेहरचन्द लक्ष्मणदास, संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता सैदामिट्ठा बाज़ार, लाहौर की ४ पुस्तकें :—

(१) नवनिधि—सम्पादक, श्रीयुत भगवद्दत्त, बी० ए० हैं। पृष्ठ-संख्या १५० और मूल्य १।) है। छपाई-सफ़ाई गेट-अप नयनाभिराम हैं। पुस्तक की भूमिका में आदि-काव्य वेद से लेकर हिन्दी-कविता तक का संक्षिप्त परिचय केवल ७½ पृष्ठ में दे दिया गया है। पुस्तक में हिन्दी के ९ कवियों की संक्षिप्त जीवनियाँ और उनकी चुनी हुई कविताओं का संग्रह किया गया है। उनके नाम हैं—जायसी, आलम, केशव, रसखान, विद्यापति, देव, पद्माकर, छत्रसाल और रत्नाकर। संग्रह-कर्त्ता की शुभ सम्मति में ये ही हिन्दी के प्रतिनिधि कवि हैं, और सम्भवतः इसी दृष्टिकोण के कारण उसने सबको उन्मुक्त हृदय से 'महाकवि' की उपाधि दे डाली है जो किसी सीमा तक चिन्त्य है। संग्रह के अन्त में कठिन शब्दों के अर्थ देकर पुस्तक को छात्रोपयोगी रूप देने का भी प्रयत्न किया गया है। कविताओं का चुनाव सुन्दर बन पड़ा है।

(२) आधुनिक एकांकी नाटक—सम्पादक, श्रीयुत उदयशंकर भट्ट हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १।) और पृष्ठ-संख्या १९९ है। छपाई-सफ़ाई अच्छी है। प्रस्तुत पुस्तक में सम्पादक ने एक अपने और ६ अन्यान्य प्रसिद्ध हिन्दी लेखकों के एकांकी नाटकों का संग्रह किया है। हिन्दी में एकांकी नाटकों की बड़ी कमी है, जो थोड़े-बहुत हैं भी वे उच्च कोटि के क्या, साधारण कोटि के भी नहीं हैं। फिर भी, इस संग्रह के नाटक कुछ अच्छे हैं। पर अधिकांश लेखक साधारण स्थलों पर भी कविता कर बैठे हैं, जो अच्छा नहीं लगता। उदाहरण के लिए निम्न वाक्य देखिए—

"उसी ख़ून को लेकर प्रभात की पूर्वदिशा मुस्करा उठेगी, और लालिमा से सारे संसार में आलोक छा जायगा। संसार के कण-कण में वही रक्त जीवन का अनंत सन्देश एक बार ही प्रातःकाल की मधुर समीर में बिखरा देगा।"—है न छायावाद की कविता!

(३) गल्पपारिजात—संग्रहकर्त्ता श्रीयुत सूर्यकान्त, एम० ए०, डी०-लिट्, डी० फ़िल० हैं। पृष्ठ-संख्या ३०० और मूल्य २) है। काग़ज़ मोटा व चिकना, छपाई-सफ़ाई उत्तम, और गेट-अप नयनाभिराम है।

स्कूलों की टेक्स्टबुक बनाने के दृष्टिकोण से इस पुस्तक में हिन्दी के १० ख्यातनामा कहानीलेखकों की चुनी हुई कहानियों का संग्रह किया गया है। परिशिष्ट में शब्दार्थ कोष, मुहाविरे और चुने हुए सन्दर्भ देकर पुस्तक पंजाब के पाठकों के लिए और भी उपयोगी बना दी गई है।

(४) संसार के स्त्रीरत्न—लेखक, श्रीयुत साधुराम, एम० ए० हैं। पृष्ठ-संख्या १७९ और मूल्य १।) है। छपाई-सफ़ाई, गेट-अप, सब उत्कृष्ट हैं।

यह पुस्तक भी संभवतः पाठ्य-पुस्तक के दृष्टिकोण से लिखी गई है। इसमें देश-विदेश के अनेक रमणी-रत्नों का वर्णन सुन्दर भाषा में किया गया है। भारतीय वीरांगनाओं में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का इतिहास-विश्रुत नाम छूट जाना आश्चर्य की बात है। पुस्तक सभी दृष्टियों से उपयोगी तथा सुन्दर है।

२०-२५—वाणी-मन्दिर छपरा की ६ पुस्तकें—

(१) चित्र-कथा—लेखक, श्रीयुत कन्हैयाप्रसादसिंह, एम० ए० हैं। पृष्ठ-संख्या १५१ और सजिल्द पुस्तक का मूल्य १।) है।

इसमें लेखक की ११ कहानियों का संग्रह है। कहानियाँ सब सामाजिक और सोद्देश्य हैं और केवल कला के लिए नहीं लिखी गई हैं।

(२) आज का सवाल—लेखक, श्रीयुत चन्द्रमाराम शर्मा हैं। छपाई-सफ़ाई साधारण, पृष्ठ-संख्या १०० और मूल्य ।≈) है।

बालकों को सामयिक प्रश्नों का थोड़ा बहुत परिचय कराना इस पुस्तक का उद्देश्य है। इसमें बैंक, ग्राम-सुधार, बीमा, कृषि आदि सार्वजनिक विषयों पर ४३ छोटे-छोटे लेख हैं। पुस्तक नवयुवकों के साधारण ज्ञान बढ़ाने को अच्छी है।

(३) जान हथेली पर—लेखक, श्रीयुत रामवृक्ष बेनीपुरी हैं। पृष्ठ-संख्या ११२, छपाई-सफ़ाई साधारण और मूल्य ।।।) है।

इसमें विदेशी वीरों से सम्बन्धित २८ छोटी-छोटी कहानियाँ हैं। छोटे बालक ऐसी कहानियाँ पढ़कर कष्ट-सहिष्णु और उत्साही बनते हैं और उनमें 'कुछ कर दिखाने' की भावना जड़ जमा लेती है। भाषा सरल और शैली रोचक है।

(४) तलवार की धार पर—लेखक, श्री चन्द्रमाराम शर्मा हैं। पृष्ठ-संख्या ६७, छपाई-सफ़ाई साधारण और मूल्य ।।) है।

युवक अपने रुधिर के मूल्य पर क्रान्ति को देश में किस प्रकार लाते हैं, यही दिखाने के उद्देश्य से इस पुस्तक में ६ सुन्दर कहानियों का संग्रह किया गया है। सभी कहानियाँ रूस और फ्रांस आदि योरपीय देशों की क्रान्ति के इतिहास से सम्बन्धित हैं। भाषा प्रांजल और उद्देश्य के अनुरूप लोचदार है। शैली रोचक है।

(५) रुदन—लेखक, श्रीयुत श्यामधारीप्रसाद हैं। पृष्ठ-संख्या ७० और मूल्य ॥) है।

इस पुस्तक में लेखक की ५७ कविताओं का संग्रह है। लेखक के हृदय में व्याप्त निराश-करुणा वाणी के रूप में साकार हुई है। पर वह वाणी भी रुदन की वाणी होने के कारण अटपटी, टूटी फूटी और मन्द है। निराशा के समुद्र में ग़ोता लगाना चाहें तो इसे पढ़ें। परिशिष्ट में आँसू पोंछने के लिए थोड़ी-सी आशा की भी झलक है।

(६) विरक्ति—रचयिता श्रीयुत रामनन्दनसिंह 'नन्दन', पृष्ठ-संख्या २८ और मूल्य ।) आने है।

लेखक की १३ रचनाओं का संग्रह है। व्यञ्जनायें बड़ी मार्मिक हैं। हाथ काफ़ी मँजा हुआ लगता है। कहीं-कहीं विरक्ति अनुरक्ति में भी बदल-सी जाती है—

"आओ हे ऋतुराज, सुभग; स्वागत है, आओ।
चिर-अभिलाषित कुटीर हृदय की खुली सजाओ॥"

२६—लखनऊ की बेगम—लेखक, श्रीयुत शालिग्राम श्रीवास्तव और प्रकाशक, सरस्वती पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद हैं। छपाई-सफ़ाई साधारण, पृष्ठ-संख्या १८८ और मूल्य १) है।

लखनऊ की नवाबी बिगड़ जाने पर उसके आश्रितों और परिपालितों की भी दुर्दशा हो गई थी। इन्हीं परिपालितों में से इलाहीजान नाम की एक हुक़्क़ाबरदार भी थी जो पीछे जाकर नाइटन साहब (अवध के तत्कालीन कमिश्नर) के यहाँ नौकर हुई थी। इलाहीजान ने नाइटन साहब से ताजआरा बेगम (वाजिदअली शाह की मा) का आँखों देखा बड़ा रोचक वर्णन किया है। यही इस पुस्तक का मुख्य विषय है। इसे पढ़ने से लखनऊ की बेगमों के रहन-सहन और दिनचर्या का पता लगता है। भाषा सरल और शैली रोचक है। मूल्य कुछ अधिक है।

२७—"बान्धवेश वीर वेङ्कटरमणसिंह"—लेखक, लाल भानुसिंह बाघेल और प्रकाशक, श्री रघुराज-साहित्य-परिषद्-रीवाँ हैं। मूल्य ।=) रियायती क़ीमत ।) है। छपाई-सफ़ाई उत्कृष्ट तथा प्रकाशक से प्राप्य।

प्रायः रियासती लोग अपने महाराज की जीवनी प्रशंसात्मक ही लिखते हैं। यद्यपि यह आलोच्य जीवन-चरित्र भी समालोचनात्मक नहीं, पर इसमें सामयिक सुधरी शैली से सत्य घटनायें लिखी गई हैं। स्वर्गीय रीवाँ-नरेश के व्यक्तित्व की विशालता के विहङ्गम दृष्टि से वर्णन के अतिरिक्त रीवाँ-राज्य के जानने योग्य अन्यान्य उपकरणों से भी युक्त है। पंडित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल संग्रह-मन्त्री हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने अपनी अनुभूत भूमिका लिखी है।

—"चन्द्र, दयावान"

२८-३०—पत्र-पत्रिकायें—

(१) दयानन्दसन्देश (मासिक)—सम्पादक, आचार्य नरेन्द्रनाथ शास्त्री, वार्षिक मूल्य २≡), श्री दयानन्दवेद-विद्यालय, देहली से प्रकाशित। यह पत्र दिल्ली से गत ६ महीने से निकलने लगा है। इसमें आर्य-समाज-सम्बन्धी विद्वत्तापूर्ण लेख तो प्रकाशित होते ही हैं साथ ही साहित्यिक और सामयिक सुन्दर लेखों का भी संकलन रहता है। सम्पादन योग्यतापूर्वक होता है। चित्र भी अच्छे और सामयिक रहते हैं। हम सहयोगी की उन्नति चाहते हैं।

(२) महिला (सचित्र मासिक)—श्रीमती सीतादेवी के सम्पादकत्व में यह पत्रिका गत आक्टोबर से कलकत्ते से निकलने लगी है। वार्षिक मूल्य ४) है। लेख, कवितायें व गेट-अप सुन्दर हैं। पत्रिका होनहार है और हिन्दी में स्त्रियोपयोगी एक सुन्दर मासिक पत्र के अभाव की पूर्ति करती है।

(३) सत्य-सन्देश (मासिक)—सम्पादक श्रीयुत दरबारीलाल सत्यभक्त हैं। यह पत्र १४ वर्ष से सत्य-समाज, वर्धा से प्रकाशित हो रहा है। वार्षिक मूल्य ३) है। प्रस्तुत अंक अधिवेशनअंक है जिसमें सत्य समाज के अधिवेशन की विस्तृत कार्यवाही दी गई है। और भी अनेक लेख हैं जो साधारणतः अच्छे और पठनीय हैं।

३१—सुखसंचारक कम्पनी मथुरा की दो दवायें—उक्त कम्पनी ने च्यवनप्राश व मकरध्वज नामक वैद्यकशास्त्र की दो प्रसिद्ध औषधें हमारे पास समालोचनार्थ भेजी हैं। मकरध्वज पिसा हुआ है। रंग और बनावट के विचार से अच्छा लगता है। दो-एक मात्रायें लोगों को खिलाकर भी देखी गई तो गुणकारी प्रतीत हुआ। च्यवनप्राश भी स्वादिष्ट है और खाँसी पर अच्छा लाभ करता है।

नोट—हम औषधों की समालोचना करने में असमर्थ हैं। अतः फार्मेसियों के संचालकगण भविष्य में इस प्रकार की कृपा से हमें मुक्त रक्खें।

जाग्रत नारियाँ

स्वास्थ्य और हमारी स्त्रियाँ

लेखिका, श्रीमती पद्मावती चिन्नप्पा, बी० एस० एस०

प्राचीन काल में हमारी स्त्रियों का स्वास्थ्य अच्छा रहा होगा। भारतवर्ष में मुसलमानों के आने से पहले के कई ऐतिहासिक उदाहरणों से यही प्रतीत होता है कि हमारी स्त्रियाँ उन दिनों स्वतन्त्रता की गोद में पलती थीं। उनको ताज़ी हवा और शारीरिक व्यायाम करने के लिए अवकाश मिलता था। प्राचीन पुस्तकों में अधिकतर राजा लोगों और उनके परिवार वालों के ही वर्णन होने के कारण, उस समय के जन-साधारण के बारे में उनसे बहुत कम जान सकते हैं। पर ऐसे इतिहासों से उस समय की गति-विधि का काफ़ी परिचय मिल जाता है। उस समय की रानियाँ मानव-सहज स्वतन्त्रता का उपभोग करती थीं। राजभवन की स्त्रियाँ बाहर नहीं निकल सकती थीं, पर महल के अन्दर उनको कोई कमी न थी। राजकुमारियों को शस्त्रप्रयोग, घुड़सवारी इत्यादि आवश्यक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। अस्त्रप्रयोग के दैनिक अभ्यास से शारीरिक-व्यायाम भी हो जाता था। उस समय की प्रजा का स्वास्थ्य भी अच्छा रहा होगा, क्योंकि उस ज़माने में राजा और प्रजा को हरदम लड़ाई के लिए सुसज्जित रहना पड़ता था।

मुसलमान जब से भारतवर्ष में आये—और बसने लगे, तब से हमारे शारीरिक ह्रास का श्रीगणेश हुआ। इस समय की उपज—बाल्यविवाह की प्रथा—से जो घोर क्षति हुई है उसका साक्षात् उदाहरण हमारी पीढ़ी है। हम लोग अपने पूर्वजों से लम्बाई, ऊँचाई और शक्ति में कितने निकृष्ट होगये हैं।

प्राचीन योरप की स्त्रियाँ हमारी स्त्रियों के समान स्वतन्त्र नहीं थीं। "हाई टाइड आफ़ ग्रीक लायफ़" के अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उस समय वहाँ की स्त्रियाँ केवल बच्चों को पैदा करनेवाली मशीन थीं। उनमें बालविवाह का भी प्रचार था। स्त्रियों की शादी पन्द्रह वर्ष की उमर में होती थी। जिसका परिणाम यह होता था कि छोटी आयु में ही गृहिणी और मातृत्व की ज़िम्मेदारी को ढोने से वे उस उमर में ही छोटी उमर की बूढ़ियाँ हो जाती थीं जिसमें उन्हें अपने पतियों की संगिनी बनना था और उनके सौन्दर्य की भी इतिश्री हो जाती थी।

प्राचीन ग्रीक स्त्रियों के वासगृहों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—जिन सुविधाओं को हम आज-कल आवश्यक समझते हैं, क़रीब-क़रीब उन सब सुविधाओं से ग्रीक स्त्रियाँ वंचित थीं। उनका घर प्रायः एकमंज़िला होता था, जिसमें अकसर खिड़कियाँ नहीं होती थीं। पानी का कोई यथोचित प्रबन्ध न था। मोरी और अन्य वैयक्तिक

[श्रीमती जयदेवी बाई। आप अखिलभारतीय वीरशैव-महिला-कान्फ़्रेंस हुबली की अध्यक्षा बनाई गई थीं।]

आरोग्य-सम्बन्धी आयोजनायें नहीं थीं। रसोईघर के धुएँ को बाहर निकलने के लिए कोई चिमनी नहीं होती थी, जिससे धुआँ अन्दर ही रह जाता था।

यह वर्णन तब का है जब ग्रीस-देश उत्थान की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। रोम में भी स्त्रियों की हालत कोई ख़ास अच्छी नहीं थी। वे अपने पतियों की संगिनी बनने के उपयुक्त शिक्षित नहीं थीं। इसलिए पुरुष लोग ख़राब चाल-चलन वाली, शिक्षिता एवं बुद्धिमती स्त्रियों का साथ पसन्द करते थे। उस ज़माने में व्यभिचार का प्रचार था और तलाक़ की प्रथा सर्वसाधारण में प्रचलित थी।

इसके बाद रोमन साम्राज्यकाल में भी स्त्रियों की परिस्थिति में कोई ख़ास सुधार नहीं हुआ।

उन दिनों वहाँ की स्त्रियों में प्रचलित दुर्गुणों का एक मुख्य कारण यह था कि स्त्रियों के लिए कोई ख़ास उपयुक्त काम नहीं था। पुरुषों की तुलना में भी स्त्री उससे संस्कृति में निकृष्ट थी। साम्राज्य के प्रारम्भ में स्त्रियों की अत्यधिक संख्या में दुराचरण जारी होने के मुख्य कारण आलस्य और विलास थे।

प्राचीन काल की ग्रीक स्त्रियों की और आज-कल की हमारी स्त्रियों की परिस्थितियों में कितनी समानता है।

मध्यमकाल के योरप में स्त्रियों का भाग किसी कार्य-क्षेत्र में विशेष नहीं रहा। उनका शारीरिक स्वास्थ्य भी काफ़ी ख़राब था। वैसे तो योरप में १९वीं सदी तक स्त्रियों के शारीरिक स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। उसी तरह बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति की ओर भी विशेष लक्ष्य नहीं दिया गया था। बीसवीं सदी से पूर्व शिशु-जनन से मरनेवाली स्त्रियों की संख्या (ख़ासकर प्रथमबार की प्रसववेदना से) अधिक थी। जो मरते मरते बच गई वे अधिक सन्तानोत्पादन के कारण मध्यमावस्था को पार करते करते बूढ़ी हो जाती थीं। इन माताओं की कई सन्तानें छुटपन में ही काल-कवलित हो जाती थीं। इस प्रकार मानसिक और शारीरिक क्लेश को उठानेवाली स्त्रियों का यौवन शीघ्र ही ढल जाये, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। महारानी विक्टोरिया के शासनकाल में गृहिणी का अर्थ—बड़े कुटुम्ब से परिपूर्ण, पति की आज्ञाकारिणी स्त्री—था। स्त्रियों का पहनाव और ओढ़ाव इस प्रकार का था कि उनका सर्वांग ख़ूब मज़बूती से जकड़ा रहता था। हवा शरीर के किसी भाग में भी नहीं प्रवेश कर सकती थी। इससे बढ़कर उस ज़माने की स्त्रियों को अपनी कमर को दुबली रखने की धुन सवार थी। तब तैरना, घुड़सवारी करना, नाव चलाना और अन्य खेल-कूद में भाग लेना विलास समझा जाता था।

बीसवीं सदी में—वह भी ख़ास कर गत महायुद्ध के बाद से—योरप की स्त्रियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया है। अब वे पुरुष की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक संगिनी हैं। योरप में अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा के कारण अशिक्षित नहीं रहे। वहाँ स्कूलों में बच्चों की शारीरिक उन्नति एवं विकास की ओर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है। आज के बच्चे कल के नागरिक बनेंगे, इस कारण वहाँ शारीरिक व्यायाम स्कूलों में दैनिक-क्रम हो गया है। ट्रेनिंग की शिक्षा में भी अध्यापकों व अध्यापिकाओं के लिए व्यायाम की ट्रेनिंग अनिवार्य है। योरप के स्कूलों में बच्चों को ऐसे व्यायाम

कराये जाते हैं जिनसे उनके हर एक अंग का सम्पूर्ण विकास हो। स्वस्थ शरीर से स्वस्थ मन होता है, इसको वे कभी नहीं भूलते। प्राथमिक स्कूलों में तैरना भी सिखाया जाता है।

आज-कल वयस्कों की स्वास्थ्य-उन्नति पर भी काफ़ी ध्यान दिया जाता है। इँग्लैंड के बड़े बड़े शहरों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। बीसवीं सदी के पूर्व के बनाये हुए मकानों में—ख़ासकर मज़दूरवर्ग के मकानों में—गृह-निर्माण-कला का नामोनिशान भी नहीं है। इन लोगों के लिए जो मकान बनाये गये, वे बड़े भद्दे हैं। पर विलायत के गाँवों में यह बात नहीं है। वहाँ ताज़ी हवा, खुली जगह और मैदानों का दर्शन सुलभ है। १९३० के गृह-सम्बन्धी एक्ट में ख़राब मकानों की यह परिभाषा की गई है—

'स्लम्स वे मकान हैं जो एक दूसरे से सटकर और एक दूसरे के पीछे इस प्रकार बनाये गये हों, जिससे उनमें स्वच्छ वायु की गुंजाइश न रहे। बड़ी बड़ी मंज़िलोंवाले मकान, जिनमें अन्दर का रास्ता अन्धकारपूर्ण हों और ऊपर जाने के ज़ीने टेढ़े-मेढ़े हों, बड़े भयानक होते हैं। उनकी दूषित छतों से बरसात का पानी ठीक तरह से नीचे नहीं उतरता। ऐसे मकानों में दो तीन संडास होते हैं जो समग्र निवासियों के काम में आते हैं। कभी-कभी एक संडास के पास ५० से ६० के क़रीब लोग जमा हो जाते हैं। नलों की संख्या भी कम होने के कारण इन लोगों में सफ़ाई असम्भव हो जाती है।'

लन्दन और इँग्लैंड के अन्य कारख़ानों से आच्छादित शहरों में भी नगरनिर्माण-कला सन्तोषजनक नहीं है। बीसवीं सदी से पूर्व बनाये हुए मकानों का वर्णन ऊपर आ चुका है। अब लन्दन म्युनिसिपेलिटी मज़दूरों और कनिष्ठ—मध्यमश्रेणी के लोगों के लिए नये नये मकान बनवा रही है। लन्दन का पूर्व भाग अपने अनाचार, दरिद्रता और गन्दगी के लिए प्रसिद्ध है। अनाचार का मुख्य कारण है वहाँ बच्चों और बड़ों के खेलने और आमोद-प्रमोद के लिए स्थान और समाज का अभाव। अतएव वहाँ की म्युनिसिपेलिटी वहाँ पार्क बनाने का उपक्रम कर रही है।

आज-कल योरप में शारीरिक उन्नति एवं विकास का

[व्यायाम शीला एक रूसी महिला। इसके शरीर का संघटन देखिए।]

आन्दोलन काफ़ी ज़ोर-शोर से चल रहा है। भरसक कोशिश करके बुढ़ापे को अपने पास जल्दी फटकने का मौक़ा नहीं देना चाहिए—यही उद्देश है। अब मध्यम-वर्ग के दम्पतियों में बड़े परिवार का रिवाज नहीं रहा। उनमें सन्तति की चरम संख्या तीन ही रह गई है। इँग्लेंड में आज-कल बड़ा परिवार सिर्फ़ मज़दूरवर्ग के लोगों में पाया जाता है। इसलिए इस वर्ग की स्त्रियों की सहायता के लिए ऐसे मोहल्लों में, जहाँ मज़दूर लोग घनी संख्या में बसे रहते हैं, सन्तानिग्रह-संस्थाएँ पाई जाती हैं। माताओं के स्वास्थ्य का परिणाम बच्चों के स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। अतएव योरप में स्त्रियों की आरोग्याभिवृद्धि के लिए भी दिलचस्पी ले रहे हैं।

यह तो हुआ पाश्चात्य लोगों का क़िस्सा। हमारे देश में स्त्रियों का स्वास्थ्य कैसा है? दिन-प्रति-दिन शारीरिक उन्नति में हम घटती जा रही हैं। हमारे गाँवों में निर्मल वायु है, चारों ओर खुली जगह है और आबादी भी घनी नहीं है; फिर भी वहाँ की स्त्रियों के स्वास्थ्य में न्यूनता आने का क्या कारण हो सकता है? कारण यही है—जिनके
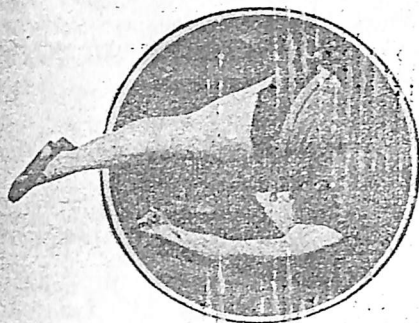
[पेट और कमर को पतला करने के लिए यह व्यायाम सर्वोत्तम है।]

दाँत हैं, उनके पास चने नहीं हैं; और जिनके पास चने हैं उनके दाँत नहीं हैं। हमारे गाँववालों में शारीरिक कमज़ोरी आर्थिक परिस्थिति के कारण है। ठीक तरह से स्वास्थ्यप्रद आहार नहीं मिलता। फिर ज़मींदारों के आतंक के कारण उन्हें गुंजाइश होने पर भी, मकान बनाने के लिए काफ़ी जगह नहीं मिलती।

हमारे देश में अकसर जो कमरा दिन में रसोईघर होता है वही रात को सोने का कमरा हो जाता है। पर इँग्लेंड में यह बात नहीं है। वहाँ रसोईघर और स्टोररूम हर एक घर में सोने के कमरे के अलावा बने रहते हैं।

हमारे शहरों में हर बात में कनिष्ठ मध्यमवर्ग की स्त्रियों की मौत है—उनसे तो मज़दूरवर्ग की स्त्रियाँ अधिक पुण्यवती हैं। उनको पेट के धन्धे के वास्ते दिन का अधिक समय बाहर बिताना पड़ता है। उनका काम भी शारीरिक श्रमवाला होता है। उन बेचारियों को अपने घरों में—जो नरककूप के समान होते हैं—दिन में बहुत कम समय बिताना होता है। इस श्रेणी की स्त्रियों में हम बहुत कम मोटी स्त्रियाँ पाते हैं। यदि इनका शारीरिक विकास भली भाँति नहीं हुआ है तो उसका मुख्य कारण ठीक और स्वास्थ्यप्रद आहार और विश्राम का अभाव है। फिर भी मज़दूर स्त्रियों का स्वास्थ्य हमारी कनिष्ठ मध्यमवर्ग की ललनाओं से बहुत अच्छा है।

अँगरेज़ी में तपेदिक़ को सोने के कमरे की बीमारी कहते हैं। हमारे शहरों में इस बीमारी का प्रकोप अधिक मात्रा में होने का कारण यही है कि हम लोगों को रहने के लिए मकानों का ठीक इन्तिज़ाम नहीं है। इस लेख में मुझे मुख्यतः शहरों में रहनेवाली स्त्रियों की समस्याओं पर प्रकाश डालना है। क्योंकि हमारे गाँवों में निर्धनता की जटिल समस्या है। उसके निवारण से बाक़ी उलझनें अपने आप सुलझ जायँगी। शहरों में रहनेवाली मध्यमवर्ग और कनिष्ठ मध्यमवर्ग की स्त्रियों की स्थिति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से शोचनीय है। उनको वातावरण ने एकदम पराधीन बना दिया है। इन बेचारियों को अपने तंग मकानों को छोड़कर और आश्रय ही नहीं। इस श्रेणी के पुरुषों को कम से कम ऑफ़िस में काम करने जाने के बहाने ज़रा ताज़ी हवा खाने का मौक़ा मिल जाता है। पर उनकी स्त्रियाँ सवेरे से शाम तक घरेलू काम-काज में जुटी रहती हैं। पर इनके घरेलू काम में शारीरिक व्यायाम-सम्बन्धी कितना काम रहता है? उस पर यहाँ विचार करना है। पहले स्त्रियों को ख़ुद पानी खींचना पड़ता था। वे स्वयं आटा पीसकर रोटी पकाती थीं। इन दो कामों में शारीरिक व्यायाम के लिए अत्यन्त अवकाश है। अब मिलों में सारी चीज़ें कुटी पिसी तैयार मिलती हैं। साथ ही पानी के लिए नल हैं। हमारी स्त्रियाँ बाक़ी जो काम करती हैं—जैसे खाना पकाना और सीना-पिरोना, आदि—इनमें शारीरिक श्रम होने पर भी शारीरिक व्यायाम का अंश तक नहीं आता। फिर ये स्त्रियाँ बहुत कम घर से घूमने के विचार से निकलती हैं। इनकी हालत क़ैदियों से भी गई बीती है! उनके चेहरों पर जो पाण्डु रंग दिखाई देता है, वही उनकी स्थितिगतियों का निदर्शक है। दक्षिण भारत और बम्बई-प्रान्त की स्त्रियों की स्वतन्त्रता इतनी बँधी हुई नहीं है। वहाँ स्त्रियाँ अकसर बाहर निकलती रहती हैं। कभी दुकानदारी करने चली जाती हैं। पर उत्तर हिन्दुस्तान में शहरों में स्त्रियों की हालत अच्छी नहीं है। वे बहुत कम बाहर निकल पाती हैं। ये स्त्रियाँ, वैसे किन्हीं स्पष्ट बीमारियों की शिकार न होने पर भी, कभी स्वस्थ नहीं रहती हैं।

योरप में कनिष्ठ मध्यमवर्ग और मज़दूरवर्ग की स्त्रियों के लिए दुपहर के क्लबों का काफ़ी प्रचार हो रहा है। इँग्लेंड में अब धीरे-धीरे मकान बनाये जा रहे हैं। लन्दन

के पूर्व भाग में अभी आबादी घनी है। मकानों की हालत दर्दनाक है और स्त्रियों के स्वास्थ्य पर घरेलू परिस्थितियों का बुरा असर पड़ा है। लन्दन के अन्य भागों में भी घनी आबादीवाले कई मोहल्ले हैं। इन सभी में सेटलमेंटवालों ने दोपहर की श्रेणियाँ खोल रक्खी हैं। ऐसे क्लब का उद्देश यह है कि स्त्रियों की शारीरिक उन्नति हो। अपने तंग घरों में चौबीस घंटे तक बन्द रहने की अपेक्षा इस तरह के क्लबों में दिन में या हफ़्ते में कम से कम कुछ देर के लिए जाने से मनोवैज्ञानिक रूप से इन स्त्रियों को बहुत फ़ायदा हो सकता है। इन गृहिणियों के जीवन में हर घड़ी घर के झमेलों में उलझी रहने के कारण, कुछ भी रस नहीं रहा है। मनोवैज्ञानिक प्रभाव शरीर के ऊपर बिना पड़े नहीं रहता। अतः यदि स्त्रियाँ शीघ्र ही वृद्धावस्था में पैर रक्खें, तो आश्चर्य क्या है? इस प्रकार के क्लबों में जो कार्यक्रम रहता है उससे उनके मन में कुछ देर के लिए शान्ति और प्रसन्नता पैदा हो सकती है। फिर इस प्रकार के क्लबों में शारीरिक व्यायाम कराया जाता है। इस क्लास को स्वास्थ्य-वर्द्धक कक्षा कहते हैं। ये स्त्रियाँ कम पढ़ी लिखी होती हैं; अतएव इनको और भी ज्ञानलाभ हो, इस निमित्त आरोग्यशास्त्र, और शिशुपालन आदि के बारे में भाषण दिये जाते हैं। इनमें संगीत का प्रचार करने के लिए भी क्लास हैं। सिलाई, सीना-पिरोना, खाना पकाना इत्यादि बातें सिखाने का भी प्रबन्ध किया जाता है।

स्त्रियाँ दुपहर को अकसर ख़ाली रहती हैं। यह देखा गया है कि दुपहर को सिलाई के काम का बहाना लेकर पास-परोस की स्त्रियाँ एक जगह पर सम्मिलित होकर गपशप उड़ाती रहती हैं। हिन्दुस्तान के हर मोहल्ले में उपर्युक्त प्रकार के क्लबों की परमावश्यकता है। मैं समझती हूँ कि उत्तर भारत में आर्यसमाज के मंदिरों में कुछ अंश तक उपयोगी बातें पाई जाती हैं। वहाँ यदि किसी विषय पर भाषण हो तो स्त्रियाँ आकर सुनती हैं। कभी दुपहर को स्त्रियोपयोगी सिलाई तथा अन्य काम पर श्रेणियाँ होती हैं। इस प्रकार की संस्थायें कुछ हद तक संकीर्ण विचार की होने के कारण अन्य धर्मवाले लोग इनमें
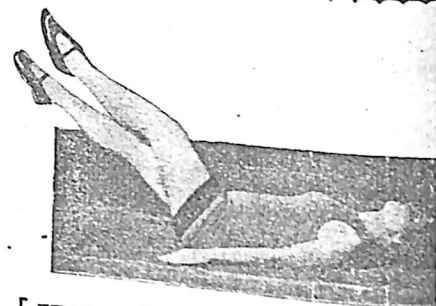
[इस व्यायाम से जंघाएँ और भुजदंड पुष्ट होते हैं।]

सम्मिलित नहीं हो सकते। इस तरह की संस्थाएँ में बौद्धिक एवं सांस्कृतिक बातें अकसर नहीं सिखाते।

वर्धा-शिक्षा-योजना से बच्चों के लिए शिक्षा आवश्यक अंग हो गया है। जो स्त्रियाँ और लड़कियाँ इस योजना के अन्दर नहीं आ सकती हैं उनमें शिक्षा का प्रसार होना चाहिए। बच्चे शिक्षित और मातायें अशिक्षित! बेढब मालूम पड़ता है। हर एक को समय की गति के साथ चलना चाहिए। दुपहर की कक्षायें गृहिणियों के लिए अत्यधिक उपयोगी हो सकती हैं।

हर एक मोहल्ले में इस प्रकार के क्लब की अत्यधिक आवश्यकता है। इन क्लबों को केवल स्त्रियाँ ही हाथ में ले सकती हैं। जगह का अभाव मंदिर और मसजिद पूर्ण कर सकते हैं। इस प्रकार के क्लबों से हमारी अपढ़ स्त्रियों को कुछ मात्रा में विद्यालाभ होगा। शारीरिक व्यायाम का प्रश्न तब हल हो सकता है जब मकानों में स्वच्छ वायु और खुली जगह हो और स्त्रियाँ शिक्षित होकर शारीरिक उन्नति-सम्बन्धी बातों पर ध्यान दें। इस प्रकार के क्लब हर मोहल्ले में हों यदि दो तीन मोहल्लों के लिए एक केन्द्र बने तो सबसे उत्तम होगा। इसके लिए उदात्त विचारवाले उदार महाशय लोगों की आर्थिक सहायता की आवश्यकता है।

मकानों की समस्या का परिहार हमारी गवर्नमेंट एवं स्थानीय म्युनिसिपैलिटियों के हाथ में है। इन शहरों के पिताओं की लापरवाही का बुरा नतीजा हमारी स्त्रियों को भोगना पड़ता है और बच्चों को भी।

कुछ इधर-उधर की
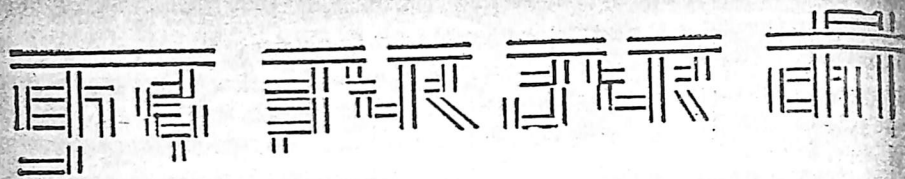
भाषाशास्त्रियों का अनुमान है कि १९३९ के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी के गद्य और कविता की भाषाओं में परस्पर परिवर्त्तन हो जायगा। गद्य पर 'छायावाद' का राज्य होगा और कविता पर 'अनुभूतिवाद' का। उन दिनों प्रगतिशील संपादक कैसी भाषा लिखेंगे और इम्प्रेशनिष्ट कवि कैसी कविता—इसका नमूना नीचे दिया जाता है :—

प्रगतिशील भाषा (?)

बढ़ता हुआ अनुभव हमें जीवन के प्रति अधिक आश्वस्त न बनाकर अधिक सतर्क बनाये—यही उसकी सबसे बड़ी सफलता, और सबसे बड़ी पराजय है। प्रदेश की शक्ति आक्रामक संस्कृति को अभिभूत कर गई है और इसी संस्कृति की बुनियादी प्राणशक्ति की सेवा ही हमने अपना ध्येय बनाया है और इसी लिए हम भारतीय संस्कृति के वाहक, भारतीय जाति के समूहगत अनुभवों की छायारूप में बने रहना चाहते हैं। यह मूर्खता हो सकती है पर निष्ठा का श्रेय हमें मिलना चाहिए।

ईम्प्रेशनिष्ट-कविता (?)

"दो पैसे के तीन टमाटर—
इतने महँगे ?
मित्र हमारे आकर बोले
छोड़ो इन्हें
और कुछ ले लो।
पर दो पैसे !!
हम हैं दो-दो दिन के भूखे
चना-चबेना
भी न हो सका हमें मुयस्सिर
औ' यह कुँजड़ी ?
है तो इस पर बीस सेर से अधिक टमाटर !
फिर क्यों हमको और नहीं कुछ ज़्यादा देती—
दो पैसे में !!
भोली कुँजड़ी !
सीधी कुँजड़ी !!
सुना न इसने नाम 'रशा' का
'स्टेलिन' को भी नहीं मानती
'लेनिन' को भी नहीं जानती—
भूखे हैं, तो ले जाने दे हमें टमाटर
जितने चाहें—
कुछ आलू भी और चाहिए—
'पैसे दो ही।'
चार व्यक्ति, दो दिन के भूखे !
क्या खायेंगे ?
गोरी कुँजड़ी ! सुन्दर कुँजड़ी !
भरे मांस की मृदुता तन में
गोरी, गोल-गोल दो बाहें !
स्वस्थ चाँदनी जैसा यौवन,
(औ' कन्धों से थोड़ा नीचे)
अभी वासना के हाथों से
बिना छुए—सर्वथा-अदोलित
पृथुल, मृदुल दलदार वृतुल फल
गोल टमाटर ! लाल टमाटर !!

× × × ×

ट्रेन जा रही है, जाने दो,
टायम है उसके जाने का—
हम स्वतंत्र हैं, हम क्यों जायें ?
हम भूखे हैं दो-दो दिन के—
यहीं रहेंगे—पड़े रहेंगे
और बितायेंगे दोपहरी,
तोड़ तोड़ कर फ़िज़ूल तिनके।
ग़रीब कुँजड़ी, प्यारी कुँजड़ी !
गोल टमाटर, लाल टमाटर !
'पर दो पैसे !!'

× × × ×

सर आग़ाख़ाँ एक चप्पेभर ज़मीन के मालिक न होने पर भी 'हिज़ हाईनेस' कहलाते हैं, यह देखकर

लोगों को आश्चर्य क्यों होना चाहिए ? आख़िर उन्होंने दिमाग़ भी तो ऊँचा पाया है। देखिए न कि हिन्दू-मुसलमान का मिश्रण बनाने में महात्मा जी की सब केमिस्ट्री फ़ेल हो गई और ये दो विदेशीय तत्त्व भासमान न हो सके। वही काम हिज़ हाईनेस सर आग़ाख़ाँ ने कितनी जल्दी और कितनी सफ़ाई से करके दिखा दिया। आख़िर घुड़दौड़ के चेम्पियन ठहरे ! आपका मिश्रण ऐसा जटिल बना कि बड़े बड़े सिविलियन-विश्लेषक भी परेशान हो गये। इसका ताज़ा उदाहरण बेसिन (बर्मा) का एक मुक़दमा है। वहाँ एक सज्जन श्रीयुत प्रतापसिंह, स्थानीय [illegible]ी की मेम्बरी के लिए ग़ैर मुसलिम-क्षेत्र से उम्मीदवार थे। प्रतिद्वन्द्वी थे स्थानीय हिन्दू-मन्दिर के ट्रस्टी तथा दो हिन्दू-संस्थाओं के संचालक श्रीयुत हीरालाल। चुनाव के बाद श्रीयुत सिंह ने दरख़्वास्त दी कि हीरालाल हिन्दू नहीं हैं। वे आग़ाख़ाँ के शिष्य और इसमायली सम्प्रदाय के नेता हैं। वे आग़ाख़ाँ को 'जकात दासोन्द' नामक धार्मिक कर भी नियमानुसार देते हैं। अतः वे मुसलमानी धमशास्त्र के अनुसार 'खोजा मुसलमान' हैं। मुक़दमा चला। ८-९ महीने तक पेशियाँ हुईं। सैकड़ों गवाह पेश हुए। रामदास के भाईबंद कहते थे कि ये सनातनी संस्थाओं के संचालक हैं, देव-मन्दिरों के ट्रस्टी हैं, ये मुसलमान कैसे हो सकते हैं ? करमअली के भाईबन्द कहते थे कि ये हमारे मुखिया हैं।

हीरालाल का अपना बयान था कि मैं हिन्दू हूँ पर गुप्ती हूँ। अर्थात् गुप्तरूप से आग़ाख़ाँ का शिष्य बना हूँ। मैं मनुष्य की पूजा नहीं करता। आग़ाख़ाँ और गणेश-लक्ष्मी की पूजा करता हूँ। हिन्दुओं में हिन्दुओं के से व्यवहार करता हूँ, और मुसलमानों में मुसलमानों के से। मैं अपनी आमदनी का अष्टमांश आग़ाख़ाँ को देता हूँ और हज़रतअली को विष्णु का अवतार मानता हूँ।"

जज लोग परेशान हो गये कि आख़िर हीरालाल को क्या समझा जाय ! हिन्दू या मुसलमान ! अन्त में बहुत सोच-समझ कर उन्होंने फ़ैसला दिया कि—"हीरालाल हिन्दू नहीं है। वह शिया इमामी इसमायली खोजा मुसलमान है।" कहिए हिन्दू-मुसलिम इत्तफ़ाक़ का इससे बढ़िया नमूना और क्या हो सकता है। हमारी राय में अब इस समस्या को हिज़ हाईनेस आग़ाख़ाँ पर ही छोड़ कर कांग्रेस को निश्चिन्त हो जाना चाहिए।

× × × ×

महामना मालवीय जी के कायाकल्प के बाद से भारतवर्ष में कायाकल्प की बाढ़ आ गई है। न जाने कितने विशेषज्ञ पैदा हो गये हैं जो बूढ़ों को एकदम जवान बना देने का दावा कर रहे हैं। पर यह कायाकल्प वैद्य-हकीमों तक ही परिमित रहता तो विशेष चिन्ता की बात न थी, साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ने लगा है; और विशेष कर ऐसे महारथियों पर जो वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और प्रधानतः साहित्य के इतिहास-लेखक हैं। एक महोदय ने, कुछ दिन हुए, अनेक हिन्दी-कवियों का कायाकल्प कर डाला था; जिसे उन्होंने अपना 'विनोद' बताया था। इधर दूसरे एक सज्जन ने प्रेमचन्द जी की 'रंगभूमि' का इस सफ़ाई से कायाकल्प कर दिया है कि देखकर आश्चर्य होता है। अपने अँगरेज़ी के 'उर्दू-साहित्य के इतिहास' में स्वर्गीय प्रेमचन्द जी का श्राद्ध करते हुए उनकी रङ्गभूमि के विषय में आप लिखते हैं :—

"Rang Bhum is a drama of peculiar charm and beauty with the great tragedy of Karbala as the main theme."

अर्थात रङ्गभूमि एक अद्भुत आकर्षक और सुन्दर नाटक है, जिसका मुख्य विषय है कर्बला की दुःखान्त घटना।" इस कथन पर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है।

× × × ×

वन्दे मातरम् और तिरङ्गा झंडा लड़ाई की जड़-से हो गये हैं। इनमें वन्दे मातरम् का तो जन्म ही लड़ाई के लिए हुआ था। इस नाम को लेकर कितने धड़ाके किये गये, यह कौन बता सकता है। अँगरेज़ सरकार भी इसका अर्थ 'बन्दूक़ मारम्" ही समझती रही है, और बिलकुल जा समझती रही है। फिर मुसलमान भाई भी इससे वही अर्थ निकालें तो क्या बेजा है ? तिरङ्गे झंडे पर भी सुदर्शन चक्र की मूर्त्ति बनाना ज़्यादा अक़्लमन्दी नहीं है, एक तो यह विलायती व्यापार को मटियामेट करनेवाला है, दूसरे संहार का अस्त्र है।

इस झगड़े का बड़ा सुन्दर हल एक योगिराज जी ने बतलाया है। आपका कहना है कि वन्दे मातरम् की जगह

"ओ३म् अमेन् आमीन्" का इस्तेमाल बिलकुल ख़तरे से ख़ाली है। यही मन्त्र झंडे पर लिख दिया जाय और गाने में भी प्रयोग किया जाय। योगिराज जी की सूझबूझ बड़ी मौलिक है। पर सर्व-सम्मति के लिए सम्मिलित बैठक की आवश्यकता पड़ेगी, क्योंकि मुसलमान भाई इसमें भी संशोधन चाहते हैं। वे शायद "अमेन् आमीन् ओ३म्" कहना ज़्यादा पसन्द करेंगे। इस संशोधन के साथ भी यदि यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय तो देश में हिन्दू-मुसलिम-ईसाई मेल होते देर न लगेगी।

× × × ×

उस दिन दो मित्रों में पाठ्य-पुस्तकों पर विवाद चल पड़ा। एक महाशय बोले—शृंगारपूर्ण किताबें कोर्स में नहीं रखनी चाहिए और साहित्य के उच्च ज्ञान के लिए यदि उनका रखना आवश्यक हो हो तो उनके नये संस्करण ऐसे निकाले जायँ जिनमें से अश्लील अंश क़तई निकाल दिये गये हों; जैसा कि वर्धा-आश्रम और आर्य-समाजियों के गुरुकुलों में किया जाता है। दूसरे महाशय ने उत्तर दिया—मैं भी आपसे सहमत हूँ। पर मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि गुरुकुलों में शृंगार-रस-पूर्ण पुस्तकें पढ़ाई ही नहीं जातीं। हाँ, यह अलबत्ता हो सकता है कि वहाँ 'विद्यापति' या अभिज्ञान शाकुन्तल को न पढ़ा कर कुमारसम्भव या गीतगोविन्द पढ़ाते हों। अन्यथा गुरुकुलों के ब्रह्मचारी ऐसी कवितायें कैसे लिख सकते हैं! और यदि लिखते ही हैं तो उसे अपनी मित्र गोष्ठी तक ही परिमित क्यों नहीं रखते, अख़बारों में छपने को क्यों भेज देते हैं?

उदाहरण लीजिए—

प्यारी तेरे मिलने को
दिल तड़प रहा है मेरा
कल नींद न निशि को आई।
जग-जग कर किया सवेरा।

× × × ×

मैं बाट जोहता तेरी
जब बैठा होता नीरव
तब ग्यारह बजे निशा में
सुन पड़ता तव-नूपुर-रव
मम उर में आशा जगती।

ऐसी दशा में पाठ्य-पुस्तकों के संशोधन की क्या ज़रूरत है, यह समझना कठिन है।

× × × ×

"मैं क्लब जा रही हूँ। देखना चावल टूटने न पायें। मैं अभी आती हूँ।"
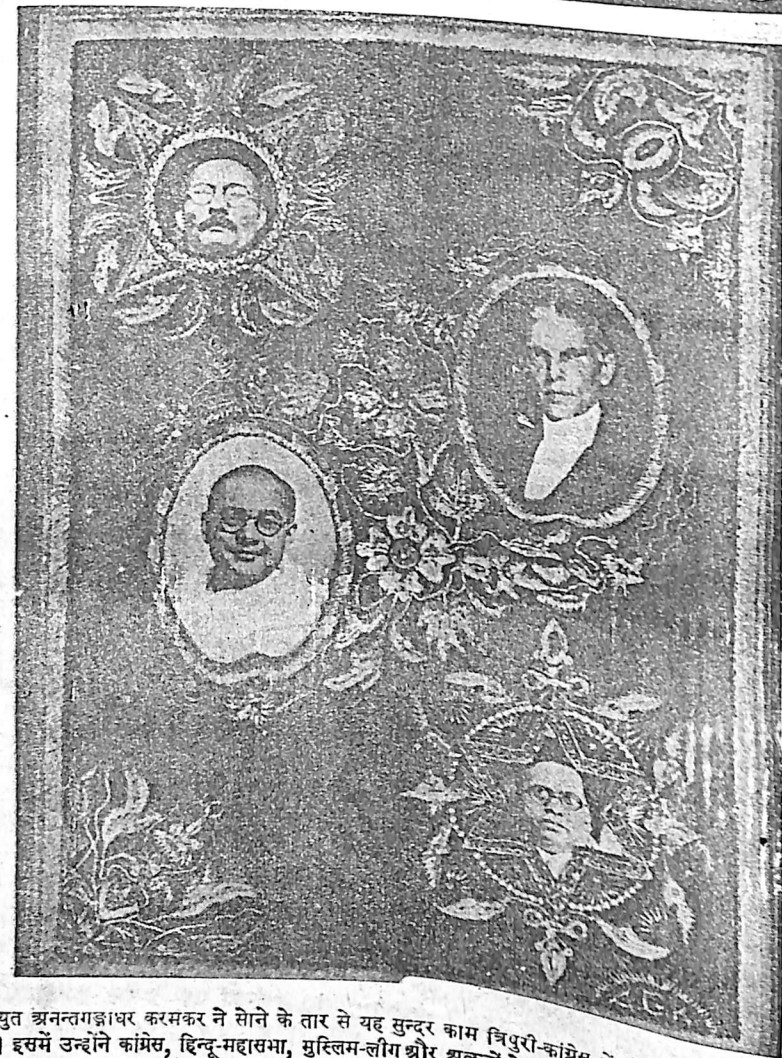
श्रीयुत अनन्तगङ्गाधर करमकर ने सोने के तार से यह सुन्दर काम त्रिपुरी-कांग्रेस में रखने के लिए बनाया है। इसमें उन्होंने कांग्रेस, हिन्दू-महासभा, मुस्लिम-लीग और अछूतों के प्रमुख नेताओं के चित्र काढ़े हैं।

'कुर्सियांग टी० बी० सेनाटोरियम'—इस संस्था के कुछ चित्र हम यहाँ दे रहे हैं। इसका सुन्दर तिमंज़िला कांक्रीट का भवन बङ्गाल के जादवपुर-यक्ष्मा-अस्पताल के सर्वेसर्वा डाक्टर कुमुदशंकर राय, एम० ए०, एम० डी०, के प्रयत्न से बना है। यह कुर्सियांग-स्टेशन से पौन मील की दूरी पर एक हज़ार फ़ुट ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बड़ा मनोहर है। फ़िलहाल इसमें २४ रोगियों के रहने की गुंजायश है। राजयक्ष्मा के अनेक रोगी इस सेनाटोरियम से लाभ उठा चुके हैं। यक्ष्मा के रोगियों के लिए यहाँ चिकित्सोपयोगी ओषधियों का प्रचुर भाण्डार तो है ही, साथ ही एक्स-रे, आपरेशन-थियेटर, सूर्यरश्मिगृह, बिजली आदि की भी सुव्यवस्था है। उपयोगिता की दृष्टि से यह सेनाटोरियम भारत में तीसरे नम्बर पर है। इसकी स्थापना के लिए बङ्गाल के प्रसिद्ध समाजसेवी श्री नकुलचन्द्र दे ने इसके लिए एक लाख दस हज़ार रुपये नक़द और भूसम्पत्ति का दान किया है। देश में राजयक्ष्मा के बढ़ते हुए आतंक को मिटाने के लिए ऐसे सैकड़ों स्वास्थ्यगृह चाहिए। ये चित्र तथा इनका विवरण हमें श्री लक्ष्मीनारायण अग्रवाल की कृपा से मिले हैं।
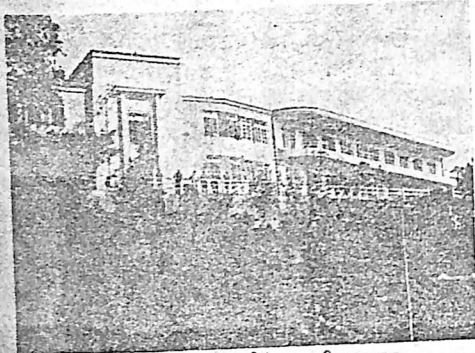
कुर्सियांग टी० बी० सेनाटोरियम की इमारत

सेनाटोरियम के आगे के भाग का दृश्य

संस्था के प्राण डाक्टर कुमुदशंकर राय, एम० ए०, एम० डी०, सी-एच० बी० (एडिनबरा)

सेनाटोरियम के उद्घाटन के समारोह का एक दृश्य
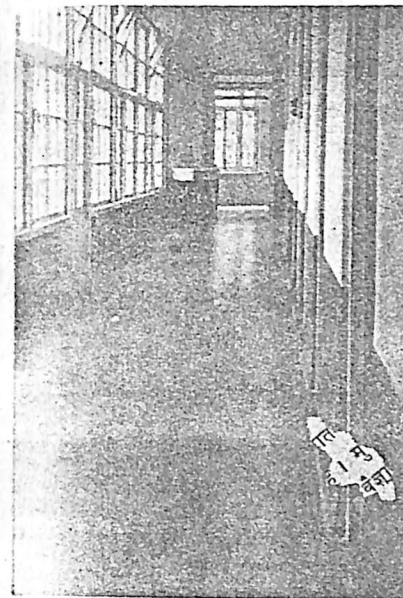
सेनाटोरियम की प्रयोगशाला और मुख्यद्वार

सेनाटोरियम के जन्मदाता (बाइँ ओर) दे महोदय और सर्व-प्रथम रोगी
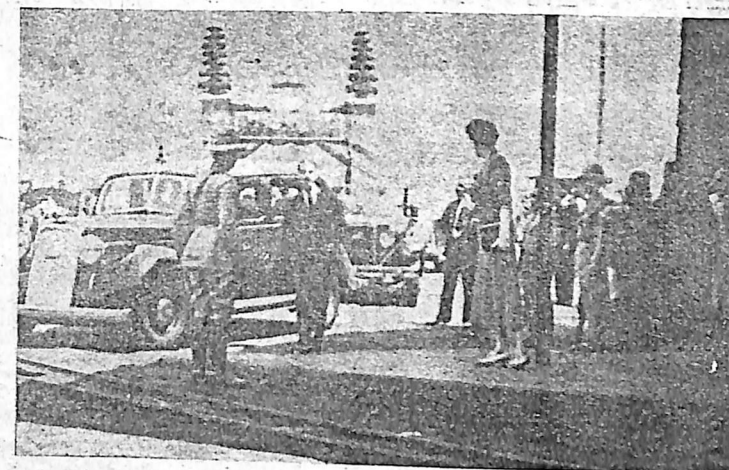
गवर्नर-द्वारा सेनाटोरियम का निरीक्षण
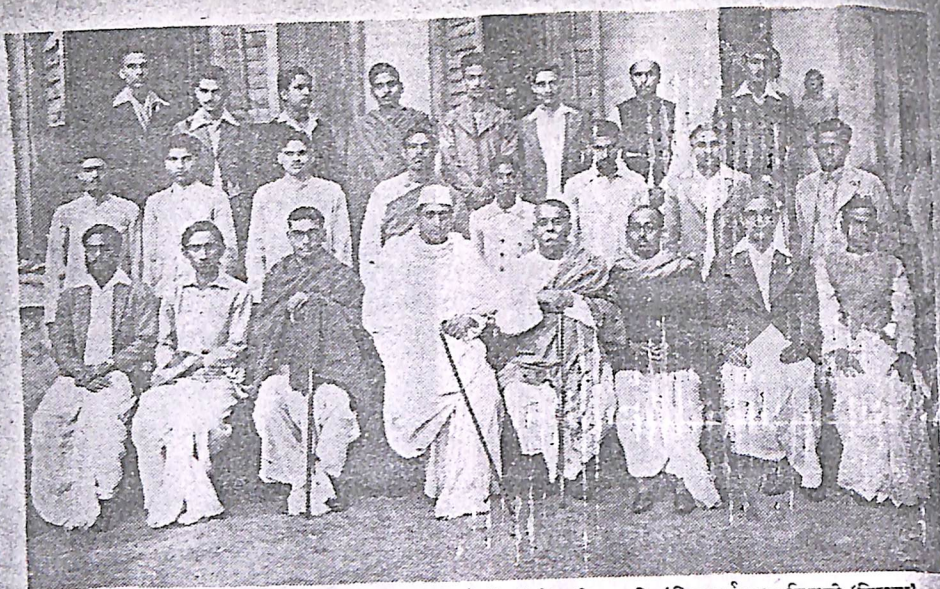
कलकत्ते के विद्यासागर-कालेज की हिन्दी-परिषद् ने हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का स्वागत किया था। यह ग्रूप चित्र उसी समय का है। निराला जी बीच में कुर्सी पर हैं।

卐 卐 卐

डाक्टर एस० दत्त, एम० ए० डी० एस-सी०, डी० आई-सी० (लन्दन) आपको तेल-सम्बन्धी विशेष खोज करने के लिए इलाहाबाद-विश्वविद्यालय ने नियुक्त किया है।

आधुनिक रूस का युवक सिपाही

आधुनिक रूस की एक स्वस्थ स्त्री

वर्ग नं० ३१ का नतीजा

इस बार कोई भी पाठक वर्ग की शुद्ध पूर्ति नहीं कर सका। सचमुच कोई भी पूर्ति ऐसी नहीं आई जिसमें दस से कम अशुद्धियाँ हों।

प्रथम पुरस्कार ३००) (दस अशुद्धियों पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित ३ व्यक्तियों में बाँटा गया। प्रत्येक को १००) मिला।

(१) शीतलाप्रसाद दुबे, जमीरा आरा।

(२) प्रभाशङ्कर माथुर, टेंडिनवाला, लायलपुर।

(३) मातादीन अग्रवाल कर्सियांग, दार्जिलिंग।

द्वितीय पुरस्कार ८०) (ग्यारह अशुद्धियों पर)

बाबू कुंजलाल वार्सिनो c/o धनीराम उमाशंकर सर्राफ़, अलीगढ़।

तृतीय पुरस्कार ८०) (बारह अशुद्धियों पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित ४ व्यक्तियों में बाँटा गया। प्रत्येक को २०) मिला।

(१) केदारनाथ वार्सिनी c/o चुन्नीलाल केदारनाथ सर्राफ़, अलीगढ़।

(२) विद्यादेवी झिंगन, ४१ सिद्धेश्वरी मुहल्ला, बनारस।

(३) गजाधरप्रसाद पोद्दार कालेज रोड, पुरानी वस्ती, कंकाली वार्ड, रायपुर, सी० पी०।

(४) इकबालनारायण, पार्सलक्लर्क ई० आई० आर०, कानपुर सेन्ट्रल।

चतुर्थ पुरस्कार ४०) (चौदह अशुद्धियों पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित ८ व्यक्तियों में बाँटा गया। प्रत्येक को ५) मिला।

(१) रघुनाथप्रसाद सेकेंड मास्टर, लवेर हाई स्कूल शनपुर, बनारस स्टेट।

(२) मदनमुरारीलाल माथुर, वकील हाई-कोर्ट शाजापुर, मालवा।

(३) पंडित रामसमुझ मिश्र, गंगादयाल मिडिल स्कूल इन्द्रपुर, पो० कम्पियरगंज, ज़िला गोरखपुर।

(४) ग: वि: घरोकर मास्टर हायर स्कूल, जुना ग्वालियर स्टेट।

(५) लक्ष्मीनारायण c/o बाबू वसन्तलाल लक्ष्मीनारायण मुजफ्फ़रपुर (बिहार)।

(६) मङ्गलप्रसाद द्विवेदी २४६ दाना बाज़ार पो० छावनी औरंगाबाद, दक्खिन।

(७) कान्तकुमारी सक्सेना c/o प्रो० एल० पी० सक्सेना ६१७ सिविललाइन, आगरा

(८) भगवानदास पेन्शनर, गाज़ियाबाद, ज़िला, मेरठ।

उपर्युक्त सब पुरस्कार २७ मार्च को भेज दिये जायँगे।

नोट—जाँच का फ़ार्म ठीक समय पर आने से यदि किसी को और भी पुरस्कार पाने का अधिकार सिद्ध हुआ तो उपर्युक्त पुरस्कारों में से जो उसकी पूर्ति के अनुसार होगा वह फिर से बाँटा जायगा। केवल वे ही लोग जाँच का फ़ार्म भेजें जिनका नाम ऊपर नहीं छपा है, पर जिनको यह सन्देह हो कि वे पुरस्कार पाने के अधिकारी हैं।

नियम :—

(१) किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जितनी पूर्ति-संख्यायें भेजना चाहे, भेजे, किन्तु प्रत्येक वर्ग-पूर्ति सरस्वती पत्रिका के ही छपे हुए फ़ार्म पर होनी चाहिए। इस प्रतियोगिता में एक व्यक्ति को केवल एक ही इनाम मिल सकता है। इंडियन प्रेस के कर्मचारी इसमें भाग नहीं ले सकेंगे। प्रत्येक वर्ग की पूर्ति स्याही से की जाय। पेंसिल से की गई पूर्तियाँ स्वीकार न की जायँगी। अक्षर सुन्दर, सुडौल और छापे के सदृश स्पष्ट लिखने चाहिए। जो अक्षर पढ़ा न जा सकेगा अथवा बिगाड़ कर या काटकर दूसरी बार लिखा गया होगा वह अशुद्ध माना जायगा।

(२) प्रतियोगिता में शामिल होने के लिए जो फ़ीस वर्ग के ऊपर छपी है, दाख़िल करनी होगी। फ़ीस मनीआर्डर-द्वारा या सरस्वती-प्रतियोगिता के प्रवेश-शुल्क-पत्र (Credit voucher) के द्वारा दाख़िल की जा सकती है। इन प्रवेश-शुल्क-पत्रों की किताबें हमारे कार्यालय से ३) या ६) में ख़रीदी जा सकती हैं। ३) की किताब में आठ आने मूल्य के और ६) की किताब में १) मूल्य के ६ पत्र बँधे हैं। एक ही कुटुम्ब के अनेक व्यक्ति जिनका पता-ठिकाना भी एक ही हो, एक ही मनीआर्डर-द्वारा अपनी अपनी फ़ीस भेज सकते हैं और उनकी वर्ग-पूर्तियाँ भी एक ही लिफ़ाफ़े या पैकेट में भेजी जा सकती हैं। वर्ग-पूर्ति की फ़ीस किसी भी दशा में नहीं लौटाई जायगी। मनीआर्डर व वर्ग-पूर्तियाँ 'प्रबन्धक, वर्ग-नम्बर ३२, इंडियन प्रेस, लि०, इलाहाबाद' के पते से आनी चाहिए।

(३) लिफ़ाफ़े में वर्ग-पूर्ति के साथ मनीआर्डर की रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र नत्थी होकर आना अनिवार्य है। रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र न होने पर वर्ग-पूर्ति की जाँच न की जायगी। लिफ़ाफ़े की दूसरी ओर अर्थात् पीठ पर मनीआर्डर भेजनेवाले का नाम और पूर्ति-संख्या लिखना आवश्यक है।

(४) जो वर्ग-पूर्ति २४ मार्च तक नहीं पहुँचेगी, जाँच में शामिल नहीं की जायगी। स्थानीय पूर्तियाँ २२ ता० को पाँच बजे तक बक्स में पड़ जानी चाहिए और दूर के स्थानों (अर्थात् जहाँ से इलाहाबाद की डाकगाड़ी से चिट्ठी पहुँचने में २४ घंटे या अधिक लगता है) से भेजनेवालों की पूर्तियाँ २ दिन बाद तक ली जायँगी। वर्ग-निर्माता का निर्णय सब प्रकार से और प्रत्येक दशा में मान्य होगा। शुद्ध वर्ग-पूर्ति की प्रतिलिपि सरस्वती पत्रिका के अगले अङ्क में प्रकाशित होगी, जिससे पूर्ति करनेवाले सज्जन अपनी अपनी वर्ग-पूर्ति की शुद्धता-अशुद्धता की जाँच कर सकें।

(५) वर्ग-निर्माता की पूर्ति से, जो मुहर लगा करके रख दी गई है, जो पूर्ति मिलेगी वही सही मानी जायगी। यदि कोई पूर्ति शुद्ध न निकली तो मैनेजर शुद्ध पूर्ति का इनाम जिस तरह उचित समझेंगे, बाँटेंगे।

अङ्क-परिचय

बायें से दाहिने—

१—श्री गणेश जी।
५—नाटकों की सफलता इसकी कुशलता पर निर्भर करती है। ७—जो वस्तुएँ........से सजाई जाती हैं वे देखने में आकर्षक लगती हैं।
८—अमीरज़ादियों का शृंगार इसकी सहायता बिना अधूरा रहता है। ९—इसका सब सत्कार करते हैं।
११—जितनी भावमयी हो उतना ही आदर पाती है।
१२—पीलिया रोग।
१४—जिसका कभी नाश न हो। १६—एक जंगली वृक्ष।
१७—अधिक दिनों तक इसे सहना लोग गवारा नहीं करते।
१८—ऐसा मकान रोगों का घर होता है।
२०—बिना यह जाने किसी के विषय में क्या कहा जा सकता है?
२२—इसे खाकर खिसी और क्रोध साथ साथ उमड़ते हैं।
२४—हद से बाहर हो जाने पर यह बड़ा भयानक बन जाता है। २५—ग़रीब लोग भी लड़के के विवाह में इसका प्रबन्ध कर ही लेते हैं।
२७—इसकी अधिकता मनुष्य की बुद्धि को निर्बल करती है।
२९—इसका रङ्ग लाल होता है।
३१—इसे विघ्न-बाधाओं की परवाह नहीं होती।
३२—ख़ाली होना।
३४—इसमें कुशलता अभ्यास करने पर भी विरले ही पा सकते हैं। ३५—दुःखी जीवन भयानक व्रण में ऐसा लगता है।
३६—यह इतना नीच है कि जिसके साथ लग जाता है उसे ही अधम बना देता है।
३७—इससे धब्बे मिटाने में सहायता मिलती है।

ऊपर से नीचे—

१—अपने दोस्तों की भी अनेक बातों पर हमें........ करना ही पड़ता है।
२—अपनी........अपने साथ जाती है।
३—उलटा हो जाने पर इसका मुँह बड़ा तेज़ होता है।
४—बिना इसके बनारसी साड़ियाँ नहीं बन सकतीं।
५—यह सबको गन्दी लगती है। ६—भगवान् राम के अनन्य भक्त। ८—इसे सब घृणित समझते हैं।
१०—विवाह उत्सवों पर इसकी प्रायः आवश्यकता पड़ जाती है। १३—इसका तेज़ होना सब पसन्द करते हैं।
१४—दुःखी आदमी इसकी शरण पाकर अपना दुःख भूल जाते हैं। १५—जिस चित्र में यह नहीं वह दो कौड़ी का।
१८—इसके नाम में ही हिन्दुओं की अपार श्रद्धा है।
१९—इसमें सायकिल नहीं चल सकतीं।
२०—देहातों में अब भी इसकी बड़ी चाह है।
२१—असमय पर इसकी वृद्धि लोगों को शंकित कर देती है।
२२—इससे किसी की तृप्ति नहीं होती।
२३—इसकी लाज रखने के लिए लोग अपने प्राण तक देते देखे गये हैं।
२५—आजकल स्त्रियाँ इसी के आभूषण पसन्द करती हैं।
२६—हिन्दू इसे ईश्वर का अवतार मानते हैं।
२८—जिसके पास यह है उसे कमी किस बात की।
३०—तारों के कसने में ही इसकी सफलता है।
३३—शरीर के साथ इसका अटल सम्बन्ध है।

आपनी याददाश्त के लिए वर्ग ३२ की पूर्तियों की नक़ल यहाँ पर कर लीजिए और इसे निर्णय प्रकाशित होने तक अपने पास रखिए।

वर्ग नं० ३१ की शुद्ध पूर्ति

वर्ग नम्बर ३१ की शुद्ध पूर्ति जो बंद लिफ़ाफ़े में मुहर लगाकर रख दी गई थी, यहाँ दी जा रही है।

वर्ग नं० ३१ (जाँच का फ़ार्म)

मैंने सरस्वती में छपे वर्ग नं० ३१ के आपके उत्तर से अपना उत्तर मिलाया। मेरी पूर्ति नं०...में } कोई अशुद्धि नहीं है। १, से १४ अशुद्धि तक मेरी पूर्ति पर जो पारितोषिक मिला हो उसे तुरन्त भेजिए। मैं १) जाँच की फ़ीस भेज रहा हूँ।

हस्ताक्षर ____________

पता ____________

बिन्दीदार लाइन पर काटिए

नोट—जो पुरस्कार आपकी पूर्ति के अनुसार होगा वह फिर से बँटेगा और फ़ीस लौटा दी जायगी। पर यदि पूर्ति ठीक न निकली तो फ़ीस नहीं लौटाई जायगी। जो समझें कि उनका नाम ठीक जगह पर छपा है उन्हें इस फ़ार्म के भेजने की ज़रूरत नहीं। यह फ़ार्म १५ मार्च के बाद नहीं लिया जायगा।

इसे काटकर लिफ़ाफ़े पर चिपका दीजिए

मैनेजर वर्ग नं० ३२
इंडियन प्रेस, लि०,
इलाहाबाद

मुफ़्त कूपन की नक़ल यहाँ कीजिए।

इस लाइन से काटिए

वर्ग नं० ३२ — मुफ़्त कूपन — पूर्ति नं०...

वर्ग नं० ३२ — पूर्ति नं०... — फ़ीस ।।)

वर्ग नं० ३२ — पूर्ति नं०... — फ़ीस ।।)

रिक्त कोष्ठों के अक्षर मात्रा रहित और पूर्ण हैं।

नाम — पता

नोट—ये तीनों कूपन यहाँ एक साथ केवल एक व्यक्ति के भरने के लिए दिये जा रहे हैं। तीनों कूपनों को एक साथ काट कर भेजना चाहिए। जो एक कूपन भेजना चाहें वे दो को यों ही छोड़ दें। जो दो भेजेंगे उन्हें तीसरे कूपन की फ़ीस न देनी पड़ेगी। यानी वे १) में तीनों कूपन भेज सकेंगे। विशेष ब्योरा पृष्ठ ३१२ पर देखिए।

शंका-समाधान

(१) 'नायक' या 'नाटक' ?

काव्यों के दो भेद होते हैं—दृश्य और श्रव्य; दृश्य काव्य श्रव्य नहीं हो सकता, न श्रव्य दृश्य हो सकता है। 'नाटक' दृश्य-काव्यों में गिना जाता है। सो जब 'नाटक' काव्य ही है तब 'उपेक्षा' का अर्थ वहाँ कुछ लगता ही नहीं है। क्योंकि काव्य कहने से 'नाटक' का भी बोध हो जाता है। नाटक को काव्य से पृथक् कैसे कर सकते हैं? हाँ, 'नायक' शब्द ऐसा शब्द है जिसकी उपेक्षा काव्य में—दृश्य व श्रव्य दोनों में—नहीं की जा सकती। यह भी ग़लत है कि बिना नायक के भी काव्य हो सकता है। काव्य में नायक अवश्य होता है। वह चाहे द्रष्टा के रूप में रहे (कवि या ईश्वर स्वयं) या दृश्य के रूप में। अर्थात् जिन कविताओं में अन्तर्भावनाओं का चित्रण रहता है उनमें भी कवि स्वयं द्रष्टारूप से नायक होता है। यह बात आप साहित्य-शास्त्र के गंभीर अध्ययन से समझ सकते हैं। अतः यहाँ 'नायक' ही ठीक है, 'नाटक' नहीं।

(२) कलाप्रेमी या कथाप्रेमी ?

सरस्वती या किसी पत्रिका के सभी पाठक 'कलाप्रेमी' हैं यह कहना ठीक नहीं है। हो सकता है कि आप कलाप्रेमी हों, तो आपकी गणना भी उन्हीं 'कुछ' में हो जायगी। पर इसके हज़ारों पाठकों में से बच्चे-स्त्रियाँ व साधारण योग्यता के मनुष्य भी हैं। ये केवल इसे मनोरंजन अथवा ज्ञान बढ़ाने के लिए पढ़ते हैं। और यदि ठीक गणना की जाय तो ऐसे ही पाठक अधिक निकलेंगे, क्योंकि कला की परख भी कठिन है; फिर 'कलाप्रेमियों' की संख्या 'कथाप्रेमियों' की अपेक्षा अधिक है ऐसा सौभाग्य अभी हमारे साहित्य का नहीं है। अतः 'कलाप्रेमी' ही ठीक उत्तर हो सकता है।

वर्ग नं० ३० पर नई शंकाएँ

(१) कठला या कठरा

बायें से दाहिने—(नं० ८) संकेत—किसानों के घरों में यह प्रायः दिखाई पड़ता है।

(१) सबसे प्रथम तो मेरी यह युक्ति है कि इस वाक्य की क्रिया पुँल्लिंग है इसलिए इसकी पूर्ति पुँल्लिंग शब्द से होनी चाहिए। परन्तु 'कठला' स्त्रीलिंग है अतः वह संकेत के अनुकूल नहीं है। 'कठरा' पुल्लिंग है अतः वह ही ठीक है।

(२) दूसरी युक्ति यह है कि कठला का अर्थ काठ की माला या कण्ठा है और 'कठरा' का अर्थ 'कठौता' होता है। काठ की माला या कण्ठा किसान के यहाँ प्रायः नहीं होगा। हो भी तो किसी देवालय या मन्दिर में हो। और वह होता हिन्दू-मात्र के लिए ही है। कठरा या कठौता तो वास्तव में देहात में ही और किसानों के यहाँ होता है। इसलिए कठला के स्थान पर कठरा ही ठीक है।

(२) नल या नद

बायें से दाहिने, नं० ३४

संकेत—इसका पानी उपयोग में आता है। इसमें नल, नभ, नद शब्द बनते हैं। आपने नद शब्द रक्खा है। कृपया बताइए कि नल और नभ क्यों ठीक नहीं हैं? क्या इनका पानी उपयोग में नहीं आता?

बायें से दाहिने, नं० २४। खेत जोतनेवाला। इसमें दो शब्द हैं—हलवाहा और हरवाहा। दोनों का अर्थ खेत जोतने वाला ही है। हरवाहा क्यों ठीक माना है? हलवाहा अशुद्ध कैसे है?

भवदीय
विजयपाल अग्निहोत्री
मु० पो० अकबरपुर, जि० कानपुर

अपनी याददाश्त के लिए वर्ग ३२ की पूर्तियों की नक़ल यहाँ कर लीजिए, और इसे निर्णय प्रकाशित होने तक अपने पास रखिए।

इस लाइन से काटिए

वर्ग नं० ३२ मुफ़्त कूपन पूर्ति नं०...

वर्ग नं० ३२ पूर्ति नं०... फ़ीस ।।)

वर्ग नं० ३२ पूर्ति नं०... फ़ीस ।।)

नाम

पता

नोट—ये तीनों कूपन यहाँ एक साथ केवल एक व्यक्ति के भरने के लिए दिये जा रहे हैं। तीनों कूपनों को एक साथ काटकर भेजना चाहिए। जो एक कूपन भेजना चाहें वे दो को ही छोड़ दें। जो दो भेजेंगे उन्हें तीसरे कूपन की फ़ीस न देनी पड़ेगी। मानो वे १) में तीनों कूपन भेज सकेंगे। विशेष ब्योरा पृष्ठ ३१२ पर देखिए।

रिक्त कोष्ठों के अक्षर मात्रारहित और पूर्ण हैं

आवश्यक सूचनायें

(१) इस बार पाठक देखेंगे कि एक कूपन में एक नाम से अधिक भरने की गुंजाइश नहीं है परन्तु प्रत्येक कूपन में ऐसी सुविधा की गई है कि वर्ग नं० ३२ की तीन पूर्तियाँ एक साथ भेजी जा सकेंगी। दो आठ आठ आने की और तीसरी मुफ़्त। मुफ़्त पूर्ति सिर्फ़ उन्हीं की स्वीकार की जायगी जो दो पूर्तियों के लिए १) भेजेंगे। और तीनों पूर्तियाँ एक ही नाम से भेजेंगे। एक पूर्ति भेजनेवाले को भी पूरा कूपन काटकर भेजना चाहिए और दो ख़ाने ख़ाली छोड़ देने चाहिए।

(२) स्थानीय पूर्तियाँ 'सरस्वती-प्रतियोगिता-बक्स' में जो कार्यालय के सामने रक्खा गया है, दिन में दस और पाँच के बीच में डाली जा सकती हैं।

(३) वर्ग नम्बर ३२ का नतीजा जो बन्द लिफ़ाफ़े में मुहर लगाकर रख दिया गया है, ता० २५ मार्च सन् १९३१ को सरस्वती-सम्पादकीय विभाग में ११ बजे दिन में सर्वसाधारण के सामने खोला जायगा। उस समय जो सज्जन चाहें स्वयं उपस्थित होकर उसे देख सकते हैं।

प्रेमघन जी और हिंदी-साहित्य

लेखक, श्रीयुत दिनेशनारायण उपाध्याय, साहित्य-रत्न

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में सरस्वती के जिन पुजारियों ने, भारतेन्दु के सम्पर्क और सहयोग से, हिन्दी को प्राणदान दिया उनमें 'प्रेमघन' का भी अन्यतम स्थान है। वे आधुनिक हिन्दी के उन इने-गिने प्रवर्त्तकों व उन्नायकों में थे जिन्होंने स्वान्तः सुखाय ही हिन्दी की सेवा की और जो उसके साहित्य के इतिहास में अपना अमर स्थान बना गये। भारतेन्दु और प्रेमघन, ये ही दो नक्षत्र हिन्दी-साहित्य के धुंधले आकाश में उस समय विशेष प्रतिभा-सम्पन्न दिखाई देते थे। ये दोनों न केवल समसामयिक और सहयोगी थे, अभिन्नहृदय मित्र भी थे और इनकी मैत्री हिन्दी के नवीन उत्थान-रूपी प्रभात की मंगल-सूचना थी।

पण्डित बदरीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन'

प्रेमघन जी का पूरा नाम पण्डित बदरीनारायण चौधरी था। 'प्रेमघन' उनका उपनाम था, जो हिन्दी कवियों की पुरानी परिपाटी के अनुसार कविता के लिए रख लिया गया था। वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे। उनके पिता पंडित गुरुचरणलाल जी उपाध्याय, जो पहले दन्तापुर (आज़मगढ़-ज़िला) में रहते थे और बाद को ज़मींदारी तथा कार-बार के कारण मिर्ज़ापुर और गोंडा में रहने लगे थे, संस्कृत के बड़े प्रेमी थे। संस्कृत का प्रचार उन्होंने अपने जीवन का ध्येय-सा बना लिया था। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षा और प्रेरणा से उन्होंने सरयू-बाग़, अयोध्या, में एक संस्कृत-पाठशाला भी खोली थी, जिसमें वेद और वेदांगों के अध्ययन की समुचित व्यवस्था थी। इसके उपरान्त उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों में संस्कृत की ३-४ पाठशालायें और खोलीं, जिनमें लगभग एक सहस्र विद्यार्थियों को साहित्य, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष और धर्मशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। उनकी पाठशालाओं में वेदाध्ययन प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य था।

इस प्रकार पण्डित गुरुचरणलाल जी ने अपने पुत्रों तथा सम्बन्धियों के लिए विद्या का एक उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत कर दिया था। प्रेमघन जी के जीवन पर इस वायुमंडल का बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा, उनके जीवन-प्रभात की घड़ियाँ विद्वानों के सहयोग में व्यतीत हुईं, जिससे उनके हृदय में विद्या का अटल अनुराग उत्पन्न हो गया।

प्रेमघन जी ने अपने बाल्य-काल में हिन्दी, उर्दू, अँगरेज़ी और संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की थी। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत उनके जीवन में पूर्णरूप से चरितार्थ हुई। उनको कविता की रुचि बाल्य-काल से ही थी, जो अच्छा पद्य उन्हें मिल जाता उसे बिना कंठ किये नहीं छोड़ते थे। अपनी पत्रिका 'आनन्द-कादम्बिनी' में प्रेमघन जी स्वयं 'सूचना' शीर्षक के अन्तर्गत अपनी प्रारम्भिक कविता के विषय में लिखते हैं—

"कविता से स्वभावतः अनुराग तो मुझे बचपन से ही था। विद्याध्ययन के समय गद्य की अपेक्षा पद्य को विशेष रुचि से पढ़ता था, उत्तम उत्तम छन्दों को मैं कण्ठ करता था, अन्य भाषा की पुस्तकों के अर्थ लिखने-कहने में भी

तुकबन्दी किया करता, वरञ्च कभी कभी दूसरी भाषा के छन्दों का अनुवाद भी करता, सहवासियों को सुनाता और प्रशंसा पाकर प्रसन्न होता था।"

कविता के सिवा प्रेमघन जी को संगीत से भी विशेष अनुराग था। इसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"यौवनावस्था के आविर्भाव के संग मुझे संगीत-विद्या में अधिक अनुराग उत्पन्न हो चला और एक गान-विद्या-विशारद परमप्रिय मित्र के घनिष्ट सम्बन्ध से विशेषतः उनके आग्रह से और उनके प्रसन्नतार्थ प्रचलित गाने के गीतों की रचना का अधिक अवसर उपलब्ध हुआ। मैं जो गाने की चीज़ें बनाता, उन्हीं को देता, वे उसे गाते और आनन्द की झड़ी लगाते।"

प्रेमघन जी ने अपने जीवन का अधिक समय मिर्ज़ापुर में व्यतीत किया, क्योंकि यह शहर ही उनके पितामह के समय से उनके कुटुम्ब का निवासस्थान था। जीवन की अन्तिम घड़ियाँ भी उनकी यहीं व्यतीत हुईं। हाँ, पारिवारिक झंझटों के कारण उन्हें वृद्धावस्था में लगभग बारह साल तक शीतलगंज (गोंडा-ज़िले) में भी रहना पड़ा था।

प्रेमघन जी की मित्रगोष्ठी के सदस्य भी विलक्षण थे। सबके सब एक ही रङ्ग में रँगे थे। भारतेन्दु जी तो उनके अनन्य मित्र थे ही। भरतपुर के निर्वासित राजा राव श्रीकृष्णदेवशरणसिंह भी उसी भाँति के थे (खेद है कि इनकी अधिक कवितायें उपलब्ध नहीं हैं। कुछ अवश्य उपलब्ध हैं, जिनके अध्ययन से पता चलता है कि राजा साहब भी एक अच्छे कवि थे)। भारतेन्दु और प्रेमघन जी में इतनी प्रगाढ़ मित्रता थी कि दोनों कुटुम्बी सा हो गये थे। एक-दूसरे के यहाँ महीनों टिके रहते थे, नाचरङ्ग का बाज़ार गर्म रहता था; साहित्यिक चर्चायें अहर्निश होती रहती थीं; दोनों ही पहली कक्षा के रईसों में थे। भारतेन्दु के अनेक पत्रों से जो मेरे पास आज भी सुरक्षित हैं, उनकी बेतकल्लुफ़ी का परिचय मिलता है। एक-दूसरे के ऊपर कटाक्ष भी बड़े मार्मिक होते रहते थे। प्रेमघन जी अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' में पहले दूसरों के लेखों को स्थान नहीं देते थे। इस पर भारतेन्दु का कटाक्ष सुनिए—"जनाब! यह किताब नहीं कि जो आप अकेले ही इकराम फ़रमाया करते हैं, बल्कि अख़बार है कि जिसमें अनेक जन-लिखित लेख होना आवश्यक है; और यह भी ज़रूरत नहीं कि सब एक तरह के लिक्खाड़ हों।"

यद्यपि साहित्य के प्रत्येक अंग को प्रेमघन जी ने अपनी लेखनी-द्वारा आभूषित किया, पर उनके जैसा गद्य हिन्दी-साहित्य में किसी लेखक ने नहीं लिखा। उनकी गद्यशैली का विवेचन करते हुए पंडित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—

"उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधुरी (प्रेमघन) की शैली सबसे विलक्षण थी। वे गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवाले क़लम की कारीगरी समझनेवाले लेखक थे और कभी कभी ऐसे पेंचीले मज़मून बाँधते थे कि पाठक एक एक डेढ़ डेढ़ कालम के लम्बे वाक्य में उलझा रह जाता था। अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे, भाषा अनुप्रासमयी और चुहचुहाती हुई होने पर भी उनका पदविन्यास व्यर्थ के आडम्बर के रूप में नहीं होता था।"

यहाँ प्रेमघन जी के गद्य का एक नमूना देते हैं। भारतेन्दु अवसान के ऊपर प्रेमघन जी (आनन्द कादम्बिनी आश्विन विक्रमीय संवत् १९४२) में लिखते हैं—

"हाय! हाय! वह भारतीय प्रजा का एक ही प्यारा, और भारत आकाश का उँज्यारा, भारतेन्दुरूपी इन्दु, वह भारतभामिनी के स्वच्छ ललाट का केशरबिन्दु पर अगणित गुणों का आकर और पश्चिमोत्तर देश का प्रभाकर निश्चय आज अस्त हो गया है, जिससे आज हितैषियों का समाज शोक ग्रस्त हो गया है, आज आर्यों का मान अवश्य घट गया, आज आर्य विद्या का पुष्कर पट गया, आह! वह सर्व जनमन-रञ्जन खञ्जन उड़ गया जिसके कारण उन्नति-आशा का जहाज आज विपत्ति वारिधि में डूब गया।"

कितनी थोड़ी सी बात को प्रेमघन जी ने अपनी काव्य कल्पनाओं और मनोहर विचारों तथा सुन्दर शब्दचयन द्वारा कितना चित्तआकर्षक बना दिया है। एक नमूना और देखिए। प्रेमघन जी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन में सभापति के पद से दिये हुए अपने भाषण में कहते हैं—

"आरम्भ में जब उस त्रिगुणातीत त्रिकालज्ञ परमेश्वर ने इस जगत् की सृष्टि करनी विचारी, तब प्रथम ही उसकी आदिशक्ति ने शब्द की सृष्टि की। वह शब्द प्रणव था, जिसमें न केवल तीन मात्रा वा अक्षर, वरञ्च त्रिगुणमयी माया, त्रिदेव और त्रिशक्ति, यों ही त्रिलोक की सारी सामग्री बीजरूप से अन्तर्हित थी।"

इन उद्धरणों से हमें प्रेमघन जी की गद्यशैली का कुछ आभास मिल सकता है। प्रेमघन जी की कवितायें अपने ढंग की अनोखी हैं। हिन्दी के अतिरिक्त उन्होंने कुछ कवितायें उर्दू में भी लिखी हैं, जिनमें उन्हें उतनी ही सफलता प्राप्त हुई है जितनी हिन्दी-रचनाओं में। उनकी लिखी उर्दू की कुछ ग़ज़लें तो बहुत ही उत्तम हैं। इनकी हिन्दी-कविताओं को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) व्रजभाषा की रचनायें, (२) खड़ी बोली की रचनायें।

प्रेमघन जी की कविता में अनुप्रास की सुन्दर छटा देखने को मिलती है। उनकी व्रजभाषा की कविताओं पर देव और पद्माकर की शैली की छाप लगी हुई है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद्य हैं—

मोहनी सूरत मैनमई अरु माधुरी या मनमोहि अमन्द है,
त्यों सुभाय सनेह लसै त्यों बसै रसहू को तहीं छल छन्द है।
मूरतिमान सिंगार हिये घनप्रेम विहार सदा नँदनन्द है,
साँवरी सूरति वेश विचित्र ते जान्यो परै के यहै हरिचन्द है॥

खड़ी बोली में उन्होंने नवीन विषयों पर ही अधिकतर कविता की है, पर इसका यह आशय नहीं है कि प्राचीन विषयों पर खड़ी बोली में उन्होंने नहीं लिखा है। दादाभाई नौरोजी के पार्लियामेंट के मेम्बर होने के समय, विक्टोरिया की हीरक जुबली के अवसर पर और अनेक सामयिक अवसरों पर उन्होंने व्रजभाषा में कई सुन्दर कवितायें लिखी हैं।

विलायत में दादाभाई नौरोजी को एक अँगरेज़ ने 'काला' कहकर उनका उपहास करना चाहा था। उस पर प्रेमघन जी लिखते हैं—

"अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं वारे॥
कारे काम, राम, जलधर जल बरसनवारे।
कारे लागत ताहीं सों कारन को प्यारे॥
यातें नीको है तुम कारे जाहु पुकारे।
यहै असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे॥
सफल होहिं मन के सब ही संकल्प तुम्हारे।

सन् १९०६ में श्री भारतधर्ममहामंडल और सनातन-धर्म-महासभा के अधिवेशनों के अवसर पर वितरित 'आनन्द अरुणोदय' नामक रचना में 'प्रेमघन' जी लिखते हैं—

"हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उस नेता का॥
अरुणोदय एकता दिवाकर प्राचीदिशा दिखाती।
देखा नव उत्साह परमपावन प्रकाश फैलाती॥
उद्यम-रूप सुखद मलयानिलि दक्षिण-दिशि से आता।
शिल्प-कमल-कलिका-कलाप को बिना विलम्ब खिलाता॥
देशी बनी वस्तुओं का अनुराग-पराग उड़ाता।
शुभ आशा-सुगन्ध फैलाता मन-मधुकर ललचाता॥
वस्तु विदेशी तारकावली करती लुप्त प्रतीची।
विद्वेषी उलूक छिपने का कोटर बनी उदीची॥
उन्नति-पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई,
खग 'वन्देमातरम्' मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई॥

प्रेमघन जी ने कुछ गीत भी लिखे हैं, यद्यपि उनमें गद्य की शैली की भाँति कोई विशेषता नहीं है। उनके गीतों में शब्दचयन की छटा देखने योग्य है। सरसता का प्रवाह भी बड़ा रमणीय है। कुछ नमूने देखिए—

(१)

बन बन गाय चरावत घूमो, ओढ़े काली कमरी।
तुम का जानी रस की बतियाँ! हौ बालक रगरी॥
बेइमान! दान कस माँगत गहि बहियाँ हमरी।
सीखो प्रेम, प्रेमघन! अबहीं छोड़ो मोरी डगरी।

(२)

जय जय जग जननि गङ्ग! सोभा तरलित तरङ्ग संग सदा
भंजनि त्रय ताप, त्रिपथगामिनी—

अनुप्रासों और अलंकारों से उन्हें कितना अनुराग था, यह निम्न उद्धरणों से ज्ञात हो जायगा—

(१) हरिपद हरि सीस बसी, जग जग के भाग खसी भूमि
भक्ति भागीरथ बिलोकत सुर स्वामिनी।
सीतल सुचि स्वच्छ सलिल, सुधा स्वाद सरस अखिल
मुदमंगल मूलई सकल सुफल धामिनी।

हरित पुन्निन सेत धार, मिल छवि छहरत अपार मानहुँ
घनश्याम बीच दमकत दुति दामिनी।
पर्रास महापापिन तन, पापरासि तुव जलकन तरनि
किरन मरिम तिमिर नासत जनु जामिनी।
प्रफुलित नवकंज हंसत, गुञ्जत अलिपुञ्ज लसन निदरत
छवि मज्जन सुख जनु सुर कुल कामिनी।
देव मनुज नारि नर न्हाय तोहि वन्दन वर, पूजा
सुमनावलि लहि सोभा अभिरामिनी।
धारे धन प्रेम प्रेम सेवत तुहि सहित नेम उभयलोक
सोक हरहु सुर सरिता नामिनी।

(२) बगियान बसंत बसेरो कियो बसिये तोहि त्यागि तपाइए ना
दिन काम कुतूहल के जो बने, तिन बीच वियोग बुलाइए ना॥
घनप्रेम बढ़ाय कै प्रेम अहो! विथा वारि वृथा बरसाइए ना।
चित चैत की चाँदनी चाह भरी चरचा चलिवै की चलाइए ना

प्रेमघन जी ने दो नाटक भी लिखे हैं। एक का नाम है भारत-सौभाग्य और दूसरे का है प्रयाग-रामागमन। इनके अतिरिक्त 'वाराङ्गना-रहस्य' नाम का उनका एक अधूरा नाटक भी है। 'भारत-सौभाग्य' में देशकालीन परिस्थिती का बड़ा सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। उसकी टक्कर का चित्र हिन्दी के और किसी नाटक में नहीं मिलता।

प्रयाग-रामागमन एकाङ्की नाटक है, जिसमें रामचन्द्र जी के भारद्वाज मुनि के आश्रम पर पहुँचने का चित्र अंकित किया गया है।

प्रेमघन जी के तीसरे नाटक 'वाराङ्गना-रहस्य' के अधूरे रहने का कारण उनके मित्र भारतेन्दु जी का आग्रह था। भारतेन्दु जी का कहना था कि इस नाटक के नायक का चरित्र बिलकुल मेरा ही चरित्र है। इसी कारण प्रेमघन जी ने उसे अधूरा ही छोड़ दिया; क्योंकि अपने अभिन्न हृदय मित्र का दिल दुखाना उन्हें अभीष्ट नहीं था।

हिन्दी-साहित्य का सबसे बड़ा उपकार प्रेमघन जी ने समालोचना का सूत्रपात करके किया। वास्तव में प्रेमघन जी ही हिन्दी के सर्वप्रथम समालोचक हुए हैं। इस विषय में पंडित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-साहित्य के इतिहास पृष्ठ ४८५ में लिखते हैं—"लेख के रूप में पुस्तकों की विस्तृत समालोचना मैं समझता हूँ, उपाध्याय पंडित बदरी-नारायण चौधरी ने अपने आनन्दकादम्बिनी में शुरू की।" उनकी समालोचना का एक नमूना हम नीचे देते हैं। लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगितास्वयंवर' नाटक की समालोचना करते हुए प्रेमघन जी लिखते हैं—

"यदि यह संयोगितास्वयंवर पर नाटक लिखा गया तो इसमें कोई दृश्य स्वयंवर का न रखना मानो इस कविता का नाश कर डालना है। क्योंकि यही इसके वर्णनीय विषय है और अभिनय में मुख्य आनन्ददायी, एवम् कवि के कविता दिखाने का मौक़ा है, न एतबार हो रघुवंश, रामायण आदि में स्वयंवर को देख लीजिए। एक बात प्रमुख और यह है कि कोई रस का इसमें उत्तमता से उदय नहीं हुआ है।"

प्रेमघन जी की प्रतिभा का व्यय केवल कवितायें और लेख लिखने में ही नहीं हुआ, प्रत्युत उन्होंने जाति-सेवा का भी कार्य किया। अपनी आनन्दकादम्बिनी-द्वारा हिन्दी-साहित्य के साथ साथ उन्होंने सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों पर भी बड़ा प्रकाश डाला, जो उस समय के पाठकों के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ।

वास्तव में उनके हृदय में हिन्दी, हिन्दू और हिन्द के लिए अटूट अनुराग था। यह उन्हीं जैसे महान् आत्माओं के अथक परिश्रम का फल है जो हम आज हिन्दी-साहित्य को फलता-फूलता देख रहे हैं। जो महापुरुष अपनी सत्ता और शक्ति-द्वारा समय की धारा को पलट कर एक नये युग की सृष्टि कर देते हैं उनका नाम इतिहास में बड़े गौरव के साथ लिखा जाता है। प्रेमघन जी भी ऐसे ही व्यक्तियों में थे जिनकी बहुमुखी प्रेरणाओं और सेवाओं के लिए हिन्दी-भाषी सदैव उनके कृतज्ञ रहेंगे और उनका नाम स्नेह और अनुराग के साथ सदैव स्मरण रक्खेंगे।

भारतीय राजनीति का दूसरा परिच्छेद

भारत में संघ-शासन-प्रणाली की स्थापना के लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि अँगरेज़ी भारत के स्वराज्य-प्राप्त प्रान्तों की तरह देशी राज्यों में भी उत्तरदायी शासन-प्रणाली की स्थापना की जाय। नये शासन-विधान के बन जाने पर अँगरेज़ी सरकार के अधिकारी एवं राजकर्मचारियों ने स्पष्ट शब्दों में इस बात को बार बार कहा है कि यदि देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना वहाँ के नरेश करेंगे या वहाँ के प्रजाजन उसके लिए आन्दोलन करेंगे तो अँगरेज़ी सरकार उसमें किसी भी तरह बाधक न होगी। फलतः देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन के लिए आन्दोलन शुरू हुआ, जिसके दमन के लिए राजाओं ने भी उग्र नीति ग्रहण की। यह स्थिति देखकर कांग्रेस के नेताओं को लाचार होकर बोलना पड़ा, परन्तु देशी नरेशों ने उनके सद्परामर्श की उपेक्षा की। इस पर उन्होंने अब देशी राज्यों के आन्दोलन को अपने हाथ में ले लिया है। कांग्रेस के सर्वेसर्वा महात्मा गांधी का कहना है कि राजाओं की सार्वभौम सत्ता मदद कर रही है और वे उसके संकेत पर उत्तरदायी शासन की सार्वजनिक माँग को दमन से दबाकर प्रजा को नागरिकता के अधिकारों से भी वञ्चित रखना चाहते हैं। अतएव उनके लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के आन्दोलन को अपने हाथ में लेकर अँगरेज़ी सरकार की कूटनीति का समुचित उत्तर दें। ऐसा समझा जाता है कि वायसराय महोदय संघ-शासन की स्थापना के लिए विशेष तत्परता से काम कर रहे हैं और वे जानते हैं कि कांग्रेस संघ-शासन-व्यवस्था के वर्तमान रूप के सर्वथा विरुद्ध है। ऐसी दशा में कांग्रेस के प्रान्तों में अधिकारारूढ़ रहते वे संघ-शासन की स्थापना कठिनाई से कर सकेंगे। हाँ, यदि कांग्रेस पहले की तरह फिर असहयोग कर जाय तो संघ-शासन की स्थापना में उनको विशेष सुविधा हो जायगी। यदि भारत-सरकार के सूत्रधारों की ऐसी धारणा है तो यह उनका भ्रम है। गत बीस वर्षों में कांग्रेस ने भले प्रकार सिद्ध कर दिखाया है कि जनता का दमन करने में ब्रिटिश सरकार बारबार असफल हुई है तब अब वह देशी राज्यों को शिखण्डी बनाकर अपने उद्देश में कैसे सफल होगी? परन्तु इतिहास अपने को दुहराता रहता है और जानकार लोग भी उसकी धारा में बहते रहते हैं। नहीं तो जब एक बार समझौता हो ही गया तब उसको अधिकाधिक व्यापक बनाने में ही दोनों पक्षों के लिए हित की बात थी। परन्तु भारतीय राजनीति में इस सद्बुद्धि की भावना कभी अस्तित्व में नहीं रही है और ऐसा प्रतीत होता है कि स्वाधीनता की वर्तमान लड़ाई में अभी भारतीयों को अधिक से अधिक कष्ट सहन करने पड़ेंगे। देशी राज्यों के मोर्चों से देश की राजनीति में जो नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई है वह उनके लिए आश्चर्य की बात हो सकती है जो समझौते को ही सारवस्तु समझते हैं। परन्तु स्वाधीनता के वीर योद्धा तो ऐसी विषम स्थितियों का स्वागत ही करते हैं। वही दिखाई भी दे रहा है। राजकोट में वयोवृद्धा श्रीमती कस्तूरबाई का तथा जयपुर में श्रीयुत जमुनालाल बजाज का सत्याग्रह करना इसी बात का सूचक है। हाँ, यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि जब ग्रेट ब्रिटेन की सरकार योरप में अपने विरोधियों से विश्व-शान्ति की रक्षा के विचार से दबकर तथा हानि उठाकर भी समझौते पर समझौते करना अपने लिए हितकर समझ रही है तब यहाँ भारत में उसी की अधीनस्थ सरकार उसके विपरीत विषम नीति का ग्रहण करना उचित मान रही है। परन्तु भारतीय भाग्यशाली हैं कि उनके एकमात्र नेता महात्मा गांधी उनका नेतृत्व पूर्ववत् सावधानी के साथ कर रहे हैं और उनको अपनी विजय का पूर्ण विश्वास है।

ब्रिटेन की निर्बलता

ग्रेट ब्रिटेन संसार के सर्वश्रेष्ठ शक्तिशाली राज्यों में है। इसकी एक पदवी 'ब्रिटिश लायन' (ब्रिटिश शेर) है। ब्रिटेन की भूमि में जो जन्म लेता है वह दूसरों पर शासन करने के लिए। सैकड़ों वर्ष से वह सारे भूमण्डल पर शासन कर रहा है। और संसार का कोई देश उसके आगे सिर नहीं उठा सका। जिसने सिर उठाने का साहस किया भी उसने ऐसी मुँह की खाई कि सदा के लिए मिट्टी में मिल गया। परन्तु आज ऐसी बात नहीं है। जर्मनी, इटली और जापान उसकी शान के ख़िलाफ़ बातें कर रहे हैं। यही नहीं, उसके साम्राज्य के कतिपय भूभागों में उसके शासन का विरोध ही नहीं हो रहा है, किन्तु उनमें से आयर्लेंड और मिस्र तो बहुत कुछ स्वाधीन भी हो गये हैं और शेष स्वाधीन होने का उपक्रम कर रहे हैं। और इन बातों से भी अधिक ग़ज़ब की बात तो यह है कि इधर कुछ दिनों से स्वयं ब्रिटेन में एक ऐसी घटना हो रही है जिसके संघटित होने की वहाँ स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती थी। वह है वहाँ आये दिन होनेवाली बम-विस्फोट-लीला, जिसके डर से ब्रिटेन के बादशाह तथा राज्य के प्रमुख अधिकारियों की रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ा है। कहा जाता है कि यह बमबाज़ी आयर्लेंड की 'प्रजातंत्रीय सेना' के कुचक्र का परिणाम है, जिसकी यह माँग है कि ब्रिटेन आयर्लेंड से अपनी सेना बुला ले, अन्यथा इँग्लेंड के राजकर्मचारियों तथा फ़ौजी भाण्डारों जैसे महत्त्व के स्थानों की ख़ैर नहीं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि बाहर से आकर लोग स्वयं ब्रिटेन में इस प्रकार का उत्पात करें और वहाँ की सरकार उनका प्रतीकार करने में विफल हो। इधर घर में यह हाल है, उधर बाहर जर्मनी अपने उपनिवेश माँग रहा है, इटली भूमध्यसागर में अपना प्रभुत्व चाहता है और जापान चीन में उसकी सारी सत्ता का उन्मूलन करने में लगा हुआ है। और ब्रिटेन के प्रधान मंत्री सर नेवाइल चैम्बरलेन शान्ति का राग अलापने में ही ब्रिटेन के साम्राज्य का कुशल समझ रहे हैं। ब्रिटेन की वर्तमान सरकार गत कई वर्षों से जो नीति ग्रहण किये हुए है, यह उसी का भयानक परिणाम हुआ है कि आज उसके घर में तथा बाहर उसकी छीछालेदर ही नहीं हो रही है, किन्तु अब तो वह भीषण स्थिति भी बिलकुल समीप आ गई है जिससे वह डरता रहा है। वह परिस्थिति है महायुद्ध की, जिसके बचाने के लिए अपनी पद-मर्यादा तक को भूलकर ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री को योरप के तानाशाहों के दरबारों में बार बार जाना-आना पड़ा है। परन्तु इतने पर भी युद्ध टाला नहीं जा सका और अन्त में आज उन्हें भी हिटलर के जवाब में ललकारना ही पड़ा कि यदि फ्रांस पर आक्रमण होगा तो ब्रिटेन उसकी सहायता करेगा। सो महायुद्ध के लिए उभय पक्ष अब एक-दूसरे को चुनौती दे रहे हैं ऐसी दशा में महायुद्ध का छिड़ जाना अनिवार्य सा प्रतीत हो रहा है और एक साधारण-सी बात को लेकर ही छिड़ सकता है। और यह परिणाम होगा ब्रिटेन की निबलता की नीति का।

श्रीमन्त सयाजीराव गायकवाड़ का स्वर्गवास

बड़ौदा-नरेश श्रीमन्त सयाजीराव गायकवाड़ का गत ६ फ़रवरी को अपने बम्बई के महल में, ७७ वर्ष की आयु में, स्वर्गवास हो गया। ऐसा कौन स्वदेश-प्रेमी और हिन्दी-प्रेमी भारतवासी होगा जिसके हृदय को इस समाचार से धक्का न लगा हो! स्वर्गीय गायकवाड़ महाराज भारत के स्वतंत्र नरेशों में आदर्शरूप थे। आपके व्यक्तित्व के प्रति प्रत्येक भारतवासी के हृदय में अपार श्रद्धा थी। आपकी ऐसी लोकप्रियता का कारण न आपका धन था, न राज्य और न उच्च कुल, वरन राष्ट्रीयता और भारतीयता की वह सच्ची भावना थी जो आपके हृदय में आदि से अन्त तक एकरूप से बनी रही। आप उस ज़माने में भी देशभक्तों की माला के उज्ज्वल रत्न थे जब ब्रिटिश भारत के साधारण नागरिक भी स्वतंत्रता, स्वदेशी और वन्दे-मातरम् शब्दों का उच्चारण करने से डरते थे। आपके शरीर के साथ भारत का गत ६५ वर्ष का जागरण-इतिहास संबद्ध है।

आपका जन्म सन् १८६२ ईसवी की १७वीं मार्च को नासिक-ज़िले के एक छोटे से गाँव में, एक महाराष्ट्र कुल में, हुआ था। सन् १८७५ में बड़ौदा के महाराज मल्हारराव को, कुप्रबंध के आरोप में, जब ब्रिटिश सरकार ने गद्दी से उतार दिया तब महारानी जमनाबाई ने जो अपदस्थ महाराज के बड़े भाई खांडेराव की पत्नी थीं—बालक गोपालराव को गोद लेकर राज्य का उत्तराधिकारी

घोषित किया। यही गोपालराव महाराज सयाजीराव (तृतीय) के नाम से प्रख्यात हुए। सन् १८८१ में आपको पूर्णाधिकार प्राप्त हुए। उस समय से लेकर जीवन-पर्यन्त अपनी प्रजा के हित को दृष्टि में रखकर ही आपने अपने राज्य का शासन किया है।

आपके गद्दी पर बैठते समय राज्य की अवस्था अच्छी न थी। उस पर कई करोड़ रुपये का ऋण था। व्यवस्था भी गड़बड़ थी। सौभाग्यवश आपको सर टी० माधवराव जैसे सुयोग्य और प्रबन्धपटु दीवान का सहयोग प्राप्त हो गया। शीघ्र ही राज्य की अवस्था सुधर गई और अब तो वहाँ की प्रजा की अवस्था इतनी अच्छी है, जितनी भारत के शेष किसी भी भाग में नहीं।

[बड़ौदा के स्वर्गीय नरेश श्रीमन्त सरकार सयाजीराव गायकवाड़।]

आपने धन का दुरुपयोग कभी नहीं किया। साथ ही श्री अरविन्द घोष और मौलाना मुहम्मद अली जैसे प्रतिष्ठित देशभक्तों को राज्य की सेवा में रखकर अपनी गुण-ग्राहकता तथा प्रबन्धपटुता का भी पूर्ण परिचय दिया। आपका साहस देशी नरेशों के लिए आदर्श था। आप लोकमान्य तिलक से बेखटके मिलाजुला करते थे और वह भी उन दिनों जब सन् १९११ के दिल्ली-दरबारवाले मुजराकांड को लेकर ब्रिटिश सरकार आपसे बेहद नाराज़ हो गई थी। अब से २० साल पहले आपके राज्य में हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित की गई थी। अनिवार्य-शिक्षा, चलते-फिरते पुस्तकालय, अगणित देशी चिकित्सालय, रियासत के औद्योगीकरण के कार्य, सामाजिक असुविधायें मिटानेवाले क़ानून आदि एवं अनेक सद्योजनायें आपकी छत्र-च्छाया में चलकर पूरी तरह फूली-फलीं। बड़ौदा की प्रजा को जो-जो सुखसाधन प्राप्त हैं उनकी तुलना आज के भारत के स्वशासन-प्राप्त प्रान्तों में भी नहीं मिल सकती। जिस सधशासन को आज महत्त्व दिया गया है उसका सर्वप्रथम उच्चार २०-२५ वर्ष पूर्व आपने ही किया था और इस प्रकार अपनी दूर-दर्शिता का परिचय दिया था। गत कुछ वर्ष से आप अस्वस्थ थे। स्वास्थ्य और कुछ राजनैतिक झगड़ों के कारण आप प्रायः बाहर ही रहा करते थे। गत आक्टोबर में आप योरप से लौटकर भारत आये थे। यहाँ आकर आपका स्वास्थ्य अधिक बिगड़ गया, जो आपके देहावसान का कारण हुआ। आपकी गद्दी पर श्रीमन्त प्रतापसिंहराव बैठे हैं, जो आपके पौत्र हैं। आशा है कि आप भी अपने पूज्य और आदर्श पितामह के पदांकों का अनुसरण करते हुए प्रजा के उसी प्रकार प्रीति-भाजन बनेंगे।

संयुक्त-प्रान्त में साक्षरता-प्रसार

प्रान्तीय सरकार और शिक्षा-मन्त्री माननीय सम्पूर्णानन्द जी प्रान्त के कोने-कोने में शिक्षा का प्रचार किस शीघ्रता से करना चाहते हैं, और इसके लिए वे कितने सचिन्त हैं, यह उनकी योजनाओं से प्रकट होता है। प्रान्त के प्रमुख-प्रमुख केन्द्रों में ६६० प्रौढ़ पाठशालायें खोली गई हैं, जिनमें प्रौढ़ किसानों को मुफ़्त शिक्षा दी जायगी। ग्रामवासियों को समय की गति-विधि का ज्ञान रहे, इसके लिए ७६८ चलते-फिरते पुस्तकालय खोले गये हैं। इनमें से प्रत्येक की ५-५ शाखायें हैं, जिनमें हिन्दी-उर्दू की तीन-तीन सौ पुस्तकें जनसाधारण के उपयोग के लिए रक्खी गई हैं। इसके अतिरिक्त ३,६०० वाचनालय भी खोले गये हैं, जिनमें २-२ साप्ताहिक और

२-२ मासिकपत्र आते रहेंगे। 'रुपया-शिक्षा-योजना' भी चलाई गई है। अर्थात् जो पढ़ा-लिखा किसी निरक्षर को थोड़ा पढ़ना-लिखना सिखा दे उसे १) सरकार की ओर से पुरस्कार-स्वरूप मिलेगा। आरंभिक ग्राम-स्कूलों की दशा में भी काफ़ी परिवर्त्तन और सुधार किये गये हैं।

पर इन सबसे महत्त्वपूर्ण और नाटकीय योजना 'साक्षरता दिवस' की थी। गत १५ जनवरी को प्रान्त भर में यह दिवस बड़े उत्साह और धूम-धाम से मनाया गया। प्रभात-फेरियाँ निकाली गईं; सभायें की गईं; भाषण हुए। गवर्नर और प्रीमियर से लेकर साधारण किसान-मज़दूरों तक लाखों पढ़े-लिखे व्यक्तियों ने प्रतिज्ञा-पत्र भरे कि वे या तो एक निरक्षर को पढ़ना-लिखना सिखा देंगे या ऐसा न करने पर २) चन्दे के रूप में देंगे, जो किसी निरक्षर के पढ़ाने में व्यय किया जायगा। साधारण सड़कों और ग्राम रास्तों पर पाठशालायें बैठाई गईं, जिनमें प्रौढ़ों को पढ़ाने का प्रदर्शन किया गया। इलाहाबाद की एक आम सड़क पर १५०० प्रौढ़ छात्रों की एक ऐसी ही पाठशाला बैठाई गई थी। पढ़ानेवाले ये आठ वर्ष के पौत्र और पढ़नेवाले थे साठ वर्ष के पितामह अ, आ का अभ्यास हो रहा था और लगभग ५० हज़ार दर्शक पुलकित नेत्रों से यह स्वर्गीय दृश्य देख रहे थे।

प्रयाग में साक्षरता दिवस के अवसर पर प्रौढ़ों को पढ़ाते हुए माननीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन।

देश की आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक—सभी प्रकार की उन्नतियों के लिए साक्षरता प्रथम सीढ़ी है। बिना साक्षरों का बहुमत हुए देश में कोई योजना सफल नहीं हो सकती—हमारे सभी नेता समय-समय पर इस कटु-सत्य का अनुभव करते रहे हैं। कैसी कठिनता पड़ती है कि जिनसे हम कुछ कहना चाहते हैं वे हमारी बात ही नहीं समझ पाते, न अपनी बात हमसे कहने की योग्यता रखते हैं। कोई राष्ट्र तभी उन्नति कर सकता है जब उसके प्रत्येक व्यक्ति में आत्मोन्नति की भावना जाग्रत हो जाय। बिना साक्षरता का प्रचार हुए ऐसी आशा करना स्वप्न की बात है। अतएव 'साक्षरता दिवस' का उपर्युक्त आयोजन एक आदर्श काम हुआ है। आशा है, अन्यान्य प्रान्त भी इस दिशा में संयुक्तप्रान्त की प्रतिस्पर्धा करेंगे।

भारतवर्ष में अँगरेज़ी सरकार को स्थापित हुए १५० वर्ष हो गये। इस डेढ़ शताब्दी के लम्बे काल में उसने जनसाधारण में शिक्षा के प्रचार के लिए कोई व्यापक प्रयत्न नहीं किया; फल यह हुआ कि असेम्बलियों में शिक्षा के नाम से करोड़ों के बजट पास होते रहे और भारतीय पहले से भी अधिक निरक्षर हो गये। साथ ही जब जब माननीय गोखले आदि नेताओं ने अनिवार्य-शिक्षा का प्रश्न उठाया तब तब सरकार की ओर से उसका घोर विरोध किया गया।

कांग्रेस को भारतीय जनता की इस कमी का अनुभव है। प्रान्तों के शासन की बागडोर उसके हाथों में आ जाने पर अनुभव से लाभ उठाना, उसका प्रधान कर्तव्य है। प्रसन्नता की बात है कि वह उसका सावधानी के साथ पालन कर रही है!

शान्तिनिकेतन में हिन्दी-भवन

सन् १९३४ की बात है। विश्व-भारती में हिन्दी की उपेक्षा वहाँ के कुछ अबंगाली निवासियों को अखरी। जिस अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय में दुनिया भर की संस्कृतियों का मेल हो और सबकी अपनी अपनी चेयर हो, वहाँ हिन्दी की बात भी न पूछी जाय, यह अनोखी-सी बात थी। एक दिन पाँच मित्रों ने बैठकर एक योजना बना ही तो डाली। हिन्दी-समिति की स्थापना होगई, पर सदस्य थे केवल पाँच। पंडित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीयुत भक्तदर्शन, श्रीयुत ललिताशंकर, श्रीयुत शम्भुनाथ झा और उमेशचन्द्रदेव (इन पंक्तियों का लेखक)। सदस्य, श्रोता, वक्ता, पदाधिकारी सब कुछ वे ही थे। कार्यक्रम था प्रत्येक रविवार को लेखों, कविताओं व वाद-विवादों-द्वारा 'हिन्दी' की चर्चा। प्रोफ़ेसर द्विवेदी की कुटी की एक छोटी-सी कोठरी ने उसके आफ़िस का रूप लिया। बैठक वृक्षों की छाया में कहीं भी जम जाती थी। शान्ति-निकेतन का ढंग ही ऐसा है। उन दिनों समूची विश्व-भारती में हम पंचों को छोड़कर हिन्दी समझनेवाला भी शायद कोई न था। धीरे-धीरे हमारे सदस्यों की संख्या बढ़ी और बड़े बड़े लोग भी हमारी बैठकों में शामिल होने लगे, यद्यपि उन्हें अपनी बात समझाने के लिए हमें अंत तक अंगरेज़ी का सहारा लेना पड़ता था।

विश्व-भारती के एक कोने में नितान्त अप्रसिद्ध हाथों से लगाया हुआ वह पौधा, दीनबन्धु एण्ड्रूज़ जैसे महात्माओं के हाथ से सिंचकर, आज विशाल वृक्ष बन गया है—यह जानकर हिन्दी-प्रेमियों को न जाने कितनी ख़ुशी होगी! विश्व-भारती में कुछ अपनी निजी विशेषतायें हैं। अन्य विश्वविद्यालयों में ज्ञान प्रदान किया जाता है, पर वहाँ ज्ञानाधार संस्कृति की अथवा ज्ञानफल की चर्चा होती है। अर्थात् वहाँ प्रकृति के गूढ़ रहस्यों की अपेक्षा मानव-हृदय के गूढ़ रहस्यों की खोज पर विशेष ध्यान दिया जाता है। फलतः भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के समन्वय और अनुशीलन के लिए उस तीर्थ में अनेक मन्दिर (चेयर) हैं। अभाव था एक हिन्दी-मन्दिर का, जो उस तीर्थ के यात्रियों को बहुत खटकता था। हर्ष की बात है कि विश्वकवि के आशीर्वाद, दीनबन्धु एंण्ड्रूज़, पण्डित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी व पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के परिश्रम तथा श्रीयुत भागीरथ कनोडिया व श्रीयुत सीताराम सेकसरिया की उदारता से अब वहाँ 'हिन्दी-मन्दिर' की स्थापना होगई है। राष्ट्रमूर्ति नेहरू जी के हाथों से गत ५ फ़रवरी को उसका उद्घाटन-संस्कार हुआ है।

इस प्रकार की सु-संस्कृत-संस्था अपना अस्तित्व आप सिद्ध करेगी, इसकी हमें पूर्ण आशा है।

कमाल अतातुर्क के उत्तराधिकारी

कमाल अतातुर्क की मृत्यु के पश्चात् तुर्की के निवासियों ने इस्मत इनोन्यू को सर्व-सम्मति से अपना राष्ट्रपति चुना है। लोकप्रियता की दृष्टि से अतातुर्क के बाद तुर्की भर में आपका ही नाम आगे आता है। आप एक वीर योद्धा और कुशल राजनीतिज्ञ हैं। आपका जन्म १८८० ईसवी में 'इज़मिर' नामक स्थान में हुआ था। बचपन में कुछ सैनिक शिक्षा पाने के पश्चात् आप तुर्की-सेना में सिपाही होकर भर्ती हो गये और बलकान-युद्ध तथा योरपीय महायुद्ध

[तुर्की के नये राष्ट्रपति इस्मत इनोन्यू]

में अपूर्व शौर्य दिखलाया। इसके फलस्वरूप आप कर्नल बना दिये गये। सिवास-कांग्रेस (सन् १९१९ ई०) के बाद आप अतातुर्क से मिल गये और अन्त तक सभी क्षेत्रों में उनके साथी, सहायक और दाहने हाथ बने रहे। १९१९ से लेकर १९२२ तक आप तुर्की-सेना के सेनापति थे और १९२१ में इन्योन्यू के युद्ध में ग्रीक-सेना को आपने करारी

शिकस्त दी। इस विजय के उपलक्ष में आपको 'इन्योन्यू' की उपाधि दी गई। अतातुर्क को आपकी बल-बुद्धि का पूरा भरोसा था, इसी लिए सन् १९२२-२३ की लासेन कान्फ़रेंस में तुर्की की ओर से प्रतिनिधि बनाकर भेजने के लिए उन्होंने आपको ही चुना था। उस कान्फ़रेंस में आपने अपनी राजनैतिक योग्यता का भी अपूर्व परिचय दिया, जिससे आप तुर्की-निवासियों के विशेष प्रेम-भाजन बन गये। आप दिनचर्या और राजनीति दोनों में नियमों का बड़ी कड़ाई से पालन करते हैं और देश में तथा विदेशों के सम्बन्ध में अतातुर्क की नीति को ही अमल में लाना अपने देश के लिए हितकारक समझते हैं। आपकी कामना है कि तुर्की शीघ्र ही संसार के उच्चतम राष्ट्रों के समकक्ष हो जाय। हम आशा करते हैं कि आपके शासनकाल में तुर्की राज्य की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होगी।

संयुक्तप्रान्त में मादक-वस्तु-निषेध

मादक वस्तु-निषेध को कार्य का रूप देने के लिए प्रान्तीय कांग्रेसी सरकार ने १ अप्रैल सन् १९३८ से एटा और मैनपुरी के ज़िलों में नशीली चीज़ों का इस्तेमाल बन्द कर दिया था। इस काम में सरकार को आशाजनक सफलता मिली है, जो नीचे के आँकड़ों से व्यक्त होता है।

भंग

सन् १९३७ के तीन महीनों—अप्रेल, मई और जून—में इन दो ज़िलों में ८७५ सेर भंग खपी थी। लेकिन नशाबन्दी के साल, यानी सन् १९३८ के तीन महीनों (अप्रेल, मई और जून सन् १९३८) में सिर्फ़ ९ सेर भंग बिकी। इसके बाद भंग की बिक्री बिलकुल बन्द हो गई।

चरस और अफ़ीम

चरस और अफ़ीम का भी इस्तेमाल अब नहीं के बराबर है। सन् १९३७-३८ के पहले तीन महीनों में १४८ सेर चरस बिकी थी। सन् १९३८-३९ के पहले तीन महीनों में सिर्फ़ ४॥ सेर चरस बिकी। लेकिन बाद के दूसरे तीन महीनों में चरस की सिर्फ़ १२ छटाँक बिक्री हुई।

इसी तरह जहाँ सन् १९३७-३८ के पहले तीन महीनों में ८१ सेर अफ़ीम बिकी थी, वहाँ सन् १९३८-३९ के पहले तीन महीनों में वह ९ सेर बिकी। और आगे के दूसरे तीन महीनों में सिर्फ़ ७॥ सेर बिकी।

मैनपुरी के ज़िले में सन् १९३७ से दिसम्बर सन् १९३७ तक ४,३८२ गैलन शराब बिकी थी। लेकिन अप्रेल सन् १९३८ से दिसम्बर सन् १९३८ के बीच सिर्फ़ ३॥ गैलन शराब बिकी, जिसका यह अर्थ है कि नशाबन्दी के शुरू होने के बाद शराब की बिक्री ९९ फ़ी सदी कम हो गई है।

ख़ास ख़ास लोगों को चरस और अफ़ीम के इस्तेमाल के लिए ख़ास इजाज़त दी गई है। मैनपुरी के ज़िले में ३१ अक्टूबर सन् १९३८ तक अफ़ीम के लिए २०५ और चरस के लिए ५१ इजाज़तें दी गई थीं। लेकिन नवम्बर सन् १९३८ के आख़िर तक ये इजाज़तें घटकर सिर्फ़ १६४ और २७ रह गई हैं। इन दोनों नशों का इस्तेमाल भी अब १९ छटाँक और ४ छटाँक से घटकर ४ छटाँक और ३ छटाँक ही रह गया है, जिससे प्रकट होता है कि नशेबाज़ भी अपनी आदत को छोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। एटा-ज़िले में अब तक कुल ३०३ नशेबाज़ों को इजाज़तें दी गई हैं। सरकारी अस्पतालों में इस बात का इन्तज़ाम किया गया है कि अफ़ीमचियों की अफ़ीम खाने की आदत छुड़ाने के लिए उन्हें मुफ़्त दवा दी जाय। इस इलाज से कई लोगों ने फ़ायदा उठाया है।

सरकार को घाटा

नशाबन्दी की वजह से सरकार की आय में बहुत कमी हो गई है। सन् १९३७ के पहले तीन महीनों में गवर्नमेंट को एटा और मैनपुरी के ज़िलों में अफ़ीम के महसूल से ९,४६८ रुपये की आमदनी हुई थी। नशाबन्दी शुरू होने पर सन् १९३८-३९ के पहले तीन महीनों में सिर्फ़ १,४६९ रुपये महसूल में वसूल हुए। इसी साल के दूसरे तीन महीनों में यह महसूल और भी कम हो गया, यानी १,००३ रुपया मात्र रह गया। इससे प्रकट होता है कि सितम्बर सन् १९३९ के आख़िर तक सरकार के अफ़ीम के महसूल में ८,६४५ रुपये का घाटा हुआ। इसी तरह चरस-भंग के महसूल में भी सरकार को १६,५०१ रुपये का घाटा उठाना पड़ा।

आशा है, प्रान्तीय सरकार अपने इस सद्प्रयत्न को अधिक व्यापक बनायेगी।

कांग्रेस के राष्ट्रपति का निर्वाचन

कदाचित् कांग्रेस के इतिहास में यह पहला अवसर है जब कांग्रेस के सभापति का चुनाव नियमपूर्वक हुआ हो। अभी तक तो यही पद्धति थी कि कांग्रेस के प्रमुख नेता ही भीतर भीतर यह तय कर लिया करते थे कि अगले अधिवेशन का कौन व्यक्ति सभापति बनाया जायगा। सन १९०७ में सूरत में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने इस पद्धति का विफल विरोध किया था, जिससे उस समय कांग्रेस में फूट हो गई थी। बाद को लखनऊ-कांग्रेस में सन् १९१५ में यद्यपि विरोधी दल कांग्रेस में आने पाया था, तथापि सभापति के चुनाव की पद्धति पूर्ववत् जारी रही। और इधर जब से महात्मा गांधी कांग्रेस के सर्वेसर्वा बने, उन्हीं की सम्मति से कांग्रेस के सभापति का चुनाव होता रहा। परन्तु इस बार राष्ट्रपति सुभाष चन्द्र वसु ने उक्त पद्धति का विरोध किया और इस विरोध में उनकी जीत हुई। महात्मा गांधी तथा उनके अनुयायी कार्यसमिति के सदस्य यह चाहते थे कि इस बार आन्ध्र के नेता डाक्टर पट्टाभि सीतारामैया सभापति बनाये जायँ और सदा की भाँति वे अविरोध चुने जायँ। परन्तु राष्ट्रपति वसु इस बार भी सभापति पद के लिए खड़े हो गये और कांग्रेस के प्रमुख नेताओं के परामर्श को नहीं माना। इस पर कार्य-समिति के सदस्य सरदार वल्लभभाई पटेल आदि ने वक्तव्य छपवाकर सुभाष बाबू का विरोध किया और मतदाताओं को सलाह दी कि वे डाक्टर पट्टाभि सीतारामैया को ही अगले अधिवेशन का सभापति बनावें। परन्तु उनके इस हस्तक्षेप का उल्टा प्रभाव पड़ा और निर्वाचन में सुभाष बाबू को १९९ के लगभग अधिक वोट मिले। त्रिपुरी-कांग्रेस में जानेवाले विभिन्न प्रान्तों के जिन प्रतिनिधियों ने यह चुनाव किया उनके वोटों का ब्योरा नीचे के कोष्ठक से प्रकट होता है—

[राष्ट्रपति सुभाषचन्द्र बोस। आप बहुमत से दुबारा त्रिपुरी कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये हैं।]

नाम प्रान्त	प्रतिनिधियों की संख्या	सुभाष बाबू को मिले वोट	डाक्टर पट्टाभि को मिले वोट
बंगाल	५४४	४०४	७९
युक्तप्रान्त	४९७	२६९	१८५
बिहार	३२३	७०	१९७
पंजाब	२८५	१८२	८६
आन्ध्र	२५१	२८	१८१
तामिलनाड	२२६	११०	१०२
महाराष्ट्र	१७४	७७	८६
कर्नाटक	१६३	१०६	४१
उत्कल	१३९	४४	९९
महाकोशल	१४७	६७	६८
गुजरात	११५	५	१००
केरल	१०१	८०	१८
आसाम	६०	३४	२२
सीमाप्रान्त	५३	१३	२२
बम्बई	५३	१२	१४
अजमेर	५२	२०	६
सिंध	३९	१३	२१
विदर्भ	३५	११	२१
नागपुर	३१	१२	१७
बर्मा	१६	८	६
दिल्ली	१५	१०	५
	३३२१	१५७५	१३७६

सिद्धान्त की दृष्टि से इस बार का चुनाव ठीक हुआ है और ऐसा ही होना चाहिए। परन्तु व्यावहारिक राजनीति इसके विरुद्ध पड़ती है, क्योंकि इस बात से कांग्रेस के राजनैतिक क्षेत्र में विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई है और जैसा

कि महात्मा गांधी के वक्तव्य से प्रकट होता है, महात्मा जी के विचार के लोग कांग्रेस के कारबार से अलग हो जायँगे और सुभाष बाबू को अपने ढङ्ग से कांग्रेस का कार्य-सञ्चालन करने देंगे। परन्तु देश की राजनीति की जो अवस्था इस समय है उसको देखते हुए महात्मा जी का इस प्रकार का निर्देश समीचीन नहीं माना जायगा। देश के वर्तमान संकट-काल में उनके तथा उनके प्रमुख अनुयायियों के किनारा कर जाने पर अकेले सुभाष बाबू अपने रँगरूट साथियों की सहायता से कांग्रेस के वर्तमान पेंचीदा उत्तरदायित्व का भार वहन कर सकेंगे, इसमें सन्देह है। परन्तु निराश होने की वैसी बात नहीं है। कांग्रेस के ये दोनों पक्ष सबसे पहले देशभक्त हैं और देश को स्वतन्त्र करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं। वे अपने दायित्व को समझते हैं और ऐसी कोई बात न होने देंगे जिससे कांग्रेस फूट का अखाड़ा बन जाय।
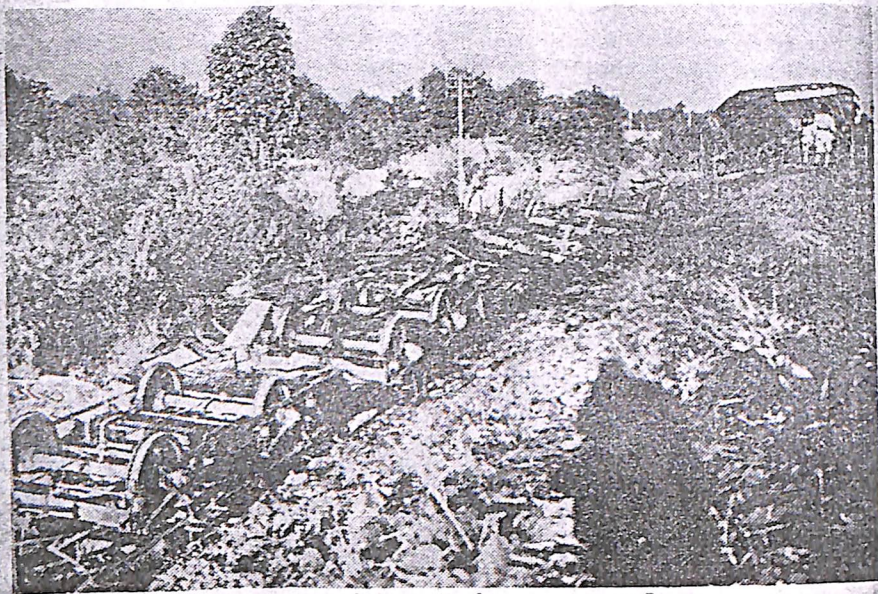
दून-एक्सप्रेस की दुर्घटना

चौदह महीने में पाँच दुर्घटनायें हो जाना ई० आई० आर० जैसी सुव्यवस्थित रेलवे के लिए लज्जा की बात है। यदि इनके दूर करने का समुचित उपाय न किया गया तो रेलवे का अपने को 'यात्रा का सबसे सस्ता और निरापद साधन' कहना यात्रियों के हृदय में उलटा असर डालेगा। इससे कम्पनी को भी हानि होगी। एक ओर तो उसका मुक़ाबला मोटरलारियों से है ही; दूसरी ओर यात्री भी उसका विश्वास कम करने लगेंगे। पिछली दून-एक्सप्रेसवाली दुर्घटना तो इनमें सबसे भयानक है! इससे होनेवाली धन-जन की हानि का भी अभी तक ठीक-ठीक हिसाब नहीं लग सका। इसके सिवा इस बार घटना में कुछ अनोखापन भी था। इंजन और उसके पास के डिब्बे सुरक्षित रहे; बिलकुल पीछे के डिब्बे भी बच गये; बीच के डिब्बे पटरी से उतर गये! यही नहीं, तत्काल ही उनमें आग भी लग गई, जिसने धन-जन की रक्षा को और भी असम्भव कर दिया। रेलवे-अधिकारी

[आग बुझ जाने के बाद डिब्बों का बचा हुआ भाग]
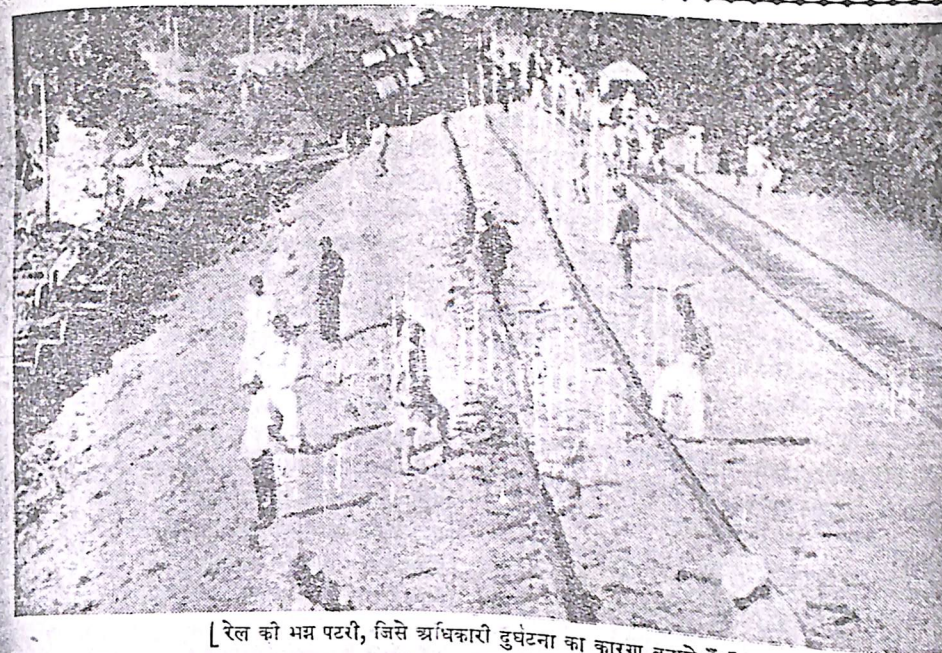
[रेल की भग्न पटरी, जिसे अधिकारी दुर्घटना का कारण बताते हैं]

[इंजन और दो डिब्बे, जो पटरी से नीचे नहीं गिरे।]

इसे किसी बदमाश की शरारत समझते हैं और उसे पकड़ानेवाले को पाँच हज़ार रुपये इनाम देने की बात भी कहते हैं। पिछले विज्ञापन में यह इनाम बढ़ाकर पचीस हज़ार तक कर दिया गया है। पर जनता और नेताओं की दृष्टि में रेलवे-अधिकारियों की यह सफ़ाई सन्तोषजनक नहीं है। उनकी राय में रेलवे के कर्मचारियों की लापरवाही से यह दुर्घटना हुई है; और दुर्घटना की हानि को कम करने में भी उनकी ओर से काफ़ी प्रयत्न नहीं किया गया। जनता चाहती है कि इस कांड की खुली जाँच कराई जाय और प्रमाणित अपराधी को उपयुक्त दंड दिया जाय। इस दशा में रेलवे-अधिकारियों के लिए भी यही उचित होगा कि वे खुली जाँच करायें और इस प्रकार जनता के सन्देह तथा अपनी संभावित घटी को दूर करने में बुद्धिमत्ता व सद्भावना का परिचय दें।

दो दृष्टि-कोण

सन् ५७ के ग़दर के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार और संयुक्त प्रान्त की कांग्रेसी सरकार के दृष्टि-कोणों में भारी अन्तर है, जैसा कि उनकी व्यवस्थापक सभाओं के हाल के प्रश्नोत्तरों से व्यक्त होता है।

केन्द्रीय असेम्बली में श्री सत्यमूर्ति ने सन् ५७ के विद्रोह के स्मारकों के सम्बन्ध में पूछा—क्या सरकार शीघ्र ही इन स्मारकों को हटाने का इन्तज़ाम कर रही है? यदि नहीं तो क्यों?

श्री ओगिल्वी—नहीं महाशय, सरकार इतिहास को मिथ्या सिद्ध करने के लिए तैयार नहीं है।

यह हुआ केन्द्रीय सरकार का दृष्टि-कोण। अब संयुक्त-प्रान्तीय सरकार का दृष्टि-कोण लीजिए।

प्रान्तीय असेम्बली में लाल सुरेन्द्र बहादुरसिंह ने कहा—मैं उन मनुष्यों की एक सूची चाहता हूँ जिनकी जायदादें सन् १८५७ के विद्रोह के बाद ज़ब्त कर ली गई थीं। कितनी जायदादें ज़ब्त हुईं? और उन मनुष्यों की भी सूची चाहिए जिन्हें एक विदेशी शक्ति की सहायता करने में जायदादें इनाम में मिली हैं।

ठाकुर हुकुमसिंह पालिमेंटरी सेक्रेटरी ने कहा—सरकार को इस सम्बन्ध में कुछ भी ख़बर नहीं है, और सरकार को इसका यक़ीन नहीं है कि बिना अच्छी तरह पूर्ण-रूप से जाँच किये ऐसी सूची बनाना सम्भव है। यदि माननीय सदस्य को इस सम्बन्ध में कोई उपाय बताना है तो सरकार उसे ख़ुशी से सुनेगी।

लाल सुरेन्द्र बहादुरसिंह—क्या सरकार का यह ख़याल है कि सन् १८५७ के पीड़ित राजनीतिक पीड़ित हैं?

माननीय अध्यक्ष—मैं इस प्रश्न के लिए आज्ञा नहीं देता, क्योंकि यह एक प्राचीन मामला है।

श्री महावीर त्यागी—क्या सरकार ज़ब्त की गई जायदादों को लौटाने के प्रश्न पर विचार कर रही है?

माननीय प्रधान मंत्री—नहीं।

प्रश्न—क्या यह बात सच है कि जो लोग सन् १८५७ में स्वतन्त्रता के लिए लड़े थे उनकी जायदादें अँगरेज़ी सरकार ने ज़ब्त कर ली थीं?

माननीय अध्यक्ष—वर्तमान सरकार के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि उसे उन सब बातों की ख़बर है।

यह है स्वदेशी कांग्रेसी सरकार का दृष्टि-कोण। पाठक इस दृष्टि-भेद का रहस्य भले प्रकार समझ सकते हैं। हमारी टीका की ज़रूरत नहीं है।

कानपुर का साम्प्रदायिक दंगा

आठ वर्ष के बाद कानपुर में पैशाचिकता की पुनरावृत्ति हो गई। हिन्दू-मुसलमान लड़े—और ख़ूब लड़े। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि हमें मुर्दा समझनेवाले मूर्ख हैं; हममें अभी जान है; हम अपने हाथ से अपने बच्चों को काट सकते हैं, अपनी मा-बहनों को बेइज़्ज़त कर सकते हैं; राह चलते कुली-मज़दूरों को गोली का निशाना बना सकते हैं; हम इससे भी नीच, इससे भी कमीनी और घिनौनी हरकतें कर सकते हैं—और यह सब कर सकते हैं 'बली' और 'अली' के नाम पर! अपने किसी अधिकार के लिए नहीं, सिद्धान्त के लिए नहीं, स्वाधीनता के लिए नहीं; अपनी पैशाचिक प्यास बुझाने के लिए—अपने

कुछ तथा-कथित नेताओं की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए!

'मसजिद और बाजा' तो बहाने-मात्र हैं। हिन्दू-मुसलमान का सवाल भी कुछ महत्त्व नहीं रखता; सवाल है हमारी नादानी का, हमारी जहालत का, हमारे गुंडेपन का; जिसका नतीजा न केवल हमें—हमारी आनेवाली पीढ़ियों को भी भुगतना पड़ेगा। आज हिन्दुओं के घरों में भी मातम है, मुसलमानों के घरों में भी; छोटी-छोटी बातें हमें अपने भाई और पड़ोसी के ख़ून का प्यासा बना देती हैं; हम इतने नासमझ बन जाते हैं कि भले-बुरे और हित-अहित की तमीज़ भी नहीं कर पाते—इसमें सचमुच इन दोनों क़ौमों का दोष क़तई नहीं है। सारा दोष और सारी ज़िम्मेदारी उन बड़े दिमाग़वालों की है जो अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए हमसे यह सब कराते हैं और अपने प्रभाव को देखकर ख़ुश होते हैं। उनका तो ऐसे दंगों से ही लाभ होता है। वे हमारी बेवक़ूफ़ी से फ़ायदा उठाना ख़ूब जानते हैं!

आचार्य द्विवेदी जी का अप्रकाशित साहित्य

आचार्य द्विवेदी की प्रायः सारी रचनायें पुस्तक-रूप में प्रकाशित हैं, तथापि अभी उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश पुस्तकरूप में नहीं उपलब्ध है। वह है उनके बहुत से महत्त्वपूर्ण लेख जो उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन ग्रहण करने के पहले तथा बाद को दूसरे पत्रों में लिखे थे तथा उनका विशाल पत्र-व्यवहार। उनके पत्रों का यदि संग्रह किया जाय तो वह एक अभिनव साहित्य प्रस्तुत हो जायगा। उनके पत्रों का संग्रह बहुत से सज्जनों के पास है। इन महानुभावों से हमारा आग्रहपूर्वक अनुरोध है कि वे उनमें से महत्त्वपूर्ण पत्रों को छाँटकर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कर दें ताकि उनका पुस्तक-रूप में संकलन हो सके। जो सज्जन अपने पास के ऐसे पत्र 'सरस्वती' में छपने को भेजने की कृपा करेंगे उनके वे पत्र हम कृतज्ञता-पूर्वक 'सरस्वती' में छाप देंगे।

एक प्रतिवाद

'सरस्वती' के फ़रवरी के 'द्विवेदी-स्मृति-अंक' में श्रीयुत नारायणप्रसाद अरोड़ा ने अपने 'जुही का गुरुद्वारा' शीर्षक लेख के पैरा नं० ३ में लिखा है—

"उनका मतलब पण्डित वेंकटेशनारायण तिवारी से था, जो उन दिनों 'मर्यादा' में द्विवेदी जी की कविता की समालोचना कर रहे थे।"

श्रीयुत तिवारी जी ने हमें एक पत्र लिखकर उनके इस कथन का प्रतिवाद किया। इसकी सूचना हमने अरोड़ा जी को दी। उन्होंने अपने पत्र में लिखा—

"मुझे ख़ूब स्मरण है कि 'मर्यादा' में 'वामन' के नाम से द्विवेदी जी के सम्बन्ध में...समालोचना निकली थी। स्वयं पण्डित वेंकटेशनारायण तिवारी ने मुझसे 'मर्यादा'-आफ़िस में कहा था कि वह समालोचना उनकी ही लिखी हुई है। अगर वह 'वामन' होने से इनकार करते हैं तो मैं क्षमा माँगता हूँ।......और मैं अपने उस अंश को वापस लेता हूँ।"

हमने अरोड़ा जी के पत्र की इस बात की सूचना तिवारी जी को दी। तिवारी जी अपने पत्र में लिखते हैं—

"मैंने द्विवेदी जी की कविता की कोई समालोचना आज तक नहीं लिखी।...'वामन' ने द्विवेदी जी की कविता की समालोचना कभी नहीं लिखी। अरोड़ा जी को अपनी स्मृति का इतना भरोसा हो सकता है कि वे २४ साल पहले की सुनी-अधसुनी बात को भी आज दिन दावे के साथ दोहरावें।"

ब्रह्मदेश में भारतीयों की दुरवस्था

ब्रह्मदेश, नये शासन-विधान के अनुसार, भारत से अलग हो गया है, जिसका एक परिणाम यह होता दिखाई दे रहा है कि जो भारतीय वहाँ इतने दिनों से बसे हुए हैं वे अब वहाँ सुख से न रहने पावेंगे। इसका सबसे प्रबल प्रमाण वहाँ का भारतीयों के विरुद्ध हाल का भीषण दंगा है। कहा जाता है कि नये सुधारों के फलस्वरूप ब्रह्मदेश में जो राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई है वही इस उपद्रव का मूल कारण है, क्योंकि वहाँवाले अब यह नहीं चाहते कि भारतीय उनके देश में रहकर धनोपार्जन करें।

ब्रह्मदेश के दंगों की जाँच के लिए जो कमिटी क़ायम की गई थी उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो गई है। उसमें बताया गया है कि भारतीयों ने ब्रह्मदेश में जाकर वहाँ की खेती को कितना उन्नत किया है। सन् १८७२ में लोअर बर्मा में २०,००,००० एकड़ भूमि में धान बोया गया था, किन्तु १९३६-३७ में वह १,००,००,००० एकड़ में बोया गया। वहाँ का प्रसिद्ध रंगून नगर भारतीय नगर हो गया है, जिसके सारे टैक्सों का जोड़ ६० लाख रुपया है, जिसमें ५५·४९ प्रतिशत भारतीयों से प्राप्त होता है। उसकी चार लाख की आबादी में २,१३,००० भारतीय हैं।

यह सब होते हुए भी आज ब्रह्मदेश में भारतीयों की स्थिति संकटपूर्ण हो गई है और इस सम्बन्ध में यदि उपयुक्त रोक-थाम न की गई तो भारतीयों का जान-माल सदैव जोखिम में रहेगा, जिसका परिणाम यह होगा कि एक दिन भारतीयों को वहाँ से भारत भाग आना पड़ेगा।

ख़ाक़सार दल का संगठन

सीमाप्रान्त के 'ख़ुदाई ख़िदमतगार'-दल जैसे एक दूसरे 'ख़ाकसार' नाम के दल का भारतीय मुसलमानों में संगठन हुआ है। इस दल के आन्दोलन की नींव सन् १९३२ के प्रारम्भ में रक्खी गई थी और इसके पुरस्कर्ता लाहौर के अल्लैामा इनायत उल्ला मशरक़ी हैं। इस दल के संगठन के सम्बन्ध में लखनऊ के 'नेशनल हेरल्ड' तथा लाहौर के 'विश्व-बन्धु' ने अपने लेखों से अच्छा प्रकाश डाला है, जिससे प्रकट होता है कि इसका कैसा संगठन है तथा इसके क्या उद्देश्य हैं। इस दल का 'अल इस्लाह' नाम का अपना एक समाचार-पत्र भी है। इस दल के सदस्य को ख़ाक़ी फ़ौजी वर्दी पहनना पड़ती है। उसे साफ़ा बाँधना पड़ता है, जिस पर लाल चाँद टँका रहता है। साथ ही एक बेलचा भी हाथ में लिये रहना पड़ता है। सभी सदस्यों को फ़ौजी ढंग की शिक्षा लेनी पड़ती है। ये समय-समय पर अपने पड़ाव डालकर एकत्र होते हैं, जहाँ तलवार, बन्दूक़ और टैंक आदि से लैस होकर नक़ली युद्ध करते हैं। इस दल का आन्दोलन सीमाप्रान्त, पंजाब और संयुक्त-प्रान्त में ख़ूब लोकप्रिय हुआ है। इनके सिवा हैदराबाद, मैसूर, ब्रह्मदेश, ईरान, ईराक और अरब में भी वह जा पहुँचा है। इस समय इस दल के सदस्यों की संख्या तीन लाख के लगभग है। इसके केन्द्रीय बोर्ड के पास २० हज़ार रुपए नक़द तथा १७ लाख रुपये की सम्पत्ति है।

इस आन्दोलन का प्रधान उद्देश्य विश्वबन्धुत्व है और इसी सिद्धान्त के आधार पर मानव-समाज का संगठन करना है। इसके कुछ सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(१) किसी मुसलमान के ख़िलाफ़ न हो।

(२) ख़ाकसार से सौदा लो।

(३) इस्लाम का प्रारम्भ का और राजनैतिक प्रभुत्व का स्वरूप दृष्टि में रक्खो।

एक उपयोगी प्रस्ताव

कलकत्ते के श्रीयुत नारायणदास बाजोरिया जी ने यह प्रस्ताव किया है कि प्रयाग के सम्मेलन के संग्रहालय-भवन के बरामदे की दीवारों पर बीस प्राचीन कवियों के नाम उनकी उत्कृष्टतम पंक्तियों के साथ संगमरमर पर उत्कीर्ण कर लगाये जायँ। इस प्रस्ताव को कार्य का रूप देने के लिए सम्मेलन की कार्य-समिति ने एक उपसमिति नियुक्त की है। सम्मेलन-पत्रिका की विज्ञप्ति के अनुसार हम यहाँ २० कवियों के नाम देते हैं। आशा है, समिति उन पर विचार करेगी। वे नाम ये हैं—

(१) चन्द, (२) कबीर, (३) विद्यापति, (४) नानक, (५) सूर, (६) तुलसी, (७) केशव, (८) गंग, (९) रहीम, (१०) घाघ, (११) बिहारी, (१२) रसखान, (१३) गिरधरदास, (१४) छत्रशाल, (१५) भूषण, (१६) देव, (१७) पद्माकर, (१८) हरिश्चन्द्र, (१९) रत्नाकर, (२०) महावीरप्रसाद द्विवेदी।

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., ALLAHABAD.

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक
देवीदत्त शुक्ल—उमेशचन्द्र देव

अप्रैल १९३९ } भाग ४०, खंड १
संख्या ४, पूर्ण संख्या ४७२ { चैत्र १९९६

भाव-शिशु

लेखिका, कुमारी प्रतिभा त्रिपाठी

सरल सुन्दर भाव-शिशु को, सजनि मैं कैसे सुलाऊँ!

कामिनी के कुंतलों से,
ओसमय दूर्वादलों से,
काल के अस्थिर पलों से,
वारि-निर्मित बुलबुलों से, खेलता कैसे झुलाऊँ!

कोकिला के सप्त-स्वर पर
वायुमय पर्वत-विवर पर
गुनगुनाते मधुपवर पर
झूमता प्रति ताल-स्वर पर, कौन सी लोरी सुनाऊँ!

चाँदनी के शुभ्र कर में,
पुष्प के सस्मित अधर में
तितलियों के मृदुल पर में
सिन्धु की चंचल लहर में, झूलता, कैसे झुलाऊँ!

खेल कर जब क्लान्त होगा,
शिशु-हृदय कुछ शान्त होगा,
फिर न यों उद्भ्रान्त होगा,
पथिक-सा विश्रान्त होगा, मैं न फिर इसको जगाऊँ॥

[शिवडागन पैगोडा]

ब्रह्मदेश की एक झलक

लेखक, श्रीयुत सी० बी० कपूर, एम० ए०, एल-एल० बी०

कहा जाता है कि जो पुरुष एक बार बरमा देश जाता है तो वह इसमें दूसरी बार भी ज़रूर आता है! इस कहावत में रत्ती भर भी झूठ नहीं है। इस सुन्दर देश के सुनहरी चमकते हुए पगोडे (मन्दिर) और इसके हँसमुख ख़ूबसूरत लोग, रह रह कर याद आते हैं।

ब्रह्मदेश अभी तक 'भारतीय साम्राज्य' का एक प्रान्त था। परन्तु १९३७ में नये शासन-विधान के प्रचलन पर वह भारत से अलग कर दिया गया। लेकिन अभी तक वहाँ जाने के लिए 'पासपोर्ट' लेने की ज़रूरत नहीं पड़ती है। कलकत्ता से रंगून को सप्ताह में तीन जहाज़ जाते हैं। कोई ७४० मील की यात्रा है, जो तीन से लेकर चार दिन में पूरी होती है। तीसरे दर्जे, यानी डेक पर का किराया १४) है। इस यात्रा के लिए आक्टोबर से अप्रैल तक का समय बहुत अच्छा रहता है।

यह आक्टोबर का महीना था, जब हमारा जहाज़ प्रातःकाल के समय मटयाली रंग की रंगून-नदी में घुसकर रंगून-पोर्ट पर जा लगा।

पोर्ट पर बहुत-से लोग अपने सम्बन्धियों को लेने आये थे, परन्तु सिवा कुछ ब्रह्मदेशियों के सबके सब हिन्दुस्तानी ही थे। यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मैं तो ब्रह्मदेश और ब्रह्मदेशियों को देखने आया था न कि अपने देश-बन्धुओं को। परन्तु जब मैंने जहाज़ से उतर कर देखा तब रंगून शहर में भी सब ओर सिवा कुछ ब्रह्मदेशियों के सर्वत्र हिन्दुस्तानी ही दिखाई देते थे। दूकानों पर, दफ़्तरों को जाते हुए, घोड़ा-गाड़ीवाले, रिक्शा-कुली सबके सब भारतीय ही थे। रंगून के सुन्दर आर्य-समाज-भवन में जाकर मैंने डेरा लगाया।

रंगून एक विचित्र नगर है। इसकी आबादी ४ लाख से कुछ अधिक है। रंगून तीन भागों में है—पोर्ट, शहर और छावनी। इसके सिवा नगर का एक भाग रंगून नदी के दूसरे तट पर भी है। नगर की ऊँची ऊँची इमारतें, चौड़ी चौड़ी सड़कें, खुले बाज़ार सब उसकी शोभा को बढ़ाते हैं। असल में इस नगर को अँगरेज़ों ने बनाया और बसाया है। इसलिए यह बिलकुल नये तरीक़े पर बसा हुआ है। लोकल ट्रेनों के सिवा यहाँ ट्रामें, बसें, घोड़ागाड़ियाँ, रिक्शे आदि ख़ूब चलते हैं। रिक्शों को वहाँ 'लंचा' कहते हैं। इनका वहाँ अधिक चलन है और ये सस्ते और सुविधा-जनक होते हैं। लंचाक़ुली सबके सब मदरासी या कुरंगी हैं। ब्रह्मदेशीय लंचाक़ुली का काम पसन्द नहीं करते और न किसी और ही कठिन या गन्दे काम में हाथ लगाते हैं। ये लोग अपने आपको कुछ ऊँचा समझते हैं और बड़े आरामतलब होते हैं। यही कारण है कि वहाँ अधिक संख्या में भारतीय क़ुलियों

का समावेश हो सका है और ये लोग उनके ऊँच-नीच सब कामों को सँभाले हुए हैं। परन्तु इधर जब से ब्रह्मदेश भारत से अलग हुआ है, वहाँ के लोगों में राष्ट्रीय भाव का उदय हुआ है और यही वहाँ के वर्तमान सारे झगड़ों की जड़ है। पिछले झगड़ों के कारण बहुत-से भारतीय मज़दूर वहाँ से भाग आये हैं, इससे वहाँवालों ने नये ढंग के 'लंचे' चलाये हैं। साइकलों के साथ 'साइड-कार' लगवाये हैं, जिनमें वे दो व्यक्तियों को बैठाकर खींच ले जाते हैं। ये लोग हर एक बात में नये ढङ्ग चलाना चाहते हैं। इनके गाने-बजाने के तमाम साज़ विलायती होते हैं और इनके गाने या बजाने के ढङ्ग व सुर भी बहुत कुछ विलायती ढङ्ग के होते हैं।

[एक ब्रह्मदेशीय महिला]

रंगून एक दर्शनीय नगर है। इसके सुन्दर बाग़ों, पोलो, फ़ुटबाल और गोल्फ़ के मैदानों की जितनी भी प्रशंसा की जाय, उतनी थोड़ी है। शहर के साथ दो झीलों और उनके साथ सुन्दर महलों को देखकर सचमुच स्वर्ग के नमूने की याद आ जाती है। इन झीलों के पास ही चिड़िया-घर है जिसमें कई नये और अजीब जानवर देखने के योग्य हैं। शहर में कारपोरेशन के तीन बड़े बड़े बाज़ार हैं, जिनमें सबसे बड़े का नाम 'स्काट मार्केट' है। इसमें सुई से लेकर हाथी तक तमाम वस्तुएँ मिल सकती हैं। इसमें जितनी ब्रह्मदेशियों की दूकानें हैं उन सब पर स्त्रियाँ ही बैठती हैं। मेरे मित्र ने जो मुझे दिखाने ले गये थे, बतलाया कि यहाँ स्त्रियाँ दूकानों पर ही नहीं बैठती हैं, बल्कि व्यापार आदि सारे काम ख़ुद ही करती हैं। यहाँ के पुरुष ख़ाली बैठे रहते हैं और कोई काम-काज नहीं करते।

रंगून में सबसे सुन्दर और प्रसिद्ध चीज़ है 'शवेड़िगान पगोडा'। यह रंगून से दो-तीन मील की दूरी पर है और ब्रह्मदेश का सबसे बड़ा बौद्ध-मन्दिर है। यह एक बड़े घंटे के आकार का बना है। इसकी उँचाई कोई ३७० फ़ुट है और घेरा १,३०० फ़ुट से भी अधिक है। इस पर कई इंच मोटा सोने का पत्र चढ़ा हुआ है। इसकी 'हिति' या छत्री मोतियों और हीरों से भरी हुई है, जिनके मूल्य का अन्दाज़ा कोई ५० लाख रुपया से भी अधिक लगाया गया है। इस बड़े मन्दिर के चारों ओर बहुत-से छोटे-छोटे पगोडे या मन्दिर हैं, जिनमें भगवान् बुद्ध की सुन्दर मूर्तियाँ रक्खी हुई हैं। इस मन्दिर के चारों ओर और बहुत-सी सुन्दर पुरानी इमारतें हैं। वे भी देखने के योग्य हैं।

इस बड़े पगोडा का दूर का दृश्य और भी अधिक सुन्दर है। रात में यहाँ बिजली का प्रकाश होता है, जिसका दृश्य नगर के प्रत्येक मकान की छत से दिखाई देता है।

रंगून के व्यापारी नगर होने के कारण वहाँ हर एक देश और जाति के लोग रहते हैं। ब्रह्मदेश से चावल, पेट्रोल, लकड़ी, रबर और रेशम आदि वस्तुएँ दूसरे देशों को भेजी जाती हैं। इनका बहुत-सा व्यापार अँगरेज़ों और हिन्दुस्तानियों के हाथ में है।

रंगून में हिन्दुस्तानियों और चीनियों की आबादी सबसे अधिक है।

ब्रह्मदेशीय कई श्रेणियों में विभक्त हैं। एक श्रेणी उनकी

[लेखक अपने एक मित्र के साथ]
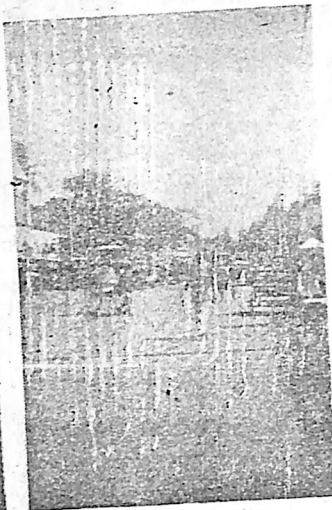
[रंगून की मर्चेंट स्ट्रीट]

[एक ब्रह्मदेशीय सुन्दरी]

है जो बौद्ध हैं। यही लोग मुख्य ब्रह्मदेशीय हैं। दूसरी श्रेणी में शान, चिन और काचीन लोग हैं। ये लोग वहाँ की पहाड़ी रियासतों में रहते हैं। इनकी पोशाक और शकल-सूरत ब्रह्मदेशियों से कुछ भिन्न होती है।

तीसरी श्रेणी 'करिन' लोगों की है। ये लोग सिर्फ़ प्रेतात्माओं की पूजा करते हैं। अब इनमें से बहुत ईसाई हो गये हैं। ये लोग हमारे देश के पारसियों की तरह धनवान् और नये रंग-ढंग के होते हैं। परन्तु इन श्रेणियों के भेद का पता वहाँ कुछ महीनों रहने के बाद ही लगता है, क्योंकि इन सबकी शकल-सूरत में विशेष अन्तर नहीं होता।

ब्रह्मदेशियों का भोजन चावल और मछली है। वे चाय भी ख़ूब पीते हैं। मांस बहुत कम खाते हैं। यहाँ घी की जगह नारियल का तेल काम में लाते हैं। सबसे अधिक हैरान करनेवाली बात यह है कि ये तमाकू बहुत पीते हैं। बच्चे, स्त्रियाँ, पुरुष चौबीसों घंटे सिगरेट या बड़े बड़े सिगार पीते रहते हैं। इनका पहनावा बहुत सुन्दर होता है। पुरुष-स्त्रियाँ दोनों 'लुंगी' पहनते हैं। पुरुष अपनी कमीज़ को लुंगी के अन्दर पतलून की तरह डालकर रखते हैं और स्त्रियाँ कमीज़ की जगह पतले मलमल का सफ़ेद जैकेट-सा डाल लेती हैं। पुरुष सिर पर हैट या देशी पगड़ी रखते हैं। स्त्रियाँ सिर को खुला रखती हैं। स्त्रियों के सिर के बाल बहुत लम्बे होते हैं, जिनको ये सिर पर इकट्ठा करके टोपी की तरह बना लेती हैं, इसे हर समय सुन्दर असली या नक़ली फूलों से सजाये रखती हैं। स्त्रियों का रंग गोरा होता है। वे अपने मुँह पर हर समय 'तनाखा' (चन्दन का पानी) या पाउडर लगाये रहती हैं। इस प्रकार सजधज कर जब वे बाज़ारों में छाता लेकर निकलती हैं तब सचमुच एक खिलौने की तरह दिखाई पड़ती हैं। ब्रह्मदेश हँसमुख लोगों का, फूलों का, रंगों का, दावतों का और त्यौहारों का देश है। इनकी लुंगियाँ इतनी रंग-बिरंगी होती हैं कि यात्री देखकर हैरान हो जाते हैं कि संसार में कितनी भाँति के रंग होते हैं।

पियापन ब्रह्मदेश का एक ज़िला है। मेरे एक रिश्तेदार वहाँ सिविलसर्जन थे। मैंने उनके पास जाकर कुछ दिन रहने का निश्चय किया। मुझे बताया गया कि पियापन को रेल-गाड़ी या मोटर नहीं जाते, छोटे-छोटे जहाज़ जाते हैं। यह मेरे लिए एक नई बात थी। ब्रह्मदेश में बहुत-सी यात्रा नावों और छोटे-छोटे जहाज़ों से ही होती है। यहाँ दो बड़ी नदियाँ हैं—इरावदी और सालविन, और इनकी
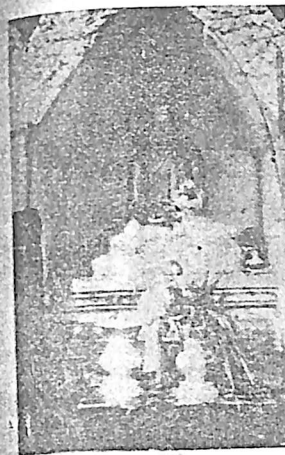
[बुद्ध की एक प्रतिमा]

[चैढियो पत्थर पर सोने का २० फ़ुट ऊँचा पैगोडा]

[३ साल की ब्रह्मदेशीय एक लड़की उत्सव में नाच रही है]

अनेक लम्बी-लम्बी शाखायें हैं, जिनमें छोटे-छोटे जहाज़ अच्छी तरह चल सकते हैं। रेल-गाड़ी का मार्ग तो दक्षिण से उत्तर को सीधा साँप की तरह गया है और गाड़ी भी छोटे गाज़ की चलती है। गाड़ी के डिब्बों में बैठने और सोने के लिए जो स्थान हैं, वे अच्छे हैं। हाँ, गाड़ी में स्त्रियों के लिए कोई अलग डिब्बा नहीं होता और न यहाँ उनको ऐसे डिब्बे की आवश्यकता ही है। लेकिन मेरे विचार से एक ख़ास डिब्बा उन लोगों के लिए ज़रूर होना चाहिए जो तम्बाकू नहीं पीते हैं।

जहाज़ की कोई ७ घंटे की यात्रा के बाद मैं रंगून से पियापन पहुँच गया। लेकिन यहाँ रंगून की तरह अपने हिन्दुस्तानी कुलियों को नहीं पाया। यहाँ सब ब्रह्मदेशी कुली थे और मैं अब एक विशुद्ध ब्रह्मदेशी शहर में था। कुछ हिन्दुस्तानियों को छोड़कर यहाँ सब ओर ब्रह्मदेशी बच्चे, स्त्रियाँ और पुरुष ही दिखाई देते थे। मैंने यहाँ रहकर ब्रह्मदेशियों की बहुत-सी अनोखी बातों का अनुभव प्राप्त किया।

ये लोग स्वच्छता के विशेष प्रेमी होते हैं। वस्त्रों को गन्दा नहीं होने देते। दिन में कई बार स्नान करते हैं और उनकी स्त्रियाँ तो दिन में कई बार कपड़े भी बदलती हैं। ये लोग घरों को भी ख़ूब साफ़-सुथरा और सजाकर रखते हैं। घर का जो भी अच्छा सामान होगा उसको ये लोग मकान के पहले कमरे में दरवाज़ों के सामने रखते हैं। मैंने पहले इनके घरों को होटल या फोटोग्राफ़र की दूकान समझा था। इन लोगों को फोटो आदि का भी बड़ा शौक़ है। पर्दे का यहाँ नाम तक नहीं है। इनके घर में जाने पर घर के सब लोगों से जाते ही भेंट हो जाती है। घर का हर एक व्यक्ति अतिथि को प्रसन्न करने और आराम पहुँचाने का यत्न करता है। ये लोग विनम्रता के पुतले होते हैं। घर में और घर के बाहर भी घर की आय और व्यय की देखरेख स्त्रियों के हाथ में रहती है। स्त्रियाँ हाट-बाज़ार करती हैं, यहाँ तक कि अपने पति आदि के वस्त्र तक भी वे मोल लाती हैं। यहाँ के बाज़ार स्त्रियों से हर समय भरे रहते हैं। स्त्रियाँ ही बेचनेवाली और स्त्रियाँ ही ख़रीदनेवाली होती हैं।

ब्रह्मदेश की स्त्रियों को संसार भर में सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। इतना ही नहीं, बल्कि वहाँ के पुरुष स्त्रियों के ग़ुलाम बनकर रहते हैं, क्योंकि कुछ समय पहले—

[शान की पहाड़ी स्त्रियाँ]

और अब तक भी स्त्रियाँ ही अपने पति और बच्चों के लिए कमा कर लाया करती थीं, और उनके पति घर में बच्चे खिलाते या बैठे चुरट पिया करते थे। कठिन से कठिन काम भी ये स्त्रियाँ करती रही हैं और आज भी करती हैं। मैंने कई स्टेशनों पर युवा लड़कियों और स्त्रियों को ही कुलियों का काम करते पाया। देखकर भी मुझे विश्वास नहीं होता था कि ऐसी सुन्दर और जवान लड़कियाँ और स्त्रियाँ साफ़ सुन्दर वस्त्र पहने, बालों में फूल लगाये कुली का काम करती हों, लोगों के बिस्तरे और ट्रंक सर पर उठाकर ले जाती हों और उनके पुरुष दूर खड़े बच्चे खिलाते हों। परन्तु जब मैं उनकी बाहों पर पीतल का नम्बर लगा देखता था, या उन्हें इतना सामान उठाये देखता था तब मुझे मानना ही पड़ता था कि वे कुली हैं। वहाँ क़ानून ने भी स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं रखा है। लड़का और लड़की दोनों को पिता की जायदाद में समान भाग मिलता है। वहाँ लड़की का विवाह होता है, न कि लड़के का। और विवाह के बाद लड़का लड़की के घर जाकर रहता है, न कि लड़की लड़के के घर। सिवा कुछ धनवान् लोगों के जो विवाह पर बाजे या भोजन आदि का प्रबन्ध करते हैं या धार्मिक रीतियाँ कराते हैं, अन्य लोगों में विवाह की कोई 'रस्म' नहीं होती। जब जिस लड़की और लड़के का परस्पर प्रेम हो जाता है तब वे दोनों कुछ दिन के लिए अपने शहर से भाग जाते हैं, जिसको वहाँ के लोग विवाह का हो जाना समझते हैं। वहाँ लड़की और लड़के एक दूसरे से स्वतन्त्रतापूर्वक मिलते-जुलते रहते हैं, अतएव वहाँ सबके सब प्रेम-विवाह ही होते हैं। उनके ये विवाह टूट भी सकते हैं। ये तलाक़ भी दे सकते हैं। उन लोगों के नाम भी विचित्र होते हैं। कुटुम्ब या जाति के नाम तो होते ही नहीं। विवाह के बाद लड़की अपने पति के नाम को नहीं धारण करती है। इनकी भाषा में प्रणाम या नमस्कार का सूचक कोई शब्द नहीं है। जब ये एक दूसरे से मिलते हैं तब नम्रता से सिर झुकाकर मुसकरा देते हैं। इनका यही 'नमस्कार' है।

एक दिन अपने सम्बन्धी डाक्टर साहब के साथ मैं सायंकाल के समय सैर कर रहा था। रास्ते में एक अँगरेज़ मिला, जो निकर और कमीज़ पहने और हाथ में छाता लिये था। पूछने पर डाक्टर साहब ने बतलाया कि वह पियापन का डिप्टी कमिश्नर है। यह सुनकर मैं आश्चर्य करने लगा कि एक ज़िले का सबसे बड़ा अफ़सर इस तरह अकेला घूम रहा है। वहाँ के लोग इतने स्वाभिमानी होते हैं कि वे किसी अफ़सर से किसी मतलब के बिना मिलते-जुलते नहीं।

ब्रह्मदेशी जुआ खेलने के बड़े शौक़ीन हैं। वहाँ की सरकार की तरफ़ से साल में तीन बार लाटरी निकाली जाती है, जिससे सरकार को कई लाख रुपया साल की आमदनी हो जाती है और लोगों का शौक़ भी पूरा हो जाता है। तो भी ताश आदि का जुआ बहुत खेला जाता है, और उसमें स्त्रियाँ भी शामिल होती हैं। यही कारण है कि वहाँ के लोग अपनी जेब में रुपया नहीं रहने देते। चाहे कितना ही क्यों न हो, वह पहले पास का रुपया ख़र्च कर डालेगा तब सोयेगा। वह कल की बात नहीं सोचेगा और प्रायः ऐसा भी हो जाता है कि कल के वास्ते उसके पास कुछ भी नहीं रह जाता। तब वह उनमें से कई वस्तुएँ जिन्हें उसने एक दिन पहले मोल लिया था, कुछ दामों पर 'पानशाप' में गिरवी रख आता है, जिन्हें वह एक या दो महीने में छुड़ा ले तो छुड़ा ले, अन्यथा वे वस्तुएँ उस दूकानवाले की हो जाती हैं। इन दूकानवालों को सरकार को हज़ारों रुपये ठेके के देने पड़ते हैं। प्रत्येक नगर में ऐसी कई दुकानें होती हैं। जुए की इस आदत के कारण वहाँ घूस का काफ़ी दौर-दौरा है और यही कारण है कि वहाँ पुलिस, जेल या कोई और ज़िम्मेदारी की नौकरी वहाँवालों को नहीं दी जाती। फलतः ऐसे पद हिन्दुस्तानियों के हाथ में हैं। कहते हैं कि एक शहर के एक ब्रह्मदेशी तहसीलदार ने सरकारी ख़ज़ाने से कुछ रुपया निकाल कर जुआ खेला और हार गया। इस पर वह तहसीलदारी से हटा दिया गया। कुछ दिनों के बाद वही तहसीलदार साहब बाज़ार में केले बेचते फिरते और हँसते रहते। वहाँ के लोग ऐसी बातों को उतना महत्त्व नहीं देते हैं और नौकरी आदि की परवा तक नहीं करते। वे समझते हैं कि वे संसार में मज़े उठाने आये हैं। भूखे रहकर रुपये बटोरने की लालसा उनमें नहीं होती। यही कारण है कि वे लोग मृत्यु के समय भी रोते-पीटते नहीं, बल्कि ख़ुश होते हैं। मृत्यु पर वे शव को कई दिन घर में रक्खे रहते हैं। उसको फलों और सुगन्धियों से ढाँप रखते हैं और गाते-बजाते रहते हैं और आने-जानेवालों को भोजन खिलाते रहते हैं। बड़े-बड़े पंडितों और पुजारियों का शव तो साल से भी अधिक समय तक रक्खा रहता है और तब उसका एक भारी जलूस निकालकर उसको जलाते हैं। बड़े महात्मा लोगों को छोड़कर अन्य लोग अपने शव पृथ्वी में गाड़ते हैं। खान-पान में छूत-छात और भक्ष्या-भक्ष्य का वे विचार नहीं करते। वे सभी तरह का मांस खा लेते हैं। परन्तु अब बहुत-से समझ गये हैं और गोमांस नहीं खाते। मुसलमानों से ब्याह तक भी कर लेते हैं, परन्तु यह कहते हैं कि हिन्दू हमारे भाई हैं। बहुत से भारतीय ब्रह्मदेश में बस गये हैं और उन्होंने वहाँ की स्त्रियों से ब्याह कर लिया है।

[बुद्ध की लेटी हुई एक ४० फ़ुट लम्बी मूर्त्ति]

ब्रह्मदेश में यों तो छोटे-छोटे त्योहार बहुत-से होते हैं, परन्तु बड़े सिर्फ़ दो ही हैं, जो हमारी दिवाली और होली की तरह हैं और उनसे कुछ दिन पहले या पीछे पड़ते हैं। एक का नाम 'थदजिंड़ो' है। यह आक्टोबर के महीने में आता है। इस अवसर पर कई दिनों तक प्रत्येक मकान पर हर रंग के दीप जलाये जाते हैं और रात के समय बड़े लम्बे-लम्बे और हाथी-घोड़े आदि की शकल के हवाई बैलून उड़ाये जाते हैं। परन्तु हमारी दिवालीवाले दिन की तरह वे लोग मिठाई आदि नहीं खाते और न एक दूसरे को भेजते हैं। वहाँ के लोग मिठाई और दूध का भी बहुत ही कम व्यवहार करते हैं। इसलिए वे न मिठाई बनाना जानते हैं और न यह वहाँ बिकती है। हाँ, वे लोग फल अधिक पसन्द करते हैं। वहाँ फल बहुत होते हैं और सस्ते मिलते हैं।

दूसरा बड़ा त्योहार अप्रेल में आता है। उसे 'नाट' कहते

[रंगून में ब्रह्मदेशीयों का एक अर्थी-जलूस]

[चौंठियो पैगोडा का बड़ा फुंजी अपने शिष्य के साथ भोजन करता हुआ]
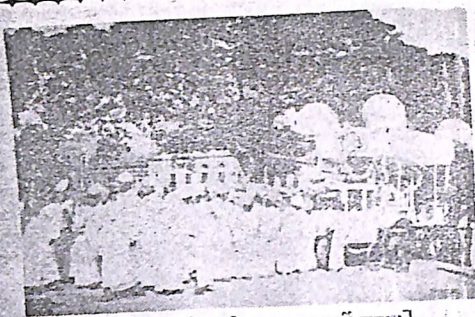
है। यह उनके नये सालवाले दिन होता है। उस दिन वहाँ के लोग एक-दूसरे पर खूब पानी फेंकते हैं और हँसी करते हैं। इन त्योहारों के अवसर पर कई रात 'पुये' यानी नाटक आदि होते रहते हैं। पुये भी तरह तरह के होते हैं। एक तो वे जिनमें पुराने यानी रामायण या महाभारत के खेल होते हैं, इन्हें वे 'ज़ेतपुये' कहते हैं। दूसरे स्त्रियों के नाच, जिनको 'अनयापुये' कहते हैं। वहाँ के लोग गाने-बजाने और पुयों के बड़े शौक़ीन होते हैं। बीस-बीस मील तक से लोग उन्हें देखने-सुनने आते हैं और सारी रात उनके ये खेल होते रहते हैं। पियापन में मैं उनके सब पुयों को देखने जाया करता था, क्योंकि ये मुझे बहुत प्रिय लगते थे। उनके दीपवाले त्योहार से पहले पियापन में एक सप्ताह भर 'यामापुये' अर्थात् रामायण का नाटक होता रहा था। हज़ारों पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे उसको देखने को आते थे, क्योंकि स्त्रियाँ, पुरुष वहाँ सब इकट्ठे बैठते थे, इसलिए अपने देश की तरह कोई धक्का-धुक्की नहीं होती थी। बच्चे तक बड़ी शान्ति और आराम से बैठे रहते थे। मैं वहाँ की शान्ति और व्यवस्था को देखकर चकित होता था।

उनकी बोली और मखौल तो मेरी समझ में नहीं आते थे, परन्तु उनका गाना और नाच मुझे बहुत अच्छा लगता था। ये लोग बहुत ही ऊँचे दर्जे का नाच जानते हैं, मानो वे सबके सब हमारे उदयशंकर के चेले हों। वहाँ प्रायः प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बच्चा नाचना और गाना जानता है। मैंने एक बार एक तीन साल की लड़की को इतना सुन्दर नाचते देखा कि मैं हैरान रह गया। वहाँ की स्त्रियाँ पुयों का पुरुषों से भी अधिक शौक़ रखती हैं, इसलिए उनमें हर ओर स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ दिखाई देती हैं। केवल पुयों में ही नहीं, प्रत्येक तमाशे या खेल आदि में आने-जाने का स्त्रियों को बहुत शौक़ है। समझ में नहीं आता कि उनको घर के कामों से कैसे फ़ुरसत मिल जाती है। वे फ़ुटबाल या बाक्सिंग आदि देखना भी पसन्द करती हैं।
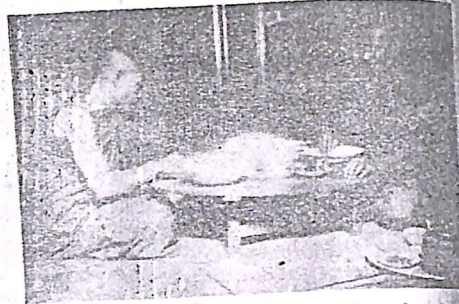
पश्चिमी खेलों में से फ़ुटबाल का बहुत प्रचार है। वहाँ का एक और ख़ास खेल है, जिसे 'चिनलों' कहते हैं। यह बेत के छोटे से फ़ुटबाल का खेल है। बहुत-से खिलाड़ी एक चक्कर में इकट्ठे हो जाते हैं और जहाँ तक हो सकता है गेंद को बिना हाथ लगाये हवा में ही रखते हैं। अपने सिर, घुटनों या शरीर के किसी दूसरे हिस्से से गेंद को मारते हैं।

यात्री को वहाँ जो सबसे अधिक विचित्र बात मालूम होती है वह है स्त्रियों की स्वतन्त्रता। उसके बाद जो दूसरी बात अजीब लगती है वह है वहाँ के पगोडे और उनके पुजारी। छोटे-से-छोटे शहर या गाँव में भी एक-दो दर्जन से कम पगोडे न होते होंगे, और इन प्रत्येक पगोडों में बुद्ध की एक फ़ुट से लेकर १०० फ़ुट तक की मिट्टी की बनी बहुत सुन्दर सफ़ेद मूर्तियाँ रक्खी रहती हैं। ये पगोडे बाहर और भीतर से लकड़ी के या पीतल के काम से खूब सुन्दर सजाये होते हैं। वहाँ के लोग इनकी मूर्तियों के सामने घंटों हाथ जोड़े बैठे रहते हैं और इन पगोडों और फुंजियों के लिए सब कुछ दान करने को तैयार हो जाते हैं।

[फुंजी और उनके भीख माँगने के प्याले]

[शिवडागन पैगोडा में लकड़ी की नक़्क़ाशी]
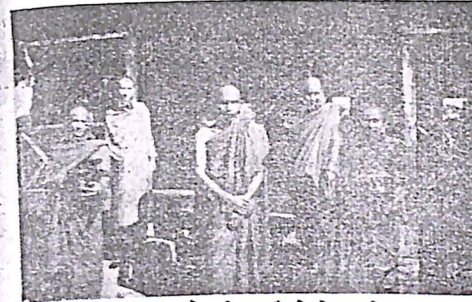
प्रत्येक बड़े पगोडे के साथ फुंजियों के एक-दो आश्रम बने हुए होते हैं। इन आश्रमों में ५ साल के लड़के से लेकर बड़े-बूढ़े फुंजी तक रहते हैं। स्त्री-फुंजियों के लिए अलग आश्रम बने हुए हैं। इन फुंजी-आश्रमों को 'फुंजीचों' कहते हैं। प्रत्येक ब्रह्मदेशी पुरुष को किसी आयु में एक बार फुंजी बनकर फुंजीचों में कुछ समय के लिए रहना ज़रूरी है। नहीं तो वह पुरुष बुद्ध का अनुयायी नहीं समझा जाता। इसलिए इनका प्रत्येक शहर में बाहुल्य है। फुंजियों-जीवन त्याग का जीवन होता है। इनको अपना खाना-पहनना माँगकर लाना पड़ता है। इन लोगों के झुंड के झुंड काले रंग के डब्बे लेकर कोई १० बजे चावल आदि माँगने के लिए निकल पड़ते हैं। प्रत्येक फुंजी को कोई ८ या १० फुंजियों के लिए खाना माँगकर लाना पड़ता है। ये लोग मुँह से नहीं माँगते बल्कि स्त्रियाँ इन्हें खुद बुला-बुलाकर इनके डब्बों में चावल आदि डाल देती हैं। ये लोग मांस-मछली तक लेने से इनकार नहीं करते। ये लोग सिर्फ़ अपने हाथ से जीववध करना पाप समझते हैं, परन्तु यदि कोई दूसरा मांस बनाकर इनको दे दे तो ये उसे खाने में पाप नहीं समझते।

ब्रह्मदेशियों के शरीर और मुख पर वैसे ही बाल नहीं होते, फुंजी लोग सिर को भी उस्तरे से साफ़ किये रखते हैं और शरीर पर भगवे रंग का वस्त्र डाले रहते हैं। फुंजीचों में इनका काम बौद्ध-धर्म के शास्त्रों का पढ़ना और पढ़ाना होता है। फुंजीचों में रहकर ये अपने सम्बन्धियों, मित्रों या किसी और संसारी पुरुष से भी बातचीत नहीं कर सकते। इन लोगों की वहाँ बड़ी महिमा है। जो आजीवन फुंजी रहते हैं उनको तो लोग देवता की तरह पूजते हैं। वहाँ के बड़े-से-बड़े लोग तक उनके सामने लेट लेटकर उनको नमस्कार करते हैं। मांडले में हज़ारों की संख्या में फुंजी रहते हैं और वहाँ उनका बड़ा ज़ोर है।

मैं पियापन में एक महीने तक रहा। वहाँ से रंगून लौट आया। फिर रेलगाड़ी से उत्तरी ब्रह्मदेश के प्रसिद्ध नगर मांडले पहुँचा। यह शहर रंगून से कोई ३८६ मील दूर है। रेलगाड़ी वहाँ के बड़े शहरों यानी पीगू, टौंगू, थाज़ी आदि से होती हुई जाती है। मांडले की आबादी डेढ़ लाख से भी ऊपर है, और वहाँ भी ट्रामें, बसें आदि चलती हैं। यह वहाँ की पुरानी राजधानी है। ब्रह्मदेश के पहले के राजाओं के सुन्दर महल आदि देखने के योग्य हैं। उनमें ऊँचे दर्जे के लकड़ी के काम देखने को मिलते हैं। मांडले का 'कुथोदाह' अर्थात् पगोडों का शहर भी देखने के योग्य है। वहाँ के एक राजा ने बौद्ध-धर्म ग्रन्थ को ७३० पत्थरों पर लिखवाकर उनमें से प्रत्येक पत्थर के ऊपर एक-एक सुन्दर पगोडा बनवा दिया। ७३० छोटे-छोटे सफ़ेद पगोडे कोई आध मील के चक्कर में हैं। यहाँ लकड़ी का काम बहुत अच्छा होता है। यहाँ बहुत से मकान लकड़ी और बाँस के बने हुए हैं। इस शहर के चारों ओर बड़े-बड़े पर्वत भी दिखाई देते हैं।

मांडले से मेमियो को जो रेलमार्ग गया है उसका दृश्य बहुत ही अनोखा है। मेमियो और कलौ वहाँ के प्रसिद्ध पहाड़ी शहर हैं। गर्मियों में वहाँ की सरकार के

[शान-रियासत के भैंसे और उनके सवार]

फ़्तर मेमियो आ जाते हैं। इस शहर की ऊँचाई समुद्र से ३,४०० फ़ुट है। इसकी आवादी कोई २२,००० है। र्मियों की राजधानी होने के कारण यहाँ भी हिन्दुस्तानी हुत रहते हैं। यह बहुत ही सुन्दर शहर है और यहाँ त खूब शीतल होती है। यह शहर एक मैदान में बसा हुआ है और यहाँ से शान की रियासतों और चीन को स्ता जाता है। यहाँ के सुन्दर मकान, बाज़ार, खेल के दान आदि देखने के योग्य हैं। परन्तु सबसे मशहूर गोकतिक पुल' है जो दुनिया भर में मशहूर है। यह पुल मियो से ४५ मील दूर है। यह २,२०० फ़ीट लम्बा और दी से ५५० फ़ीट ऊँचा है। इसको अमरीका की एक म्पनी ने १९०० ईसवी में बनाया था। गाड़ी एक पहाड़ी दूसरी पहाड़ी पर बिना नीचे उतरे सीधी चली जाती है। गाड़ी में बैठे हुए नीचे देखने में कुछ डर-सा लगता है। मियो में मैं अपने एक अँगरेज़ मित्र के यहाँ रहा। वे ौज में कप्तान थे। उन्होंने मुझे अपने मोटर पर पास की ान रियासतों की और इस अजब पुल की सैर कराई। ः दिन के बाद मैं फिर रंगून लौट आया।

मेमियो से आकर रंगून कुछ गरम मालूम पड़ता था। रन्तु महीना तो दिसम्बर का ही था। कुछ दिन रहने के ाद एक ब्रह्मदेशी मेरे अधिक मित्र बन गये। एक दिन ‌ और मैं दोनों गाड़ी पर बैठकर चैठो शहर को चल दिये ौर ४ घंटे में वहाँ पहुँच गये। चैठो थेटन ज़िले की एक हसील है और ब्रह्मदेश का सबसे बड़ा तीर्थ-स्थान है। हाँ से कोई ७ मील पर एक ऊँचे पहाड़ के ऊपर एक पगोडा है, जिसे अँगरेज़ी में 'हैंगिंग पैगोडा' अर्थात् 'हवा में लटकनेवाला' पगोडा कहते हैं। वहाँवाले इसे 'चैठियो पगोडा' कहते हैं। बड़ी दूर-दूर से ब्रह्मदेशी और चीनी पुरुष, स्त्री, बच्चे आदि हज़ारों की संख्या में हर साल यहाँ आते हैं। जब हम पहाड़ पर चढ़ रहे थे तब हम कई एक ब्रह्मदेशियों और चीनियों के झुंडों के पास से गुज़रे। स्त्रियों और बच्चों के साथ होने के कारण कई झुंड तो बहुत धीमे-धीमे चल रहे थे और ऐसे कई झुंड हमारी वापसी पर भी अभी जाते हुए ही मिले। मेरे मित्र इनसे खूब बातें करते और हँसते जाते थे। हम प्रातःकाल चले थे। ११ बजे इस पहाड़ की चोटी पर पहुँच गये। मुख्य स्थान से आधा मील पहले ही हमें अपने जूते उतार कर उन्हें हाथों में लेकर चलना पड़ा।

यहाँ पहाड़ी की चोटी पर बौद्ध दानियों ने बहुत-सा रुपया लगा कर सुन्दर फ़र्श और यात्रियों के रहने, खाने पकाने के लिए धर्मशालायें बनवा दी हैं। यह एक गाँव-सा मालूम होता है।

झूलता हुआ पगोडा तो ५० फ़ुट चौड़े और इतने ही ऊँचे पत्थर पर सोने का छोटा सा बना हुआ है। यह इतना बड़ा पत्थर एक और बड़े पत्थर की चट्टान के ऐन किनारे पर खड़ा हुआ है, जिसे मैंने और मेरे मित्र ने अपने कंधों
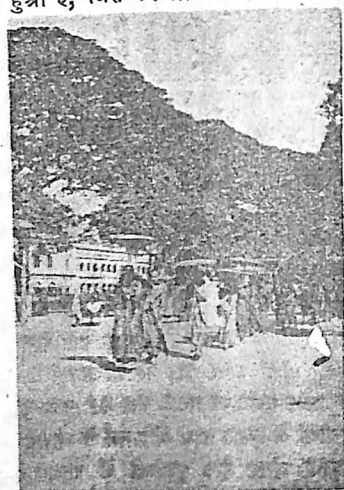
[रंगून की सड़कों पर फुंजियों का एक जलूस]

के ज़ोर से ही हिला दिया था और बहुत समय तक यह इधर-उधर हिलता रहा। हमें बतलाया गया कि यह चाहे कितना ही ज़ोर से क्यों न हिलाया जाय, कभी गिरता नहीं। यह सचमुच ही कुछ अजब खेल-सा मालूम होता था। वहाँ एक और भी चीज़ देखने के योग्य है। वहाँ एक बहुत मोटी लकड़ी का कोई ४ फ़ुट लम्बा टुकड़ा है, जो रक्खे-रक्खे अब पीतल-सा हो गया है। ऊपर से देखने में तो लकड़ी का ही मालूम होता है, परन्तु जब उसे एक और लकड़ी से मारा जाय तो पीतल की तरह गूँजती हुई ज़ोर से आवाज़ निकलती है। इन दोनों वस्तुओं को देखकर आश्चर्य होता है। इन दोनों के बारे में बहुत अनोखी कहानियाँ सुनने में आईं। वहाँ के सबसे बड़े फुंजी ने हमें बतलाया कि उसने अपने हाथ से हाल में ही इस पत्थर के नीचे से पतला-सा गोली का धागा निकाला था। कोई समय था जब यह पत्थर बिलकुल हवा में ही लटका रहता था और उसके नीचे से मोटे से मोटा रस्सा भी निकल जाया करता था। अब ज्यों-ज्यों संसार में पाप बढ़ता जाता है, यह पत्थर भी नीचे लगता जा रहा है। इस पत्थर के नीचे महात्मा बुद्ध के सिर के दो बाल रक्खे हुए हैं, जो उन्होंने मरने से पहले थेटन के राजा के लड़के को, जो उनका चेला था, दिये थे। उस राजा के लड़के ने अपने मरने से पहले उन बालों को यहाँ लाकर इस पत्थर के नीचे रख दिया। परन्तु उसका ऐसा रखना था कि वह बड़ा पत्थर उन पर अपना बोझ न डालने के लिए ऊँचा उठकर हवा में लटका रहा। परन्तु अब लोगों में पाप आ गया है और इन बालों के चोरी होने के डर से अब पत्थर नीचे आ गया है। इस कहानी में कितना सच है, मैं नहीं कह सकता। प्रत्येक यात्री वहाँ आकर उस पत्थर पर सोने का पत्र चढ़ाता है। हमारे आने से कुछ पहले हज़ारों रुपये का सोना उस पत्थर पर चढ़ाया जा चुका था। चैठो वापस आकर हमने एक ब्रह्मदेशी के बाँस के बने हुए बँगले में विश्राम किया। दूसरे दिन वर्षा के (वहाँ बहुत-से स्थानों पर सिर्फ़ वर्षा का मिट्टी के बर्तनों में या तालाबों में इकट्ठा किया हुआ पानी मिलता है) पानी में स्नान कर, चावल-मछली खा और चाय पीकर हम रंगून को चल दिये।

रंगून पहुँचकर मैंने अपने मित्र को धन्यवाद दिया। फिर स्वदेश को लौटने का प्रबन्ध करने लगे। इस बार मैं रंगून में अपने एक मुसलमान मित्र के यहाँ ठहरा। उनकी बीबी और लड़की मुझसे बिलकुल पर्दा नहीं करती थीं और वहाँ की स्वतन्त्र स्त्रियों की तरह रहना पसंद करती थीं। ब्रह्मदेश में हिन्दू व मुसलमान सब भाई-भाई और एक ही देश के बनकर रहते हैं। एक दूसरे की दूकान से वस्तुएँ लेकर खाते-पीते हैं। मुझे इस प्रेमभाव को देखकर बहुत ही आनन्द आया करता था और मैं प्रार्थना किया करता था कि ये दो बड़ी जातियाँ अपने देश में भी ऐसे ही रहें और इकट्ठे मिलकर देश की उन्नति के लिए सोचें और काम करें।

स्मृति

लेखक, श्रीयुत रमाशङ्कर पाण्डेय 'प्रभाकर'

स्वर्णिम अतीत तम-सान्ध्य में विलुप्त हुआ,
स्फीत नैश-दुःख है, न सुख कटु प्यार में।
परम प्रशान्त जो था, क्लान्त हो के खोता धैर्य,
स्थिर नहीं चित्त है विमग्न हाहाकार में।
धारणा विलीन हो रही है ध्यान-मूर्ति में हो,
वृत्ति की प्रतारणा प्रकट व्यवहार में।
उर में प्रकाश देती स्मृति उनकी तो सदा,
विस्मृति डुबाये रहती है अन्धकार में॥

युक्तप्रान्त में ग्राम-सुधार का कार्य

लेखक, श्रीयुत शङ्करदयालु श्रीवास्तव एम० ए०

हमारे सूबे की कांग्रेस सरकार अपने लाखों ग्रामीणों के जीवन को शिक्षित और समुन्नत बनाने के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील है। वह चारों ओर से किफ़ायत करके इस मद में अधिक से अधिक व्यय करना चाहता है। ग्राम-सुधार के कार्य को सफल बनाने के लिए उसने एक सुन्दर योजना चलाई है। उसी योजना का इस लेख में लेखक महोदय ने विस्तृत परिचय दिया है।

भारतवर्ष प्रधानतः गाँवों का देश है। यहाँ के लगभग ९० प्रतिशत निवासी गाँवों में रहते हैं। अतएव हमारी सभ्यता, उन्नति तथा रहन-सहन का माप वास्तव में ग्रामीण जनता की अवस्था के आधार पर ही होना चाहिए। नगरों की उच्च अट्टालिकाओं, विशाल भवनों, प्रशस्त सड़कों, बड़ी बड़ी दूकानों, स्कूल-कालेजों तथा पार्कों को देखकर हम गाँवों की वास्तविक अवस्था का अनुमान कभी नहीं कर सकते। ऐसी परिस्थिति में, यदि गाँवों की उपेक्षा कर केवल नगरों की उन्नति और सजावट पर ही बराबर ध्यान दिया जाय, नगर-निवासियों की ही सुविधाओं और हितों का चिन्तन किया जाय, उन्हीं के बच्चों को समुचित शिक्षा देकर योग्य नागरिक बनाने तक अपने प्रयत्न को सीमित रक्खा जाय तो सैकड़ों वर्षों के अनवरत परिश्रम तथा आन्दोलन के उपरान्त भी हमारा देश समष्टिरूप से सुखी, उन्नत तथा समृद्ध नहीं बन सकेगा। हमारे इस कथन में किसी को लेशमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। कहने का मतलब यह है कि हमारा देश वास्तविक रूप से तब तक उन्नत और सम्पन्न नहीं कहा जा सकता जब तक ग्रामीण जनता भी शिक्षित और सुखी न बन जाय और ग्राम-निवासियों तथा नगर-वासियों के बीच का यह विषम अन्तर दूर न हो जाय।

आन्दोलन का सूत्रपात

इसी बात को दृष्टि में रखकर हमारे देश के अन्दर ग्राम-सुधार के आन्दोलन का सूत्रपात राष्ट्रीय जागृति के बाद हुआ। ज्यों-ज्यों स्थानीय-स्वायत्तशासन की माँग ज़ोर पकड़ती गई और केन्द्रीभूत शासन का विकेन्द्रीकरण प्रारम्भ हुआ, त्यों-त्यों गाँवों के पुनःसंगठन के प्रश्न की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होने लगा। धीरे-धीरे गाँवों में पंचायतें क़ायम होने लगीं और अनेक प्रान्तों में 'पंचायत ऐक्ट' पास हुए। सहकारी समितियाँ भी गाँवों में काम करने लगी थीं। किन्तु किसी प्रान्त में ग्राम-सुधार का कार्य संगठित रूप से, किसी विस्तृत योजना को सामने रखकर, प्रारम्भ नहीं हुआ। हाँ, बंगाल तथा मदरास आदि कतिपय प्रान्तों में और प्रान्तों की अपेक्षा कुछ अधिक प्रयत्न किया गया था।

इस समय विभिन्न प्रान्तों में जो ग्राम-सुधार-आन्दोलन हो रहा है वह बिलकुल नया है। इस आन्दोलन का श्रीगणेश सबसे पहले महात्मा गांधी ने किया। उन्होंने स्वतन्त्रता-आन्दोलन का ग्रामीण जनता से घनिष्ट सम्बन्ध बतलाकर गाँवों के पुनःसंठगन तथा सुधार पर ज़ोर दिया। उन्हीं के प्रयत्न से राष्ट्रीय जागृति तथा आन्दोलन का संदेश गाँवों में पहुँचा और गाँववाले नये जीवन के संपर्क में आने लगे। महात्मा जी ने ग्रामीण जनता के प्रति बहुत सहानुभूति प्रकट की और घोषित किया कि जब तक राष्ट्रीय आन्दोलन जन-साधारण का आन्दोलन नहीं बन जाता तब तक वास्तविक स्वतन्त्रता किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती। ग्रामीण जनता की अवस्था में सुधार करने के लिए उन्होंने कुछ उपाय भी बतलाये। इसके अतिरिक्त उन्होंने ग्रामीणों में काम करने के लिए एक अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग-संघ नामक एक संस्था भी स्थापित की। उनके इस कार्य से प्रत्यक्षतः तथा अप्रत्यक्षतः दोनों रूपों से ग्राम-सुधार-आन्दोलन को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। लोग गाँवों में जाकर काम करने लगे। सरकार ने समझा कि ग्रामीण जनता में कांग्रेस का प्रभाव बढ़ाने के लिए ही महात्मा गांधी ने गाँवों की ओर ध्यान दिया है। कहीं गाँवों के लोग पूर्णतः कांग्रेस के ही प्रभाव में न आ जायँ, इस भय से सरकार ने भी गाँवों

की ओर अपना ध्यान दिया। गाँवों का सुधार तथा संगठन करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने १ करोड़ रुपया अलग रख दिया और उसे विभिन्न प्रान्तों में बाँट दिया। यद्यपि यह कार्य राजनैतिक उद्देश्य से—ग्रामीण जनता को कांग्रेस के प्रभाव से बचाने के लिए आरम्भ किया गया, तथापि उससे गाँवों को कुछ लाभ ज़रूर हुआ। प्रान्तीय सरकारों ने स्थायी रूप से गाँवों में सुधार-कार्य करने का निश्चय कर लिया। केन्द्रीय सरकार से मिली हुई रक़म के अलावा प्रान्तीय सरकारें अपने कोष से भी कुछ धन देने लगीं।

प्रान्तीय सरकारों ने अपने यहाँ ग्राम-सुधार की क्या योजना तैयार की और किस तरह उसे कार्यान्वित करना आरम्भ किया, इसका विवरण विस्तार के साथ प्रस्तुत लेख में नहीं किया जायगा। यहाँ केवल युक्तप्रान्त के ग्राम-सुधार-कार्य का संक्षेप में वर्णन किया जायगा। युक्तप्रान्त में कांग्रेसी मंत्रिमंडल के पदस्थ होने के पूर्व ग्राम-सुधार की एक योजना तैयार की गई थी और उसके अनुसार कार्य आरम्भ किया गया था। इस कार्य के लिए युक्त-प्रान्तीय सरकार को १५ लाख रुपये उस रक़म में से मिले जो केन्द्रीय सरकार ने विभिन्न प्रान्तों में बाँटी थी। यह १५ लाख की रक़म ५ साल में ख़र्च करने के लिए थी। इस प्रकार ३ लाख रुपया प्रतिवर्ष भारत-सरकार की ओर से मिला। प्रान्तीय सरकार ने भी अपनी ओर से १ लाख रुपया साल इस कार्य में ख़र्च करने के लिए मंज़ूर किया। ग्राम-सुधार की यह योजना जो ५ साल के लिए बनाई गई थी, सिद्धान्ततः अच्छी थी, किन्तु जो व्यक्ति इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त किये गये थे वे इस कार्य के योग्य तथा उपयुक्त नहीं थे। उनमें त्याग, सेवा तथा उत्साह आदि के भावों का अभाव था जो ग्राम-सुधार के कार्यकर्त्ताओं के लिए अपेक्षित है।

कांग्रेसी सरकार के क़ायम हो जाने के पश्चात् ग्राम-सुधार-आन्दोलन को यथेष्ट प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, जो बिलकुल स्वाभाविक था। कांग्रेस के जिस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का भार कांग्रेसी मंत्रिमंडल के ऊपर आया उसमें पहले से ही ग्रामीणों की अवस्था में सुधार करने का संकल्प प्रकट किया गया था। फलतः कांग्रेसी सरकार ने ग्राम-सुधार-कार्य में बड़ी दिलचस्पी लेनी प्रारम्भ की और बड़ी तत्परता के साथ उसने इस कार्य को अग्रसर किया। पंडित श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने, जिन्हें कांग्रेसी सरकार ने प्रान्त का ग्राम-सुधार अफ़सर नियुक्त किया, एक नई योजना की रूप-रेखा तैयार की और उनके बाद के ग्राम-सुधार अफ़सर श्री मनोहरदास चतुर्वेदी ने उसको विस्तृत रूप प्रदान किया। इस नई योजना के अनुसार ही आज-कल काम हो रहा है। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए जो संगठन स्थापित किया गया है वह संक्षेप में इस प्रकार है।

संगठन

सुधार का काम प्रारम्भ करने के लिए प्रत्येक ज़िले में कुछ हलक़े क़ायम किये गये हैं और प्रत्येक हलक़ा एक वेतन-भोगी कार्यकर्त्ता के सिपुर्द कर दिया गया है, जिसे आर्गेनाइज़र या संगठनकर्त्ता कहते हैं। हर एक हलक़े के अन्दर कुछ गाँव होते हैं। आर्गेनाइज़र का कर्त्तव्य है कि वह अपने हलक़े के प्रत्येक गाँव में रहन-सहन को अच्छा बनानेवाली एक समिति स्थापित करे। विचार यह है कि इस समिति में गाँव के सभी बालिग़—नहीं तो कम से कम ७५ फ़ी सदी लोग—सदस्य बन जायँ। जब कम से कम ६ समितियाँ ऐसी स्थापित हो जायँ तो उन्हें मिलाकर एक बड़ा संघ क़ायम किया जाय। इसके अतिरिक्त आर्गेनाइज़र का काम गाँववालों को योग्य नागरिक बनाना, उनके जीवन में आमोद-प्रमोद का भाव भरना, खेलों तथा मनोविनोद के साधनों की व्यवस्था करना, मामूली दवाओं का प्रबन्ध करना, सब गाँवों में सफ़ाई कराना, गलियों को चौड़ी कराना तथा पंचायतघर बनवाना आदि हैं।

हर ज़िले में एक ज़िला-ग्राम-सुधार-सभा क़ायम की गई है। इसका अध्यक्ष सरकार-द्वारा मनोनीत कोई ग़ैर-सरकारी व्यक्ति होता है। कुछ ग़ैरसरकारी सदस्य होते हैं, जिन्हें सरकार नामज़द करती है। ज़िले के अन्दर रहनेवाले प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्य भी उसके मेम्बर होते हैं। ज़िले के दो डिप्टी कलेक्टर भी रहते हैं, जिन्हें ज़िले का हाकिम नामज़द करता है। ज़िला-बोर्ड का चेयरमैन तथा शिक्षा-समिति का चेयरमैन भी उक्त सभा में शामिल किया जाता है। ग्राम-सुधार का डिवीज़नल

सुपरिन्टेन्डेन्ट अपने पद के अधिकार से उसका सदस्य होता है। ग्राम-सुधार में दिलचस्पी लेनेवाले कुछ प्रभावशाली व्यक्ति तथा स्थानीय सीनियर अफ़सर भी सदस्य होते हैं। ज़िला-हाकिम सभा से परामर्श कर अपने द्वारा नामज़द किये हुए दो डिप्टी कलक्टरों में से एक को सभा का मन्त्री नियुक्त कर देता है। ग्राम-सुधार-विभाग का इन्सपेक्टर सहायक-मंत्री भी होता है। सभा का काम ज़िले के लिए स्वीकृत धन को विभिन्न कार्यों के लिए तथा विभिन्न हलक़ों में बाँटना, सब प्रकार की सलाह देना, सुधार के विभिन्न विभागों के कार्यों में संबध व सहयोग स्थापित करना, बीजगोदाम, स्कूल, पुस्तकालय आदि के लिए स्थानों का चुनाव करना तथा विभिन्न योजनाओं व तजवीज़ों पर विचार करना है, सभा की सहायता के लिए एक छोटी सी कार्यकारिणी समिति भी बना दी गई है, जिसके अध्यक्ष, मंत्री व सहायक मंत्री वे ही होते हैं जो उस सभा के होते हैं। इस कार्यकारिणी में दो ग़ैर-सरकारी सदस्य होंगे, जिन्हें सभा के सदस्य चुनेंगे।

हर ज़िले में ग्राम-सुधार का एक इन्सपेक्टर होता है, जो ज़िले पर के आर्गेनाइज़रों के काम का निरीक्षण करता है और उन्हें आवश्यक सलाह देता है। इन्सपेक्टरों के ऊपर हर डिवीज़न् में एक अफ़सर नियुक्त किया गया है, जो डिवीज़नल सुपरिन्टेन्डेन्ट कहलाता है। वह अपने डिवीज़न के इन्सपेक्टरों के कार्य का निरीक्षण करता है और सरकारी अफ़सरों व ग़ैर-सरकारी व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा करता है। उसे अधिकार है कि वह गाँवों में जाकर भिन्न-भिन्न कार्यों का निरीक्षण करे और ज़िले की कार्यकारिणी कमिटियों के सामने कोई योजना उपस्थित करे।

सबके ऊपर एक ग्राम-सुधार अफ़सर नियुक्त किया गया है, जो अपने कर्मचारियों के साथ सदर मुक़ाम (लखनऊ) में रहता है। संपूर्ण प्रान्त के लिए एक प्रान्तीय ग्राम-सुधार-बोर्ड स्थापित किया गया है जिसके अध्यक्ष माननीय न्यायमंत्री तथा मंत्री ग्राम-सुधार-अफ़सर हैं। उक्त बोर्ड में सुधार के विभिन्न विभागों के बड़े अफ़सर, असेम्बली के पाँच तथा कौन्सिल के दो निर्वाचित सदस्य, न्यायमंत्री के पार्लिमेन्टरी सेक्रेटरी तथा ग्राम-सुधार के कार्य में विशेष दिलचस्पी लेनेवाले सरकार-द्वारा मनोनीत कुछ अन्य व्यक्ति मेम्बर हैं। बोर्ड का काम ग्राम-सुधार के साधारण कामों में सलाह देना, विभिन्न ज़िला-सभाओं को धन बाँटने की व्यवस्था बतलाना तथा सदस्यों की दी हुई रायों पर विचार करना है।

कांग्रेसी सरकार ने ग्राम-सुधार का जो कार्यक्रम अपने सामने रक्खा है उसके कार्यान्वित हो जाने पर ग्रामनिवासियों के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा औद्योगिक जीवन में एक क्रान्ति पैदा हो जायगी। ग्राम-सुधार के लिए पहले प्रतिवर्ष एक लाख रुपया प्रान्तीय कोष से दिया जाता था। अब बजट में उसके अतिरिक्त १० लाख रुपये की और व्यवस्था कर दी गई है। ३ लाख रुपये भारत-सरकार से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अब इस कार्य में ख़र्च करने के लिए १४ लाख रुपया मिल गया है। वास्तव में गाँवों के सुधार के लिए और कई लाख रुपये भी मंज़ूर किये गये हैं किन्तु वे रक़में कृषि, उद्योग, चिकित्सा, शिक्षा, पशु-पालन तथा सहकारिता आदि मदों के अंदर मंज़ूर की गई हैं।

कृषि-सुधार

ग्राम-सुधार का मुख्य कार्यक्रम खेती के तरीक़ों में सुधार करना, लड़के-लड़कियों तथा बालिग़ों की शिक्षा का प्रबन्ध करना, डाक्टरी सहायता पहुँचाने की व्यवस्था करना, ग्रामीण उद्योग-धंधे की उन्नति करना, गाँवों की पैदावारों की बिक्री का इंतिज़ाम करना, कृषि तथा अन्य रोज़गारों के लिए कम ब्याज पर क़र्ज़ दिलाने का प्रबन्ध करना, आदि है। जहाँ तक कृषि-सुधार का सम्बन्ध है, ५०० बीज-गोदाम खोलने की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक गोदाम में वितरण के लिए २ हज़ार मन अच्छा बीज रक्खा जाता है। अच्छी पैदावार के लिए अच्छे बीजों का होना बहुत आवश्यक है, किन्तु इसका पहले कोई समुचित प्रबन्ध नहीं था। ग़रीब किसानों को समय पर बोने के लिए बीज मिलना मुश्किल था। महाजनों से ज़्यादा सूद पर क़र्ज़ लेकर वे घटिया बीज ख़रीद कर काम चलाते थे। अब नाममात्र के सूद पर उन्हें अच्छा बीज मिल जाया करेगा और खेती की पैदावार में उन्नति होगी। कृषि-सुधार के लिए दूसरी आवश्यक चीज़ पर्याप्त मात्रा में अच्छी खाद है। गोबर और कूड़ा-करकट जमा करने के लिए गाँवों में जो घूर होते हैं वे काफ़ी उपयोगी नहीं

होते। गहरा गड्ढा न होने से खाद ऊपर ही पड़ी रहती है और उसकी ताक़त घट जाती है। फिर बरसात के दिनों में बहुत-सी खाद बह जाती है। अब ग्राम-सुधार-विभाग ने गाँव-गाँव में वैज्ञानिक रूप से खाद के गड्ढे खुदवाने शुरू कर दिये हैं। विभाग की ओर से इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि हर गाँव में खाद के गड्ढे खुदवाये जायँ और उनकी संख्या इतनी हो जितने उस गाँव में घर हों। इस साल के शुरू से सितम्बर तक बनारस-कमिश्नरी में ९,३६३, झाँसी में ४,७३७, कुमायूँ में ३६० तथा आगरा में ४,२५९ खाद के गड्ढे खुदवाये गये। अन्य कमिश्नरियों के जो आँकड़े प्राप्त हुए हैं वे जून के हैं। इन आँकड़ों के अनुसार फ़ैज़ाबाद-कमिश्नरी में २,२२१, मेरठ में १,५९६, इलाहाबाद में ३८५ तथा गोरखपुर में ३६९ गड्ढे खुदवाये गये। किसान लोग गोबर का उपयोग खाद के रूप में कम करते हैं। वे गोबर के उपले बनाकर जलाने के काम में ले आते हैं। उनको इस बात का ज्ञान नहीं है कि गोबर की गिनती संसार की उत्तमोत्तम खादों में है। गोबर का प्रयोग केवल खाद के रूप में किया जाय, इस बात को दृष्टि में रखकर फालतू पड़ी हुई ज़मीन में ऐसे वृक्ष लगवाने का प्रयत्न किया जा रहा है जिनकी लकड़ी ईंधन का काम दे। इस कार्य के लिए जंगल-विभाग के कुछ अफ़सर तैनात कर दिये गये हैं। उन्होंने प्रान्त भर में भ्रमण करके इस बात का पता लगाया है कि ऐसे पेड़ लगवाने के लिए कहाँ-कहाँ उपयुक्त ज़मीन मिल सकती है। उनके इस भ्रमण के परिणामस्वरूप प्रतापगढ़, हरदोई, पीलीभीत, बरेली, बिजनौर, बुलन्दशहर, मेरठ तथा मुज़फ़्फ़रनगर के ज़िलों में ईंधन के लिए पेड़ लगवाने की तैयारी की जा रही है। बहुत सी ज़मीन में पेड़ लगवाये भी जा चुके हैं। पशुओं की नस्ल में सुधार करने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। बुरी नस्ल के साँड़ बधिया कर दिये जायँगे ताकि वे अगली नस्ल न ख़राब कर सकें। असली नस्ल के मवेशी मुहैया करने के लिए ४ केन्द्र स्थापित किये जा रहे हैं—इटावा, प्रतापगढ़, बलिया तथा मिर्ज़ापुर।

किसानों की क़र्ज़दारी भी दूर करने की कोशिश की जा रही है। किसानों में मितव्ययिता नहीं, शादी-विवाह आदि में वे फ़िज़ूल कामों में हैसियत से अधिक धन ख़र्च कर देते हैं, और बहुत ज़्यादा सूद पर महाजनों से क़र्ज़ लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे क़र्ज़ के बोझ से दबे रहते हैं। ऐसी अवस्था में वे अपनी कुछ उन्नति नहीं कर सकते, अतः उनके क़र्ज़ के बोझ को हलका करने का यत्न किया जा रहा है। किसानों को कृषि में सुधार करने तथा नये उद्योग-धन्धे आरम्भ करने के लिए भी धन की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे कार्यों के लिए आर्थिक सहायता देने के हेतु प्रान्तीय ग्राम-सुधार-विभाग सहकारिता-विभाग के सहयोग से सहकारी ऋण-सभायें क़ायम कर रहा है। इन सभाओं से किसानों को नाममात्र के सूद पर क़र्ज़ मिलेगा और वे महाजनों के अत्याचार से बच जायँगे। कृषि की पैदावार की बिक्री का भी इन्तिज़ाम किया जा रहा है। बिक्री करने के लिए १४० दूकानें अथवा स्टोर खोले जा रहे हैं। खेती के लिए उन्नत औज़ार भी मुहैया करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

उद्योग-धन्धे

इस बात को अब प्रायः सभी लोग स्वीकार करने लगे हैं कि उद्योग-धन्धों की उन्नति के बिना प्रान्त की आर्थिक स्थिति नहीं सुधारी जा सकती। ग्राम-निवासियों का केवल कृषि पर निर्भर करना ठीक न होगा। प्राचीन काल में ग्रामीण उद्योग-धन्धों की बदौलत लोग सुखी और सम्पन्न रहते थे, किन्तु उन धन्धों के नष्ट हो जाने से ग्रामीण लोग अब बहुत ग़रीब हो गये हैं, उनकी अवस्था शोचनीय हो गई है। यदि पुराने उद्योग-धन्धे पुनर्जीवित किये जायँ और नये उद्योग-धन्धे लोगों को सिखा दिये जायँ तो ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति बहुत सुधर सकती है। सूत-कताई, बुनाई, रँगाई, छपाई, चमड़े का काम, लकड़ी का काम, गुड़ का काम, काग़ज़ बनाने का काम, सिलाई, खिलौने बनाना, बेंत की कुर्सी, मेज़ आदि चीज़ें बनाना—आदि अनेक छोटे-मोटे धन्धे हैं, जिनका गाँवों में प्रचार किया जा सकता है। कताई और बुनाई की शिक्षा देने के लिए गोरखपुर तथा प्रतापगढ़ में चर्खा-आश्रम खोले गये हैं। फ़ैज़ाबाद तथा उन्नाव के ज़िलों के अन्दर दो औद्योगिक आश्रम खोले गये हैं। इन आश्रमों में कताई, बुनाई, रँगाई, छपाई, बढ़ई गिरी, चमड़ा कमाना और जूता, काग़ज़ तथा टोकरी बनाना सिखाया जाता है। यहाँ प्रान्त के विभिन्न ज़िलों के विद्यार्थी शिक्षा देने के लिए

भर्ती किये जाते हैं। गाँववालों को औद्योगिक काम सिखाने के लिए ७० कारीगर तथा ९६ चर्खा-मास्टर नियुक्त किये जा रहे हैं। ये लोग चारों ओर घूम-घूम कर औद्योगिक कार्यों का प्रदर्शन करेंगे और पता लगायेंगे कि कहाँ कहाँ औद्योगिक केन्द्र स्थापित किये जा सकते हैं। बरेली-ज़िला के गाँवों में खिलौने बनाने के केन्द्र भी स्थापित किये जा रहे हैं। इन केन्द्रों में कुछ और भी काम होंगे। प्रत्येक कमिश्नरी में सैकड़ों व्यक्तियों को घरेलू उद्योग-धन्धों की शिक्षा दी जा चुकी है। यदि गाँवों में लोग छोटे-मोटे घरेलू उद्योग-धन्धों को सीखकर काम करना प्रारम्भ कर दें तो ग्रामीणों के आर्थिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाय और सब लोग सुखी तथा खुशहाल बन जायँ।

शिक्षा

गाँवों में शिक्षा-प्रचार की सबसे बड़ी आवश्यकता है। शिक्षा सब प्रकार की उन्नति की जड़ है। जो समाज शिक्षा में जितना ही आगे होगा वह उतना ही सभ्य, उन्नत तथा सम्पन्न होगा। हमारा प्रान्त शिक्षा-प्रचार में बहुत पीछे है। ग्रामीण समाज तो और भी अन्धकार में पड़ा हुआ है। लगभग ९० प्रतिशत व्यक्ति अपढ़ हैं। जब तक ये अपढ़ व्यक्ति साक्षर नहीं बनाये जायँगे तब तक ग्रामों का उद्धार नहीं होगा। स्थानीय संस्थाओं की ओर से प्रान्त में लड़कों के लिए ६५७ वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल तथा १३,४४६ प्राइमरी स्कूल हैं, जिनमें कुल मिलाकर क्रमशः ७६,००० तथा लगभग ६ लाख बच्चे पढ़ते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-से सहायता-प्राप्त स्कूल, पाठशालायें तथा मक़तब हैं। जिला-बोर्ड देहातों की शिक्षा पर क़रीब एक करोड़ रुपया ख़र्च करते हैं। जहाँ तक लड़कियों का सम्बन्ध है वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों में उनकी संख्या २९,००० तथा प्राइमरी स्कूलों में ७५,००० है। इसके अतिरिक्त ७९,००० लड़कियाँ लड़कों के स्कूलों में पढ़ती हैं। १९३५-३६ ई० में शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर ने जो रिपोर्ट प्रकाशित की थी उसको देखने से मालूम होता है कि माध्यमिक स्कूलों पर ४८·६ प्रतिशत तथा प्राइमरी स्कूलों पर २४·२ प्रतिशत ख़र्च किया गया है। संसार में शायद ऐसा कोई देश नहीं मिलेगा जहाँ उच्च शिक्षा पर प्रारम्भिक शिक्षा की अपेक्षा दूना ख़र्च किया जाता हो। मदरास, बम्बई, पंजाब और बंगाल युक्तप्रान्त की अपेक्षा शिक्षा में अधिक धन ख़र्च करते आये हैं।

जब से प्रान्त के शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथ में आई, शिक्षा-प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया गया। प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली के पुनःसंगठन के लिए योजना क़रीब-क़रीब तैयार हो गई है। प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में उसने दो मूलसिद्धान्त स्थिर कर लिये हैं, जिनमें से एक तो यह है कि सात से चौदह साल की अवस्था तक सभी बालक-बालिकाओं को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देनी चाहिए; और दूसरा यह कि प्रारम्भिक शिक्षा किसी उत्पादक शिल्प पर केन्द्रित होनी चाहिए। शिक्षा-विभाग की ओर से गाँवों में इस नई योजना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न तो किया ही जायगा, ग्राम-सुधार-विभाग भी ग्रामीणों को शिक्षित बनाने का प्रयत्न कर रहा है। गाँवों में पुस्तकालय तथा वाचनालय खोले जा रहे हैं। देहातों में ७०० पुस्तकालय तथा ३६०० वाचनालय स्थापित करने का विचार किया गया है। पुस्तकों तथा समाचार-पत्रों को पढ़कर ग्रामीण लोगों की कूपमंडूकता दूर हो जायगी और वे अज्ञानान्धकार से निकल कर प्रकाश में आ जायँगे। ग्रामीणों में नये जीवन का संचार हो जायगा। बालिग़ों की निरक्षरता दूर करने के लिए भी प्रयत्न किये जा रहे हैं। रात्रि-पाठशालायें खोली जा रही हैं।

स्वास्थ्य और चिकित्सा

अब तक सरकार ग्रामीणों के स्वास्थ्य और चिकित्सा पर पर्याप्त ध्यान नहीं देती रही है। गाँवों में अस्पतालों तथा वैद्य-डाक्टरों का प्रायः बिलकुल अभाव है। आवश्यकता पड़ने पर बेचारे गाँववालों को डाक्टरी सहायता मिलनी कठिन हो जाती है। अब कांग्रेसी सरकार गाँवों की सफ़ाई आदि करने तथा ग्रामीणों का स्वास्थ्य सुधारने की चेष्टा कर रही है। स्वास्थ्य-विभाग के आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि १९३५-३६ ई० में केवल ज्वर से इस प्रान्त के गाँवों में १७,८१,१४५ व्यक्ति मरे। हैज़ा से १७,२०५ व्यक्ति मरे। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि गाँवों का स्वास्थ्य सुधारने तथा वहाँ डाक्टरी

सहायता पहुँचाने की कितनी ज़रूरत है। ग्राम-सुधार-विभाग की ओर से लगभग ४,००० केन्द्रों में दवा के बक्स रक्खे जा रहे हैं और इसके लिए ४८,००० रुपये मंज़ूर किये गये हैं। बजट में गाँवों के लिए १०० डाक्टरों तथा तीन-चार सौ हकीम-वैद्यों के लिए भी व्यवस्था की गई है। कुछ डाक्टर और वैद्य-हकीम नियुक्त भी किये जा चुके हैं। गाँवों में मल-मूत्र त्याग करने के लिए हज़ारों गड्ढे खुदवाये जा रहे हैं। गाँवों में कूड़े-करकट के जो ढेर गन्दगी फैलाते रहते थे, हटाये जा रहे हैं। कुओं की सफ़ाई कराई जा रही है। पानी बहने के लिए मोरियाँ बनवाई जा रही हैं। प्राथमिक उपचार की शिक्षा लोगों को दी जा रही है।

गाँवों में सुधार का काम करने के लिए जो संगठन-कर्त्ता नियुक्त किये गये हैं उन्हें समुचित शिक्षा देने की व्यवस्था की गई है। कानपुर, फ़ैज़ाबाद, मेरठ, इटावा, गोरखपुर तथा मैनपुरी में इसके लिए केन्द्र खोले गये हैं। २४० संगठनकर्त्ताओं को शिक्षा दी जा चुकी है। अन्य २४० संगठनकर्ताओं के दल को शिक्षा देना शुरू किया गया है। इन कर्मचारियों को सहकारिता, कृषि, स्वास्थ्य-सफ़ाई, प्राथमिक उपचार, स्काउटिंग, कताई, बुनाई आदि उपयोगी विषयों की शिक्षा दी जाती है। अन्य विभागों के स्थानीय अफ़सर भी इस कार्य में सहयोग दे रहे हैं। समय-समय पर इन्सपेक्टरों तथा डिवीज़नल सुपरिन्टेन्डेन्टों के सम्मेलन भी होते रहते हैं और वे सब एकत्र होकर विचार करते हैं कि ग्राम-सुधार के कार्यक्रम को अग्रसर करने के लिए क्या क्या उपाय करना चाहिए और सरकार को क्या सलाह देनी चाहिए। यदि ग्राम-सुधार-कार्य की वर्तमान प्रगति कुछ वर्षों तक जारी रही तो निश्चय है कि ग्रामीणों के जीवन में एक युगान्तर उपस्थित हो जायगा।

कवि और चित्रकार

लेखक, श्रीयुत मित्तल

तू इन दुखियों के चित्र बना, मैं इन दुखियों के रचूँ गीत।
तू रेख-रेख में दर्द जगा, मैं शब्द शब्द में भरूँ पीर।
तू रंग-रंग से आह उड़ा, मैं आह-आह पर लिखूँ गीत।
तू उनका जर्जर हृदय दिखा, मैं उनका मानस रखूँ चीर।
तू उनकी भाव-भंगिमा में, भर दर्द, कसक, सब हूक, टीस।
मैं उनके क्रन्दन में कह दूँ, वे क्यों पीड़ित, वे क्यों अधीर?

× × × ×

तू उनके चित्रों से कहला—
वे भी जगती के मालिक हैं, उन पर भी है जिम्मेदारी।
मैं उनके गीतों में गा दूँ—
वे दुख सहने के लिए नहीं, वे भी वैभव के अधिकारी।

ताँगेवाला

लेखक, श्रीयुत उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बी० ए०, एल-एल० बी०

गाड़ी नम्बर १ प्लेटफ़ाम पर रुकी। तीसरे दर्जे के एक भरे हुए डिब्बे से एक घबराई हुई आवाज़ आई—"क़ुली! क़ुली!"

लोगों को अपने चढ़ने-उतरने की चिन्ता थी। उतरनेवालों की अपेक्षा चढ़नेवाले अधिक उतावले थे, और चढ़नेवालों की अपेक्षा उतरनेवाले अधिक अधीर! तब कोई क़ुली उस क्षीण आवाज़ को कैसे सुन पाता? और सुन भी पाता तो एकदम वहाँ कैसे जा खड़ा होता? कोलाहल को भरसक प्रयत्न से चीर कर वह क्षीण पर तीखी-घबराई हुई आवाज़ फिर डिब्बे के बाहर गूँज गई—"क़ुली, क़ुली!" अब खिड़की से उतरने-चढ़नेवाली भीड़ में रास्ता बनाता हुआ एक क़ुली अन्दर चला गया। कुछ देर के बाद वह सिर पर एक ट्रंक और बाज़ू में एक छोटा सा बिस्तर लटकाये बाहर निकला। ट्रंक बहुत पुराना और टूटा हुआ था, रंग-रोग़न उड़ चुका था, किनारे मुड़ गये थे और कपड़ों की रक्षा करने की अपेक्षा वह पास से गुज़रनेवालों के कपड़े अधिक फाड़ सकता था। बिस्तर भी साधारण था, एक दरी में शायद खेस, चादर या कपड़े रख, गोल करके रस्सी से बाँध दिया गया था।

क़ुली के पीछे डिब्बे से किसी ने कहा—"भाई, इसे ट्रंक पर रख ले, नहीं तो रस्सी टूट जायगी।" यह कहती हुई एक बुढ़िया अपने श्वेत बालों और दोहरी कमर को लिये हुए जैसे अपने बूढ़े वर्षों के भार से झुकी काँपते हुए हाथों से खिड़की का सहारा लेकर उतरी।

"मुझे ताँगे तक पहुँचा दे, भाई। तेरा भला होगा।"—प्लेटफ़ार्म पर पाँव रखते ही सुख की एक साँस लेकर उसने कहा।

"नमस्ते मा जी।"—गाड़ी में बैठी हुई किसी तरुणी ने अपनी मीठी आवाज़ में पुकारा।

बुढ़िया तब चौंकी और उसे उस सुन्दर युवती का ख़याल हो आया जिससे अभी कुछ देर पहले वह मा-बेटी का नाता जोड़ चुकी थी। मुड़कर उसने अपना हाथ उठाकर उसे आशीर्वाद दिया—"जीता रहो बच्ची। सुखी रहो।" गार्ड ने झंडी हिलाई, इंजन ने सीटी दी और धुआँ उड़ाता हुआ वह अपनी लम्बी यात्रा पर रवाना हो गया।

× × × ×

सन्तोष की साँस लेकर वृद्धा ने देखा। क़ुली उसके पीछे-पीछे आ रहा था। वह ड्योढ़े दर्जे के दरवाज़े की ओर बढ़ी।

जालंधर है तो जंकशन, पर इतना बड़ा नहीं कि यात्री प्लेटफ़ार्मों की भूल-भुलैया में ही फँस कर रह जाय। दो लम्बे-लम्बे प्लेटफ़ार्म हैं, पुल के द्वारा दो-दो हिस्सों में विभक्त करके उनमें चार नम्बर लगा दिये गये हैं। बाहर निकलने का दरवाज़ा नम्बर १ प्लेटफ़ार्म पर ही है। बुढ़िया ने जल्दी से टिकट दिया और बाहर निकल गई और वह क्षणिक-मुस्कान जो उस युवती को आशीर्वाद देते समय उसके चेहरे पर आई थी, फिर व्यथा के पर्दे में छिप गई। प्लेटफ़ार्म का गेट पार कर, सीढ़ियों पर, वह कुछ क्षण के लिए रुकी और उसकी आँखों के सम्मुख उसकी बीमार भतीजी का चित्र खिंच गया, जिसे देखने के लिए वह हरिद्वार से सीधी इधर आई थी। पर ताँगेवालों ने ज़्यादा देर तक उसे इस तरह अपने विचारों में निमग्न न रहने दिया।

"इधर आइए मा जी।"

"सिर्फ़ एक सवारी चाहिए।"

"बस बैठिए कि चल दूँगा।"

"पंजपीर को जायँगी क्या?"

"बस्ती जाना हो तो इधर आ जाइए। बस, ताँगा तैयार ही है।"

उसने सबकी सुनी-अनसुनी कर दी और किसी तरह अपने आपको उनके चंगुल से बचा कर क़ुली पीछे-पीछे वह सीधी एक ताँगे की ओर बढ़ी, जो दूसरों से अलग इस तरह खड़ा था, मानो उसे सवारियों की आवश्यकता ही न हो। न गला फाड़ फाड़ कर चिल्लाता था, न आगे बढ़-बढ़ कर बातें बनाता था।

"ताँगा ख़ाली है?"—बुढ़िया ने चौंक कर पूछा।

"जी हाँ।"—ताँगेवाले ने उत्तर दिया।

वह बैठ गई, क़ुली ने ट्रंक और बिस्तर उसके पाँवों के नीचे रख दिया। ताँगा चलने लगा। किधर? न ताँगेवाले ने पूछा, न घबराहट में बुढ़िया ही ने कुछ कहा।

× × × ×

"हम किधर जा रहे हैं?"—वृद्धा ने कुछ देर के बाद चौंक कर पूछा।

"आपको किधर जाना है?"

"छावनी की सड़क पर फाटक के पास!"

ताँगेवाला विषाद से हँसा—"हम तो शहर में आ गये हैं, भाई!" और फिर बोला—"छावनी की सड़क पर आप कहाँ जायँगी?"

"थाने के समीप!"—वृद्धा ने घबराकर उत्तर दिया।

"आपने पहले क्यों न बता दिया मा जी?"—ताँगेवाले ने शिकायत के स्वर में कहा—"यह तो होशियारपुर का अड्डा है। अब फिर वापस जाना पड़ेगा। बड़ा चक्कर लगेगा।"

"जो भी हो भाई, मुझे तो अब वहीं ले चल।"

"आप चिन्ता न करें। मैं ले चलता हूँ अभी!"—और उसने ताँगा मोड़ लिया। घोड़े को पुचकारते हुए उसने टिटकारी भरी और कहा—"चल बेटा ज़रा जल्दी!"

ताँगा हवा से बातें करने लगा।

× × × ×

ताँगेवाला कौन था, कहाँ से आया था, यह किसी को मालूम न था। पर सभी यह जानते थे कि उसने एक दर्द-भरा दिल पाया है, जिसमें दूसरों के लिए तड़प मौजूद है। उसे यहाँ आये बहुत दिन नहीं हुए थे। एक शाम को जब ताँगेवाले अपने अपने घोड़ों को दाना-पानी देकर हुक़्क़ा पीने के लिए जमा हुए थे तब उन्होंने पहली बार उसे देखा था। वह एक जवान आदमी था, पर दाढ़ी-मूछों के बढ़ जाने से उसकी आयु कहीं अधिक मालूम होती थी। चेहरा उसका बालों से छिपा रहता था और सिर पर रूखे-लम्बे केश लहराया करते थे, जो उसकी बेपरवाही और उदासीनता के परिचायक थे; पर इतने पर भी उसके व्यक्तित्व में एक विशेष आकर्षण था। शायद इसका कारण उसकी आँखों की करुणा थी, जो आँखों में रहकर भी उसके सारे व्यक्तित्व पर छाई जाती थी।

स्टेशन के समीप पहुँचकर वृद्धा ने कहा—"हम तो वापस स्टेशन को जा रहे हैं।"

"हाँ, मा जी।" ताँगेवाले ने विनम्रता से कहा—"मंडी के ऊपर से होकर जाना पड़ेगा।"

करुण, मीठी और विनय से सनी आवाज़! दूसरे ताँगेवालों में और उसमें यही एक अन्तर था। वह उन सबसे कहीं अधिक सभ्य था, किसी से लड़ता-झगड़ता न था। साधारणतया सवारियों को अपनी अपनी तरफ़ खींचने के लिए ताँगेवाले आपस में बेतरह झगड़ते हैं, वे गालियाँ बकते हैं कि भगवान् बचाये! किन्तु किसी ने उसके मुँह से कभी गाली न सुनी थी, उसकी वाणी में मिठास का सागर उमड़ा पड़ता था। नगर के बहुत लोग उससे परिचित हो गये थे और साधारणतया उसके ताँगे में ही जाते थे। चुपचाप वह अपनी जगह पर खड़ा रहता था। कोई आता तो उसे आराम से उसके घर पहुँचा देता था। पैसों के लिए वह कभी नहीं लड़ा, उसके और उसके घोड़े के लिए जितने पैसे काफ़ी होते, उतने ही कमा कर वह निश्चिन्त हो जाता, इससे अधिक परिश्रम उसने अपने जानवर से कभी नहीं लिया। उसका ताँगा सबसे अच्छा था; और घोड़ा— वह तो जैसे उसका बेटा था, सुन्दर और सुडौल, अनायास ही पुचकारने और प्यार करने को जी चाहता था। उसे देखकर आँखों की भूख मिटती थी। दूसरे ताँगेवालों से पहले ही वह उसे खोल देता था और प्रेम से उसे दाना खिलाता था। घोड़े का नाम उसने रख छोड़ा था 'संतोष'।

दोनों में कौन अधिक संतोष की मूर्ति था, यह कहना कठिन था। जब दाना खिला कर वह उसकी पीठ सहलाता और उसकी गर्दन थपथपा कर उसका नाम पुकारता था, तब घोड़ा हिनहिना कर गर्दन उठाता। मानो कहता हो—"मैं भी तुम्हें कम प्यार नहीं करता।"

ताँगेवालों ने प्रायः उसका घरबार पूछने की चेष्टा की थी, पर उसने सदैव टाल दिया था और अधिक अनुरोध करके का साहस उसकी आँखों की करुणा ने उन्हें नहीं दिया था।

मंडी को पार कर ताँगा कम्पनी बाग़ को जानेवाली सड़क पर बढ़ा। सहसा ताँगेवाले ने पूछा—"आपको थाने में जाना है, मा जी ?"

"नहीं बच्चा थाने के पास ही।"

"पर वहाँ तो कोई मकान नहीं है, मा जी।"

वृद्धा ने कहा—"तुम ठीक कहते हो भाई, पर मेरी भतीजी बीमार है। क्षयरोग हो गया है उसे। डाक्टरों ने आदेश दिया है कि उसे बाहर खुले में रक्खो। इसलिए मेरे भतीजे ने वहीं एक अस्थायी झोंपड़ी सी बनवा ली है। पत्र में उसने यही बात लिखी है। मैं तो बच्चा, पहली बार ही जालन्धर आई हूँ। तुम्हें भलामानस समझकर तुम्हारे ताँगे में आ बैठी। ठीक जगह पर उतार देना भाई।"

"आप बिलकुल चिन्ता न करें, मा जी।"—ताँगेवाले ने कहा—"मैं ढूँढ़ कर आपको वहाँ पहुँचा दूँगा।"

"तेरी बड़ी बड़ी उम्र हो बेटा।"—बुढ़िया खुल चली। एक दीर्घ निश्वास छोड़कर उसने कहा—"क्या कहूँ भाई, मैं तो तीर्थ-यात्रा करती रहती हूँ। आज-कल हरिद्वार थी। वहीं मुझे छोटी भतीजी का पत्र मिला कि संतोष बीमार है।"

"संतोष ?"—ताँगेवाले ने चौंक कर पूछा।

"क्यों ?"—वृद्धा बोली।

"कुछ नहीं।"—ताँगेवाले ने दीर्घ निश्वास छोड़ा। उसने कहा—"मेरे घोड़े का नाम भी संतोष है।"

उसका मुख पीला पड़ गया था, वृद्धा ने यह नहीं देखा। वह अपनी बात कहती गई।—"क्या कहूँ भाई, चाँद जैसी लड़की है। उसके मा-बाप लाहौर में रहते थे। वहीं एक लड़के के साथ उसका विवाह हुआ था। विवाह के बाद मेरे भाई और भावज का देहान्त हो गया और घर में केवल मेरा भतीजा और छोटी भतीजी रह गये। पीछे भतीजा जालन्धर में नौकर हो गया। तब छोटी लड़की भी अपने भाई के साथ यहीं आ गई। मैं लड़की के विवाह में शामिल न हो सकी थी, बहुत बीमार थी। तब नई-नई चोट सहनी पड़ी थी। उनकी मृत्यु हो गई थी।"...और अपने स्वर्गीय पति के निधन का ध्यान आते ही वृद्धा की आँखें भर आईं और कंठ भी आर्द्र हो उठा। दुपट्टे से आँखें पोंछ कर उसने फिर कहना शुरू किया—"तब सुना था कि लड़का सुन्दर है। बीमारी से आराम पाने पर मन ऐसा उचाट हुआ कि मैं तीर्थ-यात्रा को चल पड़ी। हरिद्वार में मुझे सन्तोष की बीमारी का पत्र पहुँचा और फिर तार—शायद बीमार होकर भाई के पास आ गई है। तभी सब तीर्थ छोड़-छाड़ भागी आई हूँ। जाने उसका क्या हाल है ? पत्र में लिखा था कि बहुत कमज़ोर हो गई है। कंकालमात्र—भाई ज़रा जल्दी करो न !"

और ताँगेवाले ने फटी हुई आस्तीन से आँखों को पोंछते हुए घोड़े की लगाम ढीली छोड़ कर एक बार कहा—"चल बेटा !"

× × ×

आकाश पर बादल घिर आये थे, सूरज अस्ताचल की ओर जा चुका था। छावनी की सड़क पर फाटक की दाईं ओर एक साधारण सा कच्ची इटों का मकान था, उसके आगे एक छोटा सा बरामदा था, जिस पर सरकंडों का छप्पर पड़ा था। मकान के एक ओर कुआँ था, जो शायद शेरशाह सूरी के ज़माने का बना था और बड़ी सड़क पर लम्बी यात्रा करनेवालों की प्यास बुझाने के काम आता था। कुएँ पर एक ग्यारह बारह वर्ष की लड़की पानी भर रही थी। सुनसान-सी जगह और सन्ध्या का उदास वातावरण ! उस छोटे-से मकान पर कुछ ऐसी वेदना सी बरस रही थी कि ताँगेवाले ने अनायास ही वहाँ ताँगा रोक दिया। लड़की ने मुड़कर देखा और दौड़कर वृद्धा से लिपट गई—"आ गईं बुआ !"

बुआ ने उसके सिर पर प्यार से हाथ फेरा और उसकी आँखें भर आईं।

ताँगेवाले ने सामान उठाया और वह बरामदे की ओर चला।

"सन्तोष कहाँ है ?"—बुआ ने पूछा।

"अन्दर !"

दोनों अन्दर गईं, बुआ ने जैसे दौड़ कर अपनी बीमार भतीजी के मस्तक को चूम लिया।

सन्तोष ने आर्द्र, दयनीय आँखों से बुआ की ओर देखा और बुआ ने साड़ी के छोर से अपनी आँखें ढँक लीं।

पीला काला-सा पड़ा चेहरा, पिचके गाल, जबड़ों की

उभरी हुई हड्डियाँ, रूखे शुष्क बाल, हड्डियों का ढाँचा जीर्ण-शीर्ण शरीर—सन्तोष बिस्तर पर क्षय की आग में झुलसी पड़ी थी। अतीत का जैसे सब कुछ झुलस गया था, जल गया था। बच गई थीं केवल आँखें—बड़ी-बड़ी गोल आँखें, पर श्री उनकी भी जैसे फीकी पड़ चली थी। बुआ का हृदय जैसे बाहर उछल पड़ने को हो गया।

अपने हाड़ुयों ऐसे हाथ उठा कर सन्तोष ने बुआ को प्रणाम करने का यत्न किया, पर हाथ काँपने लगे, बोलना चाहा, पर खाँसी के मारे बेहाल हो गई। तब दो बड़े-बड़े आँसू, उसके सूखे गालों के गढ़ों में डूब चले। बुआ उसके सिरहाने बैठ गई। बहते हुए आँसुओं को उसने पोंछ डाला और सान्त्वना के स्वर में बोली—"जी क्यों छोटा करती हो ? देखो अब मैं आ गई हूँ। अब कुछ दिनों में ही तुम अच्छी हो जाओगी। भला हेम कहाँ है ? दवाई लेने गया होगा !"

हेम के नाम पर रुग्णा के पीले चेहरे पर एक व्यङ्ग्य भरी मुस्कान एक निमिष के लिए आई और फिर स्याही में परिणत हो गई।

बुआ ने लड़की से पूछा—"क्यों विमला, हेम कहाँ है ?"

विमला के नथने फड़कने लगे—"वही तो इस रोग का कारण है बुआ........"

"वह—हेम !"

"हाँ वही।"

"क्या ?"

और विमला का क्रोध कहनी-न-कहनी बात की अपेक्षा किये बिना बोल उठा—"जीजा जी ने बहन की क़द्र नहीं की, बुआ। वे फ़ैशन के दीवाने हैं। चाहते थे कि बहन का हाथ थामकर ठंडी सड़क पर घूमें, लारेंस की सैर करें। अधिक शिक्षित न होकर भी वे चाहते थे शिक्षितों की नकल करना। और बहन को तो तुम जानती हो, कैसी शिक्षा मिली है। जीजा जी ने इसे न समझा, बुरे रास्ते में पड़ गये और जब सब कुछ समाप्त हो गया तब एक दिन बहन के गहने उठा कर भाग गये।"

सन्तोष ने जैसे असह्य पीड़ा से थूक निगला। इस प्रसंग से न जाने उसे कितना कष्ट हो रहा था !

उसके सिर पर प्यार से हाथ फेर कर बुआ ने धीमे से पुकारा—"सन्तोष !" और ऐसी आँखों से देखा, मानो पूछ रही हो कि यह सब सच है क्या।

सन्तोष की आँखों से केवल आँसू बह निकले।

× × × ×

"तुम अभी यहीं बैठे हो ?"—बुआ ने बाहर आकर कहा।

"ताँगेवाला चुप रहा।"

"क्या कहूँ भाई, लड़की की हालत देखकर कलेजा मुँह को आता है। मैं तो उसका कष्ट देखकर, सब कुछ भूल गई। दो साल की बात है. वह भली-चंगी थी—हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ ! पर आज वह कंकालमात्र है, भाई !"

ताँगेवाले की आँखों में आँसू भर आये थे। उसने उन्हें छिपाने के लिए मुँह फेर लिया।

"तुम रोते हो भाई !"—बुआ ने आर्द्रकंठ से कहा—

"जो भी देखेगा दुखी होगा।"

ताँगेवाला चुप रहा, केवल उसने अपने मैल से सने कुर्ते की आस्तीन से आँखें पोंछ लीं।

"अच्छा भाई !" जेब में पैसों के लिए हाथ डालते हुए बुआ ने कहा—"तुम्हें देर हो रही है, अब तुम जाओ।"

पश्चिम की ओर से बढ़ते हुए गहरे अँधेरे को एक नज़र देखकर ताँगेवाले ने कहा—"अब मैं कहाँ जाऊँगा, भाई। यहीं न लेट रहूँ। शायद बाज़ार से कोई चीज़ लानी पड़े !"

कुछ सन्देहभरे स्वर में बुआ ने कहा—"नहीं भाई, अपने घर जाओ। यहाँ कहाँ रहोगे ? कोई जगह भी हो, और यह कह कर बुआ ने आठ आने पैसे उसके हाथ पर रख दिये।

ताँगेवाला उठा—"अच्छा तो भाई सुबह मैं आ जाऊँगा। बीमार की हालत ठीक नहीं और यह जगह शहर से इतनी दूर है—शायद कोई चीज़ ही लानी पड़े।"

अन्दर से खाँसने की आवाज़ आई। बुआ भाग कर अन्दर चली गई।

सन्ध्या का अँधेरा और भी गहरा हो गया था। दूर कहीं-कहीं कोई दीपक म्रियमाण व्यक्ति की झिलमिलाती आशा की भाँति चमक उठा था। ताँगेवाला उठा, अन्य-

मनस्कता से उसने ताँगे की बत्तियाँ जलाईं और फिर उसे शहर की तरफ़ मोड़ दिया।

अड्डे के पास एक छोटी-सी कोठरी थी। उसी में वह रहता था। उस रात को वह सो नहीं सका। रुग्णा की मुरझाई, फीकी, श्रीहीन आँखें उसके सामने घूमती रहीं!

× × × ×

दूसरे दिन सन्तोष की हालत पहले से भी ख़राब हो गई। विमला दिन भर रोती रही। बुआ भी जी को सँभाले उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगी रहीं। सन्तोष का भाई नरेन्द्र इतनी छुट्टियाँ ले चुका था कि अब और छुट्टी उसे मिलनी मुश्किल थी। वह सुबह दवाई आदि की व्यवस्था करके दफ़्तर चला गया था। उसके जाते ही ताँगेवाला वहाँ पहुँच गया। सहृदय, ग़रीब व्यक्ति! जाने कौन सी चोट खाये हुए था! सारा दिन उससे जितना बन पड़ा उसने उनकी सहायता की। दो बार तपती धूप में उसे शहर जाना पड़ा। अपने प्रिय घोड़े को भी आज उसने आवश्यकता से ज़्यादा कष्ट दिया। उसे दाना देना तक वह भूल गया।

मध्याह्न के समय वह बीमार के लिए दवाई तैयार कर रहा था। बुआ और विमला कुएँ पर पानी लेने गई थीं, सन्तोष को ज़ोर की खाँसी आई, वह हड़बड़ा कर अन्दर पहुँचा। उसे ख़ून आया था, उसने उसे पानी दिया। सन्तोष ने आँखें खोल दीं, देखा सामने ताँगावाला खड़ा है और उसकी आँखें भीगी हुई हैं। वह आँखें बन्द न कर सकी। उसकी ओर आश्चर्यान्वित देखती ही रही।

ताँगावाला उसके और समीप आ गया। भरे हुए गले से उसने पूछा—"अब जी कैसा है?"

रुग्णा ने उत्तर नहीं दिया। वह केवल उसकी ओर देखती रह गई और फिर उसने एक बार ही अपनी आँखें बन्द कर लीं।

ताँगेवाले ने कहा—"देवी, अपने क्रूर पति को माफ़ कर दो। ताकि जब उसका अन्त-समय आये वह शान्ति से मर सके। लाख पापी है, फिर भी तुम्हारा पति है।"

सन्तोष ने आँखें खोलीं और ऐसे सिर हिलाया जैसे वह उसे पहचानती हो या उसकी बात समझती हो। फिर उसने एक लम्बी साँस लेकर आँखें बन्द कर लीं। उसके चेहरे पर शान्ति थी, जैसे उसके मन का बोझ उतर गया हो, जैसे उसने अपने पति को क्षमा कर दिया हो।

ताँगेवाला चुपचाप बरामदे में वापस आ गया। आँखों के आँसू उसने पोंछ लिये और वह दवाई रगड़ने लगा। तभी विमला आ गई। पानी रखकर और हाथ पोंछकर उसने बहन के मस्तक पर हाथ रक्खा। ज्वर का नाम न था। रुग्णा के शुष्क होठों पर मुस्कराहट खेल रही थी। वह भाग कर बाहर आई। बुआ को पुकार कर उसने कहा—"बुआ, बहन का ज्वर उतर गया है।"

"ऐं!"—बुआ के चेहरे पर एक स्याह बादल छा गया।

"हाँ!"—विमला ने अपने उल्लास में कहा।

"तो बस, अन्त समझो!"

विमला के चेहरे का रंग उतर गया।

दोनों अन्दर उसके पास गईं। बुआ ने पुकारा—"सन्तोष, बेटी!" "हाँ बुआ।"—अत्यन्त धीमे स्वर में सन्तोष ने उत्तर दिया। उसमें जैसे बोलने की शक्ति आ गई थी।

'कैसा जी है बेटी?"

"बस अब अन्त आ गया है, बुआ।"

नहीं, ऐसा न कहो।"—बुआ ने जैसे उसकी अपेक्षा अपने आपको हौसला देते हुए कहा। पर साथ ही उसने उसके मुड़ते हुए हाथों को भय से देखा।

विमला का हाथ सन्तोष ने अपने काँपते हाथ में ले लिया और उस पर अपना लकड़ी जैसा हाथ फेरा।

विमला के शरीर में सनसनी दौड़ गई।

धीरे-धीरे उखड़े उखड़े स्वर में सन्तोष ने कहा—"तुम सुखी रहो बहन, तुम्हारा विवाह अच्छी जगह हो, तुम्हें अच्छा वर मिले, यही मेरी अन्तिम कामना है।"

फिर कुछ साँस लेकर बोली—"मैं सुखी हूँ, मुझे कोई चिन्ता नहीं, मुझे अब आराम है और मैं आराम से मर रही हूँ।"—यह कहते कहते उसकी नाक मुड़ गई, आकृति बिगड़ गई, साँस भी उखड़ गई। दोनों ने उसे जल्दी से बिस्तर से उतार कर फ़र्श पर लिटा दिया।

× × ×

बुआ ने कहा—"चलो भाई तुम भी चलो, अब!"

ताँगे वाले ने उत्तर न दिया।

"तुम्हें धन्यवाद मैं किस मुँह से दूँ, भाई। तुम न होते

तो न जाने सन्तोष को मरते समय कितना कष्ट होता, पर तुम्हारे कारण वह आराम से मरी, तुमने उसकी बड़ी सेवा की। परमात्मा तुम्हें उसका फल देगा।"

ताँगेवाले ने कोई उत्तर न दिया।

दफ़्तर से नरेन्द्र के आ जाने पर सन्तोष का मृतक शरीर वहीं जला दिया गया। सब वापस शहर जाने को तैयार हुए। अधिक रोने से विमला की आँखें सूज गई थीं; उसके चेहरे पर उन्माद सा छाया हुआ था।

एक वृक्ष के नीचे ताँगेवाले का घोड़ा भूखा-प्यासा खड़ा था, तीन दिनों से उसने घोड़े की सुध न ली थी; बीमार सन्तोष के लिए उसने अपने स्वस्थ सन्तोष को बीमार-सा कर दिया था।

बुआ ने कहा—"अपने घर न चलोगे?"

ताँगेवाले ने उत्तर न दिया।

बुआ ने फिर पूछा—"अपने घर न चलोगे, भाई?"

अब ताँगेवाला बोला—"नहीं।"

"क्यों?"

"मैंने अपना जीवन यहीं बिताने का निश्चय कर लिया है?"

"किस लिए?"

"अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए!"

"कैसे पाप?"

"जो मैंने सन्तोष के साथ दुर्व्यवहार करने में किये!"

"सन्तोष के साथ!"

नरेन्द्र ताँगेवाले के समीप आ गया। उसने उसे अच्छी तरह देखा और चौंक कर बोला—"कौन? हेमराज!"

ताँगेवाले ने केवल आँखें उठाकर उसकी ओर देखा और फिर गर्दन झुका ली।

नरेन्द्र ने उपेक्षा से मुँह फेर लिया।

बुआ ने भौंवें सिकोड़ लीं।

विमला ने एक बार उसकी ओर देखा और सड़क की ओर चल दी।

हेम ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा और वह अपने घोड़े के पास जाकर उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगा।

वसन्त

लेखक, श्रीयुत सागरसिंह 'नागर'

'जग-पथ मधुमय, जोवन पागल'
सन्देश नवल लाया वसन्त

तरु पात पात को चूम चूम
जग कानन में भर प्रणय-गान
नोला पोला आवरण लिये
लो, आया जग का नव विहान

जोवन में रे! यह मधुवेला
आई अनादि का गान लिये
लो रूप-रश्मि के दोलों पर
बिछ गई भैरवा तान लिये

यौवन का मधु उपहार चुरा
उन्मुक्त हुआ जोवन अनन्त!
कलि में, अलि में, जग-कण-कण में
रे मधु भरता आया वसन्त!

'आया वसन्त' पिक बोल उठो
द्रुत हिलो जगत को डाल-डाल
स्वागत, स्वागत ओ नभवासिनि!
स्वागत, स्वागत ओ मधुर चाल!

लो, विहँस उठीं कोमल कलियाँ
अलि पर मस्ती का भार नया
चुम्बन करने को साध नवल
कवि देख रहा संसार नया!

गायक मस्ती में झूम-झूम
कहता, "वसन्त का हो न अन्त"
प्रेयसि का बिछुड़ा प्यार लिये
रे आया यह प्रेमी वसन्त!!

भारतवर्ष—उसकी साधना का चढ़ाव-उतार

लेखक, श्रीयुत हजारीप्रसाद द्विवेदी

पण्डित द्विवेदी रवीन्द्र बाबू के शान्ति-निकेतन में हिन्दी व संस्कृत साहित्य के प्रोफ़ेसर हैं। आपका अध्ययन बहुत गम्भीर व विशाल है। अपनी विचारपूर्ण आलोचनाओं के द्वारा आप हिन्दी-साहित्य में काफ़ी प्रसिद्ध भी हो चुके हैं। अपने इस लेख में आपने दिखलाया है कि भारत की वर्तमान अधोगति का कारण कोई बाह्य या आकस्मिक घटना नहीं है। यह तो भारत के अपने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परीक्षण का अवश्यंभावी फल है। फलतः इस अधःपतन में भी भावी उन्नति की आशा का बीज उपस्थित है।

(१)

शान्ति-निकेतन में भ्रमणार्थ आई हुई अमेरिकन वृद्धायें जब आये दिन स्नेह-व्याकुल स्वर में पूछती हैं कि—अँगरेज़ों के चले जाने के बाद भारतवर्ष का क्या होगा?—तो उत्तर देनेवाले को ज़रा असमंजस में पड़ जाना पड़ता है। कूटनीतिज्ञ योरपियन सांवादिक को आप आसानी से जवाब दे सकते हैं—आपको चिन्तित होने की कोई ज़रूरत नहीं, हम अपनी देख लेंगे, परन्तु वह उत्तर यहाँ उपयुक्त न होगा। समवेदनाशील यवद्वीप-वासी को आप पुचकार कर कह सकते हैं—अँगरेज़ों के इस देश में वास करने से बड़ा रोग यहाँ कुछ भी नहीं है, उनके हटते ही केवल कमज़ोरी दूर करने के लिए किसी पौष्टिक दवा की ही ज़रूरत रह जायगी; पर अमेरिकन वृद्धा को आप इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं कर सकते। क्योंकि अँगरेज़ कूटनीतिज्ञ को भारतीय दुबलता की अपेक्षा अपनी नैतिक कमज़ोरी का अधिक ज्ञान होता है और समवेदनाशील विदेशी को योरपियन शासन के ज़हरीलेपन का पूर्ण अनुभव होता है, पर अमेरिकन वृद्धा यह भी नहीं है, वह भी नहीं है। निरन्तर प्रचार के फल-स्वरूप उसके पल्लवग्राही मस्तिष्क में यह बात भरी हुई है कि अँगरेज़ ही भारतीय शान्ति और व्यवस्था के स्रष्टा, पालक और नियन्ता हैं और अँगरेज़ी शासन की ज़हरीली भेदनीति का प्रत्यक्ष परिणाम साम्प्रदायिक कलह स्वभावतः ही उसकी पूर्व निर्णीत धारणाओं को दृढ़ करती है। और ज़रा अधिक टकटोर कर यदि वृद्धा के दिमाग़ की जाँच की जाय तो शीघ्र ही पता चल जायगा कि कोड़ियों अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित और अपशिक्षित भारतीय—जिनमें अँगरेज़ी शासन-व्यवस्था के वाहक, होटलों के मैनेजर और स्टेशनों के कुली तक शामिल हैं—उसको निश्चय-पूर्वक बता चुके हैं कि भारतवर्ष में ईमानदार आदमियों का नितान्त अभाव है! अमेरिकन वृद्धा जब आग्रहपूर्वक प्रश्न करती है तो उसके प्रश्न का सीधा-सा अर्थ यह होता है कि भारतीय चरित्र में क्या सचमुच कहीं तेज है, भारतीय जन-समुदाय में क्या धारक शक्ति का प्रवाह है, भारतवर्ष के भीतर क्या बलदृप्त आधुनिक राष्ट्रों के विकराल आक्रमण को रोकने की शक्ति है? संक्षेप में वह जानना चाहती है कि भारतवर्ष क्या है और क्या नहीं है। गन्दी और तंग गलियों में रहनेवाले, घूरे और करकट-वाही ग्रामों में बसनेवाले, दरिद्र, अकिञ्चन, आत्मविश्वासहीन, रूढ़ियों और अंधविश्वासों से जर्जर, परिवार-भार से दबे हुए, मेरुदण्डहीन, निस्तेज, भुक्खड़ों का यह देश ही क्या भारतवर्ष है? या स्वाभिमान-शून्य, पैसे पैसे के लिए सलाम बजानेवाले, पैसे-दो पैसे के लिए धोखा देनेवाले, चरित्रहीन नक़्क़ालों का देश भारतवर्ष है? बाहर भारतवर्ष के इसी रूप का विज्ञापन है, और भीतर प्रवेश करते ही भारतवर्ष का यही रूप विदेशी की नज़रों से टकराता है—उसका पूछना स्वाभाविक ही है कि यह भारतवर्ष किस प्रकार के भविष्य का सपना देखता है।

भारतवर्ष अमेरिका की तरह बालक नहीं है। कालचक्र की अनेक लीकें उसके पुराण-शरीर पर अपना चिह्न छोड़ गई हैं। बड़े-बड़े साम्राज्य उसकी धूल में दबे हुए हैं, बड़ी बड़ी धार्मिक घोषणायें उसके वायुमण्डल में निमग्न हो गई हैं, बड़ी बड़ी सभ्यतायें उसके प्रत्येक कोने में उत्पन्न और विलीन हो चुकी हैं—इनके निर्जीव स्मृति-

चिह्न अब भी खड़े हैं, मानो अट्टहास करती हुई विजय-लक्ष्मी को बिजली मार गई हो। अँगरेज़ों के आने के—यहाँ तक कि उनके पैदा होने के—हज़ारों वर्ष पहले से भारतवर्ष था और उनके जाने के भी हज़ारों वर्ष बाद तक रहेगा। अनादिकाल से इस महादेश में आर्य, अनार्य, शक, हूण, किरात, यवन आदि जातियाँ आती रहीं और क्षण भर के लिए अपने विजय-निनाद से दिगन्त मुखरित कर देती रहीं; क्षण भर के लिए इस महामानव-समुद्र के ऊपरी सतह को विक्षुब्ध कर देती रहीं, परन्तु अन्त तक कोई भी उसकी महिमा को खर्व नहीं कर सका। ऊपर-ऊपर से देखनेवाले को यह बात एक अद्भुत विरोधा-भास जैसी दिखेगी, पर है यह सच। देखा जाय वह क्या वस्तु है जो हज़ारों वर्ष पहले से है और हज़ारों वर्ष बाद तक रहेगी, जो भारतवर्ष की आत्मा है, जो उसके बाह्य शरीर के परिवर्तित होते रहने पर भी एक-रस है। जाति-पाँति के ढकोसलों से शतधा विच्छिन्न, बात-बात पर साम्प्रदायिक असहन-शीलता का शिकार, दर्जनों रेसों, कोड़ियों भाषाओं, सैकड़ों टुकड़ियों का दावेदार, हज़ारों वर्ष का कुचला हुआ भारतवर्ष क्यों ऐसा है, क्यों दूसरा कुछ नहीं हुआ और क्यों सदा के लिए धरती पर से उठ नहीं जायगा? इस प्रश्न का उत्तर खोजते समय हमें केवल एक बात ध्यान में रखनी होगी। आज जो भारतवर्ष की ऊपरी सतह दिखाई दे रही है वह उसका स्वाभाविक रूप नहीं है; एकाएक अनेक जातियों के आचार, विचार, दबाव, प्रचार आदि के परिणामस्वरूप वह विक्षुब्ध हो गया है। तूफ़ान के समय समुद्र की ऊपरी सतह की उथल-पुथल से उसकी भीतरी शान्ति या गहराई का अनुमान करना असंगत है। पीड़ित मनुष्य की कराहट उसके चरित्र की निर्णायक नहीं हो सकती, और सड़कों, गलियों और बाज़ारों में सलाम बजानेवाली जनता भी भारतीय चरित्र की गवाही नहीं दे सकती।

(२)

कल्पनातीत-काल से भारतवर्ष ने अपने अनुभवों, विश्वासों और आचरणों का हिसाब रखा है। उसका साहित्य संसार में सबसे प्राचीन ही नहीं है वह सबसे अधिक समृद्ध भी है और जैसा कि स्वर्गीय विंटरनित्स ने कहा है (हिस्ट्री आफ़ इंडियन लिटरेचर, भू० पृ० १) 'भारतीय साहित्य में वह सब कुछ है जो 'साहित्य' शब्द के व्यापकतम अर्थ में अन्तर्भुक्त हो सकता है; धर्म-मूलक ग्रन्थ, ऐहिकतापरक (सेक्यूलर) रचनायें, महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका, नीति-काव्य से लेकर वर्णनात्मक और वैज्ञानिक गद्य तक इस साहित्य में भरे पड़े हैं।' श्लिगल ने सौ वर्ष पहले कहा था कि संस्कृत-साहित्य अकेला ही ग्रीक और रोमन-साहित्य से कई गुना बड़ा है। श्लिगल के उक्त कथन के बाद निरन्तर नये-नये ग्रंथों का पता लगता गया है। मध्य एशिया और चीनी तुर्किस्तान से लेकर कम्बोडिया तक विस्तीर्ण भूभाग में हज़ारों वर्ष तक इस साहित्य की रचना होती रही है। अधिकांश के नष्ट हो जाने के बाद भी संस्कृत-साहित्य के ग्रंथों की संख्या आधे लाख को पार कर चुकी है और फिर भी आज तिब्बत से और कल चीन से नये नये ग्रंथ मिलते ही रहते हैं। इनमें पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं की ग्रंथ-संख्या जोड़ दी जाय तो इस विराट् ग्रंथभाण्डार की तुलना हो ही नहीं सकती। अधिकारी विदेशी पंडित यह देखकर आश्चर्य में आ गये हैं कि इस विराट् ज्ञान-भाण्डार में प्रत्येक पंक्ति सोच-समझकर लिखी गई है। ग्रंथकार ने केवल नाम कमाने के लिए, या केवल बकवास की तृषा मिटाने के लिए कुछ भी नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह जीवन के सर्वश्रेष्ठ अनुभव को ईमानदारी के साथ व्यक्त करने के पवित्र उद्देश्य से लिखा है। सच पूछा जाय तो, जैसा कि डाक्टर केर्न ने (बृहत्संहिता, भूमिका पृ० ५२) लिखा है, "इस प्रकार की धारणा कि मनुष्य का मस्तिष्क उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति है हिन्दुओं में तो ज्ञात ही नहीं थी। यह धारणा योरप में (पुस्तक लिखकर नाम और धन कमाने के रूप में) अत्यन्त उपहासास्पद परिस्थिति को पहुँच चुकी है।" भारतीय आचार्य ने ज्ञान-चर्चा को यज्ञरूप में स्वीकार किया है, उसके साथ उसका सम्बन्ध पवित्र पूजा का सम्बन्ध है, मनोविनोद या आत्माभिव्यक्ति का नहीं। इतना ही नहीं, ज्ञान-चर्चा को भारतीय पंडित ने जीवन की सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी के रूप में ग्रहण किया है, वह ऋषि-ऋण से उऋण होने की ज़िम्मेदारी है।

इस विराट् प्रयत्न के पीछे कितना संयम, कितनी निष्ठा और कितना त्याग है वह समझने के लिए दो

एक बातें नोट कर लेनी चाहिए। आज हम ज्ञान के अर्जन और विकिरण में जितनी जल्दबाज़ी कर रहे हैं वह भारतीय मनीषा के एक-दम अज्ञात थी। हम संसार के कुछ नया देने के लिए व्याकुल रहते हैं, पुराने का अनुवर्तन आज एक दोष माना जाता है। भारतीय ग्रन्थकार ने कभी नया—कुछ देने का दावा नहीं किया। वह ज्ञान को अनादि अनन्त मानता रहा। उसके मत से ज्ञान का दर्शन पहिले से ही अलौकिक शक्तिशाली ऋषियों ने कर लिया था। वह केवल उसे स्मरण (स्मृति) या व्याख्यान (भाष्य) या बोधगम्य (टीका) करता रहा है। जो कुछ भी उसने सोचा विचारा उसे प्रकाश करने में वह तब तक हिचकता रहा जब तक किसी श्रुति, आगम या निगम का प्रमाण नहीं मिल गया। शंकर और कुमारिल, ब्रह्मगुप्त और भास्कर, चरक और सुश्रुत, कालिदास और भवभूति—जिनके ज्ञान-विज्ञान और रस-साहित्य की महिमा सारा संसार स्वीकार कर चुका है, सदैव सबने अपनी प्रतिभा को अनादि ज्ञान के अधीन माना है। इसी लिए उच्छृङ्खलता नामक वस्तु प्राचीन भारतीय साहित्य में एक-दम अपरिचित है। भारतीय साहित्य की विशालता के साथ इस संयम और निष्ठा का जो मणिकाञ्चन योग हुआ है उसने उसे एक अपूर्व श्री से समृद्ध किया है। परन्तु साथ ही उसने उस साहित्य के संस्कारों से संस्कृत जनता में अपने व्यक्तित्व के प्रति उपेक्षा पैदा कर दी है। आज इस श्रद्धा-वनत समाज को देख कर विदेशी की आँखों में घृणा भर आती है। वह तिरस्कार के साथ सोचता है कि इस बेहूदी जनता का संसार में क्या स्थान हो सकता है? आज इस भौतिक अधिकार-लिप्सा की अहमहमिका से व्याकुल जगत् में जो सिर ऊँचा करके और छाती फुलाकर चलना नहीं जानता, उसके जीवित रहने का औचित्य स्वीकार ही नहीं किया जाता। परन्तु औचित्य स्वीकार किया जाय या नहीं, भारतवर्ष फिर भी जीता रहेगा और ज्ञान के साथ जीता रहेगा, क्योंकि उसका पूर्ववर्ती सन्तानों ने जो तपस्या की है वह व्यर्थ नहीं जा सकती।

जिन्होंने भारतीय साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है उन्होंने देखा है कि इसके उत्पादयिता मनीषियों ने जीवन को समग्र भाव से देखा है। उसके सात्त्विक, राजसिक और तामसिक पहलुओं का विवेचन किया है और तद्वत् प्रकृति के मनुष्यों का कर्तव्य निर्देश किया है। उन्होंने जीवन के चारों लक्ष्यों—पुरुषार्थों—की सूक्ष्म विवेचना की है और जीवन के नाना व्यापारों में उनके सन्तुलन का पूरा ध्यान रखा है। उन्होंने जीवन के प्रत्येक सोपानों—आश्रमों—का चिन्तन किया है और इस बात का ध्यान रखा है कि व्यावहारिक जगत् में किसी एक का पलड़ा भारी न हो जाने पावे और दूसरे का हलका न हो जाय। उन्होंने मानवजीवन के तीनों आधारों की—कर्म, भक्ति और ज्ञान की—ओर पूरी सतर्कता रखी है। इससे अधिक सम्पूर्ण जीवन की कल्पना किसी जाति ने नहीं की है। और जैसा कि विल्सन ने कहा था—उस (हिन्दू) के के समान जीवन को सम्यक् दृष्टि से देखनेवाली जाति को दुनिया आज भी नहीं जानती।

इस स्थान पर मुझे ग़लत समझा जा सकता है। मैं यह नहीं कहता कि इस प्रकार जीवन को समग्रभाव से देखनेवाले मनीषियों की सन्तान आज संसार की सर्वश्रेष्ठ जनता है। एकदम नहीं। उलटे वह आज अत्यन्त संकीर्णदर्शी हो गई है। उसके कारण हैं। मैं उन कारणों को यथासाध्य समझने की चेष्टा करनेवाला हूँ। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि इस जनसमुदाय के पूर्व पुरुषों की तपस्या व्यर्थ नहीं जायगी और कुछ अंशों में अब भी व्यर्थ नहीं हुई है। आज भी उस चिन्ता से परिचित लोगों का चरित्र इस बात का सबूत है। आज से आधी शताब्दी पहले लंदन में सिविल सर्विस के परीक्षार्थियों के सामने भाषण देते हुए प्रो० मैक्स मूलर ने कहा था (इण्डिया हाट कैन इट टीच अस, पृ० ६३) कि "गत बीस वर्षों में मुझे अनेक भारतीय विद्वानों के चरित्र का पर्यवेक्षण करने का सुन्दर सुयोग मिला है। ऐसे भी अवसर मिले हैं जब कि मनुष्य के असली चरित्र का परिचय पाना कठिन नहीं है—मेरा मतलब साहित्यिक वादविवादों से है। मैंने ध्यानपूर्वक उनको आपस में और योरपियन पण्डितों के साथ तर्क करते देखा है, और मुश्किल से एक अपवाद को छोड़कर मैं यह कहने को बाध्य हो रहा हूँ कि हम योरप और अमेरिका में सत्य के प्रति जो सम्मान प्रकट करने के अभ्यस्त हैं उससे कहीं अधिक सम्मान इन भारतीय पण्डितों ने प्रकट किया है, और उनके अन्दर कहीं अधिक पुरुषोचित उदारता के भाव वर्तमान हैं। उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन में दृढ़ता तो दिखाई है किन्तु उद्दण्डता बिलकुल नहीं; यही नहीं, कुछ योरपियन पण्डित जिस प्रकार के रूढ़ गाली-गलौज पर उतर आये हैं, इससे अधिक आश्चर्य उन्हें और किसी बात से नहीं हुआ है। क्योंकि उन्होंने मानव-प्रकृति को जिस रूप में देखा है उसके अनुसार वाणी का असंयम और औद्धत्य केवल नीच-वंश-जात होने का ही सबूत नहीं है बल्कि ज्ञान के अभाव का भी ज्वलन्त प्रमाण है। जब उन्होंने ग़लती की है तब साबित करते ही उसे स्वीकार कर लिया है, और जब वे सही पक्ष पर रहे हैं तब कभी भी अपने योरपियन प्रतिद्वंद्वियों के प्रति कटूक्ति नहीं प्रकाश की है। कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़ कर कहीं भी उनकी ओर से शब्दों की मार पेंच या वितण्डा या असत्यवादिता नहीं हुई है और यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनमें वह निम्न कोटि की धूर्तता नहीं है जो हमारे उन विद्वानों में पाई जाती है जो उन बातों को लिखते हैं और प्रकाशित करते हैं जिनके विषय में वे ठीक जानते हैं कि ये बातें नितान्त मिथ्या हैं; और फिर भी उन पंडितों की ओर उँगली उठाया करते हैं जो विजय-वार्ता और करतल-ध्वनि की अपेक्षा सत्य और आत्म-सम्मान को अधिक मूल्यवान् समझते हैं।" भारतवर्ष को तीन दिन में इस सिरे से उस सिरे तक रौंदनेवाले विदेशी पत्रकार के विषय में मैक्समूलर साहब की क्या राय थी, यह जानने का आज कोई उपाय नहीं है।

(३)

जैसा कि ऊपर बताया गया है, भारतवर्ष ने अपनी समस्त चिन्ताओं का हिसाब रखा है। भारतीय पण्डित उनमें से किसी भी वक्तव्य के प्रति अनादर का भाव नहीं रखता। उसने सबको स्वीकार कर लिया है। हज़ारों वर्ष और हज़ारों योजन में विस्तृत इस विशाल चिन्ता-राशि में स्वभावतः ही अनेक परस्पर-विरोधी बातें हैं, इन सबके भीतर से अपने चलने का रास्ता निश्चित कर लेना दुःसम्भव व्यापार है। भारतीय पंडित ने इसी दुःसम्भव व्यापार को शिरोधार्य किया है। आज के अनादर-जर्जर युग में वह इसी लिए उपहासास्पद हो उठा है, परन्तु उसकी निष्ठा, उसकी सावधानता और उसकी सम्मान-भावना हँस कर उड़ा देने की चीज़ नहीं है। आज जो उसे हँस कर उड़ा देना सम्भव हुआ है, वह भी अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है।

स्पष्टतः ही भारतवर्ष का सबसे कुत्सित रूप जो विदेशी को परेशान करता है उसका जाति-उपजातियों में विभक्त होना है। विदेशी इस विचित्र वस्तु को समझ नहीं पाता और बिना किसी हिचकिचाहट के उसके भद्देपन पर रिमार्क ठोंक देता है। हम आधुनिक शिक्षा-विकार-ग्रस्त लोग भी इस प्रथा को अपने पूर्वजों का अप्रक्षाल्य कलङ्क समझते हैं। असल में भारतवर्ष में इतनी जातियों का होना प्राचीन भारतीय मनीषियों के लिए कलङ्क की बात नहीं है। जिन्होंने दक्षिण-अमेरिका और मेक्सिको के विजय की कहानियाँ पढ़ी हैं वे जानते हैं कि वहाँ किस प्रकार निर्दयता के साथ आदिम जातियों को ध्वंस कर दिया गया है। आर्य पूर्वजों ने उस क्रूर नीति का अवलम्बन नहीं किया। उन्होंने तद्वत् जातियों के किसी भी भीतरी व्यापार में हस्तक्षेप नहीं किया और न स्वयं अपने में हस्तक्षेप करने दिया। इसी का परिणाम है कि आज सैकड़ों जातियाँ अपनी सनातन प्रथाओं के साथ इस महादेश में वास करती आ रही हैं। अगर आर्य-पूर्वजों ने योरपियन-पूर्वजों की भाँति समस्या हल की होती तो विदेशी की आँखों में भारतवर्ष का शायद उज्ज्वलतर रूप प्रतिच्छायित होता पर निश्चय ही उस अक्षम्य क्रूरता को भावी संसार क्षमा नहीं करता। जिस प्रकार हज़ारों वर्षों की समग्र ज्ञान-साधना को भारतीय मनीषियों ने स्वीकार कर लिया है और नाना भाँति के परस्परविरोधी मतवादों में से सावधानतापूर्वक अपना मार्ग निश्चित किया है, उसी प्रकार हज़ारों वर्षों की समस्त आदिम जातियों को भी उसमें अविचलित धैर्य के साथ स्वीकार कर लिया है। इन सबके भीतर से जीवन की उपयोगी मार्ग-पद्धति स्थिर करने में भी उसे एक ओर दुस्सम्भव व्यापार का सामना करना पड़ा है।

यहाँ पर फिर एक बार ग़लतफ़हमी होने का मौक़ा है। हमारे कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि यह जाति-पाँतियों में शतधा विभक्त, शतच्छिद्र कलश के समान जर्जर भारतीय समाज संसार का सर्वश्रेष्ठ समाज है। एकदम नहीं। उल्टे उसमें अत्यधिक हीन-वीर्यता आ गई है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि भारतीय मनीषियों ने—आर्य

और आर्येतर दोनों—अत्यन्त शान्ति, सहनशीलता और कठोर धैर्य के साथ छोटी-छोटी जातियों की स्वतन्त्र सत्ता को सुरक्षित रख कर जिस महासाधना की परम्परा क़ायम की है, वह व्यर्थ नहीं जायगी। आज भी व्यर्थ नहीं जा रही है। भारतीय जन-साधारण में आज भी जो सामाजिक और धार्मिक सहिष्णुता पाई जाती है वह उसी साधना का परिणाम है।

सवाल यह है कि ऐसी उदार तपस्या के परिणाम में ऐसी शिथिलता कैसे हुई। क्यों इतना विराट् ज्ञान-यज्ञ, इतनी धैर्यपूर्ण स्वातन्त्र्य-साधना आज व्यर्थ-सी हुई दिखाई दे रही है। आज शास्त्रीय मतवाद ढकोसले-से हो गये हैं, उनके दुर्विषह भार को हिन्दू-समाज ढोने में असमर्थ हो रहा है। जातियों का अस्तित्व आज केवल भारतवर्ष को लज्जित ही नहीं कर रहा है, पद-पद पर उसे अपमानित और अधःपतित कर रहा है। इस प्रश्न के अनेकानेक उत्तर दिये गये हैं, भविष्य में भी दिये जायँगे। समस्या सर्व-सम्मत है, उत्तर और समाधान के विषय में 'नैको मुनिर्यस्य वचो न भिन्नम्।'

ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय मनीषियों ने जितने उच्च कोटि के ज्ञान का आविष्कार किया था, उसके विकिरण का वैसा प्रशस्त मार्ग नहीं खोला। जहाँ जातियों की भीतरी स्वतन्त्रता की रक्षा का पूरा यत्न किया गया वहाँ उनके भीतर प्रचलित अज्ञान और अन्धविश्वासों की रक्षा भी उसी सावधानी से होती रही। भारतीय परम्परा के अध्ययन से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि उच्चत जातियों और उप-जातियों में एक प्रकार की प्रकृति का आरोप करके उसे अपरिवर्तनीय मान लिया गया। शूद्रों के लिए पुराणों के द्वारा ज्ञान फैलाने की योजना चाहे जितनी भी साधु उद्देश्य-द्वारा प्रणोदित रही हो, ज्ञान के विशुद्ध रूप में प्रसार करने में वह असफल हुई। पुराण के रूपक अन्धविश्वासों के सहोदर हो उठे। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने जहाँ पुराणपंथियों की खिल्ली उड़ाई वहाँ अन्य मार्ग के अनुसन्धान में दत्त-चित्त नहीं हुए। समग्र ज्ञान-साधना एक छोटे से सम्प्रदाय में आबद्ध हो गई। धीरे धीरे यह अपरिवर्तनीय सत्य के समान स्वीकार कर लिया गया कि तथाकथित द्विजेतर जातियों में इस ज्ञान के प्रति आकर्षण होगा ही नहीं। जिनको इस प्रकार विशुद्ध ज्ञान से वंचित रहना पड़ा वे स्वभावतः ही समाज के भार हो उठे। जिन्हें दबा कर रखा गया वे ही पैरों को नीचे की ओर खींचने लगे। कवि ने अपने अभागे देश को लक्ष्य करके ठीक ही गाया है—(हे मेरे अभागे देश), जिन्हें तुमने अज्ञान के अन्धकार में रखकर ओट में ढक रखा है, वे ही आज तुम्हारे मंगल को ढक कर घोर व्यवधान की सृष्टि कर रहे हैं—अपमान में तुम्हें भी उन सबके समान होना पड़ेगा—

अज्ञानेर अन्धकारे आड़ाले ढाकिछ चारे
तोमार मंगल ढाकि' गड़िछे से घोर व्यवधान।
अपमाने होते हबे ताहादेर सबार समान।

(४)

महाभारत और रामायण के युग में यद्यपि कुछ छोटे-बड़े राज्य संगठित हो चुके थे, परन्तु जनसाधारण के साथ राजपुरुषों का व्यवधान बहुत अधिक नहीं था। महाभारत का कवि प्रयत्नपूर्वक सँभालकर अपने चरित्रों की रचना में दत्तचित्त नहीं हुआ। उसके चरित्र मिट्टी से उठे हैं और किसी की सहायता की अपेक्षा न रखते हुए ही बड़े हैं। यदि यह महाकाव्य उस युग के भारतवर्ष का परिचायक है—और वह सर्ववादिसम्मतभाव से ऐसा ही है—तो स्पष्ट है कि वहाँ महलों और झोपड़ियों में नाम-मात्र का अन्तर है। महाभारत का शायद ही कोई उत्तम चरित्र महलों में पल कर चमका हो, सबके सब एक तूफ़ान के भीतर से होकर गुज़रे हैं, अपना रास्ता उन्होंने स्वयं बनाया और अपनी ही रची हुई विपत्ति की चिता में वे हँसते हँसते कूद गये हैं। निर्धन और राजेतर-कुल में उत्पन्न होने के कारण कोई भी अपने को छोटा नहीं समझता। उसका अदना से अदना चरित्र भी डरना नहीं जानता। इस युग के बाद भारतवर्ष को विदेशी राष्ट्रों का मुक़ाबला करना पड़ा। यवनों, शकों, आभीरों आदि के निरन्तर धावे होते रहे। जीवित भारतीय राजसत्ता शीघ्र ही चेत गई और इन हमलों की प्रतिक्रिया के रूप में बड़े बड़े साम्राज्य संगठित हुए। भारतवर्ष ने पहली बार राजा और प्रजा के व्यवधान को निविड़ अभाव से अनुभव किया। सन् ईसवी के दो चार सौ वर्ष पहले से लेकर दो चार सौ वर्ष बाद तक यह नया भाव भारतीय अन्तरीप के इस छोर से उस छोर तक उठता-गिरता रहा और आज से लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष पहले निश्चित रूप से यह आर्थिक और

राजनीतिक व्यवधान गम्भीर और स्थायी हो उठा। इस काल को विदेशी ऐतिहासिक भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहता है। उसका कहना स्वाभाविक है। वह इस युग में ग्रीक और रोमन स्वर्णयुग का आभास पाता है। अपनी प्रकृति के अनुकूल अवस्था को पसन्द करना अस्वाभाविक नहीं है।

परन्तु इस भारतीय इतिहास के 'स्वर्णयुग' का परिणाम ही आधुनिक भारत है। आज भारतवर्ष जिन धार्मिक, सामाजिक या अन्य शास्त्रीय विधि-निषेधों से परिचालित है उनमें का अधिकांश—प्रायः सबकी—रचना इसी 'स्वर्ण-युग' में हुई थी। मनु, पराशर, याज्ञवल्क्य और अन्यान्य ऋषियों की स्मृतियाँ, सूर्यसिद्धान्तकार, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त आदि के ज्योतिषग्रन्थ, विष्णु, पद्म, भागवत आदि महापुराण, चरक, सुश्रुत आदि के चिकित्साग्रन्थ, कालिदास, बाण और भवभूति आदि के काव्यग्रन्थ, भरत, दण्डी और भामह के अलंकारग्रन्थ आदि जो आज भारतीय जनमत को नियमित करते और कर्तव्य निर्धारण में सहायक होते हैं, इसी युग में लिखे गये। इसके पहले का लिखित साहित्य पंडितों—और उनमें भी एक अत्यन्त सीमित समुदाय—का आलोच्य विषय रह गया है। भारतीय साहित्य का विद्यार्थी ज़रा चिन्तित होकर सोचता है—हाय, उस स्वर्णयुग का परिणाम यह कोयलायुग हो गया!—

तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातम्।

किन्तु इस युग के साहित्य को अध्ययन करने से मालूम हो जायगा कि इस युग के अन्दर ही भावी अकल्याण का छोटा-सा बीज छिपा हुआ था। इस युग के साहित्य का आदर्श आराध्य राज था। पुनर्जन्म और कर्मवाद का इतना ज़बर्दस्त प्रभाव इन साहित्यिकों के मस्तिष्क पर था कि देश की अधिकांश जनता के दुर्भाग्य और दुरवस्था को उन्होंने निश्चित सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया। कहीं भी असन्तोष और विद्रोह का भाव इनमें पाया ही नहीं जाता। राजा और प्रजा का, विद्वान् और मूर्ख का, नागरिक और ग्राम्य का घोर व्यवधान इस साहित्य में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ ही दृष्ट होता है। इसका अवश्यंभावी परिणाम राजशक्ति के प्रति साधारण जनता की उदासीनता हो गई। आगे चलकर यह उदासीनता इतनी उपहासास्पद परिस्थिति को पहुँची कि दिल्ली के तख़्त पर से रातों रात एक आदमी को ढकेल कर दूसरा आदमी—चाहे वह चोर हो या डाकू, सरदार या ग़ुलाम—बैठ जाता और सारे भारतवर्ष का सम्राट् हो उठता। साधारण जनता का जैसे इससे कोई सम्बन्ध ही न हो, मानों वे उदासीनतापूर्वक कह रहे हों—कोउ नृप होउ हमहि का हानी!

इन दिनों भारतीय मनीषियों ने निश्चित रूप धारण कर लिया था। कर्मफलवाद और पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त जनसाधारण में बद्धमूल हो गये थे। परन्तु विद्वानों और अविद्वानों में उनके विषय में विश्वास का भेद था। विद्वानों ने उनके हर विरुद्ध दलीलों को जानने और उन्हें खण्डन करने का प्रयत्न किया पर साधारण जनता को विरुद्ध दलीलों को जानने का मौक़ा ही नहीं मिला। व्यवधान निरन्तर बढ़ता गया। जनता निरन्तर एकांगी होती गई। उसकी तर्कशक्ति भोथी होती गई। यह क्रिया जब अत्यन्त चिन्ताजनक परिस्थिति को पहुँच चुकी थी उसी समय इस मज़हब-हीन देश में मज़हब का प्रादुर्भाव हुआ। उसकी शक्ति का केन्द्र राजा नहीं था, साधारण जनता थी। इस प्रकार एक तरफ़ जनता की संघटित शक्ति थी और दूसरी तरफ़ जन-निरपेक्ष राजशक्ति। दूसरी हारने को बाध्य थी। उसमें वीरता थी, उदारता थी, धर्मज्ञान था पर ये चीज़ें जितनी भी बड़ी क्यों न हों उस भयंकर कमज़ोरी का मुक़ाबला नहीं कर सकतीं जो साधारण जनता की उपेक्षा से पैदा होती है। यह ध्यान देने की बात है कि जब तक केवल राजशक्ति का आक्रमण होता रहा तब तक भारतवर्ष कभी हारा नहीं, पर जन-शक्ति का आक्रमण जिस दिन से होने लगा उसी दिन से वह बराबर हारता गया। जातियों को अपनी विशेषताओं की रक्षा करते समय, जनसाधारण के अन्धविश्वासों में दख़ल न देते समय, और पण्डितों के उत्तरोत्तर बाल को खाल निकालनेवाले तर्कशास्त्र को प्रोत्साहित करते समय भारतवर्ष ने जिस उदारता का परिचय दिया था वह उसकी कमज़ोरी सिद्ध हुई। उसके पण्डित ठीक इस कमज़ोरी का कारण नहीं समझ सके। वे शास्त्रों को फिर से उलटने लगे। मुसलमानों के आने के बाद भारतीय साहित्य टीका-टिप्पणियों का साहित्य हो गया। उस युग को टीका-युग कहना अन्याय नहीं है।

परन्तु भारतीय तपस्या हार माननेवाली चीज़ नहीं है। शीघ्र ही कुछ मनीषियों ने पुरानी ग़लती का प्रायश्चित्त किया। ये लोग निरक्षर जनसाधारण में से आये थे, उनकी समस्याओं से परिचित थे। सन्तों के इस दल ने ज्ञान, यज्ञ का द्वार सर्वसाधारण के लिए खोल दिया। उन्होंने देखा कि संस्कृत के 'कूपजल' से जनसाधारण की ज्ञान-पिपासा मिटाना सम्भव नहीं है, उनके लिए तो 'भाषा बहता नीर' चाहिए। यह भारतवर्ष का नया प्रयोग था। भारतीय साहित्य में तीसरा अध्याय था। जो लोग इसके समूचे इतिहास को नहीं देखते वे इसे 'सधुक्कड़ी' भाषा का 'बटोरा हुआ' ज्ञान कह कर अपने को उपहासास्पद करते हैं। जो लोग इस महान् साधना को ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं कर सकते उन्हें हिन्दी के प्राचीन साहित्य की व्याख्या करते देख हँसी आती है।

भारतवर्ष में उस समय दो विरोधी शक्तियों का सम्मिश्रण हुआ था। इन दोनों के विरोध में से एक सामंजस्य-प्रवण मतवाद निकालना आसान काम न था। इन सन्तों ने यही किया। आज संसार में नाना विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है। जो समाधान दो शक्तियों के विरोध में से निकाला गया था वह उससे अधिक विरुद्ध शक्तियों के संघर्ष के उपशम में भी प्रयोज्य हो सकता है। हिन्दी-साहित्य के पितामहों का वह सन्देश अब भी संसार के सामने नहीं आया है। आज जब कि पारस्परिक अविश्वास नाना रूपों में प्रकट हुआ है, शान्ति और उपशम की बातें उपहासास्पद जान पड़ती हैं, परन्तु ये सामयिक बातें लोप हो जायँगी। संसार लड़ झगड़ कर एक दिन श्रान्त-क्लान्त होकर बैठ जायगा उस दिन भारतीय साहित्य का यह तीसरा अध्याय काम आ भी सकता है।

(५)

इस मज़हबहीन देश में मजहब आकर एक अशान्ति पैदा कर गया। भारतीय मनीषियों ने उस अशान्ति का समाधान निकाल लिया था। परन्तु उसके प्रयोग अभी बाल्यावस्था में ही थे कि इस नेशन-हीन देश में नेशन का पदार्पण हुआ। इसने देश को इस सिरे से उस सिरे तक बुरी तरह झकझोर दिया। पुराने प्रयोग पड़े ही रह गये। वे ज्ञान के सर्वोत्तम लक्ष्य-द्वारा चालित थे पर उनमें विज्ञान की और दर्शन की सर्वदर्शिता और सूक्ष्मदर्शिता नहीं थी। इसी लिए उनकी जड़ मज़बूत नहीं हो पाई थी। नये संघर्ष के समय वे छितरा गये, जो वृद्ध सावधानी से एक दूसरे में लगाकर एक बनाये जा रहे थे, उनमें हलका झटका लगा, वे अलग हो गये। ज्यों ज्यों आघात की चोट बढ़ती गई त्यों-त्यों उनका मोह टूटता गया, अपने पुराने गुण-दोष स्मरण आते गये, उन पर चिपटने की प्रवृत्ति बढ़ गई। आज अवस्था आशंकाजनक हो गई है।

परन्तु आशंका का कोई कारण नहीं है। भारतवर्ष बच्चा नहीं है। वह हज़ारों वर्ष का अनुभवी है। वह जातियों के उत्थान-पतन को देखते-देखते ही इस अवस्था को पहुँचा है। सामयिक सुविधा-असुविधाओं से वह विचलित कभी नहीं हुआ, आज भी नहीं होगा। उसके पूर्व पुरुषों ने ज्ञान-साधना के जिस अमृत से उसका सेचन किया है उसने उसे अमर बना दिया है। वह अपने को शीघ्र ही सँभाल लेगा। मज़हब और नेशन का संघर्ष उसके लिए बहुत कठोर समस्या नहीं है। उससे कहीं अधिक कठोर समस्याओं को उसने अविचल धैर्य के साथ समाधान किया है। उसकी ज्ञान-साधना उसका सबसे बड़ा रक्षा कवच है। उसने ग़लतियाँ की हैं पर प्रत्येक बार ग़लतियों के जान लेने पर उसकी शक्ति बढ़ी है। बड़ी-बड़ी चिन्तायें आज लोप हो गई हैं, बहुत-सी लोप होती जा रही हैं, बहुत-सी लोप हो जायँगी फिर भी वे व्यर्थ नहीं जायँगी।

जो लोग सांस्कृतिक गौरव बोध को ठीक-ठीक नहीं समझते वे भारतीय साम्प्रदायिक समस्या को बड़ी निराशा के साथ देखते हैं। ज्ञान और सत्य का प्रचार यदि निरंतर निर्भीक भाव से किया जाता रहा तो भारतवर्ष का साम्प्रदायिक साहित्य निश्चित रूप से निश्चिह्न हो जायगा। सीमान्त-प्रदेश का पठान जिस दिन जानेगा कि संसार के सर्वश्रेष्ठ भाषातत्त्वज्ञ पाणिनि और संसार के सर्वश्रेष्ठ कोषकार यास्क उसी के पूर्व पुरुष थे उस दिन वह चाहे जिस धर्म को मानता हो भारतीय संस्कृति के लिए गर्व किये बिना न रहेगा। उस दिन उसका मज़हबी कट्टरपन दूर हो जायगा, सारे भारतवर्ष के सभी सम्प्रदाय निश्चय ही इस संस्कृति के वास्तविक ज्ञान को पाकर छोटी-मोटी बातें भूल जायँगे। बौद्धों और ब्राह्मणों में कभी काफ़ी तनातनी थी पर आज ज्ञान के आलोक में देखने पर

ब्राह्मण बौद्धधर्म का विरोधी नहीं है। भारतीय संस्कृति का प्रचार उसकी समस्त समस्याओं की अमोघ औषध है। समय बड़ी तेज़ी से उस औषध को सुलभ कर रहा है। आज की तनातनी इसलिए है कि वह संस्कृति आंशिक रूप में ही जानी जा सकी है और एक निश्चित वर्ग के लोग एक निश्चित काल तक ही अपने ज्ञान को सीमित रक्खे हुए हैं। भारतीय साधना कभी भी निष्फल नहीं जायगी। कवि ने ठीक ही गाया है—जीवन में जो पूजायें पूरी न हो पाईं, मैं ठीक जानता हूँ, वे भी खो नहीं गई हैं। जो फूल खिलने के पहले ही पृथ्वी पर झड़ गया, जो नदी मरुभूमि के मार्ग में ही अपनी धारा खो बैठी है—मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जीवन में आज भी जो पीछे छूट गया है, अधूरा रह गया है, मैं ठीक जानता हूँ वह भी व्यर्थ नहीं हो गया। मेरा जो भविष्य है, जो अब भी अछूता है, वे सब तुम्हारी वीणा के तारों में बज रहे हैं, मैं ठीक जानता हूँ ये भी खो नहीं गये हैं—

जीवने यत पूजा हलो न सारा,
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।
ये फूल ना फुटिते, झरेछे धरणि ते,
ये नदी मरुपथे हारालो धारा।
जानि हे जानि ताओ हयनि हारा।
जीवने आजो याहार येछे पिछे,
जानि हे जानि ताओ हयनि मिछे,
आमार अनागत, आमार अनाहत,
तोमार वीणा तारे बाजिछे तारा,
जानि हे जानि ताओ हय निहारा।

(गीताञ्जलि)

पीर

लेखक, श्री हितानन्द गोस्वामी

खूब लिया है समझ, नहीं
इसके आगे अब और समझना।
मानव का मानव दुश्मन है
मानव का मानव चिर अपना।
इस नगरी में गरल वही है
कभी-कभी जो अमृत कहाता।
सुखद-समीर कभी अन्धड़ बन
नादानी करने लग जाता।
अनुसन्धान नवीन नहीं यह
युग-युग की अनुभूत कहानी।
पीर बड़ी जिस जिसके उर में
पड़ी उसी की यह दुहरानी।
और आज भी जग इसको
सुनता है नूतन हाल समझकर।
क्या वसन्त भी जीर्ण हो सका
बार-बार आकर जगती पर?

यद्यपि सुख के क्षण में कोई
नहीं इसे सुनना भी चाहे।
यौवन की उत्ताल तरंगों में
बेसुध बहता ही जाये।
किन्तु, सजनि री! वही कहीं था,
सोते-सोते जग जाता है।
कुटिल-जगत के कालेपन पर
हाथ मसल कर रह जाता है।
समझायें हम सही उसे सखि!
कौन भला है सुननेवाला?
मिलकर सबने पी रक्खी है
मतलब ही की काली हाला।
लेकिन अब तो ध्येय हमारा
केवल दर्द सुनाना ही है।
सुने न कोई, पर इससे क्या
हमें सुनाये जाना ही है।

तपस्वी विनोबा

लेखक, श्रीयुत श्रीमन्नारायण अग्रवाल, एम० ए०

विनोबा भावे वर्धा के उन व्यक्तियों में हैं जिन्होंने नाम की बिलकुल परवा नहीं की और अपना सारा जीवन देश की सेवा में ही बिताया है। यही कारण है कि देश की अधिकांश जनता उनके नाम और कार्य से अनभिज्ञ है। वर्धा आने के पहले मैंने भी उनका नाम न सुना था, क्योंकि विनोबा जी अख़बारों में नाम छपवाने से सदा घृणा करते रहे हैं। परन्तु उनका व्यक्तित्व सचमुच हमारे जानने योग्य है। वे गांधी-युग की महान् विभूतियों में से एक हैं और गांधी जी के कई कार्यों के पीछे उनकी शक्ति प्रकटरूप से लगी रहती है। उनके जीवन को देखकर हमें अनायास ही भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों की याद आ जाती है। उनका जीवन बहुत ही सरल और गम्भीर है। वे लोगों से अधिक मिलना-जुलना नहीं पसन्द करते। पहली बार की भेंट में वे बहुत रूखे स्वभाव के जान पड़ते हैं। किन्तु अगर हम उनकी जीवन-कहानी को जानें तो हमें मालूम होगा कि उनकी ऊपरी शुष्कता के पीछे कितनी भावना और तपस्या छिपी हुई है।

× × × ×

विनोबा जी का जन्म बम्बई के कोलाबा ज़िले में गागोदें नामक गाँव में हुआ है। किन्तु उनके पिता प्रोफ़ेसर गजर-द्वारा संचालित "कला-भवन" में उद्योग सीखने के लिए बड़ौदा चले गये थे। इसलिए उनकी प्रारम्भिक शिक्षा बड़ौदा में ही हुई। विनोबा जी ने कई वर्ष तो घर पर ही अपने पिता जी से शिक्षा ग्रहण की, बाद को वे एक विद्यालय में भर्ती हुए। उनके पिता जी चाहते थे कि वे किसी उद्योग में प्रवीण बन जायँ। इसलिए विनोबा जी को चित्रकला का विशेष अभ्यास कराया गया।

किन्तु उनका मन तो दूसरी ओर ही खिँचता जा रहा था। वंग-भंग आन्दोलन के बाद महाराष्ट्र के युवकों में भी काफ़ी उत्तेजना और हलचल फैल गई थी। सब युवक सोचते थे कि जिस तरह समर्थ रामदास जी ने ब्रह्मचारी रहकर शिवा जी के द्वारा देश की सेवा की थी, उसी तरह वे भी अपना जीवन देश को उन्नत बनाने में क्यों न लगा

[श्री विनोबा भावे]

दें। विनोबा जी के मन पर भी वंग-भंग आन्दोलन का काफ़ी असर हुआ और उन्होंने बाल-ब्रह्मचारी रहने का व्रत ले लिया। उस व्रत को उन्होंने आज तक निभाया है।

विनोबा जी प्रारम्भ में राजनीति की ओर भी झुके। लोकमान्य तिलक के विचारों से वे काफ़ी प्रभावित हुए। उनके दिल में क्रान्तिकारी भावनायें भी उठती थीं, और उनका स्वभाव भी उग्र था। विद्यार्थी-जीवन में उनको गणित से विशेष रुचि थी, और अभ्यास में वे अपनी कक्षा में सर्वप्रथम रहते थे। उनके पिता को आशा थी कि वे उच्च शिक्षा प्राप्त कर और किसी कला में पारंगत बनकर नाम कमायेंगे। किन्तु दिन-दिन विनोबा जी में धार्मिक और आध्यात्मिक भावनायें ज़ोर पकड़ती गई और उनके मन में साधारण शिक्षा और संसारी बातों के प्रति अरुचि पैदा होती गई। विद्यालय की पढ़ाई में वे बिलकुल कम ध्यान देने लगे और मराठी-साहित्य तथा धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में लग गये। प्रारम्भ में तो उन्होंने संस्कृत का

[विनोबा जी एक पौधा लगा रहे हैं।]

अभ्यास नहीं किया था और उसके स्थान में फ्रेंच-भाषा सीखी। किन्तु मराठी-साहित्य से अच्छा परिचय होने के कारण उनको संस्कृत सीखने में कठिनाई न हुई। जब उन्होंने सुना कि लोकमान्य तिलक 'गीता-रहस्य' प्रकाशित करनेवाले हैं तब उसके स्वागत की तैयारी के लिए विनोबा जी गीता के अध्ययन में लग गये और उसके द्वारा संस्कृत के भी पंडित बन गये।

गीता के अध्ययन के बाद विनोबा जी की आध्यात्मिक प्रवृत्ति और भी बढ़ गई। किन्तु उनके मन में शान्ति न थी। उन्होंने देखा कि घर में रहकर वे पर्याप्त अध्ययन और मनन न कर सकेंगे। इसलिए उन्होंने घर छोड़ कर कहीं बाहर जाने का इरादा कर लिया। उनके पिता उनकी प्रवृत्ति से असन्तुष्ट थे। इसलिए जब विनोबा जी इन्टर-मीडियेट की परीक्षा के लिए बड़ौदा से बम्बई गये तब परीक्षा में बैठने के बजाय काशी भाग गये। वहाँ उन्होंने कुछ महीने संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों का अभ्यास किया। उनको काफ़ी कष्ट भी सहने पड़े। किन्तु तब भी उनको आन्तरिक शान्ति नहीं मिली। वे सन्यासी बनकर हिमालय नहीं जाना चाहते थे। उनके मन में देश के लिए कुछ ठोस कार्य करने की भी प्रबल इच्छा थी। लेकिन उनको अभी तक मार्ग-दर्शन नहीं हुआ था। इतने में उन्होंने महात्मा गांधी के साबरमती-आश्रम के बारे में सुना। उन्होंने देखा कि हिन्दुस्तान के नेताओं में उनके विचार गांधी जी से ही बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इसलिए उन्होंने गांधी जी से पत्र-द्वारा आश्रम में भर्ती होने की आज्ञा माँगी, और उत्तर आने की प्रतीक्षा किये बिना ही, साबरमती जा पहुँचे। उनको आश्रय तो मिल गया, किन्तु शुरू में किसी का उनकी ओर विशेष ध्यान न गया। उन दिनों उनका स्वास्थ्य भी बहुत ख़राब हो गया था, और शरीर काफ़ी दुर्बल था। आश्रम का जीवन तो बहुत कठोर था; शारीरिक श्रम आवश्यक था। विनोबा जी को पानी खींचने का काम मिला। शरीर कमज़ोर होते हुए भी उन्होंने अपना काम बड़ी तत्परता और लगन से किया। गांधी जी को भी काफ़ी आश्चर्य हुआ। उन्होंने एक दिन विनोबा जी से पूछा—"तुम्हारा शरीर तो बहुत अस्वस्थ
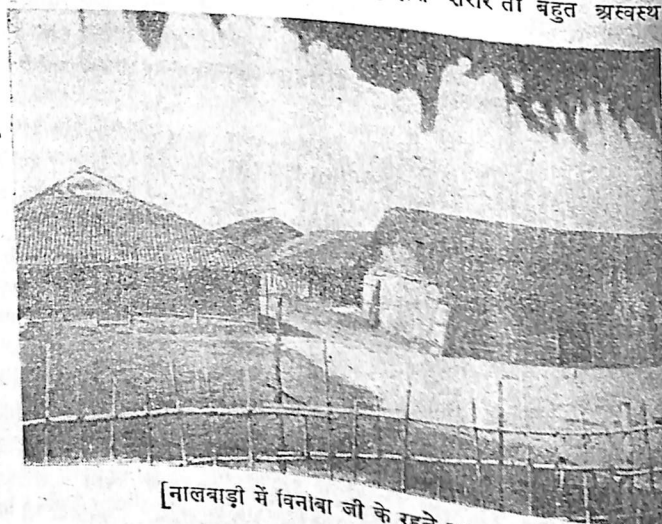
[नालवाड़ी में विनोबा जी के रहने का स्थान]

है; फिर भी तुम इतना श्रम किस प्रकार कर लेते हो !” उत्तर मिला—“आत्मा तो बलवान् हो सकती है !” उसी दिन से गांधी जी का ध्यान विनोबा जी की ओर जाने लगा, और धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों उनसे सम्पर्क बढ़ता गया, गांधी जी उनकी अधिक क़द्र करने लगे। बाद में तो विनोबा जी साबरमती-आश्रम के मुख्य व्यक्तियों में गिने जाने लगे।

नागपुर-कांग्रेस के बाद श्री जमनालाल जी बजाज़ की इच्छा हुई कि वर्धा में भी एक सत्याग्रह-आश्रम स्थापित किया जाय। गांधी जी ने इस आश्रम का संचालन करने के लिए विनोबा जी को चुना, और इस प्रकार विनोबा जी सन् १९२१ से वर्धा में ही रह रहे हैं। सन् १९२३ में यह आश्रम बन्द होगया, और तब से विनोबा जी वर्धा शहर से क़रीब डेढ़ मील की दूरी पर नालवाड़ी नामक गाँव में बस गये हैं। वहाँ उन्होंने खादी का एक केन्द्र खोला है, और आस-पास के गाँवों के कुछ लोग वहाँ सूत कातकर और कपड़े बुनकर अपनी जीविका चलाते हैं। विनोबा जी ने नालवाड़ी में चर्ख़ा और तकली को अधिक उपयोगी बनाने के लिए बहुत-से प्रयोग किये हैं। फलतः खादी-शास्त्र के विकास का श्रेय उन्हीं को देना उचित होगा।

× × × ×
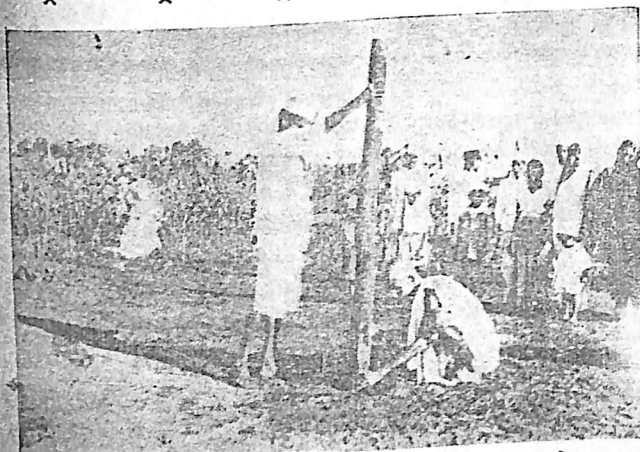
[विनोबा जी फ़ैज़पुर कांग्रेस की तैयारी के समय पहला खम्भा अपने हाथ से गाड़ रहे हैं।]

[विनोबा जी खेतों में से होकर गाँवों की सेवा के लिए चले जा रहे हैं।]

विनोबा जी में आध्यात्मिकता पूरी तौर से भरी हुई है। उनका जीवन बिलकुल सन्तों जैसा है। गीता के तत्त्वों को न केवल उन्होंने ख़ुद समझ कर दूसरों की कठिनाइयों को सुलझाया है, किन्तु उन तत्त्वों पर सफलतापूर्वक अमल भी किया है। गांधी जी के सिद्धान्तों को भी अपने सुलझे दिमाग़ से विनोबा जी ने जितना समझा है, उतना बहुत ही कम लोगों ने समझा होगा। उनके विचार मौलिक और मार्मिक हैं। उनकी वृत्ति गणितज्ञ जैसी है। उनका प्रत्येक विचार सुव्यवस्थित और स्पष्ट है। उनके दिमाग़ में व्यावहारिकता भी कूट-कूट कर भरी है। इसलिए खादी के सम्बन्ध में उनका ठोस कार्य सफल हो सका है। वर्धा-शिक्षण-योजना के पीछे भी विनोबा जी का व्यावहारिक और सक्रिय ज्ञान छिपा हुआ है। उद्योग-द्वारा शिक्षा देने का प्रयोग विनोबा जी के लिए बिलकुल नया नहीं था। वे तो इसी पद्धति को स्वाभाविक रूप से काम में ला रहे थे। खादी-शास्त्र में वे इतने तल्लीन हो गये हैं कि उसी में से वे सभी प्रकार की विद्या का स्रोत निकाल सकते हैं। उनकी प्रखर बुद्धि के ही कारण आज वर्धा-शिक्षण-योजना इतने विस्तार से देश के सामने रक्खी जा सकी है।

विनोबा जी एक आदर्श शिक्षक हैं। उनकी लेखनशैली भी आकर्षक है। ‘मधुकर’ नाम से उनके मराठी लेखों का संग्रह एक वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। उनके लेख किसी भी भाषा के साहित्य को गौरव दे सकते हैं।

विनोबा जी की रहन-सहन बहुत ही सादी है। नालवाड़ी में बाँस की एक मामूली झोंपड़ी में रहते हैं। कुछ महीनों से वे अपना स्वास्थ्य सुधारने की दृष्टि से पवनार में रह रहे हैं। यह स्थान वर्धा से लगभग छः मील की दूरी पर है।

विनोबा जी शहरों से तो हमेशा दूर ही रहने की कोशिश करते हैं। उनको गाँवों की ग़रीब जनता की ही मूक सेवा करने में आनन्द आता है। वे अक्सर आसपास के गाँवों में पैदल ही जाते हैं और लोगों में खादी और गीता का प्रचार करते हैं। ख्याति की उन्होंने कभी इच्छा नहीं की, इसलिए उनका नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है। किन्तु उनका जीवन इतना उज्ज्वल है कि गांधी जी भी कई बातों में उन्हें अपना आदर्श मानते हैं।

× × × ×

मोह-कातरता

लेखिका, श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा

देव ! अरे यह जीवन कितना क्षणभंगुर है परवश है ?
मानव जो कहता है वह कब करने को उसका वश है ?
भोले शैशव की मादकता रहती है कितने कम दिन !
विकसित यौवन के विलास के लघु पल भी जाते गिन-गिन।
जग कितना रसमय छविमय पर हो सकता उपभोग भला ?
चिर-अभिशापों से विमुक्त करने में कब कुछ योग चला ?
प्राण - पखेरू उड़ जाते हैं ले दुनिया अरमानों को।
यहाँ नहीं कोई, जिस पर बस्ती बसती अभिमानों की।
आओ, अपनी इस छोटी सी दुनिया में भूल अनबन।
मिल हम तुम दो दिन बेसुध हों, जाना एकाकी उस दिन।
हम होंगे रज में, जाने यह रवि-शशि-प्रभा खिलेगी भी।
क्या जाने मृदु वल्लरियों पर वनश्री पुनः मिलेगी भी।
फिर क्या जाने, शुभ वसन्त सौरभ सुषमा बरसाये ना।
फिर क्या जाने, मत्त-पिकी रस की नदियाँ उमड़ाये ना।
फिर क्या जाने मलय-वायु उत्फुल्ल हृदय को करे कभी।
फिर क्या जाने लहर-लहर निर्झरिणी मन को हरे कभी।
फिर क्या जाने संचित सपनों का होगा निर्माण कभी।
मधुर-प्रणय की पीर से भरे हँसते होंगे प्राण कभी।
आज यहाँ हैं दो दिन हम, हँसती उर की मनुहार सखे।
क्या जाने कल कहाँ रहेंगे, इस दुनिया के पार सखे।

हमारे ईसाई भाई

लेखक, पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी

(१)

युक्त-प्रान्त में अल्पता की समस्या का एक पहलू हमारे ईसाई भाइयों का सवाल है। इस सूबे की कुल आबादी ४ करोड़ ८४ लाख है। इनमें—

१ मुसलमान	...	...	७२ लाख
२ ईसाई	...	...	२ " ५ हज़ार
३ सिक्ख	...	...	४७ हज़ार
४ पारसी	...	...	१ हज़ार

ऐसी दशा में युक्तप्रान्त के लिए अल्पता के सवाल का संबंध केवल मुसलमान और ईसाइयों ही से है। जहाँ तक ईसाइयों का सम्बन्ध है वहाँ तक भाषा और लिपि का कोई प्रश्न नहीं उठता। इनके विषय में जिन बातों पर विचार करना है उनका सम्बन्ध या तो नौकरियों से है या स्थानिक संस्थाओं में प्रतिनिधित्व से। धार्मिक स्वतंत्रता और नागरिक हक़ों के संरक्षणों का सवाल भी हमारे ईसाई भाई उठाते हैं। अतएव ईसाइयों की समस्या के तीन रूप हैं। सरकारी नौकरियों में इनको कितना हिस्सा दिया जाय? म्यूनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड या गाँव-पचायतों में इन्हें अलग से प्रतिनिधित्व दिया जाय या न दिया जाय, और यदि दिया जाय तो कितना? इन्हीं तीन प्रश्नों पर हमें इस लेख में विचार करना है।

ईसाइयों की समस्या की तह में केवल धार्मिक भेद ही नहीं है। इसमें धार्मिक अन्तर के साथ जातिगत भेद भी मिला है, क्योंकि हमारे ईसाई तीन भिन्न जातियों के हैं। इस सूबे में सब मिला कर २ लाख ५ हज़ार ईसाई हैं, जिनमें से १ लाख ८० हज़ार देशी या हिन्दुस्तानी ईसाई हैं, बाक़ी २५ हज़ार ईसाइयों में २४ हज़ार विदेशी हैं, अर्थात् वे जो हिन्दुस्तान के बाहर से आकर यहाँ बस गये हैं और उनके बाल-बच्चे। शेष ११ हज़ार ऐंग्लो-इंडियन हैं जो, जैसा नाम ही से प्रकट है, अर्ध भारतीय और अर्ध अभारतीय हैं। इन तीनों ही जातियों* के ईसाइयों के हित अलग-अलग हैं और तीनों ही की समस्याओं के रूप भी जुदा-जुदा हैं। उन रूपों पर विचार करने से पहले आइए उनके बहिरंग वितरण का चित्र स्पष्ट रूप से अपने मानसिक पटल पर अंकित कर लें।

ईसाई (२ लाख और ५ हज़ार)

- देशी १,८०,००० (१,८० ००)
  - शहरी ४५,०००
  - देहाती १,२५,०००
- ऐंग्लो इंडियन ११,०००
- विदेशी २४,०००

देशी ईसाइयों की संख्या अन्य दो जातियों के ईसाइयों की संख्या से चौगुनी है, अर्थात् प्रत्येक ५ ईसाइयों में से ४ ईसाई हिन्दुस्तानी हैं। शहरों या क़स्बों में रहनेवाले ईसाइयों में ४५,००० हिन्दुस्तानी; २४,००० विदेशी; और ११ हज़ार ऐंग्लो इंडियन हैं। देहातों में ईसाइयों की संख्या १,२५,००० है, जिनमें से प्रायः सभी देशी हैं। ऐंग्लो इंडियन विशेष कर सूबे के चार नगरों में आबाद हैं। इलाहाबाद में इनकी संख्या लगभग २,१००; लखनऊ में १,५००; आगरे में १,३००; और झाँसी में १,००० है। अथवा, सूबे के ११,००० ऐंग्लो इंडियनों में से लगभग ६,००० इन्हीं चार शहरों में रहते हैं, यानी ५५ प्रतिशत। इसी तरह से सूबे के २२ प्रमुख 'नगरों में'—अर्थात, मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में जिन नगरों को "सिटी" की पदवी दी गई उनमें—२४,००० विदेशी ईसाइयों में से १८,००० से कुछ अधिक यानी ७५ फ़ी सदी निवास करते हैं। तीनों जातियों के ईसाइयों में स्त्री-पुरुषों की अलग संख्या है—

जाति		पुरुष		स्त्री
१ विदेशी ईसाई	...	१७,५५८	...	५,९४२
२ ऐंग्लो इंडियन	...	५,८६८	...	५,४०४
३ देशी ईसाई	...	८६,७०६	...	८३,३७१

विदेशी ईसाइयों में जहाँ तीन मर्द हैं वहाँ एक औरत। इसका कारण यह है कि बहुत से विदेशी ईसाई फ़ौज में नौकर हैं। तमाम सूबे के स्त्री-पुरुष-संबंधी अनुपात की दृष्टि से ऐंग्लो इंडियनों और देशी ईसाइयों के मर्दों और औरतों की संख्याओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। युक्तप्रान्त में सन् ३१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट के अनुसार प्रत्येक सौ मर्दों के अनुपात में ९० औरतें थीं। इस दृष्टि से ऐंग्लो इंडियनों और ईसाइयों में स्त्रियों की संख्या बहुत क़ाफ़ी है।

* जाति शब्द की बड़ी दुर्दशा है। जितने मुँह, उतने उसके अर्थ। मैं किसी देशविशिष्ट के निवासियों के समुदाय के अर्थ में इस शब्दविशेष का प्रयोग करना चाहता हूँ।

देशी ईसाइयों का विभाजन

देशी ईसाइयों की आबादी १८८१ में ४८ हजार थी, जो ५० साल में बढ़कर १९३१ में २ लाख ५ हजार हो गई। पिछली ६ मर्दुमशुमारियों में इनकी संख्या निम्नांकित है—

पूर्णाङ्कों में

१८८१ में	...		४८ हज़ार
१८९१ ,,	...		५८ ,,
१९०१ ,,	...	१ लाख	२ ,,
१९११ ,,	...	१ ,,	७८ ,,
१९२१ ,,	...	२ ,,	१ ,,
१९३१ ,,	...	२ ,,	५ ,,

ऊपर के आँकड़ों को देखने से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि १८८१ से लेकर १९०१ तक अर्थात् २० साल की इस अवधि में ईसाइयों की संख्या दूनी हो गई, अथवा ५८ हजार से बढ़कर १ लाख २ हज़ार को पहुँच गई। और १९०१ और १९३१ के बीच में भी इनकी संख्या में वृद्धि उतनी ही हुई जितनी १८८१ और १९०१ में हुई थी। १८९१ और १९११ के बीच में विशेष वृद्धि हुई, अर्थात् १८९१ के ५८ हजार ईसाई १९११ में १ लाख ७८ हज़ार हो गये, यानी इस २० वर्ष की अवधि में ईसाइयों की संख्या २०८ प्रतिशत के हिसाब से बढ़ी, लेकिन १९११ और १९३१ के बीच में प्रतिशत वृद्धि की गति २०८ से घट कर केवल १५ रह गई। इन आँकड़ों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हम पाठकों का ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहते हैं कि जहाँ १८९१ से १९११ में ईसाइयों की संख्या में १ लाख २० हज़ार की वृद्धि हुई वहाँ १९११-१९३१ में केवल २७ हज़ार की बढ़ती हुई। इन २० साल में वृद्धि की गति उन २० साल की तुलना में कुछ कम एक-चौथाई रह गई। इस घटती का क्या कारण है? बढ़ती या तो धर्मपरिवर्तन या नैसर्गिक वृद्धि से होती है। नैसर्गिक वृद्धि उसी समय सम्भव है जब किसी जातिविशिष्ट या सम्प्रदायविशेष में मरनेवालों की संख्या पैदा होनेवालों की संख्या के मुक़ाबिले में कम हो। लेकिन सूबे के अन्य सम्प्रदायों की तुलना में ईसाइयों में न तो अधिक बच्चे ही पैदा हुए और लोग भी कम मरे। अतएव वृद्धि तभी अधिक होगी जब दूसरे सम्प्रदायों के लोग ईसाई होते जाएँ। ऐसा होना भी अब कम हो चला है। घटती का मुख्य कारण सन् १९३१ की मरदुमशुमारी के कमिश्नर की सम्मति में हिन्दुओं का शुद्धि-आन्दोलन था। उदाहरण के लिए, मेरठ ज़िले को ले लीजिए। वहाँ के ईसाई सन् १९२१ में २७ हज़ार से घटकर १९३१ में लगभग १४ हज़ार रह गये, क्योंकि जिन चमारों और भंगियों ने अपने को १९२१ में ईसाइयों में गिनवाया था उनमें से बहुतों ने सन् १९३१ में अपने को आर्यसमाजी लिखवाया। एटा ज़िले में इसी कारण से सन् १९२१ की तुलना में की सन् १९३१ में ईसाइयों की संख्या में लगभग ३ हज़ार की कमी हो गई। इसी तरह से पीलीभीत में भी घटती हुई। सन् ४१ की मरदुमशुमारी के समय इस सूबे के ईसाइयों की क्या स्थिति होगी, इसके विषय में अभी कुछ कहना असम्भव है।

इस सूबे के ईसाइयों की तीन भिन्न जातियाँ हैं—(१) योरोपियन, (२) ऐंग्लो इंडियन और (३) देशी ईसाई। सन् ३१ में इस सूबे में २४ हज़ार योरोपियन ईसाई थे, ११ हज़ार ऐंग्लो इंडियन और एक लाख ७० हज़ार देशी ईसाई। विदेशी ईसाइयों की संख्या १९११ में ३४,००० से घट कर १९३१ में २४,००० रह गई। इनमें से अधिकांश शहरों में रहते हैं। सूबे के २२ प्रमुख नगरों में योरोपियनों की आबादी १८ हज़ार और ऐंग्लो इंडियनों की आबादी लगभग ८ हज़ार सन ३१ में थी।

आइए, अब सूबे में देशी ईसाइयों के वितरण पर एक नज़र डालें। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस सूबे में १ लाख ७० हजार देशी ईसाई हैं। इनमें से ४५ हज़ार शहर और क़स्बों में आबाद हैं; और १ लाख २५ हज़ार देहातों में आबाद हैं। आगे की तालिका से ईसाइयों का ज़िलेवार वितरण पाठकों को मालूम होगा—

शहरों और क़स्बों में रहनेवाले ईसाइयों की
संख्या पूर्णाङ्कों में

ज़िले का नाम	देशी ईसाई	विदेशी और ऐंग्लो इंडियन ईसाई	जोड़
१ मुरादाबाद	४,७००	५००	५,२००
२ लखनऊ	३,७००	५,९००	९,६००
३ मेरठ	३,६००	३,३००	६,९००
४ अलीगढ़	२,९००	१००	३,०००
५ इलाहाबाद	२,५००	४,०००	६,५००
६ कानपुर	२,४००	२,६००	५,०००
७ बरेली	२,४००	१,५००	३.९००
८ आगरा	२,२००	३,९००	५,४००
९ बुलन्दशहर	१,९००	४०	१,९४०
१० बदायूँ	१,९००	२६	१,९२६
११ देहरादून	१,६००	२,५००	४,१००
१२ झाँसी	१,६००	२,७००	४,३००
१३ सहारनपुर	१,५००	८००	२,३००
१४ एटा	१,५००	२६०	१,७६०
१५ मुज़फ़्फ़रनगर	१,५००	१२०	१,६२०
१६ मथुरा	१,३००	६००	१,९००
१७ बिजनौर	१,३००	३१	१,३३१
१८ पीलीभीत	१,०००	११	१,०११
१९ फ़र्रुख़ाबाद	१,०००	१७७	१,१७७

देहातों में रहनेवाले ईसाई प्रायः सभी देशी हैं। केवल ८ ज़िले ऐसे हैं जिनकी देहातों में रहनेवाले देशी ईसाइयों की संख्या ५,००० से अधिक है।

नम्बर नाम ज़िला	देहातों में रहनेवाले (पूर्णांकों में)
१ मुरादाबाद में	१८,०००
२ अलीगढ़ "	१५,०००
३ बदायूँ "	१४,०००
४ बुलन्दशहर "	१२,०००
५ मेरठ "	१०,०००
६ बरेली "	१०,०००
७ मुज़फ़्फ़रनगर "	९,०००
८ एटा "	८,०००

४ ज़िलों में ऐसे ईसाइयों की संख्या ३ और ४ हज़ार के बीच में है—

१ मथुरा
२ मैनपुरी
३ फ़र्रुख़ाबाद
४ आगरा

निम्नलिखित ६ ज़िलों में देहाती ईसाइयों की संख्या १,००० से अधिक है।

१ अल्मोड़ा	२ बनारस
३ गोरखपुर	४ बलिया
५ बिजनौर	६ सहारनपुर

सूबे के शेष ३० ज़िलों के देहातों में इनकी संख्या प्रति ज़िले १,००० से नीचे है।

ऊपर की तालिकाओं का विशेष महत्त्व है। विशेष महत्त्व कई दृष्टियों से है। ग्राम-पंचायतों, ज़िला बोर्डों और म्युनिसिपल-बोर्डों में ईसाइयों का, और विशेषकर देशी ईसाइयों का किस अनुपात से प्रतिनिधित्व हो? क्या ग्राम-पंचायतों में इनको प्रतिनिधित्व दिया जाय? और यदि दिया जाय तो इनका चुनाव पृथक् हो या संयुक्त? यदि संयुक्त हो तो इनके प्रतिनिधियों की संख्या क़ानूनन सुरक्षित कर दी जाय? ऐंग्लो इंडियनों और योरोपियनों को पृथक प्रतिनिधित्व दिया जाय या नहीं? ये सब प्रश्न महत्त्व के हैं। इन पर विचार करने के लिए ऊपर के आँकड़ों से पाठकों को बड़ी सहायता मिलेगी। उदाहरण के लिए, ग्राम-पंचायतों को ले लीजिए। सूबे में १ लाख ३ हज़ार गाँव शहर या क़स्बे हैं, जिनमें से सारे युक्त-प्रान्त में ४५० नगर और क़स्बे माने जाते हैं। इस हिसाब से देशी रियासतों को छोड़कर युक्त-प्रान्त में लगभग १ लाख २ हज़ार गाँव होंगे और इन देहाती रक़बों में बसनेवाले देशी ईसाइयों की संख्या १,२५,००० है जिनमें से बालिग़ों की संख्या लगभग ६० हज़ार होगी, अर्थात् प्रत्येक गाँव पीछे १ से कम और आधे से कुछ अधिक देशी ईसाई बैठा। इस एक से कम ईसाई के विशेषाधिकार के संरक्षण के लिए ग्राम-पंचायतों में विशेष प्रतिनिधित्व देना चाहिए या नहीं?

इस सूबे में केवल १९ शहर ऐसे हैं, जिनमें देशी ईसाइयों की आबादी १,००० से अधिक है। इन शहरों के नाम और इनके देशी ईसाई निवासियों की संख्या पाठकों को मिल जायगी। सबसे अधिक संख्या मुरादाबाद शहर में है, जहाँ ४,७०० देशी ईसाई रहते हैं। मथुरा और बिजनौर में सबसे कम ईसाई हैं, अर्थात् प्रत्येक में लगभग १,३०० हैं। ऊपर पाठकों को उन ज़िलों के नाम मिलेंगे जिनमें १,००० से अधिक देशी ईसाई रहते हैं। यहाँ पर इतना कह देना सिर्फ़ काफ़ी होगा कि सिर्फ़ ८ ज़िलों के देहातों में ८,००० से लेकर १८,००० तक की संख्या में देशी ईसाई मिलेंगे। चार ज़िलों में देशी ईसाइयों की संख्या ३ हज़ार से ४ हज़ार प्रतिज़िले के बीच में है। ३,००० से कम किन्तु १,००० के ऊपर देशी ईसाइयों की आबादी जिन ज़िलों में है उनकी तायदाद सिर्फ़ ६ है। सूबे में सिर्फ़ १८ ज़िले ऐसे हैं जिनके देहातों में १,००० से अधिक देशी ईसाई आपको मिलेंगे और महज़ ८ ज़िलों में इनकी आबादी ५,००० से ऊपर है।

शिक्षा

इस सूबे में पढ़े-लिखों की संख्या बहुत थोड़ी है। सब मज़हबों को यदि हम लें तो सन् ३१ में ५ वर्ष और ५ वर्ष से अधिक आयुवाले प्रत्येक हज़ार व्यक्तियों में केवल ५५ साक्षर थे, जिनमें से ऐसे पुरुषों में ९४ और ऐसी स्त्रियों में ११ प्रतिहज़ार पढ़-लिख सकती थीं। सब जातियों के ईसाइयों में साक्षरता सूबे के अनुपात से पँचगुनी अधिक थी। सन् ३१ में ५ वर्ष या उससे अधिक उम्रवाले साक्षर ईसाई २८९ प्रतिहज़ार, ३२७ प्रतिहज़ार मर्द और २४१ प्रतिहज़ार औरतें थीं। स्त्रियों की साक्षरता विशेष रूप से चित्ताकर्षक है। सूबे में जहाँ हज़ार में सिर्फ़ ११ स्त्रियाँ साक्षर थीं, वहाँ ईसाइयों में साक्षर स्त्रियों की संख्या प्रतिहज़ार २४१ थी, यानी सूबे के औसत से २१ गुना अधिक साक्षरता ईसाई स्त्रियों में विद्यमान थी। देशी और विदेशी ईसाइयों में सूबे के औसत की तुलना में कितनी अधिक साक्षरता फैली हुई है इसका पता नीचे की तालिका से हमें लगता है :—

	१९३१ में	व्यक्तियों में	मर्दों में	स्त्रियों में
१	सूबे की सब जातियों और सम्प्रदायों का औसत	४७	९१	९
२	देशी ईसाई	१५२	१५६	१४८
३	अन्य ईसाई	७०१	७५६	५८७
४	सब ईसाई	२४५	२८२	२०२

यदि हम १९३१ की आबादी में सिर्फ़ इन्हीं व्यक्तियों को लें जिनकी उस समय उम्र १५ से २० वर्ष तक थी, तो विभिन्न सम्प्रदायों के प्रत्येक हज़ार में साक्षरों की संख्या निम्न थी—

सब उम्रों के प्रत्येक हज़ार में साक्षरों की संख्या

		व्यक्ति	मर्द	औरत
१	सूबे का औसत	७२	१२०	१८
२	हिन्दू 'सनातनी'	६७	११४	१३
३	मुसलमान	७७	१२४	२६
४	सिक्ख	१५४	२२२	४९
५	देशी ईसाई	२३७	२४४	२२९
६	अन्य ईसाई	७७६	८१५	६२७

ऊपर के आँकड़ों को ज़रा ध्यान से देखिए। हिन्दुओं और मुसलमानों के मुक़ाबिले में देशी ईसाई तिगुनी से अधिक संख्या में साक्षर हैं। कम से कम तालीम की दृष्टि से देशी ईसाइयों को पिछड़ा या दलित कोई भी न कहेगा। जिस सम्प्रदाय के लोग शिक्षा में इतनी अधिक उन्नति कर चुके हों वे यदि चाहें तो सूबे के सार्वजनिक और साम्पत्तिक जीवन में आसानी से नेतृत्व को अपने हाथ में ले सकते हैं। क्यों उन्होंने ऐसा नहीं किया, इसके ऐतिहासिक कारण हैं। उनकी विवेचना हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ पर तो इस सम्भव के असम्भव हो जाने के रहस्य की ओर हम संकेत कर देना चाहते हैं।

देहाती क़र्ज़ की समस्या

लेखक, श्रीयुत मणिशंकर मिश्र, बी०काम

हमारे गाँवों में ग़रीबी की आग ज़ोर से धधक रही है। प्रान्तीय सरकारों द्वारा किये गये प्रयत्न उसे शान्त करने में काफ़ी सफल होते नहीं दिखाई देते। जब तक किसान ग़रीब है, और जब तक उसकी ग़रीबी मिटाने के लिए उसे अधिक-से-अधिक आर्थिक सुविधाएँ और रियायतें नहीं दी जातीं; तब तक ग्राम-सुधार के कार्य में पूरी सफलता नहीं मिल सकती। इस लेख में लेखक महोदय ने इस सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न किया है। आशा है कि प्रान्तीय सरकारें इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगी।

अब भारतवर्ष के अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेसी सरकार का राज्य है। प्रान्तीय सरकारें अपने भरसक ग्रामीण-सुधार का प्रयत्न कर रही हैं। लाखों, करोड़ों रुपये ख़र्च किये जा रहे हैं और नये-नये क़ानून बन रहे हैं। संयुक्तप्रान्त की सरकार भी लगान-सम्बन्धी क़ानून बन जाने पर ऋण-विषयक क़ानून बनाने की ओर ध्यान देगी। ऋण-सम्बन्धी कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई है और कमेटी की राय है कि कृषकों के वर्तमान क़र्ज़ को उनके अदा करने की शक्ति के अनुपात से क़ानूनन कम कर देना चाहिए और भविष्य के लिए सहकारी ऋण व अन्न-विक्री-समितियों का तेज़ी से संगठन हो जाना चाहिए ताकि किसान फिर महाजनों के फेर में न पड़ें।

संयुक्तप्रान्त के किसानों की ऋण-समस्या कम जटिल नहीं है। किसान के पास ज़मानत तो होती नहीं। इससे महाजन अधन्नी व एकन्नी का सूद लेते हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए सहकारी समितियों का प्रचार किया गया। प्रायः ३५ वर्ष से ऐसी समितियाँ बनती टूटती रही हैं। कहीं-कहीं तो इन ऋण-समितियों से किसानों को ख़ूब लाभ हुआ और वे महाजनों के चंगुल से छूट गये। धीरे-धीरे उनकी निजी पूँजी जमा हो गई, सूद की दर बराबर कम होती रही और इन समितियों ने कृषि-सुधार इत्यादि का ठोस रचनात्मक काम भी किया। मगर बहुत से गाँव इन ऋण-समितियों-द्वारा तबाह भी हो गये और ऐसे तबाह हुए कि अब मुश्किल से पनप पायेंगे।

बात यह है कि किसानों की आमदनी कम और ख़र्च ज़्यादा है। किसान अपने बजट की कमी को पूरा करने के लिए क़र्ज़ लेता है और उधर हर साल उसके बजट में घाटा रहता है, इसलिए पुराने क़र्ज़ का अदा करना उसके लिए एक प्रकार से असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। अन्य देशों में ऋण-समितियों से कृषकों ने क़र्ज़ लेकर खेती में लगाया, जिससे लाभ हुआ और क़र्ज़ अदा करके चार पैसे बचा भी लिये। मगर यहाँ ऐसा नहीं हुआ। सच पूछिए तो वर्तमान परिस्थिति में खेती में बहुत ज़्यादा पूँजी लगाने की गुंजाइश भी नहीं है, क्योंकि क्रमागत उत्पादन-ह्रास का नियम बड़ी जल्दी लागू होने लगता है। सम्मिलित रूप से बड़े पैमाने पर खेती की जाय (जिसकी श्रद्धेय नेहरू जी अकसर सलाह दिया करते हैं) तो पूँजी भी अधिक लगाई जा सकती है और आमदनी भी बढ़ सकती है, लेकिन फ़िलहाल तो ऐसा होता नहीं। यहाँ तो यह विचार है कि साझे की खेती गधे चरा करते हैं।

अब रही उद्योग-धंधों में पूँजी लगाने की बात, सो गृह-उद्योग के विस्तार का भी क्षेत्र संकुचित-सा ही है। बड़े-बड़े कल-कारख़ानों के सामने न खद्दर ठहरेगा, न हाथ का काग़ज़। दिल बहलाने के लिए हम चाहे जो करें। देश की बेकारी रेल-जहाज़ों के कारख़ाने व मशीन-युग के आगमन से ही दूर होगी। टोकरी बिनकर, रस्सी बटकर, मुर्ग़ी या शहद की मक्खी पालकर बेकारी नहीं दूर होगी। और इन चीज़ों का बेतहाशा प्रचार भी किया जाय तो कौन इतनी टोकरियाँ ख़रीदेगा?

सहकारी ऋण-समितियों के आंशिक असफलता का कारण एक और भी है। गाँवों में ज़मींदार, महाजन, सरकार (तकावी के रूप में), सहकारी ऋण-समितियाँ,

सहकारी अन्य प्रकार की (गन्ना या अन्न-विक्री) समितियाँ, क़ाबुली और अन्य लोग सभी क़र्ज़ बाँटते हैं। फ़सल तैयार होने पर ज़मींदार अपना लगान वसूल कर लेता है। तहसील के अहलकार तक़ावी वसूल कर लेते हैं। अब जो बचा उसमें महाजन व सहकारी समितियाँ लूट-खसोट मचा कर जो पाती हैं, ले लेती हैं!

और सबसे दुख की बात तो यह है कि हमारे कुछ किसान भाई जो देखने में इतने सीधे व असहाय-से होते हैं, दर-असल वैसे नहीं होते। पहनने-ओढ़ने व बातचीत में सरल होते हुए भी किसान एक शहरी आदमी से कहीं ज़्यादा चालाक व मतलबी होता है। वह क़र्ज़ लेकर अपने आप लौटाना तो बहुत कम जानता है। टेंट में रुपये रक्खे रहेगा, लेकिन जब तक सख़्ती न की जाय, वह एक पैसा न देगा, बल्कि घिघियाता रहेगा। सदियों की दासता ने उसकी सद्वृत्तियों की हत्या कर डाली है। दरिद्रता व अशिक्षा ने उसे उदासीन व स्वार्थी बना डाला है। दबाव डाल कर चाहे जो कराया जा सकता है, समझा कर कुछ भी नहीं।

फल यह होता है कि ऋण-समितियों से क़र्ज़ लेकर साल दो साल तक महाजनों से क़र्ज़ लेकर समिति की वह क़िस्त चुकाता है। फिर समिति से क़र्ज़ लेकर महाजन को चुकाता है। २-४ वर्ष यह चालबाज़ी चलती है फिर क़िस्तें बाक़ी पड़ती हैं, दावा होता है और डिगरी अदालत माल से इजरा की जाती है। लोटा, थाली, चारपाई, चिथड़े, गुदड़े कौड़ीमाल नीलाम हो जाते हैं। अर्थशास्त्र के अध्यापकों व विद्यार्थियों की तो यही सम्मति है कि भारत का उद्धार सहकारी समितियों-द्वारा ही हो सकता है, और सिद्धान्तरूप से यह है भी ठीक। सहकारिता में साम्यवाद के सब गुण मौजूद हैं, मगर उसकी बुराइयाँ एक भी नहीं। व्यक्तिगत पूँजी का बिना नाश किये यदि किसी देश के छोटभैयों ने उन्नति की है तो सहकारी-समितियों के द्वारा ही।

किन्तु हमारे देश की दशा कुछ भिन्न है। गाँव में ऋण-समिति खुलने पर लोग अंधाधुन्ध क़र्ज़ लेने लगते हैं; पंच लोग बड़ी-बड़ी रक़में लेकर न ख़ुद अदा करते हैं, न लिहाज़ के मारे दूसरों से तक़ाज़ा करते हैं। सहकारिता के भाव लोगों के मन में तो उदय होते ही नहीं। दबाव डालकर जो कुछ करा लिया जाता है उसी की बार-बार चर्चा की जाती है कि यह हो गया, वह हो गया। और सब गाँवों में सहकारी समितियाँ हैं भी तो नहीं। ३४ वर्ष में ७ हज़ार समितियाँ बनीं और कुछ बन कर टूटीं। अगर प्रान्तीय सरकार इस विषय पर अधिकाधिक ध्यान दे तो भी कहीं १० वर्षों में सब गाँवों में शायद सभायें बन सकें। अगर काग़ज़ी दिखावे के लिए जल्दी की गई तो काम और भी बिगड़ जायगा।

तो फिर किया क्या जाय?

मैं कोई अर्थ-शास्त्र का पेशेवर विशेषज्ञ नहीं हूँ, इससे मेरी क्षुद्र सम्मति का उतना मूल्य भी नहीं। मैंने १२ वर्ष तक देहाती क़र्ज़-समस्या का जो अनुभव प्राप्त किया है उसके आधार पर कुछ लिखने का यहाँ साहस करता हूँ।

सबसे पहले तो हमारी सरकार को सुधार के प्रचार की नीति में नैतिक परिवर्तन करना है। बार-बार समझाने बुझाने में समय व धन का अपव्यय होता है और नतीजा भी विशेष संतोषप्रद नहीं होता। उसके स्थान पर सरकार को एक नृशंस डिक्टेटर की भाँति अपनी राय, जनता पर लाद देनी चाहिए। गाँवों में सब जानते हैं कि कांग्रेस का राज्य है और कांग्रेस भरसक उनकी भलाई की कोशिश कर रही है। लेकिन किसी कांग्रेस के सेवक या ग्राम-सुधार विभाग के आर्गनाइज़र को चाहे गाँववाले एक लोटा पानी भी न पिला सकें, उनकी बातों में ज़रा भी दिलचस्पी न दिखावें, लेकिन एक कान्सटेबुल या थानेदार के आगमन पर तुरन्त आवभगत करने लगेंगे। अब पहले की-सी बात नहीं रही है, लेकिन है अब भी वही हाल। ग्राम-सुधार पर सरकार लाखों रुपये ख़र्च कर रही है, मगर आर्गनाइज़रों के गाँव में टिकने पर ही गाँववालों को अड़चन सी होती है कि इसे ईंधन व चारपाई देनी पड़ेगी। कोई बेचारे की तरफ़ मुख़ातिब तक नहीं होता। एक गाँव के ठाकुर लोग जो कुछ पढ़े लिखे भी थे, कहने लगे कि कांग्रेसवालों ने अपने रिश्तेदारों को नौकरी दिलाने के लिए ग्रामसुधार का स्वाँग रचा है, ३०) महीने का आर्गनाइज़र रक्खा है और उसके पास १८ गाँव हैं, यानी २।।) फ़ी गाँव का ख़र्च है। अगर सरकार २।।) महीने पर एक मेहतर रख दे तो इस आर्गनाइज़र की क्या ज़रूरत जो महीने पंन्द्रहवें आ आकर कहता है कि गली झाड़ो

खाद के गड्ढे हटाओ। गली झाड़ना ही उन्होंने ग्राम-सुधार समझा है। यह हमारी ग़ुलाम मनोवृत्ति का सिर्फ़ एक नमूना है। इतने लाख रुपये ख़र्च करने पर ग्राम-सुधार-विभाग ने कुछ खाद के गड्ढे खुदवाये, कुछ बीज बुवाया, कुछ रात्रि-प्रौढ़-पाठशालायें खुलवाई। कुछ काम ज़रूर हुआ है, मगर जितना ख़र्च हुआ है उसके अनुपात में काम नहीं हुआ है। किसी बड़े अफ़सर के आगमन की सूचना पर आर्गनाइज़र ने अपनी रोज़ी क़ायम रखने के लिए अपने पैसे से गाँव में झाड़ू लगवा दी। अफ़सर के आने पर २-४ आदमी गाना-भजन करने लगे। उन्हें गेंदे के फूलों की माला पहना दी! अफ़सर महोदय ने भी चुने हुए शब्दों में ग्राम-सुधार के मंत्र दुहरा दिये। बस सुधार हो गया। सब जगह ऐसा न होता हो, मगर है यह कटु सत्य, जिसे अपनी गवर्नमेंट के सामने प्रकट करने में हमें संकोच नहीं है।

मैं तो ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि हमारे महामंत्री पंत, हिटलर व मुसोलिनी की भाँति, अपने विचार सारी जनता के दिमाग़ में ज़बरदस्ती ठूँसें। देश का बच्चा-बच्चा जानता है कि कांग्रेस जो कुछ करेगी वह देश की भलाई के लिए ही करेगी। तब क्यों न कुछ करवाया जाय? ख़ुद कुछ करने की न तो हम इच्छा ही करते हैं, न उसके लिए कुछ तकलीफ़ उठाना चाहते हैं। हमसे ज़बर्दस्ती जो कुछ कराया जाय, करेंगे। पहले कुछ कुनमुनायँगे, मगर फिर अपने उद्योग का सद्फल देखकर नित्यकर्म की भाँति सरकारी आदेशों का पालन करने लगेंगे।

इस स्वतन्त्रता के युग में ज़बरदस्ती की चर्चा चलाना एक तरह की हिमाक़त-सी है, मगर फिर दूसरी सूरत भी नहीं है। लोग कहेंगे, पुराना नासूर दो-चार दिन दवा लगाने से अच्छा थोड़े ही हो जायगा। मेरा कहना है, अधिक नहीं तो २० वर्ष तक उस दवा से लाभ न होगा। होमियोपैथिक गोलियों से झूठमूठ का दिलासा बँधा रहे, मगर रोग दूर न होगा। ज़रूरत है रोगी के हाथ-पैर बाँध कर क्लोरोफ़ार्म देकर आपरेशन करने की।

लगान का नया क़ानून बन जाने से व भूमिहीन कृषकों को भूमि मिल जाने से देहात में लोगों को बहुत सहारा मिल जायगा। इसके बाद गाँवों का आर्थिक निरीक्षण होना चाहिए, जिसमें प्रत्येक किसान के क़र्ज़ का व उसके वार्षिक आय-व्यय का अंदाज़ा लगाया जाय। फिर किसानों के पुराने क़र्ज़ के एक अंश को उनकी बचत के हिसाब से सरकार अदा कर दे। बाक़ी माफ़ कर दिया जाय। फिर हर एक किसान को भविष्य में सरकार ख़ुद क़र्ज़ दे। किसान को यह अधिकार रहे कि वह महाजन से क़र्ज़ ले सके, किन्तु महाजन को उस क़र्ज़ को अदालत की मार्फ़त वसूल करने का अधिकार न होना चाहिए। इससे भविष्य में दीवानी की डिगरियों का अस्तित्व ही न रह जायगा। यदि किसानों को सरकार स्वयं क़र्ज़ दे तो शुरू में १ करोड़ का क़र्ज़ ३ प्रतिशत पर लेकर ६ प्रतिशत पर बाँटा जाय। ३ प्रतिशत की बचत में सरकारी नौकरों की तनख़्वाहें निकाल कर जो बचे वह 'रोज़गार' के भावी नुक़सान की पूर्ति के लिए एक कोष के रूप में जमा रहे। महाजनों के पुराने क़र्ज़ को सरकार नक़द या बांड के रूप में लौटा दे। जब महाजन ख़ुद देहात में अपना रुपया न लगा पायेंगे तब वे अपना रुपया सरकारी ऋण-पत्रों में लगायेंगे। भविष्य में क़र्ज़ बैल ख़रीदने, मकान बनाने, ब्याह शादी या दवा—इलाज करने के लिए दिया जाय। लगान के लिए क़र्ज़ देना ठीक नहीं, अगर किसान अपनी फ़सल से लगान भी न अदा कर सके तो क़र्ज़ लेना हिमाक़त है। क्या ही अच्छा हो कि सरकार किसानों की कुल फ़सल ले ले। उसमें से पैदावार के हिसाब से ज़मींदारों की ओर से ख़ुद लगान ले ले। उसके बाद किसान के कुटुम्ब के खाने के लिए अन्न छोड़ दे। फिर जो बचे उसमें से क़र्ज़ की रक़म काटकर जो बचे वह उसकी अमानत के तौर पर जमा रक्खे। यदि लगान रुपयों में न होकर पैदावार के अंश में हो और बजाय ज़मींदार के सरकार ख़ुद लगान वसूल करे तो किसानों की दशा सुधर सकती है और उनकी आर्थिक स्थिति में स्थायित्व आ सकता है। लेकिन सरकार का ख़र्च तो स्थायी है। यह हो कैसे? मैं समझता हूँ, यह भी हो सकता है। प्रान्तीय औसत कृषि-उत्पादन के हिसाब से सरकारी नौकरों को तनख़्वाहें दी जायँ। क्या कारण है कि जब देश की ९० प्रतिशत जनता भूखों मरे तब नौकरों की जेबों पर उसका असर न हो।

बोने के लिए बीज भी सरकार ही दे और जैसा ऊपर दिखाया गया है पैदावार से काट ले। किसे कौन सी

फ़सल बोनी होगी, यह भी सरकार ही तय कर सकती है, यहाँ तक की ब्याह शादी के ख़र्च भी सरकार ही तय करे।

पढ़ने में ये बातें विक्षिप्त के प्रलाप-सी जान पड़ेंगी, लेकिन अभी न होंगी तो कुछ दिन बाद होंगी। और हम जितनी जल्दी इसके लिए तैयार हो जायँ, उतना ही अच्छा। देश में साम्यवादी विचार इस तेज़ी से बढ़ रहे हैं कि पूँजी और भूमि का राष्ट्रीयकरण अवश्यभावी है। कोई सार्वजनिक संस्था चाहे वह कितनी ही अच्छी क्यों न हो, ये सब काम नहीं कर सकती, क्योंकि बड़े भारी आर्थिक उत्तरदायित्व का प्रश्न उपस्थित होता है। अगर देहाती क़र्ज़-संस्थाओं के राष्ट्रीयकरण से सरकार को कुछ हानि भी उठानी पड़े तो उठानी चाहिए। किसानों व मज़दूरों की सरकार यदि उन्हीं की भलाई के लिए क़र्ज़ लेती रहे तो यह क़र्ज़ उस क़र्ज़ से बुरा न होगा जो सारे राष्ट्र सैनिक व्यय के लिए लेते हैं।

अब रहा प्रबन्ध का प्रश्न! लोग कहेंगे कि हर एक गाँव में कौन बीज बाँटेगा कौन क़र्ज़, कौन ग़ल्ला वसूल करेगा, कहाँ वह बृहत् अन्नराशि बिकेगी। सब कुछ हो सकता है। यह कोई ऐसा मुश्किल काम नहीं है। इसी काम के लिए देश भर में सरकारी नौकरों का जाल बिछाया जा सकता है। गाँव-गाँव पंचायतें बनाई जा सकती हैं। अड़चनें तो फिर होती ही हैं। मगर कांग्रेस ने ध्वंसात्मक कामों में जब इतनी युद्ध-कुशलता, धैर्य व साहस का परिचय दिया है, इतनी अड़चनें पैरोंतले कुचल डाली हैं तब अब शांति-युग में रचनात्मक कार्यों की अड़चनें नगण्य-सी हैं।

देश के ग़रीब भाई यही आशा लगाये हैं कि सरकार उनके लिए 'कुछ' करेगी। बेचारे 'कुछ' की परिभाषा नहीं कर सकते, लेकिन सरकार के वर्तमान उपदेशों में उन्हें उस 'कुछ' का आभास-मात्र मिलता है, दर्शन नहीं होते। हमें उसका दर्शन कराना है। देश की सामूहिक शक्ति चाहे वह आर्थिक क्षेत्र में हो या राजनैतिक, बिना 'व्यक्तित्व' का नाश किये नहीं हो सकती और यदि हुई भी तो शताब्दियों के बाद। हमें अन्य उठते हुए राष्ट्रों का अनुकरण करना ही होगा—अभी करें या चार दिन पीछे।

चुप हो, मत रो मेरे प्यारे!

लेखिका, श्रीमती तारा पाण्डेय

मैं चाहे कितना ही रोऊँ
तुझे न पल भर रोने दूँगी,
सोने के दिन, चाँदी की निशि
तेरे व्यर्थ न होने दूँगी;
हँसते-हँसते बढ़ा करेंगे
इस जीवन के पल-छिन सारे!

संध्या को जो झिलमिल करती
अम्बर में मोती की जाली
दुखिया आँखों की निधि हैं वे
चंदा मामा की दीवाली;
तेरी आँखों के आँसू से
बुझ जायँगे नभ के तारे!

तेरा हँसना सुमन खिलाता
तू रोता झरते हैं मोती।
हास-रुदन की इस क्रीड़ा में
मेरे उर की पीड़ा खोती;
तुझको पाकर दूर हुए हैं
उर-नभ के वे बादल कारे!
चुप हो, मत रो मेरे प्यारे!

प्रेम का सौदा

लेखक, श्रीयुत मारकण्डेय वाजपेयी, एम० ए०, एल-एल० बी०

ता न बताता। बहुत दिनों से तुम पूछ रहे हो और मैंने नहीं बताया है। पर आज, न जाने क्यों, बताने का जी करता है। मालवा की शाम और रात में जादू है। आकाश रक्त-वर्ण हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति ने संसार से प्रेम करके भग्न-हृदय ही पाया है और नैराश्य के अन्धकार से पूर्व अपनी दुःखगाथा सर्वसाधारण के सम्मुख आकाश में अपने हृदय से बहे हुए रक्त से लिख-लिख कर वह रख रही है। अन्धकार बढ़ता चला आ रहा है पर सामनेवाली झील में उस रक्त-रंजित कथा का प्रतिबिंब अभी शेष है। मालूम होता है कि प्रकृति अपनी गाथा संसार को पढ़ाने के लिए पृथ्वी पर सदा के लिए अंकित कर देना चाहती है। पर समय उसे रहने देगा क्या? संसार कुछ जानेगा, समझेगा अथवा प्रकृति के इस बलिदान् पर कभी दो आँसू बहायेगा? तुम्हीं नहीं समझते। इस दुःखगाथा को तो पढ़ते नहीं, गाते चले जाते हो कि "रूपनगर में दिल मुसाफ़िर प्रेम-सौदा कर ले।" प्रकृति ने वह सौदा किया। मर मिटी। मैंने भी प्रेम का सौदा किया था। हृदय देकर हृदय माँगा था। सचमुच। मुस्कराते क्यों हो? आज मेरी उमर ज़्यादा हो गई है, मेरा हृदय कठोर हो गया है तो क्या मैं सदा ही ऐसा था? मेरी भी नसों में ख़ून था। मेरे भी हृदय में उमंगें नृत्य किया करती थीं। मेरी भी आँखों में कोई बसा था।

बहुत दिनों की बात है। आज की तरह दूर देश में सबसे अलग तब नहीं पड़ा था। अपने ही घर में रहता था, हँसी-ख़ुशी से दिन गुज़ारता था। यह भी नहीं पता चलता था कि कब दिन हुआ और कब रात हुई। सुनते हैं कि देवताओं को मनुष्यों का सुख अखरता है। उन्होंने मेरा सुख छीन लिया। कैसे छीना यह फिर कभी बताऊँगा। उसका इस कहानी से कोई सम्बन्ध नहीं है। निराशा और दुःख के समुद्र में मैं ग़ोते लगाने लगा। किसी तरह से चैन नहीं मिलता था। कोई सहारा न था। जिधर दृष्टि पड़ती थी अन्धकार ही अन्धकार दृष्टिगोचर होता था। दुःखी हृदय कठोर होने से प्रथम भावुक होता है। तिरस्कार की निर्दयता, निराशा की क्रूरता और वेदना की बर्बरता हृदय को जमा कर पत्थर कर देती हैं। पत्थर बने बिना दुनिया में काम भी नहीं चलता है। यहाँ तक सच है कि पत्थर बने बिना आदमी ज़िन्दा ही नहीं रह सकता। बालक कोमल तथा सहृदय होता है, इसी लिए बालक कहलाता है। पुरुष निष्ठुर तथा हृदयहीन होता है। इसी लिए आदमी दुनिया में बड़ा होता है, वरना उम्र में बड़ा होकर भी लड़का ही कहलाता है। मेरे जीवन की हार ने मुझे लड़के से आदमी बना दिया। आदमी होने के मानी यह नहीं हैं कि मैं बड़ा सचमुच ही हो गया। मैं तो हर तरह से, हर तरफ़ से बहुत छोटा आदमी हूँ। पर लड़कपन से आदमियत में पदार्पण करने का कारण मेरा निष्फल प्रेम ही था। जिन दिनों मेरा हृदय सहानुभूति तथा सांत्वना के लिए विकल था उन्हीं दिनों एक लड़की से मेरा परिचय हुआ।

वेदना बढ़ने पर मैं घर से भाग गया था। हिमालय की ठंडी-ठंडी हवा से पागल मस्तिष्क के ठंडे होने की आशा थी। स्थान बड़ा रम्य था पर उन दिनों प्राकृतिक सौंदर्य भी मुझे भुलावे में डाल सकने में असमर्थ था। केवल उस लड़की की भोली बातों में जी कुछ बहल जाता था। लड़की के पिता पहले व्यापारी थे। बाद में व्यापार में घाटा आने पर नौकरी करने लगे थे। देखने में वे बड़े सीधे लगते थे पर वास्तव में उनकी प्रकृति क्रूर और अनुदार थी। अपनी मुसीबतों का रोज़-रोज़ रोना रो कर अपने घरवालों पर बड़ी धाक जमाये हुए थे। घरवाले उनके नाम से काँपते थे। बातें करते थे नवयुग की, और बहुत बढ़ बढ़ कर, पर थे बड़े कट्टरपंथी। यह दोष उन्हीं का न था। हम लोगों में से अधिकांश व्यक्ति ऐसा ही किया करते हैं। ज़माना बदल जाता है पर समाज तथा रूढ़ियों के बदलने में बड़ी देर लगा करती है। रद्दोबदल के ज़माने में बातें नये ज़माने की करनी पड़ती हैं, नहीं तो दक़ियानूसी क़रार दे दिये जायँ। पर काम पुराने ज़माने के करने पड़ते हैं। क्योंकि समाज से संग्राम करने के लिए साहस की आवश्यकता है। वह साहब भी ऐसे ही थे। थे बड़े मज़ेदार आदमी और बड़ी लगन के। पैसा जेब में हो तो ख़र्च अनाप-शनाप, न हो तो फ़ाक़ेमस्त। दोस्ती में घरबार बेच डालें और दुश्मनी बेबात के कर लें। भावुकता उनमें इतनी अधिक, कि ज़रा से में भाले लगा लें और ज़रा से में आगबबूला होकर वह कह डालें और कर डालें जिसके पीछे जीवन भर पछताना पड़े। जानता मैं उन्हें पहिले से भी था। एक बार उन्होंने मेरी बड़ी सहायता भी की थी जिसके लिए उनका मैं जन्म भर आभारी रहूँगा। पर ज़्यादा मैंने तभी उन्हें जाना जब उनके नगर में जाकर रहने लगा। लड़की रूपवती थी, लावण्यमयी थी, सुशील थी और थोड़ी बहुत पढ़ी-लिखी थी। उसके पास किसी कालेज-परीक्षा की डिग्री न थी पर सैकड़ों डिग्रीवालियों से वह अच्छी थी। पर्दा वह करती न थी। हम लोग एक दूसरे से ऐसे हिलमिल गये जैसे बचपन के साथी हों। हम दोनों की उम्रों में बहुत अन्तर न था। विचारधारायें एक सी थीं। दुःखी हृदय सहानुभूति पाकर फिर से हरा होने लगा। अनजान में ही प्रेम का सौदा हो गया। पहले तो इसका कभी ध्यान भी न था। स्नेह भर था। पर स्नेह को प्रेम में बढ़ते किन्हीं परिस्थितियों में विलम्ब नहीं लगता। यूँ तो मुझे कभी प्रेम का भ्रम भी न होता। मेरी शक्ल-सूरत इस क़ाबिल नहीं है कि कोई मुझे प्रेम कर सके। धर्म ने साथ ज़बर्दस्ती बाँध दिया हो तो और बात है। भारतीय सतियाँ अपने पतियों के रंग-रूप पर कभी ध्यान नहीं देतीं। पर प्रेम जीतने के लिए जिन बातों की आवश्यकता होती है उनमें रंग-रूप का स्थान प्रमुख है। परमात्मा मुझे बनाते समय बुद्धि, रंग-रूप, लक्ष्मी सभी देना भूल गये। उनकी शिकायत करूँ भी तो किससे? मनुष्य से हारकर आदमी परमात्मा की शरण जाता है। जब परमात्मा को ही कुछ बातें भूल जायँ तब आदमी कहाँ जाय? हाँ! एक बात के लिए मैं परमात्मा का बड़ा कृतज्ञ हूँ। उन्होंने मुझे साधारण-ज्ञान [illegible] है। इसी लिए संतोष की मात्रा भी यथेष्ट है। जीवन में सदा हार ही मिलती रही पर उससे भी ख़ुश हूँ। जो कुछ मिलता है उसी को बहुत समझ कर परमात्मा का नाम लेता हूँ। मनुष्य का भाग्य सदा एक सा नहीं रहता। बहुत ख़राब भी होता है तो कभी-न-कभी चमक उठता है। मेरा प्रयत्न सदा यह रहता है कि अपने भावों को प्रकट न होने दूँ। पर प्रेम की आग ऐसी है कि उसकी लपट कभी-न-कभी निकले बिना नहीं रहती है। एक दिन हम लोग बातें कर रहे थे। आतुर-हृदय के भाव शायद कुछ मुँह पर दिख गये होंगे। उस लड़की ने एक बार मेरी ओर देखा, फिर सिर झुका लिया। चेहरा लाल हो गया। बातें जल्दी-जल्दी करने लगी। जब मैं उसके घर से आया तो मेरे हृदय ने मुझे बहुत बुरा भला कहा। चाँद के टुकड़े को ललचाने से क्या लाभ? कभी हाथ तो आ ही नहीं सकता। तभी तो कवि विद्यापति ने कहा है कि—"जे अनुपम उपभोग न आवये ते फल काहि निहारि?" कवि जायसी ने इसके विपरीत अवश्य कहा है कि—"मोहि भोग सो काज न बारी। सौंह दीठि के चाहनहारी"। पर मेरे प्रेम की मात्रा तो इस हद से ज़्यादा आगे निकल गई थी। अधर्म का कोई विचार न था। अधर्म के पथ पर मैं आज तक जान बूझ कर कभी भी अग्रसर नहीं हुआ। अब तो समझता भी हूँ, पर उन दिनों यह भी नहीं जानता था कि धर्म के मार्ग पर चल कर सफलता कभी नहीं मिल सकती और अधर्मी जो चाहे कर सकता है। जानकारी उस समय थी केवल निष्पाप-प्रेम की, तथा असह्य-वेदना की। अब तो ग़लतफ़हमियों की भी मुझे परवाह नहीं। अपना रास्ता अपने ठीक और ग़लत के विचार से चलता हूँ, यह कभी नहीं सोचता कि और लोग क्या कहेंगे। औरों के कहने की परवाह भी नहीं है। पर उन दिनों ग़लत-फ़हमियाँ नहीं सहन होती थीं, हृदय बड़ा कोमल था, निराशाओं ने तब तक पत्थर न बना पाया था। आज सोचता हूँ तो अपने उस समय के व्यक्तित्व पर कुछ हँसी आती है और कुछ तरस आता है।

कई दिन नहीं गया। उधेड़बुन में पड़ा रहा। फिर एक दिन साहस करके उसके घर गया। वह पहिले ही की

भाँति मिली। वही हँसी, वही मज़ाक़ पर सिर नीचा। एक बार हृदय आनन्द से फूल उठा। फिर अविश्वास की आँधी आई, निराशा का समुद्र उमड़ चला। कभी ख़याल होता कि वह भी प्रेम करती है। फिर अपनी कमज़ोरियाँ याद आ जाती थीं। स्मरण आता था कि संसार के प्रेमी सभी सुन्दर नहीं हुए हैं और अभागों का भी भगवान् होता है। फिर ध्यान आता था कि मेरे पास है ही क्या? वह जिसे अपना कह दे वही अपने को धन्य समझेगा। सारी दुनिया उसके पैरों पर है, मुझे कौन पूछेगा? पर जी न माना। पूछने का तो साहस न हुआ। डरते-डरते दूसरे से पुछवाया। जिस दिन उत्तर मिला, मेरे पैर ज़मीन पर न पड़ते थे। हृदय से हृदय का सौदा किया था। विजयोल्लास में हृदय दोगुना बड़ा हो गया। एक तो अपना था ही, दूसरा और मिल गया। मेरी समझ में 'आज' तक नहीं आया है कि उसने मुझ में क्या देखकर मुझसे प्रेम किया था। संभव है उसे भ्रम हुआ हो। सहृदया और कोमलता ने इसलिए "हाँ" करा लिया हो कि दुखी-हृदय और अधिक न दुख जाय। कई बार उसने बाद में बातें कुछ ऐसी कीं कि जैसे किन्हीं कारणों से उसे पश्चात्ताप हो रहा हो। कुछ दिन बड़े सुख के कटे। मैंने कभी उसे हाथ तक न लगाया क्योंकि पाप की ओर मेरी प्रवृत्ति ही न थी। सुखस्वप्न भर देखता रहा कि जब हम दोनों एक दूसरे के होंगे तो जीवन में यह करेंगे, वह करेंगे। तुम तो समझ ही गये होगे कि फिर क्या हुआ। संसार को किसी का सुख बड़ा अखरता है। दुनिया कानाफूसी करने लगी। मैंने कभी दुनिया को इसका अवसर भी नहीं दिया था पर जैसा उर्दू कवि अकबर ने कहा है:—

"निगाहें मिल गई थीं मेरी उनकी रात महफ़िल में।
ये दुनिया है, बस इतनी बात फैली दास्ताँ होकर॥"

रिश्तेदार, नातेदार, दुनियाई दोस्त मौक़ा पड़ने पर कभी काम नहीं आते, पर ऐसी बातों में उनकी ख़ास दिलचस्पी होती है। उन्होंने उसके पिता से न जाने क्या-क्या लगा दिया! परमात्मा जाने कौन-कौन से पाप मेरे सिर मढ़े गये। मैंने तो कोई पाप नहीं किया था। पर संसार को सत्य से प्रेम नहीं। वह दूसरे की बुराई ही सुनना चाहता है, भलाई नहीं। एक छोटी सी बात पर दुनिया ने लड़ाई करा दी। दोष शायद मेरा ही था। सच पूछो तो मुझे अपना दोष आज तक ज्ञात नहीं, पर यह कैसे कहूँ कि और लोग भी भूल कर सकते हैं। अनुभव से मैंने यह जाना है कि अपनी भूल कोई नहीं स्वीकार करता है और वाद-विवाद व्यर्थ होता है। इसलिए भली राह यही है कि अपनी भूल मान कर अपना दोष स्वीकार कर लेना चाहिए, चाहे वास्तव में भूल हुई हो या न हुई हो। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसके पिता उसे मुझे सौंपना तो क्या पसंद करते, उन्हें मेरी सूरत से नफ़रत हो गई। समाज-सुधार की बातें कोरी गप्पें थीं, यह भी मुझे तभी मालूम हुआ। ऐसा भी आभास हुआ कि प्रेम के जंजाल से वह भी घबरा उठी है। अपने घरवालों का मोह उसे अधिक हुआ है। अपनी सारी कमज़ोरियाँ ध्यान आईं। फिर उसी विचार ने ज़ोर मारा कि मेरी प्रेमिका को प्रेम का भ्रम हुआ है और तरस और प्रेम का अंतर उसे अब मालूम हुआ है। भगवान और प्रकृति ने जिसे अभागा बनाया होता है उसका हृदय बड़ा कोमल होता है, पर दिमाग़ बड़ा अहंकारी होता है। मैं वहाँ से तुरंत दूसरी जगह चला गया। लौट कर आने पर पता चला कि उसका विवाह हो गया है। वह सचमुच मुझसे प्रेम करती थी, यह तो वही जाने। अब भी दर्द होता है तो मालूम होता है कि करती थी। पर संभव है यह केवल मेरा अहंकार हो जो मुझे ऐसी धारणा दिलाता हो। मैं तो उसके सुखी जीवन की सदा ही कामना किया करता हूँ। वह जहाँ भी हो, जैसी भी हो, भगवान् उसे सुखी रक्खे। मेरा उसे यही आशीर्वाद है। और सुखी जीवन के लिए यह आवश्यक है कि उसे यह विश्वास हो जाय कि वह मुझे प्रेम नहीं करती थी, केवल दुखी व्यक्ति पर तरस भर खाती थी। और यदि यह बात न हो और चाहे चार दिन के लिए ही मैं उसकी निगाह में रहा हूँ तो मैं भगवान् से यही प्रार्थना कर सकता हूँ कि सपना समझ कर वह मुझे भूल जाय और अपने विवाहित जीवन में उस निष्फल प्रेम की कहीं छाया न आने दे।

मैंने उसके अनन्तर वह नगर ही छोड़ दिया। हिमालय के सुन्दर दृश्य मुझे काटे खाते थे। सारा कारबार बंद करके मैं बरसों घूमता रहा। उससे भी शांति न मिली तो यहाँ आ बसा। कमाता-खाता हूँ, मौज से हूँ। तुम्हारे जैसे दो चार दोस्त हैं। आदमी को जीवन में और चाहिए ही क्या? कल की याद है? हम लोग पास के नगर में सिनेमा देखने गये थे। वहीं से अनमना सा होकर लौटा हूँ। इसीलिए तो तुम्हें आज यह कथा सुना रहा हूँ। इस दूर देश में, जंगल में, भला कैसे आशा कर सकता था कि उसके फिर से दर्शन होंगे। पर भगवान् की लीला अपरम्पार है। अँधेरे में भी प्रकाश हो सकता है। तुम जब टिकट ले रहे थे तब मैं भीड़ में कुछ खोया हुआ सा खड़ा था। भीड़ की आदत अब छूट गई है। इतने में ही वह सामने मुझे दिखाई दी। एक बार चौंक कर देखा। संयोगवश वह भी मेरी ही ओर देख रही थी। मेरे पैर काँपने लगे, सिर घूम गया, पुरानी बातें याद आ गईं। मैंने ही आँखें नीची कर लीं। जीवन में सदा मेरी हार ही रही, उस समय ही कैसे जीत होती। एक बार फिर मैंने उधर देखा, पैरों की ओर, और श्रीमती महादेवी वर्मा की ये पंक्तियाँ मुझे स्मरण हो आईं:—

"मैं भी भर झीने जीवन में, इच्छाओं के रुदन अपार।
जला वेदनाओं के दीपक, आई इस मंदिर के द्वार॥
क्या देता मेरा सूनापन, उनके चरणों को उपहार?
वे सुध सी मैं धर आई, उन पर अपने जीवन की हार॥"

उसने वह समर्पण स्वीकार किया कि नहीं, यह देखने की मुझमें सामर्थ्य न थी। किसी काम से इधर आई होगी। अब तक लौट गई होगी। यहाँ जंगल में सिवा हमारे जैसे दीवानों के और रहता ही कौन है?

उठ उठ री मानस की उमंग!

लेखक, श्रीयुत सोहनलाल द्विवेदी, एम० ए०

उठ उठ री मानस की उमंग! भर जीवन में नव रूप रंग

फूटे तरु में नव-नव पल्लव
ले शत शत रंगों का वैभव
कोमल कलियों का नव उद्भव
लाया मादक सौरभ तरंग
उठ उठ री मानस की उमंग!

फैला किरणों का अरुण जाल
बरसा तृण पल्लव पर गुलाल
रँग उठी धरा यह लाल लाल
पुलकित होकर गाते विहंग
उठ उठ री मानस की उमंग!

ये इन्द्रधनुष-से पंख खोल
नभ में पंछी करते किलोल
उड़ चले क्षितिज पर डोल-डोल
लेने जीवन संबल सुरंग
उठ उठ री मानस की उमंग!

सरसी में उठती लोल लहर
छा जाती दोनों कूल छहर
कल-कल छल-छल कर प्रहर-प्रहर
गमकाती जीवन की मृदंग
उठ उठ री मानस की उमंग!

नीलम दूर्वा पर ये हिमकण
लगते—मानो बरसा कंचन
हँसते, खिलते रह रह तृण-तृण
जीवन-धन का मिल गया संग
उठ उठ री मानस की उमंग!

सरिता अपनी धुन में बहती
गुप चुप सुख-दुख गाथा कहती
धारा में कितनी गति रहती?
होता धीवर का धैर्य भंग
उठ उठ री मानस की उमंग!

सामने खड़ा जो शैल अचल
योगी-सा आसन में अविचल
दृढ़ता में कितनी गुरुता, बल?
नीलांचल तक छू रहा शृङ्ग
उठ उठ री मानस की उमंग!

मृदु सुमन खोल अन्तस के दल
बन बन बिखेरते हैं परिमल
मधु-गन्ध भार आकुल दिशि पल,
छूते प्राणों के तार भृंग
उठ उठ री मानस की उमंग!

कोयल विटपी पर रही बोल
प्राणों में अमृत घोल घोल,
पगली, तू भी मृदु कंठ खोल,
गा री, नवजीवन के प्रसंग
उठ उठ री मानस की उमंग!

गा नवजीवन के नव प्रसंग भर जीवन में नव रूप रंग!

प्राचीन खड़ी बोली का दृष्टान्त

लेखक, श्रीयुत यतीन्द्रमोहन भट्टाचार्य, एम० ए० और श्रीयुत कालिदास मुकर्जी, बी० ए०, एम० आर० ए० एस० (लन्दन)

ज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य की समालोचना करना कुछ हँसी-खेल नहीं है। भारत के प्रसिद्ध हिन्दी-साहित्यकारों ने भाषा तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने का विशेष प्रयत्न किया है तथा उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह अति आदरणीय है। उनमें पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', बाबू श्यामसुन्दरदास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य', मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' तथा श्री एफ़० ई० के का 'हिस्ट्री आफ़ हिन्दी लिटरेचर' आदि विशेष उल्लेख-योग्य हैं। भाषा के इतिहास पर डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का 'हिन्दी-भाषा का इतिहास' अपने ढंग का प्रथम एवं अति उत्तम है। इनके अतिरिक्त हिन्दी-भाषा तथा उसके साहित्य पर छोटी-मोटी कई पुस्तकें छप चुकी हैं और छपती जा रही हैं, साथ ही साथ मासिक तथा त्रैमासिक पत्रिकाओं में उपर्युक्त विषय पर बरसों से प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उनको हम सम्पूर्ण एवं सुसम्बद्ध नहीं कह सकते। प्राचीन हिन्दी-ग्रन्थों का अर्थात् मुद्रणयन्त्र की स्थापना के पूर्व लिखे गये हिन्दी के ग्रन्थों में से आज भी अधिकांश अप्रकाशित हैं। धारावाहिक रूप से सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का इतिहास आज तक नहीं लिखा गया है और उसका लिखा जाना भी सर्वथा असम्भव-सा है, क्योंकि बहुत-सी हस्तलिखित पुस्तकें आज भी नहीं मिल सकी हैं और बहुतों को तो कीड़े-मकोड़ों ने खा भी डाला है, तथा अधिकांश मुसलमानों के हमलों से तथा अग्नि और वरुण देवताओं की क्षुधा-निवारणार्थ संसार से विलीन हो गई हैं। मिश्र-बन्धुओं ने 'मिश्र-बन्धु-विनोद' में अनेक लेखकों का दिग्दर्शन कराया है सही, परन्तु सर्वथा ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने आज तक के सब हिन्दी-लेखकों का पता पाया है। इसके अतिरिक्त मुद्रणयन्त्र की स्थापना के पश्चात् भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में जो हिन्दी-पुस्तकें आज तक छप चुकी हैं उनकी भी विश्वासयोग्य पूर्ण तालिका कहीं प्राप्य नहीं है। पुस्तकालयों में इस प्रकार की छपी हुई पुस्तकों की तालिका मिलती अवश्य है, परन्तु उनसे आज तक की छपी हुई सब पुस्तकों की तालिका कहीं नहीं मिलती।

१९वीं शताब्दी तथा उसके पूर्व जो कुछ नाटक, उपन्यास, आख्यायिका तथा भ्रमण-कहानियाँ लिखी गई हैं उनमें कौन-सी सर्वप्रथम है, यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते, क्योंकि उस समय की लिखी गई समस्त पुस्तकों का पता हमें नहीं है। सन् १८६८ ईसवी में सरकार ने एक क़ानून जारी किया, जिसके अनुसार भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न भाषाओं में छपी हुई विभिन्न पुस्तकों की कम-से-कम एक प्रति सरकार को देने का हुक्म हुआ। इसके फलस्वरूप विभिन्न प्रादेशिक त्रैमासिक पत्रिकाओं के परिशिष्ट में उन प्रदेशों के विभिन्न छापाख़ानों से प्रकाशित पुस्तकें तथा समाचार-पत्रों की तालिका प्रकाशित होने लगी। यह प्रथा आज भी जारी है। इसलिए सन् १८६८ ईसवी से आज तक जो हिन्दी-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं उनकी तालिका के लिए प्रादेशिक त्रैमासिक-पत्रिकाओं के पन्ने उलटने पड़ेंगे। लेकिन सन् १८६८ ईसवी के पूर्व प्रकाशित हिन्दी-पुस्तकों की सम्पूर्ण तालिका कहीं भी प्राप्य नहीं है। अतएव १९वीं शताब्दी के पूर्व का हिन्दी-साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास लिखा जाना किस प्रकार सम्भव हो सकता है, वह पाठक स्वतः समझ सकते हैं।

इस प्रबन्ध के अन्यतम लेखक श्रीयुत यतीन्द्रमोहन भट्टाचार्य सन् १८६८ ई० के पूर्व की बँगला की पुस्तकों की छानबीन कर रहे हैं। उनके साथ काम करते हुए सौभाग्यवश मुझे सन् १८६८ के पूर्व की हिन्दी-पुस्तकों का कुछ पता लगा है। उन्हीं का यहाँ परिचय देने के लिए मैंने अपनी क़लम उठाई है। भविष्य में हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य की जो आलोचना करेंगे उनके लिए ये प्राचीन ग्रन्थ कुछ सहायक हो सकेंगे, यही समझकर उन ग्रन्थों का परिचय देने के लिए मैं अग्रसर हुआ हूँ। भारत

वर्ष में सन् १८६८ के पूर्व के लिखे एवं मुद्रित ग्रन्थ खोज करने से मिल सकते हैं और यदि भविष्य में सौभाग्यवश उन सब ग्रन्थों का पता लग जाय तो सम्भवतः हिन्दी-साहित्याकाश में उस पूर्णिमा-चन्द्र का उदय होगा जिसके सामने अन्य साहित्य तारा-मण्डल या जुगनू-सा प्रतीत होंगे।

सन् १८०३ के लगभग (संवत् १८६०) श्री जान गिलक्राइस्ट ने लल्लूजीलाल तथा सदलमिश्र को हिन्दी-पुस्तक लिखने का आदेश किया। श्री एफ़० ई० के महोदय ने अपने हिस्ट्री आफ़ हिन्दी लिटरेचर में लिखा है—"इस नई बोली की पहली किताब, जो कि एक स्टैंडर्ड किताब समझी जाती है, लल्लूलाल का प्रेमसागर है, जो भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर लिखा गया है......इसका लिखा जाना सन् १८०४ में शुरू हुआ था और सन् १८१० में समाप्त हुआ था। अतएव लल्लूलालकृत प्रेमसागर की रचना सन् १८१० में हुई। परन्तु उनकी भाषा को हम स्टैंडर्ड की पदवी नहीं दे सकते। दृष्टान्त-स्वरूप उनकी भाषा देखिए—"इतना कह महादेव जी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में न्हाय न्हिलाय, अति लाड़-प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाय बजाय, तांडव नाच नाच, संगीत शास्त्र की रीति से गाय गाय लगे रिझाने......।"

तत्पश्चात् भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचारार्थ सन् १८१७ ईसवी में 'कलकत्ता-स्कूल-बुक-सोसाइटी' की स्थापना हुई। उक्त सोसाइटी या समिति ने हिन्दी, फ़ारसी, संस्कृत, बँगला आदि भाषाओं में स्कूल-पाठ्योपयोगी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं, एवं उन पुस्तकों की छपाई में योरपीय तथा भारतीय विद्वानों ने विशेष सहयोगिता प्रदर्शित की। कलकत्ता-स्कूल-बुक-सोसाइटी के दूसरे और चौथे नियमों में लिखा है—

2. That the objects of this society be the preparation, publication and cheap or gratuitous supply of works useful in schools and seminaries of learning.

4. That the attention of the society be directed, in the first instance, to the providing of suitable books of instruction

for the use of native schools in the several languages, (English as well as Asiatic) which are, or may be taught in the provinces subject to the Presidency of Fort William.

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त समिति के २१ सितम्बर, मंगलवार, सन् १८१६ के कार्य-विवरण में यह लिखा है—

"An edition of 4,000 copies in the Nagree character has been ordered of Baboo Tarinee Charan Mitr's translation of the 2nd Neeti Cotha into Hindi."

उपर्युक्त 'नीतिकथा' ही हमारी आलोच्य पुस्तक है। नीचे उसी पुस्तक के आख्यापत्र ('Title page) की नक़ल दी जा रही है, साथ ही पाठकों के समझने के लिए दो पंक्तियों के बीच एक तिरछी लकीर (/) दी गई है—

नीतिकथा, दूसरा खण्ड । / खड़ी बोली में / Hindooee Fables, / (Part II) in the khuree bolee / C. S. B. S. / 4000, Copies 1st Ed. Jan. 1822.

आलोच्य पुस्तक की लम्बाई ८" (इंच) है, तथा चौड़ाई ६·३"। यद्यपि आख्यापत्र से विदित होता है कि सारी पुस्तक खड़ी बोली में लिखी गई है, तथापि पुस्तक के अंत में कुछ ऐसी रचनायें मिलती हैं जो खड़ी बोली में न होकर फ़ारसी-अरबी के तत्सम तथा तद्भव शब्दों से भरी पड़ी हैं। इससे इस पुस्तक को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग खड़ी बोली में लिखी रचनाओं का तथा दूसरा भाग उर्दू-भाषा में लिखी रचनाओं का। सारी पुस्तक नागरी लिपि में है। प्रथम भाग में २६ पृष्ठों में १३ कहानियाँ तथा दो कवितायें हैं। २७वें पृष्ठ के शीर्षक में।

ततिम्मः ।/ नक़लें बारकपुर के पार्क स्कूल के इन्तिख़ाब से फिर छापी गई ।/

लिखा हुआ है। २७ पृष्ठ से ३४ पृष्ठ तक की रचनायें जैसा ऊपर बतलाया गया है, उर्दू-भाषा में है, यद्यपि उनकी लिपि नागरी ही है। प्रथम भाग में लिखित रचनायें आगे दी जाती हैं—

(१) अहंकार की कथा। (पृष्ठ १-२)
(२) दूसरी कथा अच्छे व्योहार की। (पृष्ठ २-३)
(३) तीसरी कथा दालिद्री और मूरख की। (पृष्ठ ३-४)
(४) चौथी कथा बंधुता की। (पृष्ठ ४-५)
(५) पाँचवीं कथा लोभी की। (पृष्ठ ५-६)
(६) छठी कथा धनलोभी बालक की। (पृष्ठ ६-७)
(७) सातवीं कथा विद्या-अभ्यास की। (पृष्ठ ७-९)
(८) आठवीं कथा कुवचन के शासन में। (पृष्ठ ९-१०)
(९) नवीं कथा असकती बालक की। (पृष्ठ १०-११)
(१०) दशवीं कथा विद्यावान् और मूरख की। (पृष्ठ ११-१२)
(११) ग्यारहवीं कथा एक बूढ़े और उसके दो लड़कों की। (पृष्ठ १२-१६)
(१२) बारहवीं कथा। (पृष्ठ १७-१९)
(१३) तेरहवीं कथा। (पृष्ठ १९-२२)
(१४) चौदहवीं कथा। (पृष्ठ २२-२४)
(१५) पंद्रहवीं कथा मुँह-पेट के रोग की। (पृष्ठ २४-२६)

उपर्युक्त कथाओं में प्रथम और अंतिम रचना-विशेष हैं। तथा तीन कहानियों के शीर्षक के नीचे प्रवाद दिये गये हैं, एवं उन प्रवादों को समझाने के लिए उन कहानियों की रचना की गई है। यथा:—

तीसरी कथा दालिद्री और मूरख की।

दालिद्री के सहज में लक्ष्मी मिलनी सम्भव है, पर मूरख के अचानक विद्यालाभ होना असम्भव।

..............कथा..............

दो कहानियों के अंत में उनका सार मिलता है; यथा:—

छठी कथा धनलोभी बालक की।

....

इसका फल यह है।

लड़कपन में धन का लोभ होने से विद्यालाभ नहीं होता।

तीन कहानियों के शीर्षक के नीचे प्रवाद तथा अन्त में उन कहानियों का सार लिखा हुआ है; यथा:—

चौथी कथा बंधुता की

सोने की परीक्षा आग से होती है।
और बंधुता की परीक्षा विपत्काल में।

....

इसका फल यह है।

सचमुच का बंधु न होने से वह किसी काम का नहीं पर सच बंधु केवल विपतकाल में जाना जाता है।

दृष्टान्तस्वरूप पाँचवीं कथा नीचे दी गई है:—

पाँचवीं कथा लोभी की

अति लोभ से सब खोया जाता है।

किसी प्रजा के उद्यान में एक उत्तम आत का पेड़ था, उसका मोल बाटी के और वृक्षों से अधिक था। वह प्रजा बरस बरस उसी पेड़ के आत राजा को देता, राजा उन फलों को बहुत चाहते थे॥ कुछ एक दिन पीछे उसने यह विचारा, जो इस पेड़ को यंहा से उठा ले जाकर अपने आराम में लगाने से उसके सब फल हमको मिलेंगे; इसलिए वहाँ से उठाने से वह पेड़ सूख गया; इसमें फल और वृक्ष दोनों का शेष भया।

इसका फल यह है॥

राजा ने लोभ औ अहंकार से प्रजा को फलदान के समर्थ से रहित करके, इस भाँत प्रजा की हिंसा की, इसी आप निराश हूए औ फल और वृक्ष भी नष्ट भये।

आलोच्य पुस्तक के प्रथम भाग में पूर्ण विराम (।) के स्थान पर प्रायः दो खड़ी लकीरें (॥) मिलती हैं तथा द्वितीय भाग में पूर्ण विराम के स्थल पर रोमन प्रथानुसार फुल-स्टाप (.) दिया हुआ है, किन्तु उर्दू नक़ल के अन्त में हिन्दी-विभागानुसार दो खड़ी लकीरें (॥) मिलती हैं।

आलोच्य पुस्तक में कुछ ऐसे शब्द मिलते हैं जो आधुनिक गद्यशैली में अप्रयुक्त हैं, यथा—

पाठशाला के स्थान पर 'पाठशाल'
ऐसे के स्थान पर 'एैसे'
(एक स्थल पर 'अैसा' मिलता है)
प्राचीन के स्थान पर 'प्राचनीन'
व्यवसाय के स्थान पर 'व्यवसा'
इच्छा के स्थान पर 'इछा' आदि

व्याकरण-सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ मिलती हैं; यथा—

(अ) मैं अपने भाई के साथ परामर्श करके आपको समाचार देंगे। (पृष्ठ ६)
(ब) साम्ग्री ढोना पड़ेगा।
(स) औ आप जैसा दुष्ट था वैसे ही और दो मनुष्य के साथ प्रीत की। (पृष्ठ १३) आदि।

पुस्तक में कुछ बँगला-शब्द भी मिलते हैं; यथा—

यात्रा के स्थान में 'जात्रा'
ताराचन्द के स्थान में 'ताराचाँद'
निंबू के स्थान में 'लेमू' आदि।

प्रथम भाग में संस्कृत के तत्सम या तद्भव शब्द ही मिलते हैं, परन्तु एक स्थल पर 'आवरदा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार उर्दू-विभाग में अरबी-फ़ारसी के शब्दों की अधिकता रहते हुए भी एक स्थल पर 'डरेल' (ड्रिल) शब्द कानों को कुछ खटकता है।

आलोच्य पुस्तक में कहीं कहीं उच्चारणानुसार शब्दों की मात्रा दी हुई है; यथा:—

पास्, उन्, उसको, चप्रासी, तरह, लपक्के आदि

इन सब त्रुटियों के अतिरिक्त कुछ अच्छे मुहावरे भी प्रयुक्त किये गये हैं, यथा:—

दुर्गति का पानी पिलाना (पृष्ठ १४) छाती पीटना (पृष्ठ २९) इत्यादि। साथ ही पुस्तक रचयिता की 'साहब-प्रीति' सराहनीय है; क्योंकि जहाँ कहीं किसी विचारशील मनुष्य की आवश्यकता पड़ी, आप साहब ने चट किसी साहब को ला उपस्थित किया। सम्भवतः उनके मतानुसार विचारशील एवं शिक्षित केवल साहब ही हो सकते थे, कोई भारतवासी पंडित नहीं।

ऊपर उर्दू-विभाग के विषय में कुछ कहा जा चुका है। इस विभाग में नौ नक़लें क्रमशः ये हैं—

(१) नक़ल १।/ बेनीसिंह की।/ (पृष्ठ २७-२८)
(२) नक़ल २।/ शिवसिंह की।/ (पृष्ठ २८-२९)
(३) नक़ल ३।/ कुत्ते और गोश्त की।/ (पृष्ठ २९)
(४) नक़ल ४।/ गधे बनमानुष और छुछुंदर की।/ (पृष्ठ ३०)
(५) नक़ल ५।/ चोर और कुत्ते की।/ पृष्ठ (३०)
(६) नक़ल ६।/ हरी और भवानी की।/ (पृष्ठ ३१-३२)
(७) नक़ल ७। (पृष्ठ ३३)
(८) नक़ल ८। (पृष्ठ ३३-३४)
(९) नक़ल ९। (पृष्ठ ३४)

इस विभाग में एक बड़ी खटकनेवाली भूल है, जिसमें रचयिता ने हिन्दुओं से भी खुदा कसम खिलाई है।

दृष्टान्तस्वरूप हिन्दी और उर्दूविभाग की दो रचनायें नीचे दी जाती हैं।

आठवीं कथा, कुवचन के शासन में।

जिसका सुभाव बुरा है वह दुरवचन कहता है, औ जिसका सुभाव भला है वह अच्छी बात कहता है।

इसका प्रमान यह है।

किसी राजपुत्र को एक कंगाल ने गाली दी थी, इसमें राजपुत्र रोते रोते राजा के निकट आय यह बोला, पिता! आज हम खेलने को गये थे, इसमें अमुक बालक ने जो उसके मुँह में आया हमें गालियाँ दीं; राजा ने यह बात सुन मन्त्रियों को बुलाकर पूछा मेरे लड़के को जिसने गालियाँ दी हैं, उसका दंड करना तुम लोगों के विचार में क्या उचित है? उन्हों में से एक ने कहा, इसे मार डालने की आज्ञा कीजे; किसी ने कहा उसे कारागार में बँध करने की आज्ञा कीजे, इसी भाँत वे सब कहने लगे, तब राजा ने अपने बेटे को बुलाकर कहा, मैं राजा हूँ सही, औ विचार करके इसका दंड कर सकता हूँ, पर इसमें कौन भला कौन बुरा सो जाना नहीं जाता; इसलिए जो तुम भला हुआ चाहो तो इसी समय से क्षमा करना सीखो, औ उसको क्षमा करो, तब राजपुत्र ने उसे क्षमा करके कहा, देखो मुझमें दंड करने की सकत रहते भी तुमको क्षमा किया, इस कारन तुम और किसी को गाली मत देना; और तुम्हें जो कोई गाली दे तो इसी भाँत उसको क्षमा करियो।

इसका फल यह है॥

लड़कों को बालपन से नीति सीखना उचित है।

नक़ल १।

बेनीसिंह की।

बेनीसिंह एक मुफ़लिस का बेटा था, उसके बाप ने उसे लिखना पढ़ना सिखलाया था, ताकि उसको फ़ायदा होवे; जब तक् बेनीसिंह छोटा लड़का था, अपने बाप के सब काम में मददगार था, और जब वह बड़ा हूआ, तब सिपाही हूआ, डरेल और क़वाइद में बहुत मजबूत और अपने सरदार के हुकम से बहुत् होशियार था, और अपने असबाब औ कपड़े को हमेश साफ् रखता था, इसलिये जल्द नाइक हूआ और कोत हवालदार बनाया गया, क्योंकि रास्तबाज़ था, खूब तरह लिखा पढ़ा जानता

था, होशियार और हिसाबी था, उसने कोत हवालदारी के काम से बहुत् रुपैया पैदा किया, और अपने ग़रीब मा बाप के वास्ते भेजता था, कि वे उस हालति ज़ईफ़ी में कुछ काम कर नहीं सकते थे; आर वेनीसिंह ग़रीब मुहताजों को दान ख़ैरात भी दिया करता था, और अपनी अगली मुफ़लिसी ग़रीबी को याद रखता था, इस वास्ते कि खुदा ने उस मुफ़लिसी की हालत में उसको बचाया था, बाद उसके सूबेदार हूआ, और उसके लड़के बाले हूए, सब नेक और भले थे, जो अपने मा बाप को पियार करते और उनका हुकम मानते थे, कैसा भला मगन आदमी बेनीसिंह था।

आलोच्य पुस्तक में कुछ त्रुटियाँ रहते हुए भी इसमें प्राचीन हिन्दी का कुछ दृष्टांत मिलता है। अन्त में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि ४००० छपी हुई पुस्तकों में केवल २८ पुस्तकें ≥) तीन आने मूल्य पर बिकी थीं, शेष वितरित की गई थीं।

अपने प्रश्नदाता से

लेखक, श्रीयुत शाखाल एम०, ए०

मेरी हर साँसों पर प्रियतम, जयगीत रूप के लिखता है।
हर आँसू-कन में उतर-उतर वह नया-नया-सा दिखता है!

तुम क्या जानो, मेरे भ्रममय
सुख में है कितना आकर्षण!
कण्टक में ही ऋतुराज यहाँ
जब उजड़ चुका सारा मधुवन;
तुम प्यास बिना कैसे जानो, मृगजल में क्या सुन्दरता है?
विरही-पंथी ही जान सका, श्रम-श्रान्ति क्षितिज क्यों हरता है?

तुमसे क्या हो समता मेरी
तुम विश्व-सखा, मैं बोराना;
तुम चाँद जगत है तारक-दल
तुम दीप जगत है परवाना;
मैं रवि-सा अग्नि-पथिक मुझको कब कोई संगी मिलता है?
पर सुख है सूनापन—जिसमें जल-जल कर जीवन पलता है!

हर साँझ व्यथा को साँसें ले
दिल-सा रहता है मौन गगन;
आँसू-सी चुप जग की आँखें
कुहरे-से नीरव क्षितिज-नयन,
सागर-तट आवाहन का जग उठ-उठकर मिटता रहता है!
नभ में मेरे प्रियतम का घर छवि-जल सागर में बहता है!

तूफ़ानी समय-सिन्धु, मेरा—
पथ पूछ रहा; किस ओर कहूँ!
लहरें बनतीं; लहरें मिटतीं;
किस एक लहर के संग बहूँ!
जब टूट चुकी अपनी तरणी हर ओर किनारा दिखता है!
जिस ओर घुमाता हूँ आँखें मुझको ध्रुवतारा दिखता है!
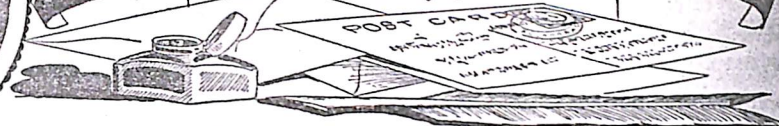
रायबरेली के प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी एडवोकेट पण्डित गुरुदयाल त्रिपाठी ने आचार्य द्विवेदी के कुछ पत्र छपने के लिए भेजे हैं। वे उनके वक्तव्य के साथ यहाँ छापे जाते हैं। आशा है, अन्य महानुभाव भी अपने पास के पत्र भेजने की कृपा करेंगे। काम हो जाने पर सब पत्र-प्रेषक महोदय के पास सुरक्षितरूप से लौटा दिये जायँगे। —सम्पादक

त्रिपाठी जी का वक्तव्य

द्विवेदी जी के प्रथम दर्शन मुझे सन् १९०१ में कानपुर में, जहाँ मैं वकालत करता था, 'कान्य-कुब्ज महती सभा' के प्रथम अधिवेशन में हुए थे। मैं स्वागतकारिणी समिति का सभापति था। जब द्विवेदी जी कानपुर आ गये तब तो अकसर भेंट हुआ करती थी। वे रायबरेली आने पर मेरे यहाँ ही ठहरा करते थे। एक बार जब आप ठहरे हुए थे तो इस प्रकार मुझे लिखने के लिए प्रोत्साहित किया, "जैसे आप बोलते हैं वैसा ही लिखा कीजिए। भाव होना चाहिए, लेख में भाव ही प्रधान होता है।" यह इसी कृपा का फल है कि 'कान्य-कुब्ज' तथा 'कान्य-कुब्ज-हितकारी' में मैं कुछ लिख सका।

सन् १९१३ में मैंने अपने वंश का इतिहास 'साँवले राम-वंश-चरित्र' उनके पास समालोचनार्थ भेजा। उसकी समालोचना 'सरस्वती' के भाग १४, खंड २, संख्या ४, पृष्ठ ५९९ में है। इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण में आपने रुग्ण होते हुए भी जो अनुपम सहायता दी वह वंश के लिए चिर-स्मरणीय रहेगी। आपने उसको आद्योपान्त पढ़ा तथा यत्र-तत्र भाषा में सुधार किया। उनकी सुधारी हुई वह पाण्डुलिपि मेरे पास सुरक्षित रखी है।

सन् १९३० से अब तक के उनके कुछ पत्र मेरे पास मौजूद हैं। उनमें से कुछ भेज रहा हूँ।

(१)

दौलतपुर, रायबरेली
१-१०-३०

श्रीयुत त्रिपाठी जी को प्रणाम

चन्द्रपालसिंह ने आपका पत्र दिया। आपने और पं० शिवगोविन्द ने बड़ी कृपा की जो बाग़ के मुक़द्दमे में पैरवी कर दी। मैं कहाँ तक आपका शुक्रिया अदा करूँ। मैं आमरण आपसे उऋण नहीं। कृपा करके डिप्टी साहब के हुक्म की नक़ल भिजवा दीजिए।

पर-सवर्ण का सवाल हिन्दी में उठाना अनुचित है। उसका ख़याल तो संस्कृत में भी लोग कम ही रखते हैं। आप ख़ुशी से अंत, दिसंबर, कर्म्मकांड आदि लिखिए। इस तरह की लिखावट सर्वथा शुद्ध है। नागरी-प्रचारिणी-सभा (काशी) वाले तो अनुस्वार ही से काम चलाते हैं। उनके उतने बड़े कोश में भी पर-सवर्ण का ख़याल नहीं रक्खा गया।

जिस वक़्त चन्द्रपाल चलने लगे मेरे पास एक भी रुपया न था। १) का नोट बतौर Curio या Curiosity के बक्स में रख छोड़ा था। लाचार वही भेज दिया। मैंने कहा, शायद ट्रेज़रीवाले ले लें। मगर Currency Office के सिवा शायद ही कोई उसे लेकर रुपया दे। आप उसे मेरी बेवकूफ़ी का चिह्न समझ कर पड़ा रहने दें। आज १) मनीआर्डर से भेजता हूँ। कोर्ट फ़ीस वग़ैरह की क़ीमत तो पं० शिवगोविन्द को न देनी पड़े। मैं उनसे और आपसे कभी उद्धार नहीं। मिहनताना देने या भेजने की तो हिम्मत ही नहीं होती। आपका म० प्र० द्विवेदी

(२)

दौलतपुर (रायबरेली)
२५-९-३१

सादर प्रणाम

२२ का पो० का० आज सुबह मिला। रायबहादुर दीवान साहब जो आज्ञा देंगे उसका तो पालन करना ही होगा। पर मेरी मन्दबुद्धि में यह आता है कि—

जिस पुस्तक में साँवले राम का वंश वर्णन हो उसमें उस वंशावली का हाल होना चाहिए। उनके वंशजों में से जिस किसी [illegible] और जितना सम्बन्ध कान्यकुब्ज-सभाओं से रहा हो, [illegible]ा हो, उतने का वर्णन आने में हर्ज नहीं। वह तो विषय के भीतर ही है। उससे अधिक अप्रासंगिक होगा। Relevancy और Irrelevancy पर आप अकसर ही अदालतों में बहस करते होंगे और मुझसे अधिक इस बात को समझते होंगे।

कान्यकुब्ज-सभाओं, पत्रों, लेखकों आदि पर यदि कुछ लिखना ही हो तो वह सब इतिहास के तौर पर अलग लिखा जाना चाहिए। यदि ऐसी कोई पुस्तक निकले तो बड़े महत्त्व की होगी।

कान्यकुब्जलीलामृतम् की कोई कापी मेरे पास नहीं। वह मेरी सुमन नामक पुस्तक में छपा है। आज मैंने साहित्य-प्रेस, चिरगाँव, (झाँसी) को लिखा है कि उसकी एक कापी आपको रजिस्टरी करके भेज दी जाय।

मैं किसी तरह जी रहा हूँ और आप लोगों की शुभचिन्तना किया करता हूँ।

कृपाकांक्षी म० प्र० द्विवेदी

(३)

भाई साहब,

आपके डर के मारे दोनों कापियाँ मैंने साद्यन्त पढ़ डालीं। भाषा में सर्वत्र संशोधन कर दिया है। माफ़ कीजिएगा। ऐसे ही छपने भेज दीजिएगा। प्रेसवाले संशोधन आसानी से पढ़ लेंगे। पर पहले आप दोनों कापियाँ देख जाइएगा। ऐसा न हो, संशोधनों से कहीं आपका मतलब ख़ब्त हो गया हो। एक जगह मैंने कुछ बढ़ाया है। व्यर्थ हो तो काट दीजिएगा। दो तीन जगह हाशिये पर कुछ लिख दिया है। एक जगह आपको मुजरिम भी करार दिया है—एक के रहते दूसरी पत्नी करने पर। गुस्ताख़ी शायद ही आप माफ़ करें।

आपने अच्छी पुस्तक लिखी। आपके वंशजों के बड़े काम की है। और लोग भी इससे सबक़ सीख सकेंगे। एक मैं आलसी क्या उल्लू हूँ जो रुपयों की थैलियों का लोभ दिलाये जाने पर भी अपना कुछ भी हाल नहीं लिख सका।

कापियों की पहुँच लिख भेजिएगा।

म० प्र० द्विवेदी
१४।१।३३

(४)

दौलतपुर (रायबरेली)
१३ अगस्त ३४

श्रीमान् त्रिपाठी जी को सादर प्रणाम

बड़े असमंजस में पड़कर आज आपको कुछ कष्ट देने पर उतारू हो गया हूँ।

रायबरेली में श्रीमान् शिवशङ्कर जी त्रिपाठी नाम के कोई वकील—शायद एडवोकेट—हैं। आपके वंशज नहीं तो आपके फ़िरक़े ही के ज़रूर होंगे। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की चेयरमैनी का भारी बोझ आज-कल उन्हीं के दोनों कन्धों पर है। मेरी तरफ़ से हाथ जोड़कर मेरी एक प्रार्थना उन तक पहुँचाइए और अपनी तरफ़ से उसकी मंज़ूरी के लिए उनसे सिफ़ारिश भी कीजिए।

यहाँ दूर दूर तक न तो कोई अस्पताल या दवाख़ाना है और न औषधालय। वैद्य एक आध दूर दूर के मौज़ों में हैं। पर चतुरी चमार और प्रेमा पासी को मुफ़्त दवा देनेवाले नहीं। मैंने अपने ख़र्च से कुछ आयुर्वेदिक और कुछ ऐलोपैथिक पेटेंट दवायें मँगा रक्खी हैं। भानजा मेरा होमियोपाथिक बक्स लिये बैठा रहता है। मगर मैं एक मामूली गृहस्थ हूँ। यह सब ख़र्च नहीं उठा सकता। दिन में दस पाँच मरीज़ घेरे ही रहते हैं। ग़रीबों का दुख-दर्द नहीं देखा जाता।

यहाँ तक लिख चुकने पर लोकई चमार की दुलहिन सिर पीटते आई। उसका १४ वर्ष का लड़का बीमार है। हैज़े के जैसे दस्त आ रहे हैं। उसे अर्क कपूर दिया। न फ़ायदा होगा तो क्लोरोडिन दूँगा।

तीन वर्ष से बोर्ड को लिख रहा हूँ कि यहाँ एक वैद्य

भेजकर औषधालय खोल दो। पहले तो बोर्ड ने ऊल-जलूल एतराज़ किये। फिर मंज़ूरी दे दी। लिखा कि कहीं का औषधालय बन्द करके यहाँ खोल दिया जायगा। तब तक बोर्ड पर सरकार ने कब्ज़ा कर लिया। अब जो फिर हम लोगों की अमलदारी हुई तो कोई चिट्ठी का जवाब तक नहीं देता।

राजा साहब शिवगढ़ की मुझ पर कृपा है। वे दौलतपुर आनेवाले भी थे। पर मैं उन दिनों बीमार था। उन्होंने अपने सिर पर, ख़ुद ही लाई हुई, बला पूर्व निर्दिष्ट त्रिपाठी जी पर पटक दी है। बाबू सीतलासहाय की मारफ़त राजा साहब से सिफ़ारिश कराई तो त्रिपाठी जी हीले-हवाले कर रहे हैं। कहते हैं बजट में गुंजायश नहीं, पहले से क्यों नहीं कहा! जैसे बोर्ड के दफ़्तर के काग़ज़ात नष्ट हो गये हों! प्रार्थना कीजिए कि किसी और मद में ढाई तीन सौ की बचत निकाल लें, या ख़ासतौर से मंज़ूरी माँगें, या बजट से ज़ायद ख़र्च हो जाय तो Supplementary बजट पेश करें। करने और देने के हज़ार तरीक़े हैं। इस तरफ़ के देहाती सिर्फ़ बोर्ड के स्कूलों से ही फ़ायदा उठाते हैं। हम लोगों से अब Tax भी ज़्यादा लिया जाता है। हम लोगों के लिए दवा-दारू का भी तो कुछ प्रबन्ध करना चाहिए।

आपके भाई साहब या आपके अन्य मित्र जो बोर्ड के मेम्बर हों उनसे भी कहिए, कुछ मदद करें। मुझे तो विश्वास है कि आपकी सिफ़ारिश से चेयरमैन त्रिपाठी जी का हृदय ज़रूर पसीज उठेगा और वे मेरा मनोरथ सफल करके यहाँ के दीन-दुखियों के आशीर्वाद का पुण्य प्राप्त कर सकेंगे। उन्हें महाभारत के इस श्लोक की याद दिलाइएगा—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापवर्गकम्।
कामये तापतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

कृपापात्र
महावीरप्रसाद द्विवेदी

(५)

दौलतपुर (रायबरेली)
१०-६-३४

श्रीमान् त्रिपाठी जी को प्रणाम!

८ जून का पो० का० मिला। यह जानकर मुझे परमानन्द हुआ कि आपकी पुत्री का विवाह अच्छी तरह सम्पन्न हो गया। बाराती सब प्रसन्न रहे, यह आपकी कार्य-कुशलता और उदारता का फल है। दूरस्थ लोग भी जब आप जैसे सज्जन और उदारचेता से प्रसन्न रहते हैं तब आपके निकटस्थ सम्बन्धी क्यों न प्रसन्न रहें।

आपका मन अब भगवद्भजन की ओर झुक रहा है, यह बड़े ही हर्ष की बात है। भगवद्गीता तो ज्ञानियों के लिए है। हम जैसे मूढ़ों और माया में लिप्तों के लिए तो विनयपत्रिका और रामायण ही सर्वोपरि है। बड़े अच्छे पद का उल्लेख आपने किया। उसके सिवा मैं तो 'मैं हरि पतित-पावन सुने' और रामायण का अन्तिम छन्द—मो सम दीन न दीनहित तुम समान रघुबीर—पढ़ पढ़कर रोया करता हूँ।

कृपा बनी रहे।

प्रणत,
म० प्र० द्विवेदी

(६)

दौलतपुर (रायबरेली)
७-११-३४

श्रीमान् त्रिपाठी जी को बहुशः प्रणाम

कल सुबह एक पोस्टकार्ड मैं आपको भेज चुका हूँ। कल ही शाम की डाक से ३ ता० का आपका कार्ड मिला। अनेक धन्यवाद।

कल्याणमस्तु भवतां हरिभक्तिरस्तु

अब जो काम शेष रह गया है उसे भी कृपापूर्वक सिद्ध करा दीजिए। अन्यत्र यदि कम्पौंडर रहता हो तो वह भी दिया जाय। सबके लिए रहने की जगह बनी बनाई तैयार है। मेरे संग्रह में आयुर्वेद की ढेरों पुस्तकें हैं। डाक्टरी और होमियोपैथी की भी हैं। जो कोई भेजा जाय अनुभवी और संस्कृतज्ञ हो। उसे यहाँ अपनी विद्या और चिकित्सा कौशल की उन्नति के लिए यथेष्ट सामग्री है। यहाँ दूर दूर तक चिकित्सा का प्रबन्ध नहीं। मेरा भानजा दिन भर दीन दुखियों को होमियोपैथी दवायें बाँटा करता है। मेरे पास भी आयुर्वेदिक और कुछ पेटेंट दवायें हैं। उनका उपयोग मैं भी औरों के लिए करता हूँ।

आपकी कृपा के लिए पुनरपि धन्यवाद।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

(७)

दौलतपुर (रायबरेली)
२३–१–३५

श्रीयुत त्रिपाठी जी को सादर प्रणाम

२० जनवरी का कृपापत्र मिला। संघ के विस्तृत समाचार के लिए धन्यवाद। इधर दो तीन महीने में कहीं बाहर जाने योग्य नहीं। आगे आप जो आज्ञा देंगे करूँगा। आँखों में मेरी मोतियाबिन्द शुरू हो गया है।

अपनी तन्दुरुस्ती का क्या हाल लिखूँ। शरीर किसी तरह लस्टम पस्टम चला जाता है, पं० प्रतापनारायण की एक लाइन है—

छिन मां चटक छिनै मां अनकान
जस बुझात खन होय दिया

बस मैं इसी का उदाहरण हो रहा हूँ।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के अकौंटेंट पं० चन्द्रशेखर जी मिश्र के पत्र से मालूम हुआ कि Supplementary Budget मंज़ूर हो गया। कृपापूर्वक अपने मित्रों पर ज़ोर डालकर अब यहाँ औषधालय खुलवा दीजिए। चेयरमैन साहब से भी मैंने प्रार्थना कर दी है।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

(८)

दौलतपुर (रायबरेली)
४–३–३५

श्रीमान् तिवारी जी को सादर प्रणाम

कृपापत्र मिला। रायगढ़ रियासत के दीवान पं० बलदेवप्रसाद मिश्र मेरे मित्र हैं। उनकी चिट्ठी का जवाब मैं परसों ही दे चुका हूँ। विषय वही था जो आपने लिखा है।

भाई साहब, मेरे ये दिन राम राम रटने के हैं। मेले ठेले और सम्मेलन में जाने के नहीं। चल फिर कम सकता हूँ। दूर की चीज़ नहीं देख पड़ती। एक कार्ड लिखने में भी तकलीफ़ होती है। Medinel नाम की एक विषाक्त दवा खाने से रात को कुछ नींद आती है। रात में चारपाई पर पड़े ही पड़े हाजतें रफ़ा करनी पड़ती हैं। इस दशा में मैं कहीं बाहर जाने लायक़ नहीं। पं० रामनारायण और उनके मित्र मुझे माफ़ करें। सभापति बनकर कुछ काम करना चाहिए। साल भर तक उसे देखभाल भी करनी पड़ती है। क्या यह सब मैं कर सकता हूँ? दिखावा मुझे पसन्द नहीं।

कृपैषी
म० प्र० द्विवेदी

(९)

दौलतपुर (रायबरेली)
२०–४–३५

श्रीमान् त्रिपाठी जी को प्रणाम

पोस्टकार्ड मिला। कृतज्ञ हुआ। आपके यहाँ तो इस साल कई विवाह हो रहे हैं। पुरानी बेढंगी रस्मों से ज़रा बचिएगा।

परमात्मा करे, लड़का बी० ए० में नामवरी के साथ पास हो जाय।

बहुत अच्छा, आप मँडला जाइए। अच्छी जगह है। बर्तनों के लिए मशहूर है। पं० शिवगोविंद से कह दीजिएगा, अगर मैं रायबरेली जाऊँ तो मुझे कहीं एकान्त में पड़ा रहने दें और मेरी देख रेख रक्खें। अन्न मुझे बहुत कम हज़म होता है! दूध और ख़रबूज़े वग़ैरह खाकर एक दिन काट दूँगा। नींद नहीं आती। कमज़ोरी बहुत है। कभी कभी मूर्च्छा भी आ जाती है।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

(१०)

दौलतपुर (रायबरेली)
७–५–३५

श्रीमान् तिवारी जी को सादर प्रणाम

इलाहाबाद से भेजा गया पत्र मिला। लड़का B.Sc. पास हो गया, यह सुनकर मुझे परमानन्द हुआ। मैं लड़के से प्रत्यक्ष परिचित हूँ। बड़े योग्य हैं। उन्हें I.c.s. के लिए तैयार कीजिए।

पं० काशीप्रसाद पाठक अगर वही हैं जिनका सम्बन्ध किसी समय कान्यकुब्ज बैंक से था तो मैं उन्हें जानता हूँ। बड़े सज्जन हैं। आशा है, आप उनसे सन्तुष्ट लौटेंगे। आप तो ग़ज़ब कर रहे हैं। जहाँ खोर के पाँड़ों की लड़कियाँ ले आते हैं वहाँ पाठकों को भी पवित्र करते हैं। मैं आपके विचार और व्यवहार से बहुत ख़ुश हूँ। मैं तो एकदम सुधारवादी हूँ। परसू के मिश्रों को भानजी

देकर लखनऊ के वाजपेयियों से मैंने रिश्ता जोड़ा। फिर मकरन्द के शुक्लों के यहाँ दो भानजियाँ दीं। कुलीनता-अकुलीनता की ज़रा भी परवा नहीं की।

एक बात में शायद मैं आपसे भी आगे हूँ। आपने इन दो विवाहों में लड़कियों को देख लिया था या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मैंने तो जब अपने भानजे की शादी इलाहाबाद में प० कालिकाप्रसाद दुबे की लड़की से करना तय किया तब वहाँ गया। लड़की की परीक्षा ली—पढ़ने लिखने ही की नहीं, घर-गृहस्थी और स्वयंपाक की भी। वह पास हो गई। तब शादी की। वही आजकल मेरे घर की लक्ष्मी है। मिडिल पास है। संस्कृत भी कुछ जानती है।

आप अब मेरी भी कुछ सहायता कीजिएगा। भानजे की लड़की मनोरमा इलाहाबाद में पढ़ती है। छठे दरजे में है। उसकी पढ़ाई में मुझे कोई २०) महीने ख़र्च पड़ता है। स्वस्थ और स्वरूप है। १२ वर्ष की होने आई। उसके लिए कोई योग्य वर ढूँढ़ देने में मैं आपकी मदद चाहता हूँ। देख रखिए। दो तीन वर्ष बाद शादी करूँगा।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

(११)

दौलतपुर (रायबरेली)
२६–१–३६

श्रीमान् तिवारी जी को प्रणाम!

पोस्टकार्ड मिला। वंशवर्णन की २ कापियाँ भी पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। यह संस्करण बहुत ही अच्छा निकला। आपकी यह पुस्तक आदर्श का काम दे सकती है। और भी कुछ समर्थ सज्जन यदि अपने अपने वंश का वर्णन लिख डालें तो कान्यकुब्जों का पूरा इतिहास हो जाय। इस पुस्तक की एक एक कापी इन लोगों को भेजिए—

१—पं० देवीदत्त शुक्ल, सम्पादक सरस्वती, प्रयाग
२—पं० रमाशंकर अवस्थी, सम्पादक वर्तमान, कानपुर
३—प्रोफ़ेसर सद्गुरुशरण अवस्थी, सनातनधर्म कालेज, कानपुर
४—पं० देवीप्रसाद शुक्ल, हिन्दू-होस्टल, प्रयाग

कृपा बनी रहे। पं० चतुर्वेदी S. D. O. इस तरफ़ दौरे पर हैं। भोजपुर आये तो दर्शन करूँगा।

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी

(१२)

दौलतपुर (रायबरेली)
२४–१०–३८

श्रीमान् तिवारी जी को सादर प्रणाम

२२ तारीख़ का पत्र मिला। यह सब आप लोगों की और डाक्टर साहब की कृपा का फल है जो मेरी बात रह गई। मैं आपका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। मुझ पर आपकी सदा ही कृपा रही है। वैसी ही बनी रहे, यही प्रार्थना है। पं० शिवगोविंद को मेरा आशीर्वाद—चिरञ्जीवी भूयात्।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी
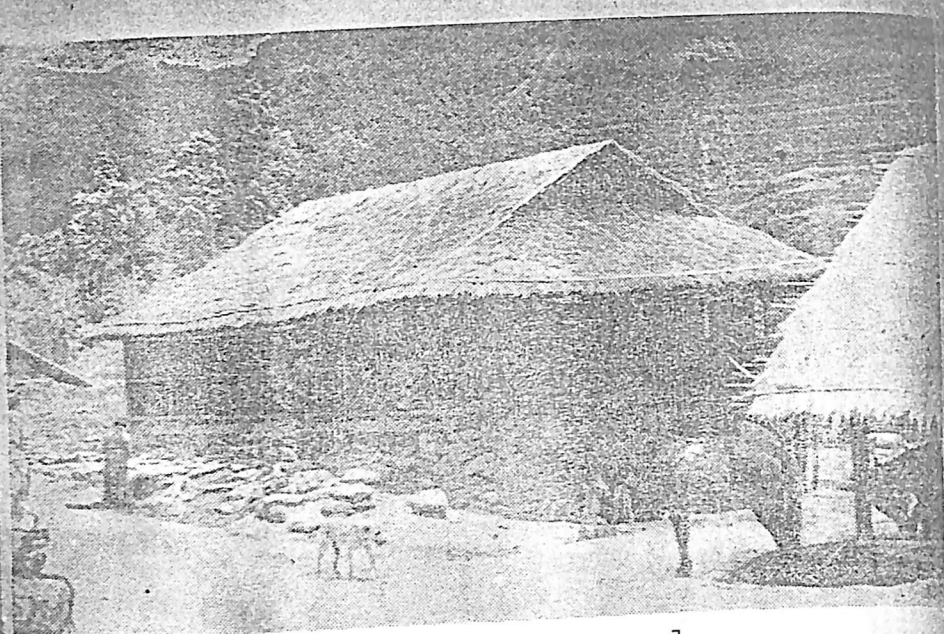
[तिब्बत के मार्ग पर पेडांग नाम का पहला पड़ाव]

मैं तिब्बत कैसे पहुँचा ?

लेखक, श्रीयुत फेनी मुकर्जी, कलाकार, ए० सी० ए०; आई० ए० एस०

(२)

पेडांग की सराय के सामने मांस की एक दूकान थी, जिसमें बड़े जानवर के मांस के बड़े-बड़े टुकड़े लटक रहे थे। मुझसे राय ली गई कि अगर ताज़ा मांस खाना चाहते हो तो ले सकते हो। कट्टर होने से मेरे दिल ने साथ नहीं दिया और हद से ज़्यादा बुरी बदबू-वाले भेड़ के सूखे मांस को ही खाना मैंने पसन्द किया। इसे हम लोग कलिम्पोंग से अपने साथ लेते गये थे। सराय के पास ही अँगरेज़ों के लिए डाक-बँगला बना हुआ है। इस तरह के डाक-बँगले ग्यानची तक बराबर मिलते हैं।

सराय लकड़ो की बनी थी। हम लोग दोमंज़िले वाले भाग में ठहराये गये थे। कमरा धुँए से काला हो गया था। उसके भीतर अँधियारा इतना अधिक था कि हम भीतर घुसते समय सराय की मालकिन से टकरा गये। वह वहाँ हम लोगों का स्वागत करने को खड़ी थी। अतएव बरामदे में ही रहना अच्छा समझा गया और वहीं हम लोगों ने रात बिताई। बराबर में एक तिब्बती सौदागर साहब बैठे सूखे बकरे को चाक़ू से काट-काट कर चाय में तर करते हुए खा रहे थे, माना ब्रिटेनिया के बिस्कुट हों।

हमने भी किसी तरह सूखा मांस, चावल और गरम-गरम सोडा पड़ी चाय पीकर पेट भर लिया। फिर सन्ध्या होने की प्रतीक्षा करने लगे। पर दिल बहुत घबरा उठा। अतएव सैर करने को बाहर निकल गये। रास्ता बहुत सुहावना था। पहाड़ी रास्तों पर घूमता हुआ मैं एक झरने के क़रीब जा बैठा। इतने में देखा कि एक छोटी-सी लड़की जो मेरे अन्दाज़ से ७ या ८ साल से ज़्यादा

[पुनश्री नाम का हमारे साथ का तिब्बती नौकर]

की न थी, पीठ पर लकड़ी की एक बहुत बड़ी बालटी लटकाये दौड़ी चली आ रही है। वहाँ आकर वह झरने से पानी भरने लगी। मुझको सिगरेट पीते देखकर उतर-कर वह मेरे पास आई और अपनी भाषा में सिगरेट माँगने लगी। उसकी भाषा हिन्दुस्तानी से मिलती-जुलती थी। मैं इस बात से हैरान था कि इतनी छोटी लड़की उस बड़े बर्तन को भरकर कैसे ले जायगी, क्योंकि अँधेरा भी होता जा रहा था और वह अकेली थी। और ज़्यादा हैरान इस बात से हुआ कि जिस जगह सिगरेट पाना सबसे ज़्यादा पाप है, वहाँ एक लड़की एक अजनबी से बेतकल्लुफ़ी से पास खड़ी होकर सिगरेट कैसे माँग रही है। इसी बीच में एक और आवाज़ सुनाई पड़ी। घूमकर देखा कि एक लड़का जो मेरे अंदाज़ से क़रीब १२ या १३ साल का था, पहाड़ से उतरता हुआ चला आ रहा है। उसकी आवाज़ को सुनकर वह लड़की भागी और उस लड़के से जा मिली। अब दोनों साथ-साथ मेरे पास आये और लड़का मुझसे सिगरेट माँगने लगा। मैंने पूछा—क्या तुम सिगरेट पीते हो? उसके जवाब से मैं ताड़ गया कि वह सिगरेट पीने का आदी है। मैंने उसको एक सिगरेट दे दी। लड़की ने भी हाथ बढ़ाया तब मैंने एक पैसा निकाल कर उसे दे दिया। वे दोनों सूरत-शकल से भाई-बहन मालूम पड़ते थे। पूछने पर मालूम हुआ कि वे पास ही रहते हैं, उनके मा-बाप जीवित हैं। उन्होंने यह भी बताया कि उनके घर खेती नहीं होती, बल्कि गाय-बैल पाले जाते हैं और वे भूटान के रहनेवाले हैं एवं उनको वही मुल्क बहुत पसन्द है। देखते-देखते शाम हो आई। मैं भी उठकर चल पड़ा। वह लड़की भी पानी से भरी हुई बालटी उठाकर गाना गाती हुई चल पड़ी और वह लड़का भी उसके साथ हो गया। राहुल जी से बाद को मालूम हुआ कि जिस लड़की को मैंने क़रीब ८ साल की समझा था वह १४ से कम की न थी और वह लड़का १६ या १७ साल का था।

रात में आँधी आई और ज़ोरों से पानी बरसा। बरामदे में ख़ूब छींटें आने लगीं, पर थकावट इतनी ज़्यादा थी कि आँख ही न खुली। सुबह ४ भी न बजने पाये थे कि ख़च्चरवालों ने शोर मचाना शुरू कर दिया। हम लोग भी उठ पड़े। चाय पीकर सारा सामान ख़च्चरों पर लदवा दिया। हम लोग भी अपने ख़च्चरों पर सवार होकर चल दिये। वहाँ ५॥ बजे ऐसा मालूम होता था, जैसा कलकत्ते में ८ बजने पर मालूम होता है। रास्ता बहुत ही सुखद था। लगातार उतराई से उतरते जा रहे थे। रास्ते में बहुत से फ़ोटो लिये। उस उतराई में हम लोगों को पैदल चलना पड़ा। पेडांग में रहने का किराया और लकड़ी का ख़र्च हम लोगों को ॥)॥ देना पड़ा। ११ बजे के क़रीब हम लोग एक जगह पर आ पहुँचे। इस जगह का नाम चैंग-थावा है। यहाँ अण्डे, केला और चाय का नाश्ता किया। इस वक़्त भी खाने-पीने का ख़र्च नौकरों के सहित ॥) देना पड़ा। यह रास्ता सिकिम की सीमा से जाता है। इसलिए हम लोगों के पासपोर्ट देखे गये और हस्ताक्षर लिये गये। मैं तो पहले ही लिख चुका हूँ कि इधर की पुलिस का कुछ
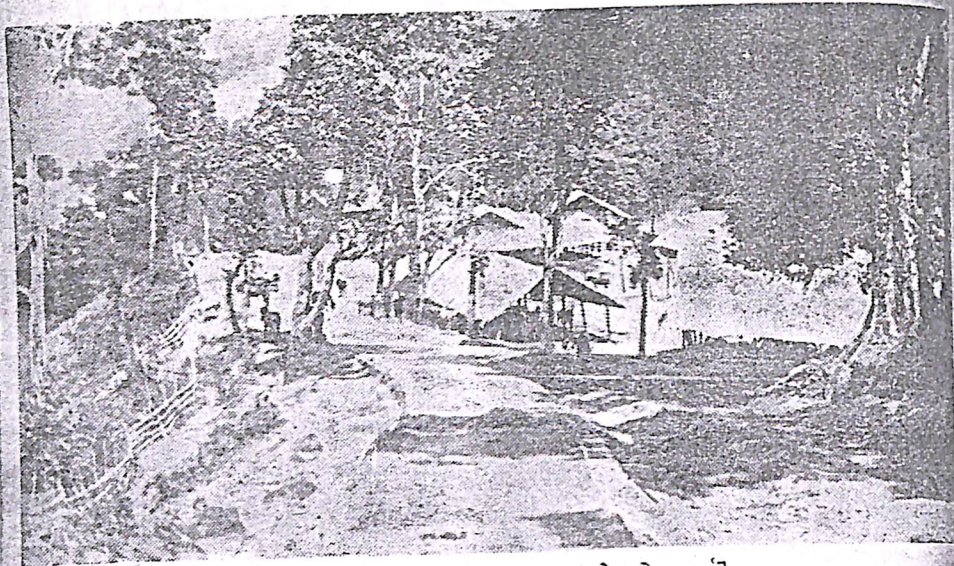
[सिक्कम से होकर जानेवाला तिब्बत का टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग]

और ही ढङ्ग है। पुलिसवालों ने हमको आगे जाने से रोक दिया। वे हमें इस ढङ्ग से देखने लगे, मानों हम लोग कोई बहुत बड़े अपराधी हों। हमारे साथी राहुल जी उनके बर्ताव को न सह सके और क्रोध में आकर उनसे भिड़ने को तैयार हो गये। मैंने उन्हें रोका और समझाया कि इस समय हमें बुद्धि से काम लेना चाहिए और क्रोध नहीं करना चाहिए। आख़िर उनसे बातचीत शुरू की। उनके प्रश्न इतने बेतुके थे कि सुनकर हँसी आ जाती थी, जिससे उनका सन्देह राहगीर पर और ज़्यादा होता जाता था। उनका एक यह प्रश्न भी था कि आप हिन्दुस्तानी हैं या अँगरेज़। मैंने हँसी रोक कर जवाब में कहा कि तुमको क्या जान पड़ता है। एक पुलिसवाला झट बोल उठा कि अँगरेज़। अब बिना हँसे न रह सका। लेकिन मैंने गम्भीरता धारण कर उत्तर दिया कि मैं बंगाली हूँ और बिहार-गवर्नमेंट की ओर से तिब्बत जा रहा हूँ। गवर्नमेंट का नाम सुनकर वे कुछ शान्त हुए और एक रजिस्टर उठा लाये, जिसमें बहुत से कालम बने हुए थे। उन सारे कालमों को क्रम से भरकर हम लोगों ने हस्ताक्षर किये। मेरी उम्र २८ साल लिखी देखकर वे कुछ हैरानी से मेरी ओर देखने लगे। पूछने पर मालूम हुआ कि उनके अन्दाज़ से मैं ४० साल से कम नहीं हूँ। आख़िर उनको चुप देखकर हम लोग आगे चले।

यात्रा-मार्ग का दृश्य बहुत ही सुहावना था। सारा दिन ख़ुशी-ख़ुशी यात्रा करते हुए हम लोग शाम के क़रीब १२ मील की दूरी तय करके 'रीनक ला खंग' जिसका अर्थ है 'रीनक भगवान् का मन्दिर', नामक सराय में जाकर ठहरे। यहाँ भी पूर्ववत् सूखा मांस, चावल तथा नमकीन चाय से पेट भरकर अधीरता से रात की प्रतीक्षा करते रहे, और फिर सारी रात सोकर बेख़बरी से बिता दी। सबेरे रहने का किराया और लकड़ी का ख़र्च ६ आना देकर ५ बजे के क़रीब फिर चल पड़े।

यह रास्ता और भी ज़्यादा सुन्दर था जो चुम्बी नदी के साथ साथ गया था। कभी नदी से ५०० फ़ुट की ऊँचाई पर चढ़ता था और फिर धीरे-धीरे उतर कर नदी के बराबर में आ जाता था। जगह-जगह पहाड़ी झरनों और पगडंडियों ने उसे तोड़ फोड़ दिया था, जिससे पैदल
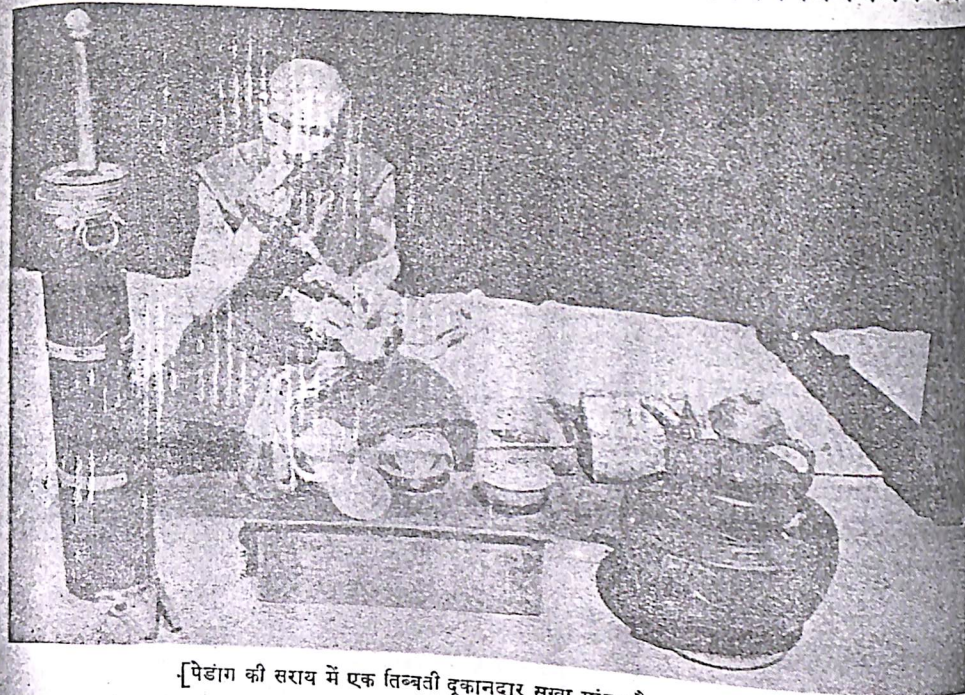
[पेडांग की सराय में एक तिब्बती दूकानदार सूखा मांस और सत्तू खा रहा है।]

चलना पड़ा। आसपास का जंगल बाँस से भरा हुआ था। ये बाँस मामूली बाँस से १० गुना लम्बे और बहुत मोटे थे।

एकाएक तुरही की एक तेज़ आवाज़ ने जंगल को गुंजा दिया, जिससे मेरा दिल हिल उठा। वह आवाज़ जंगली लय में थी, लेकिन तो भी दिल ने कहा कि है तो बाजे की ही आवाज़। अधीरता से आगे बढ़ा, देखा कि सुनसान रास्ते के बग़ल में एक छोटा सा गाँव है। गाँव के कुछ आदमियों का एक जलूस जा रहा था, जिसके आगे एक आदमी तुरही लिये फूँक रहा था और उसके पीछे दो तीन मर्द और पाँच सात औरतें तथा बच्चे थे। सबों के सिर और हाथों पर थालियाँ आदि थीं, जो रंग-बिरंगे कपड़ों से ढकी हुई थीं। चाल-ढाल से मालूम हुआ है कि विवाह की कोई रस्म हो रही है। लेकिन यह नहीं मालूम पड़ा कि ये लोग बेटेवाले हैं या बेटीवाले।

हमें वे नेपाली जान पड़े। आज भी ख़ुशी-ख़ुशी क़रीब ७ मील का सफ़र तय कर हम लोग रंगलीचूखा के क़रीब ११ बजे पहुँच गये। यहाँ पहाड़ियों को संयुक्त-प्रान्त के लोगों की कुछ दूकानें हैं। उन दूकानदारों में से एक राहुल जी को पहचानता था।

उसने हम लोगों को रोक लिया और खाना खाने को बाध्य किया। हम लोग कुछ देर के लिए वहाँ ठहर गये और हाथ-मुँह धोने के बाद चावल, आलू का साग और दाल का पानी पिया। नीबू के अचार और पान ने हिन्दुस्तान की याद दिला दी। दो-चार चीज़ें ख़रीदने के बाद हम लोग फिर चल पड़े। पास ही के कमरे से पैर की आहट सुनाई दी। घूमकर देखा, एक सुन्दर स्त्री बड़ी उत्सुकता से हम लोगों की ओर देख रही है। वह सजावट और रूप-रेखा से पहाड़िन जान पड़ी।

१२ बजे के क़रीब हम लोग आगे बढ़े। राह में

[कुछ सिकमी बच्चे]

एक स्कूल देखा, जिसमें नैपाली बच्चे थे। रास्ता और भी सुन्दर मिला। जगह-बजगह झरने और पुल थे। अति उच्च नीले-नीले पहाड़ों की जड़ से रास्ता इस तरह घूमने लगा, मानों किसी प्राकृतिक बाग़ में हम लोग सैर कर रहे हों। झरनों की गरज और पक्षियों की चहचहाहट ने दिल को बाग़बाग़ कर दिया। हम आज की यात्रा को 'यात्रा' इसलिए नहीं कह सकते कि यह एक बहुत ही मज़ेदार 'सैर' थी। इस प्रकार आज हम लोगों ने 'सैर' करते हुए क़रीब १४ मील की दूरी तय कर डाली। शाम को क़रीब देखकर लिग्टम गाँव की एक सराय में जाकर ठहर गये। वहाँ जाते ही मालूम हुआ कि ८ या ९ आदमियों का एक दल तिब्बत जा रहा है और उसको ब्रिटिश पुलिस ने रोक लिया है, क्योंकि उस दल में २ चीनी और बाक़ी भोटिया हैं। उस दल का सरदार एक भोटिया लामा था। वह बहुत ही बुद्धिमान् था। उसने पुलिस के हस्तक्षेप के बारे में हिन्दुस्तान को तुरन्त तार दिया। इस ख़बर से गाँव में बड़ी सनसनी फैली हुई थी। हमारे राहुल जी और गेशेला साहब भी इस मामले में बड़ी दिलचस्पी लेने लगे। और पुलिस के आदमी को उनका पासपोर्ट पढ़कर सुनाया और बतलाया कि वे लोग तिब्बत जा सकते हैं। लेकिन यहाँ की पुलिस के बारे में मैं पहले ही बतला चुका हूँ। इसलिए इस सम्बन्ध में हम लोगों का कोई असर न हुआ। आख़िर दूसरे दिन सुबह को हिन्दुस्तान से तार का जवाब आया कि उन लोगों को जाने दो। पुलिस की ऐसी कुछ बातों को देखकर हँसी आती थी। दूसरे दिन ७ मई की सुबह को ॥-)॥ किराया और लकड़ी का दाम देकर हम लोग फिर आगे बढ़े। जंगल को घूम-घाम कर क़रीब ८ या ९ मील का सफ़र तय करने के बाद हम लोग एक बहुत सुन्दर गाँव फैदम चान में जा पहुँचे। उस समय कोई ११ बजे थे। हम लोग सराय में गये और हम तीनों आदमियों और नौकरों ने नमकीन चाय और कुछ खाना खाया। कुल ख़र्च ।=) हुआ। खाने में १ दर्जन अंडे भी मिले थे। यहाँ की इन सरायों में बड़ा आराम मिलता है। सरायों की मालकिन एक स्त्री होती है और वह और उसकी नौकरानी जो उसकी सहेली मालूम पड़ती है, बहुत ही दयालु प्रकृति की होती हैं। यात्री के पहुँचते ही ख़च्चरों को पकड़ लेती हैं और बड़े आदर से यात्री को उतार लेती हैं। हर समय आज्ञा पालन करने को तैयार रहती हैं और यात्री को किसी तरह की तकलीफ़ नहीं होने देतीं। बातचीत में और बर्ताव में बहुत सरल और विनम्र होती हैं। चलते समय अपने वाजिबी पैसे लेकर ख़ुश हो जाती हैं और बहुत ग़रीब होते हुए भी यात्री को बख़्शीश माँग कर तंग नहीं करती हैं।

यहाँ से आगे बढ़ने पर ग़ज़ब की चढ़ाई शुरू हुई। रास्ता भी पतला था। अपने ख़च्चरों को क़ाबू में करने के लिए उसकी पीठ पर बैठकर चलते-चलते क़रीबवा[ली]

[चम्बी नदी]

टहनियों को तोड़ना चाहा, पर वे इतनी मज़बूत निकलीं कि नहीं टूटीं और हाथ से टहनी फिसल जाने से दाहने हाथ की अँगुली बुरी तरह कट गई। घाव को रूमाल से ख़ूब कस कर बाँध दिया, लेकिन जलन और लगातार ख़ून के निकलने की वजह से उतर कर मलहम-पट्टी की। दो ही क़दम आगे बढ़े होंगे कि घुमाव पर आकर ख़च्चर बिदक गया। उसको १ हज़ार फ़ुट की निचाई में जाते देखकर मेरी देह में पसीना आ गया, लेकिन जहाँ मनुष्य की बुद्धि काम नहीं करती, वहाँ ये ख़च्चर बड़े विचित्र ढंग से जोखिम को बचा जाते हैं। थोड़ी ही दूर आगे बढ़े होंगे कि देखा ख़च्चरों की एक बड़ी लम्बी पंक्ति नीचे उतर रही है। यह चढ़ाई बहुत ही सीधी थी और रास्ता भी बहुत ही तंग था। उतरते हुए ख़च्चर ज़्यादा ढाल के होने से अपने को रोक नहीं सकते थे, इसलिए हम लोग रुक गये। हमारा दल भी ४० ख़च्चरों के साथ चढ़ रहा था। उनमें से एक ख़च्चर बड़ी अधीरता से ऊपर चढ़ने लगा, जिससे वह उतरते हुए माल लदे हुए ख़च्चरों से टकरा गया और जगह की तंगी की वजह से अपने को सँभाल न सका और क़रीब ५०० फ़ुट की ऊँचाई से हम लोगों के सामने पथरीली सड़क पर आ गिरा। उसका सिर कुचल गया और वह तुरन्त मर गया। ख़च्चरों के मालिक ने उतर कर अपने सवारीवाले ख़च्चर पर उसका माल लाद लिया और फिर हम लोग आगे बढ़ चले। मैंने उस मृत ख़च्चर का फ़ोटो लेना चाहा, लेकिन साथियों ने मना किया कि ऐसा करने से ख़च्चरवाले नाराज़ हो जायँगे। आज का रास्ता देखने में सुहावना था, लेकिन चढ़ाई और उतराई इतनी ज़्यादा थी कि हर समय जान का ख़तरा था। अभी उतराई से उतर कर चढ़ाई शुरू ही की थी कि फिर माल से लदा हुआ एक ख़च्चर फिसल पड़ा, लेकिन वह दो-चार कलाबाज़ियाँ खाने के बाद एक झाड़ी के झुण्ड में जाकर रुक गया। ख़च्चरवाले दौड़ पड़े और उसको बाहर निकालकर ईश्वर-ईश्वर कर आज
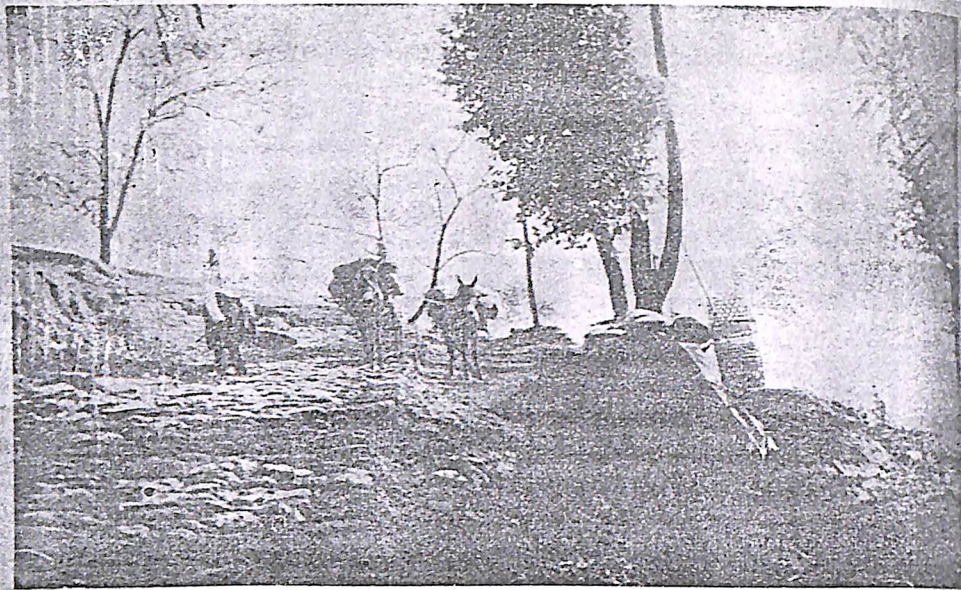
[सिकम में बोझ लादे हुए हमारे ख़च्चर]

की यात्रा समाप्त की। कुल १३ मील चल कर हम लोग जूलु की सराय में ठहरे। आज की रात बहुत दुःखद रही। ग़रीब ख़च्चरवाले बहुत ही दुःखी थे, क्योंकि उनका एक सबसे अच्छा जवान ख़च्चर जिसकी क़ीमत सौ रुपये से कम न थी, जाता रहा।

दूसरे दिन ८ मई की सुबह को हम लोग ५ बजे के क़रीब फिर रवाना हुए। यहाँ की उँचाई १३ हज़ार फ़ीट से ज़्यादा ही मालूम हुई, क्योंकि जगह-जगह दरख़्तों की गली हुई हालत यही कह रही थी कि बरफ़ अभी हाल में ही गली है न चढ़ाई और भी सीधी और ख़तरनाक थी। दो घण्टा चलने के बाद एकाएक शोर गुल सुनाई दिया। लपक कर आगे बढ़े तब मालूम हुआ कि फिर एक ख़च्चर नीचे गिर गया है और क़रीब ५० फ़ुट की निचाई में झाड़ी से अटक गया है। बड़ी हिम्मत और मेहनत से रस्सियों के ज़रिये वह निकाला गया। एक-दो मामूली ख़राश के और ज़्यादा चोट नहीं आई थी। कुछ देर के बाद हमारा क़ाफ़िला फिर आगे बढ़ा। रास्ते में अक्सर उतरते और चढ़ते हुए क़ाफ़िलों से मेल होता था। उतरते हुए ख़च्चर तो रुक नहीं सकते, इसलिए बचाव का सारा दारमदार चढ़ते हुए क़ाफ़िले पर रहता है। ख़च्चरों के गले में बँधे हुए बड़े बड़े घण्टे दूर से ही सावधान कर देते हैं, तो भी रास्ता बहुत कम चौड़ा होने की वजह से बड़ी मुश्किल पड़ जाती है। क़रीब १०॥ बजे हम लंगड़ डांगबी की बस्ती में जा पहुँचे और एक सराय में जाकर चाय पी। अभी थोड़ी-थोड़ी बारिश होनी शुरू हुई थी, और सरदी भी तेज़ हो गई थी लेकिन पहाड़ी बारिश को थोड़ी देर की तकलीफ़ समझ कर हम लोग फिर आगे चल पड़े।
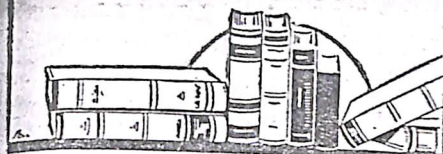
१—विश्व-परिचय—मूल-लेखक, विश्व-कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर और अनुवादक शान्ति-निकेतन के हिन्दी-प्रोफ़ेसर पंडित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, शास्त्री, शास्त्राचार्य हैं। प्रकाशक, विश्वभारती ग्रन्थालय, २१० कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता है। पुस्तक सजिल्द है। छपाई-सफ़ाई व गेट-अप सुन्दर है। पृष्ठ-संख्या ११४ और मूल्य १) है।

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य के अलावा विज्ञान जैसे रूखे विषयों पर भी लिखा है, और बहुत अच्छा लिखा है। उनकी लेखनी ने इस विषय को रोचक बना दिया है। प्रस्तुत-पुस्तक भी भौतिक-विज्ञान से सम्बन्ध रखती है। इसमें परमाणुलोक, नक्षत्रलोक, ग्रहलोक और अन्त में, भूलोक का परिचय दिया गया है। यथावश्यक चित्र भी लगाये गये हैं। अनुवाद भी सुन्दर हुआ है। इससे साधारण पढ़े-लिखे पाठक भी सृष्टि-सम्बन्धी अनेक रहस्यों को जानकर अपना ज्ञानवर्द्धन व मनोरंजन कर सकते हैं।

२-८—पुस्तक-भवन, बनारस सिटी की ७ पुस्तकें—

(१) विक्रमोर्वशीय नाटक—अनुवादक, पण्डित चन्द्रकान्त पाठक, काव्यतीर्थ हैं। छपाई-सफ़ाई साधारण, पृष्ठ-संख्या ९५ और मूल्य दस आने है।

यह महाकवि कालिदासकृत संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक विक्रमोर्वशीय का हिन्दी-अनुवाद है। गद्य-स्थलों का अनुवाद कुछ अच्छा हुआ है, पर पद्य-स्थलों का अनुवाद किसी काम का नहीं है। कुछ नमूने देखिए—

"उपमिति की प्रत्युपमिति वपु हो सकता है"

"अतएव यह अनुपम अभिख्या मासवर मधुमास की",

"मृदु आशुग से कम्पित घन-सा रुचिर वह इसका जो है,
प्राणप्रिया के आज नाश से निःसपत्न ध्रुव ही सो है।"

अनुवादक यदि कवि के भावों को समझ कर प्रचलित हिन्दी में अनुवाद करने की चेष्टा करता तो उसे अधिक सफलता मिल सकती थी। पुस्तक में छापे की अशुद्धियाँ भी अधिक हैं।

(२) वाह रे परीक्षा!—(कहानीसंग्रह), पृष्ठ-संख्या १३६, छपाई-सफ़ाई साधारण, काग़ज़ घटिया, फिर भी मूल्य १) है।

इस पुस्तक में कुल ५ कहानियाँ हैं जो ३ लेखकों की लिखी हुई हैं। लेखकों के नाम हैं श्रीयुत 'हरी', 'कृष्ण' और 'गणेश'। सभी लेखक आवश्यकता से अधिक वाचाल हैं। सनसनी पैदा करने की लहर में वे ऐसे बह जाते हैं कि प्लाट की भी ख़बर नहीं रखते। फलतः एक भी कहानी सुन्दर नहीं बन पड़ी है। शैली में भी उग्रता लाने का असफल प्रयत्न किया गया है। 'परीक्षा और भूल' का प्लाट ग़लत है। 'आकर्षण का फल' का अस्वाभाविक और लम्बा।

(३) शैलबाला—(ऐतिहासिक उपन्यास) अनुवादिका, श्रीमती सावित्रीदेवी हैं। छपाई-सफ़ाई साधारण, कवर सचित्र, पृष्ठ-संख्या २१६ और मूल्य १।) है।

यह पुरानी शैली में लिखे हुए श्रीयुत ननीलाल वंद्योपाध्याय के बँगला-उपन्यास शैलबाला का हिन्दी-अनुवाद है। कथानक रोचक है पर शैली पुरानी है।

(४) तू-तू, मैं-मैं—लेखक, श्रीयुत व्यासाचार्य हैं। पृष्ठ-संख्या ६४, छपाई-सफ़ाई साधारण और मूल्य ।।) है, जो कुछ अधिक है।

इस पुस्तक में हास्यरस के कुछ निबंध हैं। लेखक को इसमें अच्छी सफलता मिली है। पुस्तक रोचक है, पर बंगाली हास्य-लेखकों की शैली की नक़ल साफ़ दिखाई देती है। फिर भी इससे हिन्दी में शिष्ट हास्यरस की पुस्तकों के एकांत अभाव की आंशिक पूर्ति होती है।

(५) हुगली का इमामबाड़ा—(ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक उपन्यास) अनुवादक, श्रीयुत मुरारीदास अग्रवाल हैं। पृष्ठ-संख्या २२८ है। छपाई-सफ़ाई साधारण, कवर रंगीन और मूल्य १।।।) है।

हिन्दी में प्रेमचन्द जी से पूर्व सुन्दर मौलिक उपन्यासों का एकान्त अभाव था। उन दिनों हिन्दी के पाठकों को बँगला और मराठी की जूठन पर ही सन्तोष करना पड़ता था।

यह अनुवाद भी उसी युग की सृष्टि है। कथानक रोचक है जो कि पिछले खेवे के बंगाली लेखकों की निजी विशेषता थी। हिन्दी के सामान्य रुचिवाले पाठक अब भी ऐसे उपन्यासों को मोल लेकर पढ़ते हैं!

(६) शराबी—लेखक, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' हैं। छपाई-सफ़ाई साधारण है। पृष्ठ-संख्या २०४ और मूल्य १॥) है।

'उग्र जी' अपनी शैली की उग्रता के कारण काफ़ी नाम पा चुके हैं। ईश्वर की कृपा से आपको कथानक भी ऐसे सुन्दर मिल जाते हैं, जिनमें "सेक्स-साइकालोजी" के हथकंडे दिखाने का अच्छा अवसर रहता है। एक विशेष रुचि के पाठक ऐसे उपन्यासों की ख़ूब क़द्र करते हैं। यह पुस्तक भी साहित्यिकों की दृष्टि में चाहे उतनी अच्छी न हो पर बाज़ार में बिकी ख़ूब होगी; क्योंकि इसमें ऐसी "छोकरियों" का परदा खोला गया है जो गाँव की "लुगाइयों" की दृष्टि में "कलमुहीं" समझी जाती हैं। पर उग्र जी की कला-पारखी दृष्टि उन्हें "जवाहर" समझती है।

(७) सच्चो झूँठ—लेखक, लाला रामजीदास वैश्य हैं। छपाई-सफ़ाई साधारण, पृष्ठ-संख्या ७५ और मूल्य ॥) है।

यह सामान्य रुचि के पाठकों के लिए लिखा गया एक सामाजिक उपन्यास है। कथानक, शैली और उद्देश्य सबमें बज़ारूपन है।

(८) मैसूर में—लेखक, श्रीयुत गुरुनाथ शर्मा हैं; प्रकाशक, देशीराज्य साहित्य-मन्दिर, मद्रास है। पृष्ठ-संख्या १०४ और चित्र-संख्या २४ है। छपाई-सफ़ाई साधारण और मूल्य ।।) है।

यह पुस्तक नितान्त समयानुकूल है। आज-कल देशी राज्यों में स्वाधीनता-आन्दोलन चल रहा है। इस दशा में मैसूरराज्य से बाहर के निवासियों को मैसूर की अन्दरूनी हालत जानने में यह पुस्तक पूरी सहायता कर सकती है। भूगोल के प्रेमी भी इससे लाभ उठा सकते हैं। पुस्तक सभी दृष्टियों से संग्रह करने व पढ़ने योग्य है। चित्रों की प्रचुरता ने विषय को अत्यन्त रोचक बना दिया है।

९—११—वाणीमन्दिर छपरा की तीन पुस्तकें—

(१) फलों का गुच्छा—लेखक, श्रीयुत रामवृक्ष बेनीपुरी हैं। छपाई-सफ़ाई साधारण, पृष्ठ-संख्या १३१ और मूल्य ।।।) है।

इस पुस्तक में ६ छोटी-छोटी कहानियाँ हैं जो अँगरेज़ी, ग्रीक, फ्रेंच और जर्मन आदि ९ विदेशी कहानी-लेखकों की हैं। सभी लेखक लब्धप्रतिष्ठ और प्रख्यात हैं। चयन और अनुवाद सुन्दर हुआ है। पुस्तक किशोरावस्था के पाठकों के लिए विशेष उपयोगी है।

(२) पद-चिह्न—लेखक, श्रीयुत रामवृक्ष बेनीपुरी हैं। छपाई-सफ़ाई साधारण अच्छी, पृष्ठ-संख्या ६८ और मूल्य ।≶) है। यह पुस्तक भी छोटे बालकों के लिए लिखी गई है। इसमें कुछ विदेशी कवियों, लेखकों और वीरों का थोड़ा-थोड़ा परिचय दिया गया है। भाषा सरल है।

(३) ज्योतिर्मयी—लेखक, श्रीयुत अनूपलाल मंडल, साहित्यरत्न हैं। छपाई-सफ़ाई अच्छी है। पृष्ठ-संख्या २५० है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य २) है।

यह एक सुन्दर सामाजिक उपन्यास है; कथानक रोचक है। भाषा भी काफ़ी साफ़ है पर उद्वेगजनक स्थलों पर प्रेमचन्द की शैली की झलक मिलती है। सभी पात्रों का एक जैसी और साहित्यक भाषा बोलना अस्वाभाविक लगता है।

१२—योरोप का आधुनिक इतिहास (प्रथम भाग):—लेखक, डाक्टर सत्यकेतु, विद्यालङ्कार, डी० लिट० हैं। प्रकाशक इतिहाससदन, नई दिल्ली है। छपाई-सफ़ाई उत्कृष्ट, पृष्ठ-संख्या २८० और सजिल्द पुस्तक का मूल्य १॥) है।

हमारे देश के स्कूलों-कालेजों में योरप का इतिहास पढ़ाने का कम रिवाज है। यहाँ हाईस्कूलों तक तो भारतवर्ष का इतिहास ही दिखाया जाता है, फिर इंटर मीडिएट में इँगलैंड का इतिहास पढ़ाते हैं। जो विद्यार्थी बी० ए० में इतिहास लेते हैं उन्हें अलबत्ता योरप का इतिहास पढ़ना होता है, जो विद्यार्थी दूसरे विषय लेते हैं उन्हें यह सौभाग्य फिर कभी नसीब नहीं होता! इस प्रकार सामयिक ज्ञान के अत्यन्त आवश्यक अंग से वे वञ्चित रह जाते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस ज़माने में योरप के इतिहास का जानना कितना आवश्यक है क्योंकि संसार की वर्त्तमान प्रगति का मूलस्रोत योरप ही है।

हिन्दी में, आज तक योरप का कोई अच्छा इतिहास प्रकाशित नहीं हुआ था। फलतः सम्मेलन के इतिहास लेने वाले परीक्षार्थियों को यह विषय अँगरेज़ी में लिखे इतिहासों से ही पढ़ना पड़ता था। प्रस्तुत पुस्तक से इस बड़े अभाव की पूर्ति होती है। विद्यार्थियों के अतिरिक्त साधारण श्रेणी के हिन्दी-पाठकों को भी इस पुस्तक से ज्ञान-वृद्धि में सहायता मिलेगी। इसकी भाषा सरल, सुबोध और विषय के उपयुक्त है। शैली इतनी रोचक है कि पढ़ने में उपन्यास का मज़ा आता है। यह इस इतिहास का प्रथम खण्ड है जिसमें १८३० की फ्रांस की दूसरी राज्य-क्रांति तक का वर्णन आ गया है। ऐसी सुन्दर पुस्तक लिखने के लिए बधाई देते हुए, इसके दूसरे भागों की हम उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करेंगे। मानचित्रों का अभाव खटकने वाली बात है। आगामी भागों में, आशा है, इसकी पूर्ति कर दी जायगी।

१३—दर्ज़ीगिरी—लेखिका, श्रीमती आयशाबेगम हैं। प्रकाशक, लाला राधामोहन रामनारायन अग्रवाल, जबलपुर हैं। पृष्ठ-संख्या १२९ और मूल्य १॥।) है।

कन्यापाठशालाओं में कुछ समय से, सिलाई आवश्यक विषय कर दिया गया है। घर-गृहस्थी की स्त्रियाँ भी अब इसकी ओर अधिक ध्यान देने लगी हैं। पर इस दिशा में मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए हिन्दी में अब तक कोई पुस्तक न थी। प्रसन्नता की बात है कि प्रस्तुत पुस्तक ने इस कमी को बड़ी सुन्दरता के साथ पूरा कर दिया है। इसमें स्त्रियों, पुरुषों व बच्चों के हर क़िस्म के कपड़ों का काटना, सीना, तुरपना, रफ़ू करना, आदि विस्तारपूर्वक, सरल भाषा में समझाया गया है। आवश्यकतानुसार प्रचुर चित्र भी दिये गये हैं। सिलाई की मशीनों का भी सचित्र विवरण दे दिया गया है। अन्त में परिशिष्ट की भाँति कपड़ों का छापना, धोना, और उनके धब्बे छुड़ाना व उन पर लोहा करना भी बतला दिया गया है। यह पुस्तक कन्यापाठशालाओं के पाठ्यक्रम में रखने योग्य तो है ही, गृहस्थ स्त्रियों के भी बड़े काम की है। वे इसकी सहायता से सिलाई सम्बन्धी छोटे-मोटे काम बड़ी सरलता और सुन्दरता से कर सकती हैं।

—विद्यत्तमा मिश्र

१४—अरब में सात साल—लेखक, पण्डित रुचिराम जी, वैदिक मिशनरी हैं। प्रकाशक, श्रीयुत ब्रह्मानन्द बी० ए०, सरल साहित्य-सदन, ३६, एडवर्ड स्क्वायर, नई दिल्ली हैं। पृष्ठ-संख्या २२४ और मूल्य १।) है। छपाई-सफ़ाई मामूली है।

आर्यसमाज के उपदेशक पण्डित रुचिराम जी अपने गुरु स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी के आज्ञानुसार सन् १९२९ में ओ३म् का झंडा लेकर वैदिक धर्म का डंका पीटने के लिए अरब गये थे। वहाँ वे सात साल तक रहे। फिर शायद समूचे अरब को आर्य बनाकर स्वदेश लौट आये। आपने अरब का अपनी आँखों देखा हाल इस पुस्तक में लिखा है। पुस्तक की शैली बड़ी रोचक है। इससे अरब-निवासियों के सामाजिक जीवन का पूरा हाल मिल जाता है। कुछ वर्णन बड़े अनोखे हैं। उदाहरणार्थ आपने एक स्थान पर लिखा है कि अरबी लोगों की एक जाति ऐसी भी होती है जो अपने घरों को गाय के गोबर से लीपती है, गोपद के बराबर चोटी रखती है और अपने को आर्य वंश का मानती है। पुस्तक में क़ुरान और अल्लाह की ख़बर स्थान-स्थान पर ली गई है, क्योंकि इसका प्रचार-क्षेत्र भारतवर्ष है; पर अरब में रहते हुए पण्डित जी को भी अपने धर्म का प्रचार आर्य-समाज के स्थान पर "हिज़्बुल्लाह" नाम देकर करना पड़ा और बात-बात पर "अल-हम-दुलिल्लाह" की दुहाई देनी पड़ी। समय के अनुसार रंग पलटना भी ज़रूरी होता है। आशा है कि आर्य सार्वदेशिक सभा के प्रचारक पण्डित जी के अनुभवों से लाभ उठा कर "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का स्वप्न सत्य करेंगे।

१५—विजया-विहार—लेखक, श्रीयुत प्रणयेश शुक्ल हैं; प्रकाशक, श्रीयुत रामदयाल प्रकाशचन्द्र, चौक, कानपुर हैं। पृष्ठ-संख्या ४८, छपाई-सफ़ाई साधारण और मूल्य चार आने है।

कवि-पेशा लोग हमेशा इस ताक-झाँक में रहते हैं कि कोई ऐसी नई बात कही जाय जिसकी ओर लोग कुतूहल-वश दौड़ पड़ें। कबीर आदि सन्तों को इस प्रकार की कुतूहलजनक सामग्री एकत्र करने की प्रेरणा उनकी साम्प्र-

दायिक आकांक्षाओं से मिली थी; पर इधर कुछ नवीन कवि-कर्मी लोग इस पुराने तरीक़े का इस्तेमाल महज़ लोक-प्रियता और आर्थिक लोभ की प्रेरणा से करने लगे हैं। छायावाद की प्रतिक्रिया में पैदा हुए उमरख़ैयामी हाला और प्यालावाद की लोक-प्रियता बढ़ते देखकर एक-आध ऐसे ही स्वयंभू कवियों को भी भंग का कूँड़ी-सोंटा खटकाने की सूझी। और दर असल उन्होंने सोचा भी ठीक; क्योंकि हाला-प्याला तो शायद उसके समर्थकों और प्रचारकों को कभी-कभी ही नसीब होता होगा; भंग अलबत्ता रोज़ थोड़ी-बहुत छानी जा सकती है। इन कवियों ने यह भी सोचा होगा कि स्वदेशी होने के नाते इस चीज़ की यहाँ खपत भी अच्छी होगी।

प्रस्तुत पुस्तक भी ऐसी ही है। इसमें लोक-प्रियता की पिछलगुआ मनोवृत्ति साफ़ प्रकट होती है। मनहरण कवित्तों और सवैयों में लिखते हुए भी लेखक ने छायावादी कविताओं की भाँति इसे खड़-छन्दों के रूप में छपाया है, जिसे देखकर हँसी आती है। भाषा चलती हुई और लालित्य-पूर्ण है।

—व्रजेश्वर

१६—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास—लेखक, श्रीयुत सत्यकेतु, विद्यालंकार, डी० लिट० हैं। प्रकाशक, इतिहास-सदन, एम०, १, कनाट सरकस, नई दिल्ली है। पृष्ठ-संख्या ३०४ है। छपाई और काग़ज़ बहुत बढ़िया और सजिल्द पुस्तक का मूल्य ३) है।

अग्रवाल भारतीय वैश्यों की एक प्रसिद्ध जाति है। लेखक ने, प्रस्तुत पुस्तक में इसी जाति का प्रामाणिक इतिहास बड़ी खोज के साथ संकलित किया है। इसकी प्रामाणिकता और उपयोगिता के विषय में इतना लिखना काफ़ी है कि इसी निबन्ध पर लेखक को डाक्टरेट् की उपाधि मिली थी। अग्रवालों के अतिरिक्त इतिहास के विद्यार्थियों के निकट भी यह पुस्तक उपादेय और संग्रहणीय है।

१७—चयनिका—सग्रहकर्त्ता और सम्पादक, श्रीयुत रामानन्द शर्मा और श्रीयुत व्रजनन्दन शर्मा हैं। प्रकाशक, दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा, मदरास है। पृष्ठ-संख्या २७६, छपाई-सफ़ाई बढ़िया और मूल्य १।) है।

यह पुस्तक दक्षिण-भारत के हिन्दी-प्रेमियों को आधुनिक हिन्दी-कविता का परिचय कराने के उद्देश्य से लिखी गई है। प्रसिद्ध कवियों में से एक भी कवि छूटने नहीं पाया। कविताओं का चयन भी सुन्दर हुआ है। कवियों का संक्षिप्त-परिचय और अन्त में शब्दार्थ-कोष तथा पुस्तक के आरम्भ में आधुनिक कविता की झाँकी दे देने से पुस्तक और भी उपयोगी बन गई है।

१८—मुस्तफ़ा कमाल—लेखक, श्रीयुत देवव्रत हैं। प्रकाशक, नवशक्ति-प्रकाशन मन्दिर, पटना है। छपाई-सफ़ाई अच्छी और मूल्य १।) है। पृष्ठ-संख्या २०२ है।

स्वर्गीय अतातुर्क कमाल संसार की उन उज्ज्वल विभूतियों में से थे, जो अपने देश को विदेशियों के पैरों पर से उठाकर संसार के समुन्नत राष्ट्रों की पंक्ति में बिठा देती हैं। देश का बच्चा-बच्चा ऐसे महापुरुषों को पिता कहकर श्रद्धा और सम्मान प्रदान करता है। इस पुस्तक में इसी महापुरुष का जीवन-वृत्त सुन्दर और रोचक ढंग से लिखा गया है। विद्यार्थी और राष्ट्रप्रेमी इसे बड़े प्रेम से पढ़ेंगे। पुस्तक का नाम मुस्तफ़ा-कमाल होना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तिम समय में कमाल ने 'अतातुर्क' की उपाधि धारण की थी और मुस्तफ़ा शब्द को अपने नाम से पृथक् कर दिया था। अगले संस्करण में, आशा है, लेखक यह भूल ठीक कर देंगे।

१९—तिरंगा ही क्यों?—लेखक, श्रीयुत रामपद मिश्र, सुलतानपुर, रजीपुर, फ़र्रुख़ाबाद हैं। प्रकाशक, ओम् प्रेस फ़तहगढ़ है। पुस्तक अमूल्य है। छपाई-सफ़ाई मामूली और पृष्ठ-सख्या १६ है।

यह पुस्तक कांग्रेस-सभाओं के जुलूसों में गाने के लिए लिखी जान पड़ती है। ऐसे साहित्य ने देहाती और अपढ़ जनता में कांग्रेस और महात्मा गांधी का विज्ञापन करने में जो सहायता की है, वह प्रशंसनीय है। उधर के अनेक देहाती इसके गीत राह चलते गाया करते हैं। भाषा चलती हुई और भाव चुभते हुए हैं। लेखक ने पुस्तक को देश के प्रायः सभी बड़े-बड़े नेताओं को भेंट की है, जिससे उसकी महत्त्वाकांक्षा का परिचय मिलता है।

२०—श्रीमद्भागवत—लेखक, पण्डित भगवानदास अवस्थी एम० ए०, प्रकाशक, ज्ञानलोक, दारागंज, प्रयाग। पृष्ठ-संख्या ४१६ और मूल्य १॥।≈) है।

आलोच्य पुस्तक के लेखक अवस्थी जी ने एक बड़ी

जाग्रत नारियाँ

लाहौर का शान्तिकुंज-महिलाश्रम

श्रीमती रामेश्वरी नेहरू

मई १९३६ में लाहौर शहर में शान्तिकुंज नाम का स्त्रियों के लिए एक आश्रम खोला गया था। ढाई साल की अवधि में इस आश्रम ने जो काम किया है उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

[कुमारी सावित्री बाला, आपने जल और स्थल के अनेक खेलों में कुशलता दिखा कर सैकड़ों तमग़े और ट्राफियाँ प्राप्त की हैं।]

जो स्त्रियाँ किन्हीं कारणों से पाप-वृत्ति ग्रहण कर लेती हैं और अपना शरीर बेचकर धन कमाती हैं उनको उस वृत्ति से छुड़ा कर पापरहित जीवन बिताने का उत्साह और साधन देना इस आश्रम का मुख्य उद्देश्य है। बहुधा स्त्रियाँ इस कर्म को ख़ुशी से नहीं करतीं। समाज और स्थिति का शिकार बन कर अज्ञानतावश वे इस कर्म में फँस जाती हैं। शहरों में रहनेवाली बहुधा छोटी अवस्था की अज्ञान और सीधी-सादी बालिकायें ऐसी होती हैं जिन्हें बूढ़ी स्त्रियाँ और पुरुष धन कमाने के लिए घरों में रख लेते हैं। वे इनसे कुकर्म करा कर अपना पेट पालते हैं। ऐसी बालिकायें पुलिस की या किसी सहृदय पुरुष की सहायता से जब अपने मालिक के पंजे से छुटकारा पाती हैं तब इनके रहने के लिए कोई ठौर नहीं होता। ऐसी स्त्रियों को शरण देना और उनकी सहायता करना आश्रम का काम है। जिन स्त्रियों ने आश्रम की शरण अब तक ली है, उनमें से बहुतों की कथा बड़ी हृदय विदारक है। एक स्त्री माता-पिता और पति के मर जाने पर अनाथ हो गई और किसी अन्य साधन के न होने के कारण इस कर्म में पड़ गई। दूसरी स्त्री अफ़ग़ानिस्तान की पठानी थी जिससे उसका अपना पति धन की लालसा से यह

[बंबई की कुछ महिलायें सायकिल की दौड़ में भाग ले रही हैं।]
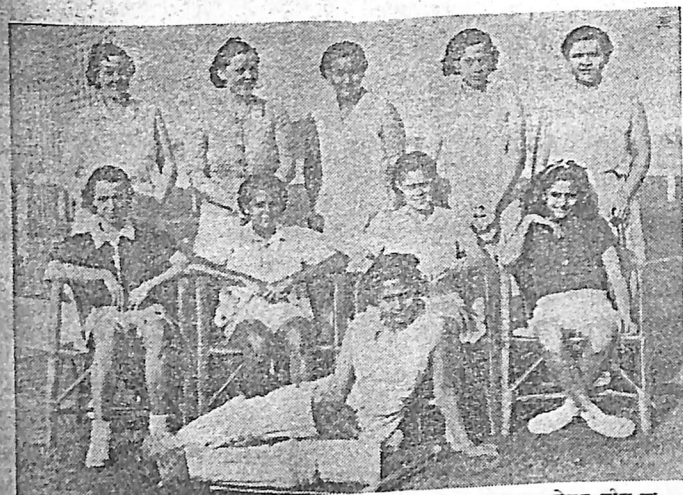
[हाकी की खिलाड़ी स्त्रियों का प्रसिद्ध "ब्लूबर्ड टीम"। इसने हारनेट्स टीम को ४ गोल से हरा दिया।]

कुकर्म कराता था। इसी प्रकार किन्हीं को घरों से बहला-फुसला कर भगा लिया जाता है। कोई रास्ता खो जाने से मेलों-तमाशों में कुकर्मियों के हाथ फँस जाती हैं और किसी-किसी का एक ग़लती हो जाने से सारा जीवन बिगड़ जाता है। ऐसी स्त्रियाँ साधारण गृहस्थ-जीवन के लिए तरसती रह जाती हैं परन्तु हमारे कठोर समाज के प्रचलित नियमों के कारण उनको वह जीवन नसीब नहीं होता। गत ढाई वर्षों में ८९ स्त्रियाँ, जिनमें से ५९ हिन्दू, २[illegible] मुसलमान और ३ ईसाई थीं, इस आश्रम से सहायता प्राप्त

[इरकेटर नाम की इस लड़की ने अल के कोर्ट में ऊँची कुदान दिखाकर बड़े-बड़े कूदने वालों को आश्चर्य में डाल दिया है।]

कर चुकी हैं। इनमें से ५ स्त्रियों का आश्रम की ओर से विवाह कर दिया गया, ६५ अपने नातेदारों के पास पहुँचा दी गईं, कुछ भाग गईं और इस समय ९ आश्रम में रहती हैं।

आश्रम में स्त्रियों को हिन्दी-उर्दू पढ़ना, लिखना, बुनना, काढ़ना और सूत कातना सिखाया जाता है। नीति और शील की शिक्षा दी जाती है। सुबह-शाम भगवान् की आराधना करनी सिखाई जाती है; धार्मिक पुस्तकें पढ़ाई और सुनाई जाती हैं; सब स्त्रियों से अपने ही धर्म्म के अनुसार आराधना करने और अपने ही धर्म्म में बने रहने का अनुरोध किया जाता है।

सप्ताह में दो-तीन बार स्त्रियों को बाहर घुमाने फिराने के लिए ले जाते हैं। गत वर्ष अजायबघर और प्रदर्शनी दिखाने को ले गये थे। ज़नाने खेल-तमाशों में भी इन्हें ले जाया जाता है। हर प्रकार से इस बात का उद्योग किया जाता है कि इनका जीवन रोचक और रसमय बने।

आश्रम का सब प्रबन्ध स्त्रियों ही के हाथ में है जो सब कार्य को बड़ी योग्यता और लग्न के साथ कर रही हैं।

[श्रीमती एस० ई० बार्लो और इलाहाबाद की कुछ लड़कियाँ जिन्होंने पिछले ओलिम्पिक खेलों में पिछला रिकार्ड तोड़ा है।]

रिस्क्यू होम सोसाइटी में पुरुष भी सभासद् हैं, परन्तु प्रबन्धकारिणी में केवल स्त्रियाँ ही मेम्बर हो सकती हैं। सोसायटी के मेम्बर प्रबन्धकारिणी को चुनते हैं जिसमें १२ मेम्बर हैं। सोसायटी की वर्ष में दो बार बैठकें होती हैं परन्तु कार्यकारिणी की बैठक प्रतिमास होती है और आश्रम का सब काम इसी कमिटी-द्वारा सम्पादित होता है। आजकल कमिटी की सभापति कौरानी दलीपसिंह हैं। सेक्रेटरी मिस प्रेमवती थापड़ और उपसभापति लेडी अब्दुल क़ादिर और श्रीमती रामेश्वरी नेहरू हैं। कमिटी की सब मेम्बर बड़े उत्साह से काम करती हैं। चन्दा जमा करने का काम मिसेज़ भडूचा ने बड़े परिश्रम से किया है और अधिकांश चन्दा उन्हीं का जमा किया हुआ है। एक लेडी सुपरिंटेंडेंट आश्रम में रहती और सब प्रबन्ध करती है। सहायता के लिए एक और बहन भी साथ में है। स्त्रियों को दस्तकारी सिखाने का काम वही करती हैं। इतने दिन के अनुभव से यह देखा गया है कि आश्रम का निवास स्त्रियों के जीवन में बड़ा परिवर्तन पैदा करता है। उनकी रुचि पलट जाती है और वे एक नये संसार का अनुभव करने लगती हैं। आश्रम का व्यय बजट के अनुसार २२३) मासिक है। जिसमें ९०) मासिक स्टाफ़ का वेतन, ६५) मकान का किराया, १८) टेलिफ़ोन, ५०) भोजन का व्यय है। १००) मासिक सरकारी सहायता मिलती है। १५६।।) मासिक चन्दा हो जाता है। कुछ जमा किये हुए रुपये का सूद मिलता है। और शेष पूर्त्ति दान से होती है। गत वर्ष एक ड्रामा किया गया था जिससे ६४२।।)।।। आय हुई थी।

पतितों को उठाने और उन्हें ठीक रास्ते पर चलाने का काम बड़ा पवित्र काम है। अभागी पतित बहनें हमारे सहयोग और सहानुभूति की पात्र हैं। हमें आशा है कि इस पुनीत कार्य में सर्वसाधारण से हमें पूरी सहायता मिलेगी। जो भाई और बहनें ऐसी पीड़ित स्त्रियों को आश्रम में भेजने की कृपा करेंगे हम उनका आभार मानेंगे। आश्रम में जितनी स्त्रियाँ इस समय हैं उनसे दो गुनी के लिए स्थान अभी और है। ऐसी स्त्रियों को, जिन्हें सहायता की आवश्यकता है, कुछ कमी नहीं है; परन्तु उनको हम तक लाने और रास्ता दिखाने की आवश्यकता है। जिन अभागी बिन ब्याही कन्याओं के बालक हो जाते हैं उनके बालकों को भी आश्रम में रख लिया जाता है। प्रसव की भी उचित व्यवस्था है। रोगी स्त्रियों की चिकित्सा होती है। सारांश यह कि हर प्रकार से स्त्रियों की सहायता करके उनके जीवन को उच्च और उत्तम बनाने का अवसर दिया जाता है।

सर्वसाधारण से प्रार्थना है कि वे धन देकर और स्त्रियों को हमारे पास भेज कर हमारी सहायता करें।

शान्तिकुंज आजकल १८ नम्बर वारिस रोड पर है। इसी पते से पत्र-व्यवहार होना चाहिए।

कुसुम

लेखिका, कुमारी अविनाश कपूर, बी० ए०
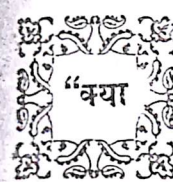
"क्या तुमने कभी प्रेम किया है ?"—सिविल अस्पताल के आठ नम्बरवाले रोगी ने जीभ से ओठों को भिगोते हुए पूछा।

डाक्टर कौल यह सवाल सुन कर चौंके। स्वाभाविक संकोच से ऐसे आत्मीय प्रश्न का उत्तर देना उसके लिए अति कठिन था। उसने रोगी के उन्माद भरे नेत्रों को देखा। उनमें मृत्यु की क्षीण रेखा झलक रही थी। रोगी के मुख पर अनन्त की शान्ति-ज्योति थी। 'बुझने से पहले उजाला'—डाक्टर ने सोचा। न जाने क्यों उसकी आत्मा में रोगी के प्रति इतनी सहानुभूति जाग्रत हो रही थी। रोगी उसी प्रकार डाक्टर की ओर उत्तर की प्रतीक्षा में उत्तेजित भाव से देख रहा था। "हाँ मैं अपनी पत्नी को प्यार करता हूँ"—डाक्टर ने लज्जा से लाल होते हुए कहा।

तब तुम कुछ उन भाग्यशाली आदमियों में से हो जो दोनों दुनिया में ख़ुशनसीब गिने जाते हैं। मैं उनमें से हूँ जो दूसरी दुनिया में अपनी प्रेयसी को पाने की आशा करते हैं। तुम सुन कर शायद आश्चर्य करोगे कि हम एक भूमंडल पर रहते हुए भी दूर-दूर हैं। वह हिन्दू है और मैं मुसलमान।" डाक्टर कौल हैरानी से उसकी उत्तेजित बातें सुन रहे थे। उनकी दृष्टि में शायद ये बातें रुग्ण-मन के विकारमात्र थीं।

रोगी कहता चला गया—मानों वह अपने जीवन की बीती हुई वर्णन कर रहा था—"सचमुच तुम अत्यन्त भाग्यशाली हो—नहीं तो ज़िन्दगी में कितनी रिक्तता है, कितनी निराशा है, कैसी बेचैनी है। अपने कर्त्तव्य-पालन से कितनी बार हम गिरते हैं, बचते हैं। यही ख़याल हमें बचाये रखता है कि क़यामत के बाद हम अपनी यहाँ की हवस पूरी करेंगे।"

डाक्टर ने रोगी को रोकना चाहा। रोगी अपने अन्तिम घड़ियाँ काट रहा था। अचानक वह बिस्तर से उठ बैठा—"डाक्टर आख़िर की घड़ियों में क्यों रोकते हो। न जाने कितना इन्तज़ार करना होगा—फिर उसकी बातें करने को...या अल्लाह मुझे बड़ा दिल देना......" रोगी अपने आपसे बातें कर रहा था मानों उसे शारीरिक कष्ट से मानसिक वेदना अधिक थी। उसके शब्द रुकी हुई बाढ़ के समान बाँध टूटने पर अदम्य प्रवाह से बह रहे थे; उसी प्रवाह में उसके जीवन की घड़ियाँ भी बही जा रही थीं—अज्ञात और अनन्त की ओर!

डाक्टर कौल के मुख पर निराशा, वेदना और सहानुभूति की रेखा थी। उन्होंने मरीज़ को सावधानी से तकिये पर लिटाया। बीमार किसी छुपी हुई शक्ति से बातें किये जा रहा था। उसके हाथ में सिगरटकेस था।

"डाक्टर, इसको मेरे [illegible]थ दफ़नाने की मेहरबानी करना,"—उसने सिगरट के [illegible] की तरफ़ इशारा करके कहा।

रोगी की अवस्था बिगड़ [illegible]ी थी। उसकी ज़बान लड़खड़ा रही थी। डाक्टर अधिक देर न देख सके "सुसु...सुमी...या मेरे ख़ुदाय"...के अस्पष्ट शब्द उनके कानों में पड़े। रोगी सदा के लिए सो रहा था। उसका उत्तेजित मुख शान्त था।

× × × ×

डाक्टर अपने हाल के स्वर्गीय रोगी की निराली प्रेम कहानी तथा उसकी अतीव शोकनीय मृत्यु के बारे में सोच रहे थे। उनके मुख से दीनता टपक रही थी। उनके वही भाव थे जो कि मृत्यु के सामने मनुष्य को नीचा कर देते हैं। उस समय वे अनन्त के कितने निकट पहुँचे हुए थे। "साहब कोठी पहुँच गये"—ड्राइवर के इन शब्दों ने उनका ध्यान भङ्ग किया।

उनके मुख से अवश्य कुछ ऐसे भाव प्रकट हुए

होंगे कि पहुँचते ही कुसुम ने उनकी तबीयत के बारे में पूछा। मनोवेग को घटाने की इच्छा से सुरेन्द्र ने कुमी को अपने रोगी का हाल सुनाने को ठानी।

सुरेन्द्र ने सिगरट मुँह में दबाया और उसे जलानेवाला ही था कि कुमी ने आगे बढ़ कर जलाने का आग्रह किया। कुमी के इस काय से उसे मृत रोगी की कही हुई बात याद आई—"सचमुच तुम बड़े ख़ुश क़िस्मत हो"—परन्तु वह पहला ही भाग्यवान् अवसर था। उसने कुमी के भाव को समझना चाहा परन्तु वह उसके लिए एक अनूठी पहेली थी।

सुरेन्द्र ने सिगरट पीते-पीते मरीज़ का सब हाल कह सुनाया। दूसरा सिगरट मुँह में दबाया और इस आशा से कि कुमी उसे भी अपने कोमल करों से सुलगा देगी, उसकी ओर देखा। वह कुर्सी पर न जाने कब से बेहोश पड़ी थी। "कुमु! कुमु!" सुरेन्द्र ने आर्द्रस्वर में पुकारा।

होश आने पर कुमी ने स्नेहभरी चितवन से पति की ओर देखा और मुस्करा कर बोली "तुम्हारी सिगरट बड़ी तेज़ थी, मैं शायद पूरी बात न सुन सकी।"

सुरेन्द्र ने चिन्तित होकर उसे आराम करने को कहा। वह उन आदमियों में से था जो अपने भाव प्रकट करने में संकुचित परन्तु प्रेम करने में अत्यन्त गहरे होते हैं। वह कुमी को प्यार करता था—बहुत अधिक।

× × × ×

सुरेन्द्र करवटें ले रहा था। कुमी को आराम से सोते देखने की भावना उसके मन में ज़ोर मार रही थी; परन्तु उसके कमरे में जाने का साहस न पड़ता था। इस बारे में उनमें एक तरह का पारस्परिक समझौता था जो आज तक कभी न टूटा था। आज न जाने सुरेन्द्र को कुमी के विषय में क्या भय था। वह उसे ठीक ठाक सोया हुआ देखना चाहता था। गाउन और स्लीपर सँभालता हुआ वह कुमी के कमरे की ओर बढ़ा। धीरे धीरे दरवाज़े पर दस्तक दी। सोई हुई समझ आहिस्ता से कमरे के भीतर प्रवेश किया। कुसुम बिस्तरे पर लेटी थी। टेबुल-लैम्प जल रहा था। उसके हाथ में मृत रोगी का चित्र था।

प्रणाम

लेखिका, कुमारी ज्ञानवती वर्मा, हिन्दी-रत्न, (वय १३ वर्ष)

तुम अमर लोक की छवि ललाम,
तुम भू की प्रतिभू, रूप-नाम।
तुम गौरी-काली असित रूप,
तुम ओज-तेज प्रतिमा अनूप।

तुम जगज्जननि, तुम पूर्णकाम,
हे देवि! तुम्हें शत-शत प्रणाम।

दर्शन पाकर हम हुईं धन्य
है तुम-सी वरदा कौन अन्य
तुम विश्व-वन्द्य वाणी प्रतीक
तुम ही माँ, कल्याणी अलीक

तुम जीवन-सत्ता का प्रमाण
तुमसे अनुप्राणित लोक-प्राण।

वरदा-रौद्री का युग्म साज,
लख कर विस्मित है सब समाज
प्रमुदित सुर-नर जप रहे नाम
भयभीत असुर दल अष्ट-याम

कैसे गाऊँ तव कीर्त्ति गान,
लघु बुद्धि और गौरव महान
यह सतत-संतरित प्रेमदाम,
हे देवि! तुम्हें शत-शत प्रणाम॥

इस चित्र के चित्रकार श्रीयुत त्रिलोकीनाथ मेहरोत्रा एक होनहार नवयुवक हैं। आपने बम्बई के जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्‌स से चित्र-कला का डिप्लोमा प्राप्त किया है। अब आप इस कला का विशेष अध्ययन करने के लिए शान्ति-निकेतन जा रहे हैं।
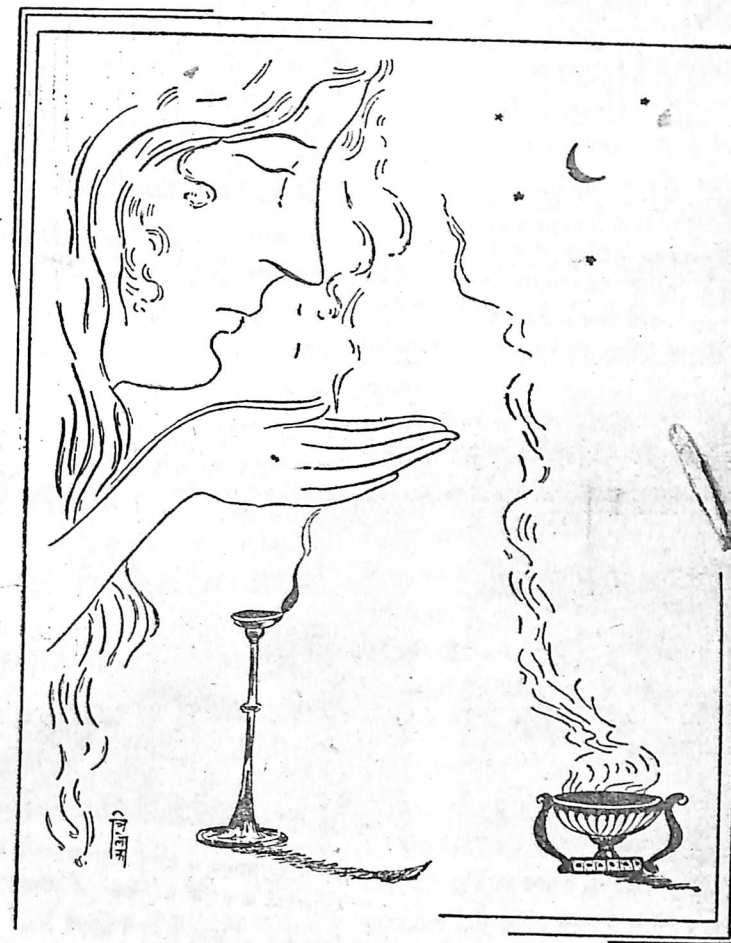
ज्वलित धूम बन उड़े जा रहे हैं दीपक के गान, निशा दे रही है जग को अपने दृग-जल का दान।—पृथ्वीनाथ सेठ
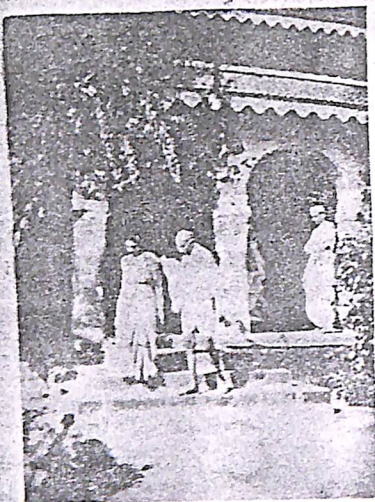
राजकोट में उपवास आरम्भ करने के पहले महात्मा गान्धी स्नान करने जा रहे हैं। इस चित्र में आप राष्ट्रीयशाला की सीढ़ियों से उतर रहे हैं।

महात्मा गान्धी डाक्टर मिस सुशीला नायर का सहारा लिये स्नान करने जा रहे हैं।
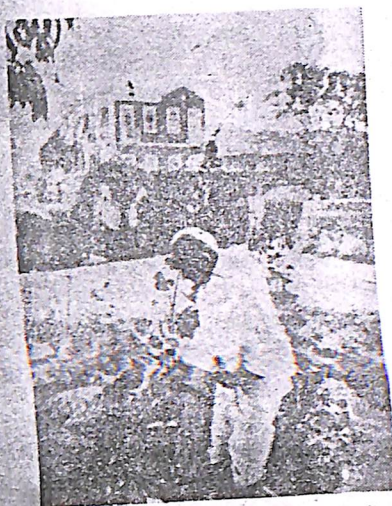
महात्मा गान्धी स्नान करके लौट रहे हैं। उनके हाथ में एक स्तव-पुस्तक है।

सन्ध्या की प्रार्थना के समय राष्ट्रीयशाला के आँगन में महात्माजी के दर्शन को एकत्र भीड़ का एक अंश।

उपर्युक्त चारों चित्र हमें राजकोट के श्रीयुत ललित एस० बूच की कृपा से प्राप्त हुए हैं।

फ़्रान्स की पुलिस स्पेन से भागे हुओं को फ़्रान्स में घुसने से रोक रही है।

卐

स्पेन के निवासी भाग-भाग कर फ़्रान्स में घुसने का प्रयत्न कर रहे हैं। पुलिस सीमा पर उन्हें रोक रही है।

卐

लखनऊ की संगीत-परिषद् में भाग लेनेवाले कुछ सफल युवक।

卐

फ्रैंकों की सेना के जनरल यागू। वासिलोना की विजय के उपलक्ष्य में अपने दल के लोगों के साथ सम्मिलित प्राथना कर रहे हैं।

वासिलोना से भागे हुए स्पेनी बच्चे, बहुत दिनों बाद फ़्रान्स के लेबूलन नगर के एक होटल में भोजन पा रहे हैं।

नियम :—

(१) किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जितनी पूर्ति-संख्यायें भेजना चाहे, भेजे, किन्तु प्रत्येक वर्ग-पूर्ति सरस्वती पत्रिका के ही छपे हुए फ़ार्म पर होनी चाहिए। इस प्रतियोगिता में एक व्यक्ति को केवल एक ही इनाम मिल सकता है। इंडियन प्रेस के कर्मचारी इसमें भाग नहीं ले सकेंगे। प्रत्येक वर्ग की पूर्ति स्याही से की जाय। पेंसिल से की गई पूर्तियाँ स्वीकार न की जायँगी। अक्षर सुन्दर, सुडौल और छापे के सदृश स्पष्ट लिखने चाहिए। जो अक्षर पढ़ा न जा सकेगा अथवा बिगाड़ कर या काटकर दूसरी बार लिखा गया होगा वह अशुद्ध माना जायगा।

(२) प्रतियोगिता में शामिल होने के लिए जो फ़ीस वर्ग के ऊपर छपी है, दाख़िल करनी होगी। फ़ीस मनी-आडर-द्वारा या सरस्वती-प्रतियोगिता के प्रवेश-शुल्क-पत्र (Credit voucher) के द्वारा दाख़िल की जा सकती है। इन प्रवेश-शुल्क-पत्रों की किताबें हमारे कार्यालय से ३) या ६) में ख़रीदी जा सकती हैं। ३) की किताब में आठ आने मूल्य के और ६) की किताब में १) मूल्य के ६ पत्र बँधे हैं। एक ही कुटुम्ब के अनेक व्यक्ति जिनका पता-ठिकाना भी एक ही हो, एक ही मनीआर्डर-द्वारा अपनी अपनी फ़ीस भेज सकते हैं और उनकी वर्ग-पूर्तियाँ भी एक ही लिफ़ाफ़े या पैकेट में भेजी जा सकती हैं। वर्ग-पूर्ति की फ़ीस किसी भी दशा में नहीं लौटाई जायगी। मनीआर्डर व वर्ग-पूर्तियाँ 'प्रबन्धक, वर्ग-नम्बर ३३, इंडियन प्रेस, लि०, इलाहाबाद' के पते से आनी चाहिए।

(३) लिफ़ाफ़े में वर्ग-पूर्ति के साथ मनीआर्डर की रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र नत्थी होकर आना अनिवार्य है। रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र न होने पर वर्ग-पूर्ति की जाँच न की जायगी। लिफ़ाफ़े की दूसरी ओर अर्थात् पीठ पर मनीआर्डर भेजनेवाले का नाम और पूर्ति-संख्या लिखना आवश्यक है।

(४) जो वर्ग-पूर्ति २४ अप्रैल तक नहीं पहुँचेगी, जाँच में शामिल नहीं की जायगी। स्थानीय पूर्तियाँ २२ ता० को पाँच बजे तक बक्स में पड़ जानी चाहिए और दूर के स्थानों (अर्थात् जहाँ से इलाहाबाद को डाकगाड़ी से चिट्ठी पहुँचने में २४ घंटे या अधिक लगता है) से भेजनेवालों की पूर्तियाँ २ दिन बाद तक ली जायँगी। वर्ग-निर्माता का निर्णय सब प्रकार से और प्रत्येक दशा में मान्य होगा। शुद्ध वर्ग-पूर्ति की प्रतिलिपि सरस्वती पत्रिका के अगले अङ्क में प्रकाशित होगी, जिससे पूर्ति करनेवाले सज्जन अपनी अपनी वर्ग-पूर्ति की शुद्धता-अशुद्धता की जाँच कर सकें।

(५) वर्ग-निर्माता की पूर्ति से, जो मुहर लगा करके रख दी गई है, जो पूर्ति मिलेगी वही सही मानी जायगी। यदि कोई पूर्ति शुद्ध न निकली तो मैनेजर शुद्ध पूर्ति का इनाम जिस तरह उचित समझेंगे, बाँटेंगे।

अङ्क-परिचय

बायें से दाहिने—

१–कितने ही वैष्णव श्रीकृष्ण के इसी स्वरूप की आराधना करते हैं
५–इसके कौशल की परीक्षा कठिन स्थान पर होती है।
८–इसमें कभी-कभी बहुत गहरा जल होता है।
९–बिना जल के इसका जीवित रहना असंभव है।
११–इसके उलटते ही झगड़ा हो जायगा।
१२–रानियाँ यहीं रहती हैं।
१४–चमड़ा।
१५–इससे मनुष्य का पतन होता है।
१६–देवमंदिरों में भक्त इसके लिए उत्सुक देखे जाते हैं।
१८–एक प्रकार की मिठाई।
१९–इसे बनाने के लिए मिट्टी की आवश्यकता पड़ती है।
२०–इसकी उत्पत्ति समुद्र से है।
२१–इसका दिल पर बहुत असर पड़ता है।
२३–इसके न होने पर किसानों के बहुत से काम रुक जाते हैं।
२४–इसमें से बहुत से लोग इसके प्रेमी हैं।
२५–साँस नापते समय इसकी आवश्यकता पड़ती है।
२७–इसके अच्छे होने से सुख प्राप्त होता है।
२९–उच्च कोटि का साधक इसकी इच्छा न करेगा।
३१–इसकी तरफ़ ध्यान बरबस आकर्षित हो जाता है।
३२–अच्छे बाग़ के लिए इसका होना आवश्यक है।

ऊपर से नीचे—

१–इनसे कभी-कभी बहुत ज़्यादा हानि हो जाती है।
२–उधार लेने के लिए किसान प्रायः इसी के पास जाता है।
३–एड़ी के ऊपर की हड्डी के चारों ओर का घेरा।
४–हर एक को इससे बचने की कोशिश करनी चाहिए।
६–गाँववालों को इसकी बहुत ज़्यादा ज़रूरत होती है।
७–डरावना। १०–बच्चों के लिए एक प्यार का शब्द।
१३–यात्रा के प्रारम्भ में इसके मिलने से खुशी होती है।
१४–एक सिक्का।
१६–इससे विशेष आराम मिलता है।
१७–बहुत से लोग इससे दूर रहने में ही कुशल समझते हैं।
१८–यह किसी-किसी बाग़ में पाया जाता है।
१९–इससे छोटेपन का बोध होता है।
२०–एक खाद्य पदार्थ।
२२–आजकल के कतिपय नवयुवक असफल होने पर इसी की सहायता लेते हैं।
२५–इसके बिना कमल का होना असंभव है।
२६–देहाती औरतें इसकी सवारी ज़्यादा पसंद करती हैं।
२७–इसके बिना मनुष्य बेकार है।
२८–इसे ऊपर ले जाने में बहुत कठिनाई पड़ती है।
३०–इसके बिना किसान पंगुल है।

बा	ल	सु	कुं	द			वा		क
	ह	र		ा	छ			र	ा
र		ा	स				ि	ा	ल
	ा		ि	ा	न		अ		
	र	सं				ि	नी		
ा		ह			ि	या		सु	ा
न	ज़			ि	ा	र		ा	
			ि	आ				ि	बं
	र	ि				ह	ल		
र			म	क				ा	ली

आपकी याददाश्त के लिए वर्ग ३३ की पूर्तियों की नक़ल यहाँ पर कर लीजिए। और इसे निश्चय प्रकाशित होने तक अपने पास रखिए।

वर्ग नं० ३२ की शुद्ध पूर्ति

वर्ग नम्बर ३२ की शुद्ध पूर्ति जो बंद लिफ़ाफ़े में मुहर लगाकर रख दी गई थी, यहाँ दी जा रही है।

ए	क	र	द	न		गा	य	क	
त	र	ती	द		क	ली		पी	र
वा	नी		का	म	ला		शा	श्व	त
र		क		रा	ल		म	र	ज
	गी	ला		ल		खे			गा
प	ता		आ		मा	त		ना	
नि		न	द		ल		चा	म	र
हा	य		र	ज		ने	मी		घु
री	त	ना		जी			क	टा	व
	न	म	क		कु		र	ग	र

वर्ग नं० ३२ (जाँच का फ़ार्म)

मैंने सरस्वती में छपे वर्ग नं० ३२ के आपके उत्तर से अपना उत्तर मिलाया। मेरी पूर्ति नं०...में } कोई अशुद्धि नहीं है। १, से ८ अशुद्धि तक

मेरी पूर्ति पर जो पारितोषिक मिला हो उसे तुरन्त भेजिए। मैं १) जाँच की फ़ीस भेज रहा हूँ।

हस्ताक्षर ____________

पता ____________

बिन्दीदार लाइन पर काटिए

नोट—जो पुरस्कार आपकी पूर्ति के अनुसार होगा वह फिर से बँटेगा और फ़ीस लौटा दी जायगी। पर यदि पूर्ति ठीक न निकली तो फ़ीस नहीं लौटाई जायगी। जो समझें कि उनका नाम ठीक जगह पर छपा है उन्हें इस फ़ार्म के भेजने की ज़रूरत नहीं। यह फ़ार्म १५ अप्रैल के बाद नहीं लिया जायगा।

इसे काटकर लिफ़ाफ़े पर चिपका दीजिए

मैनेजर वर्ग नं० ३३

इंडियन प्रेस, लि०,

इलाहाबाद

मुफ़्त कूपन की नक़ल यहाँ कीजिए।

इस लाइन से काटिए

वर्ग नं० ३३ पूर्ति नं०... मुफ़्त कूपन

वर्ग नं० ३३ पूर्ति नं०... फ़ीस ।)

वर्ग नं० ३३ पूर्ति नं०... फ़ीस ।)

रिक्त कोष्ठों के अक्षर मात्रा रहित और पूर्ण हैं।

नाम

पता

नोट—ये तीनों कूपन यहाँ एक साथ केवल एक व्यक्ति के भरने के लिए दिये जा रहे हैं। तीनों कूपनों को एक साथ काट कर भेजना चाहिए। जो एक कूपन भेजना चाहें वे तो भी भेज सकते हैं। जो दो भेजें उन्हें तीसरे कूपन की फ़ीस न देनी पड़ेगी। फ़ीस है १) में तीनों कूपन भेज सकेंगे। विशेष ब्योरा पृष्ठ ४१४ पर देखिए।

शंका-समाधान

(१) कठरा नहीं कठला

इस शब्द के विरुद्ध आपने दो युक्तियाँ दी हैं। (१) 'कठला' शब्द स्त्री-लिंग है, (२) कठला किसान के यहाँ प्रायः होता नहीं है। समाधान इस प्रकार है—

(१) कठला शब्द स्त्री-लिंग है, यह आपने किस व्याकरण से निकाल लिया? आपने संक्षिप्त हिन्दी-शब्द-सागर भी देखने का कष्ट नहीं उठाया, जिसमें 'कठला' शब्द साफ़ संज्ञा पुं० लिखा हुआ है। कठरा शब्द के आगे भी यही संकेत लिखा है। जिसके अर्थ हैं—'संज्ञा पुल्लिङ्ग'। अतः आपकी पहेली शंका निराधार है। आपको शायद इसके अर्थ 'माला' देखकर भ्रम हुआ है। पर माला के स्त्री-लिंग होने से कठला स्त्री-लिंग क्यों हो जायगा? बोल-चाल में भी 'कठला पहनाया' कहने का रवाज है; 'कठला पहनाई' कोई नहीं कहता।

(२) कठला हिन्दूमात्र के यहाँ होता है, मुसलमानों के यहाँ नहीं, और यह देव-मन्दिरों में ही होता है, आम किसानों के घर नहीं, ये दो बातें निराधार हैं। किसान अपने बच्चों को भूत-प्रेत से बचाने के लिए प्रायः कठला पहनाते हैं—हिन्दू भी और मुसलमान भी। देहातों में अब भी इसका रवाज है। हर एक बच्चा किसी न किसी प्रकार का कठला पहिने मिलेगा। कठरा सब किसानों के यहाँ पाया भी नहीं जाता, ग़रीब और नीच जाति के लोग ही इसे रसोई में रखते हैं, सवर्ण और धनवान् इसे अकसर अपवित्र समझते हैं। अतः "कठला" ही ठीक है। 'कठरा' नहीं।

(२) नल नहीं नद

नल और नभ दोनों में अव्याप्ति दोष है। नल का पानी भी सर्वत्र उपयोग में नहीं आता, न नभ का (आकाश का ही) हाँ नद का पानी सर्वत्र काम में आता है। नल निकाला भी नद है ही तो जाता है। मिस्र आदि देशों में भी, जहाँ न नभ बरसता है, न आप के नल ही हैं, नद (नील नदी) से सिंचाई होती है। हमारे देश में भी नदों से ही नहरें निकाली जाती हैं जिनसे सिंचाई होती है। अतः "नद" शब्द ही अधिक ठीक है।

(२) 'हलवाहा' शब्द तत्सम है और 'हरवाहा' तद्भव। लोक में तत्सम की अपेक्षा तद्भव शब्दों का ही अधिक प्रचार होता है। प्रचार और प्रसिद्ध के दृष्टिकोण से ही 'हरवाहा' अधिक ठीक है।

वर्ग नं० ३१ पर नई शंकाएँ

(१) कीचक या कीचड़?

श्रीयुत वर्ग मैनेजर महोदय,

सरस्वती वर्ग नं० ३१ में (२४ बायें से दाहिने) में संकेत—"मार्ग में इसकी अधिकता चलनेवालों के वस्त्र ख़राब कर देती है।" में शुद्ध शब्द 'कीचक' दिया है। वह शुद्ध किस प्रकार है? कीचक के अर्थ कोष में ये दिये हैं—१ बाँस, जिसके छेद में घुस कर वायु हू-हू शब्द करती है, २, राजा विराट का साला। इन दोनों अर्थों से संकेत का कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ "कीचड़" शब्द ही शुद्ध मानना चाहिए। क्योंकि कीचड़ के अर्थ हैं—पानी मिली धूल या मिट्टी। इससे पथिकों के वस्त्र ख़राब हो ही जाते हैं।

(२) सुरा या सुधा?

(नं० २२ ऊपर से नीचे) "यह देवताओं को अतिप्रिय है।" यह संकेत दिया गया है। समझ में नहीं आता कि क्या देवता कलियुग में सुरापान करने लगे? जब कि कांग्रेस सरकार साधारण पियक्कड़ों को भी इसके त्यागने का उपदेश कर रही है। फिर सुरा उत्तर ठीक कैसे है? यदि आपका अभिप्राय सुरावती से है जो कि अदिति या देवताओं की माता थी, तब भी यह सही नहीं होता, क्योंकि २ अक्षरों से ४ अक्षरों को पहचान करने का आपने कोई साधन नहीं दिया है।

आशा है कि आप इन शंकाओं का समुचित उत्तर देंगे।

भवदीय—
धर्मेन्द्र मोहन सिन्हा
मारफ़त बाबू जियालाल पेशकार
बिजनौर

९-३-३९

(३) हत्था क्यों?

महाशय,

वर्ग नं० ३१ में नं० ३० (बाएं से दाहिने)—में संकेत दिया गया है कि 'इसकी लकड़ी चिकनी और मज़बूत होती है।' यह संकेत हत्थे के लिए कहाँ तक उपयुक्त है? आशा है आप उत्तर देंगे।

—भवदीय
शिवबोध मालवीय
४२, त्रिपौलिया, इलाहाबाद

रिक्त कोष्ठों के अक्षर मात्रारहित और पूर्ण हैं

आवश्यक सूचनायें

(१) इस बार पाठक देखेंगे कि एक कूपन में एक नाम से अधिक भरने की गुंजाइश नहीं है परन्तु प्रत्येक कूपन में ऐसी सुविधा की गई है कि वर्ग नं० ३३ की तीन पूर्तियाँ एक साथ भेजी जा सकेंगी। दो आठ आठ आने की और तीसरी मुफ़्त। मुफ़्त पूर्ति सिर्फ़ उन्हीं की स्वीकार की जायगी जो दो पूर्तियों के लिए १) भेजेंगे। और तीनों पूर्तियाँ एक ही नाम से भेजेंगे। एक पूर्ति भेजनेवाले को भी पूरा कूपन काटकर भेजना चाहिए और दो ख़ाने ख़ाली देने चाहिए।

(२) स्थानीय पूर्तियाँ 'सरस्वती-प्रतियोगिता-बक्स' जो कार्यालय के सामने रक्खा गया है, दिन में दस और पाँच के बीच में डाली जा सकती हैं।

(३) वर्ग नम्बर ३३ का नतीजा जो बन्द लिफ़ाफ़े में मुहर लगाकर रख दिया गया है, ता० २५ अप्रैल सन् १९३३ को सरस्वती-सम्पादकीय विभाग में ११ बजे दिन में सर्वसाधारण के सामने खोला जायगा। उस समय जो सज्जन चाहें स्वयं उपस्थित होकर उसे देख सकते हैं।
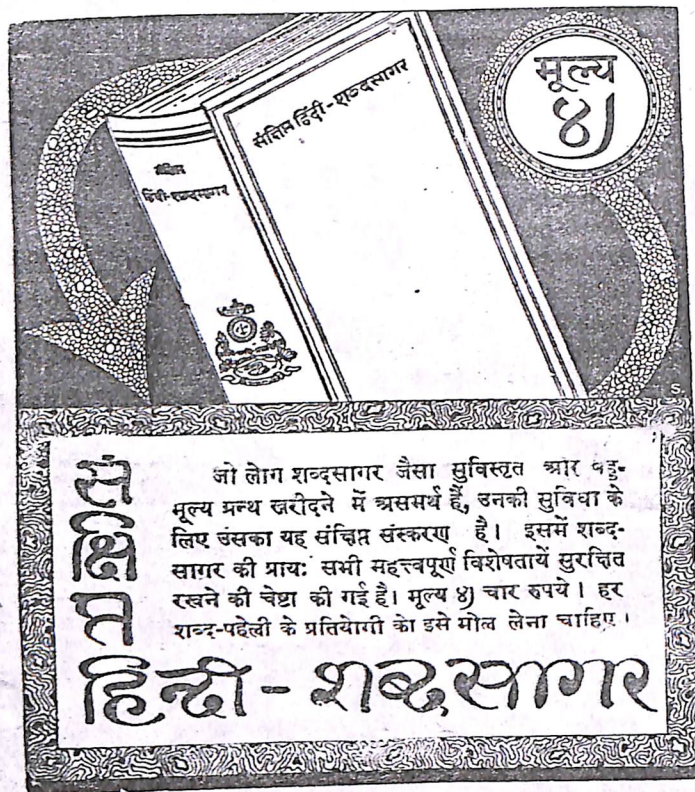
रीवाँ-नरेशों की हिन्दी-सेवा

लेखक, लाल भानुसिंह जी बाघेल

वाँ-नरेशों के मूल पुरुष यद्यपि गुजराती हैं, पर रीवाँ-प्रान्त में उनके आने पर उस प्रान्त का नाम उनकी जाति नाम से बघेलखण्ड और वहाँ बोली जानेवाली बोली बघेलखण्डी कही जाने लगी। हिन्दी-भाषा के विकास में अवधी और व्रज के बाद बघेलखण्डी ने भी हाथ बँटाया है। प्राचीन काल प्रचार-काल नहीं था, वह निर्माण-काल था। अस्तु, सब प्रान्तों की भाँति बघेलखण्ड ने भी हिन्दी-भाषा के निर्माण में योग दिया है। महाराज जयसिंह देव-द्वारा यह कार्य विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रारम्भ होकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (लगभग १०० वर्ष) में, उनकी तीसरी पीढ़ी महाराज रघुराजसिंह-द्वारा इसकी पूर्ति हुई है और वह इतने विशद-रूप से हुई है कि यदि इसी समय के रीवाँ-राज-घराने एवं राज्य के अन्य कवियों की कृतियों को छोड़कर केवल इन्हीं तीन महाराजाओं की हिन्दी-रचना (इन लोगों ने संस्कृत में भी रचना की है) का ही संग्रह किया जाय तो एक महाग्रन्थ बन सकता है। इस लगभग एक शताब्दी के समय में रीवाँ-नरेशों ने जो हिन्दी-सेवा की है वह अप्रकाशित होने से अन्धकार में है अवश्य, पर उसका पता पाठकों को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज की रिपोर्टों से लग सकता है। विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी से मध्य-भाग में जब हिन्दी-भाषा में प्रौढ़ काव्य-रचना हो रही थी तब से प्रारंभ करके हरिश्चन्द्र-काल तक रीवाँ-नरेशों की क्रमशः तीन पीढ़ियों की काव्य-धारा अविच्छिन्न-रूप से प्रवाहित होती रही है। और यह नहीं कि वह एकांगी हो, उसमें किसी एक निर्दिष्ट विषय का वर्णन हो अथवा वह रचनामात्र से हिन्दी से सम्बन्ध रखती हो। उसमें उन गूढ़-गंभीर एवं कोमल-कान्त विषयों का समावेश हुआ है जिनके कारण हिन्दी-भाषा आज अपने उन्नत-काल में भी अपना मस्तक ऊँचा कर सकती है। भक्ति-रस की तो उसमें अजस्र धारा बही है; किन्तु उसके साथ ही उसमें अन्य रसों की उपधारायें भी पर्याप्त-रूप से प्रवाहित हुई हैं। अर्थात् इनके भक्ति-काव्य केवल भक्ति-काव्य ही नहीं, किन्तु सूर और तुलसी के समान कवित्वमय भक्ति-काव्य हैं। स्फुट काव्य, खण्डकाव्य और प्रबन्ध काव्य ही नहीं, उसमें नाटकों और महाकाव्यों तक का निर्माण हुआ है। जब अन्यत्र नायिका-भेदों और रीति-ग्रन्थों की ही रचना हो रही थी तब रीवाँ-नरेशों ने हिन्दी को नाटकों और महाकाव्यों से सम्पन्न किया। उनके वर्णनीय विषय भी केवल काव्यांग नहीं, राजनीति, अध्यात्म और दर्शन-शास्त्र भी हैं। तात्पर्य यह कि रीवाँ-नरेशों ने हिन्दी-भाषा को सब प्रकार से सम्पन्न करने का प्रयत्न किया है।

महाराज जयसिंहदेव की भाषा बहुत ही कोमल, सरल और सालंकार है। उसमें अवधी, व्रजभाषा और बघेलखण्डी तीनों भाषाओं का मिश्रण है। उनका वर्णन बहुत विशद है। तुलसीदास के बाद उन्हीं ने हिन्दी में सुन्दर चौपाई-छन्द लिखा है। उनके अनेक ग्रन्थों में 'कृष्ण-तरंगिणी' एक पाण्डित्यपूर्ण रचना है। 'हरिचरित्रचन्द्रिका' एक सरल, सरस, सुन्दर और सालंकार काव्य है। 'त्रय-वेदान्तप्रकाश' और 'निर्णय-सिद्धान्त' वेदान्त और दर्शनशास्त्र के ग्रन्थ हैं। उनकी रचना कैसी सरस है, नीचे के पद्यों में देखिए—

> पलना परे कबहुँ कर झटकत।
> बारहि बार कबहुँ पद पटकत॥
> कबहुँक बिहँसत कबहुँक रोवत।
> अधखुल नैन उताने सोवत॥
> छबि लखि मातु दिठौना दीन्हों।
> आनन सरद चन्द सम कीन्हों॥
> रक्षा-तिलक सुअंजन छाजत।
> गरे बघनहा जंत्र बिराजत॥
> कर पग चूरा कंचनवारे।
> रेशम करधनि मृदु कटि धारे॥
> रक्षा-सूत मातु कर बाँधे।
> निरखत बदन मनोरथ साधे॥

तरबन झलकति अति अरुनाई।
मनहुँ लगी मारग ललाई॥
गँू करि गाँ करि मा मुख ताकत।
मुख छवि छाकि मातु मन छाकत॥

× × ×

ता छन उयो अरुन राकासासि।
प्राची कुंकुम दिये मनो घसि।
रमा-वदन सम दुति दरसावत।
इन्दीवर-कानन बिहसावत॥
नभ चढ़ि भयो पीतपट छावत।
निसि-मुख लखि मन विवरन भावत॥
पुनि कछु चढ़ि सित भयो विराजत।
मदन महीप छत्र जनु छाजत॥
तरु कोपनि कुसुमनि कर परसत।
अमीकन्द मनु अमिकन बरसत॥
लसत कौमुदी काँस कुसुम कर।
मनु महताब प्रकाश फटिकघर॥
जपा मालती वेला पुंजनि।
गहगह फूले लखियत कुंजनि॥
शशि कर परसि चमक इमि साजहि।
चुनि चुनि कनि मनु डाँक विराजहि॥

(हारचरित्रचन्द्रिका)

महाराज जयसिहदेव के पाटवी पुत्र महाराज विश्वनाथसिंह भी प्रतिभाशाली कवि हुए। उनकी रचना व्रजभाषा प्रधान है। भक्ति और वेदान्त के सिवा राजनीति में भी उन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं। हिन्दी के लिए यह नई बात थी। विद्यापति ठाकुर (१४४५ वि०) के बाद सवा चार सौ वर्षों में उन्हीं ने पहले पहल हिन्दी में नाटक लिखा। यद्यपि उनकी काव्य-धारा उनके पिता महाराज जयसिहदेव के समान सरल एवं कोमल नहीं मालूम होती, पर प्रवाह उसका एकमुखी नहीं, चौमुखी है। गीता रघुनन्दन, कबीर के कई ग्रन्थों की व्याख्या, तत्त्वप्रकाश, परानीय तत्त्वप्रकाश, वेदान्तपंचक, पाखण्ड-खण्डिनी, परमतत्त्व, तत्त्वमस्य सिद्धान्त आदि वेदान्त और अध्यात्म के उत्तम ग्रन्थ लिखे हैं। ध्रुवाष्टक, उत्तमनीति-चन्द्रिका और अबाध नीति आदि राजनीति और साधारण नीति की रचनायें हैं। अब रहा 'आनन्दरघुनन्दन नाटक', सो इसमें उन्होंने रामजन्म से राजगद्दी तक की कथा नाटक के रूप में वर्णित की है। किन्तु इसमें पात्रों के नाम की कल्पना विचित्र ढंग से की गई है, जैसे—

हितकारी = राम; डह डहजगकारी = भरत, डील-धराधर = लक्ष्मण, डिभीदर = शत्रुघ्न, दिग्यान = दशरथ, दिक्शिर = रावण, सुगल = सुग्रीव, त्रेतामल्ल = हनुमान, भुवनहित = विश्वामित्र, जगद्योनिज = वशिष्ठ, इत्यादि।

उनका ध्रुवाष्टक राजनीति का सार है। इसके चार छन्दों में राजाओं के अवनति और चार में उन्नति के कारण कहे गये हैं। उनकी यह रचना बड़ी लोकप्रिय है। इसके दो पद्य ये हैं—

जो बिन कामहि चाकर राखत ऐन अनेक वृथा बनवावैं।
आमद ते अधिको करै खर्च रिनै करि ब्योहरै ब्याज बढ़ावैं।
बूझत लेखा नहीं कछुऐ नहि नीत की रीति प्रजान चलावैं।
भाषत है विशुनाथ ध्रुवै वहि भूपति के घर दारिद आवैं।
निहचै करि धम विचार भयो दवि भाइन भृत्यन नाहि चलावैं।
मंत्रिन आदि सुलच्छनहीन औ आलसी होय सलाह बतावैं।
मानि सकोच करै व्यवहार वृथा ही इनाम की रीति बढ़ावैं।
भाषत हैं विसुनाथ ध्रुवै वह भूपति ना कबहूँ कल पावैं।

महाराज विश्वनाथसिंह के पुत्र महाराज रघुराजसिंह की हिन्दी-सेवा का परिचय देना तो सूर्य को दीपक दिखाना है। उनकी भाषा में व्रजभाषा एवं बघेलखण्डी की प्रधानता है। उन्होंने शृंगार, वीर, भक्ति इत्यादि सभी रसों का विशद वर्णन किया है। उनके समान सुन्दर युद्ध-वर्णन तो हिन्दी में शायद ही किसी ने किया हो। उन्होंने द्वन्द्व युद्ध, द्वन्द-युद्ध, मल्ल-युद्ध इत्यादि युद्ध के सभी अंगों का विशद वर्णन किया है। वे महाकवि थे। महाकवि केशव के बाद उन्हीं ने हिन्दी में दूसरा महाकाव्य लिखा। उनका 'रुक्मिणीपरिणय' हिन्दी का एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। उनके 'रामस्वयंवर' ग्रन्थ का तो रीवाँ-राज्य में रामायण के ही समान प्रचार है। उन्होंने श्रीमद्भागवत का पद्यात्मक अनुवाद किया है और उससे उनके प्रखर पाण्डित्य का परिचय मिलता है।

उनकी रचना के कुछ उदाहरण हम यहाँ देते हैं—

भिरे तुरंग सों तुरंग जंग-रग छाय के,
सवार सो सवार के प्रहार खड्ग घाय के।
मतंग सों मतंग दन्त-दन्त सों भिड़ाय के,
लरैं प्रवीर सों प्रवीर धीर चित्त चाय के।
कहूँ तुरंग कूदि के मतंग पै चमक्कहीं,
मनो सु श्याम मेघ-मध्य दामिनी दमक्कहीं।
कहूँ तुरंग पै मतंग धाय दन्त देत हैं,
सकोपि शेन ज्यों लवै समेटि दावि लेत हैं।
भरत पैतरे चलि-चलि वीरा।
करन लगे दोउ युद्ध गँभीरा।
हनहि हाथ बहु पट्टन केरे।
कूदि जाहि कहुँ रहहि न नेरे।
कहुँ असि रोकहि ढालहि माहीं।
कहुँ हनि हनि पुनि दोउ बिलगाहीं।
शिर देखाय मारहि पगमाहीं।
कहुँ प्रवीर खाली दै जाहीं।
कहुँ नभ उड़ि दोउ करहि प्रहारा।
करहिं कबहुँ मण्डल बहु बारा।

महाराज रघुराजसिंह के पुत्र महाराज वेंकटरमण-सिंह ने यद्यपि कविता-द्वारा हिन्दी-सेवा नहीं की; पर कार्य-द्वारा उन्होंने हिन्दी-हित खूब किया है। जिस समय प्रायः समस्त देशी राज्यों की अदालती भाषा उर्दू थी उस समय पहले-पहल आप ने ही अपने राज्य की अदालतों से एक-दम (धीरे-धीरे नहीं) उर्दू को हटा कर हिन्दी का प्रचार किया था। वे हिन्दी-हितैषी संस्थाओं की समय-समय पर बराबर सहायता करते ही रहते थे। यही नहीं, उन्होंने आधुनिक युद्धों के इतिहासों एवं युद्ध-विद्या-सम्बन्धी प्रायः एक दर्जन के लगभग अँगरेज़ी-पुस्तकों का हिन्दी-अनुवाद करा कर, बड़ी मोटी-मोटी जिल्दों में प्रकाशित कराया। कुछ संस्कृत-पुस्तकों का भी हिन्दी भाषान्तर कराके प्रकाशित कराया। वर्तमान बान्धवेश महाराज गुलाबसिंह जी हिन्दी-प्रेमी नरेश हैं। आशा है, अपने पूर्वजों की भाँति ये भी हिन्दी को उन्नत करने में समुचित योग देंगे।

जीवन-माया

लेखक, श्रीयुत उदयशङ्कर भट्ट

तुम अर्ध-सजग मैं मूक-स्वगत यह जीवन कैसी माया!
विस्मृति के कण-कण का खुमार क्या महाविश्व बन आया,
जग प्रेम हृदय से क्यों चिपकाये फिरता?
यह शलभ आग में बिना मौत क्यों मरता?
यह सर्प विषम विष पीकर जीता रहता
यह हेय 'मरण' क्यों भरण भार नित सहता
क्यों अन्धकार का एक महासागर अभिनव लहराया।
तुम अन्धकार मैं अन्धकार जीवन प्रकाश क्या माया।
मैं हँसता हूँ अपने छोटे जीवन पर
उसका हँसता है हृदय अश्रुमय बनकर
मोती से आँसू भर नित नभ यह आता
सोई आँखों में मेरी बिखरा जाता
उस समय विश्व का सब विलास जागृति में 'मृत' की छाया
तुम अर्ध-सजग मैं मूक-स्वगत यह जीवन कैसी माया!
मृदु कलियाँ अपना हृदय फाड़कर फूलीं
मस्ती किसलय तज पीत पत्र पर भूलीं
घन सब कुछ देकर गरज रहा है ऊपर
क्षण-क्षण जीवन क्षय होता हँसकर भू पर
फिर रवि-प्रकाश दीपक-विलास में तिमिर कहाँ से आया?
तुम अर्ध-सजग मैं मूक-स्वगत यह जीवन कैसी माया!

त्रिपुरी का कांग्रेस-अधिवेशन

लेखक, श्रीयुत विष्णुदत्त मिश्र 'तरङ्गी'

आशाओं की एक दुनिया लेकर त्रिपुरी उदय हुई और निराशा के भूकम्प के साथ लुप्त हो गई! कितने ही कांग्रेस-अधिवेशन हुए और होंगे, लेकिन त्रिपुरी उनमें सबसे निराली थी। कांग्रेस के इतिहास में केवल त्रिपुरी-कांग्रेस ही ऐसी थी, जो बृहस्पति की छत्रच्छाया में तो जन्मी, लेकिन मंगल और राहु के दबाव में आकर नष्ट हो गई। भूतकाल की त्रिपुरी में भले ही इतिहास की रचना हुई हो, लेकिन कांग्रेस की त्रिपुरी के कलेवर से तो यही ध्वनि निकलती थी कि—

"हँसती हुई निराशा आई, रोती आई मधु आशा।"

जिन दुर्भाग्यपूर्ण क्षणों में त्रिपुरी के गत वैभव के पुनरुत्थान की योजना स्वागत-समिति के सभापति सेठ गोविन्ददास ने की, उस समय कौन जानता था कि त्रिपुरी की ऐतिहासिक भूमि ऐतिहासिक निर्णय करने में समर्थ न होगी। कलचुरी-वंश की राजधानी त्रिपुरी, महाराज काल के हाथ में थपेड़े खाती हुई, वैभवहीन होकर पड़ी थी और उसके आस पास ही पड़े हुए कुछ जीवित पाषाण कह रहे थे कि—

ख़ाक का पुतला बना है, ख़ाक की तस्वीर है।
ख़ाक में मिल जायगा, और ख़ाक दामनगीर है॥

आज से एक हज़ार वर्ष पहले ही तो त्रिपुरी कलचुरि-वंश की राजधानी थी। वैसे तो पौराणिक-काल में भी त्रिपुरी का अस्तित्व था। लेकिन त्रिपुरी ने अपनी उन छापों को छिपा कर नहीं रक्खा। अपने उत्थान और पतन के उन निठुर चिह्नों को भगवान् बौद्ध की मूर्तियों के रूप में जीवित रखकर अपने इतिहास को नष्ट नहीं होने दिया। त्रिपुरी के वे कैसे सुहाग के दिन थे जब उसकी टकसालों में सोने के सिक्के ढलवाने के लिए दूर-दूर से कलचुरि-साम्राज्य के नागरिक आया करते थे। वे आनन्द के दिन थे; लेकिन उनके मिटने की तिथि महाराज भविष्य के सिवा और
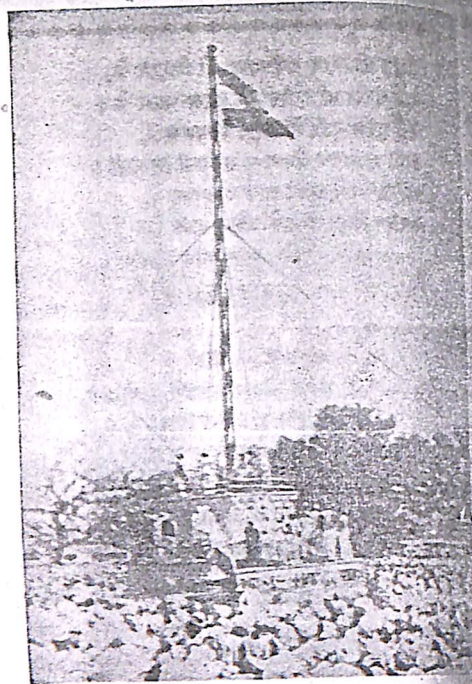
[त्रिपुरी के विष्णुनगर में पण्डित जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय झण्डा फहरा रहे हैं।]

कौन जानता था जान सकता था? गोलियों से सज्जित खन खन घूँघरू पहने जहाँ मस्त हाथी राजद्वार पर डोला करते थे, राजमहिषियाँ जहाँ चन्दन से अपने शरीर को चर्चित किया करती थीं और मोगरे के फूलों से प्रियतम के लिए हार बनाया करती थीं; वह त्रिपुरी फिर अपने यौवन के दिनों की यादगार तपस्वी तरुणी के रूप में करने के लिए तैयार हो गई, जब त्रिपुरी को ही स्वागतकारिणी समिति ने कांग्रेस-अधिवेशन का स्थान बनाने का निश्चय किया।

और यह त्रिपुरी के जीवन में नई बात नहीं थी। उसकी भूमि की ख़ूबी यह रही है कि परिवर्तन को उसने मौन आँखों से देखा तो अवश्य; लेकिन वह मर मर कर फिर जी उठी है। कलचुरि गये; समय के ज्वार के साथ आकर वे कुसमय के भाटे में बह गये। पांडव आये और उन्होंने त्रिपुरी की भूमि में अपना भण्डा

गाड़ा। लेकिन वे कैसे बचते; जब कोई न बचा। और एक दिन वह था जब त्रिपुरी की भूमि पर मदनमहल के क़िले से हृदयशाह से आलिंगन में बँधी हुई रानी दुर्गावती की नज़रें पड़ा करती थीं। वे क्या कहते थे, उनके हृदय में क्या कम्पन होते थे; वे त्रिपुरी की भूमि पर उगे हुए झाड़झंखाड़-पत्तों से एक-दूसरे के कान में फुसफुसाकर कहा करते थे। देखते-देखते ही त्रिपुरी की भूमि वीर घोड़ों की पद-धूल से चमक उठी और देखते ही देखते वह युगल जोड़ी भी न रही, महारानी दुर्गावती भी वीरगति पा गई और इतिहास की इस महती दुर्घटना की ख़बर संसार को सुनाने के लिए त्रिपुरी और मदनमहल दोनों खड़े रह गये। आँधी-पानी में वे दोनों साथी खड़े रहे, प्रतीक्षा करते रहे; जब तक कि—

[त्रिपुरी-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष सेठ गोविन्ददास, एम० एल० ए०]

एक दिन

स्वागतकारिणी समिति ने अन्तिम रूप से फ़ैसला कर दिया कि त्रिपुरी ही आगामी (५२ वीं) कांग्रेस की पुण्य-भूमि बनेगी। उन दिनों की त्रिपुरी क्या थी! उसकी ऐतिहासिक समाधि पर झाड़-झंखाड़ और कटीली झाड़ियों का साम्राज्य था और बहुत से लोग दाँतोंतले उँगली दबा कर रह गये, जब कांग्रेस-इंजीनीयर श्री० गुलारी ने घोषणा की कि इस भूमि पर 'विष्णुदत्तनगर' की रचना बड़े मज़े में हो सकती है। त्रिपुरी के अंचल में बसे हुए विष्णुदत्तनगर की कल्पना शायद केवल दो ही तीन व्यक्तियों के मन में उठी होगी। दोस्त अहबाब हँसते थे और सोच रहे थे कि ऊबड़-खाबड़ में कहीं कांग्रेस हुई भी है। लेकिन एक दिन सेठ गोविन्ददास ने फावड़े की पल्टन को काम करने का हुक्म दे दिया। आस-पास बीसों मील से महाकोशल के स्त्री-पुरुष मज़दूरों के रूप में विष्णुदत्तनगर की रचना करने के लिए आ गये। दिन और रात काम हुआ। देखते-देखते त्रिपुरी की भूमि सँवरने लगी। जहाँ कभी शृगाल बोला करते थे, गाँव की देहातिनें कण्डे बीनने के लिए आया करती थीं और ग्वाले गायें चराया करते थे; जहाँ केवल शान्ति का अखण्ड साम्राज्य था, वहाँ जीवन की हरकत प्रारम्भ हो गई, मोटर चलने लगे। चटाइयों से कलचुरिकला के द्वार बनने लगे और पहली मार्च को विष्णुदत्तनगर का ढाँचा तैयार हो गया। जो त्रिपुरी के अंचल से खेल रहा था।

विष्णुदत्तनगर की झाँकी

त्रिपुरी तो उस जगह का नाम था, जहाँ कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, लेकिन उसके अंचल में जो नगर बसा उसका नाम 'विष्णुदत्तनगर' रक्खा गया! सारे विष्णुदत्त-नगर का विस्तार क़रीब पाँच वर्गमील में था। नगर नर्मदा के तट पर बसा था और नागपुर से आनेवाली सड़क, जो जबलपुर को जाती है, ठीक त्रिपुरी के बीच से जाती थी। अधिवेशन के दिनों में यही सड़क त्रिपुरी का राजपथ थी। त्रिपुरी का सबसे प्रधान द्वार 'माधव-द्वार' था और
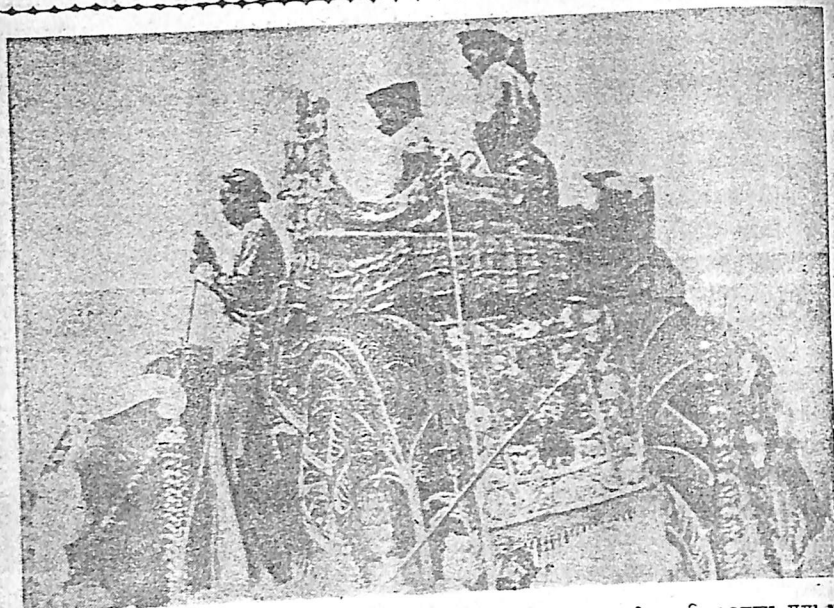
[त्रिपुरी के हाथियों के जुलूस का सबसे आगे का हाथी। इस हाथी पर महात्मा गान्धी का चित्र रक्खा गया था।]

इसके बाद भीतर जाने पर तीन द्वार और थे। बीच में तो एक द्वार था और बगल में एक प्रदर्शनी का था और दूसरा खुले अधिवेशन के पण्डाल का। जहाँ पहले चुँगी-चौकी थी, वहीं आस-पास स्वागतकारिणी समिति का दफ़्तर था; जिसमें गंभीर घनश्यामदास और स्फूर्तिमान् सेठ गोविन्ददास काग़ज़ के गट्ठरों के निठुर रहस्यों को सुलझाया करते थे। मुख्य राजपथ के एक ओर सर्व-भारतीय कांग्रेस-समिति का पण्डाल था और दूसरी ओर दूकानें। लेकिन त्रिपुरी की विशेषता यह थी कि जहाँ हरिपुरा बाँसों का नगर था, वहाँ त्रिपुरी चटाइयों का।

त्रिपुरी बनाम हरिपुरा

देहाती कांग्रेस के इतिहास में त्रिपुरी ने भले ही एक नया इतिहास बनाया हो, पर हरिपुरा का अधिवेशन सम्पन्न गुजरात में हुआ था और वहाँ कांग्रेस-अधिवेशन पर महात्मा गान्धी की नाराज़ी के बावजूद भी ७ लाख रुपया ख़र्च कर देना आसान था। इधर महाकोशल तो उन लोगों का देश है जिनके बारे में मशहूर है कि—

दिहाती फिरें नाँय के पाँय।
चूना तमाखू खाँय, दिहाती फिरें नाँय के पाँय।

पिछले दस वर्षों से महाकोशल में फ़सलें भी ठीक नहीं हुईं, इस कारण यह संभव नहीं था कि कोई फ़ैयाज़ी त्रिपुरी में ख़र्च करे। मैंने स्वयं चिन्तित सेठ शिवदास डागा को देखा था, जो अर्थ-संग्रह-समिति के प्रधान थे। दस-दस, पाँच-पाँच रुपये तक लिये जा रहे थे और जब स्वागत-समिति ने बजट बनाया था तब किसको यह पता था कि स्वागत-समिति की तिजोरी प्रायः ख़ाली थी। लेकिन 'जहाँ चाह, तहाँ राह।'

हरिपुरा के सात लाख ख़र्च की त्रिपुरी के दो लाख के ख़र्च के अन्तर को समझने के लिए आपको उन कार्यकर्त्ताओं की प्रशंसा करनी पड़ेगी जो त्रिपुरी के निर्माता थे! सेठ गोविन्ददास व आनरेबल घनश्यामदाससिंह गुप्त की मितव्ययिता लाभजनक साबित हुई। जो चीज़ माँगने-जाँचने से आ सकती थी—वह वैसे ही प्राप्त की गई। यहाँ तक कि रेलवे से बिजली ले जाने के लिए तार के खंभे मिल

गये; तो फ़ोर्ड-कम्पनी से चमचमाते हुए ६ मोटर। भोजन का प्रबन्ध ठेके पर देकर त्रिपुरी की स्वागत-समिति ने अपनी तैयारी के एक बड़े अंश से मुक्ति पा ली थी। बाँस और चटाइयों से त्रिपुरी की रचना कर दी गई। बिजली भी थी, निवास-प्रबन्ध भी था; लेकिन कुल ख़र्च २ लाख से आगे जानेवाला नहीं है।

[त्रिपुरी-कांग्रेस की भीड़ का एक दृश्य। इस अधिवेशन में ५ लाख से अधिक लोग एकत्र हुए थे।]

लेकिन त्रिपुरी किन्हीं अभागे क्षणों में ही पुनर्जीवित हुई थी, क्योंकि उसके ऊपर जो घटायें छाई थीं वे अपने अन्तिम रूप तक विद्यमान रहीं। जब त्रिपुरी का जीवन उजड़ रहा था तब भी देश सेवाच्छन्न था। इसके अतिरिक्त ऐन मौक़े पर सभापति श्री सुभाषचन्द्र बोस की बीमारी ने त्रिपुरी को और श्रीहीन बना दिया! त्रिपुरी के अंचल में ही वे पड़े रहे, लेकिन कांग्रेस के खुले अधिवेशन में वे जा न सके। त्रिपुरी के इतने निकट होते हुए भी वे उससे कितने अधिक दूर थे। उनकी बीमारी ने त्रिपुरी के कोलाहलपूर्ण जीवन में बड़ी बेचैनी कर रक्खी और जब १२ मार्च को उनका तापमान १०५ के ऊपर पहुँच गया तब त्रिपुरी में घबराहट फैल गई। ऐसा मालूम होता था कि जङ्गल के मङ्गल के रङ्ग में कहीं भङ्ग न पड़ जाय। लेकिन प्रभु ने राष्ट्र की सुनी। सुभाष बाबू सङ्कट के क्षणों को चीर कर सकुशल बाहर आ गये। तीन लाख आदमियों की बस्ती त्रिपुरी में ज़रा सा होश आया; ज़रा सा उत्साह हुआ।

[त्रिपुरी में झण्डा फहराने के समय की भीड़ के एक अंश का दृश्य।]

राजनैतिक घात-प्रतिघात

लेकिन त्रिपुरी के कांग्रेस-अधिवेशन की महत्ता इसमें नहीं है कि वहाँ सबसे कम ख़र्च हुआ और न इसमें है कि राष्ट्रपति एक दिन को छोड़कर बैठक में शामिल न हुए। विशेषता तो उसके राजनैतिक घात-प्रतिघातों में है। सुभाष
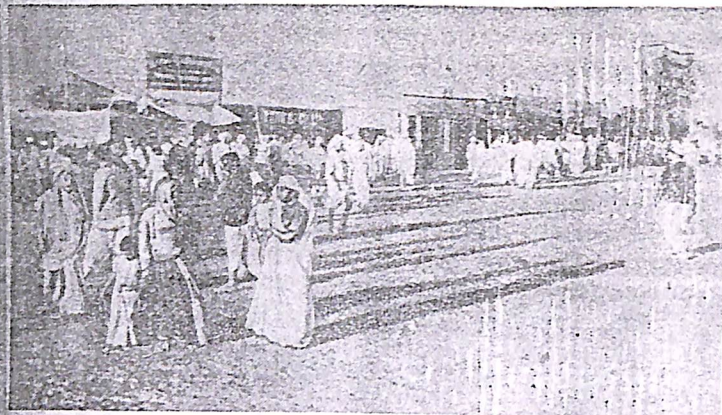
[त्रिपुरी की कांग्रेस-प्रदर्शिनी के भीतर का एक दृश्य।]

बाबू की विजय से गांधी जी को भारी धक्का लगा था और कार्य-समिति के १३ सदस्यों के इस्तीफ़े के बाद देश में ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई थी जिसमें सुभाष बाबू अपने को अकेला पा रहे थे। वे बीमार थे, वर्धा जाने में असमर्थ थे, जब कांग्रेस के १३ दिग्गजों ने उनका साथ छोड़ दिया और दिलजमई या सफ़ाई का कोई मौक़ा तक उन्हें नहीं दिया। ये सब घटनायें ऐसी तेज़ी से हुईं कि देश हक्का-बक्का रह गया। त्रिपुरी के सामने इन्हीं के सुलझाने का प्रश्न था।

सुभाष बाबू चाहते थे कि वे ज़रा स्वस्थ हो लें तो स्वयं उपस्थित हो सकें और इसलिए उन्होंने स्वागत-कारिणी के सभापति से प्रार्थना की कि अधिवेशन की तिथियाँ बढ़ा दी जायँ। स्वागतकारिणी ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। लेकिन जब कुछ दिनों के बाद ही महात्मा गान्धी का अनशन छिड़ा तब वही स्वागतसमिति अधिवेशन मुल्तवी करने के लिए तैयार हो गई, पर इस बार सभापति ने इसे स्वीकृत नहीं किया और वे मृत्यु से द्वंद्व कर त्रिपुरी आये।

दिग्गजों का परामर्श

महात्मा गान्धी ने राष्ट्रपति के चुनाव के पश्चात् सुभाष बाबू को अपने मन की कार्य-समिति बनाने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया था और यह स्थिति दक्षिण पक्षीय दल के लिए हितकर नहीं थी। इसलिए जब नेतागण त्रिपुरी में इकट्ठा हुए तब वातावरण ऐसा था कि अगर सुभाष बाबू यों ही छोड़ दिये गये तो गांधी जी के प्रोग्राम को सख़्त धक्का पहुँचेगा, इसलिए चेष्टा यह की गई कि सुभाष बाबू पुराने लोगों को कार्यसमिति में लेने को बाध्य हों। कांग्रेस के इतिहास में यह एक अजीब घटना थी और मदरास के सुयोग्य प्रधान मंत्री के ऊपर यह भार छोड़ा गया कि वे

[कांग्रेस-प्रदर्शनी में स्त्रियाँ और बच्चे सैर कर रहे हैं तथा सौदा ख़रीद रहे हैं।]

अपढ़ किसानों को वर्तमान परिस्थिति का बोध कराने के लिए त्रिपुरी की कांग्रेस में बहुत से माडल दिखाये गये थे, जिनमें के कुछ ये हैं—

[मिलों और फ़ैक्टरियों की वृद्धि का अर्थ बेकारी है, यही बात इस चित्र में व्यक्त की गई है।]

[विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।]

ऐसे प्रस्ताव का मसविदा तैयार करें जिससे न तो साँप मरे और न लाठी टूटे। इस तरह जब माननीय श्री राजगोपालाचार्य प्रस्ताव बना रहे थे तब उनके सामने तीन बातें काम कर रही थीं :—

(१) सुभाष बाबू ने कार्यसमिति फ़ेडरेशन के सम्बन्ध में समझौता करने का जो कथित आरोप लगाया है उसका खंडन हो जाय और इस तरह सुभाष बाबू के प्रति अप्रत्यक्ष रूप से अविश्वास और इस्तीफ़ा देने-वालों के प्रति विश्वास प्रकट करा दिया जाय।

(२) पुराने लोगों को कार्यसमिति में रखने के लिए सुभाष बाबू विवश किये जायँ।

(३) महात्मा गांधी कांग्रेस में पुनः सर्वोपरि किये जायँ।

श्री राजगोपालाचार्य के हिस्से में कांग्रेस के ऐसे ही कई एक नाज़ुक अवसरों पर प्रस्ताव तैयार करने का भार रहा है

[त्रिपुरी में उन व्यक्तियों की समाधियाँ बनाई गई थीं जिन्होंने राष्ट्र-सेवा के कार्य में आत्मबलिदान किया है। उसी विभाग के एक अंश का यह चित्र है।]

और सदा की भाँति इस बार भी वे अपना प्रस्ताव तैयार करने में सफल हुए। मैंने स्वयं डेलीगेटों के कैम्पों में घुम कर अनेक लोगों से पूछा है कि क्या राष्ट्रपति सुभाष बाबू ने यह बात बिना किसी आधार पर कही है कि फ़ेडरेशन के पक्ष पर दक्षिणपक्षीय लोग समझौता करना चाहते हैं। कौन नहीं जानता कि श्री सत्यमूर्ति फ़ेडरेशन के पक्ष में कितना आन्दोलन कर रहे हैं? और कौन नहीं जानता कि अख़बारों में समय-समय पर इस तरह के अनुमान निकल चुके हैं। हाँ, सुभाष बाबू से यह अपराध अवश्य हो गया कि उन्होंने लोगों की प्रचलित धारणा को अपने मुँह से कह दिया। बस, इसी पर उनके विरुद्ध तूफ़ान खड़ा कर दिया गया। आज यह सब मानते हैं कि सुभाष बाबू की विजय गांधीवाद की किसी तरह भी पराजय नहीं थी, बरन अगर मुझे यह कहने की आज्ञा दी जाय तो वह सरदार पटेल के विरुद्ध कांग्रेस में फैली हुई इच्छा का प्रदर्शन था। लेकिन जब गांधी जी ने कह दिया कि इसमें उन्हीं की हार हुई है, चाहे और लोग और 'विजय' भी उसे स्वीकार न करें; तो फिर गांधी जी में पूर्ण विश्वास प्रकट करने की ज़रूरत आ ही गई थी और यह अच्छा ही हुआ कि वह इस प्रकार प्रकट कर दिया गया। लेकिन क्या यह खेद की बात नहीं है कि जिन महात्मा गांधी को सारा राष्ट्र एक स्वर से अपना नेता स्वीकार करता है उनको आज बहुमत से देश का नेतृत्त्व करना पड़े। अगर गांधी जी इस झगड़े में न लाये जाते तो उस महान् को आपसी तू-तू, मैं-मैं के कीचड़ का शिकार न होना पड़ता।

जो भी हो! उस प्रसिद्ध प्रस्ताव के उपस्थित करने का भार माननीय पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त को सौंपा गया। पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त प्रसिद्ध तर्कशील वक्ता हैं, लेकिन वे इस आलोचना का उत्तर न दे सके कि जब कांग्रेस-विधान के अन्तर्गत सभापति को अपनी कार्य-समिति बनाने का हक़ है तब सभापति का यह प्रधान-अधिकार कांग्रेस के बाहर के किसी व्यक्ति को क्यों दिया जा रहा है, चाहे वह व्यक्ति कितना ही महान क्यों न हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह आक्षेप सैद्धान्तिक रूप से ही ठीक है, यों तो इस युग में किसी भी देश को आगे बढ़ाने के लिए लोकप्रिय डिक्टेटर की ही आवश्यकता है। ख़ैर, विषय-निर्वाचनी समिति में जो कार्यवाही हुई उससे मालूम पड़ता था कि समाजवादियों की एक भी बात नहीं सुनी जा रही है और उक्त प्रस्ताव ज्यों-का-त्यों पास हो गया। आचार्य नरेन्द्रदेव ने एक पुरजोश अपील में सहयोग की भीख माँगी, लेकिन वह भी ठुकरा दी गई। त्रिपुरी के अधिवेशन की यह विशेषता थी कि इस बार समाजवादी नरम थे और दक्षिणपक्षीय गरम।

खुले अधिवेशन में

पहाड़ की तलहटी में बने हुए अधिवेशन के विशाल

पण्डाल में ढाई लाख व्यक्तियों की उपस्थिति में कांग्रेस का खुला इजलास शुरू हुआ। और उसी दिन सभापति को १०५ डिगरी का बुख़ार था। मिस्र के वफ़्ददल के प्रतिनिधि भी इसी समय वहाँ आये थे। माननीय पन्त का जो प्रस्ताव विषय-निर्वाचनी-समिति में पेश हुआ था, नियम के अनुसार वह पहले आना चाहिए था। लेकिन बापू जी अणे ने यह संशोधन पेश किया कि राष्ट्रपति की बीमारी के कारण उक्त प्रस्ताव सर्वभारतीय कांग्रेस समिति के सिपुर्द कर दिया जाय। पर सुभाष बाबू के समर्थक इस पर राज़ी नहीं थे, क्योंकि उनका ख़याल था कि ऐसा करने का अर्थ यह है कि सुभाष बोस पर उक्त कमिटी के भय की तलवार लटकती रहेगी। इसलिए जब स्थानापन्न सभापति श्री० मौलाना अबुलकलाम आज़ाद ने यह घोषणा की कि श्री अणे का प्रस्ताव पास हो गया तब हुल्लड़ मच गया। हुल्लड़ में वैसे तो अधिकांशतः बंगाली थे, लेकिन अन्य प्रान्तों के लोग भी उसमें शामिल थे। इन लोगों का यह कहना था कि खुले अधिवेशन में सुभाष बाबू का बहुमत है और इस तरह खुले अधिवेशन में उक्त प्रस्ताव पर वोट लेने की बात टलती जा रही है। जो हो, जब हुल्लड़ १ घंटे १० मिनिट तक चलता रहा और पंडित जवाहरलाल नेहरू बार-बार चेष्टा करने पर भी बोलने न पाये, तब प्रदर्शनकारियों के उद्देश्य को धक्का लगा और इसी प्रदर्शन के फलस्वरूप तसवीर का सारा रुख़ पलट गया। दक्षिणपक्षीय दलवालों को इस हुल्लड़ से अपने प्रचार का एक बड़ा अस्त्र मिल गया और संयुक्त-प्रान्त के समाजवादी भी रुष्ट हो गये क्योंकि उनके प्रान्त के नेता का अपमान किया गया। विषय-निर्वाचिनी समिति तक सुभाष बाबू का निर्वाचन दक्षिणपक्षीय और वामपक्षीय लोगों के बीच का मतभेद भर था, पर खुले अधिवेशन के इस अरुचिकर प्रदर्शन के पश्चात् मामला तूल पकड़ गया और वह बङ्गाल और अन्य प्रान्तों के बीच का झगड़ा हो गया। फलतः माननीय पन्त जी का उक्त प्रस्ताव प्रचण्ड बहुमत से पास हो गया; नहीं तो यह आशा थी कि उक्त प्रस्ताव २०० से अधिक बहुमत से कदापि पास न होता।

त्रिपुरी-कांग्रेस में प्रस्तावों की दृष्टि से कोई विशेष बात नहीं हुई। हरिपुरा के रियासत-सम्बन्धी प्रस्ताव में केवल इतनी तरमीम कर दी गई है कि कांग्रेस की अहस्तक्षेप की नीति अत्यन्त परिवर्तनशील है; फ़ेडरेशन का विरोध किया गया और उसके लिए संयुक्त मोर्चे की योजना की गई।

लेकिन त्रिपुरी-कांग्रेस का सबसे खेदजनक अंश स्वागत-भाषण था। कांग्रेस के ५२ वर्षों के इतिहास में उक्त भाषण दूरदर्शिता का भाषण नहीं गिना जायगा। राष्ट्र और राष्ट्रपति दोनों स्वागत-समिति के मेहमान थे, लेकिन भाषण में राष्ट्र के सबसे बड़े मेहमान पर छींटेकशी की चेष्टा की गई।

इस बार की कांग्रेस में पर्चेबाज़ी और कैनवेसिंग का बहुत ज़ोर रहा। राष्ट्रपति की बीमारी के सम्बन्ध में जब तरह तरह के आक्षेप उठाये गये तब दूसरे पक्ष ने भी प्रचार किया कि महात्मा गान्धी भी जानबूझ कर त्रिपुरी नहीं आये। दोनों बातें एकदम ग़लत थीं, लेकिन दलबन्दी में ऐसी ही दलदल अवश्यम्भावी थी। त्रिपुरी में स्वागत-समिति ने दूकानदारों से ख़ूब किराया लिया जिसका नतीजा यह हुआ कि दर्शक ख़ूब चूसे गये। दो आने में एक प्याला चाय त्रिपुरी में ही मिली है। किसानों के कैम्प में डेढ़ आने में भोजन मिलने की सारी योजना फ़ेल हो गई।

त्रिपुरी ने कोई नया संदेश नहीं दिया, वरन् वहाँ केवल यही बात प्रकट हुई कि देश में कौन कौन सी विचारधाराएँ काम कर रही हैं। त्रिपुरी में यह प्रकट हो गया कि दक्षिणपक्षीयों और वामपक्षीयों में मुठभेड़ शुरू हो गई है और इस संघर्ष में महात्मा जी के महान् व्यक्तित्व की आड़ लेने की चेष्टा है। त्रिपुरी में जिस उद्देश्य को लेकर, जिस भावना को लेकर लोग गये, उस उत्साह को लेकर नहीं लौटे।

अब त्रिपुरी उजाड़ हो रही है, उसकी अढ़ाई दिन की दुनिया मिट रही है, लेकिन उससे किसी को सहानुभूति नहीं। त्रिपुरी ने हज़ारों-लाखों दिल तोड़ दिये हैं। यही उसका निराशा का सन्देश है।

महात्मा गान्धी की पराजय नहीं, विजय

महात्मा गान्धी कोरे भगवद्भक्त महात्मा ही नहीं हैं, वे उतने ही विचक्षण राजनीतिज्ञ भी हैं और अपनी इस विशिष्टता का वे बार-बार परिचय भी दे चुके हैं। अभी हाल में उसका परिचय कहीं अधिक सफलता के साथ एक बार फिर मिला है। पिछले दिनों कांग्रेस के अध्यक्ष के चुनाव को लेकर कांग्रेस के प्रमुख व्यक्तियों में जो संघर्ष हुआ था उसमें महात्मा जी के अनुयायी बुरी तरह हार गये। परन्तु उनकी हार को अपनी हार मानकर महात्मा जी ने जो विजय प्राप्त की है, देश के राजनीति के इतिहास में सदैव अनूठी मानी जायगी। इस बार उन्होंने एक ही तीर से दो शिकार मार गिराये। जब उन्होंने देखा कि कांग्रेस के प्रतिनिधियों पर उनके प्रमुख अनुयायियों का वैसा प्रभाव नहीं है, तब वे झट मैदान में कूद पड़े। राजकोट में जो सत्याग्रह छिड़ा हुआ था उसको स्थगित करवा कर वे ख़ुद वहाँ जा पहुँचे और वहाँ के अधिकारियों से भेंट-मुलाक़ात करने के बाद इस बात पर आमरण उपवास शुरू कर दिया कि राजकोट के राजा ने अपना वचन भंग किया है। कोई नहीं जानता था कि महात्मा जी अपने अमोघ अस्त्र का इस अवसर पर प्रयोग करेंगे। उनके उपवास का प्रारम्भ करते ही सारे देश में तहलका मच गया। यहाँ तक वायसराय महोदय को शीघ्र ही हस्तक्षेप करना पड़ा। उन्होंने महात्मा जी को पत्र लिखकर आश्वासन दिया कि राजकोट के राजा को अपने वचन का पालन करना पड़ेगा, आप अपना अनशन तोड़ दें और मुझसे आकर दिल्ली में मिलें। महात्मा जी के उपवास की इस सफलता का प्रभाव कांग्रेस के त्रिपुरी के अधिवेशन पर कहीं अधिक पड़ा। कांग्रेस के जिन प्रतिनिधियों ने कार्य-समिति के सदस्यों के आदेश के विरुद्ध अगले साल के लिए सुभाष बाबू को पुनः अपना अध्यक्ष मनोनीत किया था उन्हीं प्रतिनिधियों ने महात्मा जी की बढ़ती हुई कला को देखकर उनको मँझधार में छोड़ दिया और महात्मा गान्धी को अपना सर्वेसर्वा स्वीकार कर अपने उस सिद्धान्त की उपेक्षा कर डाली जिसकी रक्षा करने के लिए वे आगे आये थे।

इस घटना के परिणाम से तो यही प्रकट होता है कि महात्मा गान्धी कितने महान् और कितने कुशल राजनीतिज्ञ हैं। ऐसी दशा में उनकी उक्त पराजय भी विजय ही सिद्ध होती है। और जब तक वे जीवित हैं, उन्हें अन्त तक प्रत्येक कार्य में ऐसी ही विजय प्राप्त होती जायगी। कहाँ उनके राजकोट जाने के पहले ऐसा जान पड़ता था कि इस बार त्रिपुरी में कांग्रेस में भारी फूट हो जायगी, कहाँ उनके राजकोट के उपवास ने सारी स्थिति को ही बदल दिया। त्रिपुरी की कांग्रेस के क्षेत्र का वायुमण्डल महात्मा जी की महत्ता से एक बार कैसे गुञ्जायमान हो गया और जो लोग उनके अनुयायियों से भिड़ने के भाव में थे उनमें से अधिकांश महात्मा जी के पक्ष में कैसे हो गये, इसका रहस्य जानना कठिन है, तथापि यह सब राजकोट की समस्या के हल से भी अधिक महत्त्व का हुआ है और यही महात्मा जी की पराजय की सबसे बड़ी विजय है। त्रिपुरी के कांग्रेस के अधिवेशन में पण्डित गोविन्द-वल्लभ पन्त का जो प्रस्ताव पास हुआ है उसके द्वारा महात्मा गान्धी कांग्रेस के सर्वेसर्वा घोषित किये गये हैं, साथ ही राष्ट्रपति से कहा गया है कि वे महात्मा गान्धी की स्वीकृति से अपनी कार्य-समिति का निर्माण करें। इस समय भारत की राजनीति की जो स्थिति है उसको देखते हुए उक्त व्यवस्था सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है और महात्मा गान्धी के नेतृत्व में उसका शान्ति के साथ निर्वाह भी हो जायगा। यही सब समझ-बूझ कर यह कार्य किया गया है। यह बात दूसरी है कि इस कार्यवाही से प्रजातंत्र की भावना को भारी ठेस पहुँचती हो। फिर इस समय संसार में प्रजातंत्र का महत्त्व माना ही कहाँ जा रहा है! चाहे जो हो, पिछले दिनों इस सिलसिले में जो अप्रत्याशित घटनायें हुई हैं उनसे एक बार यह फिर सिद्ध हो गया है कि चाहे इच्छा से हो, चाहे अनिच्छा से हो, गान्धी जी के विरोधी भी उनके साथ हैं, जैसा कि त्रिपुरी के कांग्रेस के अधिवेशन ने भले प्रकार सिद्ध कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं है कि महात्मा गान्धी ही भारत के एकमात्र सर्वप्रधान नेता हैं।

त्रिपुरी का कांग्रेस-अधिवेशन

कांग्रेस का बावनवाँ अधिवेशन इस बार मध्यप्रदेश के जबलपुर के पास त्रिपुरी (तेवर) नामक स्थान में गत वर्ष के राष्ट्रपति श्रीयुत सुभाषचन्द्र वसु के सभापतित्व में हो गया। सुभाष बाबू ही इस वर्ष के लिए भी कांग्रेस के प्रतिनिधियों-द्वारा उसके सभापति बहुमत से मनोनीत हुए थे, यद्यपि कांग्रेस के सूत्रधार यह नहीं चाहते थे कि वे दूसरी बार इस वर्ष भी उसके अध्यक्ष बनाये जायँ। और यह बात इतना अधिक तूल पकड़ गई कि कांग्रेस का यह अधिवेशन उसके उपयुक्त कहाँ तक रहा, यह कहना कठिन है। आज भारत के ११ प्रान्तों में से ७ प्रान्तों का शासन-सूत्र कांग्रेस के हाथ में है, जिसको देखते हुए उसकी शक्ति और क्षमता का अनुमान भले प्रकार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में जानकार लोगों को आशा थी कि त्रिपुरी के अधिवेशन में बल-सम्पन्न कांग्रेस अपनी शक्ति का समुचित रीति से परिचय देगी और देश स्वाधीनता के पथ पर आगे बढ़ेगा। परन्तु राष्ट्रपति के चुनाव को लेकर भारत की राजनीति में एकाएक संघर्ष का भाव उठ खड़ा हुआ, जिसका सबसे भयानक परिणाम यह हुआ कि इस वर्ष कांग्रेस देश के आगे कोई ठोस योजना न उपस्थित कर सकी, क्योंकि उसके सूत्रधार एकमात्र प्रतिनिधियों का विश्वास प्राप्त करने के काम में ही संलग्न रहे। इस प्रसंग में सबसे अधिक दुःख की यह बात हुई कि अपनी बीमारी के कारण राष्ट्रपति कांग्रेस के अधिवेशन में उपस्थित न हो सके। और उनकी अनुपस्थिति में माननीय पन्त जी का यह प्रस्ताव पास हो गया जिसके द्वारा गत वर्ष की कार्य-समिति से पदत्याग करनेवाले सदस्यों पर विश्वास प्रकट किया गया और यह आदेश दिया गया कि राष्ट्रपति अपनी कार्य-समिति महात्मा गान्धी के निर्देशानुसार बनायें। वस्तुतः त्रिपुरी की कांग्रेस का यही सर्वप्रधान प्रस्ताव था और इसके पास हो जाने से यह प्रकट हो गया कि कांग्रेस में साम्यवादियों का बहुमत नहीं है। यही नहीं इस, अधिवेशन से इस बात का भी संकेत मिल गया कि कांग्रेस का बहुमत कांग्रेस के राष्ट्र-निर्माण के वर्तमान कार्यक्रम के आगे क़दम रखना नहीं चाहता।

यों कांग्रेस के इस अधिवेशन में काफ़ी धूम-धाम रही। कोई दो लाख प्रतिनिधियों एवं दर्शकों ने उसके खुले अधिवेशन में भाग लिया। उपर्युक्त प्रस्ताव पर विषयनिर्वाचिनी समिति में जिस प्रकार डटकर वाद-विवाद हुआ, खुले अधिवेशन में उसका शगल कुछ कम नहीं रहा। यही क्यों, खुले अधिवेशन में तो प्रस्ताव के विरोधियों ने बड़ा होहल्ला तक मचाया, जो सर्वथा अशोभन-कार्य था। ख़ैर, जो कुछ हुआ, हो गया, अब तो यही उचित है कि परिस्थिति सँभाली जाय और ऐसा प्रयत्न किया जाय कि राष्ट्र की सारी शक्ति दृढ़ता के साथ राष्ट्रोद्धार के कार्य में संलग्न हो।

जर्मनी की अनीति

पिछले महायुद्ध के बाद विजयी राष्ट्रों ने मध्य-योरप में ज़ेचो-स्लोवेकिया नाम के जिस नये प्रजातंत्र-राज्य की स्थापना की थी, बीस वर्ष बाद उसे हिटलर ने नष्ट कर अपनी अधीनता में ले लिया और उसके संस्थापक उनकी यह लीला चुपचाप देखते रहे। इस घटना से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि जर्मनी के वर्तमान सूत्रधार हर हिटलर अनीति के मार्ग के हिमायती हो गये हैं, आये दिन एक न एक नई बात करते ही रहते हैं। यहूदियों पर जो अत्याचार हो रहा है वह तो अब पुरानी बात हो गई है। अभी हाल में उन्होंने उस ज़ेचो-स्लोवेकिया के शेष भाग पर भी अधिकार कर लिया है जिसे म्यूनिच के समझौते के अनुसार उन्होंने खुद स्वतंत्र स्वीकार किया था। उस अवसर पर जब उन्होंने ज़ेचोस्लोवेकिया के जर्मन-बसित प्रदेशों पर अधिकार करने का आयोजन किया था तब ब्रिटेन और फ़्रांस ने उनकी कार्यवाही का तीव्र विरोध किया था। फलतः म्यूनिच में फ़्रांस और ब्रिटेन के प्रधान मंत्रियों ने जाकर हर हिटलर और सिग्नर मुसोलिनी से समझौता किया, जिसके अनुसार बचे-खुचे ज़ेचोस्लोवेकिया की स्वतंत्रता मान ली गई। परन्तु आज हर हिटलर ने उस समझौते को फाड़ फेंका है और दलबल के साथ प्रेग पहुँच कर 'ज़ेचो स्लोवेकिया' का नाम शेष कर देने की घोषणा कर दी है।

इस प्रकार उन्होंने अनीति और अन्याय की हद कर दी है। ऐसी दशा में उनकी बात का ठिकाना तक नहीं रहा। और वे कब किस देश पर आक्रमण कर सकते हैं, कौन कह सकता है ? जर्मनी के पड़ोस के छोटे छोटे राज्य उनके आतंक से सुख की नींद कैसे सोते होंगे जब ब्रिटेन और फ़्रांस जैसे शक्तिशाली राष्ट्र तक अहर्निश त्रस्त रहते हैं ? जर्मनी के वर्तमान अनीति-पूर्ण व्यवहारों से तो यही सिद्ध होता है कि महायुद्ध के सारे बलिदान व्यर्थ गये और स्वाधीनता के उपासकों को आत्मरक्षा के लिए पिछले महा-युद्ध की अपेक्षा कहीं अधिक स्वार्थत्याग करने को तैयार रहना होगा। क्योंकि यह अब एक प्रकट बात है कि जर्मनी उन सारे भूभागों को अपने अधिकार में किये बिना नहीं मानेगा, जो पड़ोस के दूसरे देशों के अन्तर्गत हैं, क्योंकि ज़ेचोस्लोवेकिया की इस पिछली घटना के बाद उसने लिथुआनिया से मेमेल भी ले लिया है। और यही क्यों ? वह अपनी आवश्यकता के अनुसार उन देशों पर भी अधि-कार करने का उपक्रम करेगा जिन्हें वह अपने लिए उप-योगी समझेगा। आज का जर्मनी शक्तिशाली ही नहीं, दुराचारी भी है। इसी से उसने नीति और न्याय को उठाकर ताक पर रख दिया है। वह देखता है कि ब्रिटेन, फ़्रांस और रूस उससे डर गये हैं और वे सबके सब मिल कर पहले की तरह उससे लड़ने को तैयार नहीं हैं, और पृथक् पृथक् तो उससे कोई भी भिड़ने का साहस न करेगा। यही सब देख-भाल कर आज जर्मनी अनाचार और अनीति के मार्ग पर आरूढ़ है। यह पूर्ण स्पष्ट हो गया है कि अब योरप में समराग्नि की ज्वाला शीघ्र ही किसी दिन बड़े वेग से धधक उठना चाहती है। विश्वशान्ति आज जोखिम में है और उसकी रक्षा भगवान् ही करें तो करें, वह मनुष्य के हाथ की बात अब नहीं रही।

फ़िलिस्तीन की विकट समस्या को हल करने के लिए लन्दन में जो आयोजन हाल में हुआ था वह भी पूर्णरूप से सफल नहीं हुआ। अरब देशों के तथा फ़िलिस्तीन के जो प्रतिनिधि तथा यहूदियों के जो प्रतिनिधि वहाँ एकत्र हुए थे उनमें आपस में जब समझौता नहीं हो सका तब ब्रिटिश सरकार को अपने प्रस्ताव रखने पड़े। उन प्रस्तावों से न यहूदी सहमत हुए, न अरब प्रतिनिधि। प्रारम्भ में अरबों ने इस मतलब से उन्हें स्वीकार कर लिया था कि उनके आधार पर फ़िलिस्तीन के बड़े मुफ़्ती से ब्रिटिश सरकार की बातचीत हो सकेगी। फलतः अरब प्रतिनिधियों के आग्रह पर ब्रिटिश सरकार ने वह सारी लिखापढ़ी प्रकाशित कर दी है जो महायुद्ध के समय अरब नेताओं से मिस्र के तत्कालीन हाई कमिश्नर मैकमेहन साहब की हुई थी। अरबों का कहना था कि उन्होंने फ़िलिस्तीन को अन्य अरब प्रदेशों की भाँति स्वाधीनता प्रदान करने का वचन दिया था। परन्तु जो पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुआ है उससे प्रकट होता है कि अदाना और मर्सीना के उत्तर ३७वीं डिगरी तक, पूर्व में फ़ारस की सीमा और फ़ारस की खाड़ी तक, दक्षिण में अदन को छोड़कर भारतीय समुद्र तक और पश्चिम में लालसागर और भूमध्यसागर तक अरब के प्रदेशों को स्वाधीनता प्रदान की जायगी। और उक्त पत्र-व्यवहार में मर्सीना और अलेक्ज़ेंड्रेटा के ज़िले एवं दमस्कस, होम्स, हामा और अलेपो के ज़िले के पश्चिम के भूभाग अलग रक्खे गये हैं। साथ ही इस लिखा-पढ़ी में फ़िलिस्तीन का उल्लेख नहीं हुआ है। जब स्वाधीनता प्रदान करने का समय आया और उक्त सीमा के भीतर के अरब प्रदेशों को स्वाधीनता दी गई तब फ़िलिस्तीन की स्वाधीनता का प्रश्न नहीं उठाया गया। १९१७ के नवम्बर में फ़िलिस्तीन में यहूदियों के बसाने और उसे यहूदी देश बनाने की घोषणा की गई थी। इसके लगभग ४ वर्ष बाद फ़िलिस्तीन का प्रश्न उठाया गया, जो अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक विकट प्रश्न हो गया है, यहाँ तक कि उसके सुलझाने का जितना ही प्रयत्न किया जाता है, वह और भी अधिक उलझ जाता है। लन्दन में इस समय उसके निपटारे का जो प्रयत्न हो रहा है उसमें भी ब्रिटिश सरकार को सफलता नहीं मिली है। यह बात दूसरी है कि शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए वह अपने ढंग से उसका निर्णय करने को बाध्य है। उसके निर्णय के अनुसार फ़िलिस्तीन एक स्वाधीन राज्य मान लिया गया है, पर वह स्वाधीन किया जायगा दस वर्ष के बाद। साथ ही वहाँ यहूदियों के बसाये जाने की बात छोड़ दी गई है और अगले पाँच वर्ष तक कुल ७५ हज़ार यहूदी वहाँ जाने पायेंगे। उसके बाद उनका वहाँ जाना यहूदियों और अरबों की इच्छा पर निर्भर होगा। इस तरह फ़िलिस्तीन के भाग्य का निर्णय

हो गया। अब यह देखना है कि इस निर्णय से उस अभागे देश में स्थायी शान्ति स्थापित होती है या नहीं।

आन्ध्र का झंडा-प्रेम

भारत जैसे विशाल देश में प्रान्त-प्रेम का होना सर्वथा स्वाभाविक है। भारत में प्रान्त-प्रेम पहले भी था और आज भी है। यह बात भी है कि सर्वभारतीयता भी रही है और उसके साथ प्रान्तीयता भी। परन्तु आज प्रान्तीयता का निषेध किया जा रहा है। तो भी कहीं कहीं उसका विकृत रूप दिखाई पड़ जाता है। ऐसी विकृत प्रान्तीयता की चर्चा करने का यहाँ हमारा प्रयोजन नहीं है। यहाँ हम आन्ध्रों की प्रान्ती-यता की एक उत्साहवर्द्धक बात का उल्लेख करना चाहते हैं। वह है उनका राष्ट्रीय पताकाओं का प्रेम। वे कांग्रेस के 'तिरंगे झंडे' को तो मानते ही हैं। इसके सिवा उन्होंने अपना आन्ध्रों का एक अलग तिरंगा झंडा १९३८ से चलाया है। यह हरे, लाल और सफ़ेद रंग का है। इसमें तीन फूल—कमल, कुमुदिनी और गुलाब बने हुए हैं तथा ढाल के नीचे भाला और तलवार। ढाल पर तेलुगू में 'आन्ध्र' लिखा हुआ है। इसके सिवा वहाँ के साम्यवादियों का हँसिये और हथौड़े का लाल झंडा, स्वराज्यवादियों का प्रणव और चक्र-युक्त लाल झंडा, जस्टिसदलवालों का बाँट-तराज़ू के चिह्न का लाल झण्डा अलग अलग फहराता है। इन नये झंडों के सिवा पुराने झंडे भी वहाँ अभी तक फहराते हैं। वहाँ के सबसे बड़े राज्य विजयनगर का पुराना झण्डा लाल रङ्ग का है और उसमें दोहरी तलवार का चिह्न है। पेरुर की ज़मींदारी का भी झंडा लाल है और उसमें सूर्य और चन्द्र की आकृतियाँ हैं। अन्य ज़मींदारियों के भी अपने अपने झंडे हैं—किसी का लाल, किसी का सफ़ेद तो किसी का पीला। इस प्रकार आन्ध्र एक प्रकार से झंडाप्रेमियों का प्रान्त है। और इस दिशा की उसकी प्रान्तीयता वास्तव में प्रशंसनीय है, क्योंकि झंडा का प्रेम एकता की भावना का प्रतीक है।

तीसरे दर्जे के यात्रियों का मूल्य

रेल के तीसरे दर्जे के यात्रियों को यात्रा में जो कष्ट भोगने पड़ते हैं वे सभी लोग जानते हैं—अधिकारी भी और लोक-नेता भी। परन्तु अभी तक उनके कष्ट दूर नहीं किये गये और वे ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। और सच पूछिए तो रेलों की सबसे अधिक आमदनी इन्हीं तीसरे दर्जे के यात्रियों से होती है, जिसका ब्योरा 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादकीय में इस प्रकार दिया गया है—

रेलवे-बजट पर जो बहस हुई है उससे प्रकट होता है कि गत वर्ष भारत में रेलगाड़ियों से पहले दर्जे से ४ लाख, दूसरे दर्जे से ४२ लाख, ड्योढ़े से १ करोड़ १३ लाख और (तीसरे से) ५० करोड़ ५३ लाख यात्रियों ने यात्रा की। और रेलवेवालों को पहले दर्जे से ७९ लाख, दूसरे दर्जे से १४४ लाख, ड्योढ़े दर्जे से १२२ लाख और तीसरे दर्जे से २७६२ लाख रुपये की आय हुई।

रेलवे को तीसरे दर्जे से शेष तीनों दर्जों की अपेक्षा अठगुनी आय होती है, पर उसकी निगाह में तीसरे दर्जे के यात्रियों का कोई मूल्य ही नहीं।

क्या यही स्वराज्य है ?

'नये इंडिया ऐक्ट' के अनुसार भारत के कुछ प्रान्तों को स्वराज्य दिया गया है। उसके अनुसार भारत के ११ प्रधान प्रान्तों में शासन प्रचलित है। इन प्रान्तों में क़ानून बनानेवाली जो नई सभायें स्थापित हैं उनका निर्माण प्रजा-द्वारा चुने हुए सदस्यों से हुआ है। इन सभाओं में जिस दल का बहुमत है उसका नेता प्रधान मंत्री बनाया गया है, जो अपने मन्त्रिमण्डल के द्वारा प्रान्त के शासन का परिचालन करता है। यही स्वराज्य प्रान्तों को दिया गया है।

परन्तु इस परिवर्तन से जनता के जीवन में क्या परिवर्तन हुआ है, यह बतलाना कठिन है। और साल-दो साल के भीतर कोई प्रजातंत्रात्मक शासन-प्रणाली चमत्कार का कोई काम कर भी क्या सकती है ? यह तो तानाशाह ही कर सकते हैं। तब यदि इस शासन-परिवर्तन, अर्थात् स्वराज्य मिल जाने से सर्वसाधारण की स्थिति में विशेष उन्नति-मूलक परिवर्तन न हुआ हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

हम देखते हैं कि उपर्युक्त ११ प्रान्तों में प्रजा के प्रतिनिधियों की बड़ी बड़ी सभायें स्थापित हैं, जिनके प्रायः सभी सदस्य अपने अपने निर्वाचन-मण्डल के नेता या प्रसिद्ध लोकसेवक हैं तथा उनके मंत्रिमण्डल में एकमात्र

प्रधान प्रधान नेता ही रक्खे गये हैं। तब शिकायत किस बात की हो सकती है? यदि ये लोग जनता के जीवन को समुन्नत न बनावेंगे तो और कौन बनावेगा? जो वर्षों से देशसेवा के कार्य में लगे रहे हैं तथा जिन्होंने बहुत बड़ा त्याग किया है, साथ ही तरह तरह के कष्ट भी झेले हैं, वही जब अपने शासन-काल में 'सुराज्य' भी न क़ायम कर सकेंगे तो फिर उसका अस्तित्व में आना असम्भव ही है।

जहाँ तक दिखाई देता है, 'स्वराज्य' की कौन कहे, 'सुराज्य' भी अभी तक अस्तित्व में नहीं आ सका है। यही नहीं, हालत तो और भी ख़राब होती जा रही है, जिससे सुख-शान्ति का लोप सा हो गया है। वही लूट-मार, वही चोरी-चाण्डाली, वही त्रास और प्रतारणा ज्यों की त्यों बनी ही हुई नहीं है, किन्तु उनके अतिरिक्त और नये नये संकट उठ खड़े हुए हैं। हिन्दू-मुसलमानों के दंगों ने वर्ष के सभी त्योहारों के खुशी के दिनों को ग़म के दिनों में परिणत कर दिया है। ज़मींदारों और किसानों में भारी संघर्ष छिड़ा हुआ है। अछूत और सवर्ण एक होने के बजाय अलग होने के लिए छटपटा रहे हैं। उधर दरिद्रता की वृद्धि में ह्रास का चिह्न तक नहीं है। इस अवस्था को स्वराज्य का राज्य कहना उस पवित्र शब्द का उपहास करना होगा। तथापि लाचारी है, क्योंकि इस समय हमारे 'स्वराज्य' का रूप ऐसा ही है।

ऐसा क्यों है? इसलिए कि स्वराज्य-सरकार प्रजातंत्रात्मक सरकार है। इसके सिवा पहले की नौकरशाही के संगठन के भीतर रहकर ही उसे अपना काम-काज करना पड़ता है। और अँगरेज़ी नौकरशाही दफ़्तरी काम-काज में अपना सानी नहीं रखती। उसकी फ़ाइलबाज़ी जगत्प्रसिद्ध है। हमारे लोक-नेता सरकार के घर पहुँच कर उसी फ़ाइलबाज़ी के जाल में फँस गये हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि नौकरशाही का बोलबाला है।

देहातों में चोकीदार, पटवारी और ज़िलेदार पहले की ही भाँति राज कर रहे हैं। उनके कुचक्रों से प्रजाजन पूर्ववत् पीड़ित हैं। उनको इसका बोध अथवा अनुभव क्योंकर हो कि उनका जीवन स्वराज्य के शासन में बीत रहा है। हाँ, किसानों को अलबत्ता कुछ राहत मिली है, पर वह भी केवल उन्हीं को, जो पट्टेदार हैं। और यह राहत भी मिली है केवल लगान के देने के सम्बन्ध में। बाक़ी सब संकट पहले की तरह बने हुए हैं। वे अशिक्षित हैं और अशिक्षितों में जो कमज़ोरियाँ होती हैं वे सब उनमें हैं। तब वे चौकीदार, पटवारी, ज़िलेदार आदि के त्रास से त्रस्त हैं तो यह स्वाभाविक ही है। ऐसी दशा में इस बात की आशा कैसे की जा सकती है कि हमारे लोकनेता शासन के प्रमुख सञ्चालक होकर भी हमारे कष्टों को दूरकर 'सुराज' की स्थापना आसानी से कर लेंगे? और यही वह अवस्था है जिसे देखकर कहना पड़ता है कि क्या यही स्वराज्य है?

प्रान्तीय सरकार के इंजीनियरिंग-विभाग की रिपोर्ट

हमारे प्रान्त की सरकारी की सड़कों तथा इमारतों के मुहकमे की सन् १९३७-३८ की रिपोर्ट पिछले दिनों प्रकाशित हुई है। इसे देखने से ज्ञान होता है कि प्रान्तीय सरकार को सड़कों के सुधार के लिए केन्द्रीय सरकार से ३,४०,०००) इस वर्ष प्राप्त हुए हैं। १,५५,८६३) पिछले वर्ष की इसी मद में मिली हुई रक़म में से शेष थे। इस प्रकार कुल मिलाकर ४,९५,८६३) केन्द्रीय सरकार से मिले। इनके अतिरिक्त ४,३१,२९०) केन्द्रीय सड़क-सुधार कोष से मिले। कुल योग ९,२७,१५३) होगया। व्यय के विवरण में दिखाया गया है कि ८,९६,१३८) कुछ सड़कों के पुनर्निर्माण व पुल आदि के बनाने में व्यय किये गये। इस व्यय से सुधरनेवाली सड़कों की लम्बाई २२५ मील है। इसके सिवा ६,२५३ मील की मरम्मत प्रान्तीय सरकार के कोष से भी की गई है। मेरठ-डिवीज़न में ग्रैंड ट्रक-रोड के पुनर्निर्माण तथा कानपुर-डिवीज़न की कुछ सड़कों को फिर से सुधारने में प्रान्तीय सरकार के राजस्व से क्रमशः २६,०००) तथा १४७००) ख़र्च किये गये।

सड़कों की साधारण मरम्मत में जो रुपया व्यय हुआ है उसका औसत ७५७) प्रतिमील पड़ा है। ऐसी मरम्मत की मद में साल भर में कुल २५,६६,१२०) व्यय किये गये हैं।

इमारतों की मद में ख़र्च होनेवाले रुपये का विवरण इस प्रकार है। सरकार के विभिन्न-विभागों के लिए आवश्यक इमारतें बनवाने में इस वर्ष ६,५२,१७९) व्यय किये गये हैं। गवनर महोदय के चीफ़ सेक्रेटरी के लिए लखनऊ में एक वासस्थान बनवाना आरम्भ किया गया है, जिसका अनुमित व्यय ३३,६६२) है। इनमें से ३१,१०५) इस वर्ष व्यय किये गये हैं। लखनऊ के कौंसिल-भवन के विस्तार में भी ५,०८,५०४) व्यय हुए। इसी प्रकार कहीं थाने बनवाये गये, कहीं तहसीलें, कहीं ख़ज़ाने के दफ़्तर। पुरानी इमारतों की मरम्मत के लिए भी ख़ासी रक़म ख़र्च की गई। इन इमारतों की देखरेख के लिए जो अफ़सर रक्खे गये तथा जिन्होंने नक़्शे आदि बनाये, एवं हिसाब-किताब लिखा, उनका वेतन इस व्यय में सम्मिलित नहीं है।

रिपोर्ट में यह भी सूचित कर दिया गया है कि धनाभाव के कारण इस वर्ष प्रान्त में कोई नई सड़क नहीं बनाई जा सकी। हाँ, देहरादून फ़ौजी कालेज के सामनेवाली सड़क की पटरियाँ, जो कच्ची थीं और जिनसे धूल उड़-उड़ कर कालेज में पहुँचती थी और गोरे अफ़सरों के सुनहरे केशों व वस्त्रों में भर जाती थी, ११,९८५) लगाकर पक्की करा दी गई हैं। इस प्रकार फ़ौजी कालेजवालों की एक बहुत बड़ी तकलीफ़ दूर हो गई। ऐसा कौन समझदार आदमी होगा जो मुहकमे की इस हमदर्दी और उदारता की प्रशंसा न करे।

महर्षि शिवव्रतलाल जी का स्वर्गवास

गत २३ फ़रवरी को ७८ वर्ष की आयु में महर्षि शिवव्रतलाल वर्मन का मिर्ज़ापुर में देहान्त हो गया। महर्षि जी राधास्वामी-सम्प्रदाय के एक विशेष दल के प्रवर्तक व आचार्य थे। आपका अध्ययन बहुत गम्भीर तथा विशाल था। अध्यात्म तथा धार्मिक विषयों पर आपने सैकड़ों पुस्तकें लिखी हैं और अपने जीवन-काल में लगभग १६ पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया है। आपकी पुस्तकें धर्म-साहित्य के प्रेमियों में आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। प्रारम्भ में आप उर्दू में लिखते थे। बाद में आपने अपनी रचनायें हिन्दी में प्रकाशित कीं। आपका 'शाही लकड़हारा' एक प्रसिद्ध रचना है। आपका हिन्दी के प्रति विशेष अनुराग था। आपने अपनी-मृत्यु-तिथि की सूचना महीनों पूर्व से दे दी थी और स्वयं अपने हाथों से अपना मरसिया भी लिख दिया था, जिसका एक शेर यह है—

है दिल में पूरी इस्तग़ना किसी से क्या ग़रज़ हमको
न हम दरबार में आये न हम सरकार में आये।

युक्तप्रान्तीय सरकार का नया बजट

युक्तप्रान्तीय सरकार के नये साल के बजट की लोकोपयोगिता के विषय में इतना लिखना ही पर्याप्त है कि हमारे प्रान्त की सरकार किसानों और मज़दूरों की भलाई के लिए अधिक-से-अधिक व्यय करना चाहती है। ग्रामीणों की सब प्रकार की उन्नति करने के लिए उसने जिन योजनाओं को चलाया है और उन पर जिस उदारता से वह व्यय कर रही है उन्हें देखते हुए हम अपने प्रधान और अर्थमन्त्री माननीय पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। बजट का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

-इस वर्ष की अनुमित आय १३,३१,४४,९८७ रुपये है।
(१९३९-४०)
और अनुमित व्यय १३,६९,३८,४२२ रुपये है।
इस प्रकार अनुमित घाटा होगा ३७,९३,४३५ रुपये।

घाटे की पूर्ति के लिए सरकार ने दो नये कर लगाये हैं। एक तो पेट्रोल की बिक्री पर और दूसरा लम्बी तनख़्वाह पानेवालों के वेतन पर। इन करों से क्रमशः आठ लाख और तीस लाख रुपये की आमदनी का अनुमान लगाया गया है। इनमें से पेट्रोल की आमदनी तो आय-खाते में जमा भी कर ली गई है। बजट में ४५,९३,४३५) के घाटा का अनुमान था। तनख़्वाहों का कर निकाल कर सरकार को कुल ८ लाख रुपये की घटी और रहती है, जिसे सरकार अपने ख़र्च में किफ़ायत करके पूरा करेगी। बजट के आँकड़ों से पता लगता है कि इस साल ५४ लाख रुपये का व्यय बढ़ाया गया है। इसका औचित्य समझने के लिए हम नीचे कुछ मदों का विवरण देते हैं:—

छोटे नौकरों का वेतन बढ़ाने के लिए १२ लाख।

न्याय और शासन-विभाग पृथक् करने के लिए २५ हज़ार।

जेल-सुधार के लिए १ लाख ८७ हज़ार ३ सौ पचास रुपये।

हरिजनों को छात्रवृत्तियाँ देने को ६५ हज़ार।

हिन्दू-विश्व-विद्यालय को ७५ हज़ार।

स्त्री-शिक्षा-प्रचार के लिए २५ हज़ार।

औषधालयों आदि के लिए १ लाख

बनारस में ईम्प्रूवमेंट-ट्रस्ट स्थापित करने के लिए २० हज़ार।

छोटे खेतों के एकीकरण तथा सहयोग-कृषि-प्रचार के लिए ७५ हज़ार।

ऊसर के उपजाऊ बनाने के लिए ५० हज़ार।

काँच-व्यवसाय के लिए १ लाख।

गुड़-व्यवसाय के लिए ६० हज़ार।

छाते की मूठियाँ बनाने के २५ हज़ार।

युवकों के नये उद्योग-धंधों में लगाने के ४० हज़ार इत्यादि।

शेष मदें भी प्रायः ऐसी ही हैं। इनमें से २९ लाख रुपया तो प्रतिवार्षिक व्यय है और १५ लाख एक वार्षिक। पर केवल व्यय के बढ़ाने से ही तो देश-सेवा नहीं हो जाती। उसके लिए आय के बढ़ाने का भी मार्ग निकालना पड़ता है। स्पष्ट है कि सरकार के प्रजा के कर से ही आमदनी होती है, कहीं आसमान से फट नहीं पड़ती। इसके लिए सरकार ने उपर्युक्त नये कर लगाये हैं—

इनमें से पेट्रोल-कर की उपयोगिता निर्विवाद है। सरकार प्रान्त में सड़कें और पुल आदि बनाने में करोड़ों रुपया व्यय करना चाहती है। यह रक़म प्रान्त की साधारण आय से नहीं मिल सकती। पन्त जी का कथन है कि पेट्रोल-कर से होनेवाली आय का उपयोग इसी मद में किया जायगा। एक गैलन पर दो आने कर लगाने से २० मुसाफ़िरों अथवा ४० मन बोझ पर प्रतिमील एक पैसा व्यय बढ़ता है, यदि लारीवाले बेईमानी करके मुसाफ़िरों से अधिक वसूल न करने लगें। दूसरा कर वेतन पर है जो २५००) प्रतिवर्ष या उससे अधिक वेतन पर लगाया गया है। स्पष्ट है कि सरकार उच्च वेतनभोगियों की तनख़्वाह कम नहीं कर सकती। इसलिए उसने इस युक्ति से काम लिया है। छोटे नौकरों की तनख़्वाह बढ़ाने का १२ लाख रुपया इसी में से तो निकाला जायगा। फिर सरकार की विस्तृत उपयोगी योजनाओं को देखते हुए ये कर नगण्य हैं। इस प्रान्त में जिस तेज़ी से नशा-निवारण का काम हो रहा है, ग्रामीणों का सुधार और शिक्षण और स्वास्थ्य के लिए जो योजनायें चल रही हैं, उनको देखते हुए ३८ लाख के ये कर सर्वथा उचित हैं। मदरास आदि प्रान्तों की सरकारों ने तो इनसे कहीं अधिक कर लगाये हैं, फिर भी उनकी अपेक्षा हमारे प्रान्त को नये सुधारों में कहीं सफलता मिली है। यह हमारे प्रान्त के माननीय मन्त्रियों की बुद्धिमत्ता का ज्वलन्त प्रमाण है।

——

मनुष्य के विविध खाद्यों का चूहों पर प्रभाव

गत नवम्बर मास के "न्यूज़-रिव्यू" नामक पत्र में खाद्यों के एक प्रयोग का विवरण छपा था। डाक्टर सर राबर्ट ने जो खाद्यों के विशेषज्ञ हैं, एक ही ख़ान्दान के ५ चूहे छाँट लिये और उनमें से, एक-एक को अँगरेज़ी, फ़्रेंच, जापानी, पठानी और मद्रासी खाना खिलाने लगे। यह ध्यान देने की बात है, कि जिस चूहे को फ़्रेंच खाना खिलाया जाता था, उसे 'पाट-आं-फियु' नामक खाद्य दिया जाने लगा। इसमें चर्बी बहुत रहती है तथा चटनी मिला मांस और अन्त में तर कर सलाद दिया गया। यह चूहा नाटा और मोटा हुआ। उसके केश और गलमुच्छे तेल से चिकने निकले। जापानी खाना जिसे खिलाया जाता था, उसे ख़ूब पालिस किया हुआ चावल, मछली और केंकड़ा खिलाया गया। यह छोटा और पतला हुआ। पर इसमें बहुत अधिक शक्ति तथा चंचलता दिखाई दी। जिसे मद्रासी खाना, भात, लाल मिर्चा, इमली, सूखी मछली और काँजी खिलाई गई, वह बड़े चूहे के आकार से अधिक न बढ़ा, पर यह पूर्ण स्वस्थ था। पठानी खाना—खट्टा दही, कुछ मांस, केवल गेहूँ की रोटी, आलू, बहुत सी सब्ज़ियाँ—जिसे खिलाया गया, वह ख़ूब बड़ा हुआ, उसके रोएँ नरम और चिकने हुए पर यह बहुत शान्त रहता था और आपस में खेल-कूद में भी सम्मिलित न होता था। अन्त में जिस चूहे को अँगरेज़ों का जातीय भोजन—सफ़ेद रोटी, उबाला गोश्त, मछली, साग-सब्ज़ियाँ और चाय—खिलाया गया, वह सबमें अच्छा निकला। वह ख़ूब सुदृढ़ और स्वस्थ हुआ, उसके केश और गलमुच्छे रूखे तथा कड़े कड़े हुए, तथा इसमें लड़ने भिड़ने का भाव भी ख़ूब अधिक था।

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., ALLAHABAD.

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल—उमेशचन्द्र देव

मई १९३९ } भाग ४०, खंड १
संख्या ५, पूर्ण संख्या ४७३ { वैशाख १९९६

युगावतार गांधी

लेखक, श्रीयुत सोहनलाल द्विवेदी

चल पड़े जिधर दो डग, मग में
चल पड़े कोटि पग उसी ओर,
पड़ गई जिधर भी एक दृष्टि,
गड़ गये कोटि दृग उसी ओर।

युग बढ़ा तुम्हारी हँसी देख,
युग हटा तुम्हारी भ्रुकुटि देख;
तुम अचल मेखला बन भू की,
खींचते काल पर अमिट रेख।

जिसके सिर पर निज धरा हाथ,
उसके सिर-रक्षक कोटि हाथ;
जिस पर निज मस्तक झुका दिया,
झुक गये उसी पर कोटि माथ!

तुम बोल उठे, युग बोल उठा
तुम मौन रहे, युग मौन बना
कुछ कर्म तुम्हारे कर संचित
युगकर्म जगा, युगधर्म तना।

हे कोटिचरण, हे कोटिबाहु,
हे कोटिरूप, हे कोटिनाम!
तुम एक मूर्त्ति, प्रतिमूर्त्ति कोटि—
हे कोटिमूर्त्ति, तुमको प्रणाम!

युगपरिवर्त्तक, युगसंस्थापक,
युगसंचालक, हे युगाधार!
युग निर्माता, युगमूर्त्ति तुम्हें—
युग-युग तक युग का नमस्कार!

माननीय न्याय-मंत्री

लेखक, श्रीयुत आत्मानन्द मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०, विशारद

सेम्बली के अध्यक्ष ने ज्यों ही कहा—'माननीय न्याय-मंत्री' कि तुरन्त ही उनकी दाहनी ओर पहली पंक्ति की तीसरी सीट पर बैठे स्वच्छ श्वेत शेरवानी, पायजामा और नुकीली टोपी से विभूषित एक दुबले पतले व्यक्ति नाक पर ऐनक संभालते हुए, उठ खड़े होते हैं। सामने रक्खी फ़ाइल से कुछ पढ़कर वे चट अपनी ऐनक उतार कर, कमर के पीछे हाथ बाँधकर, सदस्यों के पूरक प्रश्नों की बौछार का मौका लेने को तत्पर हो जाते हैं। प्रश्नावली के समाप्त होते ही वे डेस्क के बराबर ऊँचे फ़ाइलों के ढेर में फिर पूर्ववत् निमग्न हो जाते हैं। बीच बीच में वे लिखना छोड़ कर व्यवस्थापिका-परिषद् के कार्य-क्रम को सुनने लगते हैं। यद्यपि देखने में वे बड़े गम्भीर तथा रसविहीन जान पड़ते हैं, तथापि अवसर पड़ने पर अपनी विनोदप्रियता का प्रमाण देने में नहीं चूकते। ये हैं संयुक्तप्रान्तीय मंत्रिमण्डल के एक अमूल्य रत्न—माननीय डाक्टर कैलासनाथ काटजू, एम० ए०, एल-एल० डी०।

मन्त्रिपद उनके लिए कोई नई वस्तु नहीं है। इस पद का उत्तरदायित्व संभालने की शक्ति उनको वंशपरम्परा-द्वारा प्राप्त है। आपके तीन-चार पीढ़ी पहले आपके पूर्वज मध्यप्रान्त-स्थित झाबुआराज्य के उच्च पदाधिकारी होते चले आये हैं। उनके पिता पण्डित त्रिभुवननाथ काटजू आज दिन भी राज्य के मन्त्रिमंत्री के पद को सुशोभित कर रहे हैं। पण्डित कैलासनाथ काटजू का जन्म इसी राज्य में सन् १८८७ ई० में एक उच्च काश्मीरी घराने में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर पाकर उन्होंने राज्य के सरकारी स्कूल में अध्ययन प्रारम्भ किया। सन् १९०१ में वे लाहौर चले गये, जहाँ उन्होंने रंगमहल हाई स्कूल से मैट्रिक परीक्षा उच्च श्रेणी में पास की। तत्पश्चात् लाहौर के फ़ारमैन क्रिश्चियन कालेज में भरती हुए। उनके कालेज में आने के कुछ ही दिन पूर्व दो होनहार बालकों ने कालेज छोड़ा था। एक थे विदेश में हिन्दू-दर्शन की ध्वजा फहरानेवाले स्वामी रामतीर्थ जी महाराज और दूसरे थे डाक्टर हरदयाल जी। इन लोगों ने अपनी प्रतिभा तथा अर्जित शक्ति-द्वारा कालेज में बड़ा नाम कमाया था और बालक काटजू भी अपने अध्यवसाय-द्वारा उनका अनुसरण करने में बहुत कुछ सफल हुआ। सन् १९०५ में बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् उन्होंने क़ानून पढ़ना चाहा। अतएव वे इलाहाबाद चले आये और यहाँ के विश्वविद्यालय में क़ानून तथा एम० ए० का साथ-साथ अध्ययन करने लगे। दो वर्ष के बाद उन्होंने दोनों की परीक्षायें पास कर लीं और वे वकालत करने के लिए तैयार हुए। उन दिनों प्रयाग-हाईकोर्ट में वकील-परीक्षा होती थी। वे इसमें सम्मिलित हुए और सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए।

इस प्रकार अध्ययन समाप्त कर उन्होंने कानपुर जाकर वकालत करना आरम्भ किया और कई वर्ष तक वहीं काम करते रहे। वहाँ रहकर उन्होंने प्रयाग-विश्वविद्यालय की एल-एल० एम० की परीक्षा पास कर ली और डाक्टर आफ़ लाज़ की उपाधि पाने का प्रयत्न करने लगे। इनके पहले विश्वविद्यालय तीन उद्भट विद्वानों को इस उपाधि से विभूषित कर चुका था। श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ सेन, श्रीयुत सतीशचन्द्र सेन तथा पण्डित तेजबहादुर सप्रू को। अब चौथा नम्बर काटजू जी का हुआ। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के उपरान्त सन् १९१३ में डाक्टर काटजू प्रयाग चले आये और यहाँ के हाईकोर्ट में वकालत करने लगे। प्रारंभिक कठिनाइयों का सामना करते हुए उन्होंने अपनी प्रतिभा तथा परिश्रम से प्रतिदिन अधिकाधिक मोवक्किल आकर्षित किये और उनके कार्यों को बड़ी लगन एवं कुशलता से पूर्ण किया। क्रमशः उनका नाम भी अग्रश्रेणी के वकीलों में लिया जाने लगा। अब वे बड़े-बड़े मुक़दमों में सम्मिलित होने लगे। मेरठ-षड्यन्त्र ऐसे सगीन मुक़दमे में सफलता पाने के कारण उनकी ख्याति और भी अधिक हो गई।

महात्मा जी का प्रभाव डाक्टर काटजू पर भी पड़ा और धीरे-धीरे वे भी भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन की ओर खिंचने लगे। स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू के सम्पर्क

में होने के कारण उन पर उनके व्यक्तित्व तथा विचारों का भी प्रभाव पड़ा। अतएव अपनी वकालत के साथ-साथ वे स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए यथाशक्ति काम करते रहे। उन्होंने ज़िला तथा प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के पदाधिकारी रहकर बहुत कुछ आवश्यक कार्य किया। अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी के भी वे सदस्य रहे हैं। सन् १९३३ के हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-सम्मेलन की बैठकें उनके ही प्रयाग के एडमन्स्टन रोड वाले घर पर हुई थीं। उस समय प्रतिनिधियों की सुविधा के लिए उन्होंने जो कुछ किया था, वह सर्वथा प्रशंसनीय था। डाक्टर काटजू स्त्रीशिक्षा के पक्षपाती हैं और महिला-विद्यापीठ के चान्सलर के पद से उसकी उन्नति के लिए बड़ा कार्य कर रहे हैं। इलाहाबाद-एग्रीकलचर असोसियेशन के सभापति होने के नाते उन्होंने कृषि की वृद्धि के लिए यथा-शक्ति उद्योग किया है। उनको महात्मा गांधी के ग्रामोद्धार-आन्दोलन से विशेष सहानुभूति है और उसकी सहायता के लिए सदा तैयार रहते हैं। उनके विचार से गाँव-सुधार के बिना ठोस तरक़्क़ी ग़ैर मुमकिन है, अतएव देहातों में फिर से नई जान डालनी चाहिए और देहातियों की नींद दूर करनी चाहिए।

[माननीय डाक्टर कैलासनाथ काटजू]

सन् १९०३ में वे प्रयाग के म्यूनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन निर्वाचित हुए और तब से मन्त्री होने के पूर्व तक बड़ी कुशलता एवं निर्भीकता के साथ नगरवासियों की सेवा करते रहे।

डाक्टर काटजू बहुत पहले से ही मन्त्रिपद ग्रहण करने के पक्ष में थे। जब देश के बड़े बड़े नेताओं में इस प्रश्न पर वाद-विवाद हो रहा था, उन्होंने इस सम्बन्ध में बड़ी स्पष्टता के साथ अपने विचार प्रकट किये थे। प्रान्तों में नये विधान के जारी होने पर उससे सहमत लोगों की संख्या बढ़ी, जिसके फलस्वरूप आज आठ प्रान्तों में कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल स्थापित हो गये हैं। पन्त-मन्त्रि-मण्डल बनने पर डाक्टर काटजू ने देश-सेवा के ध्यान से अपनी लगभग दस हज़ार रुपया प्रतिमास आय की वकालत पर लात मार दी और न्यूनतम वेतन पर अत्यधिक काम करने का बीड़ा उठाकर अपूर्व त्याग और साहस
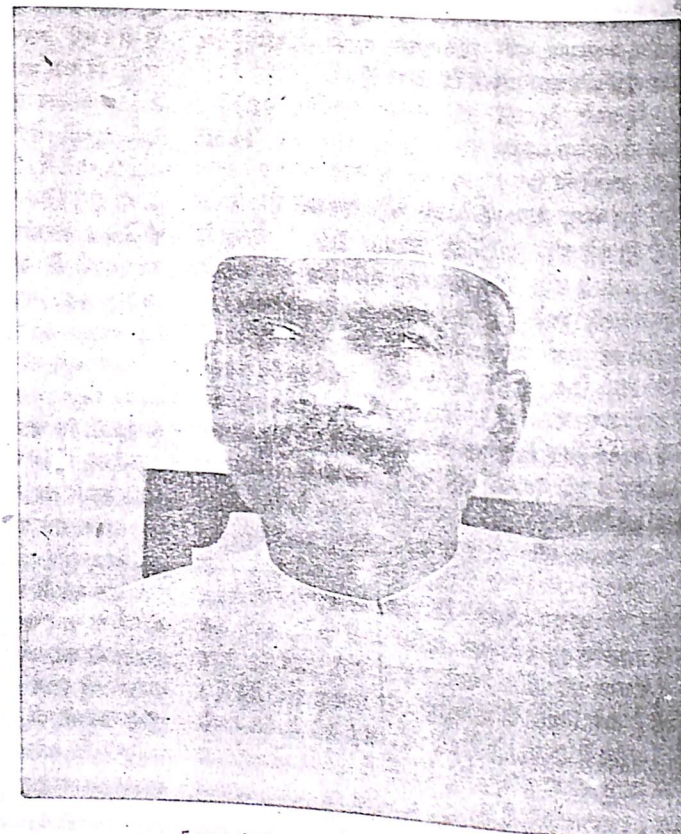
का परिचय दिया। आजकल वे संयुक्त-प्रान्त के न्याय, उद्योग, व्यवसाय, कृषि, ग्राम-सुधार, आबकारी, रजिस्ट्रेशन, तथा पशुचिकित्सा विभागों के मन्त्री हैं।

वे अपने विभागों की चौकस देख-रेख रखते हैं। स्वयं ही प्रत्येक काग़ज़ का निरीक्षण करते हैं। लगातार घण्टों फ़ाइलों से सिर लड़ाना बड़ा ही नीरस तथा श्रम-साध्य कार्य है। परन्तु डाक्टर साहब बड़े परिश्रमी हैं। कभी-कभी छः बजे सवेरे ही बिना जलपान किये वे चैम्बर में पहुँच जाते हैं और फिर लगभग ढाई-तीन बजे उठकर भोजन करने जाते हैं। उस समय भी वे अपने मोटर में फ़ाइलों का एक गट्ठर रख लेते हैं, जो शाम को उनके साथ फिर लौट आता है। यदि कहीं कांग्रेस-कमिटी अथवा मन्त्रिमण्डल की बैठक हो गई तो फिर बारह बजे रात तक के लिए निश्चिन्त हो जाते हैं। उनके ऐसे मन्त्रियों को काम में जुटे देखकर यही कहना पड़ता है कि मन्त्रिपद फूलों की सेज नहीं वरन भीष्म की शरशय्या है, जहाँ अपूर्व त्याग, अनवरत परिश्रम, तथा प्रखर प्रतिभा का ही काम है।

डाक्टर काटजू को भाषण देने का अधिक अभ्यास नहीं। वे कुशल वक्ताओं के शब्दाडम्बर, वाक्यचमत्कार तथा आकर्षण-युक्तियों का प्रयोग नहीं करते, वरन एक श्रेष्ठ बैरिस्टर की भाँति अपने पक्ष की सभी बातों को गिना जाते हैं तथा विपक्ष के अवगुणों को प्रत्यक्ष कर देते हैं। जिस प्रकार वे गवाह को देखते ही ताड़ लेते हैं कि उससे कैसी जिरह करनी उचित है, वैसे ही वे अपने श्रोताओं को देख कर समझ लेते हैं कि उन पर कौन सा अस्त्र कारगर होगा। पीछे कमर पर हाथ बाँधे, आगे कुछ झुकते हुए अथवा टेढ़ी ग्रीवा किये जब वे एक चतुर वकील की भाँति अपनी दलीलें देनी शुरू करते हैं तब विरोधी दलवाले अनायास ही औंघाते जूरियों की भाँति अपना सिर हिलाने लगते हैं। विपक्षियों को अपनी बात समझा देने की उनमें अपूर्व क्षमता है।

डाक्टर साहब में दो विशेष गुण हैं—निर्भीकता तथा स्पष्टवादिता। मन में जो होता है उसी को वे मुख से निकालते हैं। हृदयस्थित विचारों को छिपाकर कपटपूर्ण व्यवहार करना उनको नहीं आता। उनके मन, वाणी और कर्म में विरोध का अनुभव होना सम्भव नहीं। दूसरे से बात-चीत करते समय वे उस पर ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि डालते हैं, मानो उसके हृदय को टटोल रहे हों। जिस बात को वे सत्य एवं न्यायसंगत समझते हैं उसके व्यक्त करने में उन्हें किंचित् भय नहीं होता। आप उदासीन, तटस्थ, एवं अन्यमनस्क होकर बात करते हैं और खरी कहने में नहीं चूकते, वे "न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" के नियम का उल्लंघन करने में भी संकोच नहीं करते। उनके इस स्वभाव के कारण कुछ लोग उनको रूखा एवं अशिष्ट कहने की ढिठाई करते हैं। प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की एक बैठक में कति-पय सदस्यों ने उनके शुष्क व्यवहार के विरोध में एक प्रस्ताव रखना चाहा, परन्तु पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यह कहकर उसे टाल दिया कि "इस प्रस्ताव के साथ त्यागपत्र आने की सम्भावना है। यदि आप ऐसे अमूल्य व्यक्ति को खो देना चाहते हैं तो मुझे कोई एतराज़ नहीं। अच्छा हो कि आप मुझे उनसे इस सम्बन्ध में बात करने का मौक़ा दें।" डाक्टर साहब से कोई व्यक्ति अनुचित लाभ उठाने का साहस नहीं कर सकता। वे सबके साथ एक-सा व्यवहार करते हैं, जिसके कारण असामान्य व्यव-हार के इच्छुक लोग उनसे रुष्ट हो जाते हैं।

एक वर्ष से अधिक हुआ कि वे मन्त्री के कार्य को कीर्ति के साथ चला रहे हैं। अपने विभागों से सम्बन्ध रखनेवाले कई नये क़ानून बनाकर उन्होंने संयुक्तप्रांतीय सरकार की आय बढ़ाने का प्रयत्न किया है, जिससे वह दुखी किसानों की अधिकाधिक सहायता कर सके। मिल-मज़दूरों के पारिश्रमिक, छुट्टी, काम करने के घंटों, मनो-रंजन, स्वास्थ्यवृद्धि, तथा रहने आदि के लिए तरह-तरह की सुविधायें कर दी हैं। उन्होंने नशा-निषेध का क़ानून भी लागू किया है। नशाबन्दी के कार्य में उनको खुब सफलता मिल रही है। इसी प्रकार वे अपने अन्य विभागों में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने में लगे हुए हैं, जिसमें न्याय और शासन-विभाग पृथक् करने की योजना उल्लेख-नीय है। वे बहुधा प्रान्त के कोने-कोने में घूमकर कार्य का निरीक्षण करते रहते हैं, तथा स्थान स्थान पर सार्व-जनिक भाषण देकर जनता को अपनी योजनाओं का उद्देश्य भी समझाते चलते हैं। संयुक्तप्रान्त डाक्टर काटजू ऐसे मन्त्री को पाकर उन पर गर्व करता है। ईश्वर से प्रार्थना है कि वह उन्हें और शक्ति एवं बुद्धि दे जिससे वे प्रान्त की अधिकाधिक सेवा कर सकें।

लगान-बन्दी

लेखक, पंडित मोहनलाल महतो

(१)

रामदयाल जेल से छूटकर आया तो उसे देखने के लिए गाँव भर के किसान जमा हुए। दरवाज़ों पर खड़ी होकर गाँव की स्त्रियों ने स्नेह और उत्सुक आँखों से रामदयाल का स्वागत किया। रात को गोविन्द जी के मन्दिर पर किसान जमा हुए। रामदयाल की वहाँ अभ्यर्थना की गई। मन्दिर के पुजारी वृद्ध माधव पाँडे ने स्नेह-गद्गद कंठ से खड़े होकर कहा—"भाइयो, रामदयाल हमारे लिए जेल गया। गाँव का मुख उज्ज्वल हुआ। श्री गोविन्द जी से विनय है कि वे इस माई के लाल को चिरायु करें।" इतना बोलते-बोलते वृद्ध का गला भर आया। वे काँपते हुए से बैठ गये! उपस्थित लोगों में आनन्द की लहर फैल गई तो हाथ जोड़कर, गांधी जी की तरह, रामदयाल बोला—"भाइयो, मैंने तो अपना जीवन ही देश के लिए अर्पण कर दिया है। जेल की यातना मेरे लिए तो गौरव की चीज़ है। अब विनय है कि आप लोग संगठित हो जायँ। यह देश आप लोगों का ही है। बड़े-बड़े नेता आपका मुँह जोहा करते हैं। आप अपनी ताक़त को काम में लायें तो आपके सभी कष्टों का अन्त हो जाय। सच्चा स्वराज्य तो आपके ही उद्धार से भारत को मिलेगा।" इतना बोलकर रामदयाल चारों ओर देखने लगा। वह अपने सारवान् व्याख्यान का प्रभाव देखना चाहता था। उसने जो कुछ देखा उससे उसे उतनी प्रसन्नता नहीं हुई जितनी की कामना उसने की थी। भीड़ में से एक आवाज़ आई—"भाई, हम क्या कर सकते हैं। खाने को तो भर पेट अन्न भी नहीं मिलता। ताक़त कहाँ से आये।" रामदयाल बोला—"शारीरिक ताक़त की ज़रूरत नहीं है। हमें आत्मबल की ज़रूरत है—'रूहानी-ताक़त' से आप अपने को आज़ाद कर सकते हैं। एक किसान बोला—"यह आत्मबल क्या होता है, दयाल?"

रामदयाल विज्ञ की तरह मुस्करा कर बोला—"आत्मा का बल। कष्ट सहने की ताक़त। सत्य और अहिंसा से जो ताक़त हासिल होती है वही आत्मबल है।" एक कोने से एक लम्बा सा किसान बोल उठा—"कष्ट सहने से क्या ताक़त मिलती है भाई, कष्ट सहते-सहते हमारी रीढ़ की हड्डी टूट गई। मेरी ओर देखो, छाती की हड्डियाँ गिन सकते हो। वैद्य जी कहते हैं क्षयी हो गई है। यह शरीर अब जुल्म सहने के लायक़ नहीं रह गया।" रामदयाल ने खाँस कर कहा—"परवा नहीं गणेश भैया, यदि हज़ार-लाख शरीरों की रक्षा के लिए एक शरीर की खाल ही खींच ली जाय तो परवा नहीं। अन्त में सत्य की जीत तो होकर ही रहेगी। अत्याचार का दिवाला एक न एक दिन अवश्य निकलेगा। वह दिन दूर नहीं है।" जेल से बहुत से नये शब्द वह सीख आया था, जिन्हें वह याद करने लगा।

हरनाम ग्वाले ने खीस निकालकर कहा—"कल मेरी दो गायें छीन ली गईं। बच्चे बिना दूध के तरस रहे हैं और मेहरिया बुख़ार से तड़प रही है—मेरे यहाँ दूध-दही की नदी बहती थी तो एक बूँद गोरस के लाले पड़ रहे हैं। रामदयाल भाई, बोलो क्या करें। दोनों बगौधी ऐसी थीं कि देखनेवालों को आँखें ठंढी हो जाती थीं—हाय री मेरी लक्ष्मी।" हरनाम ने पुक्का फाड़ कर रो दिया! किसानों में रोषपूर्ण सनसनी फैल गई। माधव पाँडे ने अपनी जप की माला को जल्दी-जल्दी समाप्त करके कहा—"यह तो बड़ा अन्याय है। बेचारे हरू का पेट इन्हीं गायों की बदौलत चलता था—दूध-घी बेचकर यह ग़रीब अपने परिवार का पालन करता था। अभागा बेमौत मर जायगा। गोविन्द जी रक्षा करेंगे!" उत्तेजनापूर्ण वातावरण में सभा भङ्ग हो गई। सभी किसान झल्लाये हुए से लौटे। राम-दयाल को बड़ी ख़ुशी हुई।

बैसाख की रात थी। कभी गरम और कभी शीतल हवा के झोंके उजाड़ खेतों से होकर आ रहे थे। मलिन

चन्द्रमा पूर्व के आकाश में दिखलाई पड़ा। दूर—खूब दूर से पपीहे की थकी हुई आवाज़ रह-रहकर सुन पड़ती थी। अन्धकार धीरे-धीरे फीका होता जा रहा था। मटमैली चाँदनी में गाँव अत्यन्त मनहूस सा दिखलाई पड़ता था। आधी रात हो गई थी।

(२)

रामदयाल देखते-देखते अपने गाँव का नेता बन गया। जब से वह नेता बना उसने खुलेआम ताड़ी पीना बन्द कर दिया, हाँ बीड़ी अवश्य पीता। एक जापानी फ़ाउन्टेनपेन भी उसने ख़रीदा तथा नोटबुक की ज़रूरत भी उसने महसूस की। वह गम्भीरतापूर्वक हँसता और बीच-बीच में नेहरू जी और लेनिन का नाम बड़े ताव से लेता। एक दिन भदई गोंड़ ने पूछा—"भइया, नेहरू जी को तो देखा है—आये थे न उस साल? यह लेनिन जी कौन हैं? कभी इन्हें भी तो बुलवाओ भइया, ये सब नेता तो तुम्हारे इशारे पर आते-जाते हैं।" मन ही मन अत्यन्त पुलकित होकर रामदयाल बोला—"लेनिन तो विलायत का रहनेवाला था। जब जवाहरलाल जी लेनिन के सामने गये तो उसने गरज कर कहा—'बिना किसानों की सहायता के स्वराज्य नहीं होगा।' लेनिन की बात सुनकर जवाहर-लाल जी चिन्ता......।" भैरोदीन बोला—"किसान कैसे सहायता करेंगे। देखा, कल भुजइया को ज़मींदारी कचहरी में रोक कर बीस रुपये जुर्माने के वसूल किये गये। अपराध यह था कि उसके ढोर जगरूपसिंह के खेत में चले गये थे।" रामदयाल ने इधर-उधर देखकर कहा—"यह तो अन्याय है। इसका विरोध होना चाहिए। आज संध्या समय सब कोई—हाँ, भैरो भइया, तुम्हारे यहाँ हम आयें।" भैरोदीन ने ज़ोर लगाकर मुँह का थूक निगल कर कहा—"मेरे यहाँ? जगह कहाँ है? भुलइया के यहाँ सब इकट्ठे हों।" भुलई बोला—"सबसे अच्छी जगह है गोविन्द जी का मन्दिर। सौ-पचास भाई बैठ सकेंगे?" राम-दयाल ने कहा—"मुसलमान मन्दिर में कैसे घुसेंगे भुलई? यही तो हम लोगों में दोष है। क्या मुसलमान हमारे भाई नहीं हैं?"

भैरोदीन बोला—"वाह, मुसलमान हमारे भाई कैसे हो गये। तुमने तो जेल जाकर अपना धर्म-कर्म सब खो दिया।"

रामदयाल व्यंग्यपूर्ण हँसी हँसकर बोला—"क्या धर्म-कर्म इसी का नाम है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से घृणा करे। ख़ैर, जाने दो इस बहस को, तो कल सब भाई मेरे ही यहाँ पधारें। लो, गाँव में ख़बर भेजवा दो। चुप रहने से नहीं बनेगा।" ठीक समय पर सभी किसान रामदयाल की चौपाल में एक-एक करके जमा हुए। माधव पांडे भी अपनी माला के साथ पधारे और भैरो हाथ में चिलम लिये आया। गाँव के कुछ मुसलमान भी आये। रात होते न होते चौपाल भर गई। कुछ अछूत भी आये जो नीचे बैठ गये। हाथ जोड़ जोड़कर रामदयाल ने सबको बैठाया। सबसे पहले ईदनामियाँ बोला—"बेशक किसान सताये जाते हैं, पर इलाज क्या है। आप विचार करें। लगान की वसूली के लिए जो तरीक़ा काम में लाया जाता है वह भी तो बहुत ही ख़राब है। हमारी कोई इज़्ज़त मालिक की नज़रों में नहीं है—पशुओं से भी हम गये बीते हैं।"

चारों ओर से ईदनामियाँ का समर्थन हुआ। रामदयाल खड़ा होकर बोलने लगा—"भाई, अन्याय का विरोध करना चाहिए। अन्याय से जो पैसा हमसे लिया जाता है वह नहीं देना चाहिए। हम लगान बन्द कर दें तो ज़मींदार सरकारी ख़ज़ाना कहाँ से अदा कर सकेंगे। उनकी सारी शेख़ी हमारे पैसों पर ही है।" फिर खलबली मची। चारों ओर से तरह-तरह की आवाज़ें आने लगीं। किसी ने समर्थन किया तो किसी ने विरोध। अन्त में यह निश्चय हुआ कि लगान-बन्दी का आन्दोलन किया जाय। इस निश्चय होने के पहले ही आधे से अधिक किसान खिसक गये। जो बैठे रहे वे भी सुस्त से हो गये—कोई उत्साह नहीं रह गया। रामदयाल ने जोश में आकर कहा कि—"कल हम व्रत रखकर भगवान् से प्रार्थना करेंगे। भाइयो, यह धर्म युद्ध होनेवाला है। ईश्वर से विनय करना हमारे लिए लाज़िम है। भगवान् हमारे पथ-प्रदर्शक बनेंगे।"

रामदयाल चुप हो गया। एक भद्दी सी ख़ामोशी छा गई। भैरो अपनी चिलम की राख फूँकता हुआ बोला—"बुझ गई, आग होगी दयाल भैया! तम्बाकू जली नहीं और आग ठंडी हो गई।" रामदयाल खिन्न स्वर में बोला—"आग तो नहीं है, दियासलाई कहो तो दूँ।" ईदन ने कुछ सोचकर कहा—"व्रत के क्या मानी हैं? हम लगान बन्द कर देंगे तो ज़मींदार का क्या बिगड़ेगा। उसके अधिकार में

दर्जनों गाँव हैं। हमारी ज़मीन जो नीलाम हो जायगी तो...।"

महादेव गोंड़, जो अब तक अपने दमे के कारण खाँस रहा था, बोला—"बोलो न रामू, ज़मीन नीलाम हो जायगी तो क्या होगा? खाने को कौन देगा? तुम तो शहर में बीड़ी-पान की दुकान करते हो और हम किसके घर जायँगे?"

गरम होकर रामदयाल बोला—"बिना कष्ट झेले, बिना बलिदान हुए कहीं आज़ादी मिलती है। क़ुर्बानी के बिना कोई देश......।"

माधव पांड़े बोले—राम, राम क़ुर्बानी तो म्लेच्छ...... गोविन्द, गोविन्द!

ईदनमियाँ की ओर देखकर माधव पांड़े चुप हो गये। ईदन से उन्होंने अपनी लड़की के ब्याह के अवसर पर पन्द्रह मन धान और कुछ नक़द भी उधार लिया था। माधव को चुप देखकर भैरों बोला—"क्या कह रहे थे माधव बाबा?"

बग़लें झाँक कर पांड़े ने धीमे स्वर में कहा—"क़ुर्बानी तो मुसलमान करते हैं न! हम कैसे क़ुर्बानी कर सकते हैं। रामदयाल कहता है कि.....।"

रामदयाल बोला—"मैं क्या कहता हूँ गोकुशी करने को! तुम्हारी समझ पर पत्थर पड़े। क़ुर्बानी के मानी हैं त्याग, आत्मबलिदान।" भैरों ने एक तिनके से चिलम कुरेदते हुए कहा—"क़ुर्बानी तो सचमुच मुसलमान करते हैं। पूछो ईदन चाचा से! क्यों चाचा, तुम लोग क़ुर्बानी करते हो या नहीं? पिछले साल क़ुर्बानी के चलते ख़ून होते होते......।"

"बड़े उल्लू हो जी"—चिल्लाकर रामदयाल बोला—"सुनते भी नहीं। क़ुर्बानी के मानी हैं......।" भैरों भी चिल्लाकर बोला—"हमें चाहे ज़मींदार चबा जायें पर हम क़ुर्बानी नहीं कर सकते। गोवध करने से हमारा उद्धार......।"

एक साथ ही बहुत से किसान चिल्लाने लगे। भैरों बायें हाथ में चिलम लेकर दाहिना हाथ नचा-नचा कर बोलने लगा। सभी बोल ही रहे थे सुननेवाला कोई न था। एक हंगामा मच गया। रामदयाल ने बहुतेरा प्रयत्न किया कि शान्ति स्थापित हो जाय पर होहल्ला बढ़ता गया। थोड़ी देर के बाद सभास्थल ख़ाली हो गया। रात अधिक हो गई थी। कभी गरम और कभी ठंडी हवा के हलके-हलके झोंके आ रहे थे। धूलि से भरे आकाश में चन्द्रमा की मटमैली विभा फैल गई।

भागी मन लिये रामदयाल घर में घुसा। उसके मन की बात उसके मन में ही रह रह कर घुमड़ रही थी। उसने अपनी स्त्री को बैठाकर डेढ़ घंटे तक समझाया। इस तरह अपने मन का दुर्वह भार उतार कर वह अनेक असं-भव तथा दुःसाध्य प्रण करके सो गया। रात भर उत्तेजना-पूर्ण बुरे बुरे सपने आते रहे।

(३)

संध्या के बाद हवा के एक शीतल झोंके के साथ वैशाख की उदास रात आई। मन्दिर के फ़र्श पर छिड़काव कर चुकने के बाद भज्जू अहीर बोला—"बाबा, चिलम कहाँ है?" इस रुचिकर प्रश्न के उत्तर में जप समाप्त करते हुए माधव पाँड़े उत्साहपूर्वक बोले—"उस कोने में! हाँ, हाँ दाहनी तरफ़—वहाँ पर, जहाँ बाल्टी पड़ी है! क्यों रे भज्जू, तेरी मेहरिया का बुख़ार छूटा या नहीं?" एक लकड़ी लेकर चिलम कुरेदता हुआ भज्जू बोला—"चुड़ैल है ससुरी, मर जाय तो गले की फाँसी छूटे।"

"फाँसी"—माधव पाँड़े गम्भीर स्वर में कहने लगे—"ऐसी सुलच्छनी को तू चुड़ैल कहता है! मर गई तो तू कौड़ी का तीन हो जायगा—इतनी गाय भैंसों को कौन......।" भज्जू ने कहा—"बाबा, कंडे की आग से गाँजा ख़ूब ठहरता है। कोयले की आग जल्द ठंडी पड़ जाती है।" माधव लुब्ध दृष्टि से चिलम की ओर देख रहे थे। उन्हें इस बात का सन्देह था कि भज्जू कहीं गाँजा चुरा न ले। भज्जू के हाथों की ओर अपलक दृष्टि जमाकर पाँड़े बोले—"अरे, हैं, हैं दबा मत। गाँजा बैठ जायगा तो? तुझे कब अकल होगी—सचमुच ग्वाले बड़े बेहूदे होते हैं।" भज्जू इस जातीय अपमान को कभी बर्दाश्त नहीं करता पर उसे भय था कि यदि पाँड़े बाबा नाराज़ हो गये तो गाँजे की दम के लाले पड़ जायँगे। उसने कहा—"कल क्या हुआ बाबा! सुना कि रामदयाल सबको क़ुर्बानी करने की सलाह देता है—साला म्लेच्छ है।" इधर उधर देखकर पाँड़े बोले—"वह गाँव में दंगा करवाना चाहता है। कब तक उसका बार हल जोतवा

था, आज नेता की पूँछ बना फिरता है। अभागा है—।" भज्जू गाँजे की चिलम तैयार करके सोत्साह बोला—"मालिक (ज़मींदार) सुनेंगे तो पीठ की खाल खिंचवा लेंगे।—बाप रे, उनसे डिप्टी, लाट सभी डरते हैं। बेचारे कलक्टर का क्या बिसात है—दारोग़ा तो नाम सुनते ही बेंत की तरह काँपता है।" चिलम लेकर पाँड़े ने गम्भीरता-पूर्वक उसे ललाट से स्पर्श कराया और कहा—

"लेना हो गिरधारी, भरोसा तेरा भारी। जो न पिये
गाँजे की कली, उस लड़के से लड़की भली।"

पाँड़े बाबा ने सारे शरीर का बल लगाकर दम लगाई। भज्जू व्याकुल दृष्टि से देखता रहा। उसे भय था कि कहीं पाँड़े एक ही दम में गाँजे को जलाकर ख़ाक न कर डालें। उसे यह भी आशंका थी कि एक दो गँजेड़ी कहीं से आ न जायँ। यदि वश चलता तो भज्जू, पाँड़े बाबा के हाथ से, चिलम छीन लेता। दम लगाकर पाँड़े बाबा जब तृप्त हुए तो बोले—"मैंने मालिक से कह दिया है। उन्होंने बड़े ध्यान से सब समाचार सुना। बूढ़े सरकार (ज़मींदार के पिता, मुझे भाई की तरह मानते थे। वे देवता थे। प्रत्येक वर्ष झूलनोत्सव पर काशी और पटना से अच्छी अच्छी रंडियाँ आती थीं। अब ज़माना ही बदल गया। धर्म-कर्म पर से सब की श्रद्धा उठ गई। कलिकाल है न?"

भज्जू मन ही मन खिन्न हो रहा था। गाँजा प्रायः जल कर उसके हाथ में आया। पाँड़े जी की इस हरकत को वह नापसन्द करता था पर प्रतीकार का कोई उपाय उसके पास न था। पाँड़े जी की बातें भज्जू को अनहोनी लगीं। उसने कहा—"रामदयाल की बातें सही हैं! आप तो लाखिराज खेत आबाद करते हैं। हमारी ओर तो देखिए। पचास-साठ बीघे का काश्तकार भी मालिक के ज़ुल्म से दाने-दाने का तरस रहा है।"

निश्चय ही यदि पाँड़े जी गाँजे का ख़ाक न कर देते तो भज्जू कभी भी रामदयाल का समर्थन नहीं करता। वह इस तरह अपने मन की कचट व्यक्त कर रहा था। पाँड़े जी झल्लाकर बोले—"तू गधा है। तुझे क्या मालूम कि राज्य कैसे चलता है। मेरे पिता के नाना अयोध्या-महाराज के सभा-पंडित थे। राजा-महाराजा के अन्न खाकर यह शरीर पला है। प्रजा से कर लेना राजधर्म है।"

भज्जू ने कहा—"प्रजा का ख़ून चूसना कहाँ का राजधर्म है बाबा!"

पाँड़े जी चिल्लाकर बोले—"तूने कौन-कौन शास्त्र पढ़े हैं। जा अपनी गाय भैंस की देखभाल कर—मूर्ख कहीं का।" भज्जू कुछ लज्जित होकर बोला—"बाबा, और लोगों के ही मुँह से सुना है कि प्रजा को सतानेवाला राजा नरक में पड़ता है।"

इसी समय दो तीन किसान और आये। काफ़ी बहस छिड़ गई। कुछ लोगों ने तो रामदयाल का समर्थन किया और कुछ लोगों ने पाँड़े जी का। काफ़ी हो-हल्ला मच गया। पाँड़े जी ने अपना पक्ष निर्बल समझकर रामदयाल की ही बातों पर मुहर लगाई पर उनका हृदय भीतर ही भीतर जल रहा था। रामदयाल के बढ़ते हुए प्रभाव को वे अपने लिए उचित नहीं समझते थे। पाँड़े जी को ऐसा लगा कि उनके ख़िलाफ़ रामदयाल अपनी हवा बाँध रहा है—रामदयाल के सर्वप्रिय होने के माने हैं पाँड़े जी का सामाजिक पतन! यह उनका भ्रम था पर संसार में भ्रम की भी अपनी सत्ता है।

भीड़ समाप्त हो गई तो पाँड़े जी ने भगवान् को लक्ष्य करके कहा—"नारायण, इस बुढ़ापे में दाग़ मत लगाना। कल का छोकड़ा रामदयाल साला......अच्छा।" इतना बोलते-बोलते वृद्ध पुजारी बाबा का गला भर आया। उन्होंने जिस रामदयाल को अपना प्रतिद्वन्द्वी मान लिया था वह बेचारा स्वप्न में भी ऐसी अनहोनी बात की कल्पना नहीं करता था। एक सीधा सादा किसान सेवक के रूप में अपने को समाज के सामने पेश करना चाहता था—वह पाँड़े जी के नेतृत्व को रौंदना नहीं चाहता था। उसे मालूम भी नहीं था कि उसकी कार्रवाइयों से पाँड़े जी के मान-सम्मान में बट्टा लगनेवाला है।

भरे हुए मन से पाँड़े जी अपनी खाट पर लेट गये—सारी रात उन्हें नींद नहीं आई जब कि रामदयाल शहर जाने की तैयारी कर रहा था!

(४)

माधव पाँड़े ने रामदयाल के विरुद्ध लोकमत बनाना आरम्भ किया पर उन्हें विश्वास हो गया कि जिस काम को वे सहज समझ रहे थे वह लोहे के चनों से भी कड़ा था। रामदयाल दो चार दिनों में लौट आया। जब उसे पुजारी

बाबा के प्रचार का पता लगा तो वह मर्माहत हुआ। उसने प्रयत्न किया कि ग़लतफ़हमी मिटे पर फल उलटा हुआ। इधर ज़मींदार ने भी गाँव में फूट पैदा करने का जघन्य काम आरम्भ कर दिया। बड़ी तेज़ी से किसान दो दल हो गये।

जिस गाँव में रामदयाल रहता था उसके पासवाले गाँव में डाका पड़ा। सुनसान अँधेरी रात के मुँह में तारकोल लगाकर डाकू आये और एक महाजन का कुछ नक़द लेकर चलते बने। डाकूदल के बाद पुलिसदल का सफल धावा हुआ। डाकू तो अँधेरी रात के मुँह में कालिख लपेट कर आये थे पर एक मोटे से दारोग़ा जी के नेतृत्व में पुलिसदल ठीक दोपहर को गाँव की शान्त गलियों में घूमता नज़र आया। हक्के बक्के लड़कों ने देखा, अपनी बड़ी सी तोंद पर चमड़े की पेटी कसे दारोग़ा जी अनगिनत गालियाँ बकते हुए 'खटोली' पर आ रहे हैं। तत्काल आतङ्क का राज्य हो गया। 'धरो पकड़ो' 'फलाने को पकड़ कर लाओ, अमुक की मूँछें उखाड़ लो'—का समा बँध गया। एक मोटा सा पाठा मारा गया और शुद्ध गव्यघृत में अत्यन्त स्वास्थ्यवर्धक पूरियाँ छानी जाने लगीं। कहीं से मलाई-दार दही आया तो कहीं से भर कटोरा हलवा। बड़े समारोह से दुर्घटना की जाँच आरम्भ हुई। रामदयाल की भी तलबी हुई—वह झिझकता हुआ हाज़िर हुआ। एक बड़ी सी मूँज की चारपाई पर तकियों के बीच में दारोग़ा जी बैठे थे। सिपाही और दूसरे लोग इधर उधर बैठे गप्पें मार रहे थे। घबराये से कुछ किसान दूर से खड़े खड़े यह दृश्य अपलक आँखों से देख रहे थे। गालियों और धम-कियों की झड़ी में कुछ अभागे हाथ बाँधे सामने खड़े थे। चश्मे के भीतर से घूरते हुए दारोग़ा जी ने रामदयाल से कहा—"तुम शहर में क्या करते हो? कई बार जेल गये—कोई है? यह साला पक्का बदमाश है।" रामदयाल बोला—"मैं कभी चोरी-डकैती करके जेल नहीं गया...।" दारोग़ा जी ने गुर्रा कर कहा—"भिखारीसिंह!" छः फ़ुट का भिखारीसिंह कान्स्टेबुल हाज़िर हुआ। आज्ञा हुई—"इसे गिरफ़्तार कर लो—साला, बहस करता है। देखते नहीं—चेहरे से शरारत टपकती है।" कुछ अनुनय-विनय करने के पहले ही रामदयाल की मुश्कें कस डाली गईं। पुजारी बाबा भी सम्माननीय दर्शकों के दल में थे। आपने तृप्ति की साँस ली और ज़रा ऊँची आवाज़ में कहा—"गोविन्द! गोविन्द!! शहरी लफंगा है। उलटा पाठ पढ़ाकर गाँव का सत्यानाश करना चाहता था। भगवान् ने........" दारोग़ा जी बोले—"हाँ, क्या बात है। सामने आकर बयान दो। हाँ जी तुम्हारा नाम क्या है? बाप का नाम, क़ाम—किस गाँव में रहते हो?" दारोग़ा जी ने पेंसिल उठाते हुए इधर उधर गौरवपूर्ण दृष्टि डाली। सन्नाटा छा गया। पाँड़े जी का मुँह सूख गया। झिझकते हुए वे सामने आये। दर्शकों में काना-फूसी फैल गई। मधुमक्खी के छत्ते की सी दबी हुई भन-भनाहट से चौपाल भर गया। पुजारी जी ने अपने झूठे बयान में यह कहा कि—"रामदयाल को मैंने देखा था। वह आधी रात को मन्दिर के कुएँ पर मुँह धो रहा था। उसका मुँह एकदम काला था—भूत की तरह।" ज़मीं-दार बोले—"और वह तलवारवाली बात तो आपने कही नहीं—हाँ, कई आदमी थे?" माधव पाँड़े ज़ोर लगा कर बोले—"कह तो रहा हूँ। मैं सत्तर साल का हुआ। इसी गाँव में मेरा घर है। सन् सत्तावन के ग़दर में मेरे पिता......।" घुड़क कर दारोग़ा बोले—"बड़े अहमक़ हो जी! रामदयाल के साथ जो आदमी थे वे भी तलवार या बन्दूक़ लिये हुए थे या अकेले रामदयाल के हाथ में हथियार था—सोच सोचकर बोलो।" घबरा कर पाँड़े जी बोले—"सब बन्दूक़ लिये हुए थे। बन्दूक़ की नोक चमक रही थी। लम्बी-लम्बी लाठी में बन्दूक़ लगी...।" फिर दारोग़ा जी दहाड़ उठे—"होश करो। लम्बी लाठी में बर्छी लगाई जाती है? सोचकर बोलो—बन्दूक़ थी या बर्छी।" पाँड़े जी आपादमस्तक काँप उठे। भद्दा सा सन्नाटा छा गया। इधर-उधर कातर दृष्टि डालकर वे बोले—"बन्दूक़ और बर्छी—दोनों हथियार थे।" दारोग़ा बोले—"और तल-वार!" "जी हाँ"—पुजारी जी ने खुलासा हो कहा—"तलवार भी थी।" दारोग़ा जी ने लिखते हुए अस्पष्ट स्वर में कहा—"तलवार, बर्छी और बन्दूक़, तीन-तीन हथियार—पक्के डाकू।"

दिन भर की चहल-पहल के बाद रामदयाल को लेकर पुलिसदल चला गया। घर-घर तरह तरह की चर्चा फैल गई। किसी ने पुजारी जी को दोष दिया तो किसी ने रामदयाल को अश्लील भाषा में भला बुरा कहा। गाँव की स्त्रियाँ रामदयाल के लिए आँसू बहाने लगीं।

(५)

सावन की घटा छाई रामदयाल के घर के ऊपर! झीनी-झीनी बूँदों ने जेठ की ज्वाला पर मोती बरसा दिये। शीतल हवा के झोंकों से खेत लहराने लगे—हरियाली विभा में दिशायें मुस्कराने लगीं। रामदयाल की जीवन-सहचरी ने आँगन में आकर देखा—आकाश भरा हुआ है काली काली सुर्मीली घटाओं से। दिन का अन्त हो रहा है। चारों ओर से घेर कर अन्धकार धीरे-धीरे बढ़ रहा है। वह गहरा निश्वास त्याग कर घर के भीतर चली गई—तीन मास से रामदयाल का कोई पता न था। दारोग़ा जी ने न जाने उसे कहाँ भेज दिया—इस लोक या परलोक में। रामदयाल की स्त्री—भोली—को कम से कम इसकी जानकारी न थी। ईदन मियाँ जान लड़ा कर मुक़दमे की पैरवी कर रहे थे—और कोई सहायक न था। भोली अपनी बच्ची को लेकर मन को धोखे में रखने का प्रयत्न करती थी पर हृदय की आग आँखों के पानी से और भड़कती है—शान्त नहीं होती। भोली दिल पर पत्थर रखकर किसी तरह गुज़र करती। जिस तरह चुल्लू का पानी धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है उसी तरह भोली के धैर्य के साथ उसकी छोटी सी सम्पत्ति का भी अन्त हो गया। रात समाप्त होने पर एक एक करके तारे छिपते जाते हैं—यह तो आप सब ने देखा है पर भोली के शरीर पर से एक एक करके चाँदी और सोने के गहने कैसे लोप हो गये, यह केवल ईदन मियाँ ने देखा। वृद्ध ईदन की आत्मा रो देती जब उसके हाथ में, मुक़दमा ख़र्च के लिए एक न एक ज़ेवर, भोली रख देती। एक दिन फिर रुपयों की ज़रूरत पड़ी तो भोली अपनी एकलौती बच्ची के हाथ के कड़े उतारने का प्रयत्न करने लगी। ईदन मियाँ बाहर दरवाज़े पर बैठे थे—भीतर भोला बच्ची को फुसला रही थी, कड़ों के लिए। बच्ची रोकर बोली—"नहीं दूँगी।" भोली ने कहा—"बाबू जी ने माँग पठाये हैं—इससे अच्छे नये कड़े……।" इतना बोलते-बोलते भोली का गला भी रुँध गया। रोती हुई बच्ची के हाथों से ज़बरदस्ती कड़े उतार कर भोली ने ईदन मियाँ के पास भेजवाये। बाहर बैठे हुए ईदन मियाँ सभी कुछ सुन रहे थे। उनकी आत्मा कराह उठी—वह रो उठे। कड़े लौटाते बोले—"अभी रुपयों की ज़रूरत नहीं है। मेरे पास हैं—! उम्मीद है, इतने से काम चल जायगा। मैं रुपये माँगने नहीं—घर का समाचार पूछने आया था।"

ईदन की सफ़ेद दाढ़ी और मूँछों पर से आँसुओं की बूँदें मोती की तरह बरस पड़ीं। ठंडी साँस लेकर भोली ने बच्ची को कड़े पहना दिये—वह खोई हुई प्रिय वस्तु पाकर पुलकित हो उठी; कड़े देखती हुई खेलने चली गई।

ईदन अपने दरवाज़े पर पहुँचे तो उन्हें ऐसा लगा कि यह सारा संसार हाहाकार-निमित है सूर्य, चाँद, नदी, पहाड़ जो कुछ दृश्य जगत में है, केवल हाहाकार है। हवा में हाहाकार है और प्रकाश में भी हाहाकार है। कुछ देर ठहर कर ईदन मियाँ ने अपने बैलों की जोड़ी की ओर आँख उठाकर देखा जो खड़ी-खड़ी सानी खा रही थी। ऊँचे-मस्त बैल, देखनेवालों की आँखें तृप्त हो जायँ। धीरे धीरे ईदन मियाँ उठे और बैलों को खोलकर महादेव साव के घर की ओर चले। महादेव साव गाँव का महाजन था। मोटा-काला, दुर्भाग्य के ढेर की तरह, पक्का सूदख़ोर। महादेव साव ने ईदन को देखकर कहा—"क्या चाचा किधर किधर चले! बड़ी अच्छी जोड़ी है—कितने में ख़रीदा।" इतना बोल कर वह बैलों की पीठ सहलाने लगा। ईदन मियाँ बोले—"सुनो भाई, मैं इन्हें बेचना चाहता हूँ। मैंने डेढ़ सौ में दोनों को ख़रीदा था—तुम चाहो तो सवा सौ दे सकते हो?" बच्चों की तरह ईदन मियाँ रो उठे बैलों की ओर देखकर—वे चुपचाप खड़े थे जैसे मूर्ति हो।

पुजारी बाबा से ज़मींदार के दीवान साहब बोले—"कल जज साहब के यहाँ आपका बयान होगा। गाँजा पीकर मत जाना। यही कहना कि—मैंने रामदयाल, शिवधारी, मज्जू महादेव को तलवारों और बर्छों से लैस देखा है—बन्दूक-तोप की चर्चा मत करना।" मैं कहता हूँ—"इस बार भूले हो…हाँ।" पण्डित जी बोले—"मैं सरकार से फ़क़ थोड़े हूँ—जो हुक्म होगा, पर सरकार…… ?"

दीवान साहब बोले—"हाँ हाँ कहिए? क्या कहना चाहते हैं। गाँजे के लिए पैसे?" पुजारी बाबा ने खीस काढ़ कर कहा—"ज़मीन का दानपत्र नहीं मिला। हुक्म हुआ था कि……।"

दीवान गुर्राकर बोले—"मन्दिर में जो सात बीघे खेत हैं। वे क्या तुम्हारे बाप के हैं? मुक़दमे के बाद देखा जायगा। अभी कुछ नहीं हो सकता।"

साक्षरता लिपि और भाषा

लेखक, श्रीयुत रणजित् सीताराम पंडित

कांग्रेस-सरकार ने निरक्षरता-निवारण के लिए व्यापक कार्यवाही शुरू कर दी है। पिछले दिनों हमारे प्रान्त में सर्वत्र साक्षरता-दिवस बड़े उत्साह एवं समारोह से मनाया गया था; उसी दिन से देश के कोने-कोने से साक्षरता के कलंक को धो-बहाने का प्रयत्न होने लगा है। इसमें सन्देह नहीं कि अन्य आन्दोलनों की भाँति साक्षरता-प्रचार के आन्दोलन के लिए भी इसी प्रकार के संगठित प्रयत्न की आवश्यकता है।

इस प्रकार की योजना हमारे देश के लिए प्रायः नई है। पर अन्य देशों में इसका प्रयोग बहुत पहले से हो रहा है। साक्षरता-योजना के सम्बन्ध में अपने देश की तुलना दूसरे देशों से करना मनोरंजक होगा। रूस में क्रान्ति के पश्चात् जब साक्षरता-आन्दोलन चलाया गया था, उन दिनों उसकी दशा लगभग ऐसी ही थी जैसी कि आज-कल हमारे देश की है। वहाँ भी बड़े-बड़े हलक़े थे, जिनमें लाखों निरक्षर किसान रहते थे। उन किसानों का रहन-सहन सर्वथा मध्य-कालीन था। यातायात के साधन भी अपर्याप्त थे। न कोई पत्र पढ़ता था, न पुस्तकें; न कालेज थे, न विश्वविद्यालय। सोवियट प्रजातन्त्र को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। उस अवस्था में उसने जिन उपायों-द्वारा सफलता पाई थी उनमें से कुछ का उपयोग हमारे देश के लिए भी लाभदायक हो सकता है। सोवियट सरकार ने देश भर में चारों ओर बड़े-बड़े पोस्टर लगवा दिये थे। इन पोस्टरों में एक अंधे का चित्र था, जो एक भयानक ख़न्दक के बिलकुल किनारे पर खड़ा दिखलाया गया था। चित्र के नीचे लिखा था कि निरक्षर आदमी इस अन्धे के समान है जो ख़न्दक के किनारे पर खड़ा है, पर यह नहीं जानता कि उसका विनाश निकट है। इस ख़न्दक से बचने के लिए केवल एक उपाय है—'साक्षरता'। वहाँ साक्षरता-प्रचार के लिए सिनेमा का भी उपयोग किया गया था। अनुभव से सिनेमा का पर्दा इस कार्य के लिए लकड़ी के साधारण श्यामपट की अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। क्योंकि श्यामपट छोटा होता है अतः उसे कुछ दर्जन व्यक्ति ही देख पाते हैं; सिनेमा का पर्दा आकार में उससे कहीं बड़ा होता है, इससे उसे हज़ारों व्यक्ति एक साथ देखते हैं। फिर सिनेमा में आकर्षण भी होता है, जो लाखों किसानों को दूर-दूर से अपनी ओर खींच लेता है। श्यामपट में वह आकर्षण कहाँ?

साक्षरता के साथ लिपि का अटूट सम्बन्ध है; इस दिशा में भी हम रूस के अनुभव से लाभ उठा सकते हैं। ज़ारशाही के दिनों में रूस भर में जो स्कूल थे वे रूसी-भाषा के थे। रूस द्वारा जीते हुए तथा उसके निकटस्थ उपनिवेशों पर भी रूसी-भाषा राजभाषा के रूप में ज़बर्दस्ती लाद दी गई थी। वहाँ के सभी स्कूलों में रूसी-भाषा का पढ़ना अनिवार्य कर दिया गया था। इस नियम का पालन ऐसी सख़्ती से किया जाता था कि पोलैंड आदि के विद्यार्थी भी जब तक कि वे स्कूलों में रहें, अपनी मातृ-भाषा नहीं बोल सकते थे। रूसी के अलावा अन्य भाषा बोलना वहाँ अपराध समझा जाता था। स्कूलों का सारा काम भी रूसी में ही होता था। ज़ारराज्य के उन प्रदेशों में जो मध्य एशिया में थे—जैसे खिरगिज़ और तातार—जनशिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। वहाँ के निवासी बौद्ध और मुसलमान जो चाहते थे, पढ़ते-लिखते थे। हाँ, राज्य के शासन-केन्द्रों में कुछ स्कूल अवश्य थे, जिनमें रूसी-भाषा को प्रोत्साहन दिया जाता था; पर उन्हें छोड़कर प्रान्त के शेष भागों में एक भी स्कूल न था। राज्य-क्रान्ति के उपरान्त सोवियट अधिकारियों ने आरंभिक शिक्षा को उकसाने का भरसक प्रयत्न किया। उनकी इच्छा थी कि सोवियट प्रजातन्त्र की प्रत्येक प्रजा आरम्भिक शिक्षा प्राप्त कर सके। सरकार की ओर से ऐसी अनेक संस्थायें खोल दी गईं जो विभिन्न प्रदेशों को उनकी प्रथाओं और सांस्कृतिक अवस्थाओं के अनुसार उन्नत करने के लिए प्रोत्साहित करती थीं। उन संस्थाओं को प्रारम्भिक शिक्षा के लिए जो पुस्तकें दी जाती थी उनकी शैली तो आधुनिक ही होती थी पर भाषा और लिपि भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की थी। उदाहरण के लिए बहु-जाति का नाम ले सकते हैं। मध्य-एशिया के पहाड़ी प्रान्तों की इन जातियों में शिक्षा का चलन कोई नहीं था। इन्हें साक्षर बनाने के लिए इनकी बोलियों की लिपियाँ निकाली गईं। ये लिपियाँ उन पुरातन धर्म-पुस्तकों के

आधार पर निकाली गई थीं जो इन जातियों के धर्मात्मा व्यक्तियों के पास सुरक्षित थीं। स्थानीय तुर्की बोलियों की प्रचलित और अप्रचलित लिपियों का भी इस काम के लिए पूरा-पूरा उपयोग किया गया। कारण यह था कि वे अधिकारी जानते थे कि विद्यार्थी उस लिपि के सहारे अधिक आसानी से उन्नति कर सकता है जो उसके लिए निकट तथा ग्राह्य हो। जो विषय उसे अपनी मातृ-भाषा में सिखाये जायँगे उन्हें वह जल्द सीख लेगा। आँकड़ों से ज्ञात हुआ है कि छोटे बच्चों में साक्षरता की वृद्धि मातृ-भाषा के ज्ञान के अनुपात से होती है; वयस्क छोटे बच्चों की अपेक्षा ५ गुना अधिक तेजी से उन्नति करता है। कारण यह है कि वयस्क का अपनी भाषा के शब्दों पर तो अधिकार होता ही है. उसे केवल उसका लिखित रूप सीखने को रहता है; और बच्चे को शब्द भी सीखने पड़ते हैं।

सोवियट सरकार को इन उपायों-द्वारा आशातीत सफलता प्राप्त हुई और वहाँ अल्पकाल में ही साक्षरता का काफ़ी प्रचार हो गया। हमें अपने देश में भी भाषा और लिपि के प्रश्न को इसी दृष्टिकोण से हल करना चाहिए। साक्षरता के लिए लिपि की आवश्यकता होगी ही। पर इसके लिए कौन लिपि काम में लाई जाय, इसका निर्णय सीखनेवाले पर छोड़ देना ही ज्यादा अच्छा होगा। किसी किसी प्रान्त में एक से अधिक लिपियाँ भी प्रचलित होती हैं। यदि कोई अल्पसंख्या अपनी धार्मिक व सांस्कृतिक भावनाओं की रक्षा के लिए लिपि-विशेष को सुरक्षित करने की माँग करे तो उसे स्वीकृत कर लेना ही सर्वथा न्याय है। ऐसी जातियों को अपनी अभीष्ट लिपि की उन्नति के लिए हर प्रकार की उचित सुविधा मिलनी चाहिए। यह राजनैतिक दृष्टिकोण से ही नहीं, साक्षरता-प्रचार के दृष्टिकोण से भी निहायत आवश्यक व वांछनीय है—यदि हम सचमुच साक्षरता का प्रचार करना चाहते हों तो! पर जहाँ अल्पसंख्या को अपनी लिपि सुरक्षित रखने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, वहाँ बहुसंख्या को भी इसी प्रकार की स्वाधीनता होनी चाहिए। पर जहाँ अल्पसंख्या केवल पृथक्ता की भावना को लेकर ही अपनी लिपि को सुरक्षित करने की माँग कर रही हो तो उसे शान्त रखने के लिए ही बहुसंख्या से यह आशा करना कि वह आंशिक रूप में या अपनी लिपि का सर्वथा त्याग करके पूर्णरूप से अल्पसंख्या की लिपि को अपना ले सर्वथा अनुचित है। सम्भव है कि अल्पसंख्या अपनी लिपि को अधिक प्रचलित करने के अभिप्राय से सरकार से ऐसी माँग करे! पर सरकार के लिए इस प्रयत्न का निपटारा करने का एक यही उपाय है कि वह अपने साधारण व्यवहार के लिए केवल बहुसंख्या की लिपि को अपनाये। साथ ही अल्पसंख्या की लिपि को भी पूरा प्रोत्साहन देती रहे। हमारे देश में व्यवहृत होनेवाली विभिन्न लिपियों व भाषाओं के उद्गम व विकास पर हम आगामी लेख में विचार करेंगे। यहाँ इतना कहना ही काफ़ी है कि इस परिवर्त्तनशील संसार में हमारी भाषा से अधिक परिवर्त्तनशील दूसरी कोई वस्तु नहीं। भाषा एक जीवित प्राणी के समान होती है। भोजन और मलविसर्जन उसके जीवन के आवश्यक धर्म हैं। वह नये भावों के व्यञ्जक नये शब्दों को शीघ्र ग्रहण कर लेती है. यही उसका भोजन है। पुराने शब्दों को घिसे-घिसाये अथवा जाली सिक्कों की भाँति निकाल कर बाहर कर देना ही उसका मलोत्सर्ग है।

आज का संसार शीघ्रता-पूर्वक एक हो रहा है। वायरलेस और हवाई जहाजों के प्रचार ने समय और दूरी के प्रश्न को हल कर दिया है। अब एक देश के विचार दूसरे देश में बिजली की भाँति फैल जाते हैं। कुछ देशों में—जो अभी कल तक मध्यकालीन दशा में थे—जैसे तुर्की और ईरान, भाषा में आधुनिकता लाने और लिपियों में आवश्यक परिवर्त्तन एवं संशोधन करने के लिए समितियाँ बना दी गई हैं। स्वर्गीय कमाल अतातुर्क ने तुर्की की पुरानी लिपि को रोमन में बदल दिया। यही नहीं, उन्होंने तुर्की-भाषा में से फ़ारसी और अरबी के शब्दों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर निकाल फेंकने के लिए एक कमिटी भी बना दी। इस कमिटी की राय में तुर्की-भाषा की उन्नति व उसके नवीकरण के लिए विदेशी शब्दों का बहिष्कार अनिवार्य था, क्योंकि बिना ऐसा किये न तो तुर्की के निवासियों के विचारों में नवीनता व आधुनिकता आ सकती थी और न तुर्की-भाषा ही इस युग के व्यवहार के लिए उपयुक्त हो सकती थी। पुरानी लकीर पर चलते हुए तुर्की का भविष्य में विकास भी असम्भव था। आँकड़ों से पता लगता है कि तुर्की-भाषा में प्रतिशत २५ शब्द अरबी के थे और ४० प्रतिशत फ़ारसी के। नई तुर्की ने ऐसे समस्त शब्दों का पूर्ण बहिष्कार कर दिया है।

राष्ट्रीय जागृति के साथ-ही-साथ ईरान में भी भाषा

के परिष्कार का प्रश्न उठा। ईरानियों ने अपनी भाषा में से अरबी शब्दों का यहाँ तक बहिष्कार कर दिया कि स्वयं बादशाह ने ईरान की किसी पिछली विजय के स्मृति-स्वरूप पहलवी की उपाधि धारण की। अरबी-शब्द फ़ारसी-भाषा में बुरी तरह घुल-मिल गये थे, अतः वहाँ अरबी-शब्दों के बहिष्कार का प्रश्न बड़ा कठिन पड़ा। फिर भी किसी-न-किसी प्रकार ईरानियों ने यह कठिन कार्य भी पूरा कर डाला और आज-कल उनकी भाषा में अरबी का एक भी शब्द देखने को नहीं मिलता। यहाँ तक कि मुसलमान होते हुए भी मुसलमानों के अत्यन्त प्रिय वाक्य 'बिस्मिल्लाह अर्रहमान अर्रहीम' के स्थान पर भी वहाँ 'बनामे ख़ुदा' का प्रयोग होने लगा है। रोमन-लिपि को अपनाने के सम्बन्ध में ईरानियों ने अभी तक कोई निर्णय नहीं किया। इस विषय को उन्होंने अपनी सरकार पर छोड़ दिया है। प्रसन्नता की बात है कि मुसलमान होते हुए भी तुर्की और ईरानी भाषा और लिपि के प्रश्न को धर्म के साथ सम्बन्धित नहीं करते। उनका यह भाव उनकी उन्नतिशील मनोवृत्ति का परिचायक है। पर हमारे अभागे देशवासियों की मनोवृत्ति भी विलक्षण है। हम लोग भाषा और लिपि के मामले में भी धर्म को ला घुसेड़ते हैं। यही नहीं, हम तो भाषा और लिपि के प्रश्न को भी मिलाकर देखना चाहते हैं—पृथक्-पृथक् नहीं। योरप के सब देशों ने साक्षरता-प्रचार के लिए सुविधा की दृष्टि से रोमन-लिपि को स्वीकार कर लिया है। सब जानते हैं कि योरप की भाषायें उच्चारण-वैभिन्य के कारण एक-दूसरी से सर्वथा पृथक् हैं, पर लिखने में रोमन-लिपि से सबका काम अच्छी तरह चल जाता है। हमारे देश की अदालतों में भी हिन्दुस्तानी-भाषा के लिए रोमन-लिपि का प्रयोग अँगरेज़ जजों की सुविधा की दृष्टि से किया जाता है। पुर्त्तगालवालों ने तो हिन्दुस्तान के स्वाधिकृत प्रदेशों में रोमन-लिपि का प्रचार वहाँ की स्थानीय बोली को लिखने के लिए शताब्दियों से कर रक्खा है। गोआ-निवासी कोकानिम भाषा बोलते हैं, जो रहठी की एक शाखा है, पर उसे लिखते हैं रोमन-अक्षरों में। मेरी समझ से भारत के अन्यान्य सभी प्रदेशों में रोमन-लिपि सफलता-पूर्वक काम में लाई जा सकती है बशर्त्ते कि वहाँ के निवासी उसका प्रयोग अपनी लिपि के स्थान में करना स्वेच्छापूर्वक पसन्द करें।

हमारे प्रान्त की शिक्षा-संगठन-कमिटी ने ७ से लेकर १४ वर्ष तक की आयवाले बच्चों के लिए शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क कर देने की सिफ़ारिश सरकार से की है यह भी सिफ़ारिश की गई है कि इस प्रयोजन के लिए जो पाठ्य-पुस्तकें लिखाई जायँ उनकी भाषा साधारण हिन्दुस्तानी हो। न तो उसमें अरबी-फ़ारसी के कठिन शब्द हों, न संस्कृत के। साथ ही भाषा ऐसी हो जो अरबी और देवनागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सके। कमिटी ने अरबी और देवनागरी दोनों लिपियों का अनिवार्य रूप से प्रारंभिक पाठशालाओं में पढ़ाना स्वीकार कर लिया है। यह सचमुच बड़ा भयानक निर्णय है। उचित तो यह था कि लिपि का चुनाव विद्यार्थी तथा उसके अभिभावकों पर छोड़ दिया जाता। यदि विद्यार्थी साथ ही साथ दूसरी लिपि भी सीखना चाहता तो उसे ऐसा करने के लिए भी पूरी आज़ादी रहती। अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा के लिए अनिवार्य केवल एक लिपि को किया जाता। अगर विद्यार्थी दूसरी लिपि को पढ़ना चाहता तो उसे रोमन या हिन्दी-उर्दू में से किसी एक को चुनने की स्वतंत्रता दी जाती। ऐसा करने से हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के छात्रों को अपनी प्रारंभिक शिक्षा के लिए लिपियाँ चुनने का मौक़ा रहेगा। उन्हें द्वितीय लिपि के लिए रोमन सीखने का भी अवसर रहेगा जो आगे चलकर अँगरेज़ी पढ़ने में सहायक सिद्ध होगी, क्योंकि माध्यमिक शिक्षा के लिए अँगरेज़ी को अनिवार्य्य कर देने की सिफ़ारिश की गई है। हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के छात्र चाहने पर अरबी-लिपि-द्वारा ही प्राथमिक शिक्षा का प्रारंभ कर सकते हैं; इसी प्रकार देवनागरी-लिपि को भी चुनने का दोनों को समान अधिकार रहेगा। पर हमारी सरकार को प्रारंभिक शिक्षा के लिए प्रान्त की सब पाठशालाओं में नागरी-अरबी दोनों लिपियों का अनिवार्य कर देना छात्रों के हित में अच्छा नहीं हुआ। शिक्षारंभ से ही विद्यार्थी पर बहुत अधिक लिपियों या शब्दों का बोझ लाद देना अनुचित है; इससे उसके मानसिक विकास में बाधा पड़ती है। साथ ही ऐसा करना मनुष्य के उस जन्मसिद्ध अधिकार की उपेक्षा करना है जो उसे अपनी भाषा को अपनी लिपि-द्वारा सीखने के लिए तथा अन्यान्य अनावश्यक व अवाञ्छनीय लिपियों को अपने दिमाग़ में न आने देने के लिए, स्वभावतः प्राप्त है।

भाषा के संबंध में इतना कहना काफ़ी है कि इसके लिए क़ब्रों के गड़े मुर्दे उखाड़ने की ज़रूरत क़तई नहीं है। क्योंकि

इससे अनावश्यक वितंडा के खड़े हो जाने की आशंका है। जब गाँवों का बहुसंख्यक जन-समाज साक्षर हो जायगा तब बोलचाल की भाषा का आप-से-आप प्राधान्य हो जायगा। हमें इस समय आवश्यकता तो एक ऐसी भाषा की है जो हमारे दैनिक व्यवहार व साहित्य की आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर सके; साथ ही हमारे विज्ञान-संबंधी अध्ययन व 'रिसर्च' के लिए भी उसके पर्याप्त पारिभाषिक शब्द हों। वह भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा हम अपने मत व वर्तमानकालिक सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक भाव आसानी से व्यक्त कर सकें; जिसे हम अपने राजनैतिक विचार-विनिमय का माध्यम बना सकें और जिसमें हम व्यवस्थापिका सभाओं की कार्यवाही कर सकें और क़ानून बना सकें। ऐसी ही भाषा लोकभाषा का पद पा सकेगी। उसका उदय जनसाधारण में से होगा। मुग़ल-युग या उससे भी अधिक पुराने युग की भाषा को, इसी उद्देश्य से, पुनर्जीवित करने की चेष्टा करना अनावश्यक है। न आवश्यकता होने पर भी ऐसा कर सकना अब संभव ही है। 'सुभाषण' की समस्या भी हमारी भाषा को ही हल करनी होगी। हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे स्पष्ट और श्रुतिमधुर भाषा बोलें। जो भाषा हम आज-कल बोलते हैं वह हमारे उच्चारणोपयोगी अवयवों व प्रयत्नों के सर्वथा अनुकूल है। जब सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार हो जायगा तब हमारी भाषा में से भी विदेशी परिभाषायें और उच्चारण निकाल व हटा दिये जायँगे। भतकाल की अपनी भूलों को सुधारने पर हमें पूरा ध्यान देना चाहिए। हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी 'लफ़्फ़ाज़ी' को छोड़कर अपनी भाषा को इस रूप में विकसित करने का प्रयत्न करें कि वह हमारे वर्त्तमान युग की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने के उपयुक्त हो जाय।

द्वार खड़ी आहुति की बेला

लेखक, श्रीयुत अंचल

आज न यौवन का मुख देखा द्वार खड़ी आहुति की बेला।

आई निष्ठुर दिवा स्वामिनी की, प्रज्वलित खून की प्यासी,
हर लेगी जो रजनी उत्सव की ममता की मुखर उदासी।
फैंक रहा किरणों का मंडल देखा प्रिय विरह की छाया,
इस अपूर्णता की जगती में किस युग में संचय न आया,
फटे शिखर ज्वाला गिरि के जब टूट गिरा हृदय तुम्हारा,
मुक्त करो चिर मुक्त करो अब जीवन का दावानल सारा;
हो अक्षय शृंगार तुम्हारा क्या चिन्ता मैं रहूँ अकेला,
आज न यौवन का मुख देखा द्वार खड़ी आहुति की बेला।

अब तक सपनों में पागल थे अब देखें उल्लास मरण का,
अब तक गीतों में बन्दी थे आज सुनें चीत्कार हरण का;
आज सुनें भूखों का हाहाकार दलित की दाह कहानी,
मर्म वेदना अपमानित की वस्त्रहीन लज्जा की वाणी;
फिर स्फुलिंग निकल व्रणों से खोलो ये विलास के बन्धन,
जीवन को जीवन की तृष्णा आज निधन के खुले निमंत्रण;
और गृही संसारी मैं भी करूँ शासनों की अवहेला,
आज न यौवन का मुख देखा द्वार खड़ी आहुति की बेला।

मैं तिब्बत कैसे पहुँचा

लेखक,
श्रीयुत फनी मुकर्जी, कलाकार
ए० सी० ए०, आई० ए० एस०

[हमारे तिब्बती नौकर ख़च्चरों पर सामान लाद रहे हैं।]

(३)

हवा तेज़ हो गई, बारिश भी साथ साथ मूसलाधार होने लगी, लेकिन घोड़े से उतर कर बरसाती निकालने की हिम्मत न हुई। इसलिए आगे चलने पर मजबूर हुए। घोड़े के पैर कई जगह फिसले। क़रीब आध घण्टे के बाद बारिश तो रुक गई, पर छोटे-छोटे ओले गिरने लगे। सरदी बहुत ज़्यादा बढ़ गई। चन्द मिनट के बाद ही बरफ़ पड़ने लगी और देखते-देखते तमाम कपड़े और घोड़ों की पीठ सफ़ेद हो गई। लेकिन सड़क के संकीर्ण होने से रुकने का कोई सुभीता नहीं था, और रुकना ख़तरनाक भी था। ऐसे अवसर पर देह का गरम रहना ज़रूरी है। कभी बारिश की बौछार और कभी बरफ़ के तूफ़ान के अन्दर से गुज़रते हुए हम लोग क़रीब ३॥ बजे नाथङ्ग पहुँचे और वहाँ की सराय में आ ठहरे। सराय बड़ी आरामदेह थी। बरफ़ और ओलों की मार से हमारा बुरा हाल था। हमारी दशा को देखकर सराय की स्वामिनी ने हम लोगों के पास बहुत सी आग लाकर रख दी। उसने मुझ पर विशेष कृपा की, मुझे ले जाकर अपनी रसोई के चूल्हे के पास बैठा दिया और हमारे कोट और जूते उतार दिये, क्योंकि उन पर बरफ़ जमी हुई थी और आग की गर्मी से पानी गल गलकर उनमें समा रहा था, इसलिए उन्हें उतार डालना ज़रूरी था। वह हमको वहीं नमकीन चाय पीने को मजबूर करने लगी। जब मैं सराय से निकल कर बाहर बरफ़ की चोटियों को देख रहा था उस वक़्त वह भी मेरे साथ साथ घूमने लगी और अपनी बोली में न मालूम क्या कहने लगी। लेकिन मैंने उसको यह बता कर उदास नहीं किया कि मैं तिब्बती बिलकुल ही नहीं समझता हूँ। बाहर मेरे मित्र गेशेला दिखाई दिये। उनको बुलाकर मैंने कहा कि तुम इस स्त्री से पूछो कि यह मुझसे क्या कहती है। पूछने पर मालूम हुआ कि वह मुझको देखकर बहुत ख़ुश हुई है और चाहती है कि मैं कुछ दिन यहीं रह जाऊँ और इस तूफ़ान में बरफ़ से जमी हुई चोटियों को अभी पार न करूँ। उसकी यह बात सुनकर मुझे अपना

[लामा लोग भूतों को भगाने के लिए नाच गान कर रहे हैं।]

पुराना विचार ठीक जान पड़ा कि मनुष्य का हृदय स्वभाव से प्रेम और दया से भरा होता है। लोगों का यह ख़याल ग़लत है, हम लोगों की संस्कृति ही हमको प्रेम आदि सद्गुणों की शिक्षा देती है।

आज उसके घर में बड़ी धूम मची हुई है। बड़े बड़े ढोल बज रहे हैं और मन्त्रों के पढ़े जाने की आवाज़ आ रही है। वही औरत मुझको एक कमरे के अन्दर लिवा ले गई। वहाँ जाकर उनके दस्तूर के अनुसार तीन दफ़ा लेटकर नमस्कार किया और उनकी पद्धति के अनुसार जीभ को बाहर निकालकर सिकुड़े हुए एक कोने में खड़ा होकर देखने लगा। मुझको देखकर चरणामृत पीने को दिया गया और सिर पर हाथ रखकर मुझे आशीर्वाद दिया गया। उस कमरे में सत्तू और आटे की बनी हुई ३ फ़ुट ऊँची एक मूर्ति रक्खी थी और उसके आसपास उसी क़िस्म की छोटी छोटी सैकड़ों मूर्तियाँ रक्खी थीं। एक मेज़ के ऊपर चाँदी के कटोरों में पवित्र पानी भरा हुआ था। रंग-बिरंग के कपड़ों और झंडियों से कमरा सजा हुआ था। मोर के पंख के चँवर और बहुत बारीक लम्बी घास से जिसको वे लोग कुश कहते हैं, वह स्थान सजा हुआ था। वहाँ ८ या ९ आदमी एक दायरे में बैठे हुए थे। उनके बीच में एक व्यक्ति एक रङ्गीन कपड़ा पहने हुए जिसमें जगह जगह जरी का काम था, बड़ी शान से बैठा हुआ एक मोटी पोथी खोले पढ़ता जाता था और बाक़ी आदमी उन मंत्रों को धीमी आवाज़ से दोहराते जाते थे। उन आदमियों के हाथों में बड़ी-बड़ी ढालें थीं और वे उनको एक ताल में बजा रहे थे। वे लोग 'ढावा' कह-लाते हैं और बीचवाला व्यक्ति लामा। ये लोग किसी पास के मठ से बुलाये गये थे और पिछले ६ दिन से वहाँ थे। कल पूजा समाप्त होगी। तब दक्षिणा लेकर चले जायँगे। उनको सराय की स्वामिनी ने बुलाया था। उसने अपना यह मकान नया बनवाया था। वह वक़्त की बारिश और बरफ़ के तूफ़ान को देखकर डर रही थी, इसलिए उसकी रक्षा के लिए ये लोग मंत्र पढ़कर विघ्नकारी देवताओं को भगा रहे थे। ऐसे कामों के लिए ये लोग जगह जगह घूमते रहते हैं और उनको हर जगह खाना-पीना मुफ़्त मिलता है। वहाँ हर एक आदमी का यह कर्तव्य है कि

वह उनकी हर एक माँग को पूरा करे। चलते वक़्त उनको १० या १२ रुपये दक्षिणा भी दी जाती है, जो पहले से तय रहती है।

वहाँ हमको ख़बर मिली कि भेड़ का ताज़ा मांस मिल रहा है। मैंने क़रीब आधी भेड़ १॥) में ख़रीद ली। सारी रात उस दयालु स्त्री की कृपा से बड़ी चैन से गुज़री। रात भर लगातार बारिश और बरफ़ का तूफ़ान जारी रहा। सुबह को उठा तब आसमान साफ़ था, लेकिन सर्दी बहुत तेज़ थी। चारों तरफ़ बरफ़ से सफ़ेद हो गया था। हमारे आगे जाने को सड़क एक लकीरनुमा सफ़ेद बरफ़ से ढँकी हुई चोटी पर दिखलाई पड़ रही थी, जिसको देख-कर दिल दहल गया। मकान के इर्द-गिर्द बरफ़ के ढेर को ठोकरें मार मारकर खेलने लगे। इन पुजारियों को मकान के चारों ओर मन्त्र पढ़ते और ढोल बजाते हुए घूमते देख-कर मैंने उनका फ़ोटो लिया और फिर उनके साथ साथ

[सराय की एक जमादारिन चाय कूट रही है।]

फा० ३-४

[हमारा नौकर जलेपा की बर्फ़ में अपनी साँस की हड्डियाँ दबा रहा है।]

बहुत दूर की एक घाटी में गया, जहाँ उन्होंने पूजा का सारा सामान और सत्तू की मूर्तियों को मन्त्र पढ़ कर फेंक दिया। पूछने पर मालूम हुआ कि इन सबको पानी में फेंकने का दस्तूर है, लेकिन अब उसके जम जाने की वजह से बरफ़ पर फेंका जा रहा है। सराय की स्वामिनी को ।) लकड़ी का दाम ज़बरदस्ती दिया, क्योंकि वह लेना नहीं चाहती थी। ६ मई १९३८ को ५ बजे सुबह फिर आगे बढ़े।

ऊँचाई बराबर ज़्यादा होती जा रही थी तमाम सड़क बर्फ़ से ढँकी हुई थी। यात्रा बड़ी जोखिम की थी। ख़च्चरों के पैर बराबर फिसल रहे थे। लेकिन चारों ओर का दृश्य बहुत ही अच्छा था। सर्वत्र सफ़ेदी ही सफ़ेदी दिखलाई पड़ती थी और उसकी सफ़ेद सतह पर काले काले आदमी और ख़च्चरों की पंक्ति बहुत ही अच्छी मालूम देती थी, जिसको देखकर मैं बार बार फ़ोटो लेने लगता। आख़िर

[जलेपला दर्रे का बर्फ़ीला मार्ग]

मुझसे न रहा गया और ख़च्चर से उतर पड़ा, लेकिन पैर के फिसल जाने की वजह से नीचे खिसकने लगा। चोटी १४,५०० फ़ुट ऊँची थी और दर्रे का नाम जलेपा था। चोटी पर एक जलेपला देवता का स्थान है, जहाँ बहुत से संगमरमर के पत्थर जमा हैं और उस ढेरी पर हज़ारों झंडियाँ लगी हुई हैं। हमारे नौकरों में से एक नौकर अपनी सास की हड्डियाँ लाया था। वह उनको बरफ़ में दबाने लगा। मालूम नहीं, उसने क्या क्या मंत्र पढ़े। वह हैट उतार कर नमस्कार करने लगा। पूछने पर मालूम हुआ कि वह जगह इस काम के लिए बहुत पवित्र मानी जाती है, जैसे हिन्दुस्तान में गया जी। पास में ही एक झील थी, जहाँ वह उन हड्डियों को फेंकना चाहता था। लेकिन वह बरफ़ से जमी हुई थी, इसलिए उसने वहीं दबा देना मुनासिब समझा। इनके कई फ़ोटो लिये। हमारे बाईं तरफ़ किन्चनजंगा साफ़ दिखलाई पड़ रहा था, जिसको देखकर दिल दहल गया। उसके बाँईं तरफ़ कुछ फ़ासले पर माउन्ट एवरेस्ट की चोटी भी दिखलाई पड़ी। दृश्य इतना अच्छा था कि वर्णन के बाहर है। इस जगह भी मैंने कई फ़ोटो लिये। इतने में दुर्भाग्य से बादलों का एक झुंड उस घाटी में घुस आया और कुछ मिनटों में वह सारा दृश्य ग़ायब हो गया।

अब नीचे की तरफ़ उतराई शुरू हुई जो इतनी जोखिम की थी कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। पद-पद पर मृत्यु और जीवन का सवाल था। सड़क के बाँईं तरफ़ बड़ा भारी झील थी, पैर के फिसलते ही उसके अगाध पानी में ग़ायब हो जाने का डर था। आप चाहें कि बहुत धीरे-धीरे चलें और पैर फिसलते वक़्त थोड़ा रुक भी जाएँ तो ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि रास्ता क़रीब ८ इंच चौड़ा था। बीच की बरफ़ पैरों से कुचलने से एक लकीर सी बन गई थी, इसलिए रुकने से पीछे आनेवाले ख़च्चर और आदमी आपको धक्का देकर आगे बढ़ा देंगे। और रुकने में यह भी डर था कि चलते-चलते एकबारगी रुकने से आप अपने बोझ को सँभाल भी न सकते और गिर पड़ते। जो बरफ़ पर चलने के आदी नहीं हैं उनके लिए वह उतार बहुत ही कष्टप्रद था। आगे बढ़ते चलो, लेकिन मज़बूती के साथ; एकमात्र यही उपाय था।

एक भी क़दम रखने में अगर ग़लती की तो उसकी सज़ा मौत ही थी। इस बात को हर घड़ी याद रखना पड़ता था। इस धक्का-धक्की से आरी आकर मैं उस दबी हुई बरफ़वाली लकीर से हटकर चलने लगा। लेकिन फूली हुई बरफ़ में पैर धँसने लगा और एकाएक मेरा दाहिना पैर एक गड्ढे में घुस गया। इस अचानक झटके से पैर टूटने से साफ़ बच गया, क्योंकि मैं फ़ौरन बैठ गया। अभी सोच ही रहा था कि क्या करूँ कि देखा कि एक ख़च्चर बिलकुल मेरे ऊपर ही आ गया है। मैंने फ़ौरन टाँग निकाल ली और ज़रा खिसक कर उसको जाने के लिए जगह दे दी। ख़च्चर-वाले बड़ी भागदौड़ और शोर कर रहे थे, क्योंकि ख़च्चरों के पैर फिसलने की वजह से तमाम क़ाफ़िले के तितर-बितर हो जाने का डर था। ख़च्चरों में और आदमियों में एक तरह की लड़ाई सी हो रही थी। दोनों ही अपने लिए अच्छा रास्ता चाहते थे। इस क़िस्म की लड़ाई और जोखिम का मार्ग क़रीब १॥ घण्टे तक जारी रहा। उसके बाद उतराई पर हम लोग एक झील के क़रीब इधर-उधर पत्थरों पर

[सिकम के मार्ग का वन।]

[फ़रीज़ोंग के दयालु पोस्ट मास्टर जिन्होंने राहुल जी के प्राण बचाने में हमारी सहायता की।]

छलांगें मारते हुए आगे बढ़ चले। आगे बढ़ने पर एक पगडंडी मिली। लेकिन यह बहुत ज़्यादा उतराई थी और तेज़ मोड़ों की वजह से ख़च्चरों पर सवार होना कठिन था। इतने में सामने हरियाली दिखाई दी और ऐसा मालूम हुआ कि किसी अज्ञात शक्ति ने बड़े सुन्दर चित्र सजाकर रक्खे हैं।

क़रीब ११॥ बजे होंगे, हम लोग लाँगड़ा गाँव में पहुँचे। यहाँ हम लोग चन्द मिनट रुके और कुछ खाया-पिया। यहाँ एक नेपाली ने हम लोगों को मीठी चाय पिलाई।

अब आगे बढ़े। फिर बहुत ज़्यादा उतराई शुरू हुई। क़रीब तमाम दिन पैदल लुढ़कते हुए उतरे। इस उतराई और गरमी से दिल थककर कहता था कि आज हम नरक में उतर रहे हैं लेकिन फिर दिल कहता

[चोमो लहारी के निकट पुराना डाकघर]

था कि मैं नरक में जाने से डरता नहीं। जब नरक का रास्ता इतना सुन्दर है तब वह जगह हद से ज़्यादा सुन्दर होगी।

आख़िर शाम के २१ मील का सफ़र तय कर हम लोग रिमछेनगंज नामक एक बहुत सुन्दर गाँव में आ रुके। यहाँ की खेती अच्छी थी। धान ख़ूब पैदा होता है। लोग भी शौक़ीन हैं और अच्छी हालत में हैं। हम लोग एक सराय के एक लकड़ी के कमरे में ठहर गये। यह सराय दो सुन्दर और साफ़-सुथरी औरतों की थी। हमारा कमरा जापानी और चीनी तसवीरों से सजा हुआ था। चारों तरफ़ दीवार पर तेज़ रंग के बेलबूटे खिँचे हुए थे। शीशे की खिड़कियाँ बाक़ायदा पर्दों से ढँकी हुई थीं। बैठने का गलीचा और सामने रक्खी हुई चाय की प्याली और चौकी बहुत ही सुन्दर और रंगीन थे।

रिमछेनगंज की चाँदनी रात बड़ी भली मालूम हुई। अकेले रात में बाहर जाना बड़ा जोखिम था, इसलिए एक नौकर को साथ लेकर बाहर सैर के लिए चला। समय काटने के मतलब से उससे बातें करने लगा। उसकी उम्र ३० साल की रही होगी लेकिन उसने बतलाया कि वह अभी २२ साल से ज़्यादा की नहीं है। वह विवाहित था। उसने अपनी पत्नी की उम्र ३५ साल बतलाई। उसने कहा, माँ मर गई है, बाप ज़िन्दा हैं। लेकिन वह बाप सौतेला है और उसकी परवा नहीं करता, उसके माँ के मर जाने पर उसका सारा सामान छीनकर उसको घर से निकाल दिया है। उसका विश्वास है कि उसकी माँ ज़्यादा मेहनत करने और तकलीफ़ उठाने की वजह से जल्दी मर गई। इसी बात से उसे एक दिन बाप पर बहुत क्रोध आया और उसको एक दिन बाज़ार में पकड़कर मार डालने की कोशिश की। पुलिस ने आकर उसको पकड़ लिया और थाने में लेजाकर उसको ख़ूब धमकाया और छोड़ दिया। लेकिन यह अपनी ज़िन्दगी से आरी आ गया था, इसलिए इसने पुलिस से प्रार्थना की कि वह रिहाई नहीं चाहता। पर पुलिस ने उसकी नहीं सुनी और उसे खदेड़ दिया। ये सब बातें कालिम्पोंग में हुईं, जहाँ ये लोग तिब्बती सौदागरों की नौकरी करते हैं।

१० मई सन् १९३८ की सुबह को फिर हम लोग चल

पड़े। और हमारा दिमाग़ कई फ़िक्रों से भरा हुआ था, क्योंकि आज हमें पोलिटिकल एजेन्ट के दफ़्तर में जाना था और उनसे भेंट होने पर दो पासपोर्ट लिखाने थे। लेकिन मुलाक़ात होने की बहुत कम आशा थी। रास्ता नदी के बराबर गया था। यहाँ नदी बहुत तेज़ और चौड़ी थी। दो बड़े ऊँचे पहाड़ों के बीच में बहती हुई गई थी। इस वजह से सूर्य का प्रकाश बहुत देर में हमारे ऊपर पड़ा। हवा बहुत तेज़ और ठंडी थी। लेकिन दृश्य बहुत ही अच्छा था। चलते-चलते एक गाँव के बीच से निकले। यहाँ के लोग बड़े सुन्दर और साफ़ रंग के थे। चलते चलते एकाएक एक भोटिया सिपाही ने आगे जाने से रोक दिया और पासपोर्ट दिखाने को मजबूर किया। पासपोर्ट देने पर उसने उसको उलटा पकड़ कर देखा और फिर हम लोगों की तरफ़ देखा। शायद उसको कुछ सन्देह हुआ, जिससे वह कहने लगा कि अभी तुम लोग यहाँ रुको, आगे नहीं जा सकते। हम लोगों ने आगे जाने पर ज़िद की और बतलाया कि मैं आज पोलिटिकल एजेन्ट से मिलना चाहता हूँ। इस पर वह अन्दर गया और अपने साथ दो आदमी बुला लाया, जिनको देखकर मैं यह नहीं पहचान सका कि वे लड़कियाँ थीं या लड़के थे। ख़ैर, कुछ भी हो वे बड़े सभ्य थे। हमारी दुर्दशा को देखकर उनमें से एक ने कहा कि आप लोग ठहरें, उतरने की ज़रूरत नहीं, मैं अभी अपने अफ़सर को यह पासपोर्ट दिखलाकर लिये आता हूँ। अफ़सर साहब सोते से उठाये गये और हम लोगों को आगे बढ़ने की आज्ञा मिली।

क़रीब एक घंटे के बाद गांगटक (याटङ्ग) पहुँच गये। यह जगह बहुत मनोरम निकली। यहाँ पोलिटिकल एजेन्ट का एक दफ़्तर है। जाते ही मालूम हुआ कि पोलिटिकल एजेन्ट साहब आज भूटान को रवाना हो रहे हैं। जल्दी जाकर उनके प्राइवेट सेक्रेटरी से मुलाक़ात की। वे देखने में जैसे सुन्दर थे, वैसे ही स्वभाव भी उनका बहुत अच्छा था। वे सिक्किम के रहनेवाले थे। उनकी कृपा से हमको १०½ बजे दो पासपोर्ट मिले। उनमें से एक हमारे मित्र कमलकृष्ण जी के लिए था, जो अपने आर्ट स्कूल की पढ़ाई छोड़कर तिब्बत के डाकरूम के काम में मेरी मदद करने के लिए आ रहे थे। दूसरा पासपोर्ट रेवेरेन्ड नागार्जुन के लिए था, जो राहुल जी को मदद देने को सीलोन से

[तिब्बती स्त्रियाँ पथरीली ज़मीन खोद कर घास की जड़ें निकाल कर ला रही हैं।]

आ रहे थे। पासपोर्टों के मिल जाने से हम लोगों को बड़ी ख़ुशी हुई और फ़ौरन बिना कुछ खाये-पिये हुए ही हम आगे को चल पड़े। लेकिन एक नेपाली व्यापारी ने हम लोगों को रोक लिया और चाय-बिस्कुट आदि से हम लोगों का सत्कार किया। यहाँ का बाज़ार बड़ा था। यहाँ ब्रिटिश पुलिस और भोटिया पुलिस यात्रियों और व्यापारियों की जाँच करती है। हमारे सामने ही एक भोटिया व्यापारी पकड़ा गया, जो सिगरेट का एक डिब्बा छिपाकर तिब्बत ले जा रहा था। यहाँ एक सिक्ख रेज़ीमेंट रहता है। यहाँ एक पहाड़ देखा, जिस पर बहुत कुछ खुदा हुआ था। मालूम हुआ कि जब कोई रेज़ीमेंट यहाँ आता है तब जाते वक्त वह अपना नाम और रहने की तारीख़ वहाँ लिखवा देता है, जिससे उस पहाड़ पर एक चार्ट बन गया है। यह जगह सिक्किम यानी अँगरेज़ी भारत और तिब्बत की सरहद पर है।
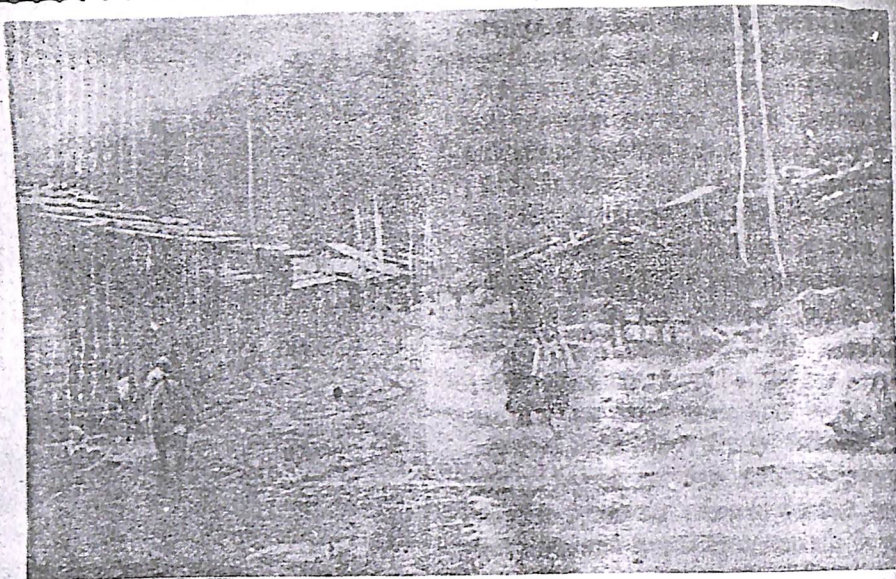
[यातुग में पोलीटिकल एजेंट का स्थान और बाज़ार]

इस जगह के आस-पास काफ़ी अधिक चरागाह हैं। यहाँ आलू और धान खूब पैदा होता है और पहाड़ों की चोटियाँ हरितमापूर्ण हैं। यहाँ से धीरे-धीरे चलकर हम एक सुन्दर घाटी में पहुँचे, जो रंगबिरंगे पेड़ों और झाड़ियों से भरी हुई थी। हमारे चारों तरफ़ जंगली फूल खिले हुए थे और पाइन के लम्बे पेड़ कुछ और ही मज़ा दे रहे थे। आज का सफ़र हम लोगों ने और दिनों से ज़्यादा तय किया ताकि फेरीज़ान जहाँ पोस्ट आफ़िस था, जल्दी पहुँच जायँ। २६ मील का सफ़र तय करके हम लोग बहुत थक गये थे, तथापि मार्ग के दृश्य अति सुन्दर होने से दिल बहुत ख़ुश था। आज हम लोग एक सराय में ठहरे, जो कुछ दिन हुए जल गई थी। उस आधी जली हुई झोपड़ी में ही हम सब लोग ठहराये गये, क्योंकि वहाँ एक झोपड़ी बरबाद होने से बची थी। उसके अन्दर बड़ी गन्दगी थी, तिस पर हम २० या २२ आदमी साथ में सरायवाले का कुटुम्ब मिलाकर थे। वह रात इसके अन्दर बितानी पड़ी। इस गाँव का नाम गाउ है।

दूसरे दिन ११ मई को तड़के गरम चाय पीकर चल दिये। मार्ग में एक जगह मेरा घोड़ा फिसल गया और मेरे सौभाग्य से वह एक पत्थर में अटक गया। थोड़ी दूर तक तो हरियाली रही, लेकिन धीरे-धीरे पेड़ों के वृक्ष से आगे निकल गये। यहाँ हवा बड़ी तेज़ और ठंडी थी। यह हवा ज़्यादा खुश्क थी, इसलिए बड़ा कष्ट हुआ। रास्ता बड़े बड़े पहाड़ों के बग़ल से घूमता हुआ गया था, इसलिए दूर से ४० या ४५ ख़च्चरों और २० या २२ आदमियों की पंक्ति को एक साथ देखने में बड़ा मज़ा आता था। अब सफ़र में कोई दिलचस्पी नहीं थी, क्योंकि ठंडी हवा बहुत तकलीफ़ दे रही थी और इस जगह डाकुओं का भी डर था। आगे चलकर देखा कि रास्ता एक बहुत बड़े मैदान से होकर जाता है। यह मैदान सैकड़ों मील ऊंचा, और वीरान है। इर्द-गिर्द पीले रंग की सूखी पहाड़ी है, जो ज़्यादातर गोल है। इसकी चोटियों पर टोपीनुमा सफ़ेद बरफ़ जमी हुई थी। यह पहाड़ी देखने में क़ुदरती नहीं मालूम होती और बहुत भद्दी है। चारों तरफ़ का दृश्य बहुत रूखा है। हरियाली का यहाँ नाम तक नहीं है। चलते-चलते एक सराय के पास आये लेकिन देर हो जाने के डर से ठहरे नहीं। फैरीज़ोम जल्दी पहुँचने के विचार से आज सुबह खाना भी नहीं खाया था। रास्ते में पानी के कई बड़े-बड़े झरने देखे लेकिन वे ऐसी बरफ़ से जमे हुए थे मानों ऊपर से नीचे तक बरफ़ की शहतीर खड़ी हो। फ़ोटो लेने की कोशिश की, लेकिन उँगलियाँ सरदी से इतनी सख़्त हो गई थीं कि कैमरा ही नहीं खुल सका। सड़क के बीच में कहीं कहीं पानी की बड़ी पतली धार बहती मिली। वह पानी इतना ठंडा था कि ख़च्चर भी पैर रखने से डरते थे।

इस सरदी में हवा को चीरते हुए हम लोग बराबर चलते रहे, पर हम लोगों के हाथ, नाक-पैर सुन्न हो गये। आँख और नाक से लगातार पानी बहने लगा हालाँकि हम लोग ऊनी टोप, चमड़े के दस्ताने पहने और बरफ़ में लगाया जानेवाला चश्मा लगाये हुए थे। फिर भी ऐसा मालूम होता था कि चेहरे और सारे जिस्म का ख़ून जम गया है। इस हवा और सरदी से लगातार ७ घंटे लड़ते हुए हम लोग फैरीज़ोम शाम को ४ बजे पहुँच गये। आज का फ़ासला २४ मील से ज़्यादा तय नहीं किया होगा, लेकिन अधमरे की हालत हो गई थी, खड़े होने की शक्ति न रह गई थी और उतरते वक़्त ज़मीन पर गिर पड़े। फैरीज़ोम तिब्बत और हिन्दुस्तान के बीच का स्टेशन है। पास ही ब्रिटिश पोस्ट आफ़िस है। यह सुनकर बहुत दुःख हुआ कि सारी डाक ग्यानसी भेज दी गई है। आज शाम को हमारे राहुल जी को बुख़ार आ गया, और वह बढ़ता ही रहा। यहाँ तक कि १०४ और १०५ डिग्री तक पहुँच गया। उनकी दशा देखकर मैं बहुत घबरा गया। ब्रिटिश ट्रेड एजेन्ट के पास तार भेजा कि हमको डाक-बँगले में ठहरने की आज्ञा दी जाय। फिर बाद को टेलीफ़ोन से बातचीत की और राहुल जी को डाक-बँगलों में लेजाकर रक्खा। इसी समय वहाँ ख़ूब बरफ़ पड़ी और वह सारा पीला मैदान और पहाड़ियाँ सफ़ेद हो गईं। इधर रात और दिन राहुल जी की शुश्रूषा और देख-भाल में हम लगे थे। हिन्दुस्तान को तार दिया। १४ तारीख़ को उनका बुख़ार कुछ हलका हुआ और ब्रिटिश ट्रेड एजेन्ट की हिदायत के अनुसार उनको लेकर ग्यानसी जाने का बन्दोबस्त किया। ८ या ९ कुली और लिये और एक लकड़ी की डाँडी बनवाई। कुलियों के ग्यानसी तक ले जाने का ठीका ५२) में तय हुआ।

यहाँ मार्ग में बरफ़ से ढँकी हुई एक बड़ी ज़बर-दस्त चोटी दिखलाई पड़ी, जिसको वे लोग चोमो लारी कहते हैं, जिसका अर्थ है पहाड़ की रानी। यह पहाड़ तिब्बत के ८ पवित्र पहाड़ों में से एक है।

फैरीज़ोम दुनिया की सबसे गन्दी जगह है। यह मेरा ही विचार नहीं है, बल्कि हर एक यात्री ने यही लिखा है। यह तिब्बत और हिन्दुस्तान के बीच उनके व्यापारियों का हाफ़वे-स्टेशन है। यहाँ खेत है ही नहीं। चारों तरफ़ की ज़मीन पथरीली और रेगिस्तान है। लोग हद से ज़्यादा ग़रीब और गन्दे हैं। जिन लोगों की जेब में कुछ पैसे हैं उनकी जान यहाँ बहुत जोखिम में रहती है। पोस्ट मास्टर साहब ने बताया कि एक हफ़्ता हुआ, एक आदमी के जेब में ≋) पैसे थे और वह मारकर लूट लिया गया।

बरफ़ पड़ते समय जब हवा तेज़ चलती है तब बरफ़ का भयानक तूफ़ान आता है। तरकारी, ताज़ा गोश्त, चावल या आटा यहाँ नहीं मिलता। यहाँ का बाज़ार भी बहुत मामूली है, जहाँ जापानी चीज़ें और कपड़े मिलते हैं। यहाँ एक रेस्टोरेन्ट है। उसके अन्दर गये, लेकिन वहाँ का खाना हमको अच्छा नहीं लगा, क्योंकि वह चीनियों के ढँग का खाना था। यहाँ सदाचार को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता। सुन्दर युवा लड़कियाँ भीख माँगने के बहाने घर-घर में घूमती रहती हैं और नाजायज़ तरीक़े से रोज़ी कमाती हैं। शहर से क़रीब ३ मील की दूरी पर एक मन्दिर है, जिसको वे लोग गुम्बा कहते हैं। यहाँ के कुत्ते शेर की तरह भयानक होते हैं। इनका रंग काला होता है और ये हज़ारों की संख्या में घूमते रहते हैं। गाँव चारों तरफ़ मरे हुए जानवरों की हड्डियों और याक के गोबर से पटा पड़ा था। मकानों की शक्ल बहुत ही गन्दी है। यहाँ पर एक तिब्बती गवर्नर की कोठी है, एक पहाड़ी क़िला है, जिसको यहाँ के लोग "ज़ोंग" कहते हैं। इसी नाम से वे गवर्नर और उनकी कोठी को पुकारते हैं। बरफ़ पड़ने के बाद जब सूरज निकलता है तब चारों तरफ़ कीचड़ से और भी गन्दा हो जाता है। बस्ती के लिहाज़ से यहाँ ५० मकान होंगे और यह तिब्बत की सबसे ऊँची आबादी है। इस फैरी-ज़ोंग को हम कभी नहीं भूल सकेंगे।

खँडहर

लेखक, श्रीयुत 'नीरव'

ये खँडहर, य सूने खँडहर!
कुछ स्वेच्छाओं को-सो समाधि, कुछ भाव प्रलय के-से सहचर।
इनको दुनिया में वसते हैं, जग की वसतो के उजड़े घर;
इनको वेहालो पर रातों रचनायें सुन्दर—सुन्दरतर,
इनके एकाकोपन में भो सोया है कितना कोलाहल,
यह धूलि वनो होगो इनको कितनो आशाओं को हलचल!
इनका सूनापन कहता है नभ को नोरवता से पल-पल
इस पल को अंतिम,साँसों तक परवश-संसृति के पल निर्भर!

पलकों में मदिर दृष्टि भर कर अधरों में संचित प्यार किये
जव सतत विजय को आशा में अपने जीवन को हार लिये
वह भ्रुकुटिविलास कहाँ चंचल, यौवन को उन्मदराशि कहाँ
क्या चिह्न आज स्नेहो दम्पति सोये थे अंतिम वार जहाँ?
वह कसक, प्यार, पोड़ा, विषाद, चोत्कार हार सव कुछ लेकर
मानव-जग के भस्मावशेष, ये शेष खड़े सूने खँडहर!

जिनकी अलसाइ आँखों में मुस्काता स्वर्ण प्रभात रहा,
जिनके पल-पल को गति विधि को दुख-दैन्य सदा अज्ञात रहा,
जिनके शाश्वत सुख-वैभव का जयघोष दिशाओं में उठकर
भर लेता अपनो प्रतिध्वनि से वह गर्वित गान धरा-अम्बर
अव उन्हीं राजप्रासादों में हो रहा शून्यता का ताण्डव
जग के अविवेकी वैभव पर ये मानवता की हार अमर!

हाँ, एक वार जिसने जाकर निर्भीक हस्तिनापुर देखा,
जिसको समझाती मोन रहो वह तक्षशिला अपना लेखा;
नगरों को सजधज हिल जाया करतो अव भो जिसके भय में
ये दुर्ग भ्रान्तपथ दानव-से चुपचाप खड़े जिस विस्मय में—
उसको चिंता में गलता है कण-कण यमुना-तट ताज आज
किस युग में किस निर्दय पल में आ जाये वह दिन भूल इधर!

मिट्टो को दोवारों में भो आ जाता जोवन का सपना
सोने के महलों में भो यह उपहास करा लेता अपना
इनने भी जोवन देखा है, देखा है जोवन का उपक्रम
इनके जोवन का देख अंत क्यों आज हँसे कोई निर्मम
जिनका निरवधि पथ देख रहे ये, क्या उनको भूलो पदध्वनि
सहला देगी आकर इनको उन्माद निराशा का पल भर!

मेरे संस्मरण

लेखक, श्रीयुत गोपालराम गहमरी

पटना के नार्मल स्कूल की अन्तिम परीक्षा ससम्मान पास करने के बाद दस महीने तक मैं घर पर वेकार वैठा रहा। अन्त में रोहतासगढ़ के हेडमास्टर की जगह पर मेरी तैनाती का परवाना आया। यह नवम्वर सन् १८८८ की वात है।

रोहतासगढ़ जाकर हेडमास्टरी का चार्ज ले लिया और लड़कों को पढ़ाने लगा। लेकिन मन में अख़वारों में लिखने की जो रुचि वढ़ती जा रही थी वह वढ़ती ही गई। एक वर्ष भी नहीं वीता था कि वम्वई के सेठ खेमराज की आज्ञा पहुँची। हेडमास्टरी छोड़कर वम्वई चला गया। वहाँ कुछ महीने रहा। लेकिन उस नामी प्रेस से उस समय कोई समाचार-पत्र नहीं निकलता था, इस कारण समाचार-पत्र के दफ़्तर में दिन विताने की लालसा नहीं पूरी हुई। वहुत आग्रह करने पर सेठ जी ने कहा कि एक साप्ताहिक पत्र निकालेंगे, लेकिन थोड़ा ठहरकर। प्रेस में काम करते समय भी समाचार-पत्रों में लिखने का रोग वढ़ता ही गया। कालाकाँकर से माननीय राजा रामपालसिंह का 'हिन्दोस्थान' निकल रहा था। उसका मैं नियमित लेखक था। विहारवन्धु, भारत-जीवन, सारसुधा-निधि में मैं लिखा करता था, लेकिन मेरा मन लिखने का गहगड्ड मैदान खोजता था। वह लालसा 'हिन्दोस्थान' (कालाकाँकर) के सम्पादकीय स्टाफ़ में पहुँचने पर पूरी होने लगी। लेकिन कालाकाँकर में वँगला सीख चुकने पर प्रियनाथ मुकर्जी का 'दारोगा दफ़्तर' पढ़ने को मिला। यह सन् १८९२ की वात है। सन् १८९३ में फिर वम्वई जाकर 'वम्वई-व्यापार-सिन्धु' का सम्पादन करने लगा। उसे एक पोस्टमैन ने निकालकर अपने असीम साहस का परिचय भर दिया था। छः महीने के वाद वह पत्र वन्द हो गया तव वहाँ के हिन्दी-प्रेमी डाक्टर एस० एस० मिश्र ने मुझे वुलाकर 'भाषा-भूषण' मासिक निकालना आरम्भ किया। इसमें स्वतन्त्र भाव से मैंने लिखा और उस समय उसको लोग वड़े चाव से पढ़ते थे। उसी साल अर्थात् १८९३ में वहाँ पहले-पहल साम्प्रदायिक दंगा मैंने देखा। चार दिन तक मार-काट होती रही। पूना की पल्टनें जव वम्वई आकर वड़े रोव से सड़कों पर गश्त लगाने लगीं तव हज़ारों नर-नारियों की वलि लेकर वलवाराम शान्त हुए। उसी चपेट में भाषा-भूषण के वन्द कर देना पड़ा। तव मुझे अपने मित्र पंडित वालमुकुंद पुरोहित की कृपा से मण्डला जाना पड़ा। वहाँ मैंने 'गुप्तकथा' नाम का ५० पृष्ठ का मासिक पत्र निकाला। उसको लोगों ने पसन्द किया। लेकिन पास में रुपया नहीं था, इस कारण उसे स्थायी नहीं वना सका। नागपुर से 'सत्यवादी' नाम का पत्र वहाँ के हरीशा रूसा ने निकाला था। फिर मेरठ से 'साहित्य-सरोज' निकला। इन पत्रों में आने-जाने और पाटन के ताल्लुक़ेदार के मुख़्तार आम वनने आदि में कुछ वर्ष वीते और इस अवसर में सेठ खेमराज ने 'श्री वेङ्कटेश्वर-समाचार' निकाल दिया। मैं फिर तीसरी वार वम्वई गया। उस अवसर पर प्रयाग के प्रदीप मासिक में वावू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने हीरार मूल्य शीर्षक एक जासूसी कहानी लिखी। मैंने उसे हिन्दी में 'हीरे का मोल' लिखकर श्री वेङ्कटेश्वर-समाचार में कई अङ्क तक छापा। उस समय श्री वेङ्कटेश्वर-समाचार के सैकड़ों नये ग्राहक हुए और सवने यही कहा कि जिस अङ्क से हीरे का मोल शुरू हुआ है उसी अङ्क से हम ग्राहक होते हैं।

फिर जोड़ा जासूस उसी पत्र में लिखकर छपवाया। ग्राहकों ने इतना अधिक पसन्द किया कि मैं मन में वहुत कुछ आशा करने लगा।

उन दिनों एक वड़ी दिलचस्प घटना हुई। वम्वई में वैष्णवों का एक प्रधान मन्दिर समुद्र के किनारे वन रहा था। कटीले तारों से ग्राउण्ड घेरकर उसी में काम हो रहा था। एक दिन मैं अपने साथी लालवहादुर के साथ घूमता हुआ उधर चला गया। उस मन्दिर में एक जनेऊधारी पुजारी जी भी नियुक्त हो गये थे। वहाँ उनकी वड़ी महिमा थी। उस मन्दिर के नीचे ही हिन्द-महासागर की लहरें मौज ले रही थीं। उसी के हरे किन्तु नमकीन जल में स्नान करके मैं लालवहादुर के साथ वनते हुए मन्दिर की लम्वे दालान में पहुँचा। हम दोनों साथियों ने धोतियाँ

ार के फँसिङ्ग पर सूखने को डाल दीं और दालान में
ाहन्त जी से इधर-उधर के गप-सड़ाके होने लगे। थोड़ी
ेर में मैंने पुजारी जी के नौकर से कहा कि तार पर
मारी धोती सूख रही है उसे ला दो तो गमछा उतारकर
हन लें। वह झटपट जाकर धोती उठा लाया, लेकिन
ुजारी जी ने देखते ही कहा कि यह धोती तो इनकी नहीं
। मैंने भी देखकर कहा कि यह तो लालबहादुर की है,
ारी वहीं सूख रही है।

ख़ैर. नौकर दोबारा जाकर मेरी धोती ले आया और
ैंने पहनकर गमछा उतार दिया। बात ख़तम हो गई।
लेकिन मेरे मन में बड़ी उथल-पुथल मची थी। मैंने
ुजारी जी से पूछा—"महाराज, आपने यह कैसे जाना
क मेरी वह धोती नहीं है। देखते ही आपने यह निर्णय
ैसे कर लिया? उन्होंने बेरुक जवाब दिया—"आप जो
ुर्ता पहने हुए हैं उस पर धोबी का जो निशान है वह इस
ोती में नहीं था। दोनों के निशानों में फ़र्क देखकर मैं
ाड़ गया कि यह धोती आपकी नहीं है।

मेरी शङ्का का समाधान पुजारी जी के उत्तर से
ो गया। और बातों के बाद मैं लालबहादुर के साथ
ाम को अपने डेरे को लौटा। तारदेव के पास जाते-जाते
ैंने लालबहादुर से कहा—देखो मुंशी जी, यह पुजारी
ोबी है। किसी क़सूर में देश से भाग आकर यहाँ ब्राह्मण
े रूप में पुजारी बना है।

लालबहादुर ने नहीं माना, कहा—आप ऐसी बात
त कहिए। बड़े-बड़े सेठ-साहूकार इसकी इज़्ज़त करते
ौर माथा नवाते हैं। यह धोबी नहीं हो सकता। मैंने
हा—मेरे मन में बार-बार कोई कह रहा है कि यह
ोबी है।

ख़ैर, वह बात यहीं ख़तम हो गई। लेकिन लाल-
बहादुर के मन में वह बात उथल-पुथल मचाये हुए
ी। ग्रण्ड रोड के नाके पर पहुँचकर एकाएक लाल-
बहादुर ने मुझसे कहा—बाबू जी, मुझे याद आ रहा है,
रे गाँव (मसीहाबाद-बाराबङ्की) में एक धोबी एक दूसरे
ोबी का ख़ून करके भाग गया था। उसकी स्त्री से उसका
अल्लुक़ होने का सन्देह था। आज दस-बारह बरस की
ात है। उसी धोबी की सूरत का यह पुजारी है। मैं इतनी
र से इसकी याद कर रहा था। अब ठीक याद आ गया।

उन दिनों गिरगाम में एक योरपीय कांस्टेबल थे।
उनका नाम था डबल्यू० सी० जार्लक़। उन दिनों योर-
पीय कांस्टेबलों की तनख़्वाह १२५) माहवार थी। हम
लोग उनसे मिला करते थे। लालबहादुर मेरी सलाह से
जाकर उनसे यह सब कह आये। वे भी बड़े आश्चर्य
में हुए, लेकिन इस काम की ओर उनका मन लगा और
मेरी सलाह पर काम होता गया।

बाराबङ्की के पुलिस सुपरिंटेंडेंट को लिखा गया कि
दस-बारह बरस पहले मसीहाबाद में एक धोबी का ख़ून हो
गया था। उसके मामले का क्या हुआ?

वहाँ से तार से जवाब आया कि उस ख़ून में ख़ूनी
फ़रार हो गया। जाँच बन्द है। फिर लिखा गया कि उस
थाने का उस समय का कोई अहलकार भेजा जाय। वहाँ
से एक सिपाही और एक सबइन्स्पेक्टर बम्बई आये।
जालिक़ साहब के कहे मुताबिक़ हम लोग उन्हें लेकर
मन्दिर के पास गये। वे दोनों मुसलमान थे और फाँसिंग
के भीतर कोई मुसलमान जाने नहीं पाता था। इस कारण
उन्हें बाहर ही ठहराकर हम लोग भीतर गये। सिपाही
को समझा दिया था कि जिसके पास बैठकर हम बातें करेंगे
वही अगर वह फ़रार धोबी हो तो सिर आगे-पीछे हिलाकर
एक बार इशारा कर देना।

जब हम लोग दालान में बैठकर पुजारी से बातें करने
लगे, अवसर ताक कर मैंने पीछे देखा तब वह सिपाही
अपने हाथ का पंखा कर रहा था।

मैं लालबहादुर के साथ जल्दी से उठा और तेज़
क़दम होकर उसके पास गया और "हाथ बन्द करो"
कहकर उसको शान्त किया। मैंने उसे डाँट कर कहा कि
ज़रा सिर हिलाकर इशारा करने को कहा था। इस तरह
हाथ का पंखा क्यों कर रहा है?

उसने कहा—बाबू जी मैं ख़ुशी के मारे हवास में
नहीं रहा। यही वह धोबी है जिसने ख़ून किया था।

अब जालिक़ साहब से सब हाल जाकर कहा गया।
वे उसकी गिरफ़्तारी का काफ़ी प्रबन्ध करके घोड़े पर सवार
होकर मन्दिर के पास पहुँचे। जब हम लोग भीतर गये
तब पता चला कि पुजारी वहाँ से चलता बना। जालिक़
साहब सुनकर बिगड़े, लेकिन बाराबङ्की से आये हुए सिपाही
की जल्दबाज़ी का नतीजा समझकर चुप रहे।

दालान में पुजारी के नौकर की पूजा करने पर जब वह
जासूसी लटके में आया तब उसने इतना बतलाया—

वे अहमदाबाद गये हैं। अक्सर वहाँ जाते हैं। रण-
छोड़जी की पोल पर एक मन्दिर में ठहरते हैं।

इसी पते पर जालिक़ साहब ने जाकर पुजारी को
गिरफ़्तार किया और बाराबङ्की की पुलिस के ज़िम्मे कर
दिया। वहाँ मुक़दमा चलने के बाद वह धोबी कालापानी
भेजा गया।

इस मुक़दमे के बाद मेरी रुचि इस काम में बहुत
बढ़ी। मैं सेठ साहब की नौकरी में हूँ, यह जालिक़ साहब
को नहीं मालूम था। उनको यही मालूम था कि मैं
न्यूज़पेपरवाला आदमी हूँ।

उस घटना के बाद ही तिलक महाराज की गिरफ़्तारी
हुई थी। राजविद्रोह की दफ़ा उन पर लगाई गई थी।
शनिवार को गिरफ़्तार हुए थे। उनके बैरिस्टर दावर ने
(जिन्होंने बाद के केस में जज होकर उन्हें छः वर्ष की
सज़ा दी थी) बहुतेरा चाहा कि तिलक महाराज को
ज़मानत पर छुड़ा लें। लेकिन एक महाराष्ट्र सज्जन चीफ़-
प्रेसीडेंसी के मैजिस्ट्रेट थे। उन्होंने कहा कि ऐसे केस
में ज़मानत नहीं हो सकती। दावर साहब ने सैकड़ों नज़ीरें
पेश करके बतलाया कि आपने भी कई ऐसे केस ज़मानत
पर छोड़े हैं। तब उन्होंने पूछा कितने की ज़मानत दे
सकते हो। एक लक्ष्मीदास खेम जी सेठ ने कहा—दो
करोड़ की ज़मानत मैं दे सकता हूँ। महाराष्ट्र साहब ने
कान पर हाथ रक्खा। कहा—बाबा हम ज़मानत नहीं
माँगते। तिलक महाराज हवालात भेजे गये। सोमवार को
मान्यवर बदरुद्दीन तैयब जी ने ज़मानत पर छोड़ दिया।
उस दिन सड़क पर लोगों की भीड़ के मारे ट्रामवे का
चलना बन्द हो गया था। प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट के बाहरी
फाटक पर दो योरपीय हाथ में हंटर लिये हुए लोगों को
फटकारते और मार कर भी भीड़ बड़ी कठिनाई से क़ाबू
में कर रहे थे।

मामला देखने के लालच से जब मैं वहाँ उस अपार
भीड़ में फाटक पर पहुँचा तब देखा, एक ओर जालिक़
साहब ही हंटर लिये भीड़ का शासन कर रहे हैं। मेरा
सलाम लेकर उन्होंने मुझे बुलाकर भीतर पहुँचाया,
जहाँ मजिस्ट्रेट के सामने दावर साहब तिलक महाराज की
ओर से पैरवी कर रहे थे।

दूसरे दिन जालिक़ साहब ने कहा—बाबू, तुम चाहो
तो हम कांस्टेबल का काम तुम्हें कमिश्नर (विन्सेन्ट साहब)
से दिला दें। तुम पुलिस में काम करो।

मैंने कहा कि मैं नौकरी करता हूँ। मेरा गुज़ारा चला
जाता है। जब ऐसा अवसर आवेगा तब मैं आपसे कहूँगा।

तब से मुझे जासूसी क़िस्से लिखने और जासूसी काम
करने की रुचि और अधिक हो गई। मैंने सन् १८९९ में
घर आकर 'जासूस' निकालना चाहा था कि बाबू बाल-
मुकुन्द गुप्त अपने लड़के श्री नवलकिशोर की शादी में
मुझे 'भारत-मित्र' का सम्पादन देकर अपने घर गुरियानी
चले गये। इस कारण जनवरी सन् १९०० में 'सरस्वती'
के जन्म के साथ ही साथ 'जासूस' का जन्म न होकर चार
महीने बाद मई सन् १९०० में हुआ।

कलकत्ते में ही मैंने 'भारतमित्र' में जासूस निकालने
की सूचना दे दी थी। उस समय सौ आदमियों ने ग्राहक
होकर वी० पी० में 'जासूस' भेजने की चिट्ठी मुझे भेज
दी थी। मेरे पास 'जासूस' का प्रथम अङ्क निकालने को
भी पैसा नहीं था। मैंने मनोरमा और मायाविनी लिखकर
बाबू रामकृष्ण वर्मा भारतजीवन के प्रोप्राइटर को दी।
उन्होंने 'जासूस' का पहला अङ्क निकालने का ख़र्च मुझे
दिया। प्रथम अङ्क बाबू अमीरसिंह ने अपने हरिप्रकाश
प्रेस से छापकर दे दिया। पहले ही महीने में वी० पी० से
पौने दो सौ रुपये मुझे मिले। तब से 'जासूस' बराबर निक-
लने लगा। जब उसको एक वर्ष निकलते हो गये तब
श्री वेङ्कटेश्वर-प्रेस के स्वामी श्री सेठ खेमराज जी ने मुझे
'श्री वेङ्कटेश्वर-समाचार' का सम्पादन करने को सन् १९०१
में बुलाया। उसी वर्ष वर्तमान अधिकारी श्री सेठ रङ्गनाथ
(अब रायसाहब) का ब्याह था। उसी अवसर पर मैंने देखा
कि मारवाड़ में दूल्हे को गदहे पर सवार कराने का रवाज
है। वह रस्म अदा करके घोड़े पर दूल्हा चढ़कर ससुराल
जाता है। ब्याह के निमन्त्रण में मैं बम्बई गया था। उसी
साल महारानी विक्टोरिया के मरने का शोक छा गया था।
यद्यपि महाराज सप्तम एडवर्ड गद्दी पर बैठ चुके थे, उनकी
गद्दीनशीनी की रस्म भारतवर्ष में नहीं हो पाई थी। वह

सन् १९०३ की जनवरी में दिल्ली-दरबार के अवसर पर की गई थी।

सन् १९०१ में बम्बई जाने पर भी 'जासूस' निकल रहा था। उस समय 'श्री वेङ्कटेश्वर-समाचार' के सम्पादक श्री महता लज्जाराम जी थे। उनको अपने घर बूँदी जाना था। उन्हें छुट्टी देकर सेठ साहब ने मुझे श्री वेङ्कटेश्वर के सम्पादन का कार्य सौंपा। साथ ही उनकी इच्छा हुई कि 'जासूस' भी उनको दे दिया जाय। सेठ खेमराज जी ने मुझे कहा कि आजन्म ५०) मासिक गुज़ारे को लेते रहो, 'जासूस' मुझे दे दो। बराबर लिखा करो। मैं छापता रहूँगा। बम्बई में रहने की इच्छा न हो तो गहमर से लिखकर भेज दिया करो। लेकिन मैंने फिर नौकरी के झंझट में पड़ना उचित न समझकर स्वीकार नहीं किया और बहुत वाद-विवाद के बाद बम्बई से गहमर आया और 'जासूस' बराबर जारी रक्खा।

लेकिन अब मेरी रुचि 'जासूसी' उपन्यासों के लिखने में नहीं रही। अध्यात्मविषय की पुस्तक लिखने की रुचि है। उसी में मन लगता है। लेकिन स्वयं उस विषय में उतनी योग्यता न रखने के कारण और भाषाओं के साहित्य को पढ़ता और उनसे भाषान्तर करके लिखता हूँ। 'इच्छा-शक्ति' मैंने बङ्गभाषा की पुस्तक से अनुवाद करके छापी है। हिन्दीपाठकों ने उसे बहुत अपनाया। मोहिनी-विद्या मैंने मेस्मेरिज़म सीखने के लिए लिखी। हिन्दी में इस ढङ्ग की पुस्तकें मैंने नहीं देखी हैं। हिन्दीपाठकों और इस विषय के प्रेमियों के लिए ये दोनों पुस्तकें उपयोगी सिद्ध हुई हैं। यद्यपि ये जासूसी नहीं हैं, किन्तु मैंने 'जासूस' मासिक में इनको भी निकाल दिया था। इस तरह 'जासूस' ३८ वर्ष तक मैंने जारी रक्खा।

लेकिन जो कुछ आय हुई वह उसी में लगती रही। इस कारण हैण्डटुमाउथ ही बना रहा। आज भी उसी दशा में हूँ।

जब मैं सन् १८६४ में बम्बई से मण्डला जाकर रहा था, वहाँ के थानेदार श्री मुहम्मद सरवर से विशेष परिचय हुआ। मैंने एक दिन उनसे कहा—क्यों मुहम्मद सरवर, तुम इतनी कंजूसी से क्यों रहते हो? तुमने एक आदमी को अपना बावर्ची बनाकर रक्खा है, लेकिन वही तुम्हारा अर्दली है, वही तुम्हारा ख़िदमतगार, वही तुम्हारे घोड़े का साईस है। तुम्हारे बर्त्तन भी वही मलता है। थानेदार लोगों का जो ठाठ हिन्दुस्तान में देखा जाता है उसके सामने तुम्हारी यह कंजूसी तो बड़ी बेतुकी देख रहा हूँ। हमारे देश में भगवान् जिसको लखपती करना चाहता है उसको थानेदार या तहसीलदार का दर्जा देता है। मुहम्मद सरवर मेरी बात पर नाराज़ न होकर बड़ी संजीदगी से कहने लगे—देखो बाबू, हमको पचास रुपये तो माहवार तनख़्वाह मिलती है। अगर इसी में मैं इन हरएक कामों पर एक एक आदमी रक्खूँ तो मेरी तनख़्वाह इन्हीं में ख़तम हो जायगी। फिर मैं अपने गुज़ारे के लिए रिआया से घूँस लूँ तब काम चले। लेकिन मैं घूँस लेना हराम समझता हूँ।

मेरे मन में बेहद ख़ुशी हुई। मैंने कहा—यार मुहम्मद सरवर! तुम एक दिन इन्सपेक्टर जेनरल पुलिस होगे।

मुहम्मद सरवर मेरी बात पर ठहाका मारकर हँसे, फिर बोले—तुम्हारे ऐसे अख़बार लिखनेवाले अडीटर ऐसी भोंड़ी बात कहेंगे, यह मुझे ख़्वाब में भी ख़याल नहीं था। मैं हिन्दुस्तानी आदमी इन्स्पेक्टर जेनरल पुलिस कैसे हो सकता हूँ?

मैंने कहा—देखो मुहम्मद सरवर, मैंने तुम्हारी चापलूसी से यह बात नहीं कही है। आज तक घूँस को हराम समझनेवाला थानेदार मैंने कभी देखा ही नहीं था। अतएव ख़ुशी के कारण मेरे मुँह से बेतहाशा यह बात निकल पड़ी है।

ख़ैर, यह बात वहीं ख़तम होगई। मुहम्मद सरवर से मेरी ख़ासी मैत्री होगई। वहीं मुझे बन्दूक़ चलाने का शौक हुआ। मुहम्मद सरवर ने मेरे कन्धे पर बन्दूक़ रखकर फ़ैर करके बन्दूक़ चलाना सिखलाया। हम लोग परस्पर बराबर मिलते-जुलते रहे। मण्डले में भी उन्होंने कई ख़ून के अपराधियों को जासूसी करके पता लगाकर बहुत नाम पाया। मैं वहीं से 'साहित्य-सरोज' का सम्पादन करने मेरठ चला गया। मुहम्मद सरवर की भी वहाँ से बाद में बदली हो गई। मैं इधर-उधर घूमकर सब नौकरी-चाकरी छोड़कर बैठकर 'जासूस' निकालने लगा। मुहम्मद सरवर की याद एक दम भूल गई।

कोई बीस बरस के बाद अकस्मात् एक दिन मुहम्मद सरवर की मुझे गहमर में चिट्ठी मिली। उसमें उन्होंने लिखा था—आज बाद मुद्दत के तुमको ख़त लिखता हूँ। बीस बरस बाद तुम्हारी ज़ुबान मुबारक सही उतरी है। मैं आज भूपाल स्टेट का इन्स्पेक्टर जेनरल पुलिस (अफ़सर आला) हूँ। तुम वक्त निकालकर यहाँ आ सको तो बड़ी नवाज़िश होगी। मैंने चालीस बरस में जो सुराग रसानी की है वह सब काररवाई मैं नोट करा देना चाहता हूँ। तुम अपने 'जासूस' में मेरे मरने के बाद छाप देना या अगर जीते जी छापना तो मेरा नाम न देना।

मैं ठीक समय पर भूपाल पहुँचा और एक महीने वहाँ रहा। मुहम्मद सरवर ने अपना सब हाल बयान किया। भूपाल में उन दिनों गद्दी पर माननीया श्रीमती सुलतान जहाँ बेगम विराजमान थीं। मुहम्मद सरवर ने बयान किया कि भूपाल की बेगम साहबा ने नागपुर के इन्स्पेक्टर जनरल पुलिस को लिखकर एक ईमानदार सुरागरसा मुसलमान की ज़रूरत ज़ाहिर की थी। मैं सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस की पेंशन जबलपुर में भोग रहा था। नागपुर से मेरा नाम उनको भेजा गया। मेरे नाम तुरन्त परवाना पहुँचा। मैं माननीया बेगम साहबा से दो शर्तें मंज़ूर कराकर यहाँ आया हूँ। सीधे उन्हीं से मेरी गुफ़्तगू होती है। मेरे उनके बीच किसी और अफ़सर का सरोकार नहीं है।

साथ ही उन्होंने वहाँ की सरकार और रिआया की तारीफ़ की और अपनी सर्विस में जितने जासूसी काम किये थे सब मुझे नोट करा दिये। उनका एक ख़ास मामला 'सच्ची घटना' के नाम से मैंने लिखा है। हिन्दी में जासूसी उपन्यास और जासूस शब्द भी मैंने ही पहले-पहल लिखा था। मुझे किसी पुस्तक में १८९२ से पहले 'जासूस' शब्द नहीं दीख पड़ा था।

ताँतिया की गिरफ़्तारी के लिए जिन दिनों मध्यप्रदेश में बड़ी हलचल मची थी उन दिनों मुहम्मद सरवर ख़ुद ताँतिया की गिरफ़्तारी की ड्यूटी पर थे।

एक बार की बात है जब सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन था। उसी कांग्रेसी सप्ताह में एक दिन मुहम्मद सरवर गाहरवारा स्टेशन से खुलती हुई बम्बई-मेल में सवार हुए। वहाँ गाड़ी उस दिन संयोगवश खड़ी हुई थी। गाड़ियों का फाटक बाहर से खुलता था। उसे खोलकर ज्यों ही सवार हुए, भीतर बैठे एक बङ्गाली ने उनको ऐसा धक्का दिया कि गिर चुके थे, लेकिन फ़ुर्ती से हैंडल पकड़कर पावदान पर थम गये। तब दूसरा बङ्गाली पहले को डाँटकर उठा और मुहम्मद सरवर को सादर भीतर बिठाया। परिचय पाने पर मालूम हुआ कि यह उस समय के बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और अन्त समय के सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे। दूसरे बङ्गाली को कुलाङ्गार बङ्गलाञ्छन आदि कहकर उन्होंने भर्त्सना की। फिर तो मुहम्मद सरवर से उनकी बड़ी मैत्री हो गई। ताँतिया की ड्यूटी पर उन्होंने जो काम किया था वह सब सुरेन्द्र बाबू ने नोट कर लिया और उसी हफ़्ते के 'बङ्गाली' नामक अँगरेज़ी दैनिक में सब बातें छप गईं।

ताँतिया की ड्यूटी के समय की कुछ घटनायें और उसकी गिरफ़्तारी कैसे हुई, यह सब मुहम्मद सरवर ने मुझे नोट करा दिया था। अभी मुहम्मद सरवर की जासूसी के कितने ही मामले लिखने को बाक़ी पड़े हैं। बहुत से लिख भी चुका हूँ। मुझे अधिक मसाला उन्हीं मुहम्मद सरवर की सच्ची कारवाइयों से मिला है। तब से जासूसी उपन्यास लिखने का मेरा उत्साह बहुत बढ़ा और लिखे भी। कोई दो सौ छोटी-बड़ी पुस्तकें मेरी लिखीं और अनुवाद की हुई हैं, जिनमें एक हज़ार प्रायः तो आउट आव स्टाक हैं।

प्यास

लेखक, श्रीयुत आरसीप्रसादसिंह

प्राण, तुम-बिन कौन जाने मर्म को कथा? प्राण, तुम-बिन कौन माने प्रेम की व्यथा!

तुम नहीं जब, सुध नहीं थी;

तुम मिले जब, मैं कहीं थी!

मैं हुई जब, पास मेरे हृदय ही न था! प्राण, तुम-बिन कौन जाने मर्म को कथा?

माता का हृदय

लेखक, श्रीयुत 'अपकृद्ध'

गर्मी का मौसम था। प्रातःकाल का समय था। शीतल पवन चारों ओर बह रहा था। कोकिला आम की डाली पर बैठी प्रेमगीत गा रही थी। विविध भाँति के पक्षीगण किलोलें कर रहे थे। मेरे भावी जीवन का पहला प्रभात था। रूपसी और मैं बाग़ में सैर कर रहे थे। सुन्दर-सुन्दर फूल खिले थे। कहीं मोगरा, कहीं गुलाब, कहीं चमेली, कहीं चम्पा। फूलों को झुक के तोड़ मैं रूपसी के केश-कलाप की शोभा बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा था। रूपसी आनन्द से फूली मीठी मुसकान और तिरछी चितवन से मुझे इस काम में प्रोत्साहन दे रही थी। शृंगार पूरा हुआ। हँसते किलकते हम मेंहदी के पेड़ों के पीछे छिपकर जा बैठे।

लावण्यवती रूपसी मेरे पास थी। फूल अपना सौरभ फैला मुझे मस्त कर रहे थे। निसर्ग की बाहरी हवा मेरे मानस की छिपी अभिलाषाओं के साथ बहने लगी। मैं अन्दर बाहर एक हो गया और ब्रह्मानन्द-सहोदर के सुखमय समुद्र की कोमल लहरों पर तैरने लगा।

"प्रेम है जग का सार"—सहसा रूपसी मधुर तान में गुनगुनाने लगी।

मेरा मोहनिद्रा किञ्चित् भंग हुई। फिर वही गीत सुनाई पड़ा। मानो समाधिस्थ तपस्वी के ब्रह्मांड में गुंजारव हो रहा हो। सहसा मेरे कन्धों पर मृदु स्पर्श हुआ। मैं जागा। देखा कि रूपसी अपना मस्तक वहाँ रखे वही गीत गुनगुना रही है।

"प्यारी, ज़ोर से तान छेड़ो ना?"

"नहीं प्रियतम, विधि न मेरे लिए कुछ और ठाना है"—रूपसी बोली। "विधि कौन? तुमसे मेरा आजन्म मिलन होगा; तुम गाओगी, मेरा जीवन स्वर्गमय बनाओगी, और मैं इसी सुख में आयुष्य बिताऊँगा।"

"पुरुष ऐसे ही कहा करते हैं, उन्हें हृदय कहाँ, वहाँ तो पाषाण विराजते हैं। मेरा अनुभव कटु है। सुख का प्याला मेरे अधरों तक कई बार आकर छलक गया। क्षणिक सुख के लिए पुरुष बावले हो जाते हैं—अन्त में वे कठोर से कठोर पत्थर बनते हैं।"—रूपसी बोली।

"पत्थर! रूपसी मैं पत्थर हूँ! हाँ पाषाण हूँ! परन्तु रूपसी मेरा हृदय वह पाषाण है जिनके ऊपर हरदम हरियाली बढ़ती हो, फूल खिलते हों, या जो पाषाण दुःख से विदीर्ण हो पिघलाजीतरूपी अपने आँसू बहाते हों।"

"आखिर इन सबके अन्दर पत्थर ही तो है"—रूपसी बोली।

"रूपे! इतनी उद्विग्न क्यों! मुझमें तुमने कौन-सी कमी पाई, बोलो प्रेयसि! मैं तुम्हें सर्वस्व अर्पण करने को तत्पर हूँ! प्रेम, निरिच्छ प्रेम—जग में ईश्वर-सा है! कहो! क्या करूँ कैसे परीक्षा दूँ?"

"आवेग में आ पुरुष यों ही बहुत बक जाता है, बाद में पश्चात्ताप के आँसू बहा जीवन धोता है"—रूपसी ने कहा।

"रूपसी! मुझे उतावला कर रही हो, बोलो, जल्द बोलो!"

"क्या बोलूँ?"—रूपसी ने प्रश्न किया।

"लो, मेरी परीक्षा लो। तुम्हें क्या दूँ। तुम्हारी कैसी पूजा करूँ!"

रूपसी केवल ज़ोर से हँसी।

रूपसी के मुख को ताकते हुए मैंने कहा—"रूपसी मेरे साथ छल न करो।"

मेरे गालों पर धीरे-धीरे थपकी मारते-मारते रूपसी बोली—"तो तुम्हें परीक्षा चाहिए?"

मैं उठकर खड़ा हो गया—"हाँ"।

अच्छा—"मैं कहूँगा वैसा करोगे?" रूपसी ने प्रश्न किया।

"हाँ! हाँ! हाँ! वचन देकर, हाँ!"

"देखो कर्तव्यपराङ्मुख न होना।"

छाती ठोकते हुए मैं बोला—"नहीं, कभी नहीं!!"

"प्रेमी, तुम्हारा हृदय पाषाण है, मुझे ऐसा हृदय अर्पण करो जिसमें प्रेम का मधुर स्रोत अहर्निश बहता हो, जिसमें वात्सल्य हो, करुणा हो, संसार में उस कोटि का एक ही हृदय हो।"—रूपसी बोली।

"कहो कहाँ से लाऊँ?"

नीची निगाह करके रूपसी खड़ी हुई—"माता" कहकर फिर कुछ बोल न सकी।

मैं अधीर हो एकदम अपनी कुटिया की ओर चला गया!

× × ×

सायंकाल का समय था। पक्षीगण किलोलें करते अपने-अपने घोसलों की ओर जा रहे थे। अँधेरा धीरे-धीरे छा रहा था! रात्रि की निःसीम शान्ति की द्योतक आवाज़ें खूब सुनाई दे रही थीं। लोग अपने-अपने घर निशादेवी की आराधना करने जा रहे थे।

अँधियारा बढ़ा। कुछ आँधी भी आई। नभ में मेघ विचरने लगे, बिजली किलकने लगी। मैं नतमस्तक हो आँसू बहाता रास्ते के एक बाज़ू से चल रहा था। बाहर अँधियारा था, मेरे मन में भी काफ़ी अँधियारा था। मुझे दिशा का कुछ ज्ञान न था। संसार मानो मेरी ओर ही दौड़ा आ रहा था। प्रातःकाल वाले मेरे शान्त मन में दरयाई आँधी खोल रही थी। मैं जा रहा था, न मालूम किधर?

मुझे एक आवाज़ सुन पड़ी—"कौन?" मैं सँभल न सका। पैर लटपटाने लगे। शरीर कम्पित हुआ। पसीने से तरबतर हो गया। इसी हालत में पैर कुछ आगे बढ़े। आँधी ज़ोर से आने लगी। पावस की कुछ बूँदें भी टपकने लगीं। ज़ोर से मेघ-गर्जना हुई। मैं आहत-सा गिर पड़ा। कुछ देर तक मेरे होश ठिकाने न थे।

"बेटा, तुम गिर पड़े, कहीं चोट तो नहीं आई, उठो मेरे लाल"—आकाशवाणी हुई।

वह आवाज़ मेरे हाथों से ज़मीन पर गिरे मेरे माता के हृदय की थी।

एक मिश्र कहानी के आधार पर।

पराजय-गान

लेखक, श्रीयुत अनूप शर्मा एम० ए०, एल-टी०

(१)

विजय पराजय से श्रेष्ठ, यह कल्पना।
अथवा, न सत्य बोलता हो वह जल्पना।
विजय असुन्दर न शुद्ध साधु मति जब।
सुन्दर पराजय न कोई और गति जब।

(२)

जीवन-जहाज असफलता-पुजारियों का।
डूबता हो अगर नगर-नर-नारियों का।
उसको विदा दो, बोलो, "राम-नाम सत्य है"।
बोलो लहरों से कि तुम्हारा आधिपत्य है।

(३)

बोलो आज विजय पराजय को प्राप्त हो।
बोलो कि स्वतन्त्रता का नाटक समाप्त हो।
आँख खुली देखनेवाला का रह जायगा।
कानों में निधन-घंटिया यों कह जायगा—

(४)

"सोते रहो मुर्दो! हवा को बह जाने दो।
"जगना न, शंख देवताओं का बजने दो।
"कथित स्वतन्त्रता को शूली चढ़ जाने दो।
"होगी सृष्टि पहले प्रलय मच जाने दो।"

कुछ

स्वेज़-कैनाल

लेखक, श्रीयुत कुँवर राजेन्द्रसिंह

योरप की अन्तराष्ट्रीय राजनीति में भूमध्यसागर और स्वेज़-कैनाल का विशेष स्थान है। इनके प्रश्नों पर इटली का ब्रिटेन और फ़्रांस से काफ़ी अधिक मतभेद हो गया है। योरप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए इन दोनों प्रश्नों का ज्ञान आवश्यक है। कुँवर साहब ने इस लेख-द्वारा उनमें से स्वेज़-कैनाल के प्रश्न पर अच्छा प्रकाश डाला है।

ह संसार की एक महत्त्वपूर्ण नहर है। यह निन्नानवे मील लम्बी, तेंतीस फ़ुट गहरी और एक सौ अट्ठानवे फ़ुट चौड़ी है। यह भूमध्यसागर और लालसागर को मिलाती है और इस प्रकार जहाज़ों के आने-जाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग का निर्माण करती है। सत्ताइस हज़ार टन के जहाज़ पन्द्रह घण्टे में इसे पार कर पाते हैं। अँगरेज़ी भाषा में 'कैनाल' शब्द का अर्थ नहर है और 'स्वेज़' मिस्र देश के एक बन्दरगाह का नाम है, जो 'स्वेज़-कैनाल' की दक्षिणीय सीमा पर है। यहाँ टामस वेगहार्न की एक मूर्ति स्थापित है, जिसने थल-द्वारा भारतवर्ष का रास्ता सोचा था। १८३७ ईसवी में पहली दफ़ा इसी रास्ते से इँग्लेण्ड से डाक अपने देश को आई थी।

पहले १८५४ में, फिर १८५६ में स्वेज़-कैनाल के बनाने के लिए एम० फ़र्डीनेण्ड डिलेसेप्स को रियायत पर ज़मीन दी गई थी। १८५८ में स्वेज़-कैनाल-कम्पनी क़ायम हुई और २५ अप्रैल १८५९ को काम शुरू हुआ। दस साल इस नहर के बनाने में लगे थे। १७ नवम्बर १८६९ को अड़सठ जहाज़ इसमें होकर भूमध्यसागर से लालसागर में गये थे। कम्पनी ने ४,००,००० हिस्से बेचे थे और हर एक की क़ीमत ५०० फ़्रेङ्क थी। फ़्रेङ्क फ़्रांस का एक सिक्का है। प्रत्येक फ़्रेङ्क साढ़े नौ आने या दस आने का होता है।

इस नहर से आने-जानेवाले जहाज़ों की संख्या हर साल बढ़ती ... १९२५ में ५,५४५ जहाज़ इस नहर से होकर ... में ३,०८५ ब्रिटिश जहाज़ थे। इस हिसाब से ... का औसत ५७.१ प्रतिशत है। इस नहर ... होता है। इसके किनारों की मरम्मत ... इसकी बाल बराबर निकाली जाती ... ठीक रक्खा जाता है। इन सब कामों के करने के लिए १९२८ में २,४६६ आदमी नियुक्त थे। इनकी मज़दूरी और बचत में भी इन्हें कुछ हिस्सा देकर कम्पनी को कुल ८,००,००० पौण्ड ख़र्च करना पड़ा था। सन् १९६८ में कम्पनी का ठेका ख़त्म हो जायगा।

इस नहर के भूमध्यसागर की तरफ़ पोर्ट सईद और दूसरी ओर लालसागर की तरफ़ स्वेज़ बन्दरगाह है। बहुत पुराने ज़माने से इस नहर के बनाने का स्वप्न देखा जा रहा था ताकि एशिया और अफ़्रीका के बीच का फ़ासला कम पड़ जाय। पुराने लेखों से पता चलता है कि ईसवी सन् के १३८० वर्ष पहले नील नदी और लालसागर के बीच में नहर थी। ईसवी सन् के ६०९ वर्ष पहले फ़रोह (मिस्रदेश के पहले के बादशाहों की यही पदवी थी) नेकों ने एक दूसरी नहर बनवानी शुरू की, परंतु वह पूरी नहीं हो पाई। हेरोडोटस (यह 'इतिहास का पिता' कहलाता है इसका जन्म ईसवी सन् के ४८४ वर्ष पहले हुआ था) का कहना है कि इस नहर के बनाने में १,२०,००० आदमियों की जानें गई थीं। ईसवी सन् के ५२० वर्ष पहले डेरियस ने फिर इस नहर का काम शुरु कराया। यह क़रीब-क़रीब पट गई थी परन्तु उसे भी शायद पूर्ण सफलता नहीं हुई, क्योंकि ईसवी सन् के २८५ वर्ष पहले पटोलेमी फ़िडालफ़स के सामने यह नहर लालसागर से संयुक्त हो पाई थी। क्लोपैटरा (ईसवी सन् के ३१ वर्ष पहले) के सामने यह नहर फिर ऐसी हो गई थी कि जहाज़ आ-जा नहीं सकते थे। ट्रेजन ने (सन् ईसवी के ९८ वर्ष बाद) इस नहर की फिर मरम्मत करवाई थी और एक दूसरी भी नहर खुदवाई थी। कहा जाता है कि जिस समय रोम-वालों का मिस्रदेश पर आधिपत्य था तब सिवा इन नहरों की मरम्मत करवाने के और कोई काम नहीं हुआ। लोगों का यह भी कहना है कि दूसरी नहर सातवीं शताब्दी में मिस्रदेश के विजेता अरबदेश के अमर ने बनवाई थी। इसका

पता मिलता है कि यह नहर मुसलमानों के समय में मिस्र-देश में थी। यह भी कहा जाता है कि ईसवी सन् के ७७० वर्ष बाद अबूजाफ़र ने (इसी ने बग़दाद की स्थापना की थी) इसको बन्द करवा दिया था ताकि उसके दुश्मन अरब-देशवालों को आवश्यकीय चीज़ों के मिलने में दिक़्क़त हो। इसका प्रमाण नहीं मिलता है कि फिर कभी यह नहर ठीक करवाई गई यद्यपि कहा यह जाता है कि सुल्तान हाकिम ने १,००० वें साल में इसको ठीक कराया था और जहाज़ आते-जाते थे। अगर यह मान लिया जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह बहुत जल्दी ही फिर पट गई होगी। १८११ में मोहम्मदअली ने इसे बन्द करवा दिया था। २५०० साल के बाद इसी नहर से फ़्रांस के इंजीनियरों ने १८६१–६३ में काम लिया और कैरो से स्वेज़ तक नहर ले आये।

स्वेज़-कैनाल के ढंग की नहर बनवाने का ख़याल आठवीं शताब्दी में हारूनउल रशीद का भी था, लेकिन जब लोगों ने समझाया कि इस नहर के बन जाने से दुश्मनों के आक्रमणों का भय बढ़ जायगा तब उसने अपना इरादा छोड़ दिया। जब १५वीं शताब्दी में गुडहोप के अन्तरीप से होकर हिन्दुस्तान आने का रास्ता खुला तब वेनिसवालों ने मिस्रदेशवालों को इस नहर के बनाने की सलाह दी। परन्तु तुर्कों ने इसका विरोध किया। १६७१ में फ़्रांस के १५वें लुई से इस नहर के बनाने का प्रस्ताव किया गया था, परन्तु हुआ कुछ नहीं। १७९८ में जब नेपोलियन बोनापार्ट मिस्र में था तब उसकी आज्ञा से इसकी जाँच-पड़ताल हुई थी। एक इंजीनियर ने यह कहा था कि भूमध्य-सागर से इसका धरातल २९ फ़ीट ऊँचा है। दूसरा इंजी-नियर इस राय से सहमत नहीं था। परन्तु जो समिति इस कार्य के लिए नियुक्त की गई थी, नहर के बनाने के प्रस्ताव को उसने रद कर दिया।

१८५४ में जब अब्बास पाशा की मौत हुई और सईद पाशा मिस्र के वायसराय हुए तब फ़र्डीनेन्ड डिलेसप्स ने नहर बनाने का सवाल फिर उठाया। उसी साल ३० नवम्बर को इस नहर के खोदने के लिए रिआयत पर ज़मीन मिली। जनवरी १८५६ में और भी रिआयतें की गईं। उनमें एक शर्त यह भी थी कि ९९ वर्ष के बाद यह नहर मिस्रदेश की हो जायगी। इन सबके लिए तुर्की के सुल्तान की आज्ञा की आवश्यकता थी। जब फ़र्डीनेन्ड वहाँ गया तब मालूम हुआ कि ब्रिटिश गवर्नमेंट इसका विरोध कर रही है। फ़र्डीनेन्ड से लार्ड पामर्सटन ने लंदन में कहा था कि ऐसी नहर का बनना पहले तो असम्भव है और यदि बन भी गई तो हम लोगों की सामुद्रीय प्रधानता जाती रहेगी और 'पूर्वीय' प्रश्नों में फ़्रांस को अधिक हस्तक्षेप करने का मौक़ा मिला करेगा।

१८६६ में तुर्की के सुल्तान ने आज्ञा दी। परन्तु फ़र्डीनेन्ड ने १८५८ ही से कम्पनी खोलकर चन्दा इकट्ठा करना शुरू कर दिया था। २०० मिलियन मूलधन ४,००,००० हिस्सों में विभाजित था और प्रत्येक हिस्सा ५०० फ़्रेंक का था। एक महीने के अन्दर ही ३,१४,४९४ हिस्से बिक गये। इसमें से २,००,००० फ़्रांस में बिके थे और ९६,००० तुर्की ने ख़रीदे थे और देशों ने बहुत थोड़े हिस्से लिये थे। इँग्लेंड, आस्ट्रिया, रूस और अमेरिका ने एक भी हिस्सा नहीं ख़रीदा था। जो ८५,५०६ हिस्से बचे थे उन्हें वहीं मिस्र देश के वायसराय ने ख़रीद लिया था। ये भी उन १,७६,६०२ हिस्सों में थे जो ब्रिटिश गवर्नमेंट के लिए लार्ड बेकंसफ़ील्ड ने १८७५ में ३९,७६,५८२ पौंड में ख़रीदे थे। इसका उल्लेख उनके जीवनचरित्र में है। जैसे ही उनको ख़बर मालूम हुई थी कि ये हिस्से बिक रहे हैं, उन्होंने अपने सेक्रेटरी को रास चाइल्ड के पास भेजा और रुपया क़र्ज़ माँगा। उसने पूछा कि ज़मानत क्या है। सेक्रेटरी ने उत्तर दिया कि ब्रिटिश साम्राज्य। तब रास चाइल्ड ने फ़ौरन रुपया देना स्वीकार कर लिया। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, सर सिडनी ली ने सप्तम एडवर्ड की जीवनी में लिखा है कि जब यह ख़बर उनको मिली थी तब वे लखनऊ में थे और यहीं से उन्होंने लार्ड बेकंसफ़ील्ड को ख़त लिखा था और अपनी प्रसन्नता और सन्तोष प्रकट किया था।

अँगरेज़ी में एक कहावत है कि 'भविष्य ईश्वर की गोद में होता है'। यह कौन ख़याल कर सकता था कि स्वेज़-कैनाल भी कभी अन्तर्राष्ट्रीय उलझन को और भी जटिल बना देगी। अपने देश की एक पुरानी कहावत है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'। इस कथन की सत्यता स्वतः सिद्ध है। हिटलर चिकोस्लोवेकिया को हज़म कर गया और मुसोलिनी अबीसीनिया को, और किसी के बनाये कुछ

न बना। किसी ने खूब कहा है 'किसका हुआ कौन सर आ पड़ी जब'। पिछले महायुद्ध के बाद जब राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई तब उससे लोगों को बड़ी आशायें बँधी। कहा जाता था कि यदि कोई मुल्क किसी दूसरे देश पर अकारण आक्रमण करेगा तो उसके विरुद्ध सब देश मिलकर युद्ध करेंगे और इस भय से संसार में शान्ति स्थापित रहेगी। यह स्वप्न स्वप्न ही रहा। पहले तो सब शक्तियाँ सम्मिलित ही नहीं हुईं और जो हुईं भी वे सिर्फ़ 'समय की सेवा' करने के लिए। जैसे ही वे बलवान् हुईं, संघ को परवा न की और उससे अलग हो गईं। अपना देश भी संघ का एक सदस्य बनाया गया। हम लोग मारे खुशी के फूले नहीं समाते थे और यह समझने लगे थे कि हम भी कुछ हैं। यह भी एक भ्रम था, जो थोड़े ही दिन रहा। जब अपने ही देश में अपनी क़द्र नहीं है तब बाहर कैसे होती? इस संघ की सालाना बैठक के समय जो सदस्य भारत के प्रतिनिधि होकर जाते थे वे वेही होते थे जिन्हें भारत-सरकार पसन्द करती थी। लोगों ने इस प्रथा से असन्तोष प्रकट किया और दूसरा कारण यह था कि भारतवर्ष को लाखों रुपया प्रतिवर्ष उसे देना पड़ता था और जो कुछ था वह तो था ही। जितना रुपया अपने देश को देना पड़ता था उसके औसत से संघ के जिनीवा के दफ्तर में अपने देशवालों को नौकरी भी तो नहीं मिलती थी। असन्तोष का कारण एक और भी था। जब अबीसीनिया और चिकोस्लोवेकिया वग़ैरह बिना साँस-डकार के पच गईं तब अपने देशवासियों का यह खयाल हुआ कि जब अपने देश पर कोई आफ़त आयेगी तब तो कोई बोलनेवाला भी नहीं होगा। एक बात और भी थी। बाहरी आक्रमणों से इस देश को सुरक्षित रखने का भार हम लोगों पर तो है ही नहीं—फ़ौज के बजट में एक पैसा घटाने-बढ़ाने तक का अधिकार नहीं है, यहाँ तक कि केन्द्रीय असेम्बली के सदस्यों के सामने इसका छः लाख का बजट पेश होता था। उसका पेश होना भी बन्द कर दिया गया। विगत फ़रवरी के महीने में केन्द्रीय असेम्बली में एक प्रस्ताव पास हुआ है कि राष्ट्र-संघ से इस देश का कोई सम्बन्ध न रहे और जो खर्च देना पड़ता है वह अब न दिया जाया करे।

अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण आजकल बिगड़ा हुआ है। नित्य नये गुल खिलते रहते हैं। इटली की माँगों में एक यह भी माँग है कि स्वेज़कैनाल के प्रबन्ध में उसका भी हाथ हो। वास्तव में उसका यह कहना ब्रिटेन से है। इस नहर से सबसे ज़्यादा फ़ायदा ब्रिटेन को है। इटली का यह कहना है कि इस नहर के प्रबन्धकर्ताओं की समिति में प्रत्येक देश का प्रतिनिधि उस औसत से होना चाहिए जिस औसत से उसे अपने माल पर किराया देना पड़ता है, जो जहाज़ों-द्वारा इसमें से होकर निकलता है। १९३७ का हिसाब देखने से मालूम होता है कि दूसरा नम्बर इटली का है। ब्रिटेन का १,७२,५४,१८२ टन माल इस नहर से होकर निकला और इटली का ५८,६६,०८७ टन, जर्मनी का ३३,१३,२२० टन, हालैण्ड का २८,००,१४४ टन, फ़्रांस का १८,१९,७८३ टन और नार्वे का १६,५७,४३७ टन। ये संख्यायें जे० बी० फ़र्थ के लेख से उद्धृत की गई हैं। ये 'डेली टेलीग्राफ़' और 'मार्निंग पोस्ट' में भी प्रकाशित हुई थीं। कहा जाता है कि इटली के माल का औसत १९३८ में घट गया। जिस समिति के हाथ में इस नहर का प्रबन्ध है उसके ३२ डाइरेक्टर हैं। उनमें १९ फ़्रांस के हैं, यद्यपि माल के औसत से उसका नम्बर पाँचवाँ है। ब्रिटेन के १० हैं और मिस्रदेश के केवल २ और हालैण्ड का १ है। अपनी माँग को और भी मज़बूत करने के लिए इटली का यह भी कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से नहर का बड़ा महत्त्व है और इस वजह से इसका प्रबन्ध किसी कंपनी के हाथ में नहीं होना चाहिए वरन् उन सब 'शक्तियों' का इस पर अधिकार होना चाहिए जो जल-द्वारा व्यापार करती हैं। इस माँग का और कुछ मतलब हो या न हो, परन्तु यह मतलब ज़रूर है कि फ़्रांस और ब्रिटेन की सामुद्रीय मरव्यता जाती रहे और देशवाले भी तो वही हक़ मागेंगे जो इटली माँग रहा है। जो अब इटली कह रहा है कि सब राष्ट्रों का इस पर अधिकार होना चाहिए, और इसका प्रबन्ध किसी एक कम्पनी के हाथ में न रहे, यही बात इँग्लेंड के सुप्रसिद्ध प्रधान मंत्री ग्लैडस्टन ने भी एक दफ़े कही थी। पर उनके कहने का अभिप्राय और था—उनका अभिप्राय प्रधान मंत्री डिज़रैली पर कामंस सभा में आक्रमण करना था। वह घरेलू नाक-झोंक थी और यह कुछ और है। १९०९ में भी यही कहा गया था जब कम्पनी ने ठेके की मुद्दत और ४० साल बढ़ा देने के लिए कहा था। परन्तु कोई तरकीब समझ में नहीं आई कि किस तरह इस प्रस्ताव को क्रियात्मक स्वरूप दिया जाय। इस

सम्बन्ध का सबसे बड़ा प्रश्न कम्पनी का ठेका है और दूसरा प्रश्न मिस्रदेश के प्रभुत्व का है; नहर उसी देश की ज़मीन में है।

वास्तव में इस नहर के खोदने में पूरी मदद फ़्रांस ही ने दी थी। उस समय इस पर सब राष्ट्रों के अधिकार का प्रश्न नहीं था। और होता कैसे? किसी ने कुछ मदद भी तो नहीं की थी। ब्रिटेन ने जिसको अब सबसे अधिक फ़ायदा इससे है, इसका पूर्ण रूप से विरोध किया था। जब तक नहर को पूर्ण सफलता नहीं हो ली तब तक एक हिस्सा भी नहीं खरीदा। मूलधन में इटली का बहुत थोड़ा रुपया है। यह नहीं मालूम है कि क्या उतना भी नहीं है जितना हालैण्ड का है, जिसका एक प्रतिनिधि प्रबन्धकारिणी समिति का डायरेक्टर है। कम्पनी के नियमों में लिखा तो यह अवश्य है कि इस समिति के डायरेक्टर उन सब देशों के हों जिनका नहर से ताल्लुक़ हो, परन्तु आज तक इसके अर्थ यही समझे गये कि जिसका रुपया लगा हो न कि जो इसके द्वारा लाभ उठाते हों।

१९०९ में कम्पनी ने मिस्रदेश की गवर्नमेंट से यह प्रार्थना की कि ठेका की मुद्दत २००८ ईसवी तक बढ़ा दी जाय। गवर्नमेंट राज़ी थी, परन्तु जनता ने इस प्रस्ताव को नहीं स्वीकार किया। पहले मिस्रदेश ब्रिटेन के अधीन था, अब स्वतंत्र है। परन्तु अभी इतना बलवान् नहीं है कि पूर्णरूप से इस नहर की रक्षा कर सके। इँग्लेंड और मिस्रदेश के बीच जो संधि हुई है उसकी एक धारा के अनुसार नहर की रक्षा का भार अँगरेज़ी सेना पर है, क्योंकि यह स्वीकार कर लिया गया है कि इस नहर से ब्रिटेन का विशेष सम्बन्ध है। १९१० में सर एडवर्ड ग्रे ने कामंस सभा में कहा था कि इस नहर का पहला ताल्लुक़ कम्पनी और मिस्रदेश की गवर्नमेंट से है।

कम्पनी का एक नियम यह भी है कि इस नहर में से हर एक मुल्क के जहाज़ निकल सकते हैं, बस उन्हें माल पर टैक्स देना पड़ेगा। अगर झगड़ा निपटते दिखलाई देता तो शायद प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्यों में से एक इटली का प्रतिनिधि सम्मिलित कर लिया जाता, परन्तु डर और लोगों को यह है कि कहीं इस माँग के पूरी होने पर दूसरी मागें न पैदा हो जायँ।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति इतनी पेचीदा है कि कुछ नहीं कहा जा सकता कि किस रोज़ क्या गुल खिल जाय।*

* इस लेख के लिखने में मुझे इंसायक्लोपीडिया ब्रिटैनिका और मिस्टर जे० बी० फ़र्थ के लेख से बड़ी सहायता मिली है।

क्या तुम अभी सँभल पाओगे?

लेखक, कुँवर सोमेश्वरसिंह बी० ए०, एल-एल० बी०

भूले हो पथ, भटक गये हो
विषम मार्ग में अटक गये हो
थके बहुत हो अन्धकार है
हार रहा मन बार बार है
कहो, अधिक क्या चल पाओगे?
क्या तुम अभी सँभल पाओगे?

हँसते तुम पर चलनेवाले
हो तुम सबको खलनेवाले
आगे सभी निकलनेवाले
बनते आग उगलनेवाले
पीछे रह क्या कल पाओगे?
क्या तुम अभी सँभल पाओगे?

जगबन्धु दत्त

लेखक, श्रीयुत ज्वालादत्त शर्मा

उन पुरुषों में थे जिन्होंने अपने वाहुवल और बुद्धिकौशल से 'अकृत्वा परसन्तापं' बहुत हीन दशा से बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त की। विहित मार्ग से धन का उत्पादन, संरक्षण, और सदुपयोग उत्तरोत्तर कठिन है। ऐसे तो इस अभागे देश में अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनमें ग़रीब बाप ने वाणिज्य-व्यवसाय में प्रचुर धन-राशि उत्पन्न की और अपने जीवन में उसका उद्देश्यविहीन संरक्षण भी मोह-माया और ममता की बलि देकर प्राणपण से किया। किन्तु वे बेचारे लक्ष्मी-कुण्ड के जन्तु इतना भी न कर सके कि जिन्हें समस्त जीवन की तपस्यारूप लक्ष्मी का उत्तराधिकार मिलनेवाला था उन्हें ढङ्ग और ढब से द्रव्यनाश करने का ही उपयुक्त पात्र बना देते। इसलिए प्रायः ऐसा देखा गया कि उत्तराधिकार मिलते ही उन्होंने उस सम्पत्ति का विनाश बहुत बुरी तरह से कर दिया। मानों लक्ष्मी उनके लिए भार-रूप थी और वे उसे दूर फेंककर सुख और शान्ति का अनुभव करने लगे, उन्हें संसार के उपहास का प्रीतिमय उपहार ही मानों अभीष्ट था। जगबन्धु बाबू ने अपने जीवन में और उसके बाद भी ऐसा न होने दिया। जब तक जीवित रहे, स्वयं सुख से रहे और नियति ने जिनको उनके साथ बाँध दिया था उन्हें भी सुखी रक्खा। और अपनी कमाई का बड़ा भाग 'कृष्णार्पण' करके आनेवाले जीवन की सुख-सम्पत्ति का भी संरक्षण कर लिया—उनका जीवन अनेक अंशों में आदर्श स्वरूप था।

बरीसाल-ज़िले के बानरीपाड़ा ग्राम में अब से कोई पैंसठ साल पहले एक ग़रीब किन्तु प्रतिष्ठित वंश में उनका जन्म हुआ था। बचपन में लू लग जाने के कारण उनके कान ख़राब हो गये थे, तभी से वे ऊँचा सुनने लगे थे। इसी कारण पढ़ना-लिखना भी अधिक न हो सका, किन्तु उनका बहरापन उनके भावी जीवन के लिए बहुत उपयोगी प्रमाणित हुआ। वैसा न होने पर जैसी कि उनकी कुशाग्र बुद्धि और परिश्रम करने की आदत थी उसे देखते हुए उनका मैट्रिक या आई० ए० हो जाना कुछ मुश्किल न था,

[श्री जगबन्धुदत्त]

और यदि उन पर इन छापों में से कोई छाप लग गई होती तो वे अपनी ग़रीबी का इलाज क्लर्क के रूप में ही करते। बहरे जगबन्धु को वाणिज्य-व्यवसाय के सिवा और कोई मार्ग सूझ न सका। सबसे पहले उन्होंने अपने ग्राम में ही एक छोटी सी दूकान खोली, किन्तु उसमें सफलता न हुई। इस पर खिन्न होकर उन्होंने अपने जीवन का अन्त करने के लिए अफ़ीम खा ली। किसी वैद्य की कृपा से बड़ी मुश्किल से उनके प्राण बचे। कुछ दिनों के बाद अपने जीवन में सफलता के सूत्र का अनुसंधान कर सकने पर फिर दुबारा उन्होंने अफ़ीम की शरण ली। व्यवसाय की तरह उस चेष्टा में भी वे असफल रहे। अन्त में अपने घर की चाँदी की कोई चीज़ बेचकर उन्होंने १४) प्राप्त किये और उस निधि को लेकर वे एक दिन अपने घर से चुपचाप निकल पड़े और कलकत्ता भाग आये। मन में यह दृढ़ संकल्प था कि इस बार भी सफलता न मिली तो गङ्गा-तीर पर अफ़ीम की उपासना से भवबन्धन काट फेंकेंगे, क्योंकि वहाँ एकान्त स्थान होगा और बचानेवाला कोई शत्रु नहीं मिलेगा। कई दिन तक कलकत्ता में सुबह से शाम तक घूमते रहे। भारत-वर्ष में कलि की सर्वश्रेष्ठ नगरी की हवा लगते ही जगबन्धु का विचार बदल गया और उन्होंने सोचा कि यहाँ मरने से अधिक काम करने का सुभीता है। कलकत्ता मा काली

[ब्रह्मचारी श्री कृष्णानन्द]

प्रधान क्षेत्र है। यहाँ जो जिस भाव से आयेगा, यदि उसमें दृढ़ता है और वह उसके लिए बलि दे सकता है तो माता उसे अभीष्ट फल देने में देर नहीं करती। दिन भर काम की फ़िक्र में घूमते और रात को एक-दो पैसे का चबेना चाब कर गङ्गातट पर सो जाते। प्रातःकाल उठकर गङ्गा-स्नान करते और फिर घूमना शुरू कर देते। अन्त में अत्यन्त कम ख़र्च करने पर भी १४) की क्षीण रक़म क्षीण-तर होती हुई लुप्त होने का ढंग दिखाने लगी। अब जगबन्धु को बहुत चिन्ता हुई और उन्होंने निश्चय किया कि 'कलिकाता' में दाल-आटे के बाद दूसरी ज़रूरी चीज़ स्याही है, क्योंकि यह भूमि क्लर्कों की जननी है और परतन्त्र देश को क्लर्कों की सबसे अधिक आवश्यकता है, इसलिए नवयुवक जगबन्धु ने मन में मा काली का नाम लेकर कुछ पैसे ख़र्च करके 'काली' स्याही बनाई और उसकी टिकियाँ बाज़ार के मोड़ पर खड़े होकर एक एक पैसे में बेचने लगे। उससे पहले किसी ने उतनी बड़ी टिकिया एक पैसे में नहीं बेची थी, बल्कि एक प्रकार से स्याही को टिकियों के रूप में बेचने की ईजाद जगबन्धु ने ही की। बोतल में बिकने के कारण स्याही के साथ शीशे के दाम भी ग्राहक को देने पड़ते थे। साथ ही उनकी स्याही ऐसी उत्तम बनी कि जिसने उसे ख़रीदा वह उनकी तलाश में रहने लगा

और कुछ ही दिनों में जगबन्धु बाबू बाज़ार की परिक्रमा से हटकर एक छोटी-सी दूकान में ठाट के साथ बैठ गये। फिर तो उनकी स्याही का प्रचार बंगाल के छोटे से छोटे ग्राम में ही नहीं हुआ, अन्य प्रान्तों में भी जे० बी० डी० मार्के की धूम मच गई, सौगात के तौर पर लोग उनकी स्याही कलकत्ता जानेवालों से मँगाने लगे और आज भी उनकी आविष्कृत स्याही अपने स्थान पर गौरव से खड़ी हुई आत्मतृप्ति का सुख अनुभव कर रही है। जब व्यवसाय की मशीन में से धन की वर्षा होने लगी तब जगबन्धु बाबू ने मा काली के वरदानस्वरूप काली स्याही के मन बहलाव के लिए अपनी दूकान में अनेक मेम्बर बढ़ा दिये। उनकी सत्यप्रियता, व्यवहार-निपुणता और सबसे बढ़कर श्रम-शीलता के कारण उनके कारोबार की बहुत उन्नति हुई। अन्त में अपने सद्गुरु की प्रेरणा से उन्होंने ६ लाख से ऊँचा दान श्रीगौड़ीय मठ का विशाल भवन निर्माण करने के लिए दिया। अकेले उन्हीं के धन से उस मठ का बाग़-बाज़ार में प्रासादोपम भवन निर्मित हुआ, जो उनके सद्-गुरु भक्ति-सिद्धान्त सरस्वती प्रभु और स्वयं जगबन्धु-भक्ति-रञ्जन के कीर्ति स्तम्भ के रूप में आगरे के ताज की तरह बड़े गौरव के साथ कलकत्ता नगरी के वक्षःस्थल पर खड़ा हुआ है। जगबन्धु बाबू ने उस विशालभवन को सब प्रकार से सुसम्पन्न करके श्रीगुरु चरणों में बिना किसी शर्त के
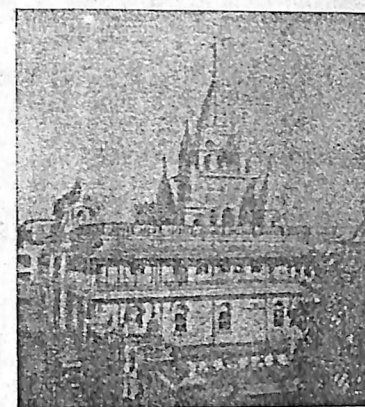
[श्री जगबन्धुदत्त का बनवाया हुआ श्रीगौड़ीय मठ]

अर्पित किया था, त्याग और ज्ञानमय भक्ति के अवतारस्वरूप श्री गुरुदेव में उस मठ को समस्त गौड़ीय सम्प्रदाय के कल्याण के निमित्त अपनी ओर से ट्रस्ट बना कर उत्सर्ग कर दिया। वे चाहते तो अनेक साधु-सन्तों की तरह उसे अपनी निजी मिल्कियत बना सकते थे, किन्तु भगवन्नाम के कुबेर सद्गुरु के सामने छः-सात लाख की वस्तु क्या आकर्षण रख सकती थी। इसी मठ के द्वारा भारतवर्ष के प्रायः सब बड़े बड़े शहरों में और बाहर विदेशों में अनेक गौड़ीयमठ स्थापित हुए और अनेक कामों की भूरि भूरि प्रशंसा लार्ड ज़टलैण्ड जैसे महामान्य व्यक्तियों-द्वारा होती रही है।

दुःख का विषय है, जगबन्धु बाबू के दो विवाह करने पर भी कोई सन्तति नहीं हुई, किन्तु वैष्णव-जगत् में उनके स्मरण करनेवाले और श्रद्धा से अञ्जलि देनेवाले इतने भक्त हैं कि परलोक में वे सन्तानवालों से कहीं अच्छी स्थिति में होंगे। अभी आठ-सात वर्ष हुए सद्गुरु के चरणों की छाया में उन्होंने अपनी मर्त्यलोक की लीला समाप्त कर दी। किन्तु जब तक बाग़बाज़ार का गौड़ीयमठ विद्यमान है, उनकी कीर्ति स्थिर रहेगी और "जिसकी कीर्ति है" लोगों का कहना है कि वह मरा नहीं है।

नारी

लेखक, श्रीयुत आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव

गुञ्जित करती है त्रिभुवन को जिसकी गुण-गाथा प्यारी,
लघु स्वरूप हो आदि शक्ति की जग में उतरी है नारी।
लोचन, खुल जाओ, देखो उन ललनाओं का सच्चा रूप,
पड़े वासना-अंधकूप में बने हुए हो जिनके भूप।
केवल लखते हो केशों का कालापन, घुँघरालापन,
जिनमें छिपी सती की ज्वाला कभी करेगी जग-पावन।
नयन भाल में मत देखो तुम बस चौड़ापन चिकनापन,
जिसमें लिख रक्खे हैं विधि ने पावनता के मंत्र गहन।
शुक-नासा कहकर मत टालो उसको जो लेती वह श्वास,
जिसके कारण हिन्द देश में है सतीत्व का जीवित वास।
नयन देखते हो तुम केवल नयनों की तिरछी चितवन,
क्षमा-दया-वात्सल्य-खगों से कूजित जो है नन्दनवन।
क्यों कपोल में बस गुलाब का पंखड़ियों का होता भान,
अंकित पति-चुम्बन-मुहरों से जो पवित्रता-पत्र-प्रमाण।
लखते हो पतली अरुणाई जिनमें, या जिन पर मुस्कान,
सत्यदेव की प्रभा उन्हीं में सत्यदेव का उन पर गान।
कम्बुकण्ठ को देख न सकते तुम शुचिता का शंख विशाल,
उन्हें देखते श्रीफल जिनसे निर्गत जीवन-चारु-रसाल।
तुम पद में पंकज लिखते हो अथवा नूपुर का शृङ्गार,
जिनकी रज मल कर मस्तक में शुद्ध बनेगा सब संसार।

देशी और विदेशी पूँजी

लेखक, श्रीयुत अमरनारायण अग्रवाल

आजकल हमारे देश में पूँजी का प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण और विचारणीय हो रहा है। पूँजी मिलने की कठिनाइयाँ बहुत से उद्योगी और साहसी पढ़े लिखे नवयुवकों को उद्योग-धंधों में लगने से रोकती हैं। यह बात सभी जगह सुनाई पड़ती है। लेकिन इस बात पर कुछ इने-गिने अर्थ-शास्त्रियों को छोड़ कर और कोई गंभीरतापूर्वक नहीं सोचता कि हमारे देश में पूँजी कितनी है, कहाँ से आती है और उसकी प्राप्ति कैसे बढ़ाई जा सकती है। ख़ास कर विदेशी पूँजी की समस्या हमारे लिए बहुत ज़रूरी है, क्योंकि हमारी आर्थिक परतन्त्रता की बहुत-कुछ ज़िम्मेदारी इसी विदेशी पूँजी पर निर्भर है। इस लेख में पूँजी के संगठन, पूँजी की कमी इत्यादि तथा ऊपर कहे गये विषयों पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

पूँजी का उत्पादन-क्रिया में एक ख़ास स्थान है। आजकल मशीन-युग में, उत्पादन-क्रिया की उत्तमता, बहुत अंशों में, पूँजी के ऊपर निर्भर है। यदि काफ़ी पूँजी मिले तो बड़ी-बड़ी और कम दाम पर माल पैदा करनेवाली मशीनें लगाई जा सकती हैं; माल बहुतायत से पैदा किया जा सकता है, और क्योंकि, कारख़ानों में, अधिकतर माल की पैदावार में, क्रमागत-वृद्धि का नियम लागू होता है, इसलिए जितना अधिक माल बनेगा, प्रति वस्तु के पैदा करने में उतना ही कम रुपया लगेगा; और चीज़ें सस्ती पैदा करने के कारण एक अधिक पूँजीवाला उत्पादक दूसरे कम पूँजीवाले उत्पादक के ऊपर प्रतियोगिता में, विजय प्राप्त कर सकता है। अगर देश के दृष्टि-कोण से पूँजी के महत्त्व के ऊपर विचार किया जाय तो इसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है। यदि देश में पूँजी काफ़ी है तो प्रकृति के बहुमूल्य ख़ज़ाने और शक्तियाँ मनुष्यों को सुखी बनाने के लिए प्रयोग में लाई जा सकती हैं। ऊँचे ऊँचे झरनों से बिजली पैदा की जा सकती है, जो खेती और शिल्प को प्रोत्साहन दे; लोहे-कोयले की खानों से खनिज पदार्थ निकाल-निकाल कर बड़ी-बड़ी मशीनें बनाई जा सकती हैं; रेल, मोटर इत्यादि आवागमन के साधन तैयार किये जा सकते हैं; खेती के लिए ट्रेक्टर, हार्वेक्टर इत्यादि बनाये जा सकते हैं, जिससे खेती की उन्नति हो। इस प्रकार देश की आर्थिक उन्नति में पूँजी का बहुत-कुछ हाथ रहता है।

हमारे देश में पूँजी की दशा बहुत शोचनीय है। देशी पूँजी बहुत कम है। इसलिए शुरू से ही यहाँ विदेशी पूँजी का ज़ोर रहा है। 'विदेशी पूँजी कमिटी' की रिपोर्ट के अनुसार हिन्दुस्तान विदेशी पूँजी पर १,६०,००,००० पौंड, अर्थात् २१ करोड़ रुपये से अधिक प्रतिवर्ष ब्याज दे रहा है। हमारे देश में लोगों के पास पूँजी न हो, यह बात नहीं है। पूँजी है, पर या तो वह गहनों के रूप में है और या गड्ढों में गड़ी या लोहे की अल्मारियों में छिपी पड़ी है। यहाँ के लोगों में इतनी निर्भयता नहीं है कि वे अपनी पूँजी, हाथ खोलकर, किसी नये व्यापार या उद्योग में लगा सकें। हाँ, जिन उद्योग-धंधों में पूँजी लगाई जा चुकी है और जिनमें फ़ायदा होता दिखाई पड़ता है उनमें पूँजी की कमी नहीं; कमी का न होना तो अलग रहा, उनमें पूँजी की अधिकता हो जाती है। उद्योग-धंधों के अतिरिक्त यहाँ के पूँजीवालों के लिए सरकारी ऋण भी अधिक आकर्षक है, क्योंकि उसमें उनके रुपये के डूब जाने की आशंका नहीं होती। लाखों-करोड़ों रुपये बात की बात में सरकार को मिल जाते हैं। पर पूँजी की जितनी बुरी दशा महायुद्ध के पहले थी, उतनी अब नहीं रही। अब पूँजीवालों का डर दूर होता जा रहा है और देशी पूँजी अधिक मात्रा में मिलने लगी है। सन् १९१३-१४ में सरकार का कुल भारतीय-ऋण ९४५ करोड़ रुपया था; पर १९३१-३२ में यह ४२७ करोड़ हो गया। इसी प्रकार महायुद्ध के पहले भारतीय मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियों की कुल अदा की हुई पूँजी ८० करोड़ रुपया थी। १९३० में यह रक़म बढ़कर २८७ करोड़ तक पहुँच गई। इस प्रकार भारतीय पूँजी की उन्नति हो रही है, और यह बड़ी ख़ुशी की बात है। पर अभी बहुत कुछ

करना बाक़ी है। देश की आर्थिक उन्नति करने के लिए पूँजी की और अधिक उन्नति होनी चाहिए। केवल सरकारी ऋण, रुई और जूट के कारख़ानों में ही रुपया लगाकर संतोष करने से काम नहीं चलेगा। मशीनों के बनाने के कारख़ाने खोलने के लिए, पानी से बिजली बनाने के लिए, प्रति-दिन के व्यवहार की छोटी-छोटी चीज़ें तैयार करने के लिए और इसी प्रकार के अन्य कार्यों के लिए अभी करोड़ों रुपये की आवश्यकता है।

गाँवों में पूँजी देने या मिलने का कोई उचित इन्तज़ाम नहीं। यहाँ केवल महाजन या साहूकार का राज्य है। किसानों को व गाँवों के अन्य लोगों को जब रुपयों की आवश्यकता होती है तब वे इन्हीं की शरण में आते हैं। किसानों के पास, ख़ास कर कुछ सम्पन्न किसानों के पास जो रुपया है वह ज़ेवर और गहनों की शक्ल में है। गाँवों में पूँजी के मिलने का केवल महाजन ही एक ख़ास ज़रिया है। महाजन लोग किसानों, कारीगरों और छोटे-छोटे व्यापारियों को रुपया देने के अलावा गाँव में आटे की छोटी छोटी चक्की या चावल की चक्की इत्यादि में भी कुछ रुपया लगाते हैं। पर किसी नये व्यापार-धंधे को चलाने का साहस उनमें नहीं है। गाँवों में एक तीसरा समूह सरकारी नौकरों और कुछ पढ़े-लिखे पेशेवालों का है। इन लोगों की पूँजी या तो भूमि में लगी होती है या बैंक में जमा रहती है।

गाँवों में आधुनिक समय के बैंक बहुत कम हैं। हाँ, इम्पीरियल बैंक ने जब से बहुत-सी शाखायें स्थान-स्थान पर खोली हैं तब से हालत में कुछ परिवर्त्तन हुआ है, पर बहुत थोड़ा। किन्हीं किन्हीं स्थानों पर सहकारी बैंक भी पाये जाते हैं और कहीं-कहीं पोस्ट आफ़िस सेविंग्स बैंक भी खोल दिये गये हैं। लेकिन ये सब केवल नाममात्र के लिए हैं।

शहरों में पूँजी की दशा अधिक संतोषजनक है। यहाँ के पूँजीवालों में रुपया छिपा रखने की आदत कम है, और जो है वह भी कम होती जा रही है। ये लोग अपना रुपया या तो बैंक में जमा कर देते हैं या सरकारी ऋण में और मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियों के शेयर ख़रीदने में लगा देते हैं। ये लोग नई दिशाओं में और नये उद्योग-धन्धों में रुपया लगाने में कुछ हिचकते तो ज़रूर हैं, पर जब कोई विश्वसनीय व्यापारी किसी कम्पनी की बागडोर अपने हाथ में लेता है तब रुपये की कमी नहीं होती। अभी हाल में 'डालमिया सीमेंट कम्पनी' सेठ रामकृष्ण डालमिया ने खोली थी। उसके शेयर हाथों-हाथ बिक गये। बिक्री के लिए जितने शेयर थे उनसे अधिक शेयरों की माँग हुई।

शहरों में भी कुछ बड़े-बड़े साहूकार या सेठ रहते हैं, और ये लोग भी उद्योग-धंधों में रुपया लगाते हैं। इंदौर की रुई की मिलों का काम बहुत कुछ इन्हीं लोगों के रुपयों से चलता है।

बैंक भी यहाँ काफ़ी हैं। इम्पीरियल बैंक की लगभग २०० शाखायें और सब मिश्रित पूँजीवाले बैंक इन्हीं शहरों में स्थित हैं। पर यह सब बैंक व्यापारिक बैंक हैं और थोड़े समय के लिए रुपया उधार देते हैं। बड़े-बड़े कारख़ानों को अधिक समय के लिए रुपये की ज़रूरत होती है। यदि रुपया किसी मशीन में लगाया गया तो मशीन लगाने में कुछ समय लगेगा। फिर धीरे-धीरे माल बनेगा, बिकेगा, फ़ायदा होगा और सालों में जाकर रुपया अदा करने की नौबत आवेगी। व्यापारिक बैंकों को अधिक समय के लिए रुपया उधार देना भी नहीं चाहिए, क्योंकि उनके रुपये का अधिक भाग चलतू खाते में जमा किये हुए रुपये का होता है। जो किसी समय भी माँगा जा सकता है इसलिए वे ऐसी दिशाओं में रुपया लगाते हैं जो जल्दी-जल्दी आता-जाता रहे। कारख़ाने को रुपया उधार देनेवाले बैंक दूसरे होते हैं, जिन्हें इन्डस्ट्रियल बैंक कहते हैं। ये रुपया अधिक समय के लिए जमा करते हैं और अधिक समय के लिए कारख़ानों को उधार देते हैं। भारतवर्ष में इण्डस्ट्रियल बैंक इने-गिने हैं। इण्डस्ट्रियल कमीशन और बैंकिंग जाँच कमिटी ने अपनी रिपोर्ट में ऐसे बैंक स्थापित करने पर बहुत ज़ोर डाला है। बिना ऐसे बैंकों के कारख़ानों को रुपया मिलने का सुभीता नहीं हो सकता और उद्योगों की उन्नति नहीं हो सकती।

देशी पूँजी से कई गुनी अधिक भारतवर्ष में विदेशी पूँजी है। जब से भारतीय उद्योग-धंधों को संरक्षण मिला है तब से विदेशी पूँजी के विषय में वाद-विवाद होने लगा है। भारतवर्ष में कुल विदेशी पूँजी लगभग ७५०,००,००० पौंड, यानी १०,००,००,००,००० रुपया है।

विदेशी पूँजी के विषय में अर्थशास्त्रियों व अन्य विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों की राय में विदेशी पूँजी का होना भारतवर्ष के लिए हितकर है, क्योंकि इससे देश के उद्योग-धंधों की उन्नति होती है और यह उन्नति बिना विदेशी पूँजी के रुक जायगी। पर दूसरे विद्वानों का मत है कि चाहे देश के उद्योग-धंधों की उन्नति हो या न हो, पर विदेशी पूँजी को देश से बाहर कर देना चाहिए। विदेशी पूँजीवाले हमारे देश की प्राकृतिक दौलत को लूट ले जाते हैं और हमेशा इस बात की कोशिश में लगे रहते हैं कि कोई देशी कम्पनी सिर न उठाने पाये।

यहाँ एक बात बता देना बहुत आवश्यक है कि विदेशी पूँजी हमारे देश में दो शकलों में आती है—एक तो ऋण के रूप में और दूसरी रुपया लगाने के रूप में। अर्थात् एक दशा में तो भारतीय व्यापारी बाहरी पूँजीवालों से रुपया उधार लेते हैं और उन्हें व्याज भर देते रहते हैं। दूसरी दशा में विदेशी पूँजीवाले स्वयं हिन्दुस्तान में आकर अपना रुपया लगाकर काम करते हैं और जितना फ़ायदा होता है, सब ले जाते हैं। असली वाद-विवाद दूसरी प्रकार की पूँजी के विषय में है और यही पूँजी हम लोगों की आँखों में खटकती है। ऋणवाली पूँजी से हमें बहुत लाभ है। संसार के प्रत्येक देश ने समय-समय पर विदेशी पूँजी से बहुत सहायता ली है और बहुत से देश अब भी ऐसा कर रहे हैं। जर्मनी, जापान, संयुक्त-राष्ट्र ने भी जो राष्ट्रीयता के रंग में डूबे हुए हैं, विदेशी पूँजी को इस रूप में काफ़ी उत्तेजना दी है। डाक्टर स्लेटर के कथन के अनुसार ऋणवाली पूँजी में कोई दोष नहीं, क्योंकि विदेशियों का देश के प्राकृतिक धन या श्रमी पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता। इसलिए पूँजी उधार लेते समय केवल २ प्रश्न उठते हैं—(१) क्या विदेशी ऋण से कोई ऐसा काम किया जा सकता है जिसकी सालाना आमदनी सालाना व्याज से ज़्यादा हो? (२) क्या विदेश में, देश के मुक़ाबिले में, रुपया कम व्याज की दर पर मिल सकता है? यदि दोनों प्रश्नों का उत्तर "हाँ" में दिया जा सके तो विदेशी पूँजी लाभदायक है। पर दूसरे प्रश्न पर कुछ आपत्ति की जा सकती है। व्यापारियों के लिए तो यह प्रश्न लागू होता है क्योंकि उन्हें संसार के बाज़ारों में संसार के व्यापारियों से मुक़ाबिला करना है; इसलिए अपने माल की लागत कम रखने के लिए उन्हें ज़रूरी है कि जहाँ कम व्याज पर रुपया मिले वहीं से ले लें। पर यदि रुपया सरकार उधार ले रही है तब केवल व्याज की दर कम होने के ही कारण विदेश से ऋण लेना उचित नहीं। यदि देश में रुपया मिल रहा है तो उसे चाहे व्याज की ऊँची दर पर ही क्यों न हो, उधार लेना चाहिए। इससे रुपया बचाने की ओर उद्योग-धन्धों इत्यादि में लगाने की आदत पड़ेगी और देश का फ़ायदा होगा।

विदेशी पूँजी के विरुद्ध तीन मुख्य दलीलें हैं—(१) प्रतिवर्ष बहुत-सा रुपया लाभ के रूप में बाहर चला जाता है। बात ठीक भी है। इसी कारण मनुष्य कहते हैं कि हम अपने देश की आर्थिक उन्नति का न होना सह सकते हैं; पर देश की आर्थिक उन्नति से विदेशियों की जेब का गरम होना नहीं देख सकते। क्योंकि आख़िर में खनिज पदार्थ आदि की समाप्ति हो जाती है और यदि विदेशियों ने इनका ख़ात्मा कर दिया तो हम लोगों के लिए क्या बचेगा? (२) फिर विदेशी कम्पनियों में विदेशी लोग ही डाइरेक्टर व अन्य बड़ी-बड़ी जगहों पर होते हैं, इसलिए देशी आदमियों को उस विषय का अनुभव नहीं हो पाता। ये कम्पनियाँ भारतीय उम्मेदवारों तक को अपने यहाँ नहीं लेती हैं। (३) विदेशी पूँजी के होने के कारण देश की बहुत सी आर्थिक और राजनैतिक हानि भी होती है।

पर विदेशी पूँजी से बहुत से लाभ भी हैं। (१) इसकी मदद से देश के उद्योग-धन्धों की शीघ्रता से उन्नति होगी और देश शीघ्र धनी होगा। विदेशी लोगों को श्रमी की मज़दूरी तो देनी ही पड़ती है और कुल मज़दूरी देश की आमदनी को बढ़ाती है। मज़दूरी फ़ायदे का काफ़ी बड़ा भाग होती है। यह सच है कि यदि देश में मज़दूरी और लाभ दोनों ही रहें तो ज़्यादा फ़ायदा होगा, लेकिन जब तक ऐसा होने की सम्भावना नहीं है तब तक विदेशी पूँजी से ही कुछ फ़ायदा उठाना चाहिए। मज़दूरी के अलावा एक और फ़ायदा यह है कि बहुत से देशवासी मशीन का, प्रबन्ध का, निरीक्षण इत्यादि का काम सीख जायँगे, जिससे वे स्वयं कारख़ाने खोल सकेंगे। पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह झूठी आशा है। विदेशी

इस बात का मौक़ा ही नहीं देते। इसलिए उनको इस बात पर मजबूर करना चाहिए कि वे कुछ भारतीयों को ऊँचे पद पर नियुक्त करें और कुछ उम्मेदवार भी लें। यदि विदेशी पूँजीवाले यह करने को तैयार नहीं तो विदेशी पूँजी की भारतवर्ष में कोई ज़रूरत नहीं। (२) दूसरी बात यह है कि विदेशी पूँजी उद्योग-धन्धों की प्रथम उन्नति की जोखिम और नुक़सान को झेलती है और इस प्रकार देशी पूँजी का मार्ग सुगम बना देती है। लेकिन इस दलील में कोई जान नहीं। जब विदेशी कम्पनियों को २१ क़रोड़ रुपये से अधिक प्रतिवर्ष लाभ होता है तब पता नहीं, नुक़सान का प्रश्न मनुष्यों के विचार में आ कहाँ से जाता है? नुक़सान है ही कहाँ? फ़ायदा ही फ़ायदा तो है।

ऊपर की बातों से यह अर्थ निकलता है कि जब तक देशी पूँजी की उन्नति नहीं होती, विदेशी पूँजी हमारे लिए हितकर है, पर वह तभी जब निम्नलिखित बातों का पूरा ध्यान रक्खा जाय—(१) जहाँ तक सम्भव हो पूँजी ऋण के रूप में ली जाय। (२) जब पूँजी अन्य रूप में ली जाय तब (अ) कम्पनी की रजिस्ट्री हिन्दुस्तान में की जाय और उसकी पूँजी रुपयों में हो। इससे भारतवासियों को रुपया लगाने में आसानी होगी। (ब) कम्पनी के कुछ हिस्से हिन्दुस्तानियों को ज़रूर दिये जायँ। (स) कम्पनी के कुछ डायरेक्टर हिन्दुस्तानी अवश्य हों। (द) कम्पनी में शिक्षा के लिए कुछ उम्मेदवार अवश्य लिये जायँ। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो हमें विदेशी पूँजी से कोई लाभ भी नहीं हो सकता। केवल नुक़सान ही नुक़सान होगा।

—

अभिज्ञा

लेखक, साहित्याचार्य प्रो० विश्वनाथप्रसाद, एम० ए०, बी० एल०, साहित्यरत्न

आज हमारे हृदय-देश के राजा बनकर आओ।
देव! भिखारी बन दुनिया में मुझे न अब भरमाओ॥

आते हो तुम धूलि-धूसरित दुर्बल हाथ पसारे।
थर-थर कम्पन, अस्थिमात्र तन, व्याकुल नयन उघारे॥

कातर स्वर, जर्जर चीवर, झर-झर निर्झर दृग जल का।
आह! लिये तुम आ जाते हो दिल में ताप अनल का॥

मैं मद में मदहोश तुम्हें, प्रियवर! पहचान न पाता।
पाकर भी, प्राणेश! तुम्हें 'दुर दुर' करके ठुकराता॥

धन-जन की ममता में मैं यों ही ऐंठा रह जाता।
प्राण लिये अञ्जलि में, देने को, बैठा रह जाता॥

जीवन और मरण में जिसके हित नित का तड़पन है।
स्वयमागत लख उसे निकल क्यों पड़ता निठुर वचन है?

याचक! तू भिक्षा-हित जो निज चीराञ्चल फैलाता।
हाय! बुद्धि पर वही भ्रान्ति का पर्दा-सा पड़ जाता॥

दैन्य-मध्य निज दिव्य रूप यों छिपा न और छकाओ।
आज हमारे हृदय-देश के राजा बनकर आओ॥

एक रिकार्ड

लेखक, श्रीयुत पहाड़ी

वन के उछलते दिनों में चाँदनी ने क्या नहीं पाया था! धन-दौलत, मान-सम्मान! दुनिया से एक ओर सरक, अलग-सी रह, वह अपने में पूर्ण रहना चाहती थी। उन दिनों वह नहीं जानती थी कि दिन खिसकते-खिसकते बेचैनी बखेरते जा रहे हैं। वह अपने में खिली, ख़ूब सुन्दर थी। और उस निखरे सौन्दर्य को ढकने-सँवारने की फ़ुर्सत ही नहीं मिलती थी। हँसी-ख़ुशी और अपने उस बनाये वातावरण में, एक अजीब गुदगुदी, हमेशा उसके साथ रहती थी। एक बार उसने जो पाया, वही ले चलना निश्चय था, ठहरना उसे नहीं था। फिर उस ऐसा फक्कड़ और कौन था? ज़िन्दगी भले ही भारी एक इम्तहान हो, पर उससे वास्ता रखने की क्षमता उसे थी। और अपने व्यक्तित्व के भीतर और बाहर टटोल-टटोलकर कभी अपने को वह नहीं पाती थी। भले ही कोई याद फीकी लगे पर उस याद को आगे ला कुचल देने की हिम्मत वह कब कर पाती थी। वह जानती थी कि चाहना को उठाना ग़लत है। धारणाओं पर चलनेवाली दुनिया के बीच, चाहना को फैलाकर, टंटा-बखेड़ा जोड़ना, अनुचित बात होगी। परवाह को इसी लिए वह भूले थी। अन्यथा......

पाँच महीने की लम्बी बीमारी के बाद, आज चाँदनी, बड़े आईने के आगे खड़ी हुई। उसने अपने सर के बालों को हिला-हिलाकर, इधर-उधर फैल जाने दिया। एक बार उन बालों ने सारा चेहरा ढक लिया। अस्तव्यस्त उच्छृङ्खलता के साथ, अपना यह रूप वह देखने लगी। अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को, ख़ूब-ख़ूब फैला आईने में फैली आँखों में डुबो, न जाने क्या सोचकर, उसने आँखें मूँद लीं। सुस्त और सफ़ेद पड़ते चेहरे पर, कहीं-कहीं अब पीली-पीली झाँइयाँ रह गई थीं। और हृदय की नम्रता में वह क्या पाती! वह शरीर, जिसे रेशमी क़ीमती कपड़ों से सँवार ढक, वह गुड़िया बनी रहती थी—उसकी अवहेलना अब उसे खल रही थी। तभी अपने शरीर का भारी मोह हटा, सफ़ेद मोटी धोती के बीच वह दुबकी रहना चाहती थी। अपने प्रति कृत्रिम उदासी साबित कर, दुःख मोल ले, निराशा की मैली गली में आज उसका सफ़र था। वह आराम चाहती है। सारा व्यवहार, दुनियादारी और अपना पराया, साबित कर लेने की भूख भी उसे नहीं है। सारे गम्भीर स्वभाव पर, बेचैनी फैल रही है। वह मजबूर है, लाचार है। अपनी लाचारी और मजबूरी को बाँध कर ही चलने के सिवा, आख़िर करे भी क्या?

चाँदनी की बुद्धि ने उसे धोका दिया है। उसकी भारी सुलझी समझ ही इस सारी परेशानी की जड़ है। वह जानती है कि वह छलना है। समझती है कि वह एक भूल है, फिर भी अपने को बहका कर ठग नहीं पाती है; उसे अपने पर भी तो कोई भरोसा नहीं रहा है। चाहती है कि कहीं दूर, एकान्त में वह अकेली-अकेली रहे। वहीं अपने मन का ताला तोड़ अपने दुःख को आँसुओं से भिगो, कूदने-फुदकने को छोड़ दे। तब निश्चिन्त होकर रहे। अपनी इस एक हवस को मन ही मन में घुमा-फिरा-कर, दिल बहलाने का साधन बनाये है। किसी से इसके बारे में वह राय नहीं माँगती है। वह किसी के अहसान की भूखी नहीं है।

वह जोगिन बनेगी। भाग जायेगी, कहीं, किसी के पास। सारा व्यवहार और बर्ताव छोड़ देगी। बाक़ी ज़िन्दगी की मंज़िलें अकेले-अकेले ही वह पार करेगी। वह सामर्थ्य रखता है। समझदार है, बावली नहीं है। शायद पगली कुछ-कुछ हो। कभी-कभी पूरी बात समझ में नहीं आती थी। दिमाग़ भी अब ठीक काम नहीं करता है। फिर सारी परेशानी बढ़ती ही जा रही है।

एकाएक वह चौंकी; उसने बच्चों के खेलने की आहट-सी पाई। एक आवाज़ सुनी—ममी। दूसरा गुड्डा-सा होगा। उनके साथ आँख-मिचौनी खेलकर वह अपने को उनके बीच भुला देगी। इसके बाद फिर एक

भारी भार हट जायेगा। लेकिन भागती-भागती इस भरी दुनिया के बीच वह अकेली-अकेली खड़ी क्यों है ? और एक दिन जब भारी उठती अकुलाहट के साथ, रोग से घिर कर, मर जाने का सवाल मन में उठा था तब वह घबड़ा क्यों गई थी। और एक अपना ही बच्चा उस दुःख को भुला लेने को, वह किसी से माँग लेना चाहती थी। वह सारा भ्रम........

"बी बी !"

इस भारी उलझन और अकेले वातावरण के बीच, शान्ती ने आकर सारा ख़्वाब मिटा डाला। पहेली बनाती और उसके खेल में फँसी चाँदनी को और भी ज़्यादा उलझा दिया। एक गहरी साँस को अपनी सारी ममता सौंपती वह बोली—"शान्ति"। प्यार से यह कह, अपनी भाषा में, अपाहिज की तरह, अपने को वह, इस छोटी बहिन को सौंप देना चाहती है। वह जानती है कि शान्ति यह भार सम्भाल नहीं सकेगी। पर एक तृष्णा मन में उठती है। शान्ति से सगी उसकी और कौन है ? और सब बिराने हैं। यह लड़की शान्ति, एक दिलासा और उम्मीद है। उसके अज्ञान और अनभिज्ञता के भीतर वह बैठ जाना चाहती है। वहीं हारी थकी टिकी रह भी वह जायेगी। मौक़ा देखती है। किन्तु ?

शान्ति आई है, अपनी बीबी को दवा पिलाने। मात्रा लगी दवा की शीशियों पर अब चाँदनी का विश्वास नहीं है। यह सब उसे अब नहीं सुहाता। दवा की 'डोज़' देख-कर मन में उकाई उठती है। भीतर शरीर के एक भारी छी-छी-छी फैल जाती है। शान्ति कब जानती है कि चाँदनी का विद्रोह सुलग चुका है। उसकी बीबी अब राख बन कर, एक दिन सिर्फ़ ढेरी रह जायेगी। अस्तु, तभी यह विद्रोह होगा। चाँदनी के मन की ख़्वाहिश तो यह है कि अपने इस विद्रोह की तेज़ आग से, मनुष्य, उसकी सभ्यता, दुनिया के क़ायदे-क़ानूनों तथा सारी और बुराइयों को भस्म कर दे। सब कुछ, कुचल कर, आगे बढ़ जाये। अन्यथा इस दुनिया में जहाँ आदर नहीं, न्याय नहीं और जहाँ कि सब कुछ फ़रेब है, रहकर उसे चलना नहीं है। दुनिया को धोखा देकर, ख़ुद अपने को भी धोखा देने की अब वह ठाने है। एक बाहरी विडम्बना के बीच, सही साबित रहने की सामर्थ्य आज उसमें नहीं। फिर भी तो...

उसे शान्ति के कहने पर फिर भी इनकार नहीं था। मुँह पिचकाकर, दवा की घूँट चाँदनी ने पी डाली। अपने ऊपर मोह उभर आया। वह एक मात्रा प्राण बचाने में मदद देगी। व्यवहार में बरती जानेवाली बात ही भरोसा कहलाती है। शान्ति जब अपना कर्तव्य जानती है, तब उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती है। व्यवहार में निभानी पड़ेगी। पान मुँह में ठूँस लेने और ध्यान को दवा से हटा लेने पर भी मन मचल-मचल उठता है। ज़रा भी चैन नहीं है। वह क्या करे ?

"शान्ति" कहती हुई चाँदनी उस लड़की को देख, आगे कुछ और कहना भूल जाती है। वह लड़की अपनी बीबी को क्यों नहीं पहचानती है ! उसकी बीबी का रंग फीका-फीका पड़ता जा रहा है। वह इसके लिए क्यों कोई उपाय नहीं निकालती, लेकिन चाँदनी को तो अपनी हसरतों को तोड़-मरोड़ कर फिर टाँकना नहीं है। सब जमा की सामर्थ्य समाप्त होती जाती है। तब ख़ाली दिल की जगह में भीतर-ही-भीतर दुःख घाव बनकर दुःखता रहता है। और ख़ुद अपने को उस पीड़ा को बाँट, चाँदनी चुपचाप, निर्जीव हो, एक ढेर सी पड़ी रह जाना चाहती है।

बीबी को चुप पाकर शान्ति कुछ भी कहना नहीं चाहती है। वह लापरवाह है। सावधानी से रहने की सीख वह कहाँ से पाए। बीबी को समझाने—सँभालने की ज़िम्मेदारी एक दिन लेनी पड़ेगी यह वह नहीं जानती थी। अब तक तो बीबी का कहना मानकर ही वह चलती थी।

त्योंही चाँदनी बोली—"ग्रामोफ़ोन ले आना।" यह हुक्म शान्ति कैसे टाल दे। कई बार, वह एक रिकार्ड बज चुका है। उस रिकार्ड को चैन नहीं मिलेगा। बीबी को न जाने क्या झक सवार हो गई है। कुछ कहेगी, तो बीबी ग़ुस्सा हो जायेगी, बात का उल्लंघन वह नहीं कर सकती है और रिकार्ड को तो बजाना है।

'जो बीत गई सो बीत गई।'

अब उसकी याद सतावे क्यों ?

फिर एक गहरी साँस लेकर; चाँदनी भी उस गीत को दुहराने लगती है। गाती है। सारे जीवन-उत्साह को इस गीत से ढक लेना चाहती है। फिर ख़ाली होकर, फ़िक्रों और तवालतों से छुटकारा माँगती है। रिकार्ड की आवाज़ और गीत की लड़ियों के बीच पगली बनी वह झूमने

लगती है। बाक़ी सारी चाहना से छुटकारा पाकर, इस एक गीत से अपने को बहलाने की ठानकर, वह भारी प्रलय का इन्तज़ार कर रही है। वह सारी दुनिया के प्राणियों को कुचल, उन्मादिनी बनी, इस गीत को जी भर कर गाना चाहती है और फिर ख़ुद उसी के बीच समाकर, वहीं रह जाना चाहती है। कभी बीच-बीच में वह खिलखिला कर हँस पड़ती है; वह फीकी हँसी चारों ओर गहरी वेदना निचोड़ती है। कभी अपनी सूनी और ख़ाली आँखों से इधर-उधर टटोलकर, कुछ पा लेना चाहती है। कभी अपनी ठोढ़ी पर हथेली लगा चिन्ता में डूब जाती है। चारों ओर से एक ठहाका सुन पड़ता है। दिल में कोई मख़ौल उड़ाता है। वह चाहती है, ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाना—ओ-ओ-ओ-पगली तो वह नहीं, एक शब्द उठता है। और रिकार्ड घूमता-घूमता जाता है—

फूलों से जिनको नफ़रत है,

ख़ुशबू से उनको वहशत क्यों ?

गुन, गुन, गुन, गुन, वही-वही-वही, चाँदनी इस सबको ही तो एक-मात्र सहारा बनाये है। घमंड में फूलों को एक दिन वह कुचल चुकी थी। बाग़ उजड़ गया था। और माली खिन्न होकर भाग गया था। किससे फूलों की भीख माँगकर, वह ढेरियाँ जमा कर ले, एक भारी भूख दिल में उठी। वह आग दबती नहीं थी, काश कि सब कुछ पूर्ण होता। अप्राप्त और प्राप्त के झगड़े को वह ठुकरा सकती। केवल चाह ही उठकर, शरीर, मन और दिमाग़ को पकड़कर चल सकती। एक अज्ञेय भार न दबाता। एक अज्ञात पीड़ा, दिल को ख़रीद न लेती। अब उसे सबसे छुटकारा भी तो नहीं था।

जीवन की कपटता से कभी उसे कोई सरोकार नहीं रहा है। वह निपट कोरी रहकर चली। चलकर, पीछे फिर कर नहीं देखा बस चलती ही गई। चलकर, मुड़कर पीछे देखना नहीं जानती थी। वह अब एक मूक कहानी नहीं रही। प्रेम भी वह नहीं है। एक खेल और तमाशा भी वह नहीं थी। हृदय में फिर भी दुःख दुबका सोया था। क्या वह अपने को समझाये। यह इतनी बात निभ जाती, तो सब कुछ ठीक होता। सोचती है, प्रेम टिकाऊ नहीं; चाहती है एक की आड़ में आश्रय पाकर उसके नज़दीक रहकर चलना, वह सारा पिछला बन्धन तोड़ कर 'किसी' के चरणों में लोट लोट कर कह देना—"लो-लो-लो। मैं आ गई ! बोलो-बोलो ! तुम्हारे साथ चलूँगी। मुझे अब कोई भी एतराज़ नहीं है। तुम्हारी होकर रहूँगी। यही मैं चाहती थी। जगह दे दो। थक गई हूँ। टिकने दो ! टिकने दो ! विश्वास मानकर मैं आई हूँ।"

एक ठिकाना पाकर, वह वहीं चुपके रहना चाहती है। अपने जीवन का बाइसवाँ साल पार करके भी क्या उसे चूक जाना है। अपने सारे अरमानों को वह कैसे मिटाये ? किन भारी उम्मीदों से आज तक वह उन सबको सँभाले रही है। और वे उमंगें ? दुनिया क्या-क्या कहती है। वह सारा ढोंग एक वहम बना घृणा पैदा करता है। घृणा का वह छाला जब फूट गया तब वह अपने होश में नहीं थी। वह कुछ भी सीख नहीं पाई थी। जो जिसने कहा, वही जमा कर लिया था। किसी ने भी उसे अपने नज़दीक लाकर, कुछ सिखाने की कोशिश नहीं की थी। सब स्वार्थी थे, झूठे थे, फ़रेबी थे। उनको बढ़ा-बढ़ाकर बातें करनी थीं। यही वे सीखे थे। दुनिया को अपने ढोंग के साथ धोखा देना ही उन्होंने जाना था। बड़ी कड़वी घूँट पीकर उनके साथ चलना वह सीख गई थी। वह क्या करती ?

शान्ति चाहती है अपनी बीबी को ख़ुश रखना ! कुछ कहते-कहते उसकी बीबी मुसकुराती है। यह रिकार्ड दिन भर बजता रहेगा। बीबी अपने मन की करती है। डाक्टर कहता है—आराम ज़रूरी है। चाँदनी को नींद नहीं आती। जहाँ कुछ भारी पीड़ा उठी, वह रिकार्ड चढ़ा दिया जाता है। शान्ति बीबी को समझाना चाहती है कि वह आराम किया करे। वह ज़रूरी है। लेकिन कहे कैसे ? उसके व्यवहार से अवाक् रह जाती है। कभी-कभी तो अपनी बातों का जवाब भी नहीं पाती है। मन में क्रोध आता है। क्या कहे, निश्चित नहीं कर पाती।

चाँदनी तभी पूछती है—"कहाँ चलेगी, शान्ति ?"

"कहाँ बीबी।"

"अरी वहीं घूमने।"

चाँदनी किस प्रकार अपना वह परियोंवाला स्वप्न उसे सुनाये। एक तसवीर ज़रा कभी वह गढ़ पाती है। साफ़ साफ़ कुछ भी मिलता नहीं है। भ्रम कहाँ मिटता है। वह तसवीर बिगाड़ सकती तो ठीक होता। किसी से भी उसे

मोह नहीं, प्रेम नहीं। क्यों वह अपना एक बँटवारा चाहे। वह सबकी है। इधर-उधर पसरना उसे पसन्द नहीं है। और दुनिया भर की दया की भूखी भी वह कभी नहीं रही है। अब वास्ता ही वह किसी से क्यों रक्खे! वह कुछ भी और नहीं चाहती है। उसकी एक दुनिया और जीवन है। वह चैन से अपने में है। पहले चैन से, मौज के साथ चलकर उसे थकान महसूस नहीं होती थी। अब...... वह रिकार्ड।

'खुश रहनेवाली सूरत पर, चिन्ता की बदरी छाई क्यों ?'

उसने गहरी एक साँस ली। इन पाँच महीनों में वह लुट चुकी है। प्यारी-प्यारी सारी चीज़ें ओझल होती जा रही हैं। उसका वह रूप काफ़ी ढल चुका है। दुनिया के आगे खड़ी होते उसे भारी एक लाज लगती है। ज़माना बड़ी तेज़ी से बदल गया है। वह रोग उसे बीच में ही ख़तम कर दे तो वह चैन से रहेगी। लोग भी तो उसे घूर-घूरकर देखते हैं कि वह कितनी बदल गई है। अड़ोस पड़ोस की सब लड़कियाँ साँझ को सज-धज कर बैठती हैं, लेकिन चाँदनी तो उन सबसे अब छुटकारा चाहती है। अपने उन दोस्तों से भी कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती है जो आज तक उसके लिए एक भारी दिलासा थे; अपने शरीर से भी भारी घृणा हो गई है। इसी शरीर और रूप को लेकर आज तक उसने अपनी दूकान चलाई थी। सौन्दर्य के लिए उसकी दूर-दूर तक शोहरत थी। उसकी छोटी-छोटी बातें शहर में फैल जाती थीं। आज वह कुछ नहीं चाहती। वह जीवन लुटा चुकी है, केवल एक याद आती है। वह उठकर दबाये दबती नहीं है। सोचती है—'वह भला था।' फिर सोचती है—सब बेवकूफी है। कौन किसका है। उसे अकेला ही चलना है; अपने में सामर्थ्य जमाकर, सब कुछ बिसार देना चाहती है।

शान्ति कहती है—"बीबी रिकार्ड बन्द कर दूँ ?"

चाँदनी सर हिलाती है, फिर पूछती है—"तुझे यह गाना कैसा लगा ?"

"अच्छा है बीबी।"

और चाँदनी शान्ति से लिपटकर उसे चूम लेती है। वह अपना व्यक्तित्व उसे सौंप देना चाहती है। आँखों की पलकें भीग जाती हैं। दिल में अजीब एक कुड़कुड़ाहट होती है। शान्ति घबड़ा जाती है, सोचती है, बीबी सच ही पागल तो नहीं हो गई है। हठात् चाँदनी हट जाती है। चुपके रिकार्ड उठा, अपने कमरे में जाकर गद्दे से बिस्तर पर लेट जाती है। सारे विचार चुकने लगते हैं। वह अपने को अनिश्चित पाती है।

कुछ देर शान्ति बीबी का रोना सुनती है। उठकर कमरे में जाकर देखती है कि रिकार्ड टूटा पड़ा है। बीबी फूटफूट कर रो रही है, सिरहाने की मेज़ पर धरे राइटिङ्ग पैड पर लिखा है—'शैल'। ऊपर से आँसुओं ने उस शब्द को पोंछ लिया है।

अनजान शान्ति कुछ नहीं कह पाती। वह रिकार्ड का एक टुकड़ा उठाकर वहीं खड़ी रह जाती है।

व्यग्रता

लेखिका, श्रीमती तारा पाण्डेय

कौन कारण है सजनि, जो बढ़ रही मेरी निराशा ?
देवता उर में बसे हैं
गोद में बचपन खिलाती;
भूल जाती हृदय के दुख
लोरियाँ गा-गा सुनाती।
परन्तु न जाने कौन करता भंग मेरी मधुर-आशा !
गा रही मैं गीत सुख के
छा रहा मन में अँधेरा,
तरु गया है सूख यदि
कैसे पथिक लेगा बसेरा !
कह रहे सब रस भरा जग, किन्तु मेरा हृदय प्यासा !
जानती यह भी नहीं मैं
कौन सच है, कौन सपना;
प्राण देकर भी यहाँ
कोई बना क्या मीत अपना ?
समझती हूँ सत्य है दुख, अमर है मेरी निराशा।

हिन्दू-मुस्लिम-समस्या और हमारा भ्रम

लेखक, श्रीयुत परिपूर्णानन्द वर्मा

ए शासन-विधान प्रचलित होने के बाद से ही हिन्दू-मुस्लिम-समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है। किसी पराधीन देश में ऐसा साम्प्रदायिक उपद्रव होते देखकर किसे क्षोभ न होगा ? उपद्रव एक-दो दिन तक ही नहीं सीमित रहता, पर महीनों चलता है। विगत एक महीने में इस साम्प्रदायिक उपद्रव ने अमृतसर, रंगून, कानपुर, बनारस तथा जबलपुर जैसे नगरों की जान व माल की बड़ी भयंकर हानि की है। यहाँ हमारे सामने यह सवाल नहीं है कि कौन ज़्यादा लड़ता है, हिन्दू या मुसलमान, कौन ज़्यादा ज़ुल्म करता है, हिन्दू या मुसलमान। साथ ही हम इस प्रश्न पर भी नहीं विचार करना चाहते कि इन दंगों में मुस्लिम-लीग की कहाँ तक ज़िम्मेदारी है। बहुत सी बातें पाठकों को ज्ञात हैं और उनके दुहराने की ज़रूरत नहीं है। यह भी लिखना पुनरावृत्ति करना होगा कि कांग्रेसी प्रान्तों में इन दंगों की ज़िम्मेदारी कांग्रेस-मन्त्रियों पर भी इस रूप में है कि वे उतनी सख़्ती से काम नहीं लेते, जितनी उनसे आशा की जा सकती है। जो हो, उपद्रवों का होना एक विकट सत्य है और हमको राष्ट्रीय दृष्टि से इन पर विचार करना चाहिए।

निरर्थक-कारण

'मस्जिद और बाजा' या 'गो-कुशी' की समस्यायें बहाना-मात्र हैं। इनकी तह में वह जड़ता है जिसके हम शिकार हैं, अर्थात् हमारी अशिक्षा इसके लिए ज़िम्मेदार है कि ऐसी बातों पर हम लड़ सकते हैं। इस अशिक्षा की समस्या पर अभी वैज्ञानिक रूप से विचार नहीं हुआ है।

हिन्दू या मुसलमान दोनों इस देश में एक-दूसरे की सत्ता नष्ट नहीं कर सकते। दोनों को परस्पर सहयोग से काम लेना होगा। स्वर्गीय मौलाना मुहम्मदअली ने भी साफ़ कहा था कि दोनों ही ऐसा स्वप्न न देखें। वह समय कभी नहीं आवेगा। रह गया प्रश्न नौकरी का—साम्प्रदायिक बँटवारे का। जिस प्रकार के बँटवारे की बात कहकर या हिन्दू-राज्य की धमकी देकर मुस्लिम नेता मुसलमानों को उत्तेजित करते हैं, वह भी एक भ्रम है। वास्तव में यह हिन्दुओं का कर्त्तव्य है कि अपने मुस्लिम बन्धुओं को यह समझा दें कि वस्तु-स्थिति क्या है और भारत की जनता को ग़लत रास्ते से ले जाने में किसकी ज़्यादा हानि होगी और केवल प्रेम या एकता की बात करने से ही यह समस्या हल न होगी। इसके लिए जिस ठोस प्रचार की आवश्यकता है उसी पर ध्यान देना ज़रूरी है।

कांग्रेस ने बार-बार कहा है कि हिन्दू-मुस्लिम के भेद-भाव से किसी का कल्याण न होगा। थोड़े ही समय में 'संयुक्त निर्वाचन' और 'संयुक्त मताधिकार' का महत्त्व स्थापित हो जायगा। पर इतना कहने से ही मुसलमानों के मन में विश्वास पैदा न होगा। बंगाल, पंजाब आदि प्रान्तों में अपना बहुमत देखकर वे यही चाहते हैं कि उनका अलग प्रतिनिधित्व हो। जहाँ उनका अल्पमत हो, वहाँ उनको 'अधिकार' अथवा 'वेटेज' दिया जाय। पर इससे उनका कितना कम लाभ होगा, यह भी सोच लेना चाहिए। पिछली मर्दुमशुमारी के अनुसार हिन्दू-मुसलमानों की संख्या तथा प्रतिशत इस प्रकार है—

प्रान्त	हिन्दू	प्रतिशत	मुसलान	प्र० श०
मदरास	४,१२,७७.३७०	८८·३१	३३,०५,९३७	७·०७
बम्बई	१,६६,२१,२२१	७६·०५	४,४५६.८९७	२०·३९
बंगाल	२,१५,७०,४०७	४३·०४	२७,४९७,६२४	५४·८७
संयुक्त-प्रान्त	४,०९,०५,५८६	८४·५०	७१,८१,९२७	१४·८४
पंजाब	६३,२८,५८८	२६·८४	१,३३,३२,४६०	५६·३५
बिहार उड़ीसा	३,१०,११,४७४	८२·३१	४२,६४,७९०	११·३२
मध्यप्रान्त	१,३३,३८,२२३	८६·०१	६,८२,८५४	४·४०
सीमाप्रान्त	१,४२,९७७	५·९०	२२,२७,३०३	९१·८४

इन ८ प्रान्तों की संख्या में केवल ३ में मुस्लिम बहुमत है। किन्तु अन्यों में उनका अल्पमत भी इतना

ज़्यादा है कि उनकी हस्ती न-गण्य-सी हो जाती है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन्हीं प्रान्तों में अन्य अल्प-मतवालों की संख्या क्रमशः २१,५६,८०० (मदरास), ७,७६,७४८ (बम्बई), १०,४५,६७१ (बंगाल) ३,२१,२५० (संयुक्तप्रान्त), ३९,१६,८०४ (पजाब) २४,०१,३१२ (बिहार), १४,८६,६४६ (मध्यप्रान्त) तथा (सीमाप्रान्त) ५४,७९६ है। इनका औसत क्रमशः ४·६२, ३·५६, २·०९, ०·६६, १६·६१, ६·३७, ९·५९ तथा २·२६ है। आसाम में ५७·२० प्रतिशत हिन्दू और ३१·९६ प्रतिशत मुसलमान हैं। ब्रह्मदेश में, जहाँ रंगून के उपद्रव का समाचार सुनकर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, ६२·११ प्रतिशत ब्रह्मदेशीय इत्यादि तथा ३·९० प्रतिशत हिन्दू (५७०,९५३) और ३·९९ प्रतिशत मुसलमान (५८७,९३९) हैं। ऐसी दशा में मुसलमानों को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आज ब्रह्मदेश में जिस प्रकार अत्यन्त अल्प-मत होते हुए भी वे साम्प्रदायिक उपद्रव करने के कारण तबाह हो सकते हैं, उसी प्रकार भारत के अनेक प्रान्तों के 'छोटे सम्प्रदाय' अपने उतने ही अल्पमत से घोर अशान्ति उत्पन्न कर सकते हैं। इसका सबसे अधिक भय पजाब के मुस्लिम प्रान्त में है। इसलिए क्या यह उचित नहीं है कि भारतीय मुस्लिम-हिन्दू जनता इस सम्प्रदायवाद को दफ़ना कर सुख-शान्ति की नींद से सोने की चेष्टा करे।

अन्य अल्प-संख्यक

मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य अल्प-संख्यक सम्प्रदाय-वाले कितने हैं, इसकी भी रोचक तालिका देखने से पाठकों को यह मालूम हो जायगा कि उनकी समस्या भी साधारण नहीं है।

सम्प्रदाय	ब्रिटिश भारत	देशी राज्य	प्रतिशत
सिक्ख	३२,२०,९६७	११,१४,७७४	१·२४
जैन	४,५३,५६९	७,६८,५३६	०·३६
बौद्ध	१,२६,९३,०८९	९३,७१७	०·३५
ईसाई	३८,६६,६६०	२४,३०,१०३	१·७९
यहूदी	२१,२०६	२,९३५	०·०१

इन आँकड़ों से यह पता चलेगा कि लगभग ४ प्रतिशत अल्प-संख्यक यही हो जाते हैं। देशी राज्यों में जैन अधिक हैं। ब्रिटिश भारत में बौद्ध। इनके अतिरिक्त 'असभ्य' या 'ट्राइबल' कहे जानेवालों की संख्या भी कुल मिलाकर ८२,८०,३४७ यानी २·३६ प्रतिशत है। इस प्रकार ६८·२४ प्रतिशत वास्तव में ७५ प्रतिशत है—यदि 'असभ्यों' की आधी संख्या ही मान ली जाय। मुसलमानों को भी २२·१६ प्रतिशत से बढ़ाकर २५ प्रतिशत मानना पड़ेगा। क्या इस ७५ और २५ प्रतिशत का तात्कालिक समझौता नहीं हो सकता? क्या यह सम्भव है कि एक उगता हुआ राष्ट्र इसी प्रकार धोखा खाता रहेगा? सुना जाता है कि मुस्लिम-नेता या कतिपय नेता देशी-राज्यों में भी अल्प-मत की समस्या खड़ी करना चाहते हैं। किन्तु इसमें उनको लाभ होगा या हानि, यह नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट हो जायगा। पाठक इस तालिका को भी ग़ौर से देखें—

रियासत	हिन्दू	प्रतिशत	मुसलमान	प्रतिशत	अन्य	प्रतिशत
मदरास की रियासतें	४३,२३,१५०	६४·००.	४,६७,३६६	६·९२.	१६,६३,६३८.	२९·०८.
मैसूर	६०,१५,८८०	९१·७४.	३,९८,६२८	६·०८.	१,४२,७९४.	२·१८.
सीमाप्रान्त	१३,६५१	२९·३९.	२३,०८६	४९·७०.	९,७१४.	२०·९१.
पञ्जाब	३,८३,८८३.	८७·६९.	४०·८४५.	९·३३.	१३,०५९.	२·९८.
पञ्जाब-दक्षिणी एजेन्सी	१८,८७,२४७	४२·२०.	१५,५६,५६१.	३४·८०.	१०,२८,३७८.	२३·००.
राजपूताने की रियासतें	९५,७८,८०५	८५·३३.	१०,६६,३२५.	९·५३.	५,७७,५८२.	५·१४.
सिक्किम	४७,०७४	४२·८७.	१०४.	०·१०.	६२,६३०	५७·०३.
संयुक्त-प्रान्त	९,५०,७२४.	७८·८३.	२,५१,१३१.	२०·९०.	३,२१५.	०·२७.
पश्चिमी भारत एजेन्सी	३२,४६,७६८.	८१·१९.	५,४५,५६६.	१३·६४.	२,०६,६१३.	५·१७.
भारत के कुल देशी राज्य	६,१४,६७,१५२.	७७·७१.	१,०६,५७,१०२.	१३·४७.	६९,७३,७५४.	८·८२.

क्या हमारे मुसलमान भाई यह सोचने का कष्ट करेंगे कि देशी-राज्यों में कुल १३·४७ प्रतिशत संख्या के लिए यह हितकर होगा कि वह पृथक् प्रतिनिधित्व लेकर पृथक् संघटन करे? क्या उसके हित में संयुक्त-निर्वाचन से संयुक्त संघटन न होगा? हिन्दू इन बातों की ओर अपने भाइयों का ध्यान आकर्षित करने का बहुत कम प्रयत्न करते हैं, जिससे आम मुस्लिम जनता का अज्ञान दूर नहीं होता और वह अन्धकार में पड़ी रहने के कारण किसी प्रकार का उचित आन्दोलन समझ ही नहीं पाई है। इस दृष्टि से कांग्रेस का 'समूह-सम्पर्क' या 'मास कान्टेक्ट' का आन्दोलन बहुत ही उपयुक्त और उपयोगी है और उस आन्दोलन के प्रवर्त्तकों को बड़ी सावधानी से ये बातें समझाकर दोनों को एक-साथ मिलकर चलने की सलाह देनी चाहिए।

भाषा का भय

हिन्दुओं को हिन्दी के प्रति विशेष प्रेम है, यह बात तो हम दावे के साथ नहीं कह सकते। पर ५,३४,०९,१८१ बँगला, २,६१,८२,३२४ तेलगू और २,०७,०३,२४७ मराठी के बोलनेवाले हिन्दी को ग्रहण करने को तैयार हैं या नहीं, यह एक सोचने की बात है। पर इतना अवश्य है कि हिन्दू उर्दू से उतना प्रेम नहीं करता, जितना एक अच्छी भारतीय भाषा के प्रति होना चाहिए, और उर्दू के प्रचार को वह बड़ी उत्कण्ठा की दृष्टि से, भयातुर के समान, देखता है। यह बड़ी भारी भूल है। हिन्दी-भाषा के राज-भाषा बनने का समय दूर नहीं है और उसको आँच दिखलाना भी असम्भव है। पर यदि मुसलमान उर्दू को तरजीह देना चाहते हैं तो इसमें किसी प्रकार का विरोध या कोई हस्तक्षेप भी नहीं होना चाहिए। अब हम उनको साम्प्रदायिकता रूपी विष से दूर करना चाहते हैं तथा उनकी साम्प्रदायिकता के कारण स्वयं अपने में साम्प्रदायिक विष को भरना नहीं चाहते हैं तब हमको उनके वैध स्वत्वों पर कोई आघात भी नहीं पहुँचाना चाहिए। यह डर वैसा ही निर्मूल है, जैसा मुसलमान या हिन्दू का यह सोचना कि सभी सरकारी नौकरी एक सम्प्रदाय हड़प लेगा या सभी सरकारी अधिकार एक सम्प्रदाय अपनाकर ज़्यादा दिन तक काम चला सकेगा। बहुत से मुसलमान ऐसे हैं जिन्होंने उर्दू की सूरत भी नहीं देखी है। ऐसी दशा में उनका उर्दू के प्रति प्रेम हो जाना बुरा भी नहीं है। भारत में उर्दू जाननेवाले कितने हैं, इसकी कोई ठीक संख्या हमें नहीं मिली है। जो मिली है वह इस प्रकार है—

	प्रतिशत
हिन्दी बोलनेवाले	२२·५३.
बंगाली	१५·२४.
बिहारी	७·९७.
तेलगू	७·४७.
पंजाबी	६·८६.
मराठी	५·९१.
तामिल	५·७९.
राजस्थानी	३·९१.
कनाड़ी	३·१६.
उड़िया	३·१७.
गुजराती	३·०५.
मलयालम	२·५९.
बर्मी	२·५२.
सिन्धी	१·१२.
आसामी	०·५७.
पश्तो	०·४३.
काश्मीरी	०·४०.
अँगरेज़ी	०·०८.
अन्य	७·२२.

पाठक स्वयं यह विचार कर लेने का कष्ट करें कि इनमें हिन्दी बोलनेवालों की तथा हिन्दी-भाषा जाननेवालों की और उर्दू-भाषा जाननेवालों की संख्या का क्या अन्दाज़ होगा।

अस्तु, यहाँ हमने हिन्दू-मुसलिम-समस्या का एक रूप पाठकों के सामने उपस्थित कर दिया है और उस पर विचार करने के लिए उनके सामने कुछ सामग्री रख दी है। अब वे स्वयं सोचें कि इस प्रश्न को अपने हाथ में लेकर क्या हम लोग इसे नहीं सुलझा सकते जिससे हमारी भारत-माता का विशद कल्याण हो?

पूछते हो

लेखिका, श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा

पूछते हर बार हो आशा न पूरो सर्जनि होगो ?
मधुर स्वप्नों के लिए वरदान नोरव रर्जनि होगो।
प्राण-उपवन के अमर-पतझार में मधु ऋतु खिलेगो।
मधु-उमंगों को सुखोज्ज्वल चन्द्रिका-धारा वहेगो ?
बस यही उत्तर! पुन: प्रिय रो उठे यह प्रान मेरे!
उफ़, छलक भो तो न पाते ये भरे अरमान मेरे।
युगल दृग की मौन-भाषा को किसे पहचान मेरे।
कब हुए परिणत हँसो में आह! गोले गान मेरे।
आत्म-विस्मृति में प्रणय को चिर-विरह की याद छोड़।
दो घड़ी के मिलन-संचय में लुटा सुख कोष आज!
फूल की चिर-शून्यता में शूल से बोथो सजाइ!
कल्पना के स्वप्न-रंजित व्योम में घन घटा छाइ!
गा नहीं सकतो हृदय की तृप्ति जीवन में यहाँ प्रिय!
हँस रहे सूल पर अभावों के अथक नर्त्तन यहाँ प्रिय!
बढ़ चली अविरल व्यथा, उल्लास आवृत्त हो गया प्रिय!
वेदना को थपकियाँ पा यह विकल मन सो गया प्रिय!
मधुर वाञ्छा का बना कब नीड़ पाले पोर सम्भव ?
प्रणय-कलरव हो मधुर आये न बाधा-भोर सम्भव ?
कामना के क्षुद्र सरि में हम तिरें हो मग्न सम्भव ?
प्यार के आवरण डाले डोल ले उर नग्न सम्भव ?
आज दुख की चिर अमावस में न शुभ्र ऊषा विहँसतो।
हृदय में ज्वाला धधकतो नयन-जल-धारा बरसतो।
जानतो यदि प्यार के संसार में यह हार बसतो।
व्यर्थ नाता जोड़ पल भर प्रेम-बन्धन में न फँसतो।
प्रेम का कर योग साधन चल रहो हूँ विरह-पथ पर।
चिर-व्यथा के तोव्र झंझा में विकम्पित उर निरन्तर।
स्नेह के दो बोल क्या? कब देख सकतो आँख भर कर?
मैं प्रवासो हूँ! बनो, कुछ तो सुखो तुम देश रहकर?

हिंदी और उर्दू की समस्या

लेखक, श्रीयुत वेंकटेश नारायण तिवारी

इस लेख में मैं निम्नलिखित सवालों पर विचार करूँगा—

(१) इस सूबे में उर्दू के मुक़ाबिले में हिन्दी का कितना चलन है, और इस चलन में पिछले ४७ साल, अर्थात् सन् १८९०, १९३६ में क्या-क्या रद्दोबदल हुए ?

(२) इन परिवर्तनों पर विचार करने से हम किन नतीजों पर पहुँचते हैं ?

(३) हिन्दी और उर्दू में कौन-से भेद हैं, और उन भेदों के मिटाने का क्या मार्ग है ?

(४) नये शब्द कहाँ से लिये या कैसे बनाये जायँ—अरबी, फ़ारसी या संस्कृत से ?

(५) लिपि और भाषा के विषय में हमारी क्या नीति होनी चाहिए ?

(६) तालीम किस लिपि और भाषा में दी जाय ?

कुछ कहने के पहले, एक निवेदन कर देना नामुनासिब न होगा। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस मसले पर आज़ादी के साथ और साफ़-साफ़ शब्दों में लोग अपने-अपने विचार प्रकट करें। इसलिए मैं उम्मीद करता हूँ कि पाठक भी—चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान—मेरे कथनों को ध्यान-पूर्वक पढ़ने और उन पर विचार करने की कृपा करेंगे। सम्भव है, जो बातें कही जायँ, वे सबको पसन्द न आएँ। इससे हमें डरना न चाहिए, क्योंकि मतभेद होना स्वाभाविक है। पर इसके कारण एक-दूसरे की नीयत पर हमला करने की किसी को ज़रूरत नहीं। हम सबका ध्येय तो एक ही है। कौन ऐसा हिन्दोस्तानी होगा, जो साम्प्रदायिक समस्याओं को मिटाने के लिए उत्सुक न हो ? भले ही, मार्ग के विषय में राय भिन्न हों। मौजूदा परिस्थिति में हमें मानना पड़ेगा कि साधनों के विषय में मतभेद है। वह यदि मिट सकता है तो विचार-विनिमय ही के द्वारा। इसी लिए मेरी तुच्छ बुद्धि में जो कुछ ठीक जँचा, उसी को मैं इस लेख में प्रकट करता हूँ। अगर दूसरे भाई कोई दूसरा रास्ता बतायें, तो मैं उनकी सलाह पर ग़ौर-करने के लिए तैयार हूँ। यदि उनकी बातें मुझे ठीक जँचीं, तो मैं निःसंकोच उनके उपदेश को मानकर अपने मत को छोड़ने के लिए तैयार हो जाऊँगा। मैं हठधर्मी नहीं, और न मेरा यह दावा ही है कि मेरी राय ग़लत नहीं हो सकती।

आइए, प्रथम प्रश्न पर विचार कर देखें कि इस सूबे में हिन्दी की क्या दशा है। युक्तप्रान्त में प्रकाशित होनेवाली सब प्रकार की हिन्दी और उर्दू की पत्र-पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्या, दोनों भाषाओं में कितनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, एवं वर्नाक्यूलर-इम्तिहान में हिन्दी-उर्दू लेनेवाले परीक्षार्थियों और हाई स्कूल-इक्ज़ामिनेशन में शरीक होनेवाले विद्यार्थियों की संख्या हम नीचे चार कोष्टकों में देते हैं। ये आँकड़े सरकारी रिपोर्टों से लिए गये हैं। अतएव इन्हें प्रामाणिक समझना चाहिए।

(१) पत्र-पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्या

वर्ष	हिन्दी	उर्दू	योग	प्रतिशत हिन्दी	प्रतिशत उर्दू
१८९१	८,००२	१६,२५६	२४,२५८	३२·९	६७·१
१९०१	१७,४१९	२३,७५७	४१,१७६	४२·०	५८·०
१९११	७७,७३१	७६,६०८	१,५४,३३९	५०·३	५९·७
१९२२	२,१५,१२४	१,४०,८४६	३,५५,९७०	६०·४	३९·६
१९३१	२,३५,४३८	१,५०,५५६	३,८५,९९४	६०·९	३९·१
१९३६	३,२४,८८०	१,८२,४८५	५,०७,३६५	६४·०	३६·०

(२) हिन्दी या उर्दू लेकर वर्नाक्यूलर फ़ाइनल परीक्षा में बैठनेवाले परीक्षार्थियों की सूची

साल	हिन्दी	उर्दू	योग	प्रतिशत हिन्दी	प्रतिशत उर्दू
१८९०	९२७	३,२१५	४,१४२	२२·४	७७·६
१९००	अप्राप्त	अप्राप्त			
१९१०	,,	,,			
१९२०	६,५९६	४,८६०	११,४५६	५७·५	४२·५
१९३०	१५,९३४	१०,७८०	२६,७१४	५९·६	४०·४
१९३६	२०,१८८	१४,२८८	३४,४७६	५८·६	४१·४

(३) हिन्दी और उर्दू लेकर हाई स्कूल परीक्षा में बैठनेवाले परीक्षार्थियों की तालिका

वर्ष	परीक्षा देनेवालों की कुल संख्या	हिन्दी लेनेवाले	उर्दू लेनेवाले	प्रतिशत हिन्दी	प्रतिशत उर्दू
१९२२	५,२१४	२,८६१	२,३५३	५४·८	४५·२
१९२५	५,९२७	३,०६४	२,८६३	५१·७	४८·३
१९३०	७,८८३	४,१६२	३,७२१	५२·७	४७·३
१९३५	११,७१८	६,५१९	५,१९९	५५·६	४४·४
१९३८	१३,०९१	७,४३९	५,६५२	५६·८	४३·२

(४) इंटर मीडिएट परीक्षा में हिन्दी पर उर्दू लेकर बैठनेवाले परीक्षार्थियों की तालिका

वर्ष	योग	हिन्दी लेनेवाले	उर्दू लेनेवाले	प्रतिशत हिन्दी	प्रतिशत उर्दू
१९२६	५	२	३	४०·०	६०·०
१९३०	७९८	४८१	३१७	६०·२	३९·८
१९३५	१,७०९	९६९	७४०	५६·६	४३·४
१९३८	१,८८७	१,१५३	७३४	६१·६	३८·४

(५) पुस्तकें

साल	हिन्दी	उर्दू	योग	प्रतिशत हिन्दी	प्रतिशत उर्दू
१८८९–१८९०	३६१	५६९	९३०	३८·८	६१·२
१८९९–१९००	४९९	४८२	९८१	५०·८	४९·२
१९१०–१९११	८०४	४३६	१,२४०	६४·०	३६·०
१९१९–१९२०	९९३	२८६	१,२७९	७७·६	२२·४
१९२९–१९३०	१,९९१	३४८	२,३३९	८५·०	१५·०
१९३५–१९३६	२,१३९	२५२	२,३९१	८९·५	१०·५

ऊपर दिये हुए इन आँकड़ों की लंबी-चौड़ी व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं। जो उनसे बातें सिद्ध होती हैं, उनकी ओर संकेत-भर कर देना काफ़ी होगा। पहली बात यह है कि यद्यपि इस सूबे में प्रकाशित होनेवाली हिंदी और उर्दू की पत्र-पत्रिकाओं की संख्या लगभग समान है, परंतु दोनों प्रकार के समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्याओं में व्यापक अंतर है। हिंदी-पत्र-पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्या जहाँ लगभग ३ लाख २५ हज़ार है, वहाँ उर्दू-पत्र-पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्या पौने दो लाख से कुछ ही अधिक है। पत्रों की और उनके ग्राहकों की सख्याओं के लिहाज़ से भी हिंदी पत्र-पत्रिकायें उर्दू-पत्र-पत्रिकाओं से और भी आगे निकल जातीं, यदि दो-तीन विशेष कारण बाधक न होते। पहली बात यह कि उर्दू के पत्रों के निकालने में बहुत स्वल्प पूँजी की आवश्यकता होती है। लीथो में छपने के कारण उर्दू-अख़बारों के संचालन में ज़्यादा पैसों की ज़रूरत नहीं पड़ती; लेकिन हिंदी में, आप चाहे जैसा पत्र क्यों न निकालें, आपको उसे छपवाने का इंतज़ाम करने में अपेक्षाकृत अधिक पूँजी की ज़रूरत पड़ेगी। इसलिए कोई अचरज की बात नहीं यदि, और कारणों के न होने पर भी, हिंदी-पत्रों की वृद्धि के मार्ग में यह एक बहुत बड़ी व्याधि सिद्ध हुई है। अधिक लागत के अलावा, एक राजनीतिक कारण भी पिछले वर्षों में उपस्थित था, जिसने न केवल इनकी वृद्धि ही को रोक दिया, बल्कि इनकी संख्या को भी घटा दिया। वह कारण यह था कि हिंदी-अख़बारों और प्रेसों ही से ज़्यादातर ज़मानतें ली गईं। सन् १९३६ में लगभग ५० अख़बार केवल इसलिए बंद हुए कि उनसे ज़मानतें माँगी गईं, और वे या तो ज़मानत न दे सके, या उन्होंने देना पसंद न किया। हिंदी के ऐसे ५० अख़बारों और प्रेसों के मुक़ाबिले में उर्दू के सिर्फ़ २ या ४ प्रेसों से ज़मानतें माँगी गईं। अगर ऐसा हुआ न होता, तो न केवल इन्हीं ६० अख़बारों का प्रकाशन न बंद होता या रुक जाता; बल्कि और भी बहुत-से लोग, जो अख़बार निकालना चाहते थे, लेकिन जिन्होंने ज़मानत के भय से उस इरादे को तर्क कर दिया, वे भी अख़बार निकालने लगते। यदि इस तरह की राजनीतिक बाधायें न होतीं, तो हिन्दी-अख़बारों की संख्या उर्दू-अख़बारों के मुक़ाबिले में कहीं अधिक हो गई होती, और उनकी ग्राहक-संख्या इनकी ग्राहक-संख्या से दुगुनी के बजाय कई गुनी अधिक हो जाती। इससे यह स्पष्ट है कि इस सूबे में हिन्दी-अख़बारों की जितनी माँग और खपत है, उतनी माँग और खपत उर्दू-अख़बारों की होनी संभव नहीं; क्योंकि इस सूबे की अधिकांश जनता हिन्दी-भाषा-भाषी है, न कि उर्दू-भाषा-भाषी। लिहाज़ा जो लोग यह दावा पेश करते हैं कि इस सूबे की ज़बान सिर्फ़ उर्दू है, या यहाँ की अधिकांश जनता उर्दू-भाषा बोलती है, उनके इस कथन को ऊपर के आँकड़े निस्सार और निराधार साबित करते हैं।

इसी तरह, आइए, वर्नाक्यूलर-फ़ाइनल और हाईस्कूल की परीक्षाओं के आँकड़ों की ओर एक नज़र डालें, पिछले ४६ साल में दोनों ही परीक्षाओं में हिन्दी लेनेवाले परीक्षार्थियों की संख्या बढ़ी। यह सही है कि उर्दू परीक्षार्थियों की संख्या में भी वृद्धि हुई। लेकिन जहाँ पहले की संख्या १०० में ५६ है, वहाँ दूसरे की संख्या १०० में ४४ है, और वह भी तब, जब इस समय हमारे सूबे के सरकारी दफ़्तरों, डिस्ट्रिक्टबोर्डों, म्युनिसिपैलिटियों और सरकारी अदालतों में उर्दू का बोलबाला है, जिसके कारण इन दफ़्तरों में नौकरी करनेवालों को बरबस उर्दू पढ़नी पड़ती है। अगर सरकारी दफ़्तरों और अदालतों की ज़बान उर्दू न हो, तो क्या ऊपर के आँकड़ों को देखने के बाद इसमें कुछ सन्देह रह जाता है कि इस सूबे में हिन्दी लेनेवाले परीक्षार्थियों की संख्या बहुत बढ़ गई होती। हिन्दी या उर्दू मिडिल में जहाँ १८९० में केवल २३ फ़ी सदी लड़कों ने हिन्दी ली थी, वहाँ १९३६ में ५८ फ़ी सदी ने ली, अथवा उनकी संख्या में प्रतिशत वृद्धि १३० सैकड़ा हुई, और उर्दूवालों में ७७ प्रतिशत से ४२ प्रतिशत अथवा ३७ प्रतिशत का ह्रास हुआ। उर्दू पढ़नेवाले विद्यार्थियों की मौजूदा संख्या कृत्रिम कारणों से इतनी भी है, लेकिन दिन-पर-दिन वह घटती जा रही है।

अपने उपर्युक्त कथन की सचाई सिद्ध करने के लिए सिर्फ़ इन्हीं दो तरह के आँकड़ों का आश्रय हम नहीं लेना चाहते। जिन आँकड़ों की ओर अब हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे, उनसे तो यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जायगी कि इस सूबे की ज़बान हिंदी है और उसके बोलनेवाले न सिर्फ़ ज़्यादा हैं, बल्कि इतने ज़्यादा हैं कि उनके मुक़ाबिले में दूसरी ज़बान के बोलनेवालों की तादाद मुट्ठी-भर रह जाती है।

इस सूबे में १८९० में हिन्दी-उर्दू की जितनी किताबें प्रकाशित हुईं, उनमें हिन्दी की पुस्तकों की संख्या ३९ और उर्दू की ६१ प्रतिशत थी। लेकिन १९३६ में जितनी पुस्तकें हिन्दी-उर्दू में प्रकाशित हुईं, उनमें ८९ फ़ी सदी से अधिक हिन्दी की पुस्तकों और लगभग १० फ़ीसदी उर्दू की थीं। उर्दू पुस्तकों की छपाई बेहद सस्ती है। हिंदी की पुस्तकों का प्रकाशन महँगा है। इसलिए उर्दू की पुस्तकें सस्ते दामों पर बिकती हैं, और हिन्दी की पुस्तकों का दाम प्रायः अधिक होता है। इस पर भी इस सूबे के पढ़नेवालों ने महँगी किताबों को ज़्यादा ख़रीदा, और सस्ती किताबों को कम। इसकी क्या वजह है? क्या इसकी वजह सांप्रदायिक भेद है, या इसकी वजह यह है कि हिन्दी की किताबें जिस ज़बान में लिखी जाती हैं, उसी ज़बान को इस सूबे के अधिकांश लोग बोलते हैं? पागलख़ाने के बाहर जितने आदमी आपको मिलेंगे, वे सब इस बात को स्वीकार करेंगे कि लोग उन्हीं किताबों को ख़रीदना पसन्द करते हैं, जिनकी ज़बान को वे समझ सकते हैं, और उस ज़बान की किताबों को वे न ख़रीदेंगे, जिसे न वे बोलते और न समझते हैं। इँगलैंड में अँगरेज़ी किताबों के मुक़ाबिले में जर्मन या फ्रेंच किताबें कम बिकेंगी। जितनी बँगला किताबें बंगाल में बिकती हैं, उतनी इस सूबे में नहीं, और न इस सूबे में मराठी किताबों का उतना चलन है, जितना महाराष्ट्र में। इसका कारण सिर्फ़ यही है कि इस सूबे की ज़बान न बँगला है और न मराठी। अगर इस सूबे की ज़बान उर्दू होती, तो यहाँ उर्दू की किताबों का सबसे अधिक चलन होता, और उसी ज़बान में ज़्यादातर किताबें प्रकाशित होतीं। जब उर्दू में कम और हिन्दी में ज़्यादा किताबें प्रकाशित होती हैं, तब तो इसमें सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि हिन्दी-किताबों की ज़बान को यहाँ के आदमी आसानी से समझ लेते हैं, और उर्दू किताबों की ज़बान उनकी ज़बान नहीं है।

संयुक्त-प्रांत की असेम्बली के सदस्यों में मेरे अनेक मित्र हैं। उनमें हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही शामिल हैं। इनमें से एक मुसलमान मित्र से इसी विषय पर मेरी बातें हुईं। मैंने उनसे पूछा "कि आजकल उर्दू के अख़बारनवीसों ने हिन्दी-उर्दू के मसले को लेकर क्यों शोरगुल मचा रक्खा है।"

"उन्होंने जवाब दिया कि इस सूबे के माननीय शिक्षा-मन्त्री महोदय ने जो तक़रीर की उसकी वजह से यह तूफ़ान बरपा हो गया है।"

"मैंने पूँछा, जनाब, वज़ीर साहब ने अपनी तक़रीर में क्या फ़रमाया था ?"

जवाब मिला कि "अपनी उस तक़रीर में वज़ीर साहब ने हिन्दी की हिमायत की थी।"

"मैंने कहा, तो इसमें उनका क्या क़ुसूर है, उनकी क्या ख़ता है, जिसकी वजह से उर्दू-अख़बारनवीस उनसे इस क़दर ख़फ़ा हो गये !"

मेरे दोस्त ने फ़रमाया, "देखो जी, इस सूबे की ज़बान उर्दू है। हम जो ज़बान बोलते हैं, वह उर्दू है, हमारे देहाती भाई भी उर्दू ही बोलते हैं। आपकी इस मामले में क्या राय है ? क्या तुम समझते हो कि सूबे की ज़बान उर्दू नहीं है ?"

मैंने बड़ी विनम्रता-पूर्वक जवाब दिया कि आप जब फ़रमाते हैं कि इस सूबे की ज़बान उर्दू है, तब मैं इससे किस तरह इनकार कर सकता हूँ। ऐसी दशा में मेरे लिए यह कहना कि इस सूबे की ज़बान उर्दू नहीं है, अनुचित होगा।"

मेरे दोस्त बहुत ख़ुश हुए, मेरी तारीफ़ भी की। बोले—"वाह-वाह, तुम बड़े साफ़गो आदमी हो। अब तुम्हीं देखो, गर इस सूबे की ज़बान उर्दू है, तो वज़ीर साहब को इस तरह ग़लत-बयानी करने की क्या ज़रूरत थी, ख़ासकर जब उनकी ग़लत-बयानी की वजह से मुसलमानों को सदमा पहुँचता है ?"

मैं ख़ामोश रहा, लेकिन मेरे दोस्त ने इसरार किया कि मैं कुछ कहूँ। मेरा ख़ामोश रहना अच्छा होता, लेकिन ख़ामोश रहने की उन्होंने मुझे इजाज़त न दी। ख़ैर, मैंने बहुत अदब से जो अर्ज़ किया, उसका ख़ुलासा नीचे देता हूँ।

मैंने कहा—"जनाब, हम दोनों ने अपनी-अपनी पैदाइश के वक़्त पल्ले दर्जे की हिमाक़त दिखलाई।

मेरे दोस्त चौंक पड़े। बोले, "हम लोगों ने क्या हिमाक़त की ?"

मैंने कहा, "अल्लाह मियाँ के यहाँ से जब हम दोनों रवाना हुए, उस समय हम लोगों ने बेवक़ूफ़ी में एक ही नम्बरी सूबे को अपनी पैदाइश के लिए चुना, जिसके रहनेवाले इतने ख़ब्ती और बेवक़ूफ़ हैं, कि दुनिया में उनकी कहीं मिसाल न मिलेगी।"

मेरे दोस्त ने चौंककर पूछा, "आप ऐसा क्यों कहते हैं ?"

मैंने अर्ज़ किया, "हुज़ूर, दुनिया के पर्दे में ऐसा और कौन दूसरा मुल्क या सूबा मिलेगा, जहाँ के लोग इतने नम्बरी बेवक़ूफ़ हों कि ऐसी ज़बान में लिखी हुई किताबों को ज़्यादा ख़रीदें, जिसे वे ख़ुद नहीं समझते; या जिस ज़बान को वे समझते हैं, उस ज़बान में लिखी हुई किताबों की कुछ भी क़द्र न करें। यद्यपि इस सूबे की ज़बान उर्दू है, तो भी यहाँ के लोग ९० प्रतिशत हिन्दी की किताबें यानी ये ६० प्रतिशत उस ज़बान की किताबें ख़रीदते हैं, जिसे, आपकी राय में, वे समझ नहीं सकते, और जिस ज़बान को वे बोलते और समझते हैं, उस ज़बान की महज़ १० फ़ी सदी किताबें ख़रीदते हैं। ऐसे पागल क्या और कहीं देखने को मिलेंगे ! जर्मन जर्मन और फ़्रांसवाले फ़्रेंच किताबें ज़्यादा ख़रीदते हैं। लेकिन हमारे सूबे के लोग बोलते हैं उर्दू, मगर पढ़ते हैं हिन्दी किताबें। इस हिमाक़त की भी कुछ इंतहा है। सचमुच हमारे सूबे के लोग बड़े ख़ब्ती हैं।"

मेरे दोस्त इस बात को सुनकर ख़ामोश हो गये। थोड़ी देर सिर खुजलाते रहे। बाद में मेरे कमरे से चले गये।

सर तेजबहादुर सप्रू हिन्दुस्तानी एकेडेमी के शुरू से प्रेसिडेंट होते चले आये हैं। आपकी भी राय में इस सूबे की ज़बान उर्दू है। क्या मैं उनसे अदब के साथ पूछने की जुरत करूँ कि उनकी हिन्दोस्तानी एकेडमी ने कितनी उर्दू की और कितनी हिन्दी की किताबें बेचीं ? मैंने इस सूबे के कई प्रेस-मालिकों से इस मामले में पूछ-ताछ की है, और सबका यही कहना है कि उर्दू किताबों के मुक़ाबिले में हिन्दी किताबों की माँग कहीं ज़्यादा है। इन बातों से क्या यह ज़ाहिर होता है कि इस सूबे की ज़बान उर्दू है, या यह साबित होता है कि इस सूबे के ज़्यादातर लोग उर्दू समझते हैं; या इससे यह साबित होता है कि बमुक़ाबिले उर्दू के हिन्दी के क़द्रदानों की तादाद बहुत अधिक है। याद रहे कि इस सूबे की मर्दुमशुमारी की जो रिपोर्ट सन् १९११ में प्रकाशित हुई थी, उसमें यह तस्लीम किया गया है कि यहाँ हिन्दी बोलनेवालों की संख्या ९० प्रतिशत से ज़्यादा है, और उर्दू बोलनेवालों की तादाद सिर्फ़ ८ प्रतिशत है।

लेकिन इन आँकड़ों से मैं यह नतीजा नहीं निकालता कि इस सूबे में उर्दू का चलन है ही नहीं। मैं इस तरह का एक तरफ़ा फ़ैसला नहीं देना चाहता, और न मेरी यह मंशा है कि ऊपर जो आँकड़े दिये गये हैं, उनसे पाठक यह नतीजा निकालें कि इस सूबे में उर्दू को कोई स्थान न मिलना चाहिए। उर्दू के तरफ़दार हिन्दुओं को मुग़ालते में डाल कर उर्दू के नाम पर इस तरह का ग़लत दावा पेश कर सकते हैं। मैं तो सिर्फ़ यही कहूँगा कि इस सूबे में दो ज़बानें लिखी और बोली जाती हैं। यह दूसरी बात है कि हिंदी बोलनेवालों की तादाद इस सूबे में कसरत से है, और उर्दू बोलनेवालों की गिनती हिन्दी बोलनेवालों के मुक़ाबिले में बहुत थोड़ी है। लेकिन जब दोनों ज़बानों के बोलनेवाले इस सूबे में मौजूद हैं, तब हमारा यह फ़र्ज़ मज़हबी है कि हम दोनों ही ज़बानों के बोलनेवालों के लिए एकसी सुविधायें मुहैया करें, और किसी ख़ास ज़बान के बोलनेवालों की तरफ़दारी न करें। इस मामले में सरकार का क्या रवैया होना चाहिए, इसका ज़िक्र मैं आगे करूँगा। यहाँ पर तो मैं सिर्फ़ इतना ही स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि जो लोग इस सूबे की साहित्यिक ज़िन्दग़ी में हिन्दी को कोई स्थान नहीं देते और न उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, वे ग़लती करते हैं; और ऐसी बात कहते हैं जिसके न सिर है, न पैर, और जिसे ऊपर के आँकड़े आसानी से ग़लत और बेबुनियाद साबित करने के लिए क़ाफ़ी हैं।

अगर हम १८९० से लेकर १९३६ तक की इस सूबे की हालत पर नज़र डालें, तो हिंदी-उर्दू के पारस्परिक संबंध के विषय में हमारी आँखें और भी ज़्यादा खुल जायँगी। यह याद रहे कि इस सूबे की सरकार जहाँ उर्दू का लाड़-प्यार करती और उसके प्रचार तथा तरक्क़ी में हर तरह से इम्दाद पहुँचाती रही, वहाँ उसने हिंदी को मिटाने और बरबाद करने में कोई दक़ीक़ा उठा न रक्खा। जिस सूबे के ६० फ़ी सदी आदमी हिन्दी बोलते हों, उस सूबे में हिंदी का सरकारी दफ़्तरों और अदालतों से बहिष्कार हो, यह अगर बेइंसाफ़ी नहीं तो क्या था ? हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे मुसलमान भाइयों ने सरकार की इस नीति का ज़ोरों के साथ समर्थन किया। इंसाफ़ को उन्होंने ताक़ पर रख दिया, और तअस्सुब से काम लिया। उन्होंने हिन्दी को चंद फ़सादी हिन्दुओं की नौ-ईजाद ज़बान ठहराया। उर्दू को हिन्दू और मुसलमानों की ज़बान मानकर हिन्दी को हर तरह से दबाने और कुचलने की बराबर कोशिशें कीं। सरकारी और बोर्डों के अमलों ने भी यह चलन अख़्तियार किया। इसका नतीजा वही हुआ, जो होना था। हिन्दी इस सूबे से उठ गई थी। लेकिन किसी सूबे या मुल्क की ज़बान को सरकार के फ़रमानों से ख़त्म करना आज तक मुमकिन नहीं हुआ। इसी तरह हिन्दी को ख़त्म करने की यद्यपि हज़ारहाँ कोशिशें की गईं, लेकिन उसका अंत न हो सका। वह दब भले ही जाय, कुचल उसे कोई भले ही डाले, लेकिन वह इधर दबी, उधर फूट निकली। हर तरह के विरोधों का सामना करते हुए उसने अपनी ज़िन्दग़ी बचाई, और धीरे-धीरे मज़बूत होती गई। यही वजह है कि जहाँ सन् १८६० में हिन्दी-अख़बारों की सम्मिलित ग्राहक-संख्या सिर्फ़ ८ हजार और उर्दू-अख़बारों की १६ हज़ार थी, वहाँ १९३६ में हिन्दी-पत्रों की ग्राहक-संख्या सवा तीन लाख हो गई और उर्दू-अख़बारों की सम्मिलित ग्राहक-संख्या हिन्दी के पत्रों की ग्राहक-संख्या की आधी रह गई। हिन्दी-अख़बारों के पढ़नेवालों की संख्या इन पिछले ४६ सालों में २९ गुना बढ़ी, और उर्दू-अख़बारों के पढ़नेवालों की संख्या महज़ १६ गुना। हिन्दी-किताबें सन् १८६० में ३९ प्रतिशत और उर्दू की ६१ प्रतिशत प्रकाशित हुई थीं, लेकिन सन् १९३६ में हिन्दी-किताबों की संख्या ९० तक बढ़ गई और उर्दू की ६१ फ़ी सदी से घटकर १० फ़ी सदी रह गई। सन् १८९० में चार लड़कों में एक लड़का हिन्दी लेकर वर्नाक्यूलर फ़ाइनल इम्तहान देता था। अब पाँच लड़के अगर हिन्दी लेते हैं, तो सिर्फ़ चार उर्दू। इसके मानी यह हैं कि सरकारी इमदाद होते हुए भी उर्दू हिन्दी के मुक़ाबिले में नहीं ठहर सकी। इसकी वजह साफ़ है। जो इस सूबे के अधिकांश जनता की ज़बान न थी, वह इस सूबे की आम ज़बान कैसे हो सकती थी। अगर दोनों का मुक़ाबिला बराबरी का होता, तो हिन्दी इतने दिनों में और अधिक उन्नति कर गई होती। दूसरी बात जो इन आँकड़ों से ज़ाहिर होती है यह है कि सरकारी फ़रमानों और हुक्मों से किसी मुल्क या सूबे की ज़बान न बदली और न मिटाई जा सकती है। मुख़ालिफ़त की लाख कोशिशें होने पर भी हिन्दी ज़िन्दा रही, पनपी और बढ़ती-बढ़ती

तरक्की कर गई। इसकी सिर्फ़ एक ही वजह है, और वह यह कि जिस ज़बान को सरकारी इमदाद प्राप्त थी, वही सिर्फ़ इस सूबे की एकमात्र ज़बान न थी।

ऊपर के इन आँकड़ों से एक तीसरी बात भी निकलती है। वह यह कि जो लोग फ़ारसी या अरबी-शब्दों को संस्कृत या संस्कृत से बने हुए शब्दों पर तरजीह देना चाहते हैं, वे इस सूबे की साहित्यिक प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ कोशिशें करते हैं। इससे क्या यह न स्पष्ट है कि जो लोग संस्कृत-शब्दों के बजाय अरबी और फ़ारसी के शब्दों को इस्तेमाल करना चाहते हैं, वे ग़लत रास्ते पर हैं? हिन्दी हिन्दोस्तान की है। न तो वह ईरान की शाखा ज़बान है, और न अरबिस्तान की। इसे अरबी या फ़ारसी की एक शाखा मान लेना या उसे उनकी मजारा भाषा बनाने की कोशिश करना सरासर ग़लती है। और, अगर वे अपनी इस हठधर्मी से अड़े रहेंगे, तो उसका यही नतीजा होगा कि वे ख़ुद अपनी कोशिशों के शिकार बन जायँगे, और तरक्क़ी करने के बजाय उनका नामोनिशाँ तक मिट जायगा। पहाड़ से हम दरिया को नीचे ला सकते हैं, लेकिन नीचे से पहाड़ के ऊपर दरिया चढ़ाने की कोशिश करना एक हद दरजे की बेवकूफ़ी में शामिल है। युक्त-प्रान्त, मैं फिर कहता हूँ, न तो ईरान है, न अरब। इस सूबे की ज़बान को उन देशों की ज़बान के समान बनाना असंभव है। और यही वजह है कि उर्दू बराबर पछाड़ खाती गई। अगर उर्दू इस सूबे की एकमात्र ज़बान होती, तो सरकारी इमदाद पाने पर वह आज कहीं आगे बढ़ गई होती। न तो हिन्दी-किताबों, न हिन्दी-अख़बारों और न हिन्दी के विद्वानों की तादाद में वह आशातीत वृद्धि हो पाती, जो पिछले ४६ साल में हमें दिखाई देती है। ऊपर जो कुछ हमने संक्षेप में कहा है, उसके सुबूत में हम लेख के अंत में ४७ साल के आँकड़े दे रहे हैं। इन आँकड़ों में पिछले ४७ साल में जो हिन्दी-उर्दू के अख़बारों या किताबों के प्रकाशन में वृद्धि हुई है, या परीक्षार्थियों की तादाद में रद्दो बदल हुआ है, उसका सही नक़्शा पाठकों के सामने आ जायगा।

अब आइए, हम दूसरे सवाल पर विचार करें। इस रद्दोबदल पर विचार करने से हम किन नतीजों पर पहुँचते हैं? संक्षेप में इस सवाल का जवाब हमें ऊपर मिल चुका है, लेकिन उसे एक बार फिर दोहरा देना अनुचित न होगा। नतीजा यह है कि इस सूबे में एक ज़बान नहीं, बल्कि दो ज़बानें हैं। हमें इससे यहाँ सरोकार नहीं कि किस ज़बान के बोलनेवालों की तादाद इस प्रांत में ज़्यादा है। जो लोग यह कहते हैं कि इस सूबे की ज़बान एक है और उसका नाम उर्दू है, वे ग़लती करते हैं। जो यह कहते हैं कि इस सूबे की ज़बान एक है और वह हिन्दी है, वे भी ग़लती करते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि इस सूबे की ज़बान एक है, और उसका नाम हिंदुस्तानी है, जो हिंदी-उर्दू के मेल से बनी है, वे भी ग़लती करते हैं। यह सही है कि इस सूबे में अनेक बोलियाँ हैं, और उन बोलियों के बहुत से लफ़्ज़ समान हैं, जो सूबे के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक बराबर बोले जाते हैं, और जिनके अर्थ को सूबे के सब आदमी आसानी से समझ लेते हैं। सिर्फ़ इन्हीं बातों से तो यह कहना ग़लत न होगा कि हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी की तह में ये बुनियादी शब्द मौजूद हैं। इस अर्थ में और केवल इसी अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि इस सूबे की ज़बान एक है, लेकिन बुनियादी शब्दों की तादाद थोड़ी है। उनके द्वारा हम अपनी रोज़मर्रा की थोड़ी-सी ज़रूरतें रफ़ा कर सकते हैं। लेकिन इन घरेलू ज़रूरतों के अलावा जैसे ही हम किसी मसले पर लिखना या बोलना चाहते हैं, तो हम मजबूर हो जाते हैं कि दूसरी ज़बान के उन शब्दों को लें, जो हमारे विचारों को प्रकट करने के लिए मौज़ूँ हों। अरबी और फ़ारसी-लफ़्ज़ों को अपनाने की वजह है, जिसकी प्रेरणा से हम संस्कृत-शब्दों को लेकर अपनी भाषा में उन्हें चला रहे हैं। संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के अलावा भी अँगरेज़ी या योरप की दूसरी ज़बानों के भी बहुत-से शब्द हमने अपना लिये हैं। रेलवे-स्टेशन, रेडियो, टेलीग्राम, केबुल, फेबुलग्राम, नाज़िज़्म, कम्यूनिज़्म, पॉलिसी, आदि शब्द इस बात के प्रमाण हैं। दूसरी ज़बान के शब्दों को लेना कोई शरम की बात नहीं। संसार की सभी ज़िंदा ज़बानें ऐसा करती आई हैं, कर रही हैं, और करती रहेंगी। तात्पर्य यह कि जहाँ हमारी बोलियों के तमाम शब्द हम सबकी विरासतें हैं, वहाँ उन्हीं के सहारे—सिर्फ़ उन्हीं के सहारे—राजनीतिक, धार्मिक और पारिभाषिक विषयों पर अपने विचारों को व्यक्त करना हमारे लिए असंभव है। दूसरी ज़बानों से हमें इसके लिए शब्द लेने पड़ेंगे, हम शब्द लेते

शिवाशिव नृत्य

है, और शब्द लेते रहेंगे, और यही कारण है कि हमारे सूबे में दोनों ज़बानें आजकल रायज हो गई हैं। उर्दू-ज़बान में जहाँ संस्कृत-शब्दों की संख्या एक लुग़त के मुताबिक़ महज़ ५०० है वहाँ ५४,००० शब्दों में १४ हज़ार के क़रीब शब्द अरबी और फ़ारसी-भाषा से आये हैं। हिंदी-शब्द-सागर कोश में ९४,००० शब्द मिलते हैं, उसमें भी ७ या ८ सैकड़ा के लगभग अरबी या फ़ारसी के शब्द मिलेंगे। संस्कृत-शब्दों की काफ़ी तादाद है। हिन्दीवालों ने संस्कृत-शब्दों को अपना लिया है और उनका प्रयोग हिन्दी-व्याकरण के अनुसार करते हैं। उर्दूवाले ऐसा नहीं करते। इन्होंने बहुत-से शब्द न सिर्फ़ अरबी और फ़ारसी-ज़बान से लिये हैं, बल्कि उन ज़बान के व्याकरणों का भी अनुसरण करते हैं।

इस सूबे की ज़बान के मसले पर बहस करते हुए हमें यह न भूलना चाहिए कि इस सूबे की ज़बान वही है, जिसमें तुलसीदास ने अपनी रामायण लिखी या सूरदास ने सूरसागर रचा। तुलसीदास ने अपनी रामायण में लगभग ५,००० शब्दों का प्रयोग किया है। इन ५,००० शब्दों में अरबी और फ़ारसी-शब्दों की तादाद बहुत थोड़ी है। उतनी ही थोड़ी, जितनी थोड़ी दाल में हींग होती है। हींग को दाल का और दाल को हींग का पद देना वैसे ही अनुचित और हानिकारक होगा, जैसे इस सूबे की ज़बान में अरबी और फ़ारसी लफ़्ज़ों की या उन ज़बान के क़ायदों की भरमार करना ग़लत होगा। तुलसीदास की रामायण को इस सूबे के अमीर, ग़रीब, नागरिक और देहाती आसानी से समझ लेते हैं। ग़ालिब को समझने के लिए विद्वानों की शरण लेनी पड़ती है, ग़ालिब चंद पढ़े-लिखे लोगों के शायर हैं। तुलसीदास राह चलते हुए बटोहियों के साथी हैं। आम पाठकों के लिए तुलसीदास ने लिखा; ग़ालिब, मीर, अकबर और चकबस्त चंद तहज़ीबयाफ़्ता मौलवियों के मनोरंजन की सामग्री जुटाने में समर्थ हुए। आम आदमियों से उनका कोई सरोकार नहीं, आम आदमियों की ज़िन्दगी पर उनका कोई असर नहीं। तुलसीदास तो हमारी रग-रग में पैवस्त हो गये हैं। उनके शब्द और उनके वाक्य हमारे मानसिक जगत् के चलन सिक्के हैं। लिहाज़ा जो इस सूबे के साहित्य-निर्माताओं में अपना नाम लिखाने की तमन्ना रखते हैं, उन्हें यह याद रखना चाहिए कि वे तुलसीदास को आदर्श बनायें, तभी उनका साहित्यिक काम स्थायी होगा।

तीसरा प्रश्न यह है कि उर्दू और हिन्दी-भाषा में क्या भेद हैं, और उन भेदों के मिटाने का क्या मार्ग है? हिन्दी-उर्दू-भाषायें दो तरह की भाषायें हैं। उर्दूवालों को विदेशी शब्द देशी शब्दों के मुक़ाबिले बहुत पसंद आये, और उन्होंने उन्हें अपना लिया। इनको देशी लफ़्ज़ों के मुक़ाबिले में वे रायज करना चाहते हैं। हिन्दीवाले परदेशी शब्दों के मुक़ाबिले में देशी शब्दों को स्थान देते हैं। स्वदेशी शब्दों में संस्कृत-शब्द भी शामिल हैं। शामिल इसलिए कहता हूँ क्योंकि संस्कृत हिन्दुस्तान की प्रांतिक भाषाओं की जननी है। संस्कृत और प्राकृत से हमारी ज़बान पैदा हुई है। इसलिए जमुना न लिखकर यदि हम यमुना लिखें, तो कोई बड़ा अनर्थ न होगा। नेह की जगह अगर स्नेह कहें, तो कोई ज़्यादती नहीं, लेकिन हमारे लिए यह साधारण तौर से अस्वाभाविक होगा। यदि हम स्नेह को तो ठुकरा दें, और नेह को भी भूल जायँ, और इनकी जगह इश्क़ का इस्तेमाल करें। ऐसा करना साहित्यिक अनर्थ में शामिल है। हाँ, ऐतिहासिक कारणों से बहुत-से परदेशी लफ़्ज़ हमारी ज़बान में आ गये हैं। उनको हमने अपना लिया है। वे शब्द पहले परदेशी भले ही रहे हों। अब तो वे परदेशी नहीं रह गये; अब वे शरीर में हड्डी और ख़ून के समान हमारे हो गये हैं। उनके साथ हमारा इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है कि हम यह भूल-सा गये थे कि वे हमारे नहीं हैं। शायद हमें यह याद भी न आता, यदि हमारे उर्दूदाँ दोस्त इस इस बात को मौक़े-बे-मौक़े दोहराया न करते कि वे अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ हैं।

दूसरा भेद यह है कि हिन्दीवाले व्याकरण के उन्हीं नियमों का पालन करते हैं, जो भारतीय आर्य ज़बानों के नियम हैं। उर्दूवालों ने सामी—अनार्य—ज़बानों के व्याकरणों के बहुत से मुहाविरों को अपनाया है। उर्दू भारत की एक भाषा है। उसके शब्द और व्याकरण-सम्बन्धी नियम, अन्य भारत की प्रांतिक भाषाओं के समान भारतीय-आर्य भाषाओं के शब्द और नियम होने चाहिए। किन्तु उर्दू-दाँ उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द ठूसते और उन भाषाओं के नियमों से अपने

को पाबन्द समझते हैं। उदाहरण के लिए वकील या हाकिम शब्दों को ले लीजिए। हिन्दी-व्याकरण के अनुसार बहुवचन में इनका रूप होगा वकीलों या हाकिमों। लेकिन उर्दूवाले वकीलों या हाकिमों न कहकर वुकला या हुक्काम कहते हैं। मौलवी का बहुवचन मौलवियों नहीं, मौलवियान है। इसी तरह अमीर का बहुवचन अमीरों नहीं, उमरा है। तालिबइल्म का रूप बहुवचन में बदलकर तुलबा हो जायगा, और जमात का जमातों न कहकर जमइयत हो जायगा। जहाँ हम चमन का गुल कहेंगे, वहाँ उर्दूवाले, सामी ज़बानों के मुहाविरे के मुताबिक़, उसे गुले-चमन कहेंगे। अमन-चैन न कहकर वह अम्न-ओ-आमान को ज़्यादा पसन्द करेंगे। फ़रज़न्दे-वितानिआ उसके कानों को कहीं ज़्यादा सुहाता है। मख़्बूतुलहवास इस मर्ज़ के मरीज़ों की ज़बान पर हमें रोज़मर्रा मिलेगा। 'उल' का अर्थ सम्बन्ध-सूचक है, लेकिन 'का' के इस्तेमाल से उन्हें नफ़रत है। जहाँ 'उल' से काम चलेगा, वहाँ 'का' को वे घुसने भी न देंगे। वकील से हमें नफ़रत नहीं, काग़ज़ ठीक है, लेकिन वकला और काग़ज़ात क्यों? अर्ज़ी तो हम सब कहते हैं, लेकिन आरायज़ हम क्यों कहें? सम्बन्ध को तो हम भूल जाएँ और मुतअल्लिक़ से नेह जोड़ें। तजवीज़ें कहना मुनासिब नहीं, क्योंकि शाइस्ता लोग तजावीज़ कहा करते हैं। ये सब अनुचित प्रयोग हैं। उर्दू हिन्द की है। उसे ईरानी या अरबी का रूप देना भूल है। जो हिन्द की ज़बान लिखना या बोलना चाहते हैं, उन्हें तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे अपनी ज़बान में लिखने या बोलने के समय अपनी ज़बान के क़ानूनों को याद रक्खें। परदेशी ज़बान के क़ानूनों की पाबंदी करने की कोई ज़रूरत नहीं।

इसी तरह उर्दूवाले क्रिया के इस्तेमाल में भी ज़्यादती करते हैं। हिन्दी और इस मुल्क की दूसरी भारतीय आर्य भाषाओं में क्रिया वाक्य के अंत में आती है। उर्दूवाले सामी ज़बानों की नक़ल करते हुए क्रिया को वाक्य के आदि या बीच में इस्तेमाल करते हैं। वे कहेंगे—"शुक्र है उस ख़ुदा को"। उन्हें "ख़ुदा का शुक्र है" कहना ठीक नहीं जँचता। ऐसी अनेक मिसालें दी जा सकती हैं। हो सकता है कि जैसा हम कहते हैं वैसा करने से हमारी ज़बान एक आलिमाना ज़बान न रहे। लेकिन ज़बान तो ऐसी होनी चाहिए जिसे मामूली आदमी भी समझ सके। अरबों या ईरानियों की नक़ल करना जातीय पतन और मानसिक कंगाली की डुग्गी पीटना है। उर्दू को विदेशी ढाँचे में ढाल कर उसे स्वदेशी ज़बान क़रार देना या मनवाना साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

हमने जो कुछ ऊपर कहा है, उससे हिन्दी-उर्दू के मामले में मेरा जो दृष्टिकोण है, वह स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी-उर्दू में अरबी या फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं, उनके निकालने का मैं हामी नहीं। लेकिन हिन्दी-उर्दू के भेद को मिटाने या उसे कम-से-कम करने के लिए मेरी यह क़तई राय है कि हम परदेशी लफ़्ज़ों को ऐसे साँचे में ढालें, जिससे उनका परदेशी-पन दूर हो जाय। इसलिए यह ज़रूरी है कि उनका हम प्रयोग उन नियमों के अनुसार करें, जिनका हमारे देश में चलन है। विदेशी भाषा के शब्दों को लेना एक बात है; विदेशी भाषा के नियमों को भी अपनाना एकदम दूसरी मनोवृत्ति का सूचक है। इस मनोवृत्ति की जितनी भी निंदा की जाय, थोड़ी है। मेरी राय में संस्कृत-शब्दों के ख़िलाफ़ जो जहाद इस वक़्त उर्दू-अख़बार और उर्दू के हिमायती उठा रहे हैं, वह ग़लत है। हमारे सामने यह सवाल नहीं है कि फ़ारसी या अरबी के रायज शब्द हमारी भाषा में से निकाल दिये जायँ, और न यही सवाल है कि संस्कृत के जो प्रचलित शब्द हमारी भाषा में शामिल हैं, उन्हें हम निकाल बाहर करें। दोनों ही तरह के शब्द हमारी अदबी ज़िन्दगी या साहित्यिक जीवन के अटूट अंग हैं। लेकिन इसके साथ ही मेरी यह भी राय है कि हिन्दी के लिए जिन नये शब्दों के बनाने की ज़रूरत पड़े, वे ज़्यादातर प्राकृत और संस्कृत से बनाये जायँ, क्योंकि हिन्दुस्तान की किसी भी प्रांतिक भाषा-विशेष से संस्कृत के साथ ऐसा सम्बन्ध है, जो उस वक़्त तक ख़त्म नहीं हो सकता, जब तक वह भाषा इस मुल्क की भाषा रहेगी। इसी मत के समर्थन में बहुत-से मुसलमान आलिमों ने ख़ुद भी बड़े ज़ोरदार शब्दों में लिखा है।

उर्दू में अरबी और फ़ारसी बहरों का चलन है। छंद-संबंधी नियमों को उर्दूवालों ने अरबी और फ़ारसी के साहित्य से ग्रहण किया है। उन नियमों के आधार पर हमारे बड़े-बड़े शायरों ने कमाल की शायरी की है। हमें उन तर्ज़ों को अपनाना चाहिए, इसी तरह जिस

तरह हम इस मुल्क के छंद-संबंधी नियमों को अपनाते हैं। अगर हम योरपीय सानेट के वज़न पर कविता हिन्दी या उर्दू में लिखने की कोशिश करते हैं, या विदेशी छंद-शास्त्र के दूसरे नियमों के अनुसार कविता करने की कोशिश करते हैं, तो कोई वजह नहीं कि उर्दू-बहारों को हम परदेशी बहर क़रार दें, और उन्हें क्यों न अपने साहित्य का अंग बना लें। शब्दों और व्याकरण-संबंधी नियमों के विषय में इस तरह का समझौता होना असंभव है क्योंकि सामी ज़बानों के जो नियम हैं, वे इंडो-आर्यन ज़बान के नियम नहीं हो सकते। हमें बहुवचन, विशेषण और क्रिया, आदि के प्रयोग ही में अपने नियमों का पालन करना चाहिए। अगर हम हठधर्मी और तास्सुब को छोड़कर काम करें, तो कोई वजह नहीं कि हिन्दी-उर्दू में जो कशमकश इस समय नज़र आ रही है, वह चन्द दिनों में क्यों न कम हो जाय। इंशा की "रानी केतकी की कहानी" में हिन्दुस्तानी शब्द ही आपको मिलेंगे, लेकिन उसके वाक्यों का साँचा सामी भारतीय आर्य नहीं, इसी लिए हिन्दुस्तानी की एक किताब होते हुए हिन्दी मेरे लेखकों ने उसे उर्दू की एक साधारण पोथी माना है। हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इंशा ने जिस ग़लत रास्ते को अपनाया, उसी को उनके पीछे के लेखकों ने और चौड़ा करने में कोई कोर-कसर उठा न रक्खी। लफ़्ज़ों के भेद ने हिन्दी-उर्दू के मामले में उतना ज़्यादा भेद नहीं डाला, जितना अन्तर पैदा हो गया दोनों ज़बानों की बनावट के उसूलों में भेद के कारण।

ऊपर की बहस दो बातों की तरफ़ पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करती है। हिन्दी-उर्दू में एक तो झगड़ा इस बात का है कि अरबी या फ़ारसी के लफ़्ज़ कसरत के साथ प्रयुक्त किये जायँ, या संस्कृत के तत्सम या तद्भव शब्द। किसी हिन्दीवाले ने अरबी और फ़ारसी के रायज शब्दों के निकालने की माँग नहीं पेश की। अगर कोई इस तरह की माँग पेश करे, तो उसका ऐसा करना मेरी राय में नामुनासिब होगा। उर्दूवाले अगर चाहते हैं कि उनकी ज़बान का इस सूबे में प्रचार हो और ज़्यादातर लोग उर्दू की किताबें ख़रीदें और पढ़ें, तो उनके लिए यह ग़ौर करने की बात है कि क्या विदेशी शब्दों के स्थानों में ज़्यादातर संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का इस्तेमाल करना मुनासिब होगा? अगर अपनी इस ग़लती को वे न मानेंगे, और परदेशी लफ़्ज़ों के सामने वे अपने लफ़्ज़ों का अनादर करते रहेंगे, तो इससे उन्हीं को नुक़सान पहुँचेगा। हमें दुःख होगा, अगर तरक़्क़ी में उर्दू की इस ज़िद की वजह से नुक़सान पहुँचा या बाधा पड़ी। लेकिन इसका फ़ैसला हम उर्दू के हामियों ही पर छोड़ते हैं। जिन शब्दों को वे आज संस्कृत के कहकर—मुश्किल और ग़ैरमानूस लफ़्ज़ क़रार देकर—शोरग़ुल मचाते और चाहते हैं कि उनका इस्तेमाल एकदम बन्द हो जाय, उन शब्दों की बाबत उन्हें यह सोचना चाहिए कि हिन्दीवाले इन्हीं "कठिन" शब्दों की बदौलत अपनी किताबों को हज़ारों की तादाद में बेंच लेते हैं। हिन्दी-नवीस आज आज़ादी के साथ इन कठिन शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, लेकिन हिन्दी अख़बारों या किताबों के पढ़नेवाले इन्हें न ग़ैरमानूस समझते और न उनकी वजह से ऐसे अख़बारों या किताबों के ख़रीदने से रुकते हैं। उर्दूवालों ने अपनी संकीर्णता के कारण उर्दू की स्वाभाविक उन्नति को मार दिया। उसका जो नैसर्गिक विकास था, वह इनकी साहित्यिक संकीर्णता और अदूरदर्शिता के कारण संकुचित हो गया। उसके फैलाव का दायरा इन नादान दोस्तों की नादानी की वजह से, इतना महदूद हो गया कि उसे हिलने-डुलने की भी जगह नहीं रह गई। तंग चारजामे में कसकर उन्होंने उसे अपंग और अपाहिज बना दिया। अगर हिन्दुस्तान की दूसरी प्रांतिक भाषाओं के मुक़ाबले में उन्हें अपनी ज़बान को बराबरी का दर्जा दिलाना मंज़ूर है, तो उन्हें संजीदगी से अपनी इस मौजूदा नीति पर ग़ौर करना चाहिए। उर्दू पिछड़ी—अरबी और फ़ारसी-शब्दों पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देने की वजह से; हिन्दी बढ़ी—इस पाबन्दी से छुटकारा पाने की वजह से। हमें अरबी और फ़ारसी लफ़्ज़ों से कोई विद्वेष नहीं, लेकिन सच तो यह है कि उर्दू तभी ज़िन्दा रह सकती है, पनप सकती है, बढ़ सकती है, और तरक़्क़ी कर सकती है, जब वह अपने को इस मुल्क की ज़बान बनाकर लोगों के सामने आयेगी। जब तक वह अपने को सामी ज़बानों की असली बेटी समझेगी और संस्कृत के साथ सौतेलेपन का बर्ताव करने पर उतारू रहेगी, तब तक उसके लिए न तो इस मुल्क में भविष्य है, और न वह दूसरी प्रान्तीय ज़बानों के मुक़ा-

विले में ज़्यादा दिन तक ठहर सकती है। जिस घड़ी सरकारी इम्दाद, जो उसे इस समय मिल रही है, हट जायगी, उसी वक़्त उसका ख़ात्मा हो जायगा। हिन्दी अगर बढ़ी, तो इसलिए नहीं कि सरकार ने उसकी हिमायत की। उर्दू अगर घटी, तो इसलिए नहीं कि जो सरकारी इम्दाद उसे पहले मिलती थी, उसका मिलना बन्द हो गया। सन् १९३६ तक तो कांग्रेस-गवर्नमेंट ७ या ८ सूबों में राज्य नहीं करती थी। तब तो नवाब सर मुहम्मद यूसुफ़ का इस सूबे में राज्य था। इन्हीं के भाई-बन्धु दूसरे सूबों में भी हुकूमत करते थे, फिर क्या वजह है कि इस सबके होते हुए भी हिन्दी पिछले ४७ साल में तो इतनी आगे बढ़ गई और उर्दू सरकारी इम्दाद के पाते हुए भी इतनी पिछड़ गई? वजह सिर्फ़ यह है कि उर्दू-परस्तों ने उर्दू को इस मुल्क की ज़बान न मानकर अरबी और फ़ारसी के मेल-जोल से एक नई भाषा ईजाद करने की कोशिश की। उनकी यह कोशिश ग़लत थी, और ग़लत साबित भी हुई।

ऊपर जो कहा गया है, उसी से चौथे प्रश्न का जवाब पाठकों को मिल जायगा। चौथा प्रश्न था कि नये शब्द कहाँ से लिये जायँ—अरबी, फ़ारसी या संस्कृत से? इस समय मुल्कों की सीमायें मिट-सी गई हैं। ऐसा मालूम होता है कि संसार थोड़े ही दिनों में हमारा पड़ोसी बन जायगा। चारों ओर से इस समय हिन्दुस्तान पर नये नये विचारों का प्रचंड धावा हो रहा है। नई धारणायें, नये सम्बन्धों और नये अनुभवों को व्यक्त करने के लिए हमारे लिए यह ज़रूरी हो गया है कि हम उनके लिए या तो योरप की ज़बान के शब्दों को अपनावें या अपने यहाँ के मौजूदा शब्दों से इन नये ख़्यालात को प्रकट करने के लिए नये शब्द गढ़ें। शब्द गढ़ने के लिए अगर हमें अरबी और फ़ारसी की शरण लेना मंज़ूर है, तो कोई वजह नहीं कि अरबी और फ़ारसी के बजाय हम योरपीय ज़बान के लफ़्ज़ों को क्यों न ले लें; क्योंकि दोनों ही तरह के शब्द हमारे लिए एक से परदेशी हैं। ऐसी पुकार होते हुए कोई वजह नहीं मालूम होती कि हम क्यों संस्कृत-शब्दों को छोड़कर अरबी और फ़ारसी से नये शब्द गढ़ें। बंगाली, आसामी, उड़िया, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू और राजस्थानी में समान पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं। अगर हम तंग-ख़्याली छोड़कर तास्सुब से काम लें जो संस्कृत शब्दों से बने हैं। न लें, तो कोई वजह नहीं मालूम होती कि उर्दू के बजाय हम योरपीय लफ़्ज़ों को क्यों न ले लें। दोनों ही तरह के शब्द एक-से परदेशी हैं। कोई वजह नहीं मालूम होती कि हम क्यों संस्कृत-शब्दों को अरबी और फ़ारसी से गढ़ें। पारिभाषिक शब्दों की संख्या बहुत है, जिनके लिए हमें नये शब्द न गढ़ने पड़ेंगे, और जिनके लिए हमारी ज़बान में आसानी से शब्द मिल सकते हैं। यह काम आज भी उसी तरह से हो रहा है। बंगाली, आसामी, उड़िया, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू और राजस्थानी में एक-से पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग हो रहे हैं। अगर हम तंगख़याली छोड़कर तास्सुब से काम न लें, तो कोई वजह नहीं मालूम होती कि उर्दू भी हिन्दुस्तान की अन्य प्रांतिक भाषाओं की तरह उसके पारिभाषिक शब्दों को क्यों न सीखें। लेकिन अगर हमारे उर्दूपरस्त दोस्त उन पारिभाषिक शब्दों को नहीं अपनाना चाहते, जिन्हें हिन्दुस्तान की दूसरी प्रांतिक ज़बानें अपनाती हैं, या अपना लिया है, तो उन्हें आज़ादी है। अगर वे इस्तलाहात के लफ़्ज़ों को अरबी या फ़ारसी से लेंगे, तो उन्हें इस ख़तरे का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए कि उनकी ज़बान इस मुल्क की ज़बान न रह सकेगी। दूरंदेशी का तक़ाज़ा है कि वे इस मामले में हठधर्मी न करें। मुझे अगर नये लफ़्ज़ बनाने में हिन्दुस्तान में रायज ज़बानों से इम्दाद नहीं मिलेगी, तो मैं निस्संकोच अरबी और फ़ारसी के शब्दों को अपना लूँगा। लेकिन जब तक मुझे हिन्दुस्तान ही में नये लफ़्ज़ मिल सकते हैं, तब तक मेरे लिए यह नामुनासिब होगा कि हिन्दी को छोड़कर बाहरी लफ़्ज़ अमल में लाऊँ। लेकिन यह तो अपनी-अपनी नीति और सहूलियत पर निर्भर है कि कौन किस ज़बान के लफ़्ज़ों को ज़्यादा पसंद करता है। हमें उनसे कोई शिकायत नहीं, जिन्हें उर्दू पसन्द है। लेकिन अगर हम अपनी बोली से प्रीति करना चाहते हैं, तो उन्हें हमसे झगड़ने की ज़रूरत नहीं। उन्हें भी आज़ादी होनी चाहिए, और हमें भी। फ़ैसला जनता के हाथों में है। रस्म और रिवाज आगे चलकर इस बात को तय कर देंगी कि कौन शब्द चालू रहेगा और किसका अंत हो जायगा।

पाँचवें सवाल का जवाब मैं चन्द शब्दों में दे देना

चाहता हूँ। मेरी राय में इस सूबे की गवर्नमेंट को साफ़ लफ़्ज़ों में यह एलान देना चाहिए कि दोनों लिपियाँ सूबे की सरकारी लिपियाँ हैं। हम उर्दू को सरकारी दफ़्तरों से निकालने के पक्षपाती नहीं। हम पक्षपाती हो भी कैसे सकते हैं, जब हमने खुले दिल से यह स्वीकार कर लिया है कि इस सूबे में दो ज़बानें हैं। सरकार को यह भी मान लेना चाहिए कि जैसे दोनों लिपियाँ इस सूबे की सरकारी लिपियाँ हैं, उसी तरह दोनों ज़बानें भी सरकारी ज़बानें हैं, और सरकारी मुलाज़िमों को पूर्ण आज़ादी है कि वह जिस ज़बान में चाहें, काम कर सकते हैं। दोनों को एकसाँ रुतबा मिलना चाहिए। किसी को नीचा दिखाना सरकार के लिए मुनासिब नहीं। किसी के साथ पक्षपात करना भी बेजा है। लेकिन जनता को भी पूरी आज़ादी होनी चाहिए कि वह जिस ज़बान और लिपि में चाहें, उसमें सरकार के पास अर्ज़ियाँ दे सके, या चिट्ठी-पत्री भेज सके। मद्रास में ४ ज़बानें और ४ लिपियाँ सरकारी ज़बानें और लिपियाँ हैं। बंबई प्रांत में ३ ज़बानें और लिपियाँ सरकारी लिपियाँ और ज़बानें हैं। साउथ आफ़्रिका में ये सरकारी मानी जाती हैं। जब और जगहों में कई भाषायें और लिपियाँ चलती हैं, तो कोई वजह नहीं मालूम होती कि युक्तप्रांत में दो ज़बानें और दो लिपियाँ जो निश्चित हैं, क्यों न सरकारी ज़बानें और लिपियाँ मानी जायँ? अगर गवर्नमेंट इस तरह का एलान कर दे, तो हिन्दी-उर्दू का जो झगड़ा इस वक़्त चल रहा है, वह आप-से-आप ख़त्म हो जायगा। हमारे मुसलमान दोस्तों के दिल में यह चोर है कि हिन्दू उर्दू को इस सूबे के सरकारी दफ़्तरों और अदालतों से निकालने की कोशिश में लगे हैं। अगर उन्हें इस बात का इतमीनान हो जाय कि उर्दू के मौजूदा हक़ूक़ क़ायम रहेंगे, तो उन्हें इस बात से कोई एतराज़ नहीं है कि अगर हिन्दी को भी वही सहूलियत दे दी जाय, जो इस वक़्त इस सूबे में उर्दू को हासिल है। इस तरह से हिन्दू-मुसलमान, दोनों का समझौता आसानी से हो सकता है। मैंने जो कुछ ऊपर लिखा है, वह तो व्यापक सिद्धांतों को निर्दिष्ट करता है। इन सिद्धांतों को असली जामा पहनाने के लिए सरकार को एक कमेटी मुक़र्रर करना चाहिए। वह कमेटी गवर्नमेंट से सिफ़ारिश करेगी कि किस तरह से ऊपर कहे गये उसूलों को हम अमल में ला सकते हैं। यह सही है कि इसकी वजह से सरकारी दफ़्तरों का ख़र्च बढ़ेगा, लेकिन जनता की सहूलियत को मद्देनज़र रखने में अगर सरकारी ख़र्च बढ़े, तो एतराज़ की बात नहीं। लेजिस्लेटिव असेम्बलियों और कौंसलों की कार्यवाही जो हिन्दुस्तानी में होती है, वह हिन्दी-उर्दू दोनों में छापी जाती है। इस वजह से छपाई का ख़र्च बढ़ तो गया, लेकिन जनता की सहूलियत के लिहाज़ से ऐसा करना मुनासिब समझा गया और इसका नतीजा यह हुआ कि हिन्दू-मुसलमानों को कोई शिकायत बाक़ी नहीं रही। अगर ऐसा न किया जाता, तो दोनों की शिकायतें बनी रहतीं। रसीदें उर्दू में शाया हैं, तो कोई वजह नहीं कि वे हिन्दी में क्यों न प्रकाशित की जायँ। सम्मन दोनों लिपियों और दोनों भाषाओं में लिखे जाने चाहिए। नहरों की आबपाशी की रसीदें कोई वजह नहीं कि एक लिपि ही में क्यों दी जायँ। और इसकी कोई माक़ूल वजह नहीं मालूम होती है कि पुलिस की जो रिपोर्टें लिखी जाती हैं, वे सब उर्दू ही में लिखी जायँ। अगर उसूल मान लिया जाय, तो इकसाँ उसूल अमल में लाना कोई दिक़्क़त-तलब बात न होगी।

अब सातवाँ सवाल सिर्फ़ बाक़ी बचता है, तालीम किस लिपि और किस ज़बान में बच्चों को दी जाय। आज-कल कुछ दोस्त इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि १०वीं दर्जा तक हिन्दी-उर्दू में पढ़ाई अनिवार्य कर दी जाय। सन १९२८ में मैंने यही बात बोर्ड ऑफ़ वर्नाक्यूलर फ़ाइनल के जलसे में उठाई थी। और, मेरा प्रस्ताव भी बहुमत से मंज़ूर हो गया था। लेकिन उस वक़्त की गवर्नमेंट ने उसे मंज़ूर नहीं किया। मैं यह मानता हूँ कि इस प्रस्ताव के समर्थन में जो दलीलें दी जाती हैं, लेकिन जितना ही मैंने इस मसले पर ग़ौर किया है, उतना ही ज़्यादा एतराज़ात मेरे सामने आये हैं। और बातें जाने दीजिए, सबसे बड़ा एतराज़ यह है कि लड़कों की तालीम ज़्यादातर शाब्दिक है। उसे कार्य-शील बनाने की सिफ़ारिश कौंसिल ने की है। देहाती बच्चों को पढ़ने के लिए यों ही वक़्त नहीं अगर वे एक लिपि, एक ज़बान ही सीख लें, तो बहुत बड़ी बात है। दो लिपियों और दो ज़बानों का सीखना उनके लिए मुनासिब न होगा। पहले तो पढ़ने और सीखने का उनके पास वक़्त नहीं। इतना ही नहीं,

दो लिपियों और दो ज़बानों के सीखने पर उनके मस्तिष्क पर ज़रूरत से ज़्यादा बोझा पड़ेगा। अगर सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में दो ज़बानें हो जाती हैं, तो कोई वजह नहीं कि हमारे सूबे के ग़रीब बच्चों को यह ज़हमत उठानी पड़े। अपने काम के लिए वे दो लिपियों और ज़बानों में जिसको वे जानते हों, उसे इस्तेमाल कर सकते हैं। कहा यह जाता है कि जब तक दोनों लिपियों और ज़बानों में स्कूलों में इन्तज़ाम न हो जायगा, तब तक हिन्दू-मुसलमानों का मेल नहीं हो सकता। ज़बान और लिपि की मोटी दीवार दोनों के बीच में खड़ी होकर भेद-भाव बढ़ा देगी। अगर हमारे सूबे के सब बच्चे हिन्दी-उर्दू दोनों पढ़ लें, अर्थात् हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के विचारों से वाक़िफ़ हो जायँ, तो सब तालिबइल्मों के ऊपर दोनों ज़बान का असर एकसाँ हो और इस वजह से एकता का भाव घटेगा। लेकिन मैं पूछता हूँ कि क्या कोई और आसान तरीक़ा हम नहीं निकाल सकते। हिन्दी के अख़बारों ने इस काम को बहुत ख़ूबी के साथ किया है। हिन्दी की बहुत-सी पत्र-पत्रिकायें अपने हर एक अंक में बड़े-बड़े शायरों की नज़्मों और उनके शब्दों को ज्यों-का-त्यों उद्धृत करती हैं, और उनकी शायरियों में जो अरबी और फ़ारसी के कठिन शब्द आते हैं, उनके पर्यायवाची शब्दों को फ़ुटनोट में दे देती हैं। अकबर, ज़ौक़, मीर, चकबस्त और ग़ालिब के दीवानों की हिन्दी-अक्षरों में कई प्रतियाँ निकल चुकी हैं। हज़ारों की तादाद में इन किताबों की बिक्री भी हुई है। कविता-कौमुदी आदि की तरह उर्दू शायरों की नज़्मों के बड़े सुन्दर संग्रह निकल चुके हैं। इन किताबों की बदौलत उर्दू शायरों के ख़यालात का बड़ी आसानी से प्रचार हुआ है, और हो रहा है। मैंने ख़ुद जब भारत का संपादक था, तब अपने उर्दू जाननेवाले दोस्तों के ऐसे लेख छापे, जो विशुद्ध उर्दू-ज़बान में लिखे गये थे। मैंने केवल लिपि बदलकर उन्हें ज्यों-का-त्यों प्रकाशित किया। क्योंकि मेरी यह नीति थी कि भारत के पाठक दोनों ही ज़बान से वाक़िफ़ हो जायँ। क्या उर्दू-अख़बार-नवीसों ने हिन्दी शायरों या लेखकों के नज़्मों या लेखों को इसी तरह से अपने अख़बारों में शाया करने की नियत फ़रमाई है? तास्सुब उनमें है या हममें? हम एक ज़बान बनाने की सच्ची कोशिश में लगे हुए हैं या वे? दो लिपियाँ जानने की ज़रूरत नहीं, ज़रूरत है तंगदिली को छोड़ने की, तास्सुब से मुँह मोड़ने की और ज़रूरत है इस बात को दिल खोलकर तस्लीम करने की कि इस सूबे में आज दिन दो मुख़्तलिफ़ ज़बानें हैं। इस बात को भी हमें तस्लीम करना पड़ेगा कि इस सूबे में एक ज़बान के बोलनेवालों की तादाद आज दिन भी ज़्यादा है। और इस ज़बान के पढ़नेवालों की तादाद जहाँ पहले बहुत थोड़ी थी, वहाँ अब दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है। ऐसी हालत में सब बच्चों को दोनों ज़बानें और दोनों लिपियाँ अलग-अलग सिखाने के लिए मजबूर करना ग़ैर-मुनासिब सिद्ध होगा। हाँ, सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में जो मुलाज़िम रक्खे जायँ, उनके लिए दोनों ज़बानों और दोनों लिपियों का जानना निहायत ज़रूरी है। इस तरह का सरकारी हुक्म बरसों-पहले निकल चुका है। लेकिन अभी तक उस पर अमल नहीं किया गया। आज तक किसी उर्दू-परस्त ने इस बात की शिकायत भी नहीं की। तो जहाँ मैं इस बात का हामी हूँ कि सरकारी दफ़्तरों और अदालतों तथा बोर्डों के दफ़्तरों के मुलाज़िमों के लिए दोनों लिपियों और दोनों ज़बानों को जानना लाज़िमी क़रार दिया जाय, वहाँ मैं दोनों ज़बानों और लिपियों को लाज़िमी बनाने का विरोधी हूँ। अपनी ख़ुशी से जो बच्चा चाहे, दोनों लिपियाँ सीखे या दोनों ज़बानें पढ़े, और ऐसा करने के लिए उसको हर तरह की सहूलियत पहुँचाना हमारा फ़र्ज़ होना चाहिए। लेकिन दोनों लिपियाँ सीखने के लिए किसी को हमें जबरन मजबूर नहीं करना चाहिए। मुल्क की बदक़िस्मती से, हमारे बच्चों के लिए सूबे की ज़बान के अलावा, अँगरेज़ी ज़बान भी सीखना लाज़िमी फ़र्ज़ है। एक तीसरी ज़बान और लिपि के सीखने के लिए उन्हें मजबूर करना उनके साथ ज़ुल्म होगा। दो ज़बानें सीखने का बोझ इन बच्चों को उठाना पड़ेगा, वही क्या कम है। उर्दू का हठात् प्रचार बढ़ाने के लिए अपने बच्चों को क़ुर्बान न कर देना चाहिए। उर्दू की हैसियत क़ायम रहेगी, अगर उसमें उसी तरह की बात का ख़याल रक्खा जाय जिसका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है, इससे अधिक करना बच्चों के साथ ज़ुल्म होगा। इससे कम करना भी हमारे सार्वजनिक जीवन में अड़ंगा लगाना होगा।

भारतीय महिला-समाज

लेखिका, कुमारी चन्दन पारीख एम० ए०

कुमारी चन्दन पारीख एम० ए० एक योग्य और विदुषी महिला हैं। आप दो वर्ष तक अमेरिका में समाज-शास्त्र का अध्ययन करके हाल ही भारत लौटी हैं और कुछ दिनों से महात्मा गांधी जी की आज्ञा से कन्या-गुरुकुल में हिन्दी सीखने के लिए आई हैं। आपका विचार हिन्दी सीख कर भारतीय महिला-समाज में कार्य करने का है। आशा है पाठिकायें चन्दन बहिन के विचारों को ध्यान से पढ़ेंगी।

जब हम अपनी तुलना दूसरे देश के मनुष्यों के साथ करते हैं तब हमको पता लगता है कि हममें कितने दोष हैं और कितने गुण। कूप-मंडूक स्वयं को सर्वश्रेष्ठ मानता है, पर जब वह अपना कुआँ छोड़कर समुद्र में जाता है तब दूसरे जलचर प्राणियों को देखकर उसे वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक पता लगता है। दूसरे के दोषों का ढोल पीट कर और अपने दोषों की उपेक्षा करके हम कभी प्रगति नहीं कर सकते, इसी दृष्टिकोण से यदि मैं अपनी भारतीय बहनों के कुछ साधारण अवगुणों का ज़िक्र यहाँ करूँ तो अनुचित न होगा।

भारतीय स्त्रियों में सबसे अधिक निन्दनीय कोई दोष है तो वह है दूसरे की प्राइवेट बात जानने की गंदी इच्छा। दो स्त्रियाँ मिलती हैं तो दो ही तीन दिन में इतनी दोस्त हो जाती हैं कि आपस में सारे संसार भर की दूसरी सब बातें छोड़कर अपनी निजी बातें करना शुरू कर देती हैं। यदि एक स्त्री संकोचवश अपनी बात नहीं करती तो दूसरी अपना सारा जीवन खोल कर उसका विश्वास संपादन करती हैं और उससे भी अपनी निजी बातें करने के लिए आग्रह करती हैं। फिर दूसरी के निजी रहस्यों को जानकर

[कुमारी शान्ती देवी टंडन, इस वर्ष प्रयाग-महिला विद्यापीठ की 'सरस्वती' परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुई हैं। आपकी अवस्था अभी केवल १७ वर्ष की है।]

[श्रीमती स्टेला बानजोमन पहली महिला हैं जो कलकत्ता-विश्वविद्यालय की एम० एस-सी० काम० में सर्व-प्रथम उत्तीर्ण हुई हैं।]

तीन दिन के परिचय के बाद वे कमरे में घुसकर दूसरे की किताबें और नोटबुक खोलकर देखने का प्रयत्न करती हैं कि उनमें क्या लिखा है। मेज़ पर यदि कोई ख़त मिल जाय तो उसे भी बिना पूछे खोलकर पढ़ना शुरू कर देती हैं। यदि ख़त की मालकिन सौम्य शब्दों में अपना विरोध प्रकट करती हैं तो वे कहती हैं कि कब तक आप ऐसा मान करोगी, कि हम और आप अलग-अलग हैं? हम तो मानती हैं कि आप हमारी एक स्वजन जैसी हैं, लेकिन आप हमें ग़ैर ही समझती हैं। और इसमें लज्जा की बात भी कौनसी है? मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं किसी से कुछ नहीं कहूँगी। वास्तव में ऐसा होता है कि ऐसी दलील के सामने दूसरी स्त्री का कुछ वश नहीं चलता, और वह भी अपने हृदय की बात किसी न किसी से कहना चाहती है ही, इसलिए पहली स्त्री से सब कुछ कह देती है। पर यदि वह अपनी बात कहना नहीं चाहती तो सब आत्मिक और मानसिक बल इकट्ठा करके कह देती है कि "नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, मैं अपना ख़त आपको पढ़ाना नहीं चाहती।" आश्चर्य की बात तो यह है कि दूसरी स्त्री की दृढ़ता और आत्ममान देखकर पहली स्त्री

[कुमारी सरलादेवी पाराशर—आप विहार-व्यवस्थापिका सभा की रिपोर्टर नियुक्त हुई हैं। इस पद पर नियुक्त होने वाली आप सर्वप्रथम महिला हैं।]

उन्हें हृदय में रखना कठिन हो जाता है। भारतीय स्त्रियों का हृदय इतना संकुचित है कि उसमें अपनी भी निजी बात नहीं रह सकती, फिर दूसरों की तो रह ही कैसे सकती है। वह स्त्री जब किसी दूसरी स्त्री के साथ परिचय करती है तब उससे पहली स्त्री का सारा भेद बतला देती है। पर मज़ा यह है कि उससे यह भी कहती हैं कि बहन, यह बात तुम किसी और को न बतलाना।

दूसरों के लिए भी अपना जीवन प्राइवेट हो सकता है, भारतीय स्त्रियाँ ऐसा कभी नहीं समझ सकतीं। दो ही

को न तो लज्जा आती है और न वह मन में उसकी प्रशंसा करती है; फल यह होता है कि वे परस्पर घृणा करने लगती हैं और हमेशा के लिए दोस्ती टूट जाती है।

[आधुनिक तुर्की की लड़कियाँ खेल-कूद और व्यायाम में बहुत दिलचस्पी रखती हैं।]

जब दो चार स्त्रियाँ साथ मिलकर बातचीत करती हैं तब उनकी बात का एक ही विषय रहता है..."लड़की क्यों अपनी जाति छोड़कर दूसरी जाति में शादी करती है?......... बहू जी को क्यों अब तक बच्चा पैदा नहीं हुआ है?......लड़का क्यों अब तक कुँवारा है? इन बातों और इस प्रकार की अन्य बातों पर स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से ऐसी चर्चा करती हैं कि महात्मा गांधी जी भी राजनैतिक हलचल के बारे में इतने दृष्टिकोणों से नहीं सोच सकते हैं। शादी करना या नहीं, करना तो कहाँ करना, और शादी के बाद बच्चा पैदा करना कि नहीं ये सब निजी बातें हैं। पर न जाने, क्यों स्त्रियाँ अपनी प्राइवेट बात की चर्चा करके संतुष्ट नहीं होती हैं, वे तो दूसरों के जीवन में भी चंचुप्रवेश करना अपना अधिकार समझती हैं।

[बालिका-विद्यालय-कॉलेज, कानपुर की छात्राओं को हवाई हमले से रक्षा करने की शिक्षा दी जा रही है।]

नई पुस्तकें

१-३—सैय्यद क़ासिमअली 'मीर' साहित्यालंकार नरसिंहपुर, सी० पी०, द्वारा प्रेषित तीन पुस्तकें—

(१) हैदराबाद में हिन्दुओं के सुभीते,

(२) हैदराबाद का सूक्ष्म परिचय,

(३) वन्दे मातरम् का रहस्य।

सय्यद साहब हिन्दी के सुपरिचित लेखक हैं। खद्दर पहनते, गान्धी टोपी लगाते और अपने को गान्धी जी का पक्का अनुयायी कहते हैं।

इस साधु-वेश में का कैसा अन्तरंग है, इसका पता आपकी इन पुस्तकों से लगता है। ऐसा ज्ञात होता है कि कांग्रेस और हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों को भड़काने के लिए आपको निज़ाम की सरकार या मुस्लिम लीग की ओर से कुछ प्रेरणा मिलती है अन्यथा आप अपनी बुद्धि का ऐसा वीभत्स प्रयोग कदापि न करते। पुस्तक नंबर तीन में आप लिखते हैं—"पं० जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, आदि नेताओं तथा सरस्वती, प्रताप, सैनिक आदि हिन्दी-पत्रों ने 'वन्दे मातरम्' का खुला विरोध किया है।" क्या इससे भी बड़ा झूठ कोई हो सकता है? क्या मीर साहब अपने कथन के समर्थन में उक्त पत्र-पत्रिकाओं के लेखों का हवाला भी दे सकते हैं?

हम कांग्रेस-सरकार का ध्यान इस ज़हरीले साहित्य की ओर विशेष रूप से आकृष्ट करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि साम्प्रदायिकता का विष फैलानेवाली ऐसी पुस्तकें युक्त-प्रान्त और मध्य-प्रान्त के प्रेसों में धड़ाधड़ छप कर हज़ारों की संख्या में बाँटी जा रही हैं और सरकार ऐसे लेखकों और प्रकाशकों का कुछ भी नियन्त्रण नहीं करती। बिना प्रेसों का नियंत्रण किये साम्प्रदायिक दंगों को रोकने की आशा करना व्यर्थ है।

४—प्रताप-विजय—लेखक, श्रीयुत ईशदत्त शास्त्री 'श्रीशः' हैं। प्रकाशक—श्रीमाधवप्रसाद मिश्र, प्रभुदत्त वेद-विद्यालय, ११ रानी भवानी का गली, काशी हैं। छपाई-सफ़ाई साधारण, पृष्ठ-संख्या ६९ और मूल्य ।।) है।

यह संस्कृत वृत्तों में लिखी हुई एक छोटी सी काव्य-पुस्तक है। लेखक ने इसे 'खण्डकाव्य' कहा है, पर खेद है कि उस कसौटी पर यह पूरी नहीं उतरती। ६९ पृष्ठ की पुस्तक में परिचय-पत्रों के लिए १८ पृष्ठ निकाल देना कहाँ तक उचित है? हाँ उसके बाद १२ पृष्ठ के स्तव भी दिये गये हैं।

"उदग्रवेगोच्छलदच्छकेशरः।

चचाल युद्धेऽप्यचलां प्रचालयन्" ॥ आदि पदों में 'अपि' का प्रयोग कवि के शब्ददारिद्र्य और अनुचित अनुप्रास प्रेम का परिचायक है।

५—ऐतिहासिक स्त्रियाँ—सम्पादिका, श्रीमती प्रेमलता देवी हैं। प्रकाशक, श्रीयुत मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया दिगम्बर जैन-पुस्तकालय, सूरत हैं। छपाई भद्दी, पृष्ठ-संख्या ८७ और मूल्य ।।) है।

इसमें जैन-धर्मग्रन्थों के आधार पर भारत की ८ प्राचीन सतियों की जीवनियाँ लिखी गई हैं। पुस्तक जैन महिलाओं के लिए लिखी गई है क्योंकि इसमें दी हुई कथायें हिन्दू-समाज में परम्परा से प्रचलित आख्यायिकाओं से सामञ्जस्य नहीं रखतीं। 'सीता' जी की कथा भी कुछ अजीब-सी लगती है और नामों को छोड़कर शेष बातों में वह रामायण में दी हुई सीता की कथा से बिलकुल मेल नहीं खाती।

६—चित्रसेन पद्मावतीचरित्र—लेखक, पंडित के० भुजबली शास्त्री हैं। प्रकाशक, श्रीयुत मूलचन्द किसनदास कापड़िया, दिगम्बर जैन-पुस्तकालय, सूरत हैं। छपाई-सफ़ाई ख़राब, पृष्ठ-संख्या ८२ और मूल्य ।=) है।

इसमें चित्रसेन व पद्मावती की कथा जैन-ग्रन्थों के आधार पर दी हुई है जो जायसी के पद्मावत की कथा से मेल नहीं खाती।

७—प्रेम और क्रान्ति—संग्रहकार, श्रीयुत विजयवर्मा और प्रकाशक, प्रेमसाहित्य कार्यालय, इलाहाबाद हैं। छपाई-सफ़ाई उत्कृष्ट, साइज़ बड़ा, पृष्ठ-संख्या ५८ और मूल्य ।) है।

इसमें कुल दस कहानियाँ हैं। इनमें से ५ तो श्रीयुत वर्मा जी की लिखी हुई हैं, जो 'सरस्वती' व 'सहेली' में प्रकाशित हो चुकी हैं, शेष ५ कहानियाँ श्रीरामप्रसाद विद्यार्थी, श्रीप्रयागदत्त शर्मा, श्रीओंकारनाथ व श्री विश्वम्भर नाथ सेठ की लिखी हुई हैं। कहानियों में लोकसेवा और राष्ट्रीयता के भाव प्रधान हैं। पुस्तक सुन्दर और पठनीय है।

८—बेनीमाधवबावनी—लेखक, श्रीयुत कृष्णशंकर शुक्ल 'कृष्ण' हैं। प्रकाशक, भारतीभवन बछरावाँ, बछरावाँ रायबरेली हैं। पृष्ठ-संख्या ८१ और मूल्य ।=) है। छपाई-सफ़ाई सधारण है।

ग़दर के दिनों में बैसवाड़े के शंकरगढ़ नामक स्थान में बेनीमाधव नामक एक बड़े वीर राजा हो गये हैं। आपने कई बार अँगरेज़ों से लोहा लिया था। प्रस्तुत पुस्तक में कवि ने इन्हीं नररत्न का वर्णन ओजपूर्ण छन्दों में किया है। पुस्तक वीररस की आदरणीय कृति है, नवयुवक होते हुए भी लेखक को इसमें अच्छी सफलता मिली है।

९—प्रेमोपहार—लेखक तथा प्रकाशक, श्रीयुत ख़ुशीराम शर्मा वाशिष्ठ, विशारद प्रेम-कुटीर, महम (रोहतक) हैं। पृष्ठ-संख्या ६० और मूल्य ।≶) है।

प्रस्तुत पुस्तक नव पत्नी को पाणिग्रहण के अवसर पर प्रेमोपहार है। लेखक ने मातृ-भाषा-मन्दिर में प्रवेश करने के लिए वास्तव में बड़ा शुभ दिन निश्चित किया; और इसके लिए मैं लेखक को बधाई देता हूँ।

कवितायें इस पुस्तक में सभी अच्छी हैं। विशेष कर 'मिलन-मन्दिर में', 'जागो', 'जीवन', 'मंगल-गीत' बहुत सुन्दर हैं।

१०—पत्र-पुष्प—(दूसरा संस्करण)—लेखक, श्रीयुत देवीसिंह चौमू हैं। प्रकाशक जयपुर प्रिंटिंग वर्क्स, जयपुर है। पृष्ठ-संख्या ६४ है। मूल्य अनिदिष्ट है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने भक्तों के लिए ईश्वर-वन्दना, विनय, भजन तथा पदों का संग्रह किया है। संकलन कई स्थानों से किया गया है। कबीर स्वामी, स्वामी रामतीर्थ, नानक, रहिमन इत्यादि अनेक भक्तों और कवियों की भक्तिपूर्ण और अनूठी रचनायें संगृहीत हैं और साथ ही साथ लेखक की अपनी रचनायें भी पर्याप्त मात्रा में हैं।

भक्तों के लिए पुस्तक बहुत ही उपादेय है। छपाई-सफ़ाई साधारण है।

११—शिक्षा-सुधार-नाटक—लेखक, श्रीयुत रघुवीर प्रसाद गुप्त "विशारद" सहायक अध्यापक, मिडिल स्कूल बड़ौदा, प्रान्त बाँदा हैं। प्रकाशक, बाबू बैजनाथप्रसाद बुक्सेलर, राजादरवाज़ा बनारस सिटी हैं। पृष्ठ-संख्या ५२ और मूल्य ।।) है।

यह पुस्तक प्रारम्भिक शिक्षा की उद्देश्य पूर्ति का सच्चा मार्ग प्रदर्शित करती है। पिछले कई वर्षों से प्राइमरी तथा मिडिल स्कूलों में आश्चर्यजनक सुधार और उन्नति हुई है। शिक्षा के साथ ही साथ तकली से सूत कातना, रस्सी बनाना, चटाई, टाट बुनने का कार्य तथा कसरत और गानों का मिलन, बालकों के भविष्य जीवन के लिए उपयुक्त बनाता है। इसी के प्रचार के लिए लेखक ने यह नाटक तैयार किया है।

लेखक इस नाटक के लिए उपयुक्त भी हैं क्योंकि वे बाँदा के एक मिडिल स्कूल में सहायक अध्यापक हैं और उन्हें इस विषय का अनुभव भी पर्याप्त है। प्रस्तुत पुस्तक मिडिल स्कूल के बालकों तथा अध्यापकों के लिए उपादेय है साथ ही शिक्षा-प्रसार में भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

१२—वस्तुपाठ-पद्यावली—लेखक, श्रीयुत चन्द्रभानु सिंह हैं। प्रकाशक, भारती प्रेस बलिया है। पृष्ठ-संख्या ८६ और मूल्य ।=) है।

इसमें लेखक ने बालकों के लिए पशु, पक्षियों तथा प्रचलित फल तथा वनस्पतियों पर कुछ पद्यों का संकलन किया है। साथ ही कुछ आधुनिक आवश्यक वस्तुओं पर भी सीधी-सादी रचनायें हैं, जैसे—रेलगाड़ी, मोटर, साइकिल, घड़ी, इत्यादि।

कवितायें बहुत ही सरल भाषा में सुबोध रूप से लिखी गई हैं जिसे बच्चे आसानी से समझ कर कंठाग्र कर लें। कहीं-कहीं अवसर मिलने पर लेखक ने शिक्षा भी दी है। जैसे साइकिल पर लिखते समय पद्यकार ने लिखा है—"हानि अधिक चढ़ने से होती—शक्ति फेफड़ों तक की खोती।"

इसी प्रकार लट्टू के पाठ में पृथ्वी की गति का इशारा दिया गया है—

"जैसे वह चक्कर दे घूमे,
वैसे पृथ्वी गति ले घूमे,
जिससे निश-दिन गर्मी-सर्दी,
आती जाती लाली जर्दी।"

पुस्तक बालकों के लिए बहुत ही उपयोगी है।

१३—सत्य-संगीत—लेखक, श्रीयुत दरबारीलाल सत्यभक्त, संस्थापक-सत्यसमाज हैं। प्रकाशक, सत्याश्रम वर्धा (सी० पी०) है; पृष्ठ-संख्या १२८ और मूल्य ।≡) है।

इस पुस्तक में दो प्रकार की कविताओं का संग्रह है। कुछ कवितायें तो ईश्वर, देवी, देव तथा संसार के धर्म-प्रचारक महापुरुषों के स्तवरूप हैं और कुछ कवितायें अन्य विषयों पर लिखी गई हैं। कवितायें साधारणतः अच्छी हैं।

छपाई-सफ़ाई अच्छी है; गेट अप भी सुन्दर है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी और उपादेय है।

श्रीकृष्ण एम० ए०।

१४-२५—सस्ता साहित्य-मंडल, दिल्ली को बारह पुस्तकें :—

(१) गीता-बोध—लेखक गांधी जी हैं। मूल्य डेढ़ आना है। पृष्ठ-संख्या १३६ है। इस छोटी सी पुस्तिका में गांधी जी के उन लेखों का संग्रह है जो उन्होंने 'यरवदा-मंदिर' से गीता की व्याख्या करते हुए साबरमती आश्रमवासियों के नाम लिखे थे।

लोकमान्य तिलक की भाँति गांधी जी का गीता का अध्ययन पांडित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता; परन्तु जैसा कि स्वयं उन्होंने लिखा है, गीता की अपूर्व शिक्षा को अपने ढंग से समझ कर उसी के अनुसार अपने जीवन को बनाने का सदा उनका प्रयत्न रहा है। इस प्रकार उनकी गीता की व्याख्या अपने ढंग की अनोखी तथा व्यावहारिक दृष्टि से अमूल्य है। उसमें गीता के ऐतिहासिक तत्त्व का अतिक्रमण करके गांधी जी ने उसके आध्यात्मिक तत्त्व को समझाने का प्रयत्न किया है। इस आध्यात्मिक तत्त्व का मूलाधार अनासक्ति योग है और उसकी प्रेरकशक्ति अहिंसा। गांधी जी की आध्यात्मिक विचार-धारा और जीवन-सिद्धान्त को समझने में यह पुस्तक बहुत सहायक हो सकती है। भाषा स्पष्ट, सरल और सुबोध है। मूल्य, उपयोगिता और महत्त्व को देखते हुए सन् ३२ के बाद ३८ ई० में इसका दूसरा संस्करण निकलना आश्चर्य की बात है।

(२) मंगल-प्रभात—लेखक गांधी जी और मूल्य डेढ़ आना है। पृष्ठ-संख्या १०५ है।

'यरवदा-मंदिर, से आश्रमवासियों के लिए प्रत्येक मंगलवार को प्रातःकाल गांधी जी आश्रम के व्रतों पर अपना भाष्य लिख भेजते थे। प्रस्तुत पुस्तिका उन्हीं प्रवचनों का संग्रह है।

योगदर्शन प्रतिपादित पाँच यमों के अतिरिक्त इन व्रतों में कुछ ऐसे भी यम हैं जिन्हें कट्टरपंथी धर्म से बहिष्कृत ही नहीं, धर्म के विरुद्ध तक समझते हैं। 'अस्पृश्यतानिवारण' उनकी दृष्टि में ऐसा ही एक विषय है। 'कायिक-परिश्रम', 'सर्वधर्मभाव', स्वदेशी आदि को कट्टरपंथी धार्मिक व्रत ही नहीं मान सकते। परन्तु यद्यपि गांधी जी के धर्म का आधार भारतीय आर्य धर्म ही है, फिर भी वह इतना व्यापक और महान् है कि उसकी सर्वमान्यता और मानव मात्र के लिए उसकी उपादेयता में किसी को तनिक भी संदेह नहीं हो सकता। वास्तव में भारतीय आर्य-धर्म का असली रूप यही है, जिसमें समस्त मतवादों का समन्वय और समाहार हो जाता है।

केवल राजनीति से दिलचस्पी रखनेवाले अक्सर गांधी जी की विचारधारा को समझने में भूल कर जाते हैं; और जिन लोगों का राजनीति से कोई संपर्क नहीं है उन्हें तो गांधी जी के विचारों को जानने का भी बहुत कम अवसर मिलता है। इस प्रकार गांधी जी का वास्तविक रूप अब तक बहुत कुछ ऐसी बातों के नीचे छिपा हुआ है, जो गांधी के आध्यात्मिक प्रयोगों के स्थूल प्रकाशन-मात्र हैं, उनकी मूल-प्रेरणा नहीं। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ऐसे नाम हैं, जिनसे बचपन से ही हिन्दू-मात्र का परिचय हो जाता है। परन्तु गांधी जी ने उन पर जो नवीन प्रकाश डाला है, उनकी जो निराली व्याख्या की है, वह हिन्दू-धर्म-शास्त्रों की निश्चित परिधि से पार हो जाती है। न केवल उसमें नवीन आध्यात्मिक चेतना है, बल्कि जीवन के व्यावहारिक पहलू की अनुभूति भी। गांधी जी के कथनानुसार 'सत्य' एक अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त है, यहाँ तक कि सत्य ही परमेश्वर है, और उसकी प्राप्ति के प्रयत्न की पहली सीढ़ी 'अहिंसा' है। जीवन के इस आदर्श—इस चरम अनुभूति की सिद्धि के लिए अन्य व्रतों के पालन की आवश्यकता है। ये व्रत यद्यपि सत्य और अहिंसा के अंतर्गत आ जाते हैं फिर भी साधक-व्यवहार-क्षेत्र में उन्हें अलग-अलग समझने की आवश्यकता है। इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दू-धर्म के विचारकों और मनीषियों में गांधी का एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दू-धर्म की लोकधर्मपरक नवीन व्याख्या के लिए धार्मिकों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। पुस्तक सबके काम की है।

(३) सर्वोदय—लेखक गांधी जी और मूल्य एक आना है। पृष्ठ-संख्या, ७५ है।

यह पुस्तिका अँगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक और विचारक 'रस्किन' के 'अन-टू दिस लास्ट' का रूपान्तर है। रस्किन और कार्लायल उन्नीसवीं सदी के उन विचारकों में हैं जिन्होंने भौतिक उद्योगवाद की तीव्र आलोचना की है। अतः उन्हें पूर्वीय मनीषियों के अधिक निकट समझा जाता है। इस अनुवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधी जी का आधुनिक समस्याओं का हल क्या है। आधुनिक विचारकों का उस हल से भारी मतभेद होना अनिवार्य है।

सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में प्रयोग होनेवाले 'गांधीवाद' को समझने में इस पुस्तक से सहायता मिलेगी। भाषा सरल और सुबोध है।

—व्रजेश्वर

(४) गाँवों की कहानी—लेखक, स्वर्गीय रामदास गौड़ हैं और मूल्य आठ आने है। पृष्ठ-संख्या २०० है।

ग्राम और किसान ये दोनों शब्द परस्पर संबंधित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने किसान की समस्याओं को दृष्टिकोण में रखते हुए गाँव का क्रमिक इतिहास दिया है। वैदिक युग से लेकर वर्तमान शताब्दी तक ग्रामों की दशा तथा रूप-रेखा में क्या-क्या परिवर्त्तन हुए और इन परिवर्त्तनों का किसान के रहन-सहन तथा सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका इस पुस्तक में प्रामाणिक, युक्ति युक्त तथा विशद विवेचन दिया गया है। गाँव की मौलिक समस्याओं तथा उसकी मूल प्रकृति को समझने की इच्छा रखनेवाले सामाजिक सुधारकों के लिए पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

(५) राजनीति-प्रवेशिका—मूललेखक, हेरल्ड लास्की और अनुवादक, श्रीयुत गोपीकृष्ण विजयवर्गीय हैं। पृष्ठ-संख्या १४३ और मूल्य ।।) है।

प्रोफ़ेसर हेरल्ड लास्की की 'इन्ट्रोडक्शन-टू-पालिटिक्स' का यह हिन्दी-अनुवाद है। इसकी भाषा कठिन तथा शैली गुम्फित है। अनुवाद मूलग्रन्थ से भी कठिन हो गया है, अतः यह पुस्तक साधारण पाठकों के काम की नहीं रही। कुछ नमूने देखिए—"बहुघटात्मक राज्यसंस्था में द्वितीय खंड की स्थिति के विषय में दो शब्द कहना आवश्यक है। इसमें (१) संघ के अंगभूत घटकों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए और (२) शासन-विधान-द्वारा किये हुए अधिकारों के विभाजन को आक्रमण से बचाना चाहिए..." आशा है कि प्रकाशक अगला संस्करण किसी सुयोग्य विद्वान् द्वारा सरल भाषा में कराके प्रकाशित करेंगे जिससे यह पुस्तक अधिक-से-अधिक जनता को राजनीति का सामान्य परिचय कराने के लिए उपयोगी हो सके।

(६) महाभारत के पात्र—लेखक श्रीयुत आचार्य नृसिंहप्रसाद कालिकाप्रसाद भट्ट और अनुवादक बृहस्पति उपाध्याय हैं। पृष्ठ-संख्या २०३ और मूल्य आठ आने है।

महाभारत की कथा को छोटी-छोटी रोचक कहानियों के रूप में लिखा गया है। भाषा सरल है। पुस्तक सर्व साधारण के मनोरंजन के लिए अच्छी है।

(७) अँगरेज़ी राज्य में हमारी आर्थिक दशा—यह डाक्टर जैबुल अहमद की लिखी 'सम फ़िनेन्शियल एस्पेक्ट्स आफ़ ब्रिटिश रूल इन इंडिया' का अनुवाद है। अनुवादक, श्रीयुत कृष्णचन्द्र विद्यालंकार हैं। पृष्ठ-संख्या १५४ और मूल्य आठ आने है।

पुस्तक दो खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति का इतिहास देते हुए यह दिखाया गया है कि ब्रिटेन ने किस प्रकार भारत के शोषण करने के लिए भारतीय व्यवसायों, उद्योगों और किसानों की संपन्नता के साधनों को नष्ट किया, तथा किस प्रकार उसे अपने आर्थिक साम्राज्यवाद की चक्

से निकलने के योग्य बनाया। अपने विषय के प्रतिपादन में लेखक ने आवश्यक आँकड़े भी दिये हैं। जो लोग मेजर वसु की अँगरेज़ी पुस्तक 'भारतीय उद्योग-धन्धों का विनाश' या उसके आधार पर लिखे गये श्रीयुत सुन्दरलालकृत 'भारत में अँग्रेज़ी राज्य' के तद्विषयक अध्यायों को नहीं पढ़ सकते, उन्हें इस पुस्तक में संक्षेप से अच्छी ऐतिहासिक सामग्री मिल जायगी।

दूसरे खंड में भारत की आर्थिक स्वतंत्रता के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। यह तो सभी को विदित है कि ब्रिटेन का भारत के साथ जो कुछ राजनीतिक हित है उसका प्रधान उद्देश्य है भारत की आर्थिक गुलामी को चिरकाल तक स्थायी रखना। भारत के नवीन शासन-विधान में भी इसी उद्देश्य से ब्रिटेन के हितों का संरक्षण विशेषरूप से दिया गया है। इस खंड में लेखक ने इसी विषय पर प्रकाश डाला है।

पुस्तक उपयोगी है और सर्वसाधारण के विशेष काम की है। अनुवाद की भाषा सुबोध और चलती हुई है।

(८) संतवाणी—संकलनकर्त्ता श्रीयुत वियोगीहरि हैं। पृष्ठ-संख्या १६५ और मूल्य आठ आने है।

इसमें कबीर, दादू, नानक, जायसी, मीरा, मलूकदास, दूलनदास, दरिया, धरनीदास आदि संतों की वाणी का संग्रह प्रतिपादित विषयों के आधार पर किया गया है। विषयों के शीर्षक हैं—'घट घट व्यापक राम', 'मन्दिर मस्जिद एक', 'सो ब्राह्मण जो ब्रह्म विचारै', 'निदंक बाबा बीर हमारा', 'कछु धौं छूत', 'कहाँ ते उपजी', आदि। प्रत्येक पद्य के सामने वाम-पृष्ठ पर संकलनकर्त्ता ने गद्य में अनुवाद भी दे दिया है।

गांधी-साहित्य का प्रचार और प्रसार करनेवाले 'सस्ता-साहित्य-मंडल' के लिए यह उचित ही है कि भारतीय इतिहास के आध्यात्मिक और सामाजिक क्रांतिकारी सन्तों की वाणी का प्रचार करे, क्योंकि गांधी जी भी अपने असली रूप में सन्त ही हैं। धार्मिक सहिष्णुता, उदारता, नम्रता आदि ऐसे विषय हैं जिनके प्रचार की आवश्यकता आज भी उतनी ही है, जितनी कि तीन-चार शताब्दियों पूर्व थी। परन्तु प्रश्न यह है कि जिन संतों की वाणी हिन्दू-समाज के अङ्ग पर चिकने घड़े के पानी की तरह बह गई, क्या इस समय उसका कोई प्रभाव पड़ सकेगा? सन्तों ने सामाजिक समस्याओं को धार्मिक ढंग से सुलझाने की कोशिश की थी। यदि उस समय भी वे असफल रहे थे, तो क्या हम आशा कर सकते हैं कि संतों की वाणी कुछ धर्मबुद्धि लोगों की प्रशंसा का विषय बनने के अतिरिक्त और कुछ उपकार कर सकेगी?

अनुवाद की भाषा में गद्य-काव्य का सौन्दर्य तथा संतों की वाणी से अधिक साहित्यिकता है। इसी कारण वह अक्सर संतों की वाणी को सर्वसाधारण के लिए अधिक स्पष्ट करने के बजाय कुछ कठिन ही कर देती है। उदाहरण के लिए—

प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा,

रैदास की इस पंक्ति का यह अनुवाद है—"प्रभो तुम तो श्याम-घन हो और सघन बन, और हम हैं तुम्हारे प्रेमोन्मत्त मयूर—"

(९) लोकजीवन—लेखक श्रीयुत काका कालेलकर हैं। पृष्ठ-संख्या १९० और मूल्य आठ आने है।

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने ग्रामोद्धार जैसे प्रधानतया आर्थिक प्रश्न का चिन्तन आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से किया है। गांधी जी की विचार-शैली के अनुसार ग्राम-सुधार का प्रश्न न तो एक दम राजनीतिक है और न पूर्णतया सामाजिक। प्राचीन भारतीय संस्कृति और ग्रामीण वातावरण में उसके वास्तविक प्रकाशन की जो कल्पना उन्होंने कर रखी है, उसी के अनुसार इस शताब्दी में भी वे ग्रामों का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में भी इसी कल्पना को आधार मान कर ग्रामीण समस्याओं पर विचार किया गया है। फलतः प्रत्येक समस्या पर धर्मभाव की छाप लगा दी गई है। यद्यपि इसमें ग्राम-सुधार की कोई सम्यक् योजना नहीं बताई गई है, फिर भी गाँवों की समस्याओं का अपने ढंग का गंभीर विवेचन है। पुस्तक लोक-कल्याण की पवित्र धर्मबुद्धि वाले विचारशील लोगों के काम की है, लेखक के विवेचन में गंभीर चिंतन की प्रधानता है, अतः शैली भी विषय के अनुरूप कुछ गंभीर और गुंफित है।

(१०) हमारे गाँवों का सुधार और संगठन—लेखक स्वर्गीय श्रीयुत रामदास गौड़ हैं। पृष्ठ-संख्या ३३१ और मूल्य एक रुपया है।

जैसा कि नाम से ही सूचित है, इस पुस्तक में गाँवों की समस्याओं को व्यावहारिक रूप में समझ कर उनके हल बताने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक बड़े परिश्रम, अध्ययन और चिंतन के बाद लिखी जान पड़ती है।

बेकारी का मुख्य इलाज लेखक के कथनानुसार है चर्खे का प्रचार। व्यावहारिक रूप में चर्खे के इलाज ने अभी उतनी सफलता नहीं प्राप्त कर पाई है जितनी कि उससे आशा दिलाई जाती है। फिर भी लोगों की धारणा है कि उसका व्यापक प्रचार होना ज़रूरी है। भूमि पर किसान का अधिकार सुरक्षित करने के लिए लेखक ने पंचायत के संगठन और असहयोग के अस्त्र की शिक्षा दी है। इसी प्रकार विदेशी साम्राज्य के कारण जो आर्थिक और सामाजिक अनुविधायें हैं उनका भी एक-मात्र इलाज असहयोग है। इस प्रकार असहयोग का व्यापक प्रयोग स्वराज्य की राजनीतिक लड़ाई तथा ज़मींदारों के विरुद्ध वर्ग-युद्ध में जाकर समाप्त होता है। लेखक ने इस प्रश्न को इतनी दूर तक नहीं सोचा। गाँवों के संगठन की दृढ़ भित्ति है पंचायत और पंचायत में ही समस्त ग्रामीण समस्याओं का उपयुक्त हल मौजूद है। अतः यह उचित ही है यदि लेखक ने पंचायत के संगठन पर ही सबसे अधिक ज़ोर दिया है।

पुस्तक प्रत्येक ग्राम-सेवक तथा इस विषय में दिलचस्पी रखनेवाले के उपयोग की है। भाषा सुबोध और सरल है।

(११) स्वदेशी और ग्रामोद्योग—लेखक महात्मा गांधी हैं। पृष्ठ-संख्या १७१ और मूल्य आठ आना है।

प्रस्तुत पुस्तक गांधी जी के स्वदेशी और खादी तथा अन्य घरेलू धंधों से सम्बन्धित लेखों का संग्रह है! ग्रामोद्धार के विषय में गांधी जी के विचार अपने हैं। "यह मैं मानता हूँ कि कुछ एक चीज़ें ऐसी हैं जो बग़ैर राजनैतिक सत्ता हासिल किये नहीं हो सकतीं, मगर साथ ही ऐसी बेशुमार चीज़ें भी हैं जिनके लिए राजनैतिक सत्ता क़तई दरकार नहीं।" गांधी जी के इस कथन में ही 'ग्राम-उद्योग-संघ' की स्थापना और उसके कार्यक्रम के प्रचार का औचित्य मिलता है। 'कुछेक' और 'बेशुमार' में स्वभावतः 'बेशुमार' को चुनना ही अधिक उचित है। जो लोग गांधी जी के विचार से असहमत हैं, तथा राजनैतिक सत्ता प्राप्त करके जल्द से जल्द आधुनिक ढंग से भारत का औद्योगीकरण करना चाहते हैं, उन्हें गांधी जी के विचार नहीं रुचेंगे। परन्तु कम से कम संधिकाल के लिए तो लोक-सेवी कार्यकर्त्ताओं के सामने ग्रामोद्धार एक निश्चित क्रियात्मक प्रोग्राम है ही। इस विषय में गांधी जी के विचार सभी को विदित हैं, अतः इस स्थान पर उनकी आलोचना व्यर्थ है। पुस्तक ग्राम-सेवकों तथा सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है। भाषा सरल है।

(१२) गांधीवाद - समाजवाद—सम्पादक श्रीयुत काका कालेलकर हैं। पृष्ठ-संख्या २१३ और मूल्य बारह आना है।

यह गांधीवाद और समाजवाद के कुछ प्रसिद्ध विचारकों के लेखों का संग्रह है। देश में इधर कुछ दिनों से गांधी जी के विचारों और समाजवाद के सिद्धान्तों में काफ़ी संघर्ष चल पड़ा है। कुछ लोगों ने तो गांधी जी को भी समाजवादी सिद्ध करने की कोशिश की है। कारण यह है कि राजनैतिक क्षेत्र में गांधी जी के विचारों का प्रभुत्व क़ायम रखने के लिए गांधी जी के अनुयायी समाजवाद की बढ़ती हुई लहर को रोकने की चेष्टा करते रहते हैं। इन लेखों को पढ़ने से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। अधिकतर लेखकों ने विवादात्मक शैली का ही प्रयोग किया है। 'गांधीवाद' कोई वाद भी है या नहीं, पहले तो यही एक संदिग्ध बात है। फिर उसका समझना भी सबके लिए एक-सा सरल नहीं है। आचार्य कृपलानी गांधीवाद या उन्हीं के शब्दों में 'गांधी की राह' को केवल राजनीतिक और सामाजिक रूप में ग्रहण करके कहते हैं कि "जिसे समाजवादी आम हड़ताल कहना पसन्द करेंगे वही तो गांधी जी का सत्याग्रह है।" अपनी व्यंग्यपूर्ण शैली में उन्होंने लिखा है:—

"आप गांधी जी की भाषा में और सत्याग्रह की शब्दावलि में चर्चा कीजिए और एक निश्चित, दृश्य संघर्ष, रहस्यपूर्ण, आध्यात्मिक, आदर्शवादी और फलस्वरूप अवास्तविक रूप धारण कर लेगा। इसके विपरीत आम हड़ताल की भाषा में बात कीजिए और एकदम वही चीज़ वैज्ञानिक ही नहीं, ऐतिहासिक आवश्यकता में बदल जायेगी।"

उसके अनुसार तो गांधी जी की भाषा में ही कुछ प्राचीनता और आध्यात्मिकता का आभास है, मूल वस्तु

एकदम आधुनिक है। इसी प्रकार कृपलानी जी गांधी जी के रचनात्मक कार्य को केवल विश्राम-काल का सदुपयोग समझते हैं और उनका विचार है कि राजनीतिक सत्ता पाकर रूस की तरह भारत भी पंचवर्षीय या दशवर्षीय योजना बनाकर औद्योगीकरण कर डालेगा। दूसरी ओर श्रीयुत किशोरलाल मशरूवाला तथा श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने गांधीवाद के तात्विक विवेचन का प्रयत्न किया है। 'गांधीवाद' पर सबसे अच्छा प्रकाश श्रीयुत किशोरलाल घ० मशरूवाला ने ही डाला है। जैनेन्द्रकुमार की विचार-शैली कल्पनात्मक और भाषा शैली अस्पष्ट है। अतः उसमें गांधीवाद के विवाद से भिन्न स्वयं उसी का आनन्द है, मानो चिन्तन का उद्देश्य चिन्तन ही हो।

बारह लेखों के संग्रह में समाजवाद पर केवल चार लेख हैं जिनमें से श्रीयुत राहुल जी का दो पृष्ठ का लेख केवल एक राजनीतिक-चर्चा मात्र है। सच पूछिए तो उसमें कुछ भी नहीं है। श्री जयप्रकाशनारायण के लेख की शैली सबसे अधिक विवादात्मक है अतः उसमें तात्विक तुलना बहुत कम है। गांधीवाद के विरुद्ध समाजवादी सिद्धान्तों का सबसे अधिक स्पष्ट विवेचन श्रीयुत एम० एन० राय के लेखों में है। राय महाशय ने समाजवाद का दृष्टिकोण निश्चित, शैली में स्पष्ट करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि गांधीवाद का मार्क्स-द्वारा प्रतिपादित आधुनिक समाजवाद से किसी प्रकार भी सामञ्जस्य नहीं किया जा सकता।

गांधीवाद और समाजवाद दोनों ही विषय बड़े व्यापक हैं। अतः २१२ पृष्ठों में उनकी तुलना का बहुत थोड़ा अंश समा सकता है। फिर भी लेखों का प्रस्तुत संग्रह आदर्श नहीं कहा जा सकता। यदि कुछ अधिकारी विद्वानों और विचारकों के लेख भी प्राप्त किये जाते तो अधिक अच्छा था।

राजनीति और समाज में दिलचस्पी रखनेवालों के लिए पुस्तक उपयोगी है।

२६-३१—पत्र-पत्रिकाएँ

(१) कर्मभूमि (साप्ताहिक)—सम्पादक, श्रीयुत भक्त-दर्शन और श्रीयुत भैरवदत्त धूलिया हैं। प्रकाशक, मैनेजर कर्मभूमि-कार्यालय, लैंसडाउन, गढ़वाल और वार्षिक मूल्य ३॥) है। यह पत्र गत १९ फ़रवरी से निकलने लगा है। सामयिक समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डालता है। विशेषतः गढ़वाल संबन्धी विषयों पर अधिक लिखता है। दृष्टिकोण कांग्रेसी है।

(२) स्त्री-भूषण (साप्ताहिक)—सम्पादिका, श्रीमती भागवती देवी हैं। प्रकाशक, स्त्री-भूषण कार्यालय, लखनऊ और वार्षिक मूल्य ३) है।

स्त्रियों से सम्बन्धित विषयों पर अच्छा प्रकाश डालता है। शायद इस प्रकार का अकेला साप्ताहिक है।

(३) कुमार (सचित्र मासिक)—प्रकाशगृह, कालाकाँकर (अवध) से यह सुन्दर पत्र गत जनवरी से कुँवर सुरेशसिंह के सम्पादकत्व में पुनः प्रकाशित होने लगा है। वार्षिक मूल्य ३) है। लेख चयन, सम्पादन, छपाई-सफ़ाई सभी कुछ सुरुचि-पूर्ण तथा उच्च कोटि का है। बालकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

(४) देश-विदेश (मासिक)—श्रीयुत सत्यकेतु विद्यालङ्कार डी० लिट्० के सम्पादकत्व में, इतिहास-सदन, नई दिल्ली से गत फ़रवरी से निकलने लगा है। वार्षिक मूल्य १॥) है। देश और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धी राजनैतिक तथा अन्यान्य समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डालता है। सम्पादन भी योग्यतापूर्वक होता है।

(५) प्रगति (मासिक)—श्रीयुत सुरेन्द्रदेव बालूपुरी के सम्पादकत्व में लेफ़्टविंग पब्लिशिङ्ग हाउस, चारबाग़, लखनऊ से प्रकाशित होने लगा है। वार्षिक मूल्य १॥) है। यह अंक किस महीने का है, इसका पता नहीं लगता। दृष्टिकोण साम्यवादी है। सम्पादक महोदय रोमन लिपि के प्रचार के लिए बद्धपरिकर दिखाई देते हैं।

(६) वैदिक धर्म (मासिक)—आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित श्रीमान् दामोदर सातवलेकर जी के संपादकत्व में, स्वाध्याय मंडल औंध, ज़िला सतारा से गत २० वर्ष से प्रकाशित हो रहा है। वार्षिक मूल्य ५॥) है। वेद और आर्य-साहित्य-सम्बन्धी विषयों पर इसमें विद्वत्तापूर्ण लेख रहते हैं। पत्र आर्यसमाजियों के बड़े काम का है क्योंकि वेदार्थ में एक दम आर्यसामाजिक परिपाटी का पालन होता है। यद्यपि आर्यसमाजियों का भी एक दल इसके वेदार्थ-सम्बन्धी दृष्टिकोण से पूर्णतया सहमत नहीं है। इस पत्र ने वेद-साहित्य के प्रचार में अच्छा योग दिया है।

चित्र-संग्रह

राजरत्न प्रोफ़ेसर माणिकराव जी बड़ौदा। आपने देशी व्यायाम-प्रणाली के प्रचार करने में काफ़ी ख्याति प्राप्त की है।

लाहौर के प्रसिद्ध लोकसेवकमण्डल के सदस्यगण। इस संस्था के सभापति माननीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन बीच में बैठे हैं।
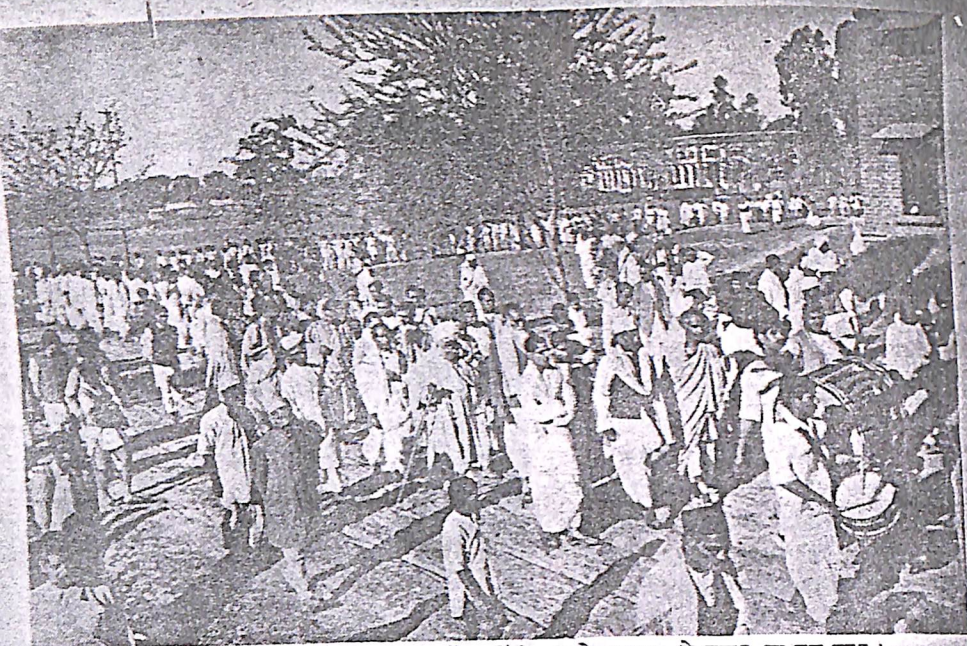
गुरुकुल विश्वविद्यालय-काँगड़ी, के ३७ वें वार्षिकोत्सव के अवसर के जलूस का एक दृश्य।
जलूस में गाँधीटोपी पहने प्रान्त के शिक्षामंत्री माननीय सम्पूर्णानन्द जी हैं।

गुरुकुल के नये स्नातक। बीच में माननीय शिक्षामंत्री बाबू सम्पूर्णानन्द जी बैठे हैं।
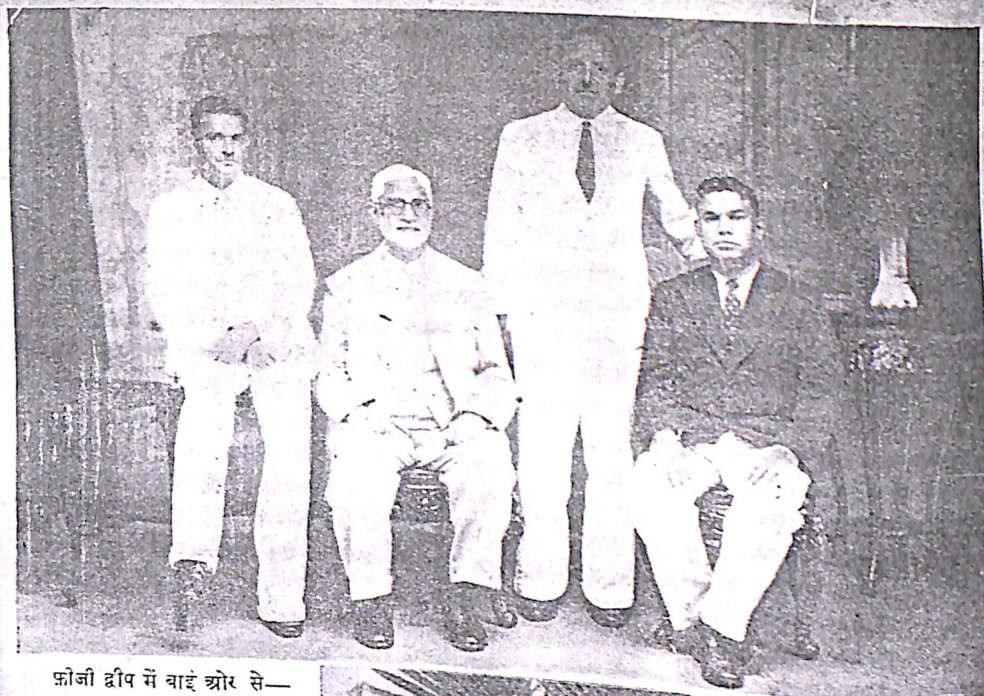
फ़ीजी द्वीप में बाईं ओर से—
(१) डा० सी० एम० गोपालन। (२) रूपचन्द बीलाराम जज, कराची (सिंध) जो आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलेण्ड, फ़ीजी होते हुए अमेरिका गये हैं। (३) बाबू सहोदरसिंह। (४) माननीय पं० विष्णुदेव एम० एल० सी० (फ़ीजी)

फ़ीजी द्वीप में बाईं ओर से—
(१) श्रीमती पटेल (२) माननीय पं० विष्णुदेव एम० एल० सी० फ़ीजी के प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता। (३) पं० हृदयनाथ कुंजरू।
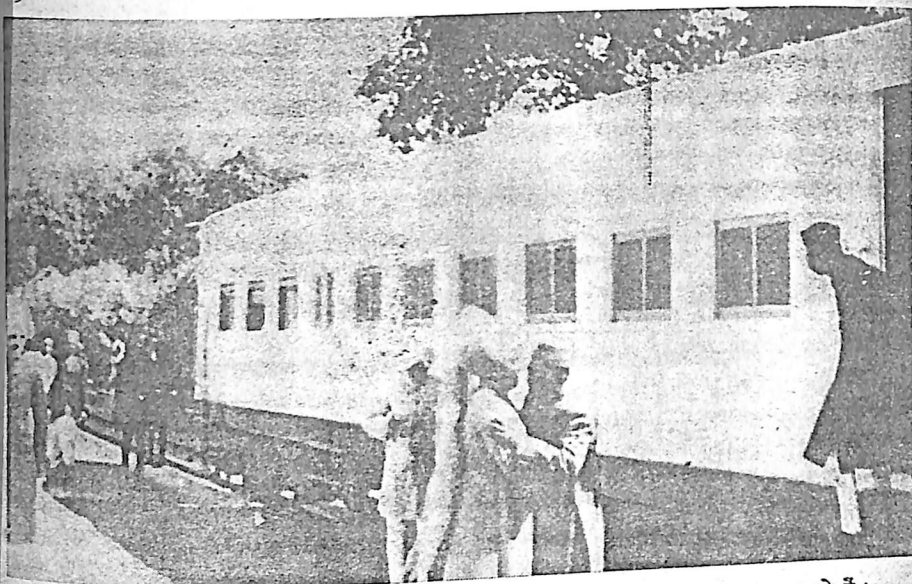
महाराज सिंधिया रामपुर के नवाब साहब का ग्वालियर में रेलगाड़ी से उतरते समय स्वागत कर रहे हैं।
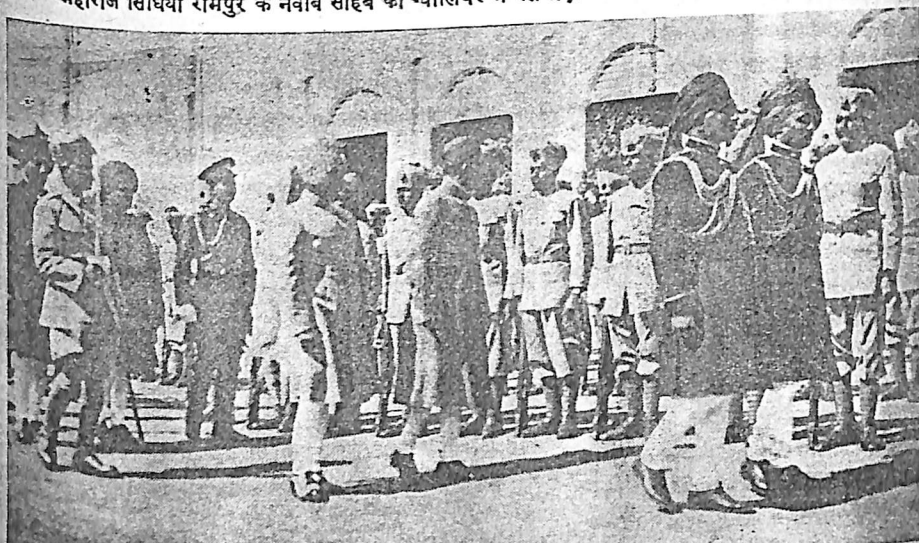
रामपुर के नवाब साहब सिंधिया महाराज के मेहमान की हैसियत से ग्वालियर में प्रवेश कर रहे हैं।
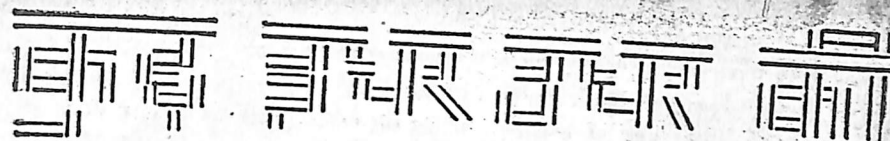
हिन्दी-साहित्य के त्रिदेव

'कवि ब्रह्मा होता है, सम्पादक विष्णु और समालोचक रुद्र'—यह सिद्धान्त अन्य साहित्यों पर भले ही लागू न होता हो, पर हमारे हिन्दी-साहित्य पर सोलहो आने घटित होता है। अपने कथन की पुष्टि के लिए हम नीचे हिन्दी-साहित्य के 'त्रिदेव' का परिचय दे रहे हैं।

ब्रह्मा का पहला गुण है—'स्वयंभू होना'। अर्थात् उसे कोई बनाता नहीं, पर वह सबको बनाता है। और सबको बनाने में ही आप बन जाता है। दूसरा गुण है 'रहस्य-प्रेम'। उसकी रचना इतनी रहस्यभरी होती है कि मनुष्य के दिमाग़ की तो बिसात ही क्या, स्वयं ब्रह्मा की की हुई व्याख्याओं—वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों, आदि के द्वारा भी उसका समझ में आना कठिन होता है। तीसरा गुण है 'आत्मश्लाघा', जिसका प्रमाण पुराणों में जगह-जगह पर मिलता है और चौथा गुण है 'मिथ्याभिमान'; हज़ारों समालोचकों ने उसकी असंगति की खिल्ली उड़ाई है, पर वह स्वयं को 'विश्व-श्रेष्ठ' कहने-मानने से बाज़ नहीं आता।

हिन्दी के 'सर्वश्रेष्ठ कलाकार' में भी ब्रह्मा के उपर्युक्त गुण पूरे-पूरे पाये जाते हैं। निम्न रचना देखिए—

—"भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय, सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे तमस्तूर्य दिङ्मण्डल।
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान
है ऊर्मिल जल; निश्चलत्प्राण पर शत दल!
मोगल दल बल के जलद यान
दर्पित-पद उन्मद-नद पठान
हैं बहा रहे दिग्देश ज्ञान, शर-खरतर
बंध के बिना कह, कहाँ प्रगति?
गतिहीन जीव को कहाँ सुरति
रति-रहित कहाँ सुख? केवल क्षति-केवल क्षति!
वह रत्नावली नाम शोभन
पति-रति में प्रतनु अतः लोभन
अपरिचित पुण्य, अक्षय क्षोभन धन कोई
प्रिय करालंब को सत्य यष्टि
प्रतिमा में श्रद्धा की समष्टि
मायायन में प्रिय-शयन व्यष्टि भर सोई।"

इसको कविजी की स्वयंकृत व्याख्या द्वारा समझ सकना भी कठिन है।

× × × ×

विष्णु का गुण है 'व्यापकता'। दुनिया के कण-कण की चिन्ता रखना, प्रायः निर्गुण होना, पर संसर्ग दोष से गुणवान् होकर चट बीच में कूद पड़ना। अपने भक्तों को अभयदान देना और उनके नोन-तेल की चिन्ता करना।

हिन्दी के 'आदर्श-सम्पादक' में ये समस्त गुण विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ निम्न सम्पादकीय नोट पढ़िए—

"प्रिय पाठक गण,

पूरे १ साल, ७ महीने, १३ दिन, २० मिनट और ५७ सेकण्ड तक अन्तर्धान रहने के उपरान्त मैं फिर आप लोगों की सेवा में हाज़िर हुआ हूँ। मेरे आने की ख़ास वजह यह हुई कि मुझे विश्वस्त-सूत्र से रिपोर्ट मिली कि हिन्दी में "घासलेट" की बदबू फिर से फैलने लगी है। इसी लिए तो अपनी पौने दो साल की लड़की की बीमारी की कोई परवा न करके, अपने परम स्नेही मित्र विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी तथा दीनबन्धु एण्ड्रूज़ के अनुरोधों को ठुकराकर मैं पुनः आप लोगों की सेवा-रक्षा के लिए आ गया हूँ! हिन्दी-साहित्य में फैलती हुई दुर्गंध का आभास जिस समय मुझे मिला उस समय मैं स्वर्गीय प्रिंस क्रोपाटकिन से केवल १॥ हाथ की दूरी पर बैठा था, और मेरे हाथ में 'थोरो' की 'लेक्स' का लेटेस्ट एडीशन था। पाठकों को विश्वास

होना चाहिए कि मैं अब भी अराजकतावादी हूँ। मैं शीघ्र ही आपके प्रिय पत्र के पन्नों में समाजवाद की उच्छृङ्खल बाढ़ को रोकने के लिए अराजकतावाद का आन्दोलन फिर से चलानेवाला हूँ। पर इसके लिए आवश्यक है कि हमारा प्रत्येक प्रेमी पाठक विस्तार के साथ, निःसंकोच होकर निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर लिख भेजे। मेरी सुविधा के विचार से उत्तर कृपया मेरे प्राइवेट पते पर आने चाहिए।

आज-कल खाद्य पदार्थों के विषय में बड़ी अराजकता है। इसका नियन्त्रण होना आवश्यक है; हम इसके लिए सगठित आन्दोलन् चलाना चाहते हैं। क्योंकि "घासलेट" के प्रचार ने मिठाइयों का मज़ा बिगाड़ दिया है। इसलिए आप लोग कृपया मुझे शीघ्र सूचित करें—कि

१—आप लोग कौन-कौन मिठाइयाँ पसन्द करते हैं?

२—वे मिठाइयाँ आप किस हलवाई से लेते हैं?

३—वह हलवाई घी कहाँ से लाता है?

हमारे पाठक हमें सदा से अपना आत्मीय मानते आये हैं। चूँकि मैं पिछले कुछ दिनों से अज्ञातवास में था और वहीं मुझे महाराज काश्मीर, महाराणा नैपाल और जेनरल च्यांगकाईशेक ने अपने-अपने प्राइवेट सेक्रेटरियों की जीवनियाँ लिखने का भार सुपुर्द किया था, अतः मैं अपने प्रेमी पाठकों की घरेलू बातें जानने से वञ्चित रहा। आशा है कि वे इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे और वापसी डाक निम्न बातों का उत्तर देकर वाधित करेंगे—

अ—आप विवाहित हैं या अभी तक अविवाहित?

आ—यदि अविवाहित हैं तो किसी सिद्धान्त-पालन के लिए या सुयोग-सम्बन्ध के अभाव से? आपका यह पत्र दोनों दशाओं में आपकी भरसक सहायता करेगा।

इ—यदि विवाहित हैं तो आपका दाम्पत्य जीवन सुखमय तो है? सन्तानें कितनी हैं? वे अच्छी तरह तो हैं?

ई—आप लोग अपनी मित्र-मंडली के पते मेरे पास भेज दीजिए जिससे उनके नाम वी॰ पी॰ भेज दी जाय और इस प्रकार आपके प्यारे पत्र का व्यापक प्रचार हो जाय।

आपका दर्शनोत्सुक
(संपादक-साहित्य-विभाग)

× × × ×

रुद्र का काम है 'रोना-रुलाना'। इसके लिए वे तीसरा नेत्र खोला करते हैं। हिन्दी-साहित्य के "क्रान्तिकारी, मौलिक और त्रिवेदज्ञ" समालोचक ने भी बड़े परिश्रम और खोजों के पश्चात् समालोचना की "बुकसेलरी-शैली" को खोल दिया है। अपनी रुद्रत्रयी में गोस्वामी तुलसीदास का सहार करते हुए आप लिखते हैं—

"तुलसीदास जी स्वर्गीय जगदीशचन्द्र वसु से भी बड़े वनस्पति शास्त्री थे। क्योंकि वे जानते थे कि (१) गूलर के फल में भुनगे होते हैं, (२) बरसात में अक-जवास पात बिन हो जाते हैं, (३) सूखत धान पर पानी पड़ने से उसे हर्ष होता है।

वे अद्भुत जीव-विज्ञान-शास्त्री थे, क्योंकि उन्होंने लिखा है—

"उमा रावनहि अस अभिमाना
जिमि टिट्टिभि खग सूत उताना।
धर्म सनेह उभय मति घेरी
भइ गति साँप छछूँदर केरी।
सन्त हस गुन गहहि पय
परिहरि वारि विकार।"

वे अभूतपूर्व गणितज्ञ भी थे, देखिए—

"राम-राम को अंक है सब साधन है सून
अक गये कछु हाथ नहि अंक रहे दस गून।
तुलसी राम सनेह करु त्यागु सकल उपचार
जैसे घटत न अङ्क नव नौ के लिखत पहार।"

वे बड़े भारी ज्योतिषज्ञ थे, देखिए—

"अधिकारी बस औसिरा भलेउ जानिबे मन्द
सुधा सजन बसु बारहौ चौथो चौथो चन्द।
रामकृष्ण थिर काज शुभ सनिवासर विश्राम
लोह महिष गज बनिज भल सुख सुपास गृह गाम।"

आश्चर्य है कि ऐसे अद्भुत वैज्ञानिक अन्वेषण करनेवाले तुलसीदास को अकबरी दरबार ने डी॰ एस-सी॰ की उपाधि भी न दी! इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि तुलसीदास पर ऐसा मौलिक थीसिस लिखनेवाले समालोचक जी को इलाहाबाद विश्व-विद्यालय ने जुबली के अवसर पर भी डी॰ लिट् की उपाधि नहीं दी। परन्तु साहित्य-सम्मेलन की उपेक्षा पर तो हमें रोष आता है। आखिर उसकी 'साहित्य-वाचस्पति' उपाधि है किस मर्ज़ की दवा?

वर्ग नं॰ ३३ का नतीजा

प्रथम पुरस्कार ३००) (शुद्ध पूर्ति पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित ३ व्यक्तियों में बाँटा गया। प्रत्येक को १००) मिला।

(१) मीरादेवी, c/o बी॰ बी॰ चटर्जी १२ बादरबागान, कलकत्ता।

(२) सेवकराम पो॰ आ॰, मिरज़ागंज, हज़ारीबाग़।

(३) जी॰ पी॰ टंडन, १७५ खुशालपर्वत, इलाहाबाद।

द्वितीय पुरस्कार ८५) (एक अशुद्धि पर)

श्रीमती निर्मलादेवी c/o सेवकराम पो॰ आ॰ मिरज़ागंज, हज़ारीबाग़।

तृतीय पुरस्कार ५५) (दो अशुद्धियों पर)

नर्मदाप्रसाद ठेकेदार पो॰ आ॰ कारागोला, ज़िला पूर्निया।

चतुर्थ पुरस्कार ३६) (तीन अशुद्धियों पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित ३ व्यक्तियों में बाँटा गया, प्रत्येक को १२) मिला।

(१) मथुराप्रसाद गुप्त c/o लक्ष्मीपुस्तकालय बुलानाला, बनारस सिटी।

(२) वरदाप्रसाद c/o नर्मदाप्रसाद कारागोला, पूर्निया।

(३) सूरजसहाय सक्सेना, क्लर्क कलेक्टरी, उरई।

पंचम पुरस्कार २४) (चार अशुद्धियों पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित तीन व्यक्तियों में बाँटा गया, प्रत्येक को ८) मिला।

(१) मुरारीलाल, अरुण कार्यालय, जीलाक स्ट्रीट, मुरादाबाद।

(२) नारायणदत्त फुलेरिया, पोखर खाली बलटौटी, अलमोड़ा।

(३) शकुन्तलादेवी c/o सूरजसहाय सक्सेना, कलेक्टरी, उरई।

उपर्युक्त सब पुरस्कार २९ मई को भेज दिये जायँगे।

नोट—जाँच का फ़ार्म ठीक समय पर आने से यदि किसी को और भी पुरस्कार पाने का अधिकार सिद्ध हुआ तो उपर्युक्त पुरस्कारों में से जो उसकी पूर्ति के अनुसार होगा वह फिर से बाँटा जायगा। केवल वे ही लोग जाँच का फ़ार्म भेजें जिनका नाम यहाँ नहीं छपा है, पर जिनको यह सन्देह हो कि वे पुरस्कार पाने के अधिकारी हैं।

नियम :—

(१) किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जितनी पूर्ति-संख्यायें भेजना चाहे, भेजे, किन्तु प्रत्येक वर्ग-पूर्ति सरस्वती पत्रिका के ही छपे हुए फ़ार्म पर होनी चाहिए। इस प्रतियोगिता में एक व्यक्ति को केवल एक ही इनाम मिल सकता है। इंडियन प्रेस के कर्मचारी इसमें भाग नहीं ले सकेंगे। प्रत्येक वर्ग की पूर्ति स्याही से की जाय। पेंसिल से की गई पूर्तियाँ स्वीकार न की जायँगी। अक्षर सुन्दर, सुडौल और छापे के सदृश स्पष्ट लिखने चाहिए। जो अक्षर पढ़ा न जा सकेगा अथवा बिगाड़ कर या काटकर दूसरी बार लिखा गया होगा वह अशुद्ध माना जायगा।

(२) प्रतियोगिता में शामिल होने के लिए जो फ़ीस वर्ग के ऊपर छपी है, दाख़िल करनी होगी। फ़ीस मनी-आर्डर-द्वारा या सरस्वती-प्रतियोगिता के प्रवेश-शुल्क-पत्र (Credit voucher) के द्वारा दाख़िल की जा सकती है। इन प्रवेश-शुल्क-पत्रों की किताबें हमारे कार्यालय से ३) या ६) में ख़रीदी जा सकती हैं। ३) की किताब में आठ आने मूल्य के और ६) की किताब में १) मूल्य के ६ पत्र बँधे हैं। एक ही कुटुम्ब के अनेक व्यक्ति जिनका पता-ठिकाना भी एक ही हो, एक ही मनीआर्डर-द्वारा अपनी अपनी फ़ीस भेज सकते हैं और उनकी वर्ग-पूर्तियाँ भी एक ही लिफ़ाफ़े या पैकेट में भेजी जा सकती हैं। वर्ग-पूर्ति की फ़ीस किसी भी दशा में नहीं लौटाई जायगी। मनीआर्डर व वर्ग-पूर्तियाँ 'प्रबन्धक, वर्ग-नम्बर ३४, इंडियन प्रेस, लि०, इलाहाबाद' के पते से आनी चाहिए।

(३) लिफ़ाफ़े में वर्ग-पूर्ति के साथ मनीआर्डर की रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र नत्थी होकर आना अनिवार्य है। रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र न होने पर वर्ग-पूर्ति की जाँच न की जायगी। लिफ़ाफ़े के दूसरी ओर अर्थात् पीठ पर मनीआर्डर भेजनेवाले का नाम और पूर्ति-संख्या लिखना आवश्यक है।

(४) जो वर्ग-पूर्ति २५ मई तक नहीं पहुँचेगी, जाँच में शामिल नहीं की जायगी। स्थानीय पूर्तियाँ २३ ता० को पाँच बजे तक बक्स में पड़ जानी चाहिए और दूर के स्थानों (अर्थात् जहाँ से इलाहाबाद को डाकगाड़ी से चिट्ठी पहुँचने में २४ घंटे या अधिक लगता है) से भेजनेवालों की पूर्तियाँ २ दिन बाद तक ली जायँगी। वर्ग-निर्माता का निर्णय सब प्रकार से और प्रत्येक दशा में मान्य होगा। शुद्ध वर्ग-पूर्ति की प्रतिलिपि सरस्वती पत्रिका के अगले अङ्क में प्रकाशित होगी, जिससे पूर्ति करनेवाले सज्जन अपनी अपनी वर्ग-पूर्ति की शुद्धता-अशुद्धता की जाँच कर सकें।

(५) वर्ग-निर्माता की पूर्ति से, जो मुहर लगा करके रख दी गई है, जो पूर्ति मिलेगी वही सही मानी जायगी। यदि कोई पूर्ति शुद्ध न निकली तो मैनेजर शुद्ध पूर्ति का इनाम जिस तरह उचित समझेंगे, बाँटेंगे।

अङ्क-परिचय

बायें से दाहिने—

१—पुरुष-श्रेष्ठ।
५—नाविक को इसी का सहारा रहता है।
८—ऐसे आदमी की कहीं इज़्ज़त नहीं होती।
९—बच्चों को स्वस्थ रखने के लिए उन्हें रोज़...चाहिए।
११—यह न आता तो ऊनी कपड़ों को कौन पूछता ?
१३—इसे कभी-कभी जोखिम उठाना पड़ता है।
१५-कितनों के लिए यह दिल बहलाने का एक साधन है।
१७—बेकारों को अच्छा...मिलने पर बड़ी प्रसन्नता होती है।
१९—बेकारी के इस ज़माने में इसका मिलना भी कठिन हो रहा है।
२१—प्राचीन काल में इसका बहुत आदर होता था।
२४—इसे बढ़वाने के लिए लोग ज़मीन-आसमान एक कर देते हैं।
२७—इसके पाने की अभिलाषा हर एक को होती है।
२८—वन की आग।
३०—प्राचीन आर्य इसे बहुत पवित्र मानते थे।
३१—दाम चुकाने पर इसे अवश्य लेना चाहिए।
३२—यह बाँस से बनता है।
३३—इसके व्यवसाय के लिए भारतवर्ष मशहूर था।
३६—कहीं कहीं यह खाद के रूप में प्रयोग की जाती है।
३७—रथारोही।
३८—आजकल यह बहुत तरक़्क़ी पर है।
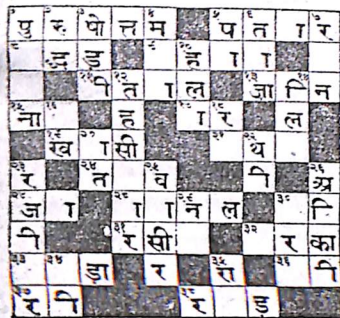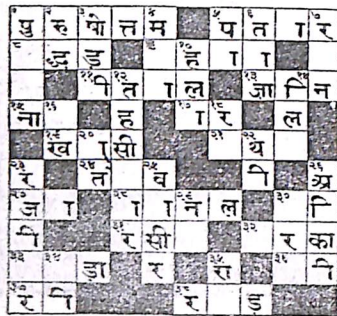
ऊपर से नीचे—

१—दर्प।
२—छका हुआ।
३—मृतक-सम्बन्धी एक कर्म।
४—इसके बनाने में परिश्रम करना पड़ता है।
५—निमग्न।
६—बुद्धिमान इससे बचकर चलते हैं।
७—निर्मलता से इसकी क़ीमत बढ़ जाती है।
१०—ऐसा भोजन स्वास्थ्यदायक होता है।
१२—एक शासक।
१४—इसके लिए प्रायः लोग उत्सुक रहते हैं।
१६—इसके बिना जीवन व्यर्थ मालूम होता है।
१८—हाथ उलटा हो गया।
२०—इससे बचना हितकर है।
२२—इसमें दूध नहीं होता।
२३—दिन होने पर यह छिप जाता है।
२५—एक रोग।
२६—लोग ऐसा बनने की कोशिश करते हैं।
२९—इसमें जहाज़ चल सकते हैं।
३०—बहुत से लोग इसके लिए अपने को तैयार करते हैं।
३४—इसके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि हमेशा चलता ही रहे।
३५—मधुरता इसका गुण है।

आपनी याददाश्त के लिए वर्ग नं० ३४ की पूर्तियों की नक़ल यहाँ पर कर लीजिए। और इसे निर्णय प्रकाशित होने तक अपने पास रखिए।

वर्ग नं० ३३ की शुद्ध पूर्ति

वर्ग नम्बर ३३ की शुद्ध पूर्ति जो बंद लिफ़ाफ़े में मुहर लगाकर रख दी गई थी, यहाँ दी जा रही है।

ता	ल	सु	कुं	द	■	■	वा	च	क
द	ह	र	■	गा	छ	■	■	र	रा
र	न	वा	स	■	ग	■	दुं	वा	ल
■	दा	■	गु	मा	न	■	अ	ह	■
दु	र	स	न	■	■	पि	नी	■	■
ला	■	ह	■	घ	रि	या	■	सु	धा
न	ज़	र	■	लु	हा	र	■	पा	■
■	ह	■	सु	आ	■	■	ज	री	बँ
क	र	नी	■	■	म	ह	ल	■	ह
र	■	चँ	म	क	■	ल	■	मौ	ली
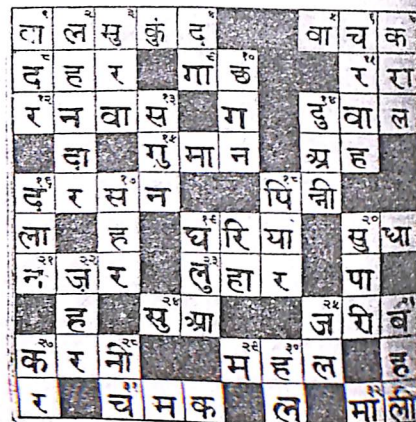
वर्ग नं० ३३ (जाँच का फ़ार्म)

मैंने सरस्वती में छपे वर्ग नं० ३३ के आपके उत्तर से अपना उत्तर मिलाया। मेरी पूर्ति नं०...में } कोई अशुद्धि नहीं है। १, २, ३, ४ अशुद्धियाँ हैं। मेरी पूर्ति पर जो पारितोषिक मिला हो उसे तुरन्त भेजिए। मैं १) जाँच की फ़ीस भेज रहा हूँ।

हस्ताक्षर ____________

पता ____________

____

बिन्दीदार लाइन पर काटिए

नोट—जो पुरस्कार आपकी पूर्ति के अनुसार होगा वह फिर से बँटेगा और फ़ीस लौटा दी जायगी। पर यदि पूर्ति ठीक न निकली तो फ़ीस नहीं लौटाई जायगी। जो समझें कि उनका नाम ठीक जगह पर छपा है उन्हें इस फ़ार्म के भेजने की ज़रूरत नहीं। यह फ़ार्म १५ मई के बाद नहीं लिया जायगा।

इसे काटकर लिफ़ाफ़े पर चिपका दीजिए

मैनेजर वर्ग नं० ३४

इंडियन प्रेस, लि०,

इलाहाबाद
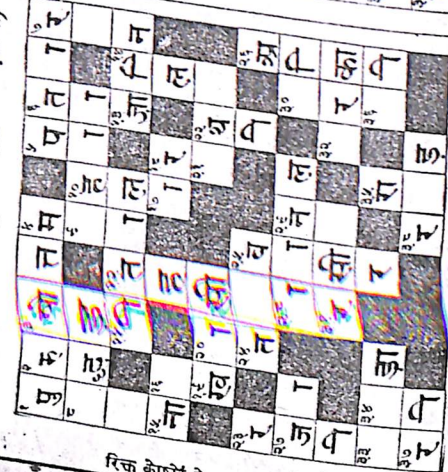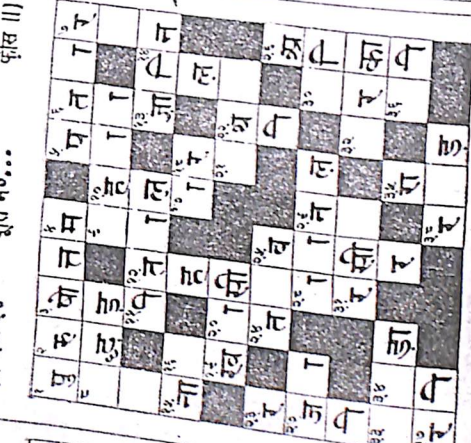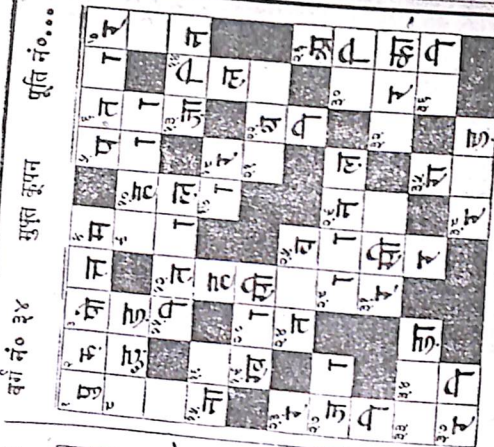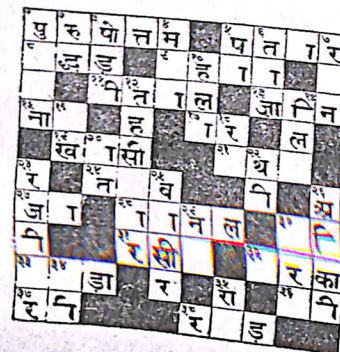
मुफ़्त कूपन की नक़ल यहाँ कीजिए।

इस लाइन से काटिए

वर्ग नं० ३४ मुफ़्त कूपन पूर्ति नं०...

वर्ग नं० ३४ फ़ीस ।।) पूर्ति नं०...

वर्ग नं० ३४ फ़ीस ।।) पूर्ति नं०...

रिक्त कोष्ठों के अक्षर मात्रा रहित और पूर्ण हैं।

नाम ____________ पता ____________

नोट—ये तीनों कूपन यहाँ एक साथ केवल एक व्यक्ति के भेजने के लिए दिये जा रहे हैं। तीनों कूपनों को एक साथ काट कर भेजना चाहिए। जो एक कूपन भेजना चाहें वे दो को भी छोड़ दें। जो दो भेजें उन्हें तीसरे कूपन की फ़ीस न देनी पड़ेगी। यानी १) में तीनों कूपन भेज सकेंगे। विशेष ब्योरा पृष्ठ ५१८ पर देखिए।

वर्ग नं० ३१ पर शंका-समाधान

(१) कीचक और कोचड़

संकेत—मार्ग में इसकी अधिकता चलनेवालों के कपड़े ख़राब कर देती है।

'कीचक' का अर्थ 'बाँस' है। जिन मार्गों में बाँस अधिक होते हैं वहाँ चलनेवालों के कपड़े उलझ कर फटा ही करते हैं। 'कीचड़' अर्थ भी हो सकता है। दोनों अर्थों में जब समानता है तब कोई भी शब्द चुना जा सकता है। अतः 'कीचक' अशुद्ध है, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि वर्गनिर्माता भुलावे में डालने के लिए सामान्य अर्थों की अपेक्षा विशेष अर्थों को ही अधिक चुनते हैं।

(२) सुधा और सुरा

देवताओं का सुरा-प्रेम प्रसिद्ध है। पुराणों में इनके सुरापान की कथायें तो आई ही हैं स्वयं वेदों में सुरापान का उल्लेख हुआ है। शक्तिपूजा तो बिना सुरापान के सम्पन्न ही नहीं होती। अतः देवता सुरापान नहीं करते, यह कहना ठीक नहीं है। देवतागण कलियुग में ही सुरापान नहीं करने लगे हैं बल्कि युगों से बराबर सुरापान करते आये हैं। विश्वास न हो वाल्मीकीय रामायण खोल कर देख लीजिए।

(३) हत्था

हत्थे (हैंडिल) में जो लकड़ी लगाई जाती है वह चिकनी रहती है, जिससे पकड़नेवाले के हाथों को छील न दे, और मज़बूत तो होती ही है; यदि मज़बूत न रहे तो साधारण झटके में टूट-फट जाय। अतः यह संकेत कि—'इसकी लकड़ी चिकनी व मज़बूत होती है'—हत्थे (हैंडिल) पर ही ठीक-ठीक घटता है। अतः "हत्था" ही ठीक है। इस शब्द पर शंका की कोई गुंजाइश ही नहीं है।

आरका
वर्गनिर्माता

नोट—आशा है कि आगामी पूर्तियों पर भी प्रतियोगीगण अपनी-अपनी उचित शंकायें लिखकर शीघ्र भेजेंगे। शंकायें यथासम्भव साफ़-साफ़, काग़ज़ में एक ओर और स्पष्ट लिखनी चाहिए; तथा अपना नाम व पता भी पूरा-पूरा देना चाहिए।

वर्ग-मैनेजर

प्रतियोगी नोट कर लें

डाकख़ाने के नये नियम के अनुसार पोस्टल आर्डरों पर लगे हुए फ़ालतू टिकट रद्दी समझे जाते हैं। अतः प्रतियोगियों को चाहिए कि वे कूपनों की फ़ीस यदि पोस्टल आर्डरों द्वारा भेजना चाहें तो, पूरी रक़म के पोस्टल आर्डर ही भेजें। किसी पोस्टल आर्डर पर टिकट लगाना व्यर्थ होगा। डाकख़ाने से आठ आना, एक रुपया और इसी आनुपातिक रक़म के पोस्टल आर्डर मिल सकते हैं। जो प्रतियोगी पोस्टल आर्डरों पर टिकट लगाकर भेजेंगे उनकी पूर्तियाँ अनियमित क़रार दी जायँगी।

प्रबंधक सरस्वती-वर्ग-विभाग
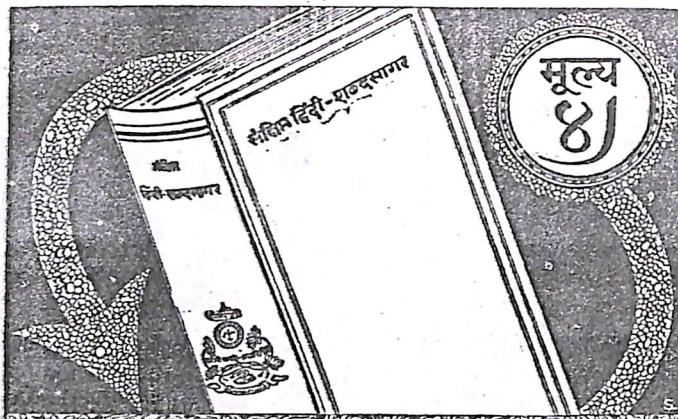
आवश्यक सूचनायें

(१) इस बार पाठक देखेंगे कि एक कूपन में एक नाम से अधिक भरने की गुंजाइश नहीं है परन्तु प्रत्येक कूपन में ऐसी सुविधा की गई है कि वर्ग नं० ३४ की तीन पूर्तियाँ एक साथ भेजी जा सकेंगी। दो आठ आठ आने की और तीसरी मुफ़्त। मुफ़्त पूर्ति सिर्फ़ उन्हीं की स्वीकार की जायगी जो दो पूर्तियों के लिए १) भेजेंगे। और तीनों पूर्तियाँ एक ही नाम से भेजेंगे। एक पूर्ति भेजनेवाले को भी पूरा कूपन काटकर भेजना चाहिए और दो ख़ाने ख़ाली छोड़ देने चाहिए।

(२) स्थानीय पूर्तियाँ 'सरस्वती-प्रतियोगिता-बक्स' में जो कार्यालय के सामने रक्खा गया है; दिन में दस और पाँच के बीच में डाली जा सकती हैं।

(३) वर्ग नम्बर ३४ का नतीजा जो बन्द लिफ़ाफ़े में मुहर लगाकर रख दिया गया है, ता० २६ मई सन् १९३९ को सरस्वती-सम्पादकीय विभाग में ११ बजे दिन में सर्वसाधारण के सामने खोला जायगा। उस समय जो सज्जन चाहें स्वयं उपस्थित होकर उसे देख सकते हैं।

आचार्य द्विवेदी के पत्र
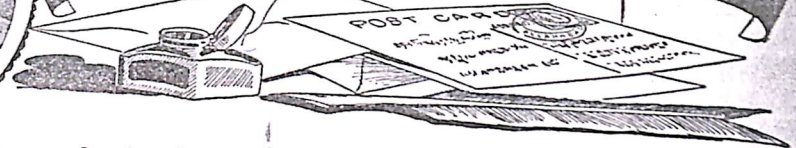
ये पत्र पंडित प्रेमवल्लभ त्रिपाठी धर्मशास्त्राचार्य, काशी को लिखे गये थे। अफ़सोस, द्विवेदी जी पूर्ण पुस्तक नहीं देख पाये। उनके निधन के दूसरे दिन पुस्तक का पैकट पहुँचा, जिसे उनके भानजे ने वापस करते हुए लिखा कि मामा जी दिवङ्गत हो गये, इससे लौटाता हूँ।

(१)

दौलतपुर
ज़िला रायबरेली
५ जुलाई ३८

श्रीमत्सु धर्मशास्त्राचार्यमहोदयेषु प्रणतयो विलसन्तु।

आज सुबह उठकर अपने कमरे में आया। आँखें बन्द करके प्रार्थना करने लगा—

पापः खलोऽयमिति नार्हसि मां विहातुं
किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य।
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा
तस्मात्तवास्मि नितरामनुकम्पनीयः॥

इतने ही में एक रजिस्टरी शुदह पैकेट डाकख़ाने से मिला। भेजनेवाले कोई D. L. Shah, I. F. S., (Deputy Conservator of Forests.) Cawnpore मालूम हुए। समझ में न आया, ये कौन महाशय हैं।

ख़ैर पैकेट खोला तो आपका पत्र मिला। साथ ही ५४४ पृष्ठों तक 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' की कापी। यत्र तत्र देखा।

विश्वास कीजिए आपकी इस सत्कृति को देखकर और प्राप्त करके मुझे जो सुख, समाधान और सन्तोष हुआ, उसकी इयत्ता नहीं। मुझे तो यह पुस्तक क्या एक निधि-सी मिल गई। मुझे स्वप्न में भी कभी यह ख़्याल नहीं आया था कि मेरे सदृश अल्पज्ञ और अपुण्यकर्मा का पृष्ठपोषक भी कभी कहीं मिलेगा। उस विचार को आपने असत्य साबित कर दिया। धन्योऽसि।

शङ्करः शं करोतु ते

महाराज, आपने बड़ा काम किया। संस्कृत और हिन्दी दोनों टीकायें परमोत्तम हैं। हिन्दी को तो टीका नहीं, अनुवाद ही कहना चाहिए। कवि के भाव को आपने बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त कर दिया है।

इस 'कुसुमाञ्जलि' की जैसी भक्तिभावपूर्ण कविता संस्कृत-साहित्य में भी शायद ही अन्यत्र कहीं मिले। श्रीमद्भागवत में कुछ स्थल ऐसे ज़रूर हैं जिनके आकलन से हृदय द्रवीभूत हो जाता है—

जैसे—नोचेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥

मैं आप को शतशः साधुवाद प्रदान करता हूँ। आपने इस पुस्तक को लिखकर एक बहुत ही पुण्य का काम कर दिया है।

आशा है, कविता के प्रेमी और रसिक भक्त इस पुस्तक से परमानन्द की प्राप्ति कर सकेंगे।

मैं बहुत बूढ़ा हूँ। दृष्टि भी क्षीण हो रही है। अधिक नहीं लिख सकता। क्षम्यताम्।

कृतार्थीकृत
महावीरप्रसाद द्विवेदी

(२)

दौलतपुर (रायबरेली)
ता० २०-१०-३८

नमो नमस्ते विदुषांवराय।

१६ ता० का कृपापत्र मिला। स्तुतिकुसुमाञ्जलि के फ़ार्म भी। प्राक्कथन पढ़ा। परमानन्द हुआ। आप बड़े ही भावुक और सच्चे काव्य-पारज्ञाता हैं। काशी में इतने

पण्डितों और शिवभक्तों के होते हुए भी किसी और की नज़र 'जगद्धर भट्ट' की इस अद्भुत कृति की ओर न गई, यह बड़े ही आश्चर्य और परिताप की बात है। ख़ैर, आपने विश्वनाथ जी की नगरी की इज़्ज़त रख ली। भगवान् सदाशिव आपका कल्याण करें।

आपने जो अपनी रचित स्तुति की नक़ल भेजी उसे पढ़कर मेरे नेत्र ही नहीं, मेरा हृदय भी आर्द्र हो उठा। आपकी कृति जगद्धर की कृति का पूर्णतया अनुसरण करती है।

जो फ़ार्म आपने पहले भेजे थे उन्हें तो एक शिवभक्त हाथ-पैर जोड़ कर उठा ले गये। जो फ़ार्म आज भेजे हैं वे भी इसी तरह जायगे। जब पुस्तक पूरी छप जाय और जिल्द बँध जाय तब उसकी एक ही कापी आप मेरे लिए भेजने का कष्ट उठावें।

विनीत
महावीरप्रसाद द्विवेदी

(३)

दौलतपुर (रायबरेली)
२६-१०-३८

नमोनमः।

सरस्वती-संपादक पं० देवीदत्त शुक्ल को लिखा। उनका उत्तर यह है—

२०-१०-३८ का आपका कृपापत्र मिला। मैंने उसको मैनेजर बाबू को दिखाया। उन्होंने आज ही बनारस को पत्र लिख कर उक्त पुस्तक मंगवाई है। वे उसे देखना चाहते हैं। यदि बिकनेवाली होगी तो ज़रूर ले लेंगे।

मुनासिब समझिए तो उन्हें आप ख़ुद भी अब लिखें या जाकर मिलें। अगर छपाई का ख़र्च और उसके ऊपर कुछ और भी आपको मिले तो कापीराइट इंडियन प्रेस को बेच दीजिए।

विनीत
महावीरप्रसाद द्विवेदी

(४)

दौलतपुर रायबरेली
ता० २९-९-३८

नमो नमस्ते विबुधोत्तमाय।

मेरा ता० ५ जुलाई का पत्र मिला होगा। 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' की दो प्रति भेजने की कृपा करें। एक मेरे लिए और दूसरी मेरे एक शिवभक्त मित्र के लिए। अवश्य कृपा होगी।

आपका
महावीरप्रसाद द्विवेद

निवेदन— १७-४-३९

सृजति तावदशेष गुणाकरं
पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेत्,
अहह! कष्टमपण्डितता विधेः॥

शीलाभट्टारिका।

मैं भी एक कृटस्थ, द्विवेदी जी का बहुत पुराना कृपापात्र हूँ। झाँसी से आने के बाद जुही, कानपुर में 'सरस्वती' का सम्पादन जब होता था तब मैं भी, सेवा में, जयपुर से पहुँचा था। उस समय उनको 'काव्य-मञ्जूषा' मेरे स्वर्गीय मित्र श्री चन्द्रधर गुलेरी (सह-पाठी) और मिस्टर जैनवैद्य ('नागरीभवन' के संस्थापक) जी ने प्रकाशित की थी। उसके बाद अजमेर आते-जाते हुए द्विवेदी जी हमी लोगों की टूटा-फूटी सेवाओं को स्वीकृत करने और आवश्यक हिन्दी-साहित्य का उपदेश आदि देने के विचार से १।२ बार ठहरे भी थे। उसी समय से लेख लिखना सीखा और 'सरस्वती' में कई लेख उन्हीं के इशारे पर लिखे भी थे। उस समय सम्पादकों में जो विनोद-पूर्ण संघर्ष होता था उससे मैं पूर्णरूप से परिचित हूँ। 'भाषा की अनस्थिरता' में व्याकरण से शुद्ध 'अनस्थिरता' को सिद्ध करके यहीं से लिख भेजा था।

दौलतपुर में धर्मपत्नी के स्मारक-मन्दिर में जो शिलालेख है उसका मैंने ही ढाँचा बनाया था। अनेक बातें हैं। क्या क्या लिखूँ? प्रतिवर्ष में यहाँ से जब स्वदेश अयोध्या को जाता तब अवश्य जुही दोपहर में पहुँचता, ख़ूब जलपान करता और ख़ूब पान खाता एवं विदा होते समय आग्रहपूर्वक एक पान प्रसाद-रूप भी माँग कर खाता था।

मेरे पास बहुत से पत्र उनके थे, पर अब वे गड़-बड़ हो चुके हैं। गत वर्षों में जो पत्र मेरे पिता म० म० श्री दुर्गाप्रसाद द्विवेदी जी (अध्यक्ष, संस्कृत कालेज, जयपुर) के स्वर्गवास तक (गतवर्ष) आये थे, उनमें जो मिल गये हैं, प्रकाशनार्थ भेजता हूँ। बस!

गिरिजाप्रसाद द्विवेदी

(१)

दौलतपुर, रायबरेली
५-११-२६

नमोनमः

बहुत समय बाद आपका पोस्टकार्ड मिला। ख़ुशी हुई।

मैं अपना हाल क्या लिखूँ। ४ महीने कानपुर में म्रियमाण दशा में पड़ा रहा। ३ महीने सिर्फ़ दूध पीकर रहा। मरते मरते बचा। कुछ दिन नरक यातनायें और भोगनी हैं। किसी तरह जीता हूँ। चल फिर बहुत कम सकता हूँ। ईश्वर करे आपकी चिन्तायें दूर हो जायँ। कष्टों का सामना करना ही चाहिए। भयभीत होने से उनसे बचाव नहीं हो सकता।

विनयी
म० प्र० द्विवेदी

(२)

दौलतपुर रायबरेली
१९-८-२७

श्री मत्सु सादरं प्रणतयः

१५ का पोस्टकार्ड मिला। पिता के स्थान में आप जयपुर पहुँच गये, यह सुनकर ख़ुशी हुई। अब वहीं जम कर काम कीजिए। पुस्तकादि लिखने का सिलसिला भी जारी रखिए। बहुत बाद आपके कुशल समाचार मिले, इससे बहुत सन्तोष हुआ।

इस समय मैं उदर व्याधि से पीड़ित चारपाई पर पड़ा हूँ। अधिक लिख नहीं सकता।

आपका
म० प्र० द्विवेदी

(३)

दौलतपुर (रायबरेली)
२४-१२-२८

सादर प्रणाम

पोस्टकार्ड मिला। मैं इधर बहुत बीमार रहा। २ महीने कानपुर में म्रियमाण दशा में था। परसों लौटा हूँ। बहुत कमज़ोर हूँ। डाक्टरों ने लिखने पढ़ने की सख़्त मुमानियत कर दी है।

रामायण-समालोचना का मूल्य पुस्तक पर लिखा नहीं। वह पुस्तक भी इस समय मेरे पास नहीं। भेजनेवाले के कार्ड पर यह पता है—

बालकृष्ण पाण्डुरङ्ग ठकार,
मालिक चिपलूनकर कम्पनी,
बुधवार पेठ, पूना।

आशा है आप अच्छी तरह हैं। मुझ पर पूर्ववत् कृपा बनी रहे।

आपका
म० प्र० द्विवेदी

(४)

दौलतपुर (रायबरेली)
६-२-१९३०

श्रीमत्सु सादरं प्रणामाः

बहुत दिनों के बाद आपका पोस्टकार्ड मिला। आपके कुशल समाचार जानकर परमानन्द हुआ। आप कभी-कभी मेरा स्मरण कर लिया करते हैं, इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

भाई साहब मेरा शरीर अब जीर्ण होता चला जा रहा है। लिखने पढ़ने की शक्ति बहुत कम रह गई है। सिर्फ़ दूध पीकर शरीररक्षा कर रहा हूँ। बाहर बहुत कम जाता हूँ। गर्मियों में यदि कानपुर गया तो आपको सूचना दूँगा। परमात्मा आपको प्रसन्न रक्खे। कृष्णदत्त प्रसन्न हैं।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

(५)

दौलतपुर (रायबरेली)
२७-९-३३

नमोनमः,

बाद मुद्दत के आपके पोस्टकार्ड के दर्शन हुए।

यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ कि आपके पिता जी के नेत्रों की ज्योति जाती रही। इस बुढ़ापे में यह व्याधि और भी अधिक क्लेशकारिणी होती है। उनको मेरा हाथ जोड़कर प्रणाम।

ईश्वर से प्रार्थना है कि आपके दोनों पुत्र विद्वान् हों, दीर्घायु हों और यशस्वी हों।

भाई मेरे, मैं किसी तरह कालक्षेप करता हुआ, महाप्रस्थान की राह देख रहा हूँ। शरीर अत्यन्त निर्बल है। चल फिर कम सकता हूँ, नींद भी बहुत कम आती है। शाक और दूध पर ही रहता हूँ। परमात्मा से निवेदन कीजिए, मुझे अब और अधिक कष्ट न दे।

प्रणत
म० प्र० द्विवेदी
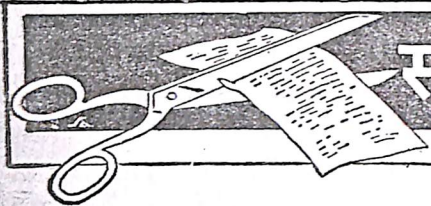
रोमन लिपि बनाम देवनागरी

कदाचित् अरबी और नागरी लिपि-सम्बन्धी अप्रिय विवाद को देखकर हमारे कुछ राजनैतिक नेता जिनमें पंडित जवाहरलाल नेहरू और राष्ट्रपति बाबू सुभाषचन्द्र वसु मुख्य हैं, यह राय दे रहे हैं कि भारत में रोमन लिपि का प्रचार होना चाहिए। यही नहीं, इस दिशा में क्रियात्मक पग तक उठाया गया है और आसाम की प्रान्तीय सरकार ने रोमन लिपि का प्रचार आरम्भ कर दिया है। ऐसी दशा में इस सम्बन्ध में राष्ट्र के सबसे बड़े नेता महात्मा गांधी के विचार जानने योग्य हैं। उन्होंने स्वयं अपने 'हरिजन' में अपने विचार स्पष्ट रूप से लिख दिये हैं। उनका वह लेख इस प्रकार है—

मैं अपनी यह राय तो ज़ाहिर कर ही चुका हूँ कि हिन्दुस्तान में सर्वमान्य हो सकनेवाली अगर कोई लिपि है तो वह देवनागरी ही है, फिर भले ही उसमें सुधार करने की गुंजाइश हो या न हो। शुद्ध वैज्ञानिक और राष्ट्रीय दृष्टि से देवनागरी की श्रेष्ठता मुसलमान भाई अपनी राज़ी से जब तक स्वीकार नहीं करते, तब तक उर्दू या फ़ारसी लिपि भी ज़रूर जारी रहेगी। इन दो लिपियों के साथ रोमन लिपि का मेल नहीं बैठता। रोमन लिपि के समर्थक तो इन दोनों ही लिपियों को रद कर देने की राय देंगे, किन्तु विज्ञान तथा भावना दोनों ही दृष्टियों से रोमन लिपि नहीं चल सकती। रोमन लिपि का मुख्य लाभ इतना ही है कि छापने और टाइप करने में यह लिपि आसान पड़ती है। किन्तु करोड़ों मनुष्यों को इसे सीखने में जो मेहनत पड़ती है उसे देखते हुए इस लाभ का हमारे लिए कोई मूल्य नहीं। लाखों, करोड़ों को तो देवनागरी में या अपने-अपने प्रान्त की लिपि में ही लिखा हुआ अपने यहाँ का साहित्य पढ़ना है, इसलिए उन्हें रोमन लिपि ज़रा भी सहायता नहीं पहुँचा सकती। करोड़ों हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए भी देवनागरी का सीखना आसान है, क्योंकि अधिकांश प्रान्तीय लिपियाँ देवनागरी से ही निकली हैं। मैंने मुसलमानों का समावेश जान-बूझकर किया है। मसलन, बंगाल के मुसलमानों की मादरी-ज़बान बंगाली है और तामिलनाड के मुसलमानों की तामिल। उर्दू प्रचार के वर्तमान आन्दोलन का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि हिन्दुस्तान भर के मुसलमान अपनी-अपनी प्रान्तीय मातृभाषा के अलावा उर्दू भी सीखेंगे। किन्हीं भी परिस्थितियों में कुरान शरीफ़ पढ़ने के लिए उन्हें अरबी तो सीखनी ही पड़ेगी। मगर करोड़ों हिन्दू-मुसलमानों के लिए रोमन लिपि का प्रयोजन तो अँगरेज़ी सीखने के सिवा कुछ भी नहीं। इसी तरह हिन्दुओं को अपने धर्म-ग्रन्थ मूल भाषा में पढ़ने के लिए देवनागरी सीखने की ज़रूरत पड़ती है और वे उसे सीखते ही हैं। इस तरह देवनागरी लिपि को सर्वमान्य बनाने के पीछे दृढ़ कारण है। अगर हम रोमन लिपि को दाख़िल करें तो वह निरी भार रूप ही साबित होगी और कभी लोक-प्रिय नहीं बनेगी। सच्ची लोक-जागृति जब हो जायगी तब इस प्रकार के भार रूप दबाव रह ही नहीं सकते। और जन-जागृति तो बहुत जल्दी आनेवाली है। फिर भी लाखों करोड़ों को जगाने में वक्त लगेगा। जागृति कोई ऐसी चीज़ तो है नहीं जो साँचे में ढालकर बनाई जा सकती है। देश के कार्यकर्ता तो केवल लोगों की मनोवृत्ति की पेशबीनी करके उसके आने में जल्दी कर सकते हैं।

रियासतों में उत्तरदायी शासन

हिमालय-रियासती-प्रजा-सम्मेलन के सभापति के पद से हाल में कांग्रेस के प्रधान नेता श्री भूलाभाई देसाई ने एक महत्त्वपूर्ण भाषण किया है जिसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है कि रियासतों में उत्तरदायी

शासन की स्थापना होनी चाहिए। उनके भाषण का एक महत्त्वपूर्ण अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

कुछ रियासतों में उत्तरदायी शासन का प्रश्न साम्प्रदायिक हौआ खड़ा करके ढक दिया जा रहा है। मैं यह साफ़ कह देना चाहता हूँ कि हम लोग जो उत्तरदायी शासन चाह रहे हैं वह सबके लिए है। हर बात में साम्प्रदायिकता का शोर मचाना बहुत बुरी बात है। राष्ट्रीय प्रश्नों का विचार राष्ट्रीय दृष्टि से करना चाहिए। साम्प्रदायिकता की पराकाष्ठा का पता इसी से लग जाता है कि इँग्लेंड और भारत के व्यापारिक समझौतेवाली बहस में श्री जिन्ना ने कह दिया कि मैं इससे अपना कोई वास्ता नहीं समझता क्योंकि इसमें मुसलमानों की बात नहीं है। मैं श्री जिन्ना साहब से पूछता हूँ कि पंजाब में मुसलमान जो रुई उपजाते हैं उस पर क्या 'सुभान अल्ला' लिखा रहता है और हिन्दू जो रुई उपजाते हैं उस पर गायत्री मन्त्र लिखा रहता है? मेरी समझ में इस तरह असली प्रश्नों को बिगाड़ना बड़ी भारी नासमझी है और ऐसा करना जानबूझकर लोगों को गुमराह करना है। भारत की प्रधान रियासत हैदराबाद में ५ से अधिक व्यक्ति इकट्ठे नहीं हो सकते। क्या इससे यह ज़ाहिर नहीं होता कि राजा लोग प्रजा का बल बढ़ते देखकर घबरा गये हैं? वे लोग प्रजा के संगठन से डर गये हैं और जनता की योजना में बाधा डालना चाहते हैं। आप लोग जनता के अधिकारों पर लगाई जानेवाली इस तरह की सारी अनुचित रुकावटों का डटकर विरोध कीजिए क्योंकि वे रुकावटें आपके आत्म-सम्मान को घटानेवाली हैं। मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपना डर दूर भगा दीजिए। ऐसा किये बिना आप लोग सत्याग्रह का शस्त्र ग्रहण नहीं कर सकेंगे क्योंकि वह शस्त्र वीरों के लिए ही है आप लोगों को हिंसा से बचे रहना चाहिए क्योंकि सरकारी दमन से आपके आन्दोलन को जितना नुक़सान नहीं होगा उतना हिंसा से होगा। इधर वर्षों से राजा और प्रजा के सम्बन्ध की मूल भावना ही बिलकुल बदल गई है। राजा लोग अपनी प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते। उन लोगों ने अपनी प्रजा को गुलाम बना रखा है और उसे चूसा करते हैं। रियासतों में जागृति के चिह्न दिखाई दे रहे हैं।

मुसलमानों को बँटवारे की माँग

मुसलमान राजनीतिज्ञता में बढ़े चढ़े माने गये हैं। कदाचित् इसी से उन्होंने यह माँग की है कि भारत में उनका हिस्सा बाँट दिया जाय। इसके लिए उनके एक विद्वान् नेता डाक्टर लतीफ़ ने एक योजना तक तैयार कर डाली है, जो इस प्रकार है—

१९३५ के इण्डिया एक्ट का विधान मुसलमानों को निम्न कारणों से ग्राह्य नहीं है:—(क) क्योंकि यह इस धारणा पर बनाया गया है कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है जब कि भारतवर्ष दो ऐसे सम्प्रदायों में विभक्त है जिनकी संस्कृति तथा सभ्यता मौलिक रूप से भिन्न है। (ख) क्योंकि प्रान्तों में तथा केन्द्र में जो सरकारें होंगी वह संख्या प्रधानों की अर्थात् हिन्दुओं की होंगी। (ग) क्योंकि इसके ज़रिये केन्द्र में, अधिकांश प्रान्तों में तथा दो चार को छोड़ कर सब रियासतों में मुसलमानों की बड़ी दुर्दशा रहेगी। (घ) क्योंकि इस्लामी ढङ्ग पर वह मुसलमानों को आर्थिक उन्नति तथा सांस्कृतिक विकाश करने नहीं देगा। (ङ) यह मुसलमानों के ऐतिहासिक महत्त्व पर पानी फेरता है तथा उनको ऐसी हैसियत प्राप्त करने से रोकता है जिससे कि वे देश पर एक सुन्दर असर डाल सकते।

इन्हीं कारणों से भारतीय मुसलमानों की ब्रिटिश पार्लियामेंट से यह प्रार्थना है कि वह इण्डिया एक्ट को रद कर एक ऐसी योजना बनावे जिससे भारतवर्ष सांस्कृतिक रूप से एक वर्ग स्वाधीन राष्ट्रों का संघ बन सके। ऐसे मंडलों के बटवारे में आबादियों को हटाने में कुछ समय लगेगा। आबादी हटाने के पहले ही मण्डल ठीक कर लिया जाय। आबादी के हटाने से जायदाद के हरजाने का सवाल आयेगा, सो उसे उन मंडलों की सरकारें आपस में तय कर सकती हैं।

मुसलमानों को निम्नलिखित मंडल दिये जायँ—

(क) उत्तर-पश्चिम मंडल—इसमें पञ्जाब, काश्मीर, सीमा-प्रान्त, बिलोचिस्तान, सिन्ध तथा खैरपुर और बहावलपुर रियासतें हैं। यह मुस्लिममंडल माना जाय जिसमें तीन करोड़ मुसलमान होंगे, किन्तु चूँकि इसमें सिक्ख तथा हिन्दू भी हैं तथा कुछ सिक्ख तथा हिन्दू रियासतें हैं, इसलिए यह उचित होगा कि हिन्दू तथा

सिक्ख जाकर इन रियासतों में जमा हो जायँ। इनको मंडल से बाहर जाने की ज़रूरत नहीं क्योंकि सांस्कृतिक दृष्टि से मुसलमानों से पृथक् नहीं हैं। काश्मीर की रियासत हिन्दू है, किन्तु इसमें मुसलमानों की आबादी बहुत अधिक है, काश्मीर के महाराजा ने इसे रुपयों के बदले पाया था तो या तो उन्हें रुपये देकर या काँगड़ा की घाटी (जिसमें आबादी अधिकतर हिन्दू है) देकर उनकी रियासत मुस्लिम मंडल में शामिल कर ली जाय। हाँ; अमृतसर सिक्खों के लिए धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, इसलिए यह शहर सिक्खों का स्वतन्त्र शहर माना जाय।

उत्तर-पूर्व मंडल—बंगाल और आसाम मिलाकर एक ठोस मुस्लिम मंडल या राष्ट्र हो, इसमें तीन करोड़ मुस्लिम होंगे।

दिल्ली-लखनऊ-मंडल—ऊपर के दो मंडलों के बीच कोई सवा करोड़ मुसलमान बसते हैं, दिल्ली से लेकर लखनऊ तक एक मंडल बनाया जाय जिसमें ये मुस्लिम इकट्ठे हों। यह मंडल इस प्रकार बनाया जाय कि उसमें रामपुर आ जाय और मथुरा, हरिद्वार, बनारस, इलाहाबाद छूट जाय।

दक्खिन का मंडल—विन्ध्याचल और सतपुड़ा के दक्षिण में कोई १२० लाख मुसलमान बिखरे हैं। हैदराबाद, बरार, तथा कर्नूल, कुडप्पा होता हुआ मद्रास शहर तक एक टुकड़ा दे दिया जाय तो यह मंडल मुसलमानों के उपयुक्त होगा। कुछ लोग शायद पश्चिम में एक टुकड़ा बीजापुर तक चाहें, इस बात को देखते हुए कि कोरामण्डल तथा मालाबार किनारे के मुसलमान व्यापारी तथा खलासी हैं यह योजना उपयुक्त होगी। राजपूताने के मुसलमानों को अजमेर देकर एक स्वतन्त्र शहर बना दिया जाय।

बाक़ी भारतवर्ष भाषा के अनुसार हिन्दू मंडलों में जैसे वे चाहें बँट सकता है।

जो लोग अपने धार्मिक मंडल को छोड़कर कार्यवश किसी और मंडल में रहें, उनको संरक्षण दिये जायँगे और ये संरक्षण केन्द्रीय सरकार द्वारा पास होंगे। मंदिर मस्जिद क़ब्रस्तान वग़ैरह जो पीछे छूट जायँगे राष्ट्र के द्वारा रक्षित होंगे।

हर हिटलर का दम्भपूर्ण भाषण

१ अप्रैल को हर हिटलर ने विलहशेवन में जो भाषण किया है उसका सारांश यह है—

ब्रिटेन का कोई राजनीतिज्ञ यदि यह चाहता है कि जर्मनी के प्रत्येक आन्तरिक मामले पर बहस की जाया करे, तो हम ब्रिटेन के सम्बन्ध में भी ठीक यही माँग पेश कर सकते हैं। फ़िलस्तीन में जर्मनी को कुछ नहीं देना इसी तरह ब्रिटेन को भी हमारे अन्दरूनी मामलों में कुछ नहीं लेना। फ़िलस्तीन में ब्रिटेन को दूसरों पर गोली चलाने का क्या अधिकार है, जब कि अपने यहाँ वह रक्षा की ख़ुद तैयारी कर रहा है। मध्य योरप में हमने कोई हज़ारों और लाखों आदमियों का क़त्ले-आम नहीं किया, बल्कि हमने जो कुछ किया शांति से किया।

३०० साल से ब्रिटेन बुराई से काम लेता रहा, लेकिन आज बूढ़ा होकर वह नेकी बघार रहा है।

जर्मन-अधिकार, पुराने इतिहास और भौगोलिक स्थिति को अपने सामने रखते हुए हमने जो उचित समझा कर दिया। हमने चैक लोगों को कुचलने के लिए जैकोस्लोवेकिया को अपने अधीन नहीं किया। तथा—कथित भले राष्ट्रों की जनता की अपेक्षा उन्हें ज़्यादा स्वाधीनता प्राप्त होगी। मैं समझता हूँ, मैंने शांति स्थापित करने के लिए बहुत बड़ा कार्य किया है, क्योंकि मध्ययोरप के एक बहुत बड़े ख़तरे को मैंने दूर कर दिया है; जर्मनी अन्य किसी राष्ट्र पर आक्रमण करने के स्वप्न नहीं ले रहा। हम तो अपने आर्थिक हितों की उन्नति चाहते हैं। रीश ऐसा अच्छा देश है कि उसे हर कोई अपना साझीदार बना सकता है।

शान्ति की इच्छा से ही मैंने आँग्ल-जर्मन सन्धि की थी। इस वर्ष न्यूरेम्बर्ग में नाज़ी पार्टी की जो कांग्रेस होगी, उसे शांति कांग्रेस कहा जायगा। मुझे आशा है कि राष्ट्रों में कोई आख़िरी समझौता हो जायगा। बाहर हमें कोई नहीं चाहता, लेकिन हमारी इज़्ज़त सभी करते हैं। अगर कोई देश हमारे साथ ताक़त आज़माना चाहता है, तो हम लोग हमेशा तैयार हैं।... अगर ब्रिटेन में शान्ति की चाह नहीं है, तो नौ-सन्धि का कोई क्रियात्मक असर न होगा। जो लोग आग में कूदेंगे वे जल जायँगे। विशाल रीश काफ़ी शक्तिशाली हो चुका है। हम किसी दूसरे राष्ट्र की कृपा पर ज़िन्दा नहीं।

जब ब्रिटेन बहुत छोटा था, तब प्रथम जर्मन बादशाह का प्रेग में राज्याभिषेक किया गया था। यदि चैक राष्ट्र जर्मन लोगों का दमन न करता और फिर यदि उसे कम्यूनिज़्म का हथियार न बनाया गया होता तो उसकी स्वाधीनता के ख़िलाफ़ हमें किसी क़िस्म की शिकायत न होती।

दूसरे राष्ट्रों से लाचार होकर जर्मनी भी अपने शस्त्रास्त्र बढ़ाता जायगा। इस दिशा में हम दूसरों की अपेक्षा ज़रा जल्दी से प्रगति करेंगे। रोम-बर्लिन धुरी त्रिकाल में भी क़ायम रहेगी। यह तो संसार का एक स्वाभाविक यन्त्र है।

अगर कोई आदमी मुझसे कहे कि ब्रिटेन व सोवियट रूस सैद्धान्तिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न हैं, तो मैं उसे बधाई दूँगा।

स्पेन एक ऐसा देश है, जिसने बोल्शेविज़्म से अपना पिण्ड छुड़ाया है। मुझे गर्व है कि अनेक जर्मन युवकों ने स्पेन में अपने कर्त्तव्य का अच्छी तरह पालन किया।

युद्ध से पहले जर्मनी अपने जीने के लिए स्थान बना रहा था। उसने शान्तिपूर्ण मार्ग अपनाया, लेकिन दूसरों ने उनके ख़िलाफ़ घृणा प्रकट की। नतीजा यह हुआ कि महायुद्ध छिड़ गया।

दूसरे राष्ट्रों ने जर्मनी को घेर लेने की सोच ली थी। ब्रिटेन के एक-राजनीतिज्ञ ने तो यहाँ तक कह दिया था कि यदि जर्मनी का अन्त कर दिया जाय तो ब्रिटेन का प्रत्येक व्यक्ति खुशहाल हो जायगा।

कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि गत योरपीय महायुद्ध में जर्मनी परास्त हो गया। प्रेसीडेंट विलसन की २४ शर्तें हमारे सामने हैं। जर्मनी को निश्शस्त्रीकरण की मिसाल बनाया गया और दूसरे राष्ट्रों से आशा की गई कि वे भी उसका अनुकरण करेंगे। सारी बातों पर खुली बहस हुई और जर्मनी के स्वभाग्य निर्णय के अधिकार को मान लिया गया। जर्मनी को इसी आश्वासन पर यक़ीन था। बाद में वायदाख़िलाफ़ी की गई, नतीजा यह हुआ कि योरप में अत्याचार और दमन का दौरदौरा शुरू हो गया।

अख़बारों का डाक-महसूल

काशी के कांग्रेसी नेता बाबू श्रीप्रकाश एम० एल० ए० हिन्दी के प्रेमियों में हैं। केन्द्रीय असेम्बली के सदस्य होने से वे इस बात का बराबर प्रयत्न करते रहे हैं कि अख़बारों के डाक-महसूल में अधिक से अधिक रियायत की जाय। सरकार ने इस साल के बजट में कुछ रियायत अख़बारों के महसूल में करने की कृपा की है जिसका वर्णन उन्होंने दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' में अपने लेख में किया है। उस लेख का मुख्य अंश हम यहाँ देते हैं—

अख़बारों पर कितना डाक-महसूल लेना उचित है—यह प्रश्न बड़ा टेढ़ा है। आज के संसार में अख़बारों का विशेष महत्त्व है। सभी की आकांक्षा होती है कि अख़बारों की समुचित उन्नति हो और उनके द्वारा उचित प्रचार और जन-शिक्षा हो। यही कारण है कि गवर्नमेंट भी अख़बारों को डाक से पहुँचाने के लिए विशेष सुविधा देती रहती है।

भारत में पहले बीस तोले तक वज़न के अख़बार दो पैसे में जा सकते थे। पीछे हलके अख़बारों की सहायता के लिए ८ तोले तक के अख़बार एक पैसे में जाने लगे। कुछ वर्ष हुए, बहुत आन्दोलन करने पर और असेम्बली में प्रस्ताव पास करने पर ८ तोले की जगह वज़न १० तोला किया गया।

इस समय तक स्थिति यह रही है कि चाहे कितना ही हलका अख़बार हो, उस पर एक पैसे का टिकट लगाना ही पड़ता है और इस दर पर एक ही अख़बार जा सकता है। दस तोले का अख़बार भी एक पैसे में जाता है और ढाई तोले का भी। मेरा प्रस्ताव यह रहा है कि एक पैसे में दस तोले तक जितनी प्रतियाँ जा सकें जाने दी जायें। पर यह गवर्नमेंट को मंज़ूर नहीं हुआ। उसका कहना था कि या तो बुक पैकट रेट से अख़बार जाय या फ़ी अख़बार के लिए एक पैसा दिया जाय।

अख़बारवालों पर इसका जो प्रभाव पड़ता रहा है उसे हम एक उदाहरण लेकर समझ लें। दो पैसे का अख़बार डाक से भेजने पर उसके मालिक १ रुपया मासिक लेते हैं। मास में प्रायः २६ प्रतियाँ जाती हैं। इस प्रकार

६॥ आना तो डाक-महसूल में जाता है और ६॥ आना अख़बारवाले को मिलता है। २६ प्रतियों के लिए एजेंट द्वारा अख़बार पानेवाले ग्राहक को १३ आना देना पड़ता है, जिसमें से एजेंट ख़ुद ३। आना ले लेता है और पौने दस आना अख़बारवालों को देता है। इस प्रकार एक पैसा अख़बारवाले को एजेंट के द्वारा बेचने में अधिक मिलता है, पर अख़बारवाले रेल से पार्सल अपने ख़र्च से भेजते हैं इस कारण यह एक पैसा उसमें ख़र्च हो जाता है। रेलवे पार्सल के लिए कम से कम तीन आना देना पड़ता है इस कारण तीन आने लायक़ बोझ से कम का बण्डल रेल से भेजना व्यर्थ है। फिर सब गाँवों के पास रेलवे स्टेशन भी नहीं होते।

एजेंट द्वारा १३ आने में लोग अख़बार भले ही ले लें, पर स्वयं लिखकर डाक द्वारा एक रुपये महीने में अख़बार लेने में लोग संकोच करते हैं। मैंने इस सम्बन्ध में यहाँ गवर्नमेंट के लोगों से बहुत बातें कीं। यह भी कहा कि डाकख़ाने का काम बढ़ेगा, उन्हें लाभ होगा, सम्भव है कि बहुत से पार्सल डाक द्वारा जाने लगें, रेल से न जायँ। पर यह मानते हुए कि मेरे कथन में तथ्य है, वे संकोच ही करते रहे। मुझे प्रसन्नता है कि इस साल यद्यपि मेरी पूरी बात नहीं मानी गई पर आधी बात मान ली गई और यद्यपि इस वर्ष भी गवर्नर-जनरल ने असेम्बली के [अन्य प्रस्तावों को न मानकर बिल 'सर्टिफ़ाई' कर दिया है, तथापि अख़बार की रियायत को पुनः गवर्नमेंट ने स्वीकार कर लिया है।

अब से यह व्यवस्था हुई है कि अगर किसी अख़बार के एक ही अंक की कई प्रतियाँ एक साथ बण्डल में भेजी जायँ तो दस तोले वज़न तक आध आना ही महसूल लगेगा। इसके ऊपर पाँच तोले पर एक पैसा लगेगा। २॥ तोले के अख़बार की चार प्रतियाँ दो पैसे में भेजी जा सकती हैं। पर ऐसा बण्डल डाकिया द्वारा किसी के मकान पर नहीं पहुँचाया जायगा। अख़बार का प्रमाणित एजेंट उसे डाकख़ाने से लेकर ग्राहकों को बाँट दे सकेगा। हिसाब लगाया जाय तो इस प्रकार हो सकता है—हर ग्राहक को दो पैसा देना होगा अर्थात् चार ग्राहक दो आना देंगे। ऐसे बण्डल गाँवों में ही अधिक जायँगे। सम्भव है कि एजेंट साधारण कमीशन के आधे पर काम करने को राज़ी हो जायँ। ऐसी अवस्था में एक पैसा एजेंट लेगा और दो पैसा डाकख़ाना। पाँच पैसा अख़बार-वाले को मिलेगा। अर्थात् साधारणतः डेढ़ के बदले सवा पैसा फ़ी अख़बार वह पावेगा। साथ ही अलग से रेल महसूल कुछ न देना होगा। अगर प्रचार अच्छा हुआ तो कोई हानि न होगी। मेरी प्रार्थना है कि अख़बार-वाले इस नई व्यवस्था का पूरा उपयोग करेंगे और इसे सफल बनाकर अपने अख़बारों का गाँवों में प्रचार करेंगे और डाकख़ाने के लिए यह सम्भव कर सकेंगे कि हमें आगे और रियायतें मिल सकें।

साम्प्रदायिक समस्या

इस विकट-समस्या के सम्बन्ध में प्रयाग के 'राष्ट्रमत' के सम्पादकीय में अच्छे विचार प्रकट किये गये हैं। उसकी मुख्य-मुख्य बातों को हमने यहाँ संकलित किया है—

आये दिन हम देखते हैं कि देश की साम्प्रदायिक समस्या बहुत जटिल होती जा रही है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए कांग्रेस और नेतागण जो प्रयत्न आज २०-२५ वर्ष से करते आ रहे हैं, उससे सफलता नहीं मिल रही है।

ब्रिटिश सरकार ने पहले से ही पृथक् निर्वाचन के द्वारा इस साम्प्रदायिक समस्या को जटिल बना दिया था, अब मुस्लिम लीग का ज़हरीला प्रोपेगण्डा उसमें कोढ़ में खाज का काम कर रहा है। संयुक्त-प्रान्त में तो इसका असर और भी ख़राब है। कानपुर, बनारस और इलाहाबाद में जो दंगे अभी हाल में हुए हैं, उनको देखने से साफ़ मालूम होता है कि ये हिन्दू-मुस्लिम दंगे अब केवल साम्प्रदायिक भाव से ही नहीं हो रहे हैं, बल्कि इनके अन्दर एक पेचीदा राजनीति काम कर रही है।

दंगा या साम्प्रदायिक हुल्लड़बाज़ी का मूल स्रोत कहाँ पर है; और इसको प्रोत्साहन कहाँ से मिलता है, उसी को हमें बन्द करना है। अब जिन मुहल्लों में दंगा या ख़ून ख़च्चर होगा, वहाँ अतिरिक्त पुलिस बैठाई जायगी; और इस पुलिस का ख़र्चा मुहल्लेवालों से लिया जायगा; और मुहल्ले-वाले इन गुंडों और दंगाइयों को स्वयं गिरफ़्तार न करेंगे, तो मुहल्ले के भले-मानसों को स्वयं गिरफ़्तार किया जायगा, इत्यादि-इत्यादि हमारी कांग्रेसी सरकार कर रही है। जितना

कुछ अधिकार हमारी कांग्रेसी सरकार के हाथ में है उसको देखते हुए ये इलाज अच्छे हैं; और इससे और कुछ लाभ हो या न हो, पर नागरिक लोगों को यह अनुभव अवश्य होगा कि दंगे के ज़िम्मेदार हम हैं; और सरकार अभी हमारी जान माल की रक्षा करने में पंगु है।

कानपुर की घटनाओं को अख़बारों में हमने जो पढ़ा, उससे मालूम हुआ कि मुस्लिम पुलिस पर भी मुस्लिम-लीग का काफ़ी असर है; और दुर्भाग्य से हमारे प्रान्त की पुलिस में मुस्लिम संख्याधिक्य काफ़ी से बहुत अधिक है; और ख़ासकर हेड कानिस्टिबल, जो कि पुलिस के सिपा-हियों और सर्वसाधारण जनता के विशेष सम्पर्क में रहते हैं, उनकी संख्या तो आधे से भी अधिक है। आगे हमारी गवर्नमेंट यदि पुलिस का सुधार करनेवाली हो और साम्प्र-दायिकता का नग्न नृत्य यदि इसी प्रकार जारी रहे, तो यह बहुत आवश्यक होगा कि कम से कम पुलिस में जो मुस-लिम संख्याधिक्य है, वह ज़रूर काट छाँट कर बराबर कर दिया जाय; और जब प्रान्त में सिर्फ़ १४ प्रतिशत मुसल-मानों की आबादी है, तो ज़्यादा से ज़्यादा २५ प्रतिशत से अधिक मुसलिम कर्मचारी पुलिस में न रहने पावें।

मुसलिमलीग का ज़हरीला प्रोपेगंडा हमारी सबसे बड़ी राज्यसभा असेम्बली में भी काम कर रहा है; और असेम्बली के मुसलिमलीगी साफ़-साफ़ कह रहे हैं कि मिनिस्ट्री में कोई मुसलिमलीगी नहीं है, इसी से साम्प्रदायिक दंगे हो रहे हैं। क्या असेम्बली के समान महासभा के इस बेतुके प्रोपे-गण्डा का असर प्रान्त के मुसलमान अधिकारियों और कर्मचारियों पर नहीं पड़ता?

मुसलिमलीग के इस अखिल भारतवर्षीय विषाक्त प्रचार की प्रतिक्रिया हिन्दुओं पर भी हो रही है; बिहार प्रान्तीय हिन्दू सभा में हिन्दू नेताओं के जो भाषण हुए हैं, वे मुस्लिमलीग का ही जवाब हैं। इसी प्रकार रियासतों में भी यह रोग अब बढ़ेगा, ऐसा हमको दिखाई दे रहा है; क्योंकि हैदराबाद के आर्यसत्याग्रह का जवाब अब मुस्लिम-लीग जयपुर के ३,००० मुसलमानों की हिजरत से दे रही है। ये हिजरत करनेवाले मुसलमान ब्रिटिश भारत में आकर और भी अशान्ति पैदा करें, तो किसी को आश्चर्य न होगा।

मुसलिमलीग इतना ही करके चुप नहीं है; बल्कि निज़ाम हैदराबाद के कोई बहुत बड़े राजनीतिशास्त्री डा० अब्दुल लतीफ़ साहब हैं। आपने मुसलिमलीग के आज्ञा-नुसार भारतीय राष्ट्र को दो विभागों में बाँट देने की भी एक अनोखी योजना बना डाली है। सारांश यह कि कांग्रेस और महात्मा गांधी हिन्दू-मुसलिम खाई को जितना ही पाटने की कोशिश करते हैं, उतना ही मुसलिमलीग इस खाई को गहरी करती चली जाती है

अब इसका इलाज हमको तो सिर्फ़ यही दिखाई देता है कि कांग्रेस अपनी ओर से एक ऐसी कान्फ़्रेंस बुलावे कि जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख और अन्यान्य सब राजनीतिक और धार्मिक दल के प्रभावशाली नेता उपस्थित हों। देश का कोई भी प्रभावशाली व्यक्ति आमन्त्रित करने से न छोड़ा जाय, फिर वह चाहे जिस तबके या गिरोह का हो; और उस कान्फ़्रेंस के सामने यह साम्प्रदायिक समस्या रखी जाय।

अलबानिया और बादशाह जोग

अलबानिया योरप का एक पिछड़ा हुआ मुसल-मानी देश है। आज-कल इटली उसे निगल जाने के प्रयत्न में है। बेचारे बादशाह जोग उसे बचाने में अस-मर्थ हैं। वे अपनी नवप्रसूता बेगम के साथ मारे-मारे फिर रहे हैं। इस देश में मध्यकाल की कुछ अद्भुत प्रथायें और अन्ध-विश्वास अब तक प्रचलित हैं। सहयोगी 'आज' ने एक लेख में इस देश की अनोखी रस्म-रिवाजों का बड़ा रोचक वर्णन किया है जिसे हम पाठकों के मनोविनोदार्थ नीचे दे रहे हैं—

अलबानिया में अभी तक सभ्यता नहीं आई है। यहाँ के दो तिहाई से अधिक निवासी मुसलमान हैं। उनकी रहन-सहन पुराने ढंग की है। पिता कुटुम्ब का पूरा मालिक है। वह सबसे बेगार ले सकता है और मौक़ा पड़ने पर चाहे जिसकी मरम्मत भी कर सकता है। विवाह के लिए प्रायः स्त्री का पहले हरण करना पड़ता है और कभी बच्चा हो जाने के बाद विवाह होता है। बाँझ स्त्री को वहाँ कोई नहीं पूछता। अविवाहित पुरुष निकम्मा समझा जाता है और कभी कभी तो मरने के बाद भी उसकी क़ब्र से किसी स्त्री का विवाह कर दिया जाता है। बहुविवाह की मनाही न होने पर भी देखा गया है कि यहाँ के मुसलमान भी एक ही स्त्री से विवाह करते हैं।

ग़रीबी के कारण एक से अधिक स्त्री का रखना उनके लिए कठिन हो जाता है। टोना-टोटके में वहाँ के लोगों को बहुत विश्वास है। अच्छी आँखोंवाला बच्चा चुड़ैल का लाड़ला समझा जाता है। कई जगह यह चाल है कि जब कोई मरता है तब उसकी हजामत बनाकर और अच्छे कपड़े पहनाकर उसे घर के आँगन में एक कुरसी पर बिठला देते हैं। उसके मुँह में एक सिगार दे दिया जाता है और पास में एक बन्दूक़ रख दी जाती है। तब फिर सब मित्र और कुटुम्बी उसे विदा करने आते हैं। जीवन का मूल्य तो वहाँ के निवासियों की दृष्टि में कुछ है ही नहीं। ज़रा सी बात पर किसी को गोली मार देना साधारण बात है। पर साथ ही यह भी है कि ख़ून का बदला प्रायः ख़ून ही से लिया जाता है। मरे हुए आदमी के कुटुम्बी जब तक मारनेवाले या उसके किसी कुटुम्बी के प्राण नहीं ले लेते, उन्हें चैन नहीं आता। पर यदि हरजाने का रुपया मिल जाता है तो फिर मेल हो जाता है। यहाँ के निवासी अपने को 'गिद्ध की सन्तान' कहते हैं और वास्तव में वे हैं भी वैसे ही। पहाड़ों की चोटियों पर वे सदा अपने शिकार की ताक में बैठे रहते हैं।

यहाँ के राजा जोग, जनको मुसोलिनी ने निकाल बाहर किया है, मुसलमान है। सन् १९१२ तक उनकी शिक्षा कुस्तुनतुनिया में हुई थी। कहा जाता है कि तब उन्हें जूते का फ़ीता तक बाँधने का शऊर न था। वहाँ से लौटने पर मिरयाना जागदीदी नाम की लड़की पर वे मुग्ध हो गये। परन्तु उसके पिता ने विवाह की अनुमति देने से इनकार कर दिया। तब जोग ने, जिनका नाम पहले जोगू था, प्रतिज्ञा की कि मैं किसी दिन अलबानिया का बादशाह बनकर अपनी योग्यता दिखलाऊँगा। फिर उन्होंने उस लड़की के हरण का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इसका पता मिलने पर उसके पिता ने झुँझलाकर अपने हाथ से बेचारी जोगदीदी की छाती में ख़ंजर भोंक दिया और उसकी लाश जोगू के पास भेंट में भेज दी। तब जोगू ने यह प्रण किया कि मैं कभी शादी न करूँगा। राजनीतिक घटनाचक्र ने सन् १९२८ में जोगू को अलबानिया का बादशाह बना ही दिया, तब उसने अपना नाम 'जोग' रखा, जिसका अर्थ है 'तेज़ शिकारी पक्षी'। गद्दी पर बैठने के बाद कई लड़कियों से उनके विवाह की बात चली। एक बार किसी ने पूछा कि आप विवाह क्यों नहीं करते, तो उन्होंने उत्तर दिया कि पत्नी को देने के लिए मेरे पास रखा ही क्या है? बात यह थी कि बादशाह बनने के प्रयत्न में उनके सिर पर ८०० ख़ून लद गये थे। उनका हरजाना चुकाये बिना उनकी ख़ैर नहीं थी। अन्त में उन्होंने हंगेरियन घराने की लड़की जेरल्डिन से विवाह कर लिया, जो कोई आठ दिन के बच्चे को गोद में लिये अपनी प्राणरक्षा के लिए इधर-उधर भटक रही है।

अपने पड़ोसी युगोस्लाविया और इटली दोनों से समय समय पर अपना काम निकालना जोग की नीति थी। पहले युगोस्लाविया की सहायता से सन् १९२६ में वे अलबानिया के राष्ट्रपति बने। फिर दूसरे ही साल उन्होंने इटली से सन्धि कर ली, जिसमें दोनों ओर से २० वर्ष के लिए एक दूसरे की रक्षा का वचन दिया गया। सन् १९२८ में मुसोलिनी का इशारा पाकर जोग राष्ट्रपति से बादशाह बन गये। अलबानिया में मिट्टी के तेल की कई खानें हैं। दूसरे ही साल उसके व्यापार के लिए इटालियन कम्पनी स्थापित हो गई। इतना ही नहीं, सन् १९३० से इटली के 'राष्ट्रीय बैंक' ने वहाँ का मुद्रा-निर्माण अपने हाथ में ले लिया। आगे चलकर इटली के महाजनों ने दस साल तक ६० लाख रुपया हर साल बिना सूद अलबानिया को उधार देना स्वीकार किया। इस धन से मुसोलिनी ने वहाँ के सेना-सङ्गठन और शिक्षा का भार अपने ऊपर लिया। इसके लिए और भी धन दिया गया। सन् १९३२-३३ में वहाँ भी राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर उठी। इस पर सन् १९३४ में इटली के १९ जंगी जहाज़ वहाँ जा धमके। तब बेचारे जोग ने १० हज़ार इटालियनों को अपने यहाँ बसने की अनुमति दी और कई इटालियनों को अपनी सेना का अफ़सर बनाना स्वीकार किया। इतने से भी मुसोलिनी को सन्तोष न हुआ और अब उन्होंने आक्रमण करके बड़े बड़े नगरों पर क़ब्ज़ा कर लिया है। राजा जोग भागे भागे फिर रहे हैं। यों तो वे शासकों में केवल एक वही मुसलमान थे। उनके राज्य के नाश से बाहर के मुसलमानों में भी कुछ क्षोभ उत्पन्न हुआ है। पिछले ही साल मुसोलिनी ने अपने को 'इसलाम का संरक्षक' घोषित किया था, पर अब यह उसकी अच्छी रक्षा हो रही है।
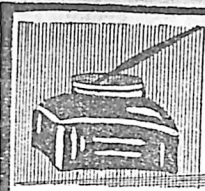
स्वायत्त-शासन का एक नमूना

गत मार्च में कौंसिल आफ़ स्टेट में गवर्नर-जनरल-द्वारा तसदीक़ किया हुआ फ़ाइनेन्स बिल विचारार्थ पेश किया गया था। उसके सम्बन्ध में विरोधी पक्ष के मेम्बरों ने जो भाषण किये थे उनसे प्रकट होता है कि ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष को किस प्रकार का 'स्वायत्त-शासन' दिया है। कांग्रेस-पार्टी के नेता माननीय रामदास पन्तुलु ने बिल का विरोध करते हुए कहा कि—"फ़ाइनेन्स-बिल का इस प्रकार गत ५ वर्षों से लगातार वायसराय की तसदीक़ के बल पर पास होना एक भद्दा खेला है। हमारे लिए तो इस बिल की बहस में भाग लेना ही व्यर्थ है, क्योंकि हम जानते हैं कि वायसराय की तसदीक़ हो जाने के बाद किसी बिल में रत्तीभर भी हेर-फेर करा सकने का हमें अधिकार नहीं। 'तसदीक़' के अधिकार का ऐसा अनर्गल प्रयोग जनमत की उपेक्षा करना और प्रजातन्त्र की भावना को ठुकराना है। इस संस्था के निर्माताओं का भी शायद ऐसा विचार न रहा होगा कि गवर्नर-जनरल महोदय 'तसदीक़' के अधिकार का ऐसा स्वच्छन्द और प्रचुर प्रयोग करेंगे। इस दशा में हम कम से कम यही कर सकते हैं कि इस बिल के विचार से स्वयं को पृथक् कर लें।"

क्या यही है स्वायत्त-शासन का वरदान, जिसके लिए भारतवासियों को भाँति-भाँति के प्रलोभन दिये गये थे?

श्रीमान् काशी-नरेश का स्वर्गवास

गत ५ अप्रैल को काशी-नरेश महाराज सर आदित्यनारायणसिंह का हृदय की गति रुक जाने से अचानक कैलासवास हो गया। मृत्यु के समय आपकी अवस्था ६५ वर्ष की थी। कुछ महीनों से आप अस्वस्थ थे, पर पिछले कुछ दिनों से आपके स्वास्थ्य में सुधार के लक्षण दीख पड़े थे। मृत्यु की रात्रिवाली संध्या को तो आप टहलने भी गये थे और पूछे जाने पर अपनी तबीअत अच्छी बतलाई थी। उस दिन प्रातः से ही आपका दिल कुछ भारी था और श्वास-कष्ट भी था।

अपने पिता महाराज सर प्रभुनारायणसिंह के दिवंगत होने पर आप सन् १९३१ में गद्दी पर बैठे थे। आपको अपने राज्यकाल में अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा। स्वभावतः आप शान्तिप्रिय और धर्मात्मा नरेश थे। बनारस का राज्य समवेत नहीं है। बीच-बीच में ब्रिटिश-राज्य के आ जाने से वह काफ़ी बिखरा हुआ है। फलतः शासन-व्यवस्था में इतना ख़र्च पड़ता है कि रियासत उसे बरदाश्त नहीं कर पाती। इधर प्रजा ने स्वायत्त-शासन की माँग का आन्दोलन छेड़ दिया था। महाराज बड़े प्रजावत्सल और शान्ति-प्रेमी थे। फलतः प्रजा को सन्तुष्ट करने के लिए आपने उत्तरदायी शासन स्थापित करने का वचन दिया था और यदि आप जीवित रहते तो उसकी स्थापना कर भी डालते। आन्दोलन का दमन करने के लिए आप उकसाये भी गये थे। पर आप उसके लिए किसी प्रकार राज़ी न हुए और अपने वचन की पूर्ति के लिए प्रसिद्ध राजनैतिक नेता श्री सच्चिदानन्द सिन्हा की अध्यक्षता में आपने एक कमिटी बना दी, जिसे शासन-सुधार-योजना बनाने का काम सौंपा गया।

आप एक विद्वान् नरेश थे। काशी-विश्वविद्यालय की आपने समय-समय पर प्रशंसनीय सहायता की है। अन्यान्य शिक्षा-संस्थाओं को भी आपसे नियमित सहायता मिलती रहती थी।

आपके उत्तराधिकारी आपके दत्तक पुत्र श्रीयुत विभूतिनारायणसिंह हुए हैं। नये महाराज की अवस्था अभी केवल १२ वर्ष की है। ईश्वर आप को चिरायु करे और एक योग्य शासक बनाये, यही हमारी कामना है।

राष्ट्रपति की बीमारी

राष्ट्रपति सुभाषचन्द्र वसु के पुनः राष्ट्रपति चुने जाने पर देश में राजनैतिक दाँव-पेचों का जो बातावरण आस्तित्व में

आ गया था, उसने त्रिपुरी-कांग्रेस में तो ऐसा बवंडर उठाया कि उसके निकल जाने पर भी अभी तक हवा साफ़ नहीं हुई है और साँस लेने में दम घुटता है। इस सम्बन्ध में सुभाष बाबू ने 'माडर्न रिव्यू' में एक महत्त्वपूर्ण लेख लिख कर तत्कालीन परिस्थिति पर पूरा प्रकाश डाला है। यह सच है कि कांग्रेस-अधिवेशन के कुछ सप्ताह पूर्व से ही राजनैतिक क्षेत्रों में सुनाई देने लगा था कि सुभाष बाबू का वर्किङ्ग कमिटी की बैठक के ऐन मौक़े पर बीमार पड़ जाना राजनैतिक प्रयोजनों से ख़ाली नहीं है। फिर त्रिपुरी में तो इस सन्दिग्ध भावना का प्रचार चरम सीमा पर हो पहुँच गया। यहाँ तक कि वर्किङ्ग कमिटी के कुछ सदस्य भी सुभाष बाबू की बीमारी में राजनैतिक दाँव-पेच की गन्ध पाने लगे थे। बड़े-बड़े डाक्टरों, सिविल सर्जनों और इन्सपेक्टर जनरलों की विज्ञप्तियों के होते हुए भी उनमें से एक सज्जन को एक डाक्टर से यह पूछने की आवश्यकता पड़ ही गई कि क्या सुभाष बाबू सचमुच बीमार हैं, क्या आपने उनका टेम्परेचर स्वयं लेकर देखा है, क्या उन्हें सचमुच १०२° का बुख़ार है। यह तो राजनैतिक स्वार्थान्धता की चरम सीमा है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य ऐसा विक्षिप्त बन जाता है कि वह साधारण शिष्टाचार और सहृदता को ही नहीं, मनुष्यता को भी छोड़ बैठता है। सुभाष बाबू ने अपने लेख में इस परिस्थिति का जो चित्र अंकित किया है उसे देखकर किसी भी सहृदय को भारी क्षोभ, लज्जा और ग्लानि का अनुभव होगा। देश की राजनीति से सम्बन्ध रखनेवालों को तो वह लेख अवश्य ही पढ़ना चाहिए।

——

धर्म के नाम पर !

हमारी धर्मान्धता पर जब कोई मिस मेयो कटाक्ष करती है तब हम तिलमिला उठते हैं और उसे धूल का जवाब कीचड़ से देने को तैयार हो जाते हैं, पर यह सोचना गवारा नहीं करते कि हमारा धर्म जिसे हम प्राचीन, व्यापक और उदार समझते हैं, अपने अन्दर कितना कूड़ा-करकट छिपा सकता है। राम और कृष्ण के नाम की आड़ लेकर दिन-दहाड़े समाज में जो लीलायें होती रहती हैं उनका भंडाफोड़ होने पर कभी कभी ऐसे रहस्यों का पता लग जाता है जिन्हें देख-सुनकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। पर इतने पर भी हमारी निद्रा भंग नहीं होती! हम देखते हुए भी अन्धे और सुनते हुए भी बहरे बने रहते हैं। हमारी बछिया के ताऊवाली मनोवृत्ति से लाभ उठाने के लिए देश के किसी-न-किसी उपयुक्त क्षेत्र में कृष्ण या राम के एक-आध अवतार होते ही रहते हैं और हम अपनी विवाहिता या अविवाहिता बहू-बेटियों को उनके पास धर्म की दीक्षा लेने के लिए निःसंकोच भेज देते हैं। संकोच का प्रश्न ही क्या! हम तो ऐसा करने में अपना गौरव मानते हैं! यही तो हिन्दुत्व की उदारता है! यही तो उसकी महत्ता है!

पिछले कई महीनों से हम कराची के दादा लेखराज और उनकी ओम्-मंडली की चर्चा अख़बारों में पढ़ रहे हैं। उनकी कृष्ण-लीला के विरोध में कराची के सुधार-प्रेमी नागरिकों को सत्याग्रह तक करना पड़ा, यहाँ तक कि श्री टी० एल० वास्वानी सरीखे लोकसेवी संन्यासी भी जेल में बन्द हो गये। यही नहीं, सिन्ध-प्रान्त की सरकार के दो हिन्दू मंत्रियों ने विरोध प्रदर्शनार्थ इस्तीफ़ा भी दे दिया। इतने आन्दोलन के बाद सरकार ने ध्यान दिया और उसने ओम्-मण्डली, दादा लेखराज और उनकी हरकतों पर नियन्त्रण लगाया है और अब अदालती कार्यवाही करना आरम्भ किया है।

दादा लेखराज की प्रमुख शिष्या ओमराधे ने अदालत में ओम्-मण्डली के सम्बन्ध में जो बयान दिया है उससे पता लगता है कि ओम्-मण्डली में यह शिक्षा दी जाती थी कि स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं। वहाँ विवाहिता स्त्रियों को अपने पतियों को छोड़ देने और अविवाहिताओं को आजन्म कुमारी रहने की शिक्षा दी जाती थी। यह भी सिखलाया जाता था कि दादा लेखराज कृष्ण के अवतार हैं और मण्डली की समस्त स्त्रियाँ उनकी गोपिकायें!

हमें शिकायत है अपनी उन पर्दानशीन बहू-बेटियों से जो घर से बाहर निकलने में तो लाज से गड़ जाती हैं, पर धर्म के नाम पर भेड़ की भाँति अन्धे कुएँ में जा गिरती हैं। बीसवीं सदी के द्वितीय चरण में भी यदि ये धर्म-मण्डलियाँ दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती और फलती-फूलती रहें तो इसका श्रेय हम अपनी धर्मभीरु माताओं, बहनों, बधुओं और कन्याओं को छोड़कर और किसे दें?

——

लाहौर की विश्वेश्वरानन्द-वेद-अनुशीलन-समिति

लाहौर में विश्वेश्वरानन्द-वेद-अनुशीलन-समिति नाम की एक संस्था है, जो भारतीय पुरातन साहित्य और संस्कृति के अनुशीलन के लिए सुसगठित कार्य कर रही है। इस पुण्यकार्य का श्री गणेश स्वर्गीय स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी महाराज ने अपने प्रतिभाशाली शिष्य स्वामी नित्यानन्द की सहायता तथा सहयोग से सन् १९०३ में किया था। उन्होंने आरम्भ में बड़ोदा-नरेश स्वर्गीय महाराज सयाजीराव गायकवाड़ की संरक्षता में चारों वेदों की संहिताओं के शब्दों की एक क्रमबद्ध सूची तैयार की थी, जो सन् १९०८ में प्रकाशित हुई थी।

इस समय तक यह संस्था काफ़ी काम कर चुकी है। इसकी नियमानुसार रजिस्ट्री भी हो चुकी है और इसका किसी सम्प्रदाय या मतविशेष से संबन्ध नहीं है। जो भी व्यक्ति इस संस्था के उद्देश्यों और कार्यों के प्रति सहानुभूति रखता हो या इसे आर्थिक अथवा बौद्धिक सहायता देना चाहे, इसका सदस्य बन सकता है। इसकी सहायता के लिए जाति या धर्म का भी कोई प्रतिबंध नहीं है। गत १५ वर्षों से यह संस्था वेद-साहित्य के अनुशीलन का बृहत्तर कार्य अपने हाथ में लिये हुए है। सुविधा के लिए इस महत्परिश्रमापेक्षी कार्य को उसने चार खंडों में विभक्त कर लिया है। पहले खंड में वैदिक शब्दों का निघंट है। दूसरे में वैदिक शब्द-कोष। इसमें एतद्देशीय तथा विदेशीय वेद-विद्वानों ने वैदिक शब्दों के जो-जो अर्थ किये हैं उनका सन्दर्भ-सहित विस्तृत उल्लेख है। साथ ही वैज्ञानिक विवेचन भी दे दिया गया है। तीसरे खंड में विश्व-कोष है, जिसमें वेद-कालीन रहन-सहन, सभ्यता और संस्कृति के विषय में जो कुछ नूतन-पुरातन मत प्राप्त हो सके हैं उनका संकलन किया गया है। चौथे भाग में वैदिक ऋचाओं के समस्त अनुवाद दिये गये हैं। यह ग्रन्थ शान्तकुटी-पुस्तक-माला-द्वारा ४० जिल्दों में प्रकाशित किया गया है। प्रत्येक जिल्द में ५०० पृष्ठ हैं।

इस महती योजना की पूर्ति के लिए चालीस विद्वान् पंडित रात-दिन काम कर रहे हैं। इसके पूर्ण होने के लिए ८ लाख के व्यय का अनुमान किया गया है, जिनमें से २ लाख तो चन्दे-द्वारा वसूल होकर व्यय भी हो चुके हैं। शेष आवश्यक धन से आधे की पूर्ति भारत-सरकार, प्रान्तीय सरकारों, विश्वविद्यालयों और देशी राज्यों तथा कुछ उदारचेता महानुभावों से होने की आशा है।

इस प्रकार लगभग २० हज़ार रुपया प्रतिवर्ष १५ वर्ष तक उसे मिलता रहेगा। इस समय में वह अपना कार्य भी संभवतः पूर्ण कर लेगी। वैदिक-साहित्य के प्रेमियों को इस संस्था द्वारा प्रकाशित पुस्तकों से लाभ उठाना चाहिए।

——

जो तोकूँ काँटा बुवै ताय बोय तू फूल

मदोन्मत्त जापान ने निर्बल चीन पर जो भयानक और अमानुषिक अत्याचार किये हैं उन्हें पढ़कर रोवें खड़े हो जाते हैं। जिन व्यक्तियों ने चीनी प्रजा और चीनी क़ैदियों के साथ जापानी सैनिकों का बर्बरतापूर्ण व्यवहार अपनी आँखों देखा है उनका कहना है कि पशुता और निर्दयता के प्रदर्शन में जापान ने इस बार संसार भर का रेकर्ड तोड़ दिया है। युद्ध में दोनों ओर के सिपाही बन्दी होते हैं; अवश्य ही हज़ारों जापानी सिपाही चीनी सैनिकों के हाथ भी पड़े होंगे। परन्तु जापानी बन्दियों के साथ चीन जैसा व्यवहार कर रहा है उसे देखकर कोई भी सहृदय व्यक्ति चीन की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। चीन ने दिखला दिया है कि हम अपने बुरे से बुरे वैरियों के साथ भी व्यवहार करते हुए मनुष्यता का ध्यान रखते हैं। चीन युद्ध में चाहे जीत जाय या अपनी रक्षा करने में असमर्थ होने के कारण जापानी बर्बरता का चाहे शिकार हो जाय, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसने संसार के सामने एक महान् आदर्श रक्खा है। पशु-बल भले ही चीन को खा ले, पर नैतिक विजय चीन की ही मानी जायगी और भविष्य का इतिहास उसकी इस महान् नैतिकता की अनन्तकाल तक प्रशंसा करेगा।

जापानी क़ैदियों के साथ चीन में कैसा व्यवहार होता है, इसका पता हमें चीन के एक पत्र 'चायना-ऐट-वार' से लगता है। उसमें जापानी बन्दियों की दिनचर्या का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"चीनी कैम्पों में जापानी बन्दी व्यवस्थित जीवन व्यतीत करते हैं। प्रातः ५ बजे उठकर, नित्य कर्म से छुट्टी पाकर वे थोड़ा व्यायाम करते हैं। सात बजे उन्हें

कलेवा मिलता है। ९ बजे से ११ बजे तक पठन-पाठन होता है। दो घंटे विश्राम करने के बाद भोजन मिलता है। दोपहर के बाद दो से चार बजे तक सब अध्ययन-शाला में रहते हैं, जहाँ इच्छानुसार लिखते-पढ़ते हैं। पढ़ाई के लिए कोई निश्चित पाठ्यक्रम नहीं है। चार बजे स्नान होता है, फिर साढ़े पाँच बजे ब्यालू।

"छः बजे के बाद मन बहलानेवाले खेल, जैसे पिंग-पांग, शतरंज आदि खेले जाते हैं। रात को ९ बजे तक आवश्यक कामों से छुट्टी पाकर सब सो जाते हैं। बहुत से जापानी और कोरियन बन्दी चीनी पहरेदारों से चीनी-भाषा पढ़ते हैं और अपनी भाषा उन्हें पढ़ाते हैं। भाषाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा उनमें भ्रातृ-भाव उत्पन्न हो रहा है। कुछ बन्दी स्वभावतः बड़े हठी हैं। वे प्रेम-भाव की बातें सुनना भी पसन्द नहीं करते, पर बन्दी-कैम्प के अध्यक्ष कर्नल तसाऊ का विश्वास है कि वे लोग भी शीघ्र ही सीधी राह पर आ जायँगे। क़ैदियों में प्रजातन्त्र के भाव उत्पन्न करने की कोशिश की जाती है। अपनी रुचि के अनुसार भोजन-प्रबन्ध करने की उन्हें स्वतन्त्रता दे दी गई है। बुधवार को जापानी मिठाइयाँ खाने को दी जाती हैं। महीने में एक बार वे मिलकर जापानी धार्मिकोत्सव भी मनाते हैं। सिगरेट पीनेवालों को रोज़ सिगरेट का एक डिब्बा दिया जाता है। सप्ताह में एक बार चार औंस प्रतिबन्दी के हिसाब से शराब भी मिलती है। यह सच है कि वहाँ जापानी 'सेक' शराब नहीं दी जा सकती है, पर इसके बदले में चीन की सबसे बढ़िया शराब दी जाती है, जिसे जापानी सिपाही 'सेक' से कहीं अधिक पसन्द करते हैं। क़ैदियों को पत्र-व्यवहार की पूरी सुविधा दी गई है। हाँ, उनके पत्रों पर सैनिक नियमानुसार निगरानी अवश्य रक्खी जाती है। अपने घर से रुपये और वस्त्र मँगाने की सुविधा भी उन्हें प्राप्त है। घायल बन्दियों की चिकित्सा भी सावधानी से की जाती है। उन्हें थोड़े-थोड़े दिनों के बाद विद्वान् लोग उपदेश देते रहते हैं कि जापानी और चीनी एक ही नस्ल के हैं, अतः भाई-भाई हैं, उन्हें आपस में प्रेम-पूर्वक हिल-मिलकर रहना चाहिए। यह युद्ध जिसके लिए वे (जापानी सिपाही) चीन में भेजे गये हैं, चीन की इच्छा के विरुद्ध है। चीन लड़ना नहीं चाहता। पर जापान उसे लड़ने के लिए विवश कर रहा है। जापान रक्तपात और आक्रमण पर तुल गया है, जो दोनों जातियों के लिए भयानक है।"

इन शिक्षाओं का जापानी बन्दियों के हृदयों पर अच्छा प्रभाव पड़ा है और उन्हें जापान की युद्ध-नीति-सम्बन्धी मूर्खता का ज्ञान हो गया है। परन्तु सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि चीन ने अपने इस व्यवहार से अपने उदात्त राष्ट्रीय चरित्र का परिचय दिया है, जो अन्य राष्ट्रों के लिए अनुकरणीय है।

प्रान्तीय सरकारें और मादक-द्रव्य-निषेध

हमारे प्रान्त की सरकार ने गत वर्ष दो ज़िलों में मादक-द्रव्य-निषेध का काम चलाया था। उसमें उसे काफ़ी सफलता मिली। अतएव प्रोत्साहित होकर उसने इस वर्ष अन्य ४ ज़िलों में नशाबन्दी का कार्य आरम्भ कर दिया है। इस प्रकार अब ६ ज़िले इस योजना के अन्दर आ गये हैं। इनके नाम हैं—(१) एटा, (२) मैनपुरी, (३) बदायूँ, (४) बिजनौर, (५) फ़र्रुख़ाबाद और (६) जौनपुर। यह काम केवल हमारे प्रान्त में ही नहीं हो रहा है, किन्तु दूसरे कांग्रेसी प्रान्तों में भी हो रहा है। प्रसन्नता की बात है कि मादक-द्रव्यों के निषेध की योजना का प्रचार लगन के साथ हो रहा है। कुछ प्रान्तों को तो इसमें स्पृहणीय सफलता भी मिली है। वहाँ के निवासियों के रहन-सहन के पैमाने में नशा-बन्दी के कारण जो उन्नति हुई है, उसकी प्रशंसा श्रीयुत जगन्नाथ चारियर जैसे विशेषज्ञों ने भी मुक्त-कंठ से की है।

इस जनोपयोगी योजना के प्रचार से कांग्रेसी सरकारों को कितनी बड़ी आर्थिक हानि सहनी पड़ रही है, इसका अनुमान निम्न आँकड़ों से लग सकता है। ब्रिटिश भारत के कुल प्रान्तों को प्रतिवर्ष लगभग २१ करोड़ रुपये की आय नशीली वस्तुओं के कर से होती थी। इस आय में प्रधान प्रान्तों का प्रतिशत भाग इस प्रकार था—मदरास ३६, बिहार और उड़ीसा ३४, बम्बई २८, युक्तप्रांत १२ और पंजाब ११। इतनी आय छोड़कर और इसके कारण अपने को भयानक आर्थिक उलझनों में डालकर जिन प्रान्तीय सरकारों ने नशे का प्रचार बन्द करने का

बीड़ा उठाया है वे सर्वथा स्तुत्य हैं। कोई भी स्वदेशी सरकार अपने देशवासियों के नैतिक पतन को अधिक समय तक नहीं देख सकती और न वह अपने देश को नशेबाज़ बनाकर अपनी आय बढ़ाना ही उचित मान सकती है।

खेद है, कुछ लोग कांग्रेस सरकारों की नशाबन्दी की योजना के कारण कांग्रेस सरकारों से सख़्त नाराज़ हैं। वे कभी तो वेद और क़ुरान के वाक्यों-द्वारा नशीली वस्तुओं की उपादेयता प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं, कभी चिकित्सा-शास्त्र-द्वारा। कभी बम्बई के किसी पारसी मद्य व्यापारी की भारी आर्थिक क्षति का उद्धरण देते हुए उनका हृदय दयार्द्रवित हो जाता है; यही नहीं, वे सरकार को भी आर्थिक संकट का भयानक भूत दिखलाकर डराने की दुश्चेष्टा करते हैं। जब कुछ वश नहीं चलता तब सरकार को भरपेट कोस कर यही कहते हैं कि यह हमारे प्रान्त को 'रूखा' कर देना चाहती है। नशाबन्दी होते ही यहाँ की सारी चहल-पहल दूर हो जायगी।

पर इन लोगों की नीति सचमुच वैसी ही है जैसी 'अपनी नाक कटाकर पड़ोसी का सगुन बिगाड़नेवालों की' होनी चाहिए। उनकी दृष्टि से कांग्रेसी सरकारों की प्रत्येक कार्यवाही का विरोध होना ही चाहिए, चाहे वह जनता के लिए लाभदायक ही क्यों न हो, और चाहे उनका हृदय स्वयं भी भीतर ही भीतर उसकी प्रशंसा क्यों न करता हो! इन पढ़े-लिखे बुद्धुओं की समझ पर विदेशियों को भी तरस आता है। पर उन्हें तो बुद्धिमत्ता का अजीर्ण हो रहा है! वे ऐसी बातों की परवा कब करने लगे!

योरप की परिस्थिति

अपने वचनों, आश्वासनों को एक ओर रखकर जब जर्मनी ने बचे-खुचे ज़ेकोस्लोवेकिया को भी हड़प लिया, साथ ही मेमेल को लिथुआनिया से छीन लिया, तब ब्रिटेन के प्रमुख कर्णधार चैम्बरलेन साहब का आसन डिगा और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि यदि जर्मनी डेंज़िग लेने के लिए पोलेंड के साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती करेगा तो उसे ब्रिटेन और उसके साथी फ़्रांस आदि से लड़ना पड़ेगा। यह घोषणा उन्होंने फ़्रांस और रूस के प्रमुख व्यक्तियों के आश्वासन पाने पर ही की थी। वे इतना ही कहकर चुप नहीं हो गये, किन्तु उन्होंने योरप के अन्य राज्यों के कर्णधारों से गम्भीर परामर्श किया और ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि जर्मनी या इटली योरप के किसी स्वतन्त्र राज्य के साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती करेगा तो ब्रिटेन के नेतृत्व में योरप के अधिकांश राज्य आक्रमणकारी का सामना करेंगे। परन्तु कदाचित् इस बार छीना-झपटी करने की इटली की बारी थी और उसने यह सब होते हुए भी अपने निकटवर्ती मित्र राज्य अल्बेनिया पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कुल तीन दिन में कर लिया। उसके राजा-रानी ने भाग कर एथेंस में शरण ली और योरप की शान्ति की रक्षा करने का दम्भ करनेवाले ग्रेट ब्रिटेन आदि अल्बेनिया के मसले पर विचार-विनिमय ही करते रहे। वास्तव में उक्त घोषणा के शब्दों को देखते हुए कोई भी समझदार आदमी आसानी से कह सकता है कि वह घोषणा अकेले पोलेंड के सम्बन्ध में की गई है। चाहे जो अर्थ लगाया जाय, यह स्पष्ट है कि इटली ने अल्बेनिया पर आक्रमण करके चैम्बरलेन साहब की घोषणा का समुचित उत्तर दिया है। इटली और जर्मनी एक युग से युद्ध के लिए ललकार रहे हैं और उन दोनों ने पहले के सारे समझौतों को बारबार भंग किया है। परन्तु ब्रिटेन, फ़्रांस आदि को कभी हिम्मत ही नहीं हुई कि आगे आकर इन दोनों के गर्व को खर्व कर न्याय और नीति की रक्षा करते! यह सच है कि ब्रिटेन, फ़्रांस और रूस तीनों राज्य युद्ध के लिए भले प्रकार तैयार हैं, और उनके साथ योरप के अन्य राज्य भी हैं। परन्तु आज उनमें से एक भी आगे आने को प्रस्तुत नहीं है। यह बात दूसरी है कि उनमें से किसी पर आक्रमण होने पर वे लाचार होकर आत्मरक्षा के भाव से युद्ध में कूद पड़ें। जर्मनी और इटली को यह सारी परिस्थिति ज्ञात है, इसी से वे उनको बचाकर ही अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर रहे हैं। यही कारण है कि योरप के सभी छोटे राज्य आतंकित और भयत्रस्त हैं और उनमें से कुछ ने अपने यहाँ का सोना अमरीका भेज दिया है। यह हाल है उस योरप का जो अभी कल तक अपनी न्यायनिष्ठा और प्रबलता के लिए संसार में अग्रगण्य था। चाहे जो हो, आज तो योरप की दयनीय दशा है। जर्मनी और इटली का सारे योरप पर आतंक छाया हुआ है। स्पेन उनके

प्रभाव में आ गया है। ज़ेचोस्लोविकिया और अल्बेनिया की स्वाधीनता का लोप हो गया है। अब पोलेण्ड की या डेन्मार्क की बारी होगी, यह अभी नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह स्पष्ट है कि जर्मनी उन प्रदेशों को बिना छीने नहीं मानेगा, जिनमें जर्मन बसते हैं तथा जो दूसरे देशों के अन्तर्गत हैं। इसी तरह इटली भी उन भूभागों को अपने अधिकारभुक्त करना चाहता है जो प्राचीन रोमन-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। और ये दोनों देश अपने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सैनिक-दृष्टि से पूर्ण रूप से तैयार हैं। और बारी बारी से उसकी पूर्ति भी करते जा रहे हैं। यह सच है कि ब्रिटेन, फ़्रांस और रूस उनसे पीछे नहीं हैं और युद्ध के लिए वे भी भले प्रकार तैयार हैं, परन्तु उनमें साहस और आत्मविश्वास का अभाव है, साथ ही उनमें परस्पर अविश्वास भी है। चाहे जो हो, यह बात स्पष्ट है कि योरप में महायुद्ध छिड़े बिना नहीं रहेगा और दिन-प्रतिदिन उक्त अवसर निकट आता जा रहा है।

संयुक्तप्रान्त में अपराधों की वृद्धि

शासन-रिपोर्ट के आधार पर 'साप्ताहिक आज' ने संयुक्तप्रान्त में होनेवाले अपराधों के सन् १९३६, सन् १९३७ और सन् १९३८ के आँकड़े दिये हैं, जो ये हैं—

युक्तप्रान्त में १९३६, ३७ और ३८ में हुए अपराधों की तालिका इस प्रकार है—

अपराध—	१९३६	१९३७	१९३८
डकैतियाँ—	४१२	४९५	७०२
चोरियाँ—	२८३१३	२९६८७	३४७४५
हत्यायें—	८६२	१०१३	११३५
दंगे—	१४६४	२०५८	२७५०

इनमें प्रतिशत इतने मुक़दमे चलाये गये—

डकैतियाँ—	५३	३९	३०
चोरियाँ—	१४	१२	१०
हत्यायें—	५१	४६	४१
दंगे—	३५	२७	२३

और प्रतिशत इतने मुक़दमों में अभियुक्तों को दण्ड मिला—

डकैतियाँ—	४१	२९	२१
चोरियाँ—	११	१०	८
हत्यायें—	३०	२७	२२
दंगे—	२५	१९	१५

इन आँकड़ों से प्रकट होता है कि अपराधों में बराबर वृद्धि हुई है और १९३९ में प्रान्त में जो स्थिति रही है उसके अनुसार उस साल अपराधों में और भी अधिक वृद्धि हुई होगी। और यह बात सुशासन की दृष्टि से सर्वथा अशोभन और अवाञ्छनीय है। और अब जब प्रान्त के शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथ में है तब अपराधों की वृद्धि होनी आश्चर्यजनक है। आशा है, प्रान्तीय सरकार के अधिकारियों का ध्यान इस ओर समुचित रूप से आकृष्ट होगा।

साम्प्रदायिकता का रोग

मुसलमानों में साम्प्रदायिकता का रोग अत्यधिक व्यापक हो गया है। उस दिन प्रान्तीय असेम्बली में ख़ाँ बहादुर हाजी अब्दुर्रहमान ने कहा कि प्रान्तीय सरकार ने काशी के हिन्दू विश्व-विद्यालय को पचास हज़ार रुपये की वार्षिक सहायता देने की व्यवस्था करके पक्षपात का काम किया है, क्योंकि उसने अलीगढ़ की मुस्लिम-यूनीवर्सिटी को दो हज़ार रुपये वार्षिक की ही सहायता देने की व्यवस्था की है। इस रूप में उनका आरोप यथार्थ है। परन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि शिक्षा-मंत्री ने अपने उत्तर से हाजी जी के आरोप को निस्सार सिद्ध कर दिया। शिक्षा-मंत्री ने बताया कि मुस्लिम-यूनीवर्सिटी चौंसठ हज़ार रुपया वार्षिक पहले से पा रही है जब कि हिन्दू-यूनीवर्सिटी की कई वर्षों से सहायता बन्द थी। ऐसी दशा में तो एक प्रकार से मुस्लिम-यूनीवर्सिटी को हिन्दू-यूनीवर्सिटी की अपेक्षा वार्षिक १६ हज़ार रुपया ज़्यादा मिलेंगे। वास्तव में सरकार का यही विषम व्यवहार ही उपर्युक्त मनोवृत्ति का कारण है। यदि सरकार किसी निश्चित सिद्धान्त के आधार पर अपनी व्यवस्थायें करती होती तो सम्प्रदायवादियों को ऐसी बातें कहने का अवसर ही न आता। उसने जब शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया है तब उसे सुधार-क़ानून के अनुसार ही अपनी व्यवस्थायें जारी करनी चाहिए। ऐसा करने पर न मुसलमानों को कोई शिकायत होती, न हिन्दुओं को। परन्तु आज जो व्यवस्था जारी है उससे न हिन्दू सन्तुष्ट हैं, न मुसलमान। सरकार का ध्यान इस परिस्थिति की ओर जाना चाहिए और उसे ऐसी

समान नीति ग्रहण करनी चाहिए जिससे प्रजा के सभी वर्गों के स्वार्थों और हितों की रक्षा हो।

सिनकियांग के भारतीय व्यापारी

मध्य-एशिया का एक प्रदेश 'सिनकियांग' कहलाता है। यह भूखण्ड चीन के साम्राज्य का एक अंग है। परन्तु मुख्य चीन तथा चीन की राजधानी से यह प्रदेश अति दूर स्थित है, साथ ही आवागमन के साधनों का भी पूरा अभाव है। और इधर जब से चीन का जापान से संघर्ष छिड़ा है तब से सिनकियांग भी अशान्ति का केन्द्र रहा है। वहाँ के मुसलमानों ने चीन के आधिपत्य के विरुद्ध जो विद्रोह किया था उससे स्थानीय चीनी सरकार का प्रभुत्व तो लोप हो ही गया, साथ ही उन्हें भी स्वाधीनता न प्राप्त हुई। रूस-साम्राज्य की सीमा पर स्थित होने के कारण रूस के राजनीतिज्ञों ने वहाँ के गड़बड़ से लाभ उठाया। यद्यपि उस प्रान्त का शासन-सूत्र रूसियों की सहायता से चीनियों के हाथ में आ गया, तथापि सारी सत्ता रूसियों के हाथों में चली गई है, अर्थात् वह प्रदेश नाम-मात्र के लिए चीन के अन्तर्गत है, उस पर रूस का पूर्ण प्रभाव क़ायम हो गया है—उसी रूस का जो दूसरों का राज्य छीनना पाप समझता है और जो अपने को चीन के संकट-काल का मित्र घोषित करता है।

सिनकियांग का भारत से व्यापारिक सम्बन्ध है। वहाँ कुछ भारतीय व्यापारी निवास भी करते हैं। गड़बड़ के दिनों में उनको काफ़ी अधिक जान-माल की हानि उठानी पड़ी है। और अब जब रूस की सहायता से वहाँ शान्ति की स्थापना हुई है। तब वहाँ के भारतीयों को खदेड़ बाहर करने का उपक्रम हो रहा है। भारतीयों की इस दुरवस्था से भारत-सरकार पूर्णतया परिचित है, परन्तु अपनी निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादा के कारण वह भारतीयों के पक्ष में कोई प्रभावात्मक हस्तक्षेप भी नहीं कर सकती। इस समय ब्रटेन की रूस से सन्धि करने की बात चल रही है। उस सिलसिले में सिनकियांग का यह मसला भी कदाचित् उठाया जाय।

यदि आज चीन सबल होता तो सिनकियांग के भारतीय व्यापारियों को इस तरह के संकट का सामना न करना पड़ता।

स्वर्गीय लाला हरदयाल

प्रसिद्ध देशभक्त लाला हरदयाल का ४ मार्च को अमरीका के फ़िलाडेल्फ़िया नामक स्थान में स्वर्गवास हो गया। जिन प्रवासी भारतीयों को अँगरेज़-सरकार स्वदेश को लौटने की आज्ञा नहीं देती थी उनमें एक यह भी थे। परन्तु पिछले दिनों इनके सम्बन्ध में ख़ासा आन्दोलन हुआ था जिसमें राइट आनरेबल डाक्टर तेजबहादुर सप्रू ने प्रमुख भाग लिया था, फलतः भारत-सरकार ने इनके सम्बन्ध में अपनी निषेधाज्ञा उठा ली और ये स्वदेश लौटने का प्रबन्ध कर रहे थे कि सहसा इनकी मृत्यु हो गई।

लाला हरदयाल असाधारण प्रतिभा के एक विद्वान् व्यक्ति थे। फलतः स्वदेश में तथा विदेश में उन्होंने बड़ी ख्याति प्राप्त की। पिछले महायुद्ध के पहले वे योरप में रहकर अपने ढंग से मातृभूमि को स्वतन्त्र करने में लगे थे। युद्ध छिड़ जाने पर उनका सम्बन्ध जर्मनी के युद्ध-विभाग से हो गया और भारत में विद्रोह कराने के प्रयत्न में उन्होंने भी भाग लिया। अपने ऐसे ही कार्यों से वे भारत नहीं आ सकते थे, परन्तु महायुद्ध के बाद उन्होंने उन सब कार्यों से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया जिनके कारण ब्रिटिश सरकार उनसे नाराज़ हो गई थी।

इसके बाद उन्होंने जो लेख तथा पुस्तकें लिखीं उनसे प्रकट हुआ कि उनके विचारों में भारी परिवर्तन हो गया है और वे अब षड्यन्त्रकारी या विद्रोही नहीं रहे। यही सब देखकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें भारत लौटने की आज्ञा दे दी थी। परन्तु देश को उनके अनुभवों से लाभ उठाना नहीं बदा था और उनका स्वर्ग-प्रयाण हो गया।

लाला जी का जन्म दिल्ली में हुआ था। भारतीय विश्व-विद्यालय से ग्रेजुएट होने के पश्चात् वे बेडन छात्रवृत्ति तथा भारत-सरकार की छात्रवृत्ति प्राप्त कर आक्स-फ़ोर्ड के सेन्ट जान्स कालेज में पढ़ने के लिए विलायत गये। आक्सफ़ोर्ड में उन्होंने ख़ूब कीर्ति अर्जित की और एम० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास हुए। वहाँ से स्वदेश लौटने के बाद वे कुछ समय तक दिल्ली के सेण्टस्टिफ़न्स कालेज में अर्थशास्त्र के अध्यापक रहे। १९११ में वे कुछ मित्रों के आमन्त्रण पर अमरीका के सान-फ़्रांसिस्को नगर गये और वहाँ तथा इँग्लेंड और स्विडन

के अनेक विश्वविद्यालयों में अध्यापन-कार्य करते रहे। विदेश में रहते हुए उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए अटूट परिश्रम किया और भारत तथा भारतीयों की प्रतिष्ठा-वृद्धि के लिए लेखों और भाषणों का ताँता-सा बाँध दिया। अमेरिका में क्रान्तिकारी भारतीयों का जो दल 'हिन्दुस्तान ग़दर पार्टी' के नाम से विख्यात हुआ उसके मुख्य सञ्चालक वही थे। इस प्रकार २८ वर्ष तक लगातार विदेश में वे भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करते रहे।

लाला जी की विद्वत्ता प्रशंसनीय थी। अँगरेज़ी, फ्रेञ्च, जर्मन, इटालियन, स्पेनिश के अतिरिक्त उन्होंने लैटिन और ग्रीक भाषाओं का भी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था और भारतीय भाषाओं में हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी और संस्कृत के वे अच्छे ज्ञाता थे। हिन्दी में 'स्वाधीनता' तथा 'अमृत में विष' नामक उनकी दो पुस्तकों का अच्छा मान है। वे महात्मा बुद्ध को अपने जीवन का आदर्श मानते थे। राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास और नीति-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

मालवीय जी महाराज की अन्तिम अभिलाषा

महामना मालवीय जी ८० वर्ष के हो गये हैं; साथ ही उनका स्वास्थ्य भी गिर गया है। कभी तबीयत ज़्यादा ख़राब हो जाती है, कभी कुछ सँभल जाती है। महीनों से यही सिलसिला है। अभी त्रिपुरी की कांग्रेस से लौटते हुए पंजाब के एक सज्जन ने काशी जाकर मालवीय जी महाराज के दर्शन किये थे। उन्होंने मालवीय जी के स्वास्थ्य का चिन्ताजनक वर्णन अख़बारों में छपवाया है। उन्होंने अपने लेख के साथ महामना मालवीय जी का वक्तव्य भी छापा है जो इस प्रकार है।

"मुझे दुःख है कि मैं पड़ा हूँ और देश में एक लड़ाई छिड़ी हुई है और एक बड़े शत्रु से उसका मुक़ाबिला है। मैं विवश हूँ। मैं इतना कमज़ोर हो गया हूँ कि लोग मुझे कोई काम करने नहीं देते। देश पर इस समय संकट आया हुआ है। मुझे अनेक काम करने हैं। मैं चाहता हूँ कि देश का लम्बा दौरा करूँ और विश्वविद्यालय की आर्थिक दशा को अच्छी तरह सुधार दूँ। मुझमें अभी तक उत्साह है और मैं चाहता हूँ कि राष्ट्रीय संग्राम में क्रियात्मक भाग लूँ।" और उपर्युक्त बातें पूज्य मालवीय जी ने रावलपिण्डी सिटी कांग्रेस के प्रेसीडेण्ट योगी रामनाथ शास्त्री से कहीं। शास्त्री जी त्रिपुरी जा रहे थे और वे बनारस में पूज्य मालवीय जी से बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त के सेवा-उपवन में मिले। योगी रामनाथ जी का कहना है कि "यद्यपि मालवीय जी के शरीर में हड्डी ही हड्डी रह गई हैं, उनकी सब हड्डियाँ दिखलाई देती हैं, उनका बायाँ हाथ काँपता है तब भी उनका चित्त वैसा ही शान्त है और इस बुढ़ापे में भी उनकी देश-सेवा की अभिलाषा वैसी ही उत्कट और प्रबल है। मालवीय जी यद्यपि सौ क़दम भी नहीं चल सकते और न १० मिनट तक सीधे बैठ सकते हैं लेकिन उनकी मूर्त्ति वैसी ही भव्य और शान्त है। कुछ लोग उनसे सन्देश ले रहे थे। वे लगभग एक दजन आदमियों से मिले और ख़ास-ख़ास स्थानों पर अपने देशवासियों के दुःख के कारण घर छोड़ने की बात सुनकर बहुत दुखी हुए। देश की वर्तमान स्थिति पर बातचीत करते हुए पण्डित जी ने मुझसे कहा कि "वृद्धावस्था और चिन्ताओं के कारण मैं कमज़ोर तो होगया हूँ लेकिन मेरा हृदय पहले ही की तरह बलवान् है। काम करने और देश-सेवा के लिए मुझमें वैसा ही उत्साह है जैसा मुझमें युवावस्था में था। ज्यों ही मैं रोग से कुछ निवृत्त होऊँगा त्यों मैं देश का दौरा करूँगा और हिन्दू विश्वविद्यालय को आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त करने के बाद मरूँगा।"

भगवान् करे, मालवीय जी महाराज स्वस्थ हों, और उनकी अभिलाषा की पूर्त्ति हो।

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., ALLAHABAD.

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक
देवीदत्त शुक्ल—उमेशचन्द्र देव

जून १९३९ } भाग ४०, खंड १ संख्या ६, पूर्ण संख्या ४७४ { ज्येष्ठ १९९६

पतझर

लेखक, श्रीयुत श्री सुमित्रानन्दन पंत

रिक्त हो रहीं आज डालियाँ,—डरो न किञ्चित्
रक्तपूर्ण, मांसल होंगी फिर, जीवन-रञ्जित।
जन्मशील है मरण, अमर मर-मर कर जीवन,
झरता नित प्राचीन, पल्लवित होता नूतन।

पतझर यह,—मानव-जीवन में आया पतझर,
आज युगों के बाद हो रहा नया युगांतर।
बीत गये बहु हिम, वर्षातप, विभव-पराभव,
जग-जीवन में फिर वसंत आने को अभिनव।

झरते हों, झरने दो पत्ते,—डरो न किञ्चित्,
नवल मुकुल, मंजरियों से भव होगा शोभित।
सदियों में आया मानव-जग में यह पतझर,
सदियों तक भोगोगे नव मधु का वैभव-वर।

सन्त निहालसिंह

लेखक, श्रीयुत पण्डित मोहनलाल महतो

महतो जी हिन्दी के प्रेमी ही नहीं, उसके एक 'उदार' लेखक हैं। कहानी लिखने में उन्होंने नाम पाया है, पर संस्मरण लिखने में वे कहीं अधिक सिद्धहस्त हैं, जैसा कि पाठक इस संस्मरण को पढ़कर स्वयं अनुभव करेंगे।

(१)

एक पुरानी स्मृति इस समय अचानक आकर मेरे दिमाग़ के द्वार खटखटाने लगी। बहुत दिनों की बात है—शायद बारह-तेरह साल की पुरानी। हिन्दी के एक विख्यात साहित्यिक गया पधार रहे थे। आपने मुझे अपने आने की सूचना दी। उन दिनों मैं साहित्यिकों के दर्शनों का भूखा था। दौड़-दौड़ कर दर्शन-झाँकी करता फिरता था। सूचना मिलते ही मैं तो कदम्ब के फूल की तरह फूला न समाया। दो-चार मित्रों को अपने भाग्योदय का समाचार देता हुआ इस सौभाग्य की घोषणा, आलस्य त्याग कर, मैंने की। मेरी छोटी-सी मित्र-मंडली में खलबली मच गई—प्याले में तूफ़ान उठ आया, बाढ़ आगई, ज्वार-भाटा नज़र आने लगा। राम-राम करके वह दिन आ गया, जिस दिन साहित्यिक महोदय को आना था। दल बाँधकर मैं स्टेशन पहुँचा—एक मित्र से माँग कर अच्छा सा मोटर भी ले आया। ठीक समय पर गाड़ी आई। गाड़ी के साथ कुछ क़दम दौड़कर हाँफते हुए हम व्यग्रतापूर्वक साहित्यिक महोदय को खोजने लगे। सबसे पहले एक सेकेंड क्लास के डिब्बे में वेग से घुसा, तब दैत्य की तरह एक अँगरेज़ की भल्लाई-सी मूर्ति देखकर उलटे पाँवों लौट आया—ग़रज़ यह कि सेकेंड-फ़र्स्ट और इन्टर के तमाम डिब्बों में खोजने के बाद जब हम क़रीब क़रीब हताश हो गये तब एक पतली-सी आवाज़ इंजन के पास से आई—"वियोगी जी।"

मैंने देखा, थर्ड क्लास के दरवाज़े पर अपनी कम्बल में बँधी गठरी के पास हमारे विख्यात साहित्यिक महोदय खड़े हैं। जो हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने जा रही है उसके अनन्य सेवक की यह दशा! मैं अकचका कर जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। यह पुरानी बात है—मैं अपने साहित्यिकों की दशा पर आँसू बहाना नहीं चाहता, पर सच्ची बात मुंह से निकल ही जाती है। जिस साहित्य के कलाकार।) पेज पर अपने अन्नदाता प्रकाशक के लिए बँगला के सड़ियल बाज़ारू उपन्यासों का अनुवाद करके किसी तरह जीवित रहने का प्रयत्न कर रहे हों उस साहित्य के विषय में चुप रहना भी पाप है और कुछ बोलना या लिखना भी अपनी तौहीनी है—ऐसी दशा में हम क्या करें, समझ में नहीं आता।

यह संत साहब के संस्मरणों की मनहूस भूमिका है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि विश्व-विख्यात पत्रकार संत निहालसिंह (जिनके विषय में यह सुना जाता है कि जब यह भारत का लाड़ला 'हाउस-आफ़-कामन्स' में जाकर—प्रेस गैलरी में बैठता है तब वहाँ के वक्ताओं में आतंक छा जाता है और वे सँभल सँभल कर बोलने का प्रयत्न करते हैं) के संस्मरण आज मेरी क़लम से लिखे जायँगे। विश्वास है, संसार के विख्यात महापुरुषों के संस्मरण लिखनेवाले इस क़लम के धनी के संस्मरण लिखकर मैं अपने को, अपनी लेखन-कला को, अपने लेखक-जन्म को धन्य बनाने में समर्थ हूँगा। मुझे संतोष होता यदि संत निहालसिंह की क़लम मेरे हाथ में होती!

पाठक अब अदब से सिर झुका लें। इन पंक्तियों के बाद वे संत साहब के संस्मरण पढ़ना आरम्भ करनेवाले हैं—इति।

(२)

संत निहालसिंह जी का नाम मैंने कब सुना था, यह याद नहीं, पर स्वर्गीय जायसवाल जी प्रायः उनकी चर्चा किया करते थे। भारतीय लेखकों में जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करना नसीब हुआ है, उनमें संत जी का स्थान—डाक्टर जायसवाल के मत से—उच्च है। 'सरस्वती' में प्रकाशित संत साहब के लिखे हुए संस्मरणों की चर्चा चलाने पर वे प्रायः दुःखभरे शब्दों में कहा करते थे कि—"संत जी का जितना साथ भाषा देती है उतना यदि मेरा—जायसवाल जी का—देती तो मैं भी कुछ संस्मरण लिखता।" जायसवाल साहब चांगकाई शेक, बर्नार्ड शा, वेल्स आदि की मुलाक़ातों की चर्चा चलाया करते थे

और मुझे लिखने का आदेश भी देते थे, पर मैं फूस की नौका पर चढ़कर प्रशान्त महासागर पार करने की हिम्मत रखनेवालों में अपनी गणना कराने की ग़लती करने को क़तई तैयार न था। बीती बातों की चर्चा व्यर्थ है।

हाँ, तो संत जी के विषय में मैंने अधिक जानकारी जायसवाल जी से प्राप्त की। उन्हीं से मैंने यह भी सुना कि संत जी कठोर परिश्रमी हैं तथा न तो काम करते हुए खुद थकते हैं और न अपने सहयोगियों को दम मारने की फ़ुर्सत देते हैं। यदि यह बात सही है कि "परिश्रम करने से ही कला और सफलता प्राप्त होती है" तो मैं अत्यन्त साहस-पूर्वक सन्त जी को नज़ीर के रूप में पेश करूँगा। आपका जीवन—जैसा कि जायसवाल साहब अकसर कहा करते थे—मूर्तिमान् 'अदम्य परिश्रम और उत्साह' है। अपनी जानकारी के बल पर मैं विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ कि जायसवाल साहब खुद आरामतलब मनुष्य थे। अधिक परिश्रम उन्हें मंज़ूर न था। मेज़ और कुर्सी पर जितना काम किया जा सकता है, उतना ही जायसवाल जी को पसन्द था। निश्चय ही संत साहब का अथक परिश्रम उनके लिए एक लुभावनी चीज़ थी। वे चाहते थे, पसन्द करते थे कि संत जी की तरह ही परिश्रम किया जाना उचित है, पर उनसे वैसी कड़ी मेहनत संभव न थी, इसी लिए संत जी की परिश्रमी प्रकृति का वर्णन करके ही वे अपने को तृप्त कर लेते थे। दूसरा उपाय भी तो नहीं था।

जो हो, संत जी के सम्बन्ध में जब मैंने जायसवाल साहब से बहुत कुछ सुना तब मैं भी उनके दर्शनों के लिए उत्सुक हो उठा। सुना था, इन दिनों संत जी देहरादून में हैं—गया और देहरादून में कितना अन्तर है, यह भी मैं बतला सकता यदि इस समय मेरी मेज़ पर रेलवे का टाइमटेबिल होता। पाठक इतने से ही संतोष-लाभ करें कि मेरे-जैसे कार्यव्यस्त मनुष्य के लिए यह संभव नहीं कि मैं महज़ संत साहब के दर्शनों के लिए ही गठरी बाँध कर देहरादून की लम्बी यात्रा का महँगा शौक़ करने को उतारू हो जाता। मैंने सोचा—गया-जैसे खँडहर में संत साहब के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त नहीं होने का। इस उजड़े दयार में लन्दन और न्यूयार्क का रहनेवाला क्यों आने लगा। 'ह्वाइट हॉल' और 'बकिंघम पैलेस" के आदरणीय पत्रकार का गया-जैसे स्थान से क्या वास्ता।

कर्महीन दोपहरी—इसी फागुन का पहला सप्ताह! मैं चुपचाप लेटा हुआ कांग्रेस-प्रेसीडेन्ट के चुनाव की धमा-चौकड़ी पर ग़ौर कर रहा था—एक समाचार-पत्र मेरे हाथ में था। राजनैतिक पटेबाज़ियों पर विचार करता करता मैं कभी महात्मा जी की नीति पर झल्ला उठता तो कभी सुभाष बाबू की तेज़ी पर! इसी समय मेरे मित्र पंडित गोविन्द-लाल जी झंगर चप्पल घसीटते हुए पधारे। आप जब कभी पधारते हैं तब मुझे तो ऐसा लगता है कि उर्दू के कुख्यात कवि मियाँ चिरकीं ब्राह्मण के रूप में तशरीफ़ ला रहे हैं। कारण यह है कि चिरकीं की कविताओं के रूप में ही आपने कविता को पहचाना है—मतलब यह कि आपको चिरकीं का पूरा दीवान कंठस्थ है और प्रायः चिरकीं की कविताओं के विषय में ही सोचा, बोला और लिखा करते हैं। भोजनोपरांत ग़लीज़-प्रेमी चिरकीं का साहित्य किसे पसन्द होगा, यह बतलाना झंगर भाई से लड़ाई मोल लेना होगा। भाई गोविन्दलाल को देखते ही मैंने समझा कि चिरकीं के कवितासागर का कोई क़ीमती रत्न आपके हाथ लगा है। पर आपने आते ही कहा कि "श्री विष्णु-पदमन्दिर में संत निहालसिंह तुम्हें खोज रहे थे। वे गया स्टेशन पर—अपने 'सैलून' में ठहरे हुए हैं। कई दिनों से तुम्हारी तलाश में हैं।"

सहसा मैं भाई गोविन्दलाल की बातों पर विश्वास करने को प्रस्तुत न था, पर मैं यह भी सोचने लगा कि कोई कारण नहीं कि वे झूठ बोल कर मुझे अकारण स्टेशन तक दौड़ाने का दायित्व अपने सिर पर लाद लेने की भूल करेंगे। मैंने पूछा—"संत जी, विष्णुपदमन्दिर में क्या करने गये थे?"

झंगर जी कहने लगे—"वे अपने केमरे के साथ कई दिनों से मन्दिर में आ रहे हैं और चित्र उतार रहे हैं। उन्होंने कई बार तुम्हारी खोज की और खास तौर से मुझे सूचना देने की हिदायत भी की है। संध्या-समय वे अपने सैलून में तुम्हारी प्रतीक्षा करेंगे—मैं भी चलूँगा, चलना।"

मितभाषी गोविन्दलाल जी इतना कहकर एक अखबार पर टूट पड़े। यदि अखबार पर उनकी दृष्टि न पड़ती तो मियाँ चिरकीं के दो-चार क़लाम सुनाये बिना न रहते। मैंने धीरे से दो-तीन अखबार उनकी ओर बढ़ा कर मानो एक बला से अपनी रक्षा कर ली। मैं भोजन कर चुका था
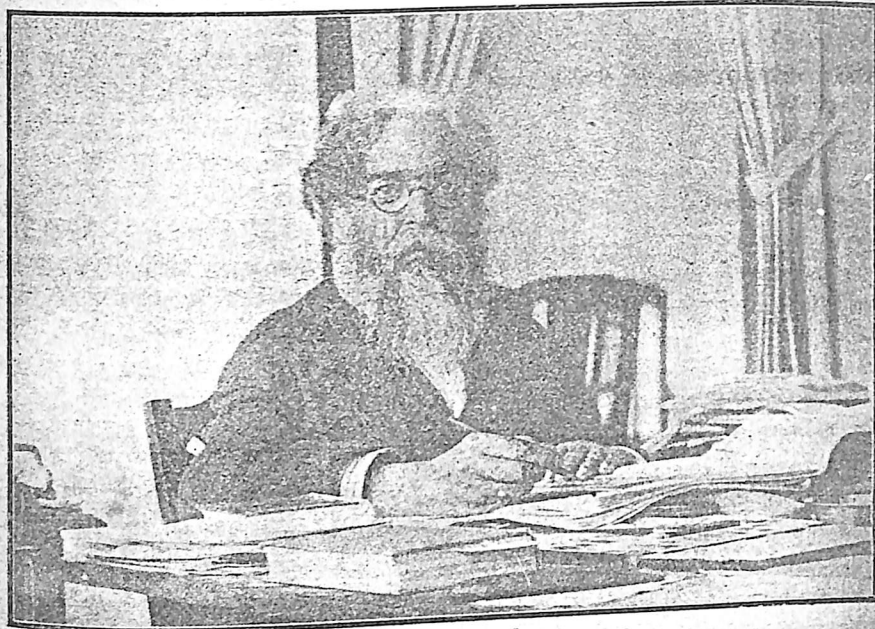
[श्रीयुत सन्त निहालसिंह]

और विष्ठाप्रेमी, कवि चिरकीं की सूक्तिमुक्तावली से आनन्दोपभोग करने योग्य मन:स्थिति में न था।

मन ही मन संत निहालसिंहजी की बात सोचता रहा और अघटन-घटना-पटीयसी भगवति भवितव्यता की महिमा को मन ही मन प्रणाम भी करता रहा। सचमुच संत साहब 'गया' आये हैं—यह स्वीकार करने को मन तैयार न था? पर सत्य पर धूल उड़ा कर उसे छिपाने का प्रयत्न करना निरी मूर्खता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है?

ज्यों-त्यों करके संध्या आई। मैं स्टेशन की ओर चला। झंगर जी भी साथ थे। स्टेशन पहुँच कर देखा—प्रधान प्लेटफ़ार्म के दक्षिण छोर से ज़रा-सा हटकर एक सुन्दर गाड़ी—एक डिब्बा—खड़ी है। फ़र्स्ट क्लास का डिब्बा अस्त होते हुए सूर्य की सुनहरी धूप में चमक रहा था। एक ओर खूब सुन्दर छज्जी है और उसी डिब्बे में रसोईघर, स्नानघर, नौकरों के रहने का कमरा, सोने का कमरा, बैठने का कमरा आदि सब हैं। पूछने से पता चला कि १) या १।।) प्रति मील के हिसाब से इसका किराया रेलवे कम्पनी को देना पड़ता है—इसी का नाम है 'सैलून'। एक-दो बार एक महाराजा साहब के चलते 'सैलून' पर सफ़र करने का मौक़ा—उन्हीं के साथ—आया था, पर कोई पत्रकार या लेखक—यदि वह भारतीय हो तो, सैलून पर सफ़र करने की हिम्मत कर सकता है, यह एक नई बात है। इस लेख के आदि में जिन हिन्दी साहित्यिक की मैंने दुःख के साथ चर्चा की है और जो थर्ड क्लास में पधारे थे उनकी स्मृति सैलून को देखते ही ताज़ी हो गई और मुँह से सहसा 'आह' निकल पड़ा। संत जी भी पत्रकार हैं, लेखक हैं और मेरे वे सज्जन भी पत्रकार और लेखक थे, किन्तु दोनों की स्थिति में कितना अन्तर है, बीच में कितनी चौड़ी खाई है, यह बतलाना कठिन है। उस खाई को मापना मेरे लिए असंभव है। हिन्दी हम भुखमरों की कातरवाणी है और अँगरेज़ी शासकों की गुर्राहट, हिन्दी विनय करने की भाषा है और अँगरेज़ी डाँटने-फटकारने की। हिन्दी खादी की फटी साड़ी पहन कर गाँव के उजड़े खेतों में घूमती-फिरती है तो अँगरेज़ी तोप-बन्दूक़ों और हवाई जहाज़ों की छाया में 'बकिंघम पैलेस' में सुख के पालने पर भूलती है। संत जी ग़रीबी और धूल में पाली-पोसी गई ग़रीबिनी हिन्दी के सेवक नहीं, बड़े बड़े दिग्विजयी सम्राटों के गर्वोन्नत मस्तक पर छत्र बन कर आदर पानेवाली अँगरेज़ी के हिमायती हैं। फिर वे क्यों बग़ल में कम्बल की बुकची दबा कर थर्ड क्लास में से धक्के खाते हुए उतरें। मैं सच कहता हूँ, संत साहब का सैलून देखकर मुझे प्रसन्नता नहीं, पीड़ा हुई। अपनी ग़रीबी, जिसे हम प्रयत्न करके मन से भुलाये रहते थे, एकाएक स्पष्ट हो गई। मैंने संत साहब का चमकता हुआ शानदार सैलून नहीं देखा, बल्कि देखा अपनी दरिद्रता को, रोती-सिसकती और दिखलाई पड़ा मुझे वह दिव्य सैलून खड़ा-खड़ा निष्ठुर परिहास करता हुआ। संत साहब अनुपस्थित थे। अपने नाम का कार्ड छोड़कर हम लौट पड़े। मेरा मन भारी हो गया था। बिजली के स्वच्छ प्रकाश से जगमगाते हुए प्लेटफ़ार्म की एक बेंच पर बैठ कर मैंने प्रयत्न किया अपने मन को भारमुक्त करने का, पर प्रयत्न में इतना बल नहीं जो वह सत्य को धकेल कर मन से बाहर कर दे। मेरे हृदय का भार सत्य था, 'प्रयत्न' तो लीपापोती को ही कहना चाहिए।

झंगर जी रुलासे स्वर में बोले—"भाई, संत जी से मुलाक़ात नहीं हो सकी। ख़ैर, कल भी आना पड़ा। भाई, कितना शानदार रहन-सहन है। क्या हमारे लेखक और पत्रकार ....।"

मुझे आश्चर्य हुआ कि जिस बात को मैं बड़ी छटपटाहट के साथ सोच रहा था उसी बात को हमारा यह सीधा-सादा विद्वान् भाई भी सोच रहा है। मुझे संतोष हुआ कि मैं अपनी भावुकता के कारण कोई बात नहीं सोच रहा हूँ—जो भी समझदार या हृदयवान् व्यक्ति इस दृश्य को देखेगा, इसी नतीजे पर पहुँचेगा।

हम धीरे धीरे स्टेशन से बाहर हो गये। बाहर निकल कर देखा, ऊँचे ऊँचे मकानों के ऊपर शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा उठ रहा है। हम चुपचाप घर की ओर चले—हम एकदम चुप थे। रास्ते में भी किसी ने कोई बात नहीं की। मन ही अस्वस्थ हो गया था! चुपचाप उदासीनता का दुर्वह भार लादे घर पहुँचे।

(४)

कल जब संत जी के दर्शनों के लिए चला तब मैं अकेला ही था। उनके अर्दली ने कहा कि—"साहब ने कहा है कि पंडित जी आवें तो उन्हें बैठाना।" मैं बोला—"मैं प्लेटफ़ार्म पर टहलता हूँ। आ जायँ तो सूचना दे देना।" ह्वीलर की दूकान से अख़बार ख़रीद कर मैं बैठ गया। संध्या-समय बनारस जानेवाली गाड़ी सामने खड़ी थी—तरह तरह की मूर्तियाँ नज़र आ रही थीं। प्रत्येक के चेहरे पर घबराहट थी और वह घबराहट गाड़ी पर बैठते ही संतोष के रूप में बदल जाती थी। 'चाय रोटी, बिस्कुट', 'गरम चाय', 'पान सिगरेट' की सस्वर पुकारों ने अपना एक अलग समा बाँध रक्खा था। गोद में अख़बार रक्खे मैं एकटक यात्रियों को एकाग्रचित्त से देख रहा था कि संत जी का अर्दली आया और बोला—"साहब सलाम कहते हैं!"

× × × ×

आपने कभी विश्वविख्यात विद्रोही कार्ल मार्क्स का चित्र देखा है—घनी दाढ़ी, सिर बड़े बड़े बालों से आच्छादित, पुष्ट शरीर! बस संत जी सामने से देखने में ठीक कार्ल मार्क्स जैसे दिखलाई पड़ते हैं। दोनों के रूप में कितना साम्य है, यह एक आश्चर्य की बात है या मेरी आँखों की भूल, यह मैं आज तक नहीं सोच सका! मैं अपनी यह धारणा बदलने को तैयार भी नहीं हूँ—क्या मैं दोनों के रूप की तुलना करने में भूल कर रहा हूँ! यद्यपि संत जी पंजाबी हैं, तथापि एक मुद्दत तक विदेशों में रहने के कारण उनके चेहरे का रंग ख़ूब साफ़ होकर कुछ कुछ योरपियनों से मिल गया है।

बाहर ठंडी हवा चल रही थी, पर गाड़ी के भीतर क़दम रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा कि मैं किसी ख़ूब गरम कमरे में आ गया हूँ। संत जी बैठे भोजन कर रहे थे, मेज़ की दूसरी ओर उनकी श्रीमती जी बैठी थीं। कई सुन्दर बिजली के झाड़ जल रहे थे—स्वच्छ प्रकाश से सारा सैलून जगमगा रहा था। भड़कदार वर्दी पहने ख़ानसामा प्लेट पर प्लेट मेज़ पर रख और उठा रहा था। बड़े तपाक से उठ कर संत जी ने हाथ मिलाया और तत्काल अत्यन्त पुराने परिचित की तरह देश-विदेश की चर्चा में हम निरत हो गये। थोड़ी देर के बाद एक प्रेस-रिपोर्टर आया, जो दूर एक कुर्सी खींच कर बैठ गया। संत जी बोलते थे और बीच बीच में बच्चों की तरह खिल-

खिला कर हँस पड़ते थे। ऐसी स्वच्छ हँसी जिससे लाल झरते हों, मैंने कभी कभी सुनी है। कोई स्वच्छ हृदय का महापुरुष ही ऐसी पवित्र हँसी हँस सकता है। महात्मा जी, रवीन्द्र आदि की हँसी से जिस आनन्द-लोक का सृजन हो जाता है, वैसी हँसी अन्यत्र सुलभ नहीं। श्रीमती सिंह गम्भीरतापूर्वक चाय में दूध मिलाती हुई बोलीं—"तुम चाय पीते हो—शक्कर दूँ या बिना शक्कर की चाय पीते हो।" मैं अदब से बोला—"धन्यवाद। मैं बिना शक्कर की चाय नहीं पीता—ब्राह्मण हूँ, इसलिए मीठा प्रिय है। यह अपना जातीय गुण है।" फिर हँसी—दोनों हँस पड़े। श्रीमती सिंह अमेरिकन हैं और हिन्दी नहीं समझतीं। यदि कुछ कुछ समझती भी हैं तो बोल नहीं सकतीं। वे खद्दर की पोशाक पहने थीं। मैंने पूछा—"आप तो शुद्ध खादी धारण किये हैं। उन्होंने कहा—"मैं तो भारतीय हूँ। मदरास में यह खादी उपहार-स्वरूप मिली थी। मैं बराबर खादी काम में लाती हूँ।"

संत जी ने भी खादी को ही अपनाया था। पतलून, कमीज़ सभी खादीमय। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। महात्मा जी के सम्बन्ध में संत जी के विचार अत्यन्त ऊँचे हैं। वे उन्हें न केवल एशिया के ही, बल्कि समस्त संसार के सिरताज समझते हैं। महात्मा जी के सम्बन्ध में संत जी के विचार पढ़ने का अवसर मुझे प्राप्त हो चुका था। 'सरस्वती' में उनके संस्मरण पढ़कर ही मैंने समझ लिया था कि संत जी का हृदय कितना भारतीय है। जिसके जीवन का श्रेष्ठ भाग भारत के बाहर व्यतीत हुआ है उसमें यदि भारतीयता कम मात्रा में हो तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, पर संत जी तो पूरे भारतीय हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में डूबने उतरानेवाला पत्रकार भारत के प्रश्न को उतना शायद ही महत्त्व देने को तैयार होगा, क्योंकि उसका कर्मक्षेत्र योरप और एशिया के बड़े बड़े राष्ट्रों के आँगन में है। किन्तु मैंने आश्चर्य के साथ यह अनुभव किया कि संत जी की पैनी दृष्टि में भारत की एक बात भी छिपी नहीं है। उन्होंने पूरी हमदर्दी और गहराई के साथ अपने घर के सवालों का भी समुचित अध्ययन किया है। वे भारत की बातों को पक्के भारतीय राजनीतिज्ञों की तरह सोचते हैं।

बातों ही बातों में उन्होंने बतलाया कि—वे एक ग्रन्थ लिख रहे हैं—भारत के सांस्कृतिक विकास पर। इसी उद्देश्य से उन्हें क़रीब एक लाख मील का साहित्यिक दौरा करना पड़ा है। ६० हज़ार मील अभी और घूमना है। उन्होंने यह भी कहा कि क़रीब ६० हज़ार चित्र उन्होंने खींचे हैं—२०-२५ हज़ार चित्र और खींचने का विचार है। १६ मोटी मोटी जिल्दों में पुस्तक समाप्त होगी। छाँट-छाँट कर २५ हज़ार चित्र पुस्तक में दिये जायँगे, पर कुछ कम भी दिये जा सकते हैं। भारत-सरकार ने इस महान् कार्य में आपको पूरी सहायता पहुँचाई है। प्रान्तीय गवर्नरों ने भी पत्र लिख लिख कर आपकी सहायता करने के अवसर का स्वागत किया है। मैं नहीं कह सकता, संत साहब की पुस्तक कैसी होगी, पर इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि पुस्तक लिखने की सामग्री जुटाने के मामले में सरकार का पूर्ण सहयोग संत जी को मिला है। संत जी एक महान् लेखक हैं—वे जो कुछ भी लिखेंगे वह अमूल्य चीज़ होगी। सरकारी सहायता से संत जी को भारतीय सभ्यता या संस्कृति-सम्बन्धी अपने विचारों को पुस्तक-रूप में उपस्थित करने की दिशा में, जो सहूलियतें मिली हैं वे कुछ कम मूल्यवान् नहीं हैं। ऐसी पुस्तक लिखने के मार्ग में जो कठिन बाधायें होती हैं उन पर संत जी ने शानदार विजय पाई है—इसमें संदेह की गुंजाइश, यदि हो भी तो वह अत्यन्त स्वल्प और नगण्यप्राय है। आपने कहा कि "पचीसों साल से पुस्तक लिख रहे हैं। अब वह प्रेस में जानेवाली है। इसी लिए आवश्यक संशोधन-परिवर्तन-परिवर्धन की बारी आ गई है।"

रात अधिक हो गई थी। सुबह आने का वादा करके मैं चल पड़ा। मैं विचारों की उत्ताल-तरंगों में उछलता-कूदता घर पहुँचा।

(५)

एक बात मैं कहूँगा—हमारे बहुत से विद्वानों में ज़रूरत से अधिक आलस्य पाया जाता है। पंडित शिवकुमार शास्त्री अपने काल के बृहस्पति माने गये थे, पर उनका प्रतिनिधित्व करनेवाला एक भी ऐसा ग्रन्थ, जिसे उन्होंने देश के कोविद-समाज को दिया हो, नहीं है। उन्होंने जो कुछ पढ़ा, ज्ञानार्जन किया, चिन्तन किया, उससे हम पूरा लाभ नहीं उठा सके। यह एक ऐसी राष्ट्रीय हानि है जिससे देश की प्रगति खटाई में पड़ जाती है। इसके बाद पंडित रामावतार शर्मा जी का भी यही हाल हुआ। 'मुद्गर दूत' आदि दो चार छोटी

छोटी पुस्तिकायें लिख-लिखाकर उन्होंने भी अपनी राह ली। हाँ, 'कोश' की बात दूसरी ही है। सो भी शर्मा जी का 'कोश' असम्पूर्ण है—कौन विद्वान् उसकी पूर्ति करने का बीड़ा उठाता है, यही देखना है। एक जायसवाल जी थे वे भी चलते बने। यदि वे हमारे बीच में होते भी तो अपने आलसी स्वभाव के कारण—मेरा विश्वास है—कुछ भी न कर पाते। स्वयं वही अपना बहुत-सा अधूरा काम छोड़ गये हैं। अपनी विश्वविख्यात 'हिन्दू पॉलिटी' के जोड़ का दूसरा महाग्रन्थ लिखना चाहते थे। दिन रात कठिन परिश्रम करके मैंने एक 'विषय-सूची' भी तैयार की थी, पर फल कुछ भी न हुआ। आज तक वह विषय-सूची मेरी मेज़ की दराज़ में, अपने विफल जीवन का भार लादे, पड़ी है। और-और जो मसाले संग्रह किये गये थे उनका क्या हुआ, भगवान् जाने। यद्यपि जायसवाल साहब ने बहुत कुछ लिखा है, तथापि मैं कहूँगा कि जितना वे लिख सकते थे उसका आधा से भी कम उन्होंने लिखा। वे काग़ज़-क़लम से प्रायः घबराते थे—हँसी-मज़ाक, हाहा हीही में ही अपना मूल्यवान् समय व्यतीत कर देते थे। वे परिश्रम-प्रिय कम और विनोद-प्रिय अधिक थे।

कितनी नज़ीरें पेश करूँ—न जाने क्यों हमारे भारतीय विवेचक लिखने से बहुत ही घबराते हैं। महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ जी झा एक ऐसे विद्वान् हैं जिनका सारा समय अध्ययन और लिखने में व्यतीत होता है। बुढ़ौती और अपने गिरे हुए स्वास्थ्य की उपेक्षा करते हुए झा महोदय जिस लगन से भारतीय साहित्य का वाङमय भांडार भर रहे हैं, यह आश्चर्य की बात है।

संत निहालसिंह जी चाहे जितने बड़े भारतीय हों, पर उन पर भारतीय साहित्य का जो ऋण है उससे वे शायद उऋण न हो सके। अँगरेज़ी-साहित्य को रत्नों से भरकर उन्होंने उसे अपना ऋणी बनाया, पर भारतीय साहित्य को, जिसका ऋण उन पर है, उन्होंने अपने ज्ञानालोक से वंचित ही रक्खा। कितने परिताप की यह बात है!

संत साहब की सेवा में मैं दूसरे दिन सुबह उपस्थित न हो सका। पेट की प्रेरणा से मैं गृहकर्म में ही उलझा रहा। दोपहर को वे विष्णुपदमन्दिर में आनेवाले थे। मन्दिर के दरवान ने आकर उनके आने की सूचना दी।

विष्णुपदमन्दिर में अपना क़ीमती केमरा लिये संत साहब को देखा। आप बड़े ज़ोर से हँस कर बोले—"आ गये तुम! अच्छा मेरी सहायता करो।" मैं सहायता की बात नहीं समझ सका, पर एक सिपाही की तरह 'अटेंशन' में खड़ा हो गया। खद्दर की मोटी कमीज़, देशी कपड़े की पतलून और सिर पर बड़ा-सा हैट रक्खे संत साहब बड़ी लगन से पुरानी मूर्तियों का निरीक्षण करते रहे। बीच बीच में वे मुझसे भी पूछते जाते थे—"जायसवाल जी इस मूर्ति के विषय में क्या कहते थे? इस मूर्ति के सम्बन्ध में उनका क्या मत था? इस टूटी मूर्ति का समय वे क्या बतलाते थे?"

जायसवाल साहब के चरणों में बैठने से पुरातत्त्व के सम्बन्ध में क, ख पढ़ने का सौभाग्य किसी को भी प्राप्त हो सकता था बशर्ते कि उस व्यक्ति के भीतर अपने अतीत के लिए ज़रा भी स्नेहमय स्थान हो। मैं नहीं कह सकता कि अपने विषय में मेरा क्या मत है, पर मुझे सन्तोष हुआ कि संत जी प्रायः मेरी राय से सहमत हो जाते थे और कभी कभी तो अपना नोट दिखला कर साथ के एक दूसरे सज्जन से आप कहते थे कि—"देखो, मैंने भी यही बतलाया था। मैंने यही नोट किया है—देखो!"

विष्णुपद का मन्दिर चारों ओर इमारतों से घिरा हुआ है। बीच में इतना स्थान नहीं कि पूरे मन्दिर का चित्र उतारा जा सके। संत जी इस फ़िक्र में केमरा घसीटे फिरते थे कि कहीं से पूरे मन्दिर का चित्र खींचने का मौक़ा हासिल हो। दुःख है कि वे इस प्रयत्न में असफल ही रहे। बग़ल में एक मकान था, जिसकी छत पर से मन्दिर का तीन चौथाई हिस्सा नज़र आता था। मकान पुराना, अन्धकारमय और कुछ कुछ बेमरम्मत भी था। बराबर ताला बन्द रहने के कारण उस मकान का वातावरण मनहूस हो गया था। संत जी ने उसकी छत पर चढ़ने की इच्छा प्रकट की। ताला खोला गया, पर अँधेरी सीढ़ियों पर चढ़ना कठिन था, जो चमगादड़ों की बीट से भरी हुई थीं। जब हम उस घर में घुसे तब चमगादड़ों को हमारी यह हरकत बुरी लगी। वे हमारे सिर पर झुंड के झुंड उड़ने लगे। उनके पंखों की हवा हमारी गर्दन और मुँह में लगने लगी। सील और नमी के कारण वातावरण में एक खास तरह की बदबू भरी हुई थी। रामराम करके हम छत पर पहुँचे। मुझे तो ऐसा लगा कि कहीं पुरानी छत हम लोगों

को लिये अर्रा कर बैठ न जाय। लगन भी बुरी बला होती है। संत जी का ध्यान इस ओर न था। संत जी बोले "—यहाँ से भी मन्दिर का पूरा हिस्सा नजर नहीं आता।" यदि उनका वश चलता तो वे मन्दिर के चारों ओरवाले कमरों और छज्जों को तुरन्त तुड़वा कर ही दम लेते। वे दुःखभरे शब्दों में कहने लगे—"भला इन भद्दी इमारतों की क्या ज़रूरत थी। इतना सुन्दर मन्दिर और इस बुरी तरह घिरा हुआ! इसे तो खुले मैदान में होना चाहिए था।"

इमारत बनवानेवालों को यह क्या मालूम कि किसी समय "भारत के सांस्कृतिक इतिहास" के लिए इस मन्दिर के चित्र की आवश्यकता पड़ेगी। कभी कभी जायसवाल साहब पटना के 'गोलघर' को देखकर कहा करते थे कि—"इसे शहर के बीचो बीच में बनवाना चाहिए था।" यदि कोई तरीक़ा निकल आता तो वे अवश्य ही 'गोलघर' को घसीट कर शहर के बीच में स्थापित कर देते—भले ही उस भद्दे गोलघर से शहर की शोभा नष्ट हो जाती, पर जायसवाल साहब को तो संतोष ही होता। अपने संतोष के लिए मानव न जाने क्या क्या करने पर उतारू हो जाता है? यह तो तुच्छ "गोलघर" और पटने की शोभा की ही बात थी।

चित्र खींचते खींचते संध्या हो गई और मकान के निचले दो खंड अन्धकार में डूब गये। खास तौर से सीढ़ियाँ तो सुरंग-सी जान पड़ने लगीं। संत साहब घबराये। बड़ी कठिनता से मेरे कन्धों का सहारा लेकर वे नीचे उतरे। यदि मेरे पैरों में चप्पल के स्थान पर अँगरेज़ी जूते होते तो निश्चय ही मैं संत साहब को लिये हुए सभी सीढ़ियों को लुढ़क कर पार कर डालता और परिस्थिति चिन्ताजनक हुए बिना न रहती! संत साहब का शरीर भारी है, पृथुल है। मैंने अनुभव किया कि मेरे दोनों कन्धे इतने दुख गये हैं कि या तो मैं 'हल' में जोत दिया गया होऊँ या ईंटें लदी हुई किसी पुरानी बेढंगी बैलगाड़ी में। सीढ़ियों के संकट से मुक्त होने पर जितनी प्रसन्नता मुझे हुई, उतनी हमारे साथियों में से किसी को भी न हुई होगी।

संत जी की एक विचित्रता को मैं कभी भूलने का नहीं। मैं उन्हें कुछ नोट लिखवा रहा था। मैं १५-१६ मिनट लगातार बोलता और वे दो तीन पंक्तियों में मेरी पूरी बातों का सारांश विचित्र ढंग से लिख लेते। तारीफ़ यह कि मेरी सभी बातें कुछ शब्दों में समा जातीं। भाषा पर ऐसा अभूतपूर्व अधिकार मैंने अन्यत्र नहीं देखा। नोट लिखने में निश्चय ही संत साहब अपनी जोड़ नहीं रखते। मैंने अनुभव किया कि एक श्रेष्ठ पत्रकार में इस विशेषता का रहना स्वाभाविक और आवश्यक है।

(६)

संत साहब का शाही सैलून स्टेशन पर ही लगा हुआ था। दिन-रात इंजनों और गाड़ियों का आना-जाना लगा रहता था। कुछ देर वहाँ बैठकर मैंने यह अनुमान लगाया कि यहाँ एक कार्ड भी लिखना अपनी मानसिक एकाग्रता पर अत्याचार करना है। एक इंजन हाहाकार करता हुआ आया, फिर मालगाड़ी की लम्बी पाँत शुरू हो गई—ग़रज़ यह कि हर घड़ी कुछ न कुछ शाब्दिक उपद्रव होता ही रहता। मैंने देखा, एक विशाल इंजन संत जी के सैलून के सामने आकर काला-काला धूआँ उगलने लगा। बावर्ची, अर्दली दौड़े—उसे खदेड़ कर वे लौटे भी न थे कि सीटी देता हुआ दूसरा आया। सच पूछिए तो बैठा बैठा मैं घबरा उठा। मुझे संत जी के धारा-प्रवाह सवालों का उत्तर देना पड़ रहा था। मैंने उनसे झिझकते झिझकते पूछा—"यहाँ तो बड़ा शोर रहता है। आपका काम तो शान्ति का है।"

संत जी मेरा प्रश्न सुनते ही पहले तो बड़े ज़ोर से हँसे और फिर कहने लगे—"मुझे ऐसे वातावरण में काम करने का अभ्यास हो गया है। यात्रा में ही मैं लिखा करता हूँ। रेल और जहाज़ पर लिखते-पढ़ते मुझे एकाग्र हो जाने की आदत सी पड़ गई है। पहले-पहल जिस अखबार के दफ़्तर में मुझे काम करना पड़ता था, वहाँ बड़ा हंगामा रहता था। मेरे कमरे में दर्जनों सम्पादक और रिपोर्टर बैठते थे। बग़ल के कमरों में अनगिनत टाइपराइटर अपनी पूरी "स्पीड" में काम करते थे। निचले खंड में विशाल प्रेसों की हड़हड़ाहट रात-दिन घर को दहलाती रहती थी—उस पर प्रेस-कर्मचारियों का और आने-जानेवालों का कोलाहल ऊपर से। हम अपनी अपनी मेज़ पर सिर झुका कर देश-विदेश की बातें सोचते, लिखते, संशोधन करते और प्रत्येक ५ मिनट पर प्रेस के छोकड़े को 'मैटर' देते जाते। हम १०-१५ पंक्तियाँ काग़ज़ के टुकड़े पर लिख लिख कर प्रेस में भेजते जाते थे। यह भी याद रखना पड़ता था कि क्या लिख कर प्रेस में भेजा है और अब क्या लिखना है। मैं शोर-गुल में बैठ कर काम करने का अभ्यासी हो गया हूँ।"

मैं अवाक्भाव से सुन रहा था और संत जी बोल रहे थे। मुझे याद है कि १९१९ ईसवी के अपने तूफ़ानी दौरे में महात्मा गांधी को मैंने इसी तरह दो दो पत्रों का सम्पादन करते अपनी आँखों से देखा था। दिन भर में १०-१० सभाओं में आप व्याख्यान देते और दौड़ते हुए मोटर पर ही सोते। इतना ही नहीं—लेख भी लिखा करते। उन दिनों अँगरेज़ी में 'यंग-इंडिया' और हिन्दी तथा गुजराती में 'नवजीवन' प्रकाशित होता था। अँगरेज़ी और गुजराती के पत्रों में महात्मा जी को प्रतिसप्ताह लिखना पड़ता था। अपने व्यस्त कार्यक्रम में भी दिन-रात के कामों की नियमितता अक्षुण्ण रखना ही साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। उस पर सुव्यवस्थित दिमाग़ से लेख लिखना तो अत्यधिक शान्तधी का ही काम हो सकता है। महात्मा जी के लेखों के एक एक शब्द पर संसार के बड़े बड़े विवेचक विचार करते हैं—ऐसी स्थिति में उनका कुछ भी लिखना कितना उत्तरदायित्वपूर्ण है, यह बतलाना न होगा। अपने को उस होहल्ले में महात्मा जी कैसे व्यवस्थित रखते होंगे, यह महात्मा जी ही बतला सकते हैं। यह तत्त्व मेरी समझ के परे की चीज़ है।

जायसवाल जी में यह बात न थी। वे लिखते-पढ़ते समय घड़ी का टिक्‌टिक् शब्द भी सहन नहीं करते थे। वे कहा करते थे कि "लेखक का लिखने-पढ़नेवाला कमरा हिमालय की किसी गुफ़ा की तरह शान्त होना चाहिए, जहाँ मानव क्या एक चिड़िया भी नहीं जा सकती।" संत जी गुलगपाड़े की—शोर-गुल की—क़तई परवा नहीं करते। अख़बार के आफ़िस में काम करते करते तथा लगातार यात्रा में रहने के कारण अपने आपको स्वस्थ कर लेने की प्रचंड क्षमता उनमें उत्पन्न हो गई है। उन्होंने बड़े उल्लास से यह बात ज़ाहिर की कि अब तक वे तीन बार भू-प्रदक्षिणा कर चुके हैं। चौथी बार के लिए तैयारी कर रहे हैं। यात्रा के सम्बन्ध में आपकी राय है कि—यह सारा विश्व-प्रपंच एक विशाल विश्वविद्यालय है। एक अरबी लोकोक्ति (अस्सफ़रो वसील तुज्जफ़र) के अनुसार "यात्रा सफलता की कुंजी है।"

लोकोक्ति चाहे जो कहे, पर संत साहब के लिए उनकी यात्रा-प्रियता फलवती हुई। न जाने संसार में कितने ऐसे अभागे हैं जो घर-द्वार छोड़ कर मारे-मारे फिरते हैं, पर उन्हें किस बात की सिद्धि प्राप्त होती है, यह आज तक प्रकाश में नहीं आया। मानसरोवर में बगले और हंस दोनों ही बैठते हैं, पर अपने अपने गुण-कर्म के अनुसार में ही अलग फल दोनों को मिलते हैं—बगले तो मछली की खोज में रहते हैं और हंस मोतियों की तलाश में। काबुली मानसर के कूल पर हंसों और अभागे बगलों की कमय परजो संत निहालसिंह जी ने जिस विश्व-भ्रमण से लाभ उठाया है वही विश्व-भ्रमण करके हमारे एक परि. जिस बन्धु आज-कल धूलि की रस्सी बँटा करते हैं।

विष्णुपदमन्दिर से सूर्यास्त होते न होते सैलून में हम लौटे। मैंने देखा श्रीमती निहालसिंह सैलून की छज्जी पर खड़ी खड़ी पथ निहार रही हैं। वृद्ध दम्पति का यह स्नेह इस पाप-तापमय संसार के लिए अभिनव स्वर्ग की सृष्टि करनेवाला है।

पश्चिम दिशा में सूर्यास्त हो रहा था। श्रीमती सिंह छज्जे पर झुकी हुई रास्ते की ओर देख रही थीं। उनके लाल चेहरे पर और कर्पूरनिभ श्वेत बालों पर अस्तंगत दिनमणि की सुनहरी विभा बड़ी ही कोमलता के साथ चमक रही थी। लुभावना दृश्य था।

हम धीरे धीरे सैलून में पहुँच कर थके-से बैठ गये! उत्सुक श्रीमती जी संत साहब से दिन भर के काम का हाल पूछने लगीं। संत साहब उन्हें बतलाने और हँसने लगे।

'बेरा' आया और मेज़ पर भोजन की गरमागरम रक़ाबियाँ रख कर चला गया। सैलून भोजन की सुगन्ध से भर गया। संत जी हँस-हँस कर भोजन करने लगे और अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा छिड़ गई।

देखते देखते दिन का प्रकाश स्टेशन के भद्दे क्वार्टरों के उस पार जाकर समाप्त हो गया!

(७)

संत जी आडम्बर-प्रिय नहीं कहे जा सकते। आप अत्यन्त मामूली काग़ज़ की नोट-बुक पर लिखते हैं, जो बाज़ार में =) में मिल सकती है। साधारण सी जिल्द और)। की पेंसिल। बस, यही सामान। आपके अक्षर छोटे छोटे और गोल गोल होते हैं—बड़ी तेज़ी से लिखते

हैं। नवयुवकों की तरह खूब दृढ़तापूर्वक क़लम पकड़ते हैं और दबाकर लिखते हैं। यदि पतला काग़ज़ हो तो क़लम दो-तीन पन्नों को पार कर जाय। पूछने पर आप कहने लगे—
यदि "[illegible]डित जी, मैं आडम्बर से चिढ़ता हूँ। सादगी, ज़िन्दगी
कमरों [illegible]धान गुण है। मेरा भोजन, मेरे कपड़े—मैं प्रयत्न
दुःखभरे श[illegible] कि मेरे जीवन में आडम्बर न घुसने पावे। हम
की क्या ज[illegible] सिंह की ओर इशारा करके) अत्यन्त सादा भोजन
तरह घिरा[illegible]रते हैं—बस, रोटी, फल, दूध थोड़ा-सा मांस।
था।" परहेज़ है—शक्कर की बनी चीज़ें हम नहीं छूते।"

इमा[illegible] बड़े महापुरुषों में—जायसवाल जी को छोड़कर—
स[illegible] सादगी का शुद्ध रूप देखा है। जायसवाल साहब खाने-खिलाने के शौक़ीन थे। राजसी भोजन—खूब मिठाइयाँ और दामी दामी फल। उनके भोजन की मेज़ दर्शनीय होती थी! खाते-खाते जब पेट तन जाता तब वे अपने नेपाली रसोंइये को कोई न कोई नई चीज़ बनाकर लाने का आदेश देते थे। संत साहब ने बड़े ही दुःखपूर्ण शब्दों में कहा—"मैंने डाक्टर जायसवाल को कई बार समझाया कि "मीठा खाना बन्द करो और सादा भोजन करो।" पर उन्होंने इस ओर ध्यान ही कहाँ दिया! 'डाइबिटीज़' के पुराने मरीज़ थे। अन्त में इसी मर्ज़ ने उन पर विजय पाई! 'डाइबिटीज़' के रोगी को मिठाइयों से परहेज़ रखना चाहिए।"

मैं चुपचाप बैठा सुनता रहा। यद्यपि सादा भोजन बढ़िया होता है तो भी जो केवल अपने को जीवित रखने के लिए ही दवा के रूप में भोजन करते हैं उनके लिए सादा भोजन का महत्त्व है, पर हमारे-जैसे जो जीव केवल भरपेट नाना प्रकार के मिष्ठान्न-पक्वान्न खाने के लिए ही इस धराधाम पर अवतरित होकर जी रहे हैं उनके लिए संत जी की बातें निरी अनोखी होंगी। मैं स्वयं खूब मसाले और मिठाइयाँ खाता हूँ। मरूँ या चिरजीवी होऊँ, भला उबाली हुई [illegible] और चोकर की रोटी खाकर जीवित रहना तो मर जाने से [illegible] कष्टदायक है। भले ही मसालों और मिठाइयों के चलते साल में एक-दो दर्जन बार उपवास करना पड़े—इसकी मुझे तनिक भी परवा नहीं। डाक्टर जायसवाल का कथन भूलने लायक़ नहीं है। आम के दिनों में जब आप एक दर्जन 'मालदह' आम अपने सामने रख कर बैठते थे तब कहा करते थे—"बेटा, भूखों मरने से सुखद है खाते खाते मर जाना।" इतना बोल कर आप आम खाना शुरू करते थे और तब तक खाते रहते थे जब तक सभी आम नहीं खा जाते थे। मैंने संत साहब की मेज़ पर नज़र डाली तब देखा—उबाले हुए आलू, शाक, गोभी और दो-चार रूखी रोटियाँ। एक प्याला चाय, जिसमें शक्कर नदारत और थोड़ा-सा पका हुआ (उबाला हुआ?) मांस! आप बड़ी रुचि से भोजन कर रहे थे। श्रीमती सिंह प्रायः 'प्रोटिन' ही काम में लाती हैं। 'विटामिन' और 'प्रोटिन' के अतिरिक्त आप लोग दूसरी चीज़ों की ओर आँख उठा कर देखते भी नहीं—खाना तो दूर की बात है। सिगरेट-शराब भी नहीं छूते—सादा, साफ़, हलका भोजन!

सादगी संत जी की आदत में घर कर गई है। मैं नहीं समझता कि योरप और अमरीका में रहनेवाला, उस पर भी अन्धाधुन्ध कमानेवाला व्यक्ति कैसे इतनी सादगी को अपना सका। श्रीमती सिंह तो संत जी से भी एक क़दम आगे नज़र आईं। यह गुण किसने किससे सीखा, यह बतलाना कठिन है। मुझे तो इसी बात का आश्चर्य है कि गुण, कर्म, स्वभाव की ऐसी एकरूपता दो ऐसे व्यक्तियों में, जिनकी संस्कृति और जिनका देश एक-दूसरे से हज़ारों मील के फ़ासले पर हो, कैसे पाई जा सकती है। संत जी भारतीय हैं और उनकी श्रीमती जी अमेरिकन। फिर भी दोनों के गुण, कर्म और स्वभाव में आश्चर्यजनक मेल है, अद्भुत ऐक्य है। यह भी एक तरह की अनहोनी घटना-मात्र है।

दूसरे दिन मैं सुबह ६॥ बजे संत जी की सेवा में उपस्थित हुआ। आपने इसी समय बुलाया ही था। स्टेशन का प्रभात-वर्णन पत्थर के कोयले के गला घोंटनेवाले धुएँ से आरम्भ करना चाहिए। मन्दमलयानिल के स्थान पर हलवाइयों और चायवालों के चूल्हों से जो काला काला गंदा धुआँ निकल रहा था उससे वातावरण दुर्गन्धमय हो उठा था। 'फ़िनाइल' से धोये जाने के कारण सारा स्टेशन फ़िनाइलमय हो रहा था। काले काले भद्दे कोट पहने टी० टी० आई० यत्र तत्र टहल रहे थे। अपनी नाइट ड्यूटी समाप्त करके कुछ बाबू उदास मुंह लिये रिक्शाकुली से झगड़ रहे थे। उन्हें दूर—अपनी 'वियोगिनी' के पास जाना था। क्या जीवन है इनका भी!

इसी चहल-पहल में मैं अपने बन्धु पन्नालाल के साथ संत जी के सैलून के सामने उपस्थित हुआ! उस समय आप एक सज्जन को कुछ पत्र लिखने का आदेश दे रहे थे

और खुद सुबह का भोजन समाप्त करने की धुन में थे। आज मैंने उनके सामने दो-तीन संतरे भी देखे! वे खूब प्रसन्न दिखलाई पड़ते थे।

संत जी में एक विचित्रता है। वे किसी प्रश्न का उत्तर नहीं देते। प्रश्न करने में तो वे एक ही हैं। प्रश्न पर प्रश्न करके वे आगन्तुक की जानकारी का दिवाला निकाल कर ही दम लेते हैं। मैं घर से सोचकर चला था कि आज संत जी को प्रश्न करने का मौक़ा नहीं देना चाहिए। बैठते ही मैंने पूछा—"आप 'हिन्दुस्तानी' के विषय में क्या सोचते हैं।" कुछ देर तो संत साहब सोचते रहे, फिर अत्यन्त गम्भीर होकर बोले—"हिन्दुस्तानी का प्रचार होना चाहिए। न कठोर संस्कृत-शब्दों की भरमार हो और न अरबी फ़ारसी की। हिन्दुस्तानी-भाषा भारत की भाषा कही जायगी।"

मैंने फिर पूछा—"कुछ लोगों का यह मत है कि मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए या उन्हें अपनी ओर खींचने के लिए हिन्दी का रूप बिगाड़ा जा रहा है। इस प्रयत्न से वे हिन्दी पढ़ सकेंगे तो सांस्कृतिक ऐक्य हो जायगा।"

संत जी ने कहना शुरू किया—"पंडित जी, यदि यह बात सही है तो मैं कहूँगा कि हिन्दुस्तानी के हिमायतियों को एक बार फिर से ग़ौर कर लेना चाहिए। कल क्या होगा, यह पता नहीं, पर आज तो मुसलमानों ने हिन्दुओं और भारतीयता का विरोध करने का मानो निश्चय सा कर लिया है। वे हिन्दुस्तानी के प्रचार को भी मुस्लिम-संस्कृति के लिए अवांछनीय समझ सकते हैं। जब उन्होंने सोचने का अपना तरीक़ा ही बदल डाला है तब इस तरह के सभी प्रयत्न बेकार साबित होंगे।"

थोड़ा ठहर कर संत जी ने फिर कहना आरंभ किया—"यह बात भी बुरी है कि हिन्दी के हिन्दू लेखक तो अन्धाधुन्ध संस्कृत-शब्दों को अपनी भाषा में भरते जायँ और मुसलमान अरबी-फ़ारसी के शब्दों को। इस होड़ का नतीजा होगा दोनों भाषाओं का धीरे धीरे छोटे दायरे में सिकुड़ते जाना। आप लोग अपने तरीक़े पर हिन्दुस्तानी का मज़े में प्रचार करें, पर यह सोचना ग़लत होगा कि इससे मुसलमान हमारे निकट आते जायँगे। उनका हृदय-परिवर्तन इस प्रयत्न से नहीं होने का।"

संत जी की स्पष्ट राय की क़द्र सभी करेंगे। हम तो यह सोचते हैं कि यदि हमारी भाषा में ख़ूबी होगी तो वह विश्व-भाषा बन जायगी। ग़ुलामों और दरिद्रों की भाषा होकर भी हिन्दी ने बिना राजकीय संरक्षण के जो गौरव प्राप्त किया है उसका कारण इसकी निजी विशेषता-मात्र है। यदि अँगरेज़ी की तरह हिन्दी को राज-सम्मान मिलता तो आज हम देखते कि चेम्बरलेन और हिटलर हिन्दी में ही अपनी बातचीत आरम्भ करते क्योंकि अँगरेज़ी और जर्मन-भाषा का माध्यम हिन्दी ही रहती, उसी तरह जैसे काबुली और बंगाली आपस में विचार-विनिमय करते समय पश्तो और बंगला के बदले में हिन्दी को ही काम में लाते हैं। संभवतः मेरी आशावादिता सीमोल्लंघन कर गई हो, पर जिस भाषा में सबसे पहले-पहल 'मा' को पुकार कर मातृस्नेह से भरा चुम्बन पाया था उस भाषा के लिए मैं ऊँची से ऊँची बात सोचने, बोलने और लिखने में अपने को ज़रा भी कुंठित नहीं पाता।

हाँ, एक बात यह है कि संत जी भी दबी ज़ुबान से 'रोमन-लिपि' की वकालत करते हैं। उन्होंने कहा—"रोमन उतनी बेढंगी लिपि नहीं है। थोड़ा सा यदि संशोधन कर दिया जाय तो भारत में उसका प्रचार हो सकता है।"

मैंने ज़ोर देकर पूछा—"जी नहीं—मैंने सुना है कि नागरी के स्थान पर रोमन-लिपि का झंडा उड़ाना कुछ लोग पसन्द करते हैं। आप अपनी राय दीजिए। मैं यही सुनने को उत्सुक हूँ।

संत जी ने कहा—"यदि रोमन-लिपि का प्रचार हो जाय तो जो देवनागरी नहीं पढ़ सकते उनके लिए हिन्दुस्तानी सहज हो जायगी।"

मैं अधिक लिखना नहीं चाहता। संत जी के विचार नागरी के सम्बन्ध में चाहे जैसे हों, पर महात्मा गांधी के एक लेख की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत कर देना बुरा न होगा।

महात्मा गांधी लिखते हैं:—"हिन्दुस्तान में सर्व-मान्य हो सकनेवाली अगर कोई लिपि है तो वह देवनागरी ही है। ... अगर हम रोमन-लिपि को दाखिल करें तो वह निरी भार-स्वरूप ही साबित होगी और कभी लोकप्रिय नहीं बन सकेगी।"

महात्मा जी रोमन-लिपि के विषय में लिख रहे हैं:—"रोमन-लिपि का मुख्य लाभ इतना ही है कि छापने और

टाइप करने में यह लिपि आसान पड़ती है। किन्तु मनुष्यों को इसे सीखने में जो मेहनत पड़ेगी उसे देखते हुए इस लाभ का हमारे लिए कोई मूल्य नहीं। ....करोड़ों हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए भी देवनागरी का सीखना आसान है, क्योंकि अधिकांश प्रान्तीय लिपियाँ देवनागरी से ही निकली हैं।"

मुसलमान जिस जिस प्रान्त में बसे हैं उस प्रान्त की लिपियों और बोलियों को, जीवन के लिए स्वभावतः अपनाते ही हैं। ऐसी दशा में उन्हें सहज ही देवनागरी सिखलाई जा सकती है। महात्मा जी के विचारों की लम्बी व्याख्या करना उचित नहीं, अतएव मैं अपने प्रधान विषय की ओर ध्यान देना उचित समझता हूँ। पाठक क्षमा करेंगे।

दोपहरी हो गई थी। प्लेटफ़ार्म पर फागुन की धूप चमक रही थी। स्टेशन में प्रायः सन्नाटा था, क्योंकि कोई 'ट्रेन टाइम' नहीं था। अलसाये से स्टेशन के कर्मचारी और कुली इधर-उधर घूम रहे थे। शान्त सैलून की खुली खिड़कियों से मैं देख रहा था—भाग्य-रेखा की तरह लोहे की कठोर लाइनें और उनके बाद छोटे-छोटे मकानों की बेढंगी क़तार जिसमें से धुआँ उठ रहा था और बाहर कुछ बच्चे खेल रहे थे। सड़क पर तीन-चार बैलगाड़ियाँ धीरे धीरे जा रही थीं। सारा दृश्य उदास था।

(८)

मुझे, मेरे एक आदरणीय कृपालु सज्जन ने, संत जी को 'डिनर' के लिए निमन्त्रण देने का आदेश दिया था। उक्त सज्जन लेफ़्टिनेन्ट कर्नल हैं। जब मैंने संत जी से निवेदन किया तब आपने प्रसन्नचित्त से न्योता स्वीकार कर लिया। ठीक ब्राह्मण की तरह हँस कर संत जी बोले—"हाँ, मैं दोपहर के भोजन में अवश्य शरीक होऊँगा। तुम उन्[illegible] दे दो।" ठीक इसी समय श्रीमती सिंह ने एक बाधा उपस्थि[illegible]र दी। उन्होंने कहा—"मैं तो खास तरह का भोजन पसन्द करती हूँ। मेरे लिए अलग व्यवस्था होनी चाहिए।"

मैं अकचकाया। मेरे साथ एक सज्जन थे, जो कई बार विदेश-यात्रा कर चुके हैं और बड़े बड़े 'हिज़हाईनेसों' की सेवा में रह चुके हैं। मैं उनकी बुद्धि पर बड़ा विश्वास करता हूँ—और चाहिए भी। मैंने अपने मित्र को इशारा किया, तब उन्होंने तुरन्त काग़ज़ क़लम लेकर श्रीमती जी से उनके खाद्य-द्रव्यों की तालिका पूछनी आरंभ कर दी। अँगरेज़ी खाद्य द्रव्यों के हज़ारों नाम मेरे उक्त पर्य्यटक मित्र को याद हैं। उन्होंने तत्काल समझ लिया कि श्रीमती सिंह किस तरह का भोजन पसन्द करती हैं। वे मोटर से लेफ़्टिनेन्ट कर्नल को सूचना देने गये और मैं स्टेशन के भोजनालय में उदर-ज्वाला निर्वापित करने घुसा। मैंने समझ लिया कि अब २ बजे भोजन भगवान् से भेंट होगी। न्योता जीमने की आदत होती तो भूखा रहकर 'परान्न' पर टूट पड़ने के लिए विशेष रूप से तैयार हो जाता, पर दुःख है कि ब्राह्मण के घर जन्म लेकर भी मुझे न्योता जीमने का कभी अवसर नहीं मिला। विश्वास है, न्योता जीमने के लिए ही मुझे एक बार और धरातल पर पधारना पड़ेगा। ठीक १२॥ बजे लेफ़्टिनेन्ट कर्नल साहब ने मुझे संत जी के साथ आने की सूचना दी। संत जी को मैंने कह दिया तब वे बोले—"अच्छा, इन्हें (श्रीमती जी की ओर इशारा करके) बाज़ार में कुछ सामान खरीदना है। अपने भाई को इनके साथ भेज दो।"

पन्नालाल, श्रीमती जी और एक बंगाली सज्जन चले गये। रिक्शा पर तीनों रवाना हुए। यदि संत जी की जगह पर मैं होता तो 'मोटर' की खोज करता, पर सादगी इसी का नाम है। मौजी लोग कभी 'रोल्सरायस' पर सफ़र करते हैं तो कभी टूटी बैलगाड़ी पर! उनके लिए दोनों सवारियों में विशेष अन्तर नहीं है। मैंने महात्मा गांधी को 'साइकिल' पर चढ़ते देखा है। कितने आश्चर्य की बात है! बिहार-रत्न राजेन्द्र बाबू 'पटनिया-एक्का' पर जाते नज़र आते हैं।

जब श्रीमती जी बाज़ार से लौटीं तब संत जी ने बंगाली महोदय से साग्रह पूछा—"निश्चय ही आपने दो-चार रुपये का फ़ायदा पहुँचाया होगा।" कुछ लज्जित से बंगाली महोदय बोले—"हें हें, जी नहीं—एक रुपया दूकानदार से कह सुनकर छुड़वाया।"

संत जी खूब ज़ोर से हँस कर बोले—"बस, इतना ही!"

मैं मन ही मन हँसा। यदि मेरी हँसी प्रकट हो जाती तो शायद संत जी उसे व्यंग्य की हँसी समझ बैठते। बड़ी कठिनता से मैंने अपनी उच्छृङ्खल हँसी दबाने में सफलता पाई।

अब हम लेफ़्टिनेन्ट कर्नल साहब की कोठी की ओर रवाना हुए। मैं भोजन का वर्णन नहीं करूँगा, क्योंकि मुझे भय है कि पाठक कहीं अपने राम को पेटू न मान बैठें। लेफ़्टिनेन्ट कर्नल साहब के यहाँ पहुँचते ही मैं मानो अकेला हो गया। संत जी को घेर कर सभी बैठ गये और तत्काल देश-विदेश की वार्ता आरंभ हो गई।

ऐसी-ऐसी पार्टियों में फलाहारी को कभी भी शरीक होने का शौक़ नहीं करना चाहिए जिसका कटु अनुभव अनेक बार मुझे प्राप्त हुआ है, पर फिर भी निमन्त्रण मिलते ही ब्राह्मण-बुद्धि ज़ोर मारने लगती है।

एक बार गया में उड़ीसा के प्रीमियर माननीय विश्वनाथ दास पधारे। उन्हें पार्टी दी गई। हम कई अभागे शाक-भोजी थे। बस, हमारी मेज़ अलग लगा दी गई और गाजर, टमाटर, गोभी, आलू खाकर किसी तरह पेट की भट्ठी को समझाना-बुझाना पड़ा। यही दशा सन्त साहब के साथ लेफ़्टिनेन्ट कर्नल के यहाँ भोजन करने में हुई। अपने राम पापड़, पपीता, ककड़ी, गाजर, सलजम खाकर ही संतोष कर गये जब कि हमारे सामने प्लेट पर प्लेट परोसे जा रहे थे और काँटे-छुरी की खनखनाहट से पूरा भोजन-गृह गूंज रहा था।

सूर्यास्त! बनारस जानेवाली गाड़ी में संत जी का सैलून जोड़ दिया गया। हम स्टेशन पर इधर-उधर घूम रहे हैं। पत्रकारों, मित्रों और शहर के सम्भ्रान्त व्यक्तियों से घिरे संत साहब खड़े हैं। संत जी अपने सैलून में घुसे, हम भी पीछे पीछे चले। इसी समय एक सिंहली बौद्ध भी अपना कार्ड भेज कर आया। उसके पीले वस्त्र पर दिवंगत भानु की सुनहरी किरणें पड़कर चमक उठीं—सैलून का भीतरी भाग क्षण भर के लिए पीले प्रकाश से भर गया! हँसते हुए संत जी ने उस बौद्ध का परिचय उपस्थित सज्जनों से कराया और मेरी बारी आई तब उन्होंने कहा—"इनका नाम ....है। आप एक उच्च शिक्षित व्यक्ति हैं...... इत्यादि।" मुझे कितना परिताप हुआ कि संत साहब ने मुझे हिन्दी का लेखक नहीं तो एक तुच्छ सेवक भी नहीं समझा। एक कहानी मुझे याद आती है। उर्दू के एक कवि मीर साहब थे। भारी अक्खड़, पूरे ज़िद्दी! किसी ने आपसे पूछा—'हज़रत उर्दू में इस समय कितने कवि हैं। आपने फ़र्माया—"तीन!" पूछा—"कौन कौन?" उत्तर मिला—"एक मैं और दूसरे दो और।"

फिर प्रश्न हुआ—"अमुक हज़रत भी तो शायर हैं—" तो मीर जी झल्ला कर बोले—"अच्छा, आधा उनका नम्बर भी रहा। कुल साढ़े तीन।"

मीर साहब ने तो एक अभागे को अपने मुक़ाबिले में आधा नम्बर भी दिया, पर संत जी ने तो इस ग़रीब को ¼ नम्बर देना स्वीकार नहीं किया! मैं नहीं कह सकता, यह हिन्दी-लेखक होने का अपराध है या सचमुच मुझमें लेखक कहलाने की योग्यता का ही अभाव है। कभी न कभी इसका फ़ैसला होकर ही रहेगा। वे अपने साथ मेरे लिखे हुए कई संस्मरण ले गये—मैं धन्यधन्य हो गया!

× × ×

संत जी चले गये। उन्होंने मुझसे कहा था कि वे दो मास 'ग[illegible]ा' में ही रहकर एक ग्रन्थ लिखना चाहते हैं। उन्होंने भगवान् बुद्ध की कोई जीवनी लिखी है, जिसके सम्बन्ध में उनका कहना है कि किसी भी पुरानी जीवनी-पुस्तक से बिना सहायता लिये ही प्राप्त साधनों का सरें नौ से अध्ययन करके, पुस्तक लिखी गई है। एक बात जो उन्होंने कही वह बहुत ही मज़ेदार थी। उनके विचार से मागधी भाषा सिंहली की मा है। मैं नहीं कह सकता वे किस आधार पर ऐसा कह रहे हैं—किसी भाषा-तत्त्वविद् को इस ओर ध्यान देना चाहिए। मगधवासी होने के कारण मैं आनन्दगद्गद होकर ही रह गया!

संत साहब का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक है और वे सचमुच कठोर परिश्रमी तथा महान् पुरुषों में से एक हैं। वे भले ही मुझे लेखक न स्वीकार करें, पर मैं तो उन्हें दिग्विजयी लेखक कहकर अपनी कृतज्ञताञ्जलि अर्पण करता हूँ। वे संसार के श्रेष्ठ लेखकों में से एक हैं।

पूरब ने पश्चिम को यह 'संत निहालसिंह' दिया है—निश्चय ही भारत को अपने इस लाल पर गुमान है। इन्हीं माई के लालों ने आज संसार के सामने भारत के गौरव का ध्वजोत्तोलन किया है। संसार के सामने हम ग़ुलाम रहते हुए भी जो सिर ऊँचा करके खड़े होने का साहस करते हैं वह इन्हीं बहादुर भारतीय सिपाहियों के बल पर! निश्चय ही योरप को हमारा ऋणी होना चाहिए।

सिंहावलोकन

लेखक, श्रीयुत भगवानदीन दुबे

'सरस्वती' के पाठक श्रीमान् दुबे जी से परिचित होंगे। उन्होंने यह लेख स्वीज़रलैंड के ज्यूरिच से भेजा है। इसमें उन्होंने योरप की वर्तमान परिस्थिति का रोचक ढंग से वर्णन किया है।

१४-१९१९ के महायुद्ध के बाद सबकी यह इच्छा हुई कि कोई ऐसी संस्था क़ायम की जाय जिससे संसार को फिर से महायुद्ध की यंत्रणायें न भोगनी पड़ें। फलतः 'लीग आफ़ नेशन्स' नाम की संसार के राष्ट्रों की एक संस्था क़ायम हुई। यद्यपि अमरीका का संयुक्त-राज्य इसका सदस्य न हो सका, तो भी संसार के सभी देश, रूस को छोड़ कर इसके सदस्य बने। कुछ वर्षों तक इसकी खूब धाक रही, यहाँ तक कि रूस भी इसमें आकर शामिल हो गया।

अब कुछ बड़े-बड़े राष्ट्रों ने ऐसा समझा कि लड़ाई के साधनों में पैसा व्यय करना व्यर्थ है, इसलिए निश्शस्त्रीकरण के सम्बन्ध की सभायें हुईं, उनमें ग्रेट ब्रिटेन ने प्रमुख भाग लिया। उस समय ब्रिटेन में मज़दूर-दल की सरकार का बोलबाला होने से उसने निश्शस्त्रीकरण सचाई के साथ किया। यहाँ तक कि सिंगापुर के प्रसिद्ध जहाज़ी अड्डे का काम जो शुरू हो चुका था, रोक दिया गया और कुछ दिनों तक बन्द रहा।

फ़्रांस लीग आफ़ नेशन्स का एक प्रमुख संस्थापक था। वह ग्रेट ब्रिटेन से निश्शस्त्रीकरण के बाबत सहमत नहीं था। लड़ाई के बाद भी उसने फ़्रांसनिवासियों में अनिवार्य सैनिक शिक्षा जारी रक्खी। यही नहीं, अपने बचाव के लिए जर्मनी की सीमा पर मैगिनाट लाइन नाम की क़िलेबन्दी की रचना की, जो इस समय संसार में अजेय गिनी जाती है। इसकी [illegible] की जाँच यथार्थ में भावी बड़े युद्ध में ही हो सकती है। उसने ज़ेकोस्लोवेकिया, पोलेंड, रूमानिया इत्यादि से अलग संधियाँ भी कीं।

महायुद्ध के समय संसार के कारखाने गोला-बारूद बनाने में लगे थे। फलतः संसार के बाज़ारों में बने हुए माल की कमी रही। लड़ाई के बंद होने के बाद रोज़गार एकाएक खूब चमका और गिरा भी। पर १९२२ से १९२७ तक सचमुच तरक़्क़ी रही। इतने वर्षों में खपत से ज्यादा माल बनने लगा। साथ-साथ कई देशों में अपने-अपने कारखाने खोले गये। इधर जापान ने भी खूब तरक़्क़ी की। १९२८-२९ की मन्दी १३३१ के अन्त तक रही। इसमें कितने कारख़ानों में काम कम हो जाने की वजह से मज़दूर कम किये गये। आमदनी के कम हो जाने के कारण लोगों ने अपना खर्च कम कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बेकारों की वृद्धि हुई। बेकारी से असन्तोष पैदा हुआ। इसका पहला शिकार जर्मनी हुआ जो एक प्रधान औद्योगिक देश है। हिटलर जैसे लोगों की बन आई। ये लोग कहने लगे कि इस दुरवस्था का कारण सरकार है। सरकार को बदलना चाहिए। ख़ैर, सरकार बदली और हिटलर के हाथ में जर्मनी का शासन-सूत्र आया।

उधर मुसोलिनी की अध्यक्षता में इटली की खूब उन्नति हुई। ऊपर से वह लीग का सदस्य बना रहा और सभी निश्शस्त्रीकरण की सभाओं में शामिल होकर उसका समर्थन करता रहा, पर भीतर-भीतर फ़्रांस की तरह वह इन बातों में विश्वास नहीं करता था। फ़्रांस से उसकी मित्रता भी थी। फ़्रांस के ही समर्थन पर उसने अबीसीनिया पर हमला किया। जापान के मंचूरिया हड़प करने पर लीग की प्रतिष्ठा में कुछ धक्का लगा था, पर चूँकि इसके सभी ज़ोरदार सदस्य योरपीय थे; अतएव उन्होंने समझा कि उस सुदूरस्थ झगड़े को न बढ़ाया जाय। पर अबीसीनिया के हमले ने सब किसी में बेचैनी पैदा कर दी—खास कर अँगरेज़ों में। अँगरेज बहुत छटपटाये और इटली पर प्रतिबन्ध लगाये जाने का उपक्रम किया। पर फ़्रांस के गुप्त समझौते के कारण ब्रिटेन का विरोध बेकार सिद्ध हुआ। असली पेट्रोल की बंदी के प्रस्ताव का फ़्रांस ने समर्थन न किया। उधर मुसोलिनी ने धमकी दी कि पेट्रोल-बंदी की बात कार्य में परिणत होते ही वे युद्ध की घोषणा कर देंगे। जब युद्ध के छेड़ने की बात आई तब अँगरेज ठिठके, क्योंकि भूमध्य सागर में उनके क़िले तथा जंगी जहाज

हवाई हमले को रोकने के क़ाबिल न थे। उधर फ़्रांस, यद्यपि इस सम्बन्ध में मज़बूत था, अँगरेज़ों का साथ देने को असहमत था। अकेले अँगरेज उस समय इटली से लड़ने के क़ाबिल न थे। तब अँगरेज़ों को अपनी निश्शस्त्रीकरण की नीति की भूल जान पड़ी। क्या करते? ख़ून का घूंट पी कर रह गये। और चुप मार ली। उन्होंने अपनी भूल को सुधारने का प्रयत्न जारी किया।

मसल मशहूर है कि जो दूसरे को गढ़ा खोदता है वह उसमें खुद गिरता है। अँगरेज़ों को इसका बदला लेने में देर न लगी। हिटलर ने कुछ ही समय पहले जर्मनी का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया था, उसने इस फूट से लाभ उठाने में देर न लगाई। उसने जर्मन-जाति का फिर से शस्त्रीकरण किया। फ़्रांसीसी अब अँगरेज़ों का मुंह ताकने को लाचार हुए। अँगरेज़ चुप्पी साध गये। हिटलर ने बलपूर्वक राइनलैंड पर क़ब्ज़ा कर लिया, जो वर्सेलीज़ की सन्धि के खिलाफ़ था। अब फ़्रांस को अकेले जर्मनी से भिड़ने की हिम्मत न पड़ी। अँगरेज़ों को बदला मिल गया।

हिटलर ने जर्मनी की आश्चर्यजनक उन्नति की। यह न समझिए कि रोज़गार बढ़ा और कोई सच्ची माली हालत सुधरी। उसने लोगों को सड़क बनाने, लड़ाई के सामान जुटाने तथा और ऐसे ही अनक काम करने में लगा दिया। और इस सबको रुपया चाहिए। पर रुपया तो बाहर से कहीं आया नहीं। यहूदियों को उसने चूसने के क़ानून बनाये। अपने भारत में मारवाड़ियों की तरह योरप में यहूदी धनवान् गिने जाते हैं। करोड़पति यहूदियों को भिखारी बना कर उसने देश से निकाल दिया और अभी निकाल रहा है। करोड़ों रुपया इस तरह मिला। जिस रीच-बैंक के नोट जर्मनी में चलते हैं वह नई रीति पर चलाई गई और उससे खूब काम निकाला। इस बैंक के प्रधान डाक्टर शाफ़ट थे वे इस नीति का समर्थन नहीं करते थे अतएव वे निकाल दिये गये। उसके नोटों की ग़ैर मुल्कों में चौथाई भी क़ीमत नहीं है। लोगों को देश-भक्ति के नाम पर खाने-पीने की सामग्रियों की कमी पर शिकायत न करने को कहा गया। बहुत सी खाने-पीने की सामग्रियाँ विदेशों से आती हैं। और रुपया है नहीं तो कहाँ से आयें? हिटलर ने दूसरे देशों से आज-कल के मुद्रा-चलन के विपरीत सामान के बदले सामान का चलन जारी किया। पर यह कहाँ तक चल सकता है? फ़िर भी यह [illegible] काफ़ी काम में लाई गई। डींग मारने को हो गया कि जर्मनी में बेकारी नहीं है। यह मानी हुई बात है कि इस नीति का चलन असम्भव है।

हिटलर और मुसोलिनी की मित्रता होनी इस दशा में अनिवार्य थी। दोनों में खूब मेल हुआ। जापान ने चीन के ऊपर हमला कर लीग को ग़ारत कर दिया। जापान की तरह जर्मनी और इटली ने भी लीग को छोड़ दिया। इन तीन सशस्त्र देशों से मुक़ाबिला करने की हिम्मत छोटे छोटे देशों में न थी। उन्होंने देखा कि जब अबीसीनिया और चीन पर हमले हुए तब लीग नियम से बद्ध होते हुए भी फ़्रांस और ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली देश आक्रान्तों की मदद न कर सके तब लीग के सदस्य होने से क्या फ़ायदा है। इसलिए बेल्जियम, हालैंड इत्यादि देशों ने नोटिस दे दिया कि वे लीग की प्रतिबन्ध लगाने की नीति पर नहीं चलेंगे।

इससे जर्मनी, जापान और इटली को और ज़ोर मिला। इधर स्पेन में गृह-युद्ध जारी हुआ। जर्मनी और इटली खुल्लम-खुल्ला जनरल फ़्रैंको की मदद करने लगे। फ़्रांस और रूस प्रजातंत्र-सरकार की मदद में थे। फ़्रांस और ब्रिटेन की अनबन का लाभ उठा कर इटली गुर्राता रहा कि अगर फ़्रांस स्पेन की प्रजातंत्र-सरकार की मदद पर जायगा तो वह लड़ाई ठान देगा। अँगरेज़ इस बात से घबड़ा उठे। अँगरेज़ों को फ़्रांस ने अच्छी सीख दी थी। अँगरेज़ अपनी तैयारी में लगे थे जिससे वे अपनी ही शक्ति पर भरोसा रक्खें। इसलिए अहस्तक्षेप कमिटी की रचना की गई। मुसोलिनी और हिटलर उसमें ऊपरी मन से शामिल हुए, जिससे कम से कम फ़्रांस को वे मदद करने से रोकें। बात यह तय थी कि स्पेनवालों को खुद लड़ने दिया जाय, दूसरे राज्य किसी की मदद न करें और जो अन्य देश के सैनिक स्पेन में हैं वे बुला लिये जायँ। फ़्रांस को तो अपने सैनिक बुलाने पड़े, इटली और जर्मनी ने भी कुछ वापस बुलाये, पर नाम-मात्र को। मुसोलिनी और हिटलर गुप्त रीति से अपने आदमी बराबर भेजते रहे। मुसोलिनी को झूठा कहने की हिम्मत किसको थी? आख़िर में जेनरल फ़्रैंको की विजय हुई।

हिटलर ने अपने देश में जो तीन साल में उन्नति की

इसका प्रभाव आस्ट्रियावालों पर पड़ा। हिटलर के एजेंट वहाँ फूट पैदा करने में लगे। आस्ट्रियानिवासी भी जर्मन-जाति के ही हैं। आस्ट्रिया के निवासियों में एक ऐसा बड़ा समूह उत्पन्न हो गया जो जर्मनी से आस्ट्रिया को मिला देने का आन्दोलन करने लगा। जिस देश में आपस में फूट हो जाती है उसका कुशल नहीं है। हिटलर को आस्ट्रिया के हड़पने का अच्छा मौक़ा मिल गया। आस्ट्रिया की किसी से संधि भी नहीं थी। हिटलर ने धमकाया और आस्ट्रिया जर्मनी से जा मिला।

फिर क्या था? हिटलर के हाथ एक कारगर नुस्खा लग गया। उसने कहा कि ज़ेकोस्लोवेकिया के वे भाग जर्मनी को मिल जाने चाहिए जिनमें जर्मन बसते हैं। इसकी माँग ज़ोरों से गत सितम्बर में पेश की गई और धमकी दी गई कि सीधे से न मिलेंगे तो लड़ कर ले लेंगे। इटली ने जर्मनी का समर्थन किया। अड़ंगा यह था कि ज़ेकोस्लोवेकिया की संधि फ़्रांस से थी। अगर उस पर हमला होता तो फ़्रांस को लड़ाई में उतरना पड़ता। ब्रिटेन की उससे संधि नहीं थी, पर फ़्रांस से इस बात का समझौता था कि अगर फ़्रांस पर कोई हमला करेगा तो ब्रिटेन फ़्रांस की मदद पर जायगा। ऐसा जान पड़ा कि महायुद्ध ठना चाहता है। उस समय नेवाइल चैम्बरलेन ने बीच में पड़ कर म्यूनिख़ का समझौता किया और जर्मनी की माँग पूरी की गई। कोई कहता है कि उक्त समझौता चैम्बरलेन साहब की कायरता के कारण हुआ, कोई इसे उनके शान्ति-प्रेम का परिणाम बताते हैं, कोई समय टालना कहते हैं, सच क्या है, यह भविष्य बतलावेगा। इस समय यदि यह कहा जाय कि तीनों कारण थे तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। कोई-कोई उसे अँगरेज़ों की कूटनीति बतलाते हैं, जो अभी हल नहीं हो सकती। समय पाकर इसका रहस्य खुलेगा। राजनीतिज्ञों की बाहरी बातों का कोई महत्त्व नहीं होता। [illegible]ना ज़रूर हुआ कि म्यूनिख़ के समझौते के बाद अँगरेज़ अपनी जंगी तैयारी के काम में अधिक तत्परता से संलग्न हो गये। और इस समय वे इतने अधिक शक्ति-सम्पन्न हो गये हैं कि किसी से भी लोहा ले सकते हैं। जर्मनी ने इस मार्च में सारे ज़ेकोस्लोवेकिया पर अपना क़ब्ज़ा करके संसार को अपने सच्चे स्वरूप का थोड़ा-बहुत परिचय दे दिया है। इसका जवाब मुसोलिनी ने अल्बेनिया पर क़ब्ज़ा करके दिया है। इस समय आत्म-जागृति का सवाल नहीं है। अब तो सवाल क्षमता और अक्षमता का है। क्षमताशाली राष्ट्र अन्य को ग़ुलामी करने योग्य ही कह देना चाहते हैं। नतीजा यह हुआ है कि संसार इस नीति का प्रतिकार करना अपना धर्म समझता है। कई छोटे-छोटे राज्य तो यह कह कर कि हम निरपेक्ष रह कर अपना बचाव कर लेंगे, मन को समझा रहे हैं। पर जो कुछ मज़बूत हैं और अकेले रहना नहीं चाहते वे दूसरों से संधि कर रहे हैं। इस समय जर्मनी, इटली, स्पेन, हंगरी और जापान एक तरफ़ हैं। दूसरी तरफ़ ब्रिटेन, फ़्रांस, पोलैंड खुल्लम-खुल्ला और ग्रीस और रूमानिया भीतर भीतर एक साथ हैं। पर कोशिश जारी है कि रूस और तुर्की भी किसी न किसी रूप से इसमें मिला लिये जायँ। स्वीज़रलैंड, बेल्जियम, हालैंड, नार्वे, स्वीडन अभी निरपेक्ष हैं।

अब तक जर्मनी और इटली ने वहीं ज़ोर किया है, जहाँ बिना लड़े काम सिद्ध होने की सम्भावना थी। पर अब क्या होगा, कहना कठिन है। फ़्रांस और ब्रिटेन उसी तरह लड़ने को सुसज्जित हैं, जैसे जर्मनी और इटली। इटली और जर्मनी, ख़ासकर जर्मनी की, माली हालत इतनी ख़राब है कि लड़ाई को छोड़कर हिटलरशाही के क़ायम रखने का दूसरा ज़रिया नहीं है। रोज़गार न बढ़ा तो अगणित आदमी गोला-बारूद बना कर कब तक जियेंगे। इस फ़िज़ूल-ख़र्ची के लिए रुपया कहाँ से आयेगा।

अगर योरप में इस तरह आग न लगती तो जापान को चीन के हड़प जाने में ज्यादा कठिनाई न होती, क्योंकि जापान को नाराज़ न करने की ख़ातिर पहले-पहल फ़्रांस और ब्रिटेन ने चीन की यथारूप मदद न की। पर अब जापान इटली और जर्मनी की तरफ़ ज्यादा झुका दीख पड़ता है, अतएव चीन की मदद अब ज़ोरों से हो रही है। न केवल रुपया, बल्कि काफ़ी सामान भी दिया जा रहा है, जिससे वह जापान को मोर्चे पर थामे हुए है। अमरीका के संयुक्त-राज्य का भी झुकाव ब्रिटेन और फ़्रांस की तरफ़ है और अगर लड़ाई ठनी तो वह उनकी केवल रुपये-पैसे और सामान से ही मदद न करेगा, बल्कि उनके साथ लड़ाई में भी उतर पड़े तो आश्चर्य नहीं। इधर रूस की विश्वव्यापक नीति में फ़र्क़ हो रहा है। उसे भी अपनी फ़िक्र पड़ी है, क्योंकि जर्मनी और जापान उसके आगे

दुश्मन हैं, इसलिए जिससे जर्मनी का पतन हो उसका वह समर्थन ज़रूर करेगा। फ़्रांस से उसका एक प्रकार का समझौता है ही, ब्रिटेन से भी उसके मेल की कोशिश ज़ोरों से जारी है।

अभी उस दिन प्रेसीडेंट रूज़वेल्ट ने जो अपील हिटलर और मुसोलिनी से की है उसका साफ़ मतलब इन दोनों को ग़ैर-क़ानूनी घोषित करने का है। ये लोग उस अपील को नहीं मान सकते। फिर भी उनकी एकाएक लड़ाई ठानने की हिम्मत नहीं जान पड़ती। ऐसा होता तो मुसोलिनी की यह दहाड़ कि फ़्रांस अगर ट्यूनिस, स्वेज़ और जिबूटी के संबंध में उसकी माँग को नहीं स्वीकार करेगा तो वह फ़ौरन लड़ाई ठान कर बलपूर्वक इन्हें ले लेगा, फ़्रांस की दुतकार पर ख़त्म न हो जाती। फिर अल्बेनिया पर क़ब्ज़ा कर लेने पर, जो एक प्रकार उसके अधीन था, वह अँगरेज़ों को हर प्रकार की दलीलों से समझाने की, कि ऐसा करने से भूमध्य सागर के संबंध में जो समझौता गत वर्ष हुआ है, भंग नहीं हुआ, दिलतोड़ कोशिश न करता। अँगरेज़ों ने दलीलें तो नहीं मानीं, पर उस समझौते को तोड़ना भी मुनासिब नहीं समझा। चैम्बरलेन साहब की समझौते-द्वारा शान्ति क़ायम करने की नीति अब हवा हो गई है। उनका छाता अब लाठी में परिणत-सा हो गया है।

इस समय इटली और जर्मनी तथा फ़्रांस और ब्रिटेन में शतरंज की-सी चालें हो रही हैं। इटली और जर्मनी में अख़बारों का सारा क्रोध चैम्बरलेन और रूज़वेल्ट पर उतारा जा रहा है। इधर फ़्रांस और ब्रिटेन के अख़बार शान्त हैं। हाथी और कुत्तों की-सी हालत है। चैम्बरलेन तथा दलादियर के वक्तव्य युक्तिपूर्ण और गम्भीर होते हैं। हिटलर और मुसोलिनी के वक्तव्य नब्बे फ़ी सदी आत्म-प्रशंसा और बाक़ी गाली-गलौज से भरे होते हैं। एक ही तत्त्व निकलता है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।'

वर-याचना

लेखिका, श्रीयुत तारा पाण्डेय

जीवन के पल बीत रहे नित
आज माँगने आई मैं वर!

बँधा हुआ है मानव-प्राणी
बुनता लघु सुख-दुख को जाली,
अपने ही बन्धन में बँध कर
प्राणों में पीड़ा-निधि पाली।
मेरा सुख बँट जाये जग में
दुःख रहे मेरा चिर-सहचर!

इन्द्रधनुष के रंगों-सी यह
आशा नव-नव रूप दिखाती
'क्षणभंगुर है जीवन-सपना'
मुसकाकर मुझसे कह जाती।
जगत हुआ दुख से ही निर्मित
भरतो मैं आँसू का सागर!

भिक्षुक बनकर निशि-दिन किससे
माँग रहा जग सुखमय जीवन
मृग-जल से मैं ऊब उठी अब
कहती हूँ दुख प्राणों का धन।
मेरी आँखों में करुणा हो
शाप बनेगा मुझको शुभ वर!

तारे नभ में विचरण करते
फूल खिल रहे वन-उपवन में
फिर फिर निशि-दिन, होते पल छिन
परिवर्तन है तन में मन में
बे-सुध-सी तेरे चरणों में
आज माँगने आई मैं वर!

तपोवन की एक भावपूर्ण कहानी

सौन्दर्य्य

लेखक, श्रीयुत 'उदय'

जल-थल अभी ज्योत्स्ना की गोद में सोया था। गोमती के शान्त स्वच्छ गर्भ में बैठकर सुधाकर अभी अपनी प्रेम-कहानी कह रहे थे। नन्हीं-नन्हीं तरंगें छपक-छपक कर दोनों कूलों पर गा आती थीं। जल को निमग्न पा तट के कई पेड़-पौधे उसके गर्भ में चन्द्रमा के पास तक जा बैठे थे।

सुधांशु थिरक-थिरक कर वह रहा था। लहरें जिसे पी-पी कर गा रही थीं। पेड़-पौधे पुलकित-वदन देख-सुन रहे थे। साथ ही समीपस्थ वन-प्रान्त में एक ओर से धीरे-धीरे वेद-ध्वनि उठी और चारों दिशाओं में भरने लगी। पक्षी उठे और प्रेम-गीत दुहराने लगे। पूर्वीय आकाश में उदय के स्वागतार्थ गुलाल बिछाया जाने लगा। बस, उसी समय चार विशाल नावों के 'डिप डिप' ने उस शान्त वातावरण में एक हलचल-सी पैदा कर दी।

एक नाव पर से, जो उनमें भव्यतम थी, एक भद्र पुरुष किनारे पर उतरा। वह दौड़ता हुआ वन-प्रदेश में प्रविष्ट हुआ। उसी नौका में से यह सन्देश चारों ओर पहुँचा दिया गया कि इस तपोभूमि में कोई ऐसा काम न करने पाये जो वहाँ के स्वच्छन्द, शान्त, नैसर्गिक वातावरण को दूषित करनेवाला हो। लगभग आध घंटे तक चारों नावों के यात्री मंत्र-मुग्ध-से निश्चेष्ट बैठे रहे; कहीं होठ तक न हिलने पाया। आखिर जब तपोवन से सन्देश मिला और प्रमुख नाव के यात्री ने सबको सूचित कर दिया कि, जब तक [illegible]ज सन्ध्योपासना में लगे हैं सब शान्ति के साथ अपने नित्य-कर्म से निवृत्त हो जायँ, तभी नाव में हलचल दिखलाई पड़ी।

कुछ समय पश्चात् "श्रीमहाराजाधिराज! श्री महारानी! पधार रहे हैं" की कानों-कानों लहर-सी चली और उसी नौका से वस्त्राभूषणों से पूर्णतया अलङ्कृत एक लावण्यमूर्ति तथा राजसी वस्त्रों से सुसज्जित एक वीर-पुङ्गव ने निकल कर कुछ सेवक-सेविकाओं के साथ वन-प्रान्त में प्रवेश किया। कुछ चल कर वीर-पुङ्गव ने कहा--

"प्रिये! थक तो न जाओगी?"

"महाराज के साथ और फिर उस मंगल आशा को इस निर्द्वन्द्व, निष्कपट तपोभूमि में ऋषिराज को पहुँचाने में?"

करुणार्द्र दीर्घ श्वास फेंकते हुए महाराज ने कहा--

"आशा बलवती है।"

"क्यों, महाराज?"

"सोचता हूँ इस अनुपम सौन्दर्य को मेरी इस विषम-पीड़ा का अनुभव ही न होता तो कैसा अच्छा था।"

"नहीं महाराज, जो आमोद-प्रमोद के सिवाय और कुछ भी नहीं समझती उसी को महाराज ने इसके उपयुक्त चुन कर . . . . ."

इसी बीच अनुचर ने आगे बढ़ कर संकेत करते हुए कहा—

"पृथ्वीनाथ! वही पर्णकुटी है।"

"अच्छा, तो आप सब यहीं ठहरिए," कहते हुए राज-दम्पति आगे बढ़े। कुछ चल कर दोनों रुके; महाराज ने महारानी के कान में कुछ कहा और एक विशाल-वृक्ष के पीछे दोनों जा खड़े हुए--जहाँ से ऋषिराज की तपोमय मूर्ति, प्रातःकालीन रश्मियों से अनुरंजित मुख-मण्डल, सात्त्विक रस से प्लावित धवल केशराशि, ब्रह्मचर्य से प्रदीप्त सुन्दर गौरवर्ण, तापस जीवन में रँगे गेरुए वस्त्र में ध्यानस्थ खड़ी देखी जा सकती थी। जाज्वल्यमान मूर्ति को देख महाराज गुनगुनाए--

"कैसी भव्य मूर्ति है!"

और महारानी की ओर देखा। महारानी नतमस्तक हाथ जोड़े खड़ी थीं। महाराज भी सविनय खड़े उस अपार छवि को देखने लगे। कुछ ही समय पश्चात् 'ओ३म्' का मञ्जु घोष ऋषिराज के कण्ठ से उठने लगा। दिशाएँ भरने लगीं। अन्य व्यापार रुक गये। रोम रोम में 'ओ३म्' शब्द व्याप्त हो धीरे-धीरे उद्भवस्थान में बैठने लगा। महारानी के होठ काँपने लगे। नेत्र सजल हो आये। श्वास तीव्र-गति से चलने लगी। विचलित महाराज के स्पर्श करने पर धीरे-धीरे करुणार्द्र मुख ऊपर उठा; सजल नयनों से प्राणनाथ की ओर देखा और बोलीं--

"महाराज!"

"क्यों प्रिये, ऋषिराज निपट चुके हैं, चलना चाहिए।"

महारानी दृग्-जल आँचल से पोंछ वस्त्रादि ठीक कर महाराज के पीछे-पीछे चल दीं। कुटी से बीस पग दूर पर ही राजा-रानी करबद्ध नतमस्तक खड़े हो गये।

"आयुष्मान्, चले आइए राजन्!" ऋषिराज ने कहा।

नतमस्तक राजदम्पति ने बढ़कर ऋषिचरणों का स्पर्श किया और संकेत पाकर आसन पर बैठ गये। ऋषिराज निश्चल खड़े थे। महारानी की दृष्टि उनके चरणों में लगी थी। महामुनि के चरण काँप रहे थे; महारानी को अपने अस्थिर मन, तथा महाराज को अपने हृदय की उथल-पुथल की झलक उनके चरणों में मिल रही थी। एकाएक मानों भूडोल हुआ। थर-थर कम्पित ऋषिराज की देह में मानों बिजली दौड़ गई। अतुल-प्रयास से झपट कर वे बाहर हुए। भयभीत महाराजाधिराज चौंक कर खड़े हो गये। रानी ने "भगवन्-भगवन्" कह कर मस्तक पृथ्वी पर रख दिया। ऋषिराज तीव्र गति से गोमती के जल में घुस, सूर्योन्मुख खड़े होकर समाधिस्थ हो गये।

चारों ओर आतंक छा गया।

दौड़ कर बढ़ती हुई सेविकाओं को रानी ने हाथ से दूर रहने का संकेत किया। भयाक्रान्त महाराज किंकर्त्तव्य-विमूढ़ नदी की ओर देखते रहे। फिर कुछ सम्हल कर बोले--

"हमारी कुछ भूल हुई है, प्रिये, हमें चल कर महर्षि से क्षमा-याचना करनी चाहिए।"

व्याकुल महारानी धीरे-धीरे चल दीं।

समस्त तपोवन नदी के तट पर स्तब्ध खड़ा था। ऋषि के प्रधान शिष्य जल में उनके एक ओर हाथ जोड़े खड़े थे। आकुल राज-दम्पति नदी के तट पर पहुँचने ही वाले थे कि ऋषि ने कहा--

"वत्स! अपना कार्य करो। पृथ्वीपति से निवेदन कर दो कि समय अनुपयुक्त है। मुझे इसका भारी-सन्ताप है; पर मंगल-कार्य का विधान होगा और मैं ही करूँगा। इस समय वे जायँ; पर कुछ काल के अनन्तर अवश्य लौटें।"

योगिराज यह कह ध्यानस्थ हुए। तट से ऋषिकुल धीरे-धीरे लौटने लगा। शिष्य ने आकर क्षुब्ध राज-रानी को ऋषि-सन्देश सुना दिया।

"पर महाराज" राजा ने निवेदन किया--"क्षमा-याचना के बिना हमारा यहाँ से जाना कैसे संभव होगा। हम आज अवश्य महर्षि की विशेष अन्तर्वेदना के कारण हुए हैं।"

"राजन्, आप व्यर्थ में शोकग्रस्त न हूजिएगा। समाधिस्थ गुरुवर्य्य ने समाधिभंग कर आपके लिए यह सन्देश भेजा है।"

महारानी--"ठीक है मुनिवर! हमारे अपराध करने पर भी जब भगवन् ने यह मंगल-कार्य अपने हाथ में लिया है, तो हम क्षमा कर दिये गये हैं सही; पर . . . . ."

"महारानी! ब्रह्मर्षि के लिए इसकी आवश्यकता नहीं और जब मैं आपके अतुल-सन्ताप को गुरुवर्य्य तक पहुँचाऊँगा ही, तब आप चिन्तित क्यों?"

अन्ततः नौकायें लौटने लगीं। उनके यात्री पैदल किनारे-किनारे चलने लगे। कुछ ही क़दम चल कर एक ने धीरे से पूछा,--"यह क्यों, महाजन?"

"पृथ्वीनाथ की आज्ञा है कि जब तक समाधिस्थ मुनिराज ओझल न हो जायँ, नाविकों को छोड़ कर सब पैदल ही चलेंगे।"

"क्यों महाजन, यह सब क्यों?"

"बस यही कि महारानी से कुछ भूल हुई है।"

"महारानी से? और पृथ्वीनाथ सबसे पीछे . . . ."

"'यह उनकी इच्छा," कहते हुए महाजन ने फिर कर देखा कि ओझल होते ऋषिराज को राज-दम्पति अन्तिम प्रणाम कर रहे थे। महाजन आदि ने भी उनका अनुकरण किया और सायंकाल के लगभग नौकायें चल दीं। पूर्वीय क्षितिज से काले-काले बादल निकलने लगे थे। समीर कुछ तेज़ी पर था। पर नावें विप्लवकारी तरंगों को चीरती हुई

वढ़ी जा रही थीं। यात्री अपने-अपने काम में व्यस्त थे। नौका-गृह के ऊपर सुशोभित महारानी के लोल-कपोलों में सुधानिधि सौन्दर्य भर रहा था। पर महाराज का ध्यान आज अन्यत्र था।

"कारण यही है, प्रिये," महाराज ने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहा—"ऋषिराज को मेरी काम-लोलुपता देखकर ही संताप हुआ है; पर वे दयामूर्ति हैं, और इस मंगल-कार्य को अपेक्षित समझते हैं, इसलिए उन्होंने क्षमा कर दिया है।"

"महाराज, मुझे बचा कर, यह अपने आप पर मिथ्या ही दोष क्यों लगा रहे हैं?"

"नहीं, वास्तव में ऋषिराज के सन्ताप का कारण हममें से कोई नहीं है।"

"मैं भी कैसे नहीं, महाराज?"

"हाँ प्रिये, नहीं। और तुम्हारी तो बात क्या, मैं भी नहीं। क्योंकि मैं यह समझने लगा हूँ कि यह ऋषिराज का भ्रम है।"

"हैं नाथ, ऋषिराज का भ्रम?"

"हाँ, जिस भ्रम में मैं भी पड़ चुका था। पर जब मैं देखता हूँ कि सुधाकर तुम्हारे सौन्दर्य के रस को पीकर निष्पाप सुस्मित-वदन सब की ओर देखता है, समीरण भी तुम्हारे से लग कर सुगन्धित हो जाता है, तो यह भ्रम दूर हो गया। सौन्दर्य सदा सत्य है। मैं उसी को तुममें पाकर पूजता हूँ, देवी! ऋषि को भ्रम हुआ है।"

"यह क्या प्राणनाथ? इस शोक, इस सन्ताप का स्पष्ट कारण तो मैं हूँ, महाराज! और आप भगवान् योगिराज पर भ्रम का दोषारोपण कर यह क्या अनर्थ कर रहे हैं।"

"ठीक ही कर रहा हूँ, ललने, अब पश्चात्ताप की आवश्यकता नहीं।"

"महाराज! महाराज!—नाथ काम-लोलुप नहीं, न [illegible]राज का सन्ताप ही इसलिए है। मैं हूँ नाथ शोक-सन्ताप की जड़। क्या पृथ्वीनाथ मुझे नहीं जानते?"

"जिस सौन्दर्य के अविरल झरने में मैं अपना ताप मिटाता हूँ, उसे मैं भले प्रकार जानता हूँ। और बस—यही जानना चाहता हूँ, विशेष कुछ नहीं—कुछ नहीं।"

"नाथ! इन सबसे मैं तो परे नहीं। जिस कुल में मैंने जन्म लिया है; जैसे जैसे जघन्य कर्म में करती रही हूँ; जिस आमोद-प्रमोद रसोल्लास में मैं अब भी अहर्निश पड़ी रहती हूँ उसको देखते, न मैं महाराज की दासी होने योग्य हूँ न महर्षि के उस मंगलमय आशीर्वाद के लिए सुपात्र। उस गहरी कालिमा को महाराज का अगाध-प्रेम, अथाह उदारता, अप्रतिम-विशुद्धता भी न धो सकी। ऋषिराज ने देख लिया—योगिराज से कुछ न छिपाया जा सका।"

"यह क्या, यह उन्माद क्यों?"

"क्षमा, क्षमा महाराज! इस शूद्र वेश्या-पुत्री को अपनाकर महाराज को कितना कष्ट भोगना पड़ रहा है—उसके लिए क्षमा," कहते-कहते महारानी नृपति के चरणों में गिर पड़ीं।

"मालिनी! मालिनी!"

"पृथ्वीनाथ!"

"जलझारी"

"महाराज के श्री चरणों में उसकी आवश्यकता नहीं"—उठते हुए महारानी ने कहा।

"पर प्रिये, यह अकारण शोक क्यों!"

"नहीं नाथ, अब नहीं करूँगी। ऋषिराज ने मुझे क्षमा कर दिया है। अयोग्य होते हुए भी महाराज के पुण्य-बलाश्रय का मुझे सुअवसर मिला है। मेरे पर उज्ज्वल-वंश की रक्षा का दायित्व रखा गया है।"

"फिर वही चर्चा।"

"उस पुनीत वातावरण में मुझे रोमाञ्च हुआ। उस दिव्य-ज्योति को मैं देख न सकी। महाराज के संयोग से श्रीचरणों में बैठी; पर मन स्थिर न रह सका। काम-वासनाओं से विदग्ध श्वास-गन्ध भगवन् से कैसे छिप सकती थी? वे उसे कैसे सह सकते थे? यह महाराज का पुण्य-प्रताप कि क्षमा कर दी गई हूँ। क्यों नाथ—महाराज क्लेशित होते हैं? पर नहीं, अब नहीं होंगे—महाराज को मैं विश्वास दिलाती हूँ कि उस अवसर तक मैं अवश्य उस मंगल-योजना के उपयुक्त सौन्दर्य का अर्जन करूँगी—क्यों नाथ? और देखिए यह मालिनी, आपकी विश्वास-पात्री दासी, महाराज, जिसने तपोवन में जाने को मेरा शृंगार कर हँस दिया था। और देखिए, महाराज, देखिए यह अब भी हँस रही है—महाराज चुप हैं?"

"नहीं, ऐसे ही।"

"तो एक बार आप भी हँस दीजिए, महाराज।"

× × × ×

महाराज हँस दिये।

महारानी—"क्यों महाराज?"

महाराज—"आज वही दिन फिर है।"

"नहीं, वही नहीं है महाराज।"

दिन वह नहीं था। आज महिषी नव-जीवन, नव-ज्योति, नवोल्लास के साथ ऋषिराज को परीक्षा देने आई थीं। आज सौन्दर्य था; पर वस्त्राभूषण के चकाचौंध में वितरित नहीं, वह था भाल पर बैठी एक सुहाग-बिन्दी में संकलित। मानस में तरंगें थीं, पर कोलाहल न था, मधुर संगीत था। जिसके रस से कमल नयन भर भर ढुलक रहे थे और कपोलों में जिसका रंग छन-छन कर बिखर रहा था। केवल एक ही नौका थी। कुछ चुने हुए ही साथी थे। आज महाराजाधिराज स्वयं ही एक सहचर के साथ ऋषिराज को अपने आगमन की सूचना देने चले। अस्ताचल लालिमा से रंजित महर्षि प्रणाम कर संध्योपासना के लिए बैठने ही वाले थे कि महाराज को अपनी ओर आते देखा।

"आयुष्मान्, आयुष्मान्—शुभागमन महाराज! आपका आना सचमुच बड़े शुभ-मुहूर्त में हुआ।"

महाराज चरण-वन्दन कर खड़े हो गये।

"राजन्, अपनी पिछली भूल के लिए मैं राज-दम्पति से क्षमा-याचना करता हूँ। हाँ—हाँ पर राज्य-लक्ष्मी को लाये हैं?"

"हाँ देव, पर आपका क्षमा-याचन कैसा?"

इसके लिए यह उपयुक्त समय नहीं है, राजन्! [illegible]व! वत्स महाराज के निवासादि की सुव्यवस्था करो।"

"यह सब हो जायगा, देव!"

"नहीं, महाराज के आतिथ्य में पहले भी बड़ी भूल हो चुकी है। जाओ वत्स,—और राजन्! आपको [illegible]त्नीक स्नानादिक से निपट कर बहुत शीघ्र ही अग्नि-[illegible]ा के लिए यहाँ प्रस्तुत होना है।"

"जो आज्ञा भगवन्!"

ऋषिराज आसनारूढ़ हुए। महाराज ने सहचर को नौका की ओर भेजा। और स्वयं श्रीकेशव के साथ [illegible]वासादि देखने चले गये।

"मुनिवर, अन्य तपोवन के वासी सब कहाँ चले गये हैं।"

"राजन्, शीतकाल में अन्य महर्षि अपने अपने प्रदेशों को चले जाते हैं। क्योंकि वर्ष के इसी भाग में गुरुवर्य्य एकान्त तपादिक किया करते हैं।"

"पर यहाँ केवल आप ही हैं?"

"हाँ राजन्, और वह भी केवल इसलिए कि मेरा अध्ययन समाप्त न हो सका।"

"ओह! तो हमारे आने से तो योगिराज को बड़ा कष्ट होगा?"

"क्यों राजन्, आपका काम आप करेंगे और उनका वे। कष्ट कैसा? फल-फूलों के स्थान मैं आपको दिखा ही दूँगा तथा वहाँ से (स्थान की ओर संकेत करते हुए) आपको दुग्धपान के लिए 'माता' मिलेगी।"

"बड़ी कृपा।"

कुछ ही काल में नव-यात्री अपने निवास-स्थानों में स्थापित हुए और पति-पत्नी आदेशानुसार स्नानादिक कार्यों से निवृत्त हो ऋषिराज की कुटी की ओर चलने को पर्णकुटी से निकले।

महाराज ने पूछा—"महर्षि के दर्शन तो तुमने अभी नहीं किये, प्रिये?"

"दर्शन वन्दन हम कर चुके महाराज, जब वे संध्योपासन में तन्मय थे। इस बार भगवन् कुछ दुर्बल से प्रतीत हुए।"

"नहीं, कोई विशेष नहीं।"

"फिर भी कुछ—यों तो विभूति हैं, कहना ही व्यर्थ है।"

इस प्रकार बातें कहते-सुनते वे महाराज की कुटी पर जा पहुँचे। ऋषि आसन पर विराजमान थे। एक ओर पीछे हट कर श्रीकेशव बैठे थे। सम्मुख हवन-स्थान था जिसके इस ओर दो आसन बिछे थे, चारों ओर हवन-सामग्री लगी थी। शुभाशीर्वाद ले पति-पत्नी ने आसन ग्रहण किया। शान्त-गम्भीर स्वर से स्तुति कर ऋषि ने अग्नि प्रज्वलित की। श्रीकेशव आहुति देने लगे। अग्निमय दम्पति की नत-ग्रीवायें ऋषिराज की मधुर वेद-ध्वनि के साथ-साथ धीरे-धीरे उठने लगीं। यज्ञशिखा की आभा से देहें स्वर्णिम हो गईं। गम्भीर वेद-ध्वनि की लहरों से

निस्तब्ध दिशायें संगीतमयी हो गईं। धूम्र-सौरभ पान करते-करते चन्द्रिका के नेत्र निमीलित होने लगे। नयन मुँदते-मुँदते रोमाञ्चित केशव ने देखा, अग्नि से काञ्चन लपटें, ऋषिराज से संगीत-तरंगें और महिषी से सौन्दर्य-लपटें निकल कर सबको लपेट रही हैं। चारों तपस्वी निमग्न थे। आहुति न पा अग्नि-शिखायें अन्तर्धान होने लगीं। ऋषिराज ने वीणा वन्द की और नेत्र खोलते ही उन्होंने देखा, उस स्वर्ण-प्रतिम सौन्दर्य को। यह अग्निदेव ने क्या किया!

"सुन्दरि!" ऋषि-मुख से निकला, और अग्नि की लपट लगते ही उन्होंने अपना बढ़ा हुआ हाथ तेजी से पीछे खींच लिया! तेजोमय वदन से तेज वहने लगा। सबकी आँखें एक ही साथ खुल गईं। महाराज के नेत्र बन्द हो गये। राजा तथा केशव भय और आश्चर्य से ऋषिराज के मुख की ओर देखने लगे; पर महारानी अभी तक उसी तरह निमग्न थीं। व्यग्र महाराज के मुख से 'भगवन्, भगवन्' शब्द सुनकर महारानी ने नयन खोले और देखा कि श्री केशव महाराज को रोक रहे हैं और स्थान छोड़ने का संकेत कर रहे हैं। अन्ततः चुपचाप सब उठ कर बाहर हुए।

"क्यों क्या हुआ देव!"

"महाराज समाधिस्थ हो गये थे, यह आप क्या कर रहे थे राजन्!"

"क्या आज का काम समाप्त हो चुका है!"

"हाँ राजन्।"

महारानी—"पर देव, महाराज के मुख पर श्रम-चिह्न क्यों थे?"

"हाँ मुनिवर यह क्यों?"

"कुछ नहीं महाराज, शायद ध्यान-भंग से।"

राज-दम्पति सशंक पर्ण-कुटी की ओर चले और अवशेष नित्य-कर्म से निवृत्त हो अपनी अपनी कुश-शय्या पर जा बैठे। दीपक टिमटिमा रहा था जिसके आतप में तापस रंग चढ़ रहा था; आलोक में सौन्दर्य और लौ में मधुराशा नृत्य कर रही थी।

"क्या अभी से शयन करना है?"

"हाँ प्राणनाथ! आपको तो अवश्य ही, क्योंकि यह तपोवन है, प्रातःकाल बहुत तड़के शय्या छोड़ना है, और फिर जब आपको थकान भी है।"

"हाँ यह तो मैं भी सोच रहा हूँ।"

महारानी उठना ही चाहती थीं कि मालिनी ने कुटी में प्रवेश किया।

"मालिनी!"

"हाँ पृथ्वीनाथ।"

"क्यों सब ठीक है न?" "गौ को वहीं छोड़ आई हो?"

वहीं से आ रही हूँ।"

"तो ऋषिराज के स्थान के सामने से निकली होगी न?"

"हाँ ऋषिराज बाहर चाँदनी में विराजमान हैं। दासी के लिए कोई आज्ञा?"

"यहाँ कोई दासी नहीं, मालिनी! न कोई महारानी!"

महाराजा—"तो क्या केवल महाराजा ही महाराजा हैं और वह भी बिना महारानी के।"

महारानी—"महाराजा की महारानी; पर मालिनी की महारानी नहीं। अच्छा मालिनी, जाओ शयन करो; प्रातःकाल शीघ्र ही उठना है। यही गोपाल से भी कह देना।"

"जो आज्ञा।"

"महारानी, मालिनी को खूब चुन कर लाई हैं!"

"हाँ प्राणनाथ, अब शयन कीजिएगा" कहती हुई महारानी उठीं और दीपक की लौ कम करने लगीं। महाराज लेट गये और रानी भी प्राणपति के चरण-वन्दन कर अपनी शय्या पर जा बैठी।

"हाँ, यह बहुत ठीक है न?"

"क्यों प्राणनाथ!"

"अरे, मैं तो तुम्हें एक बार सोने के पूर्व देख भी न सका और तुम चल दीं!"

"लीजिए न प्राणनाथ," कहती हुई महारानी उठीं और अपने पति के पद-चरणों के पास हाथ जोड़ खड़ी हो गईं।

"बस!" सुस्मितवदन महाराज बोले।

"हाँ महाराज! यह तपोवन है। और बिहँसती हुई महारानी पुनः अपनी शय्या पर जा बैठीं।

"प्रिये, अब तुम्हें भी लेट जाना चाहिए।"

"यही तो कर रही हूँ नाथ!"

"कितना समय यहाँ रहना होगा, महाराज?"

"क्या ठिकाना।"

"कैसा शुभ्र वातावरण, विशुद्ध जीवन; सुनने को वेद-संगीत, देखने को महर्षि की विभूति........"।

"हूँ!"

"हूँ!"

"ओह! नींद आने लगी है।"

थोड़ी देर में महारानी के अङ्क में नंन्हा-सा प्यारा बालक खेलने लगा। महर्षि ने आशीर्वाद दिया। महारानी ने बालक को प्यार से चूम कर ज्येष्ठ महारानी की गोद में रख दिया—महारानी विहँस दीं।

राज-दम्पति निर्जन-वन में निवास करने लगे—और पुत्र ने चक्रवर्ती राज्य चलाया—जिसका सौरभ दिग्-दिगन्त में फैलने लगा; सजल-नयन महारानी हर्ष से गद्गद हो गईं। महारानी का सजीव-स्वप्न उसी समय एकाएक भंग हुआ। वह ध्यान से कुछ सुनने लगीं।

"ओह! ऋषिराज की खड़ाऊँ का शब्द!" (फिर कान लगा कर) "शायद कुटी के बाहर टहल रहे हैं।" महारानी बैठ गईं और उन्होंने कुटी के बाहर देखा। गहरा कुहरा छाया था। चन्द्रिका को संकट में देख निशापति अत्यन्त म्लानमुख थे और शोकाकुल वनस्पतियाँ झर-झर अश्रुपात कर रही थीं।

"ओह! कैसी विजनता"—महारानी ने धीरे से कहा और उसी काल महर्षि की सजीव मूर्ति आँखों के सम्मुख प्रकट हुई!

"और इसमें यह (मूर्ति) महा-मानवता को प्राप्त करती ही है"—महारानी ने मन ही मन कहा। कानों में खड़ाऊँ की खट-खट अभी आ रही थी। अब एक उच्छ्वास के साथ ही—"ओह, आ गई"—कहते हुए महारानी ने भी पैर फैला दिये।

धीरे-धीरे महारानी के नेत्र मिलने लगे। पादुका का शब्द मन्द होने लगा। दीप-ज्योति मुरझाने लगी। अवयव शिथिल होने लगे। महारानी की चेतना बाह्य-संसार से पूर्ण विदा लेने ही वाली थी कि खट-खट शब्द कर मानो धीरे-धीरे फिर आरोहण होने लगा और बढ़ते-बढ़ते वह द्वार पर ही आ पहुँचा। महारानी चौंक कर उठ बैठीं—और 'ललने!' का सम्बोधन कान में पड़ते ही 'भगवन्; क्या मैं दासी?' कहती हुई हाथ जोड़, पर्णकुटी के द्वार पर खड़े महाराज के उन्मुख खड़ी हो गईं। दीपक के आलोक में सती के तेजोमय सौन्दर्य की झलक पाते ही 'देवी! देवी!' कहते ऋषिराज पीछे हटे। नत-मस्तक महारानी निश्चल-भाव से बोलीं—

"क्यों, आज्ञा भगवन्!"

"क्षमा—महामाये, क्षमा!"

इसी बीच महाराज चौंककर उठ बैठे। अजीब दृश्य की झलक पड़ते ही उनके मुंह से निकला—

"यह क्या?"

महारानी ने सुस्मितवदन प्राणपति की ओर देख और बोलीं—"कुछ नहीं, महाराज, मुझ अबला को सौन्दर्य दान देकर ऋषिराज स्वयं निर्धन हो गये हैं।" इसी बीच ऋषिराज घुटनों के बल विनय-भाव से खड़े हो गये।

राज-दम्पति ने देखते ही—

"यह क्या भगवन्!"—कहते हुए झपट कर ऋषिराज को उठाया।

ऋषिराज ने उठते हुए कहा—"यह सच्चे सौन्दर्य की स्तुति है, राजन्—मैं इसके लिए क्षमा चाहता था, पर अब नहीं।"

"भगवन् नहीं—यह सब आप ही का प्रताप है।" कहते-कहते महारानी ने ऋषिराज के पद-चरणों में मस्तक रख दिया।

भारतीय जहाज़ी व्यवसाय और सरकारी उपेक्षानीति

लेखक, श्रीयुत अवनीन्द्र विद्यालंकार

भारत का जहाज़ी व्यवसाय यहाँ ब्रिटिश राज्य स्थापित होने के पूर्व संसार में अग्रणी था, पर उसके बाद से लगातार गिरता ही गया। आज उसकी अवस्था इतनी हीन है कि संसार के जहाज़ों की तालिका में इस देश का कोई स्थान ही नहीं है। भारत-सरकार इस ओर से सदा उदासीनता ही दिखलाती आई है क्योंकि ब्रिटेन के व्यवसायियों का हित इसी में था। इस लेख में लेखक महोदय ने प्रामाणिक आँकड़े देकर इसी विषय का विवेचन किया है और साथ ही यहाँ के जहाज़ी-व्यवसाय को फिर से उन्नत करने के लिए उपाय भी बतलाये हैं।

प्राचीन भारतीय जल-यानों की सुविधाओं और इसकी व्यापारिक महत्ता से भली भाँति परिचित थे। ऋग्वेद में भारत के सामुद्रिक व्यापार का विस्तार से उल्लेख है। भारतीय विभिन्न प्रकार के 'पोत' बनाना जानते थे। नौकानयन में भारतीय लोहे के जहाज़ बनने से पहले तक संसार के अग्रणी थे। अभी पिछले दिनों भी मराठों के जहाज़ ईस्ट इंडिया कम्पनी, पोर्तुगीज़ों और डचों के जहाज़ों की अपेक्षा अधिक मजबूत और अच्छे थे। डिग्बी ने लिखा है कि १९वीं सदी के आरम्भ में टेम्स नदी में कम्पनी के चलर्ववाले जहाज़ों की अपेक्षा भारत में अधिक अच्छे और मजबूत जहाज़ बनाये जाते थे। १८०० में गवर्नर-जनरल ने अपने स्वामियों को 'लीडन हाल स्ट्रीट,' लन्दन को एक पत्र में लिखा था—"कलकत्ता के बन्दरगाह में इँगलेंड को विभिन्न प्रकार का माल ले जाने-वाले भारत के बने १०,००० टन जहाज़ खड़े हैं। यही नहीं, बम्बई के टीक के बने जहाज़ इँगलेंड के पुराने 'ओक' के बने जहाज़ों की अपेक्षा बहुत ऊँचे दर्जे के होते थे।"

मगर ये पुरानी बातें हैं। आज संसार के ३३ सामुद्रिक देशों में भारत सबसे पीछे है। भारत-सरकार की भारतीय व्यवसायों के प्रति किस प्रकार की उपेक्षा है, उसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण भारतीय जहाज़-व्यवसाय है। यह नहीं कि केवल सरकार की उदासीनता और उपेक्षा के कारण ही यह व्यवसाय नष्ट हो गया है। इसके और भी कारण हैं। टीक और ओक की जगह लोहे के जहाज़ बनने लगे और पालों, चप्पुओं और डाँड़ों की जगह वे वाष्प से चलाये जाने लगे। भारत समय की इस गति के साथ आगे नहीं बढ़ सका। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ व्यापारियों के स्वार्थ के कारण वह अपने को बदले समय के अनुकूल नहीं बना सका। इसके साथ इँगलेंड का 'इँग्लिश नेवीगेशन एक्ट' भारत के साथ उसी मात्रा में लागू किया जाता रहा जितना जितना वह ब्रिटिश साम्राज्य की गिरफ्त में आता गया। इस क़ानून के अनुसार इँगलेंड में दूसरे देशों से आनेवाला माल ब्रिटिश जहाज़ों के अलावा और किसी दूसरे जहाज़ से नहीं आ सकता था। फलतः भारतीय वस्त्र-व्यवसाय की राख से जिस प्रकार ब्रिटिश वस्त्र-व्यवसाय बना, उसी प्रकार भारतीय जहाज़ी व्यवसाय की राख पर ब्रिटिश जहाज़ी व्यवसाय का भव्य भवन खड़ा हुआ।

विस्तृत

यद्यपि भारत का सामुद्रिक तट इँगलेंड के समान नहीं है, फिर भी जहाज़ों के आने-जाने और ठहरने की उचित व्यवस्था उसके तट पर की जा सकती है। हमारे देश का समुद्र-तट ४००-४५० मील से अधिक लम्बा है। प्रतिवर्ष ४० करोड़ पौंड का हमारा सामुद्रिक व्यापार है। प्रतिवर्ष ३० लाख टन माल और ३ लाख यात्री यहाँ से जाते हैं। इन सबका केवल ५ प्रतिशत भारतीय जहाज़ों-द्वारा यातायात होता है। तटवर्ती व्यापार २५० करोड़ रुपये का प्रतिवर्ष होता है। इससे १० करोड़ रुपये की वार्षिक आय होती है। तटवर्ती व्यापार और बढ़ सकता है, यदि बन्दरगाहों की समुचित व्यवस्था हो जाय तथा रेलवे भी सुविधा प्रदान करे।

१९२८-२९ में भारत का सामुद्रिक व्यापार अनुमानतः ६४६·१३ करोड़ रुपये का था। भारत के प्रमुख बन्दरगाह कराची, बम्बई, मदरास, कलकत्ता और रंगून (व्यापारिक दृष्टि से बर्मा अब भी भारत में है) में कुल सामुद्रिक व्यापार का ५/६ भाग केन्द्रित है, अर्थात् १२० लाख टन प्रतिवर्ष इनके द्वारा होता है। इतने विशाल परिमाण में सामुद्रिक व्यापार के होते हुए भारतीय जहाज़ों का इसमें भाग नगण्य है। तटवर्ती व्यापार में १३ प्रतिशत और सामुद्रिक में २ प्रतिशत भारतीय जहाज़ों का भाग है। इस सम्बन्ध में उक्त बन्दरगाहों की निम्न तालिका से जहाज़ों की संख्या, माल के वज़न, व्यापार में लगे जहाज़ों की राष्ट्रीयता पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा—

भारत का स्थान

जहाज़ी व्यवसाय में भारत का संसार में क्या स्थान है, यह नीचे की तालिका से मालूम होगा :—

भारत की तुलना में

नाम देश		व्यापार की मात्रा	जहाज़ों की अधिकता
इँगलेंड	...	५।। गुना से कुछ अधिक	७९ गुना
नार्वे	...	१/३ से कुछ कम	१८ "
ग्रीस	...	१/६	७ "
रूस	...	१/६ से कुछ कम	५ "
डेनमार्क	...	१/८	५ "
युगोस्लेविया	...	१/६ से कुछ कम	.
पुर्तगाल	...	१/३ से कुछ कम	
इटली	...	...	१३ गुना

जहाज़ों की राष्ट्रीयता		युद्ध से पहले का औसत		युद्ध के समय का औसत		१९३०-३१		१९३०-३१ में प्रत्येक राष्ट्र का भाग
किस देश के आये—		संख्या	टन (१,०००)	संख्या	टन (१,०००)	संख्या	टन (१,०००)	
ब्रिटिश	...	२,४७८	६,१४०	२,२७२	४,२४९	१,९९३	५,८५२	६५·०
ब्रिटिश भारत	...	३१२	१७१	३२०	११२	१९९	८२	·९
विदेशी	...	६३६	१,७३८	५९२	१,२६९	८६७	३,०१८	३३·५
देशी नौकायें	...	८९०	६७	१,४७६	११९	६४७	५४	·६
योग		४,३१६	८,११६	४,६६०	५,७४९	३,७०६	९,००६	१००
किस देश के गये—								
ब्रिटिश	...	२,४५६	६,१८२	२,३०९	४,४३२	१,९०६	५,६५१	६४·३
ब्रिटिश भारत	...	३२२	१८३	२९८	७०	२३४	९५	१·१
विदेशी	...	६१५	१,६७२	५९४	१,२७७	८५९	२,९७६	३३·९
देशी नौकायें	...	८५८	६३	१,७२८	१४६	७५२	६३	७
योग	...	४,२५१	८,१००	४,९२९	५,९२५	३,७५१	८,७८५	१००
सर्व योग		८,५६७	१६,२१६	९,५८९	११,६७४	७,४५९	१७,७९१	—

ऊपर के आँकड़ों से स्पष्ट है कि २ प्रतिशत या इससे भी कम सामुद्रिक व्यापार भारतीय जहाज़ों के हाथ में है और इसका लगभग एक तिहाई देशी छोटी नौकाओं के द्वारा होता है। प्रतिवर्ष उत्तरोत्तर प्रगति हो रही है, इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिल रहा है। जहाज़ों की कुल कमाई ५७ करोड़ रुपया है, जिसमें से ५० करोड़ रुपया विदेशी जहाज़ी कम्पनियाँ ले जाती हैं।

इससे स्पष्ट है कि भारत जहाज़ी व्यवसाय में बहुत पीछे है और उसके पास व्यापारिक जहाज़ भी न के बराबर हैं।

एकाधिकार

भारत के तटवर्ती व्यापार पर इँगलेंड की कुछ कम्पनियों का एकाधिकार है। कुछ ब्रिटिश जहाज़ी कम्पनियों ने मिलकर अपना एक गुट्ट बना लिया है। इस गुट्ट का नाम 'कान्फ्रेंस' है। इसका यहाँ एकाधिकार है।

इसके कारण भारतीय जहाज़ों के मालिकों और उनके जहाज़ों से माल भेजनेवालों की बुरी हालत है। हमारा सामुद्रिक व्यापार इस गुट्ट का मुहताज है। श्री बोमन जी के कथनानुसार इसने भारत का सूत-व्यापार नष्ट कर दिया है। यह गुट्ट २० प्रतिशत मुनाफ़ा बाँटता है, इससे स्पष्ट है कि भाड़े की दर बहुत ऊँची है। 'फ़िस्कल कमीशन' को भी यह बात खटकी थी। इसलिए उसने लिखा था कि भारत के एक बन्दर से दूसरे बन्दर, और भारत से विदेशों को जानेवाले माल के भाड़े की दरों में असमानता होने से भारतीय व्यवसाय को दिया गया संरक्षण व्यर्थ हो जाता है, जो विदेशी माल बनानेवाले केन्द्रों की दूरी की वजह से इस देश के व्यवसाय को मिलना चाहिए था। मगर इससे भी अधिक बुरी बात यह है कि उक्त गुट्ट के जहाज़ भारतीय जहाज़ों को अपने मुक़ाबिले टिकने देना नहीं चाहते। भारतीय जहाज़ी व्यवसाय को नष्ट करने के लिए वह दो उपाय बरतता है। (१) डेफ़र्ड रिबेट सिस्टम और (२) भाड़ा-युद्ध।

डेफ़र्ड रिबेट

'डेफ़र्ड रिबेट' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—जहाज़ी कम्पनियाँ माल भेजनेवालों को एक नोटिस व विज्ञप्ति भेजती हैं कि यदि वे एक निश्चित अवधि तक (साधारणतः चार से छः मास तक) अपना माल 'कान्फ़्रेंस' द्वारा भेजे गये जहाज़ों के अलावा और किसी जहाज़ से न भेजेंगे तो इस अरसे के कुल भाड़े का एक भाग (साधारणतः १० प्रतिशत) उन्हें बाद में दिया जायगा, यदि वे इसके बाद भी एक निश्चित अवधि तक (साधारणतः चार से छः मास मास तक) 'कान्फ़्रेंस' के मेम्बरों के जहाज़ों से माल भेजना जारी रक्खें। इस तरीक़े से माल भेजनेवालों की निष्ठा प्राप्त की जाती है और उनकी स्वतन्त्रता हर ली जाती है। 'फ़िस्कल कमीशन' ने इसके विरुद्ध अन्य देशों के समान क़ानून बनाने की आवश्यकता प्रकट की थी। इसके पक्ष में कहा जाता है यह पद्धति केवल भारतीय जहाज़ों के ही विरुद्ध नहीं है, अन्य देशों के भी विरुद्ध है। मगर ऐसा कहनेवाले यह भूल जाते हैं, अन्य देशों के जहाज़ों को उनकी गवर्नमेंटें सहायता देती हैं जब कि भारतीय जहाज़ों को वह प्राप्त नहीं है। इसलिए इस तरीक़े से भारतीय जहाज़ों को बहुत नुक़सान पहुँचता है।

भाड़ा-युद्ध

इसके अतिरिक्त ब्रिटिश जहाज़ी कम्पनियों का वर्चस्व स्थापित हो चुका है। उनको कोई चुनौती देनेवाला नहीं है। इस पर भी उनमें से कुछ को सरकारी कृपा और संरक्षण प्राप्त हैं। डाक और स्टोर ले जाने का उन्हीं को ठेका दिया जाता है। इसलिए वे भारतीय जहाज़ी कम्पनियों को मैदान से हटाने के लिए एकदम भाड़ा कम कर सकती हैं और कर भी देती हैं और जब भारतीय कम्पनियाँ टूट जाती हैं तब फिर भाड़ा बढ़ा देती हैं। १९३८ में हज-लाइन में हम यह दृश्य देख चुके हैं। स्वर्गीय जमशेद जी ताता और शान ताता ने बम्बई-जापान-लाइन आरम्भ की थी, मगर वह पी० एण्ड ओ० की प्रतिस्पर्धा में टिक न सकी। ताता के जहाज़ों में प्रतिटन १२ रुपया भाड़ा था। इसके मुक़ाबिले में पी०एण्ड०ओ० के जहाज़ों का केवल १॥ रुपया था। यही नहीं, इस कम्पनी की ओर से झूठमूठ यह उड़ा दिया गया और प्रचारित किया गया कि ताता के जहाज़ जापान माल ले जाने के लायक़ नहीं हैं। बाद में उसे इसके लिए माफ़ी माँगनी पड़ी, मगर उसके झूठे प्रचार से जो नुक़सान हुआ उसकी भरपाई नहीं हुई। १९३४ ई० में जब भाड़ा-युद्ध छिड़ा हुआ था उस समय भाड़ा ९० प्रतिशत से ७५ प्रतिशत तक घटा दिया गया था। भावनगर से रंगून का एक टन चावल ले जाने का भाड़ा प्रायः ९ रुपया ८ आने रहता है, मगर कान्फ़्रेंस के जहाज़ २ रुपया प्रति टन की रेट से ले जा रहे थे। इससे पहले कभी कोंकण के किनारे मुसाफ़िरों को ये जहाज़ मुफ़्त ही नहीं ले जाते थे, बल्कि यात्रियों को रेशमी रुमाल भी भेंट में देते थे। इसके फलस्वरूप पिछले ३० सालों में, श्री मेहता के कथनानुसार, १० करोड़ रुपये की पूंजी से २०-२५ कम्पनियाँ स्थापित हुईं, मगर एक न एक कारण से सभी टूट गईं। कुछ साल पहले बर्मा के तट को मिला कर हिसाब लगाया गया था कि भारतीय समुद्र-तटवर्ती जहाज़ी व्यापार के भारतीयकरण के लिए १०० जहाज़ों और १२ करोड़ रुपये की आवश्यकता है। मगर दुःख की बात यह है कि विदेशी कम्पनियों की प्रतियोगिता के कारण १३ करोड़ रुपया भारतीय जहाज़ी कम्पनियों में डूब चुका है, ८ करोड़ रुपया सर्वथा नष्ट हो गया है और ४ करोड़ रुपया इस समय जहाज़ी व्यापार में लगा हुआ है।

जहाज़ी व्यवसाय पर विदेशियों का एकाधिकार होने से डेक के मुसाफ़िरों की भी कुछ पूछ नहीं होती। तटवर्ती और समुद्र पार जानेवाले जहाज़ों में मल्लाह और कर्मचारी यद्यपि अधिकांश में भारतीय हैं, तथापि ज़िम्मेदारी और ऊँची जगहें भारतीयों को नहीं दी जातीं। भारत-सरकार के आग्रह और बारबार प्रेरणा करने पर भी इन विदेशी जहाज़ी कम्पनियों ने 'डफ़रिन' के केडेटों को लेने से इनकार कर दिया।

जहाज़ बनाने का व्यवसाय

भारतीय जहाज़रानी की जो अवस्था है, उससे जहाज़ बनाने के व्यवसाय की भी कुछ अधिक अच्छी दशा नहीं है। कहा जाता है कि युद्ध से पहले दस सालों में १०० टन के लगभग १७,००० जहाज़ अर्थात् २,८०,००,००० टन तैयार हुए थे। यह संख्या अब बहुत बढ़ गई होगी। भारत का इसमें युद्ध से पहले और बाद में भाग नगण्य है। केवल २२ जहाज़ बने। यहाँ बड़े जहाज़ बनाने के उपयुक्त कोई यार्ड भी नहीं हैं। जहाज़ों की मरम्मत करने की दूकानें विदेशियों के नियन्त्रण में हैं।

भारतीय व्यापारिक जहाज़ी बेड़े की आवश्यकता

जापान, जर्मनी और संयुक्त-राष्ट्र (अमरीका) के समान भारत में भी जहाज़ बनाने और जहाज़रानी की सब सुविधायें प्राप्त हैं और इसके विकास के लिए यहाँ पूरा अवसर है। जिस प्रकार उन देशों की गवर्नमेंटें अपने देश के जहाज़ी व्यवसाय को संरक्षण देती हैं, उसी प्रकार इस देश की सरकार को भी देना चाहिए। इँगलैंड की मौजूदा जहाज़ी स्थिति मुख्य रूप से 'नेवीगेशन एक्ट' का फल है जो दो सदी तक वहाँ क़ायम रहा। तटवर्ती व्यापार के भारतीयकरण के लिए अब तक जो उद्योग किये गये वे सब विफल हुए। इन कारणों से सरकार को भारतीय जहाज़ी व्यवसाय को संरक्षण देना चाहिए।

तट-रक्षा

व्यापारिक जहाज़ी बेड़े की देश की जलीय आक्रमण से रक्षा करने और नौसेना का बल बढ़ाने के लिए भी आवश्यकता है। वर्तमान कमाण्डर इन चीफ़ ने पिछले साल राज्य-परिषद् में स्वीकार किया था कि व्यापारिक जहाज़ नौसेना की सहायक और रक्षा की दूसरी लाइन है। इसके अतिरिक्त तटवर्ती और समुद्रपार का भारतीय व्यापार इतना अधिक है कि भारतीय व्यापारिक जहाज़ सदा व्यस्त रहेंगे। १९१४-१८ का अनुभव है कि लड़ाई के समय विदेशी जहाज़ी कम्पनियों पर भरोसा नहीं रक्खा जा सकता। इन पर भरोसा करना अपनी आर्थिक निर्बलता को बढ़ाना है। इसके साथ शिक्षित नवयुवकों के लिए रोज़ी का एक नया साधन निकल आयगा। इसके अतिरिक्त नौकानयन, सामुद्रिक इंजीनियरिंग और बीमा बहुत लाभजनक व्यवसाय हैं, मगर आज भारतीयों के लिए इनका द्वार बन्द है।

मर्केण्टाइल मैरीन कमिटी

१२ जनवरी १९२२ को सर शिवस्वामी अय्यर ने 'मर्केन्टाइल मैरीन कमिटी' बनाने का प्रस्ताव केन्द्रीय असेम्बली में पेश किया और वह स्वीकार हो गया। उसके साल भर बाद भारत सरकार ने ३ फ़रवरी १९२३ को कैप्टेन हैडलाम, डाइरेक्टर रायल इंडियन मैरीन, की अध्यक्षता में एक मर्केन्टाइल मैरीन कमिटी बैठाई। मार्च १९२४ में कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी मुख्य सिफ़ारिशें इस प्रकार हैं:—

१—भारतीय व्यापारिक जहाज़ी बेड़ा बनाने के विचार से नौकानयन की शिक्षा देने के लिए एक ट्रेनिंग जहाज़ रक्खा जाय। सरकार ने इसको स्वीकार कर लिया और 'डफ़रिन' जहाज़ केडेटों को शिक्षा देने के काम में इस समय लाया जा रहा है।

२—वर्तमान इंजीनियरिंग कालेजों में सामुद्रिक इंजीनियरिंग की शिक्षा देने और सामुद्रिक अनुभव प्राप्त कराने की उचित व्यवस्था की जाय।

३—तटवर्ती व्यापार उन जहाज़ों के लिए सुरक्षित रक्खा जाय जो जहाज़ों के स्वामित्व और नियन्त्रण का एक निश्चित अर्से में भारतीयकरण कर लें। यह आस्ट्रेलिया के समान लाइसेन्स या 'परमिट' देकर शुरू किया जाय। इसके लिए निम्न शर्तें आवश्यक हैं—(क) उसकी रजिस्ट्री भारत में हो; (ख) उसका स्वामित्व और नियन्त्रण भारतीयों या भारतीय कम्पनी के हाथ में हो; (ग) ऐसी कम्पनी का प्रबन्ध भारतीयों के हाथ में हो।

४—अन्य शर्तें उचित समय में पूरी की जायँ—यथा—जहाज़ के अफ़सर और मल्लाह सारे भारतीय हों,

लाइसेन्स लेने की इच्छा रखनेवाला जहाज़ भारत में बनाया गया हो।

५—भारत-सरकार तट पर चलाने के लिए लाभदायक एवं ब्रिटिश लाइन को खरीद ले और उसके प्रबन्ध के लिए डाइरेक्टर नियुक्त करे, जिनमें अधिक भारतीय हों। कालान्तर में इस लाइन के जहाज़ों का स्वामित्व पूर्णरूपेण भारतीय कम्पनी को दे दिया जाय।

६—समुद्रपार जानेवाले जहाज़ों को बाउण्टी देने के बारे में अनुकूल रीति से विचार किया जाय।

७—कलकत्ता जहाज़ बनाने का केन्द्र बनाया जाय। कमिटी ने जहाज़ बनाने के लिए संरक्षणात्मक बाउण्टी देने की सिफ़ारिश की है।

८—जहाज़ बनाने के लिए भारतीय कम्पनी को शिप यार्ड स्थापित करने में सहायता देनी चाहिए।

९—प्रारम्भ में जहाज़ बनाने के विशेषज्ञ विदेशों से बुलाये जावें।

१०—इँगलैंड के समान भारत में जहाज़ बनाने की शिक्षा देने के लिए स्कूल और कालेज खोले जायँ।

११—भारतीय युवक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेशों को भेजे जायँ।

हाजी-बिल

देश प्रतीक्षा करता रहा कि सरकार कमिटी की सिफ़ारिशों के अनुसार शीघ्र कार्रवाई करेगी, मगर उसकी आशा निष्फल गई। अन्त में लाचार होकर सितम्बर १९२८ में श्री हाजी ने तटवर्ती व्यापार को भारतीय जहाज़ों के लिए सुरक्षित रखने के लिए एक बिल असेम्बली में पेश किया। इसमें कहा गया कि ७५ प्रतिशत स्टाफ़ ब्रिटिश भारतीयों में रहें। यदि कम्पनी हो तो उसका चेयरमैन भारतीय हो और प्रबन्ध करनेवालों और डाइरेक्टरों में ७५ प्रतिशत ब्रिटिश भारत के हों। हाजी-बिल में यह भी कहा गया था कि कम्पनी के ७५ प्रतिशत वोटर भारतीय हों। समुद्र-तट पर व्यापार करने के लिए सपरिषद् गवर्नर-जनरल-द्वारा जहाज़ को लाइसेन्स दिया जायगा। बिल का सरकार और योरपीय सदस्यों की ओर से तीव्र विरोध किया गया।

नई योजनायें

तटवर्ती व्यापार केवल भारतीय जहाज़ों के लिए सुरक्षित रहे, यह कोई नवीन माँग नहीं। ३३ सामुद्रिक देशों में से २३ देशों ने अपना तटवर्ती व्यापार एकमात्र अपने देश के जहाज़ों के लिए सुरक्षित रखा है। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर 'आपरेशन आफ़ डुमीनियन लेजिसलेशन एण्ड मर्चेण्ट शिपिंग लेजिसलेशन कान्फ़ेंस (१९२९-३०) में यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। आस्ट्रेलिया की सरकार ने 'नेवीगेशन एक्ट' पर रायल कमीशन की रिपोर्ट १९२३-२४ में प्रकाशित की थी। रिपोर्ट में स्वीकार किया गया है कि आस्ट्रेलिया का समुद्र-तट एकमात्र आस्ट्रेलियन जहाज़ों के लिए सुरक्षित रखना चाहिए। जीनीवा कन्वेन्शन १९२३ (इंटर नेशनल कन्वेन्शन आफ़ मैरीटाइम पोर्ट्स आफ़ १९२३) में यह स्वीकार किया गया है कि तटवर्ती व्यापार घरेलू सुरक्षा की चीज़ है, जिसमें विदेशी बतौर अधिकार के नहीं, अपितु कृपा-द्वारा ही प्रवेश पा सकते हैं। इस अवस्था में यदि भारत यह माँग करता है कि तटवर्ती व्यापार एकमात्र भारतीय जहाज़ों के लिए सुरक्षित रक्खा जाय, तो वह कोई नई माँग नहीं करता है बल्कि अपने खोये हुए हक़ को चाहता है। यह न जातीय विभेद और न व्यापारिक भेदाभेद की बात है। यह तो भारत की राष्ट्रीय आकांक्षा को पूरा करने का सवाल है।

डेफ़र्ड रिबेट पद्धति

तटवर्ती व्यापार भारतीय जहाज़ों के लिए सुरक्षित रक्खा जाय, (कोस्टल रिज़रवेशन बिल) इस आशय का बिल पेश करने के साथ ही श्री हाजी ने डेफ़र्ड रिबेट पद्धति को उड़ाने का भी एक बिल पेश किया। इसका उद्देश्य यह था कि तटवर्ती व्यापार पर किसी एक का अधिकार न रहे, बल्कि समानरूप से सब कम्पनियों में उसका वितरण हो। सरकार की ओर से इसका भी विरोध किया गया। कहा गया कि 'तटरक्षा-बिल' पास हो जाने के बाद इस पर विचार होना चाहिए। सर जार्ज रैनी ने इसका विरोध करते हुए कहा कि इससे भाड़ा-युद्ध बन्द न होगा और डेफ़र्ड रिबेट पद्धति को नियमित सर्विस, किराये की स्थिरता और छोटे और बड़े जहाज़ के बीच समानता स्थापित करने के लिए आवश्यक बताया। उन्होंने सुझाया कि स्ट्रेट सेटेलमेंट के समान यहाँ भी ऐसी व्यवस्था की जाय कि तीन

साल बाद जहाज़ से माल भेजनेवाले 'कान्फ़ेंस' छोड़ सकें और उनको रिबेट भी मिल जाय। इस बिल का भी पहले बिल के समान अन्त हो गया।

दिल्ली-कान्फ़्रेंस

भारतीय और ब्रिटिश जहाज़ी कम्पनियों में समझौता कराने के विचार से लार्ड इरविन (लार्ड हैलीफ़ाक्स) ने ३ और ४ जनवरी १९३० को एक कान्फ़्रेंस बुलाई, मगर वह भी किसी नतीजे पर न पहुँची। लार्ड इरविन के शब्दों में कान्फ़्रेंस के सामने प्रश्न यह था कि भारतीयों की आकांक्षा है कि एक शक्तिशाली व्यापारिक जहाज़ी बेड़ा बनाया जाय, जिस पर भारतीयों का स्वामित्व हो और जो भारतीयों-द्वारा संचालित हो, साथ ही मौजूदा विदेशी कम्पनियों से उचित व्यवहार किया जाय। लार्ड इरविन ने साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया था कि सरकार की इस विषय में भारतीय आकांक्षा से पूर्ण सहानुभूति है।

भारतीय प्रतिनिधियों की ओर से कहा गया कि तटवर्ती व्यापार को भारतीयों के लिए सुरक्षित रख कर टनों की मर्यादा बाँधकर लाइसेन्स दिया जाय। जहाज़ी संसार में भारतीयों की आकांक्षा पूरी करना हमारा मुख्य उद्देश्य है। मुख्य कठिनाई इस मार्ग में ब्रिटिश कम्पनियों की भारतीय समुद्र में मौजूदगी है। इनकी स्थिति अभेद्य और अजेय है। इनका मुक़ाबला करना कठिन है। इनकी प्रतिस्पर्द्धा में तटवर्ती व्यापार को भारतीयों के लिए सुरक्षित रखने के अलावा भारतीय जहाज़ी कम्पनियाँ टिक नहीं सकतीं। इस समस्या का व्यावहारिक हल यही है कि क्रमिक रूप से ब्रिटिश टनों का भारतीयकरण किया जाय।

ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने इसके जवाब में कहा कि भारतीय जहाज़ी कम्पनियाँ धीरे-धीरे ब्रिटिश टनों को खरीद लें और वे जहाज़ों का मूल्य देने के साथ बिके टनों के व्यापार के 'गुडविल' की भी क़ीमत दें। और इसकी जगह ब्रिटिश कम्पनियाँ दूसरे जहाज़ नहीं चलायेंगी।

मगर भारतीय प्रतिनिधि पुराने जहाज़ 'गुडविल' की क़ीमत देकर खरीदने को तैयार नहीं थे।

मोतीलाल जी का प्रस्ताव

स्वर्गीय त्यागमूर्ति पंडित मोतीलाल नेहरू को विश्वास था कि यदि भारत का राजनैतिक अधिकार स्वीकार कर लिया जाय तो जहाज़ी समस्या का सन्तोषजनक निर्णय हो सकता है। सर जार्ज रेनी इस बात के लिए उद्यत थे कि तटवर्ती व्यापार उन जहाज़ी कम्पनियों के लिए सुरक्षित रक्खा जाय जिनकी पूंजी रुपये में हो, अधिकांश डाइरेक्टर भारतीय हों, और अधिकांश शेयर-होल्डर भारतीय हों। मगर दुर्भाग्य से दोनों के बीच की खाई को पाटने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

गोलमेज़ कान्फ़्रेंस

गोलमेज़ कान्फ़्रेंस के सामने भी यह विषय आया और उसकी अल्प-संख्यक कमिटी ने १९ जनवरी १९३१ को अपनी रिपोर्ट में लिखा—

"ब्रिटिश व्यावसायिक वर्ग के आग्रह पर यह सिद्धान्त आम तौर पर मान लिया गया है कि ब्रिटिश सामुद्रिक व्यापारी वर्ग और भारत में उत्पन्न प्रजा के बीच कोई भेदाभेद न किया जाय और परस्पर सहयोग के आधार पर इन अधिकारों का नियमन करने के लिए एक उचित कन्वेन्शन बनाया जाय।" इस प्रकार भारतीय हितों की समानता के नाम पर हत्या कर दी गई।

नया विधान

इंडिया एक्ट १९३५ में ऊपर की सिफ़ारिश को हम पाते हैं। व्यावसायिक संरक्षण के अध्याय में भारतीय जहाज़ों के सम्बन्ध में दो धारायें हैं, जो बहुत कठोर हैं। इनका आधार 'पारस्परिक सहयोग' के ऊपर है। चूंकि ब्रिटेन ने भारत के विरोध में कोई क़ानून नहीं बना रक्खा है, इसलिए भारत भी ब्रिटिश जहाज़ी कम्पनियों पर कोई प्रतिबन्ध न लगाये और दोनों को एक समान समझे। मगर महात्मा गांधी के शब्दों में यह राक्षस और बौने का पारस्परिक सहयोग है। जब अन्य देशों में जहाज़ी व्यवसाय देश की समृद्धि का एक साधन समझा जाता है, इस देश में अब तक इसको संरक्षण नहीं दिया गया है और भारतीय जहाज़ी व्यवसाय विदेशी कम्पनियों की कृपा और दया पर जीने के लिए छोड़ दिया गया है और भारत-सरकार चुप-चाप यह तमाशा देख रही है।

साफ़ इनकार

सिन्धिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की ओर से भारत और योरप के बीच तेज़ जहाज़ी सर्विस चलाने का इरादा किया गया और कम्पनी की ओर से श्री बालचन्द हीराचन्द ने १९३५ में भारत-सरकार से सहायता माँगी। श्री

हीराचन्द के संकल्प को सुनकर सारा भारत जिस प्रकार प्रसन्न हुआ था, उसी प्रकार भारत-सरकार की सहायता करने से इनकारी का कोरा जवाब सुनकर स्तब्ध रह गया। २ आक्टोबर को श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने केन्द्रीय असेम्बली में इस पर काम रोको प्रस्ताव पेश करना चाहा, मगर उन्हें अनुमति नहीं मिली।

समुद्रपार के व्यापार में भारत का स्थान

भारत के समुद्रपार के व्यापार में ब्रिटिश जहाज़ी कम्पनियों का भाग ६४·२ प्रतिशत, विदेशी जहाज़ों का ३४·५५ प्रतिशत और भारत का अत्यन्त नगण्य १·२५ प्रतिशत है। व्यापारिक करारों में राष्ट्रीय जहाज़ के लिए स्थान सुरक्षित रखने का सब देश यत्न करते हैं। अभी ब्रिटेन ने रूस से व्यापारिक संधि करते हुए ऐंग्लो-सोवियट पैक्ट में एक यह धारा रखवाई है कि रूस से ब्रिटेन को भेजा गया टिम्बर ब्रिटिश जहाज़ों द्वारा भेजा जाय। भारत-ब्रिटिश पैक्ट की चर्चा चलने पर यह सुझाया गया था कि यह सिद्धान्त अपनाया जाय और भारत के माल ख़रीदने की शक्ति का उपयोग भारतीय जहाज़ी व्यवसाय को उन्नत बनाने में किया जाय। अजीब बात यह थी कि इसका समर्थन ब्रिटिश जहाज़ी कम्पनियों ने स्वतः किया, मगर अपने स्वार्थ के लिए। उस समय जापान के साथ भारत के व्यापारिक करार के लिए बातचीत चल रही थी और अँगरेज़ी कम्पनियों की यह घातक और हानिकारक माँग थी कि भारत को जापानी माल ख़रीदने की शक्ति के आधार पर भारत-जापान सामुद्रिक व्यापार में ब्रिटिश जहाज़ों का भाग बढ़ा दिया जाय। यह माँग इतनी स्वार्थ-पूर्ण थी कि भारत-सरकार ने भी इसको अस्वीकार कर दिया और स्पष्ट कर दिया कि भारत की माल ख़रीदने की शक्ति का उपयोग भारतीय ज़हाज़ी व्यवसाय की उन्नति में ही किया जाना चाहिए। इम्पीरियल शिपिंग कमिटी के सामने भी यह माँग रक्खी गई थी। जहाज़ी व्यवसाय को राष्ट्रीय समृद्धि और मितव्ययिता का आन्तरिक भाग स्वीकार करना चाहिए। विदेशी जहाज़ों के द्वारा माल भेजने और मुसाफ़िरों के जाने से भारत का बहुत सा धन अदृश्य रूप से निर्यात हो जाता है और व्यापार के संतुलन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आज समस्या विदेशी क़र्ज़ की है। विनिमय-दर की सारी समस्या इस क़र्ज़ से सम्बन्धित है। प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन को उन देशों के साथ जिनसे भारत माल ख़रीदता है, व्यापारिक करार में भारतीय जहाज़ों के उपयोग की धारा को रख कर किया जा सकता है।

अपने घर में

भारत-सरकार भारतीय जहाज़ी व्यवसाय के विकास में हाथ बँटाने और सहायता देने से इनकार करती है, मगर ब्रिटिश सरकार की यह नीति नहीं है। यद्यपि ब्रिटेन का जहाज़ी व्यवसाय सबसे अधिक बढ़ा चढ़ा है, मगर उसको भी सरकारी सहायता की अपेक्षा रहती है। ब्रिटिश सरकार ट्राम्पों की सहायता में २० लाख पौंड प्रति-वर्ष व्यय कर रही है। कुछ दिन पहले ब्रिटिश चेम्बर आफ़ शिपिंग के प्रस्ताव प्रकाशित हुए थे, जिनमें तटवर्ती ट्राम्पों और तटवर्ती जहाज़ों को पाँच साल तक पाँच लाख पौंड वार्षिक सहायता देने का भी उल्लेख था। ट्राम्प जहाज़ों को १९३६ में दो साल सहायता दी गई थी और अब और सहायता पाने के लिए माँग की जा रही है। लार्ड रंसीमैन ने उस समय आश्वासन दिया था कि ट्राम्पों के समान लाइनरों (जहाज़ों) को प्रशान्त, अटलान्टिक व पूर्व में विदेशी प्रतियोगिता के कारण कठिनाई का सामना करना पड़ा तो ब्रिटिश सरकार उनके मामलों पर विचार करेगी और सोचेगी कि वह किस प्रकार सहायता कर सकती है। क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य के हित में यह आवश्यक है कि हम अपनी जोड़नेवाली शृंखला को क़ायम रखने के लिए विदेशी जहाज़ों पर आश्रित न रहें।

साम्राज्य सामुद्रिक नीति

ब्रिटेन ने अपने जहाजरानी को संरक्षण देने के विचार से 'एम्पायरमैरिटाइन पालिसी' साम्राज्यसामुद्रिक व्यापार नीति का अनुसरण आरम्भ किया है। इम्पीरियल प्रिफ़रेंस (साम्राज्य-संरक्षण पद्धति) के सिद्धान्त के आधार पर यह बताया गया है कि साम्राज्य के जहाज़ों को तरजीह दी जाय। इसका दूसरे शब्दों में अर्थ है कि ब्रिटिश जहाज़ों को अपनाया जाय। भारत में छुट्टी जानेवाले आई० सी० एस० के लोगों और म्युनिसिपल कार्पोरेशनों और अन्यों को हिदायत दी गई है कि इँगलैंड जायँ या वहाँ से माल मँगायें तो ब्रिटिश जहाज़ों के द्वारा। मगर भारतीय जहाज़ी व्यवसाय के साथ सौतिया व्यवहार किया जाता है।

हमारी अवस्था

भारतीय जहाज़ी व्यवसाय की दशा का करुण वर्णन श्री शरीफ़हुसैन ने इस प्रकार किया था—"समुद्र-तट पर जब से हमारा जन्म हुआ है, हमको ब्रिटिश जहाज़ी कम्पनियाँ 'बीच में दखल देनेवाला' समझती हैं। १९३४ में ब्रिटिश जहाज़ी कम्पनियों की माँग है कि ब्रिटेन का समुद्र-तटवर्ती व्यापार ब्रिटिश जहाज़ों के लिए सुरक्षित रक्खा जाय। अपने घर के समुद्र में अपने देश के जहाज़ चलें, यह ब्रिटिश जहाजरानी के लिए स्वदेश-भक्ति है। मगर भारतीय जहाजरानी के लिए अपने ही समुद्र में अपनी हस्ती के लिए भी लड़ना ब्रिटिश जहाजी ब्रिटेन हित के विरुद्ध राजद्रोह है। इस देश की सन्तान, जो वास्तविक हक़दार हैं, अपनी मातृभूमि के समुद्र में ही सदा ब्रिटिश जहाज़ी कम्पनियों की आँखों में शूल हो रही हैं। वास्तविक अपहरणकर्ता हमारे घर पर दखल करना चाहते हैं। भारतीय जहाज़ी व्यवसाय का यह दुःखद इतिहास है।"

पाँच साल में

इस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि भारतीय तटवर्ती व्यापार भारतीय जहाजों के वास्ते एकमात्र सुरक्षित रक्खा जाय। यह असम्भव नहीं है। यदि सरकार चाहे तो यह पाँच साल में सम्भव है। यदि जहाजों का औसत ६,००० टन मान लिया जाय तो मौजूदा तटवर्ती लाइनों को ख़रीद कर वह यह कार्य कर सकती है। तट-वर्ती व्यापार को भारतीयकरण करने के लिए १०० स्टीमर काफ़ी होंगे। इसके लिए प्रारम्भ में १६·५० करोड़ रुपया पर्याप्त होगा। सरकार ने १९२९ में रेलवे की उन्नति के लिए १५० करोड़ रुपया दिया था। उसका यह दसवाँ भाग है। प्रतिवर्ष सरकार २० जहाज़ ख़रीदे और पाँच साल में यह तटवर्ती व्यापार पूर्णरूप से भारतीयों के हाथ में हो जायगा। यह योजना श्री हाजी ने आज से १० साल पहले सरकार के सामने रक्खी थी, मगर इस पर अभी तक ग़ौर नहीं किया गया। भारत की राष्ट्रीय आकांक्षा की पूर्ति के लिएं इसको अविलम्ब पूरा करना आवश्यक है।

मेरे गान !

लेखक, श्रीयुत शिवदत्त शर्मा

वेदना की गोद में पलकर बढ़े हैं गान मेरे।

भावना से छू हृदय को व्यर्थ क्यों झंकार करते।
मान ही मेरा मधुर स्वर तुम चलित स्वर सार भरते॥
विश्व के अभिशाप ही हैं देव चिर वरदान मेरे।
वेदना की गोद में पलकर बढ़े हैं गान मेरे॥

जगत की राका रजनि मेरी कुहू पिक बोलती है।
हर्ष की कल्लोलिनी निस्तब्ध होकर डोलती है॥
चाहते मधुऋतु नहीं पतझर पलित उद्यान मेरे।
वेदना की गोद में पलकर बढ़े हैं गान मेरे॥

सो चुकी सङ्गीतलहरी मंद दीपक हो चुके हैं।
आज हिलमिल खेलते वे जो कभी के रो चुके हैं॥
शून्य शय्या पर तड़पते जागते अरमान मेरे।
वेदना की गोद में पलकर बढ़े हैं गान मेरे॥

जानता यह भाग्य जो हमको कभी मिलने न देता।
तोड़ देता मन सुमन इतना तुम्हें खिलने न देता॥
प्राण ! तो पाता कभी का प्राण अन्तर्द्धाम मेरे।
वेदना की गोद में पलकर बढ़े हैं गान मेरे॥
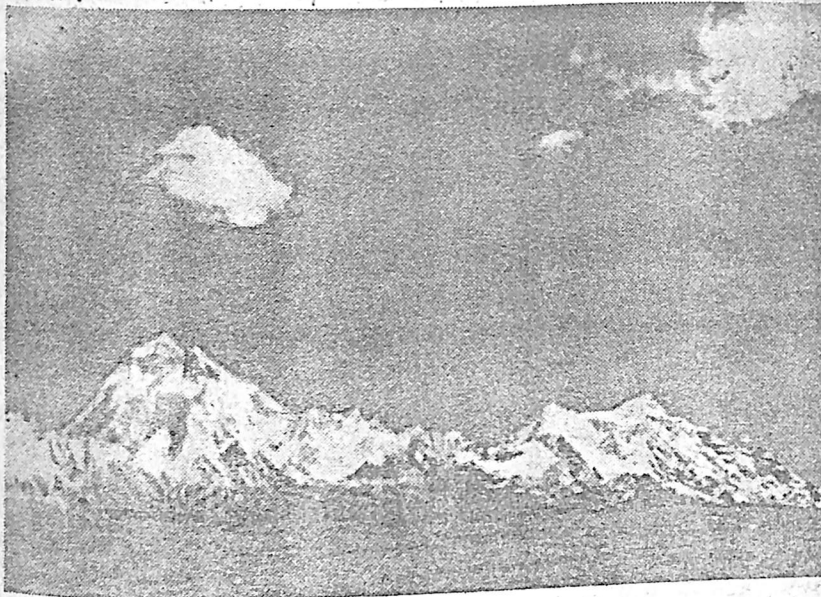
[चोमोलारी रात में मोती की तरह चमकती है।]

मैं तिब्बत कैसे पहुँचा ?

लेखक, श्रीयुत फेनी मुकर्जी, कलाकार ए० सी० ए०; आई० ए० एस०

(४)

तिब्बती स्त्रियों को सङ्गीत का बहुत शौक़ है। रात-दिन गाती रहती हैं। रात में मर्द शराब पीकर मस्त होकर गाते हैं और एक सितारनुमा बाजा बजाते हैं। उस समय स्त्रियाँ भी शराब पीकर नाचती और गाती हैं। फ़ेरीज़ोंग की स्त्रियाँ अपना एक ख़ास गाना गाती हैं जो इस प्रकार है—

पोमो श्री चेंगा, मितेछेरी ठांगी।
साचूह खाने फिपग्याँ, जुंगसाह फारी थाँगा।
फारी मोंगने मान्सीं चुमने, लैला कुहईबे छुम्वे।
लाहसो तोंगना मिडिग,
पोमो श्री चेंगा॥

अर्थात् हम चोमोलारी के पास रहनेवाली भोली-भाली लड़कियाँ हैं। हे राहगीर, तुम हमको मत छेड़ो। हे फारी से होकर जानेवाले यात्री, तुम आओ, खाना-पीना करो और अपने काम को चले जाओ। हमें पाप में मत लपेटो।

जो खच्चर हम लोग कलिम्पोङ्ग से लाये थे उनका ठेका खत्म हो चुका था, इसलिए डाक-बँगले की मार्फ़त सवारी के खच्चर दो रुपये रोज़ पर और सामान लादने के लिए गदहे ५ पैसे रोज़ पर लिये गये। ये खच्चर और गदहे शाम को जिस डाक-बँगले पर पहुँचेंगे उसी जगह बदल लेना होगा। राहुल जी को डाँड़ी में लिटाकर १५ मई सन् १९३८ की सुबह को ८ बजे के क़रीब रवाना हुए। आज हवा भी रुकी हुई थी और आसमान भी साफ़ था।

क़रीब ४ मील रेगिस्तान जैसी ऊसर भूमि आसानी से पार कर गये। चोमोलारी के क़रीब के कई दृश्यों के फोटो लिये। हमें फोटो उतारते देखकर साथ के नौकर [illegible]

[राहुल जी डांडी पर ले जाये जा रहे हैं।]

होकर कहने लगे कि सैकड़ों अँगरेज़ों ने तसवीरें लेने की कोशिश की, लेकिन कोई भी सफल न हुआ। मैंने राहुल जी की तरफ़ उँगली उठा कर कहा कि हमारे साथ हिन्दुस्तान के लामा हैं, इसलिए मैं ज़रूर सफल हो जाऊँगा। मेरी बात सुनकर वे बहुत दुखी हो गये। चलते समय तीन-चार भिक्षुक जो सड़क के किनारे खड़े थे, मुझे देखकर पास आये और हाथ जोड़ने के बदले अँगूठा दिखला-दिखला कर पैसा माँगने लगे।

एक-दो पैसे फेंके ही थे कि पास के झोंपड़े से अनेक आदमी दौड़ पड़े और हमारे खच्चर को पकड़ लिया। उनके मन में तो मुझे गिराकर लूट लेने की थी, लेकिन हमारे दोस्त गेशेला और नौकर दौड़ पड़े। उन्होंने डाँट कर मुझसे कहा कि यहाँ कभी इस तरह से घोड़े पर चढ़े हुए पैसा मत फेंकना।

राहुल जी तो कुलियों के कंधों पर डाँड़ी में लेटे हुए आ रहे थे, इसलिए मुझसे काफ़ी पीछे रह गये थे। उनके कुली हर एक क़दम की ताल के साथ एक वाक्य को दोहराते चलते थे, जो आवाज़ में क़रीब-क़रीब कुछ ऐसा था—अग्नी शुग्नी सोलो मानी, अर्थात्—ईश्वर ही सहायक है।

एकाएक मेरा खच्चर भाग पड़ा। मैंने उसके रोकने की बड़ी कोशिश की, लेकिन वह नहीं रुका। मैं अपने साथियों को छोड़कर दूर निकल गया। इस जगह रास्ता बहुत ही खतरनाक था। एक तरफ़ पानी और निचाई और दूसरी तरफ़ सीधी पहाड़ी। अपनी जान बचाने के लिए मैंने खच्चर की लगाम को पूरी ताक़त से खींचा कि वह टूट गई। बचाव की कोई सूरत न देखकर मैंने उसे पहाड़ की तरफ़ मोड़ दिया। वह तुरन्त सीधा पहाड़ी पर चढ़ने लगा। भग-दौड़ की वजह से खच्चर का तंग ढीला हो गया था। खच्चर पर चमड़े के दो बेग लदे थे और हमारा बिस्तर उसकी पीठ पर बँधा हुआ था। इसलिए पहाड़ पर चढ़ते समय जब खच्चर एक तरफ़ मुड़ा तब मैं अपने भार को ठीक न रख सका और मेरा सारा सामान एक
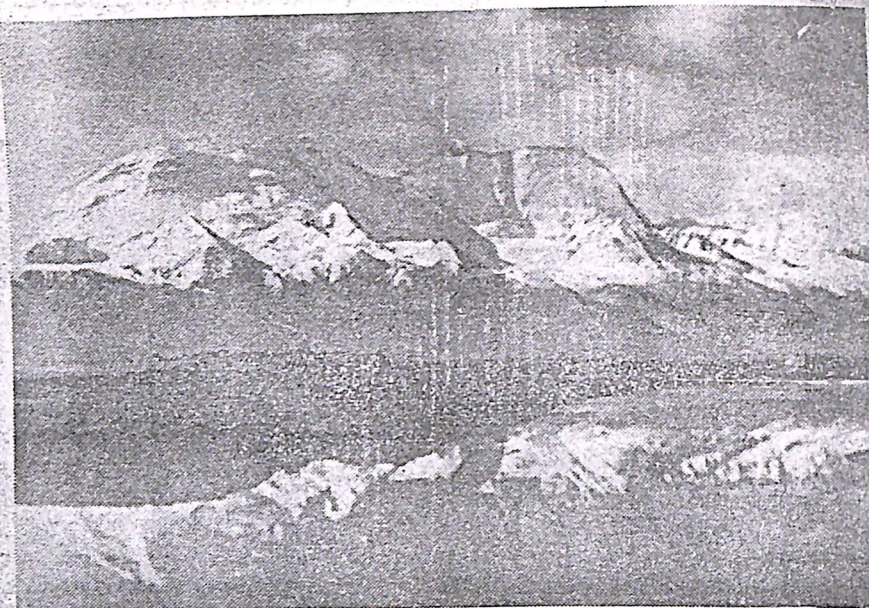
[समादा और काला के बीच की एक सुन्दर झील, जो बर्फ़ीले पहाड़ों से घिरी हुई है।]

तरफ़ खिसक पड़ा। गिरते वक़्त, मुझे आज भी याद है, मैंने जब नीचे देखा कि तमाम पत्थर पड़े हुए हैं तब मैं समझ गया कि चोट गहरी लगेगी। मैंने गले से लटकते हुए कैमेरा को कसकर दोनों हाथों से दबा लिया ताकि वह टूटने से बच जाय। गिर जाने पर क़रीब छः सात मिनट के बाद जब होश आया तब आँखों को खोलते ही देखा कि हमारे दोस्त गेशेला हैरानी से मेरे चेहरे की ओर देख रहे हैं। हमारी आँखों के खुलते ही घबरा कर कहने लगे—आपके लिए मैं क्या करूँ। उनकी घबराहट को देखकर मेरा दिल भर आया। मैंने बोलने की कोशिश की, लेकिन बोल न सका। अभी तक साँस गले के नीचे नहीं उतरी थी। बड़ी कोशिश के बाद हाथ उठाकर इशारा किया कि ठहरो। क़रीब दस मिनट तक वैसे ही पड़े रहने के बाद बड़ी कठिनाई से साँस छाती के अन्दर उतरी। तब किसी तरह गेशेला से कहा कि हमको बिठला दो। उनकी मदद से क़रीब १५ मिनट बैठने के बाद देखा कि सारा सामान इधर-उधर बिखरा पड़ा है, खच्चर का पता नहीं है और दोनों नौकर पास खड़े रो रहे हैं। तिब्बत के लोग असभ्य कहलाते हैं, लेकिन उनका हृदय ममता से भरा हुआ है, जो इन्सान के लिए लाज़िमी है। उनको देखकर मैंने अनुभव किया कि मैं अभी मर गया था और अभी बचने की पूरी आशा नहीं है, लेकिन स्थिति को सँभालने के विचार से हृदय को कड़ा किया और नौकरों से कहा—जाओ, दौड़ कर खच्चरों का पता लगाओ। जब वे चले गये तब दोस्त गेशेला से कहा—मुझको पहाड़ के नीचे उतार ले चलो। खड़े होने पर मालूम हुआ कि कैमेरा बच गया है, लेकिन हाथ में बँधी हुई घड़ी के पुर्ज़े पुर्ज़े निकल कर बिखर गये हैं। गेशेला ने उनमें से दो-चार पुर्ज़े उठाकर मेरी जेब में डाल दिये। मुझमें खड़े रहने की ताक़त नहीं थी, इसलिए उनकी मदद से नीचे उतरने लगा। गिरते-पड़ते आखिर पहाड़ के नीचे उतर आया और पानी की ओर जाने लगा। यह देखकर गेशेला ने मुझको दोनों हाथों से पकड़ लिया और कहा—बरफ़ का पानी नहीं पीना चाहिए। मर जाओगे। लेकिन मेरा गला इतना सूख गया था कि मैंने उनसे झूठ कहा कि मैं

[अमदोलामा के प्रायवेट सेक्रेटरी अपने अंगरक्षकों के साथ]

पानी पीना नहीं चाहता, बल्कि कुछ ठंडा पानी अपने माथे पर लगाऊँगा और पानी के पास जो हरी घास है उस पर लेटूँगा। वहाँ जाकर दो-चार दफ़े पानी का हाथ फेरने के बाद एक चुल्लू पानी पी लिया। अब जान में जान आई और फिर वहीं लेट गया। इतने में नौकर मेरे खच्चर को पकड़ लाये और मेरे कहने पर फिर ज़ीन कस दी और उस पर सामान लादने लगे। लेकिन वे बराबर कह रहे थे कि तुमको अब हम खच्चर पर नहीं चढ़ने देंगे, वरन अपने कंधों पर लिटा कर ले चलेंगे। मैंने उनको दिलासा दिया कि मैं अब बिलकुल ठीक हूँ और कोई डर नहीं है। इतने में फिर दूर से वही आवाज़ सुनाई पड़ी—अग्नी शुग्नी सोलो मानी" राहुल जी को आते देखकर मैं झटपट उठकर खड़ा हो गया और धीरे धीरे इधर-उधर टहलने लगा ताकि उनका कमज़ोर दिल मेरी हालत को देखकर परेशान न हो। मैं अपने चेहरे पर बनावटी मुस्कराहट लाने की कोशिश करने लगा। नौकरों से बार बार कहने लगा कि खच्चर को जल्दी तैयार करो। अभी राहुल जी बहुत क़रीब नहीं आये थे कि नौकरों ने दौड़ कर उनसे सारा हाल कह सुनाया। वे घबरा कर मेरे चेहरे की तरफ़ देखने लगे। लेकिन मैंने मुस्करा कर कहा—आप चिन्ता न करें। मैं ठीक हूँ। उनसे यह पूछने के बाद कि उनकी तबीअत कैसी है, उनको यह बात साबित करने के मतलब से कि मैं बिलकुल ठीक हूँ, झटपट अपने खच्चर को पकड़ कर पहले की तरह उस पर छलाँग मार कर सवार हो गया लेकिन मेरी छाती के दाहने भाग में एक पत्थर के घुस जाने की वजह से बहुत ज़्यादा चोट लग गई थी। उस समय इतना दर्द मालूम हुआ कि आँखों के सामने अँधेरा आ गया, बेहोशी-सी आने लगी, लेकिन मैंने अपने को सँभाला और हिम्मत के साथ नौकरों और गेशेला से कहा कि लामा जी को बोतल निकाल कर दूध पिला दो जो मैं फ़रीज़ोंग से लाया था। फिर मैंने अपने खच्चर को दो-चार कोड़े लगाये और बहुत शान के साथ आगे बढ़कर दिखलाया कि मुझमें

['महाकाल' तिब्बत का एक देवता]

[तिब्बत की देवी श्वेततारा]

अब कोई कमज़ोरी नहीं रही। फिर राहुल जी को पीछे छोड़कर हम गेशेला के साथ आगे चल पड़े। खच्चर के क़दम क़दम पर झटके से ऐसा मालूम होता था, मानो मेरे दाहिनी छाती में कोई छुरी चुभो रहा है। उधर दर्द का यह हाल था, इधर खच्चर फिर भाग पड़ा। लेकिन अब चारों तरफ़ मैदान था, इसलिए मैंने हिम्मत नहीं छोड़ी और काफ़ी मज़बूती के साथ बैठा रहा। लगाम पूरी ताक़त से खींच नहीं सकता था, इसलिए वह दौड़ता ही चला। मेरे मित्र गेशेला ने अपना खच्चर भगाया और मेरे खच्चर के सामने आकर घेर लिया। मैंने जब खच्चर को रुकता देखा तब छलाँग मार कर नीचे उतर पड़ा और गुस्से में भर कर खच्चर के बहुत से कोड़े लगाये और उसे छोड़ दिया। वह भागता हुआ सामने निकल गया। मैं दर्द और कमज़ोरी से खड़ा न रह सका और उस मरुभूमि में लेट गया। क़रीब बीस-पचीस मिनट लेटा रहा। फिर उठकर धीरे-धीरे चल दिया। गेशेला और दोनों नौकर बड़ी ज़िद करने लगे कि मैं उनके खच्चर पर सवार हो जाऊँ। लेकिन मैंने पैदल चलना ही अच्छा समझा। कुछ देर के बाद वे लोग भी उतर पड़े और हम सब लोग पैदल ही चलने लगे। उस सैकड़ों मील की लम्बी-चौड़ी मरुभूमि के दाहिनी तरफ़ चोमोलारी खड़ा था और बाईं तरफ़ हिमालय पहाड़ बरफ़ से ढँका हुआ दिखलाई पड़ता था। हवा फिर तेज़ हो गई और चारों तरफ़ रेत उड़ने लगी। पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े उड़कर चेहरे पर लगते थे, जिससे चलना कठिन हो गया। चारों तरफ़ अँधेरा छा गया। हवा क्या आँधी थी, जिससे अपना भार सँभालना मुश्किल हो गया। गिरते-पड़ते चक्कर से बाहर निकले और हवा से लड़ते हुए आगे बढ़े। इतने में बादल आ गये और धूप ग़ायब हो गई। सर्दी बढ़ गई और बारिश होने लगी। सारा सामान—बरसाती और छतरियाँ आगे चली गई थीं, इसलिए सिवा भीगने के और कोई चारा नहीं था। अब मुझे विश्वास हो गया कि बचाव की कोई आशा नहीं है। नौकरों ने अपने कोट उतार उतार कर मेरे ऊपर डाल दिये, लेकिन छाती में दर्द बढ़ता ही जा रहा था। वह रेतीला मैदान जिसमें हरी घास का एक पत्ता भी न था, पार करना मुश्किल हो गया। उस मैदान में मैंने जंगली घोड़ों के एक झुंड को भागते हुए

[मिस्टर अभयसिंह परेरा हमारे एक पिस्तौल की परीक्षा कर रहे हैं]

देखा, जो हमारे पहाड़ी घोड़ों की शक्ल के थे। उनकी देह पतली और लम्बी थी। रंग हलका भूरा था। पेट के बाल कुछ सफ़ेदी लिये हुए थे। हम लोगों को देखकर वे द्रुतगति से चौकड़ी भरते हुए ग़ायब हो गये। आखिर १६ मील का सफ़र तय करके हम शाम को टूना के डाक-बँगले में पहुँच गये, जिस बात की हमको बिलकुल आशा न थी।

यहाँ आकर दयालु चौकीदार की मदद से खूब आग जलाई गई और मैं उस आग के पास एक आरामकुर्सी पर लेट गया। राहुल जी अभी नहीं आये थे, इसलिए एक नौकर को बाहर जाकर देखने को कहा कि अभी कितनी दूर हैं। मालूम हुआ कि उनके आने में क़रीब एक घण्टा लगेगा। थोड़ी देर के बाद दूर से 'अग्नी शुग्नी सोलो मानी' की आवाज़ सुनाई पड़ी तो राहुल जी का स्वागत करने के लिए मैं बाहर निकल आया। उनको अन्दर लाकर पलँग पर लिटा दिया और गरम दूध और अंडे खिलाये। उन्होंने फिर मेरी हालत पूछी। मैंने कहा—मुझे गहरी चोट लगी है। अब तो मेरा हिलना भी कठिन है। उन्होंने फ़ौरन कहा—नहीं, नहीं, चोट कुछ ऐसी ज्यादा नहीं है। तुम केवल घबरा गये हो। चोट पर टिंचरआयोडिन लगा कर सेंक दो। सब ठीक हो जायगा। मैंने कोई उत्तर नहीं दिया और एक गिलास दूध पीकर लेट रहा। गेशेला ने मेरी चोट पर टिंचरआयोडिन लगा दिया और पत्थर के टुकड़े को गरम कर सेंक दिया। दर्द तो धीरे धीरे जाता रहा, लेकिन जाड़ा बहुत लगने लगा। थर्मामीटर लगाया तब बुखार १०२ डिग्री देखा। मेरी सर्दी को दूर करने के लिए गेशेला ने अपने तमाम कम्बल मेरे ऊपर डाल दिये। मैं सारी रात बेहोशी की हालत में पड़ा रहा।

१६ मई की सुबह को जब उठा तब कमज़ोरी और दर्द इस क़दर था कि पहली बार उठते समय गिर पड़ा, लेकिन फिर दोबारा बहुत कोशिश से उठकर बैठ गया। नौकरों ने मुझे उठाकर खच्चर की पीठ पर बिठा दिया। आज दर्द इतना अधिक था कि खच्चर के क़दम-क़दम के झटके से असह्य कष्ट होता था। सारा दिन धीरे-धीरे
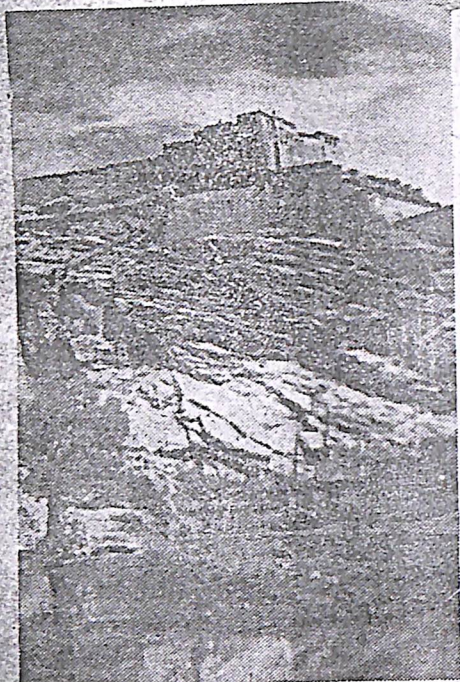
[ग्यानसी का जोंग]

चलकर १२ मील का सफ़र तय किया और डाउचेन के बँगले पर सहीसलामत पहुँच गया।

यह गाँव एक बहुत बड़ी झील के क़रीब था, जिसके चारों तरफ़ बरफ़ से ढँकी हुई पहाड़ियाँ थीं। इस झील में बड़ी बड़ी सैकड़ों चिड़ियाँ थीं। झील का रंग हरा था, सफ़ेद बरफ़ से ढँके हुए पहाड़ के कारण इसका दृश्य और भी सुन्दर हो गया था। लेकिन मैं उसका दिल भर कर आनन्द नहीं ले सका, क्योंकि दर्द से बहुत दुखी था। रास्ते में ग्यानसी के ब्रिटिश-ट्रेड-एजेन्ट से मुलाक़ात हो गई। वे ग्यानसी से भूटान जा रहे थे।

एजेंट साहब बहुत ही खुशमिजाज और मिलनसार आदमी निकले। उनसे और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी से कई एक हँसी-मजाक की बातें हुईं। वहाँ बहुत बड़े-बड़े मच्छड़ थे। और लाखों-करोड़ों की संख्या में वे खच्चर की और हमारी देह पर आ बैठे। लेकिन सौभाग्य से वे बेचारे काटना नहीं जानते थे। १७ मई का सारा दिन उस बड़ी झील के किनारे सफ़र करते हुए दो बड़े-बड़े सूखे मैदानों को पार करने में बीता। आज की पथरीली जमीन में १४ मील का सफ़र तय करके हम लोग काला के डाक-बँगले में आ गये। आज राह में कोई खास बात नहीं हुई, या यों कहिए कि चोट का तीसरा दिन होने की वजह से बुखार और दर्द इस क़दर था कि गर्दन उठाकर आस-पास देखना कठिन था। नौकर अपने साथ दूध और उबले हुए अंडे लाये थे। वे बार बार आकर हमको खाने को मजबूर करते थे।

इस पड़ाव पर हम लोग अपने चौथे साथी से मिले, जो लासा से हम लोगों के लिए ३ खच्चर खरीदकर और दो नौकर लेकर स्वागत करने आये थे। इनका नाम अभयसिंह परेरा था। वे सीलोन के रहनेवाले थे। वे सीलोन के एक आदमी हैं जिन्होंने बनारस मे ऊँचे दर्जे की संस्कृत की शिक्षा पाई है। वे बौद्ध-भिक्षु हैं और तिब्बत में दो साल से तिब्बती-भाषा सीखने के मतलब से रहते हैं। उन्होंने राहुल जी के पत्रों के अनुसार सारे तिब्बत की सैर की है और हर एक मठ में जाकर हिन्दुस्तानी की पुरानी किताबों और तसवीरों का पता लगाया है। तिब्बत की सरकार के मन्त्रिमण्डल की चिट्ठी भी उन्हें मिली हुई है, जिसके द्वारा हम लोग तिब्बत में जहाँ जी चाहें घूम सकते हैं और हर एक लाइब्रेरी के दरवाज़े की सील तोड़कर अन्दर जा सकते हैं। इनको देखकर हम सबकी हिम्मत बढ़ गई और ग्यानसी जल्दी पहुँचने की कोशिश होने लगी।

१८ मई की सुबह को जब हम लोग जा रहे थे, रास्ते में एक बड़े शानदार लामा की पार्टी से मुलाक़ात हो गई। ये कांसू यानी उत्तरी तिब्बत के अवतारी लामा थे, इसलिए हमारे गेशेला से खूब बातचीत करने लगे, क्योंकि दोनों ही आस-पास के मुल्क के राजा हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि उनके देश के जो सबसे बड़े लामा हैं वे दक्षिणी तिब्बत की तीर्थ-यात्रा करने आ रहे हैं। और चूँकि तीन महीने तक रेगिस्तान में यात्रा करनी पड़ती है, इसलिए डाकुओं से रक्षित रहने के विचार से ये लामा चीन से होते हुए समुद्र की राह से उनके खर्च के लिए रुपया लिये जा रहे हैं। ये

भी लासा जा रहे हैं और वे लोग भी लासा आकर इनसे मिलेंगे। ये उस बड़े लामा के प्राइवेट सेक्रेटरी के तौर पर काम कर रहे हैं। मैंने जब इनसे फ़ोटो लेने की आज्ञा माँगी तब फ़ौरन राजी हो गये और कहा कि अगले पड़ाव पर ले लेना। आज बातचीत करते हुए इन लोगों के साथ क़रीब १४ मील का सफ़र आसानी से तय हो गया। राहुल जी पीछे डाँड़ी पर आ रहे थे। शाम को जब हम लोग समादा के डाक-बँगले पर पहुँच गये तब राहुल जी की प्रतीक्षा होने लगी। थोड़ी देर के बाद फिर वही आवाज़ सुनाई पड़ी। राहुल जी के आ जाने पर उनको अन्दर ले गये और पलँग पर लिटा दिया। उनको दूध वग़ैरः पिलाकर मैं गेशेला के साथ लामा साहब की पार्टी से मिलने गया। यहाँ पास में ही एक बहुत ही पुराना गुम्बा यानी मठ है। यह गुम्बा क़रीब ९ सौ वर्ष का पुराना है। इसके अन्दर क़रीब ३० फ़ुट ऊँची बुद्ध की एक सुनहरी मूर्ति है, जो हीरे-जवाहरात से सजी हुई है और चार-पाँच फ़ुट ऊँची सैकड़ों मूर्तियाँ यहाँ सजी हुई हैं। तिब्बत का यह पहला ही गुम्बा मैंने देखा; इसलिए हर एक बात को देखकर चकित रह गया। दीवारें तमाम बड़े-बड़े फ़ेरेस्को से पटी पड़ी थीं। अन्दर बहुत अँधेरा था; इसलिए मैंने लामा साहब के टार्च की मदद से उसको देखा और वहाँ के चलन के अनुसार हर एक देवता के पैरों पर सिर लगाया। इन तसवीरों में एक तिब्बती देवता की शक्ल को देखा, जिसका नाम महाकाल है। ये हमारे हिन्दुस्तान के महादेव जी की तरह शक्तिशाली माने जाते हैं। ये भूतों और चुड़ैलों को भगाकर अच्छे देवताओं और मनुष्यों के जीवन को सुखद बनाते हैं। और देखा कि इनके एक पैर के नीचे हमारे महादेव और दूसरे पैर के नीचे हमारी काली देवी पड़ी हैं। महाकाल की मूर्ति से ऐसा मालूम होता है कि वे हर वक़्त ढाल-तलवार और आग लिये लड़ने को तैयार रहते हैं। उनकी शक्ल को देखकर भूत तो डरता ही होगा, लेकिन कमजोर दिलवाला मनुष्य भी बेहोश हो जायगा। कहते हैं कि इन मन्दिरों में जितनी भी अच्छी मूर्तियाँ और तसवीरें हैं वे हिन्दुस्तान के कारीगरों की बनाई हैं। इनकी रूप-रेखा से भी यह बात प्रकट होती है।

तमाम चीज़ों को देखने के बाद मैंने लामा साहब और उनके दल का फ़ोटो लिया। उन्होंने अपने पास बैठाकर

[तिब्बती नस्ल का बच्चा]

हमको चीन की चाय पिलाई, जिसमें चीनी और दूध कुछ भी न था। लेकिन वह पीने में बहुत अच्छी लगी। वे मुझको देखकर बहुत खुश हो रहे थे और बार बार कहते थे कि तुम मेरे साथ लासा चलो। असल बात यह थी कि गेशेला ने मेरा परिचय कराने में उन्हें यह बतला दिया था कि मैं एक बंगाली फ़ोटोग्राफर हूँ। सैकड़ों वर्ष पहले एक बंगाली चित्रकार तिब्बत गये थे और वहाँ सारी जिन्दगी बुद्ध-भिक्षु के रूप में रहते रहे। उनकी तसवीरें और किताबें सारे तिब्बत में प्रचलित हैं और बड़े आदर के साथ उनका नाम लिया जाता है। इसलिए मुझको भी ये लोग मुहब्बत और इज़्ज़त की नजर से देखने लगे और अपने मुल्क कांसू ले जाने की इच्छा प्रकट की। मैंने उन लोगों को धन्यवाद दिया और जाने की मजबूरी के लिए क्षमा

माँगी। उन लोगों से मैंने वादा किया कि तसवीरें उन्हें डाक के द्वारा भेज दूँगा।

१९ मई को हम गेशेला और अभयसिंह २ दिन के सफ़र को एक ही दिन में तय करने के लिए चल पड़े। राहुल जी को पीछे नौकरों के साथ डाँड़ी पर छोड़ दिया और हम लोग तेज़ गति से रवाना हो गये। खानगामा और शानगाँग के गाँव में हम लोगों ने अपने गदहे वदले। चढ़ाई के ख़च्चरों को अभयसिंह लासा से खरीद लाये थे, इसलिए अब इनके वदलने की ज़रूरत नहीं हुई। ये खच्चर वड़े सीधे थे और तेज़ चलते थे। उन तीनों की क़ीमत उन्होंने क़रीब ७ सौ रुपया दी थी। आज भी मेरे दुर्भाग्य का सितारा चमका। चोट का दर्द तो अभी था ही, तिस पर बुखार और कमज़ोरी अलग थी। चाल इतनी तेज़ रही कि शाम को तीन बजे भागते हुए खच्चरों ने ठोकर खाई और मैं भी उसके साथ कलावाज़ी खा गया। ख़ैर, डर तो वहुत गया, लेकिन चोट मामूली लगी, थोड़ा-वहुत छिल गया। पर कैमरा टूटने से वच गया।

फिर उठकर सवार हुआ और आगे चल पड़ा। राह में थाई नाम का गाँव मिला। गदहे के लिए ज़रा रुके और फिर भागने लगे। हवा और वारिश का एक तूफ़ान आया जो मेरी चोट के लिए ख़तरनाक था, लेकिन सामने ही पहाड़ी पर ग्यानसी के मकान दिखलाई दे रहे थे, इसलिए दिल में ज़रा शान्ति आई। सड़क के आस-पास कुछ जौ के खेत थे, जो अभी वोये गये थे। जव ग्यानसी से वहुत क़रीव आ गये तव देखा कि मैदान में कुछ पंजावी लोग हाकी खेल रहे हैं। अभयसिंह ने कहा—"ये ब्रिटिश रेजीमेंट के आदमी हैं।" आज क़रीव ३२ मील का सफ़र तय करके हम लोग चिराग़ जले तिब्वत-सरकार के डाक-बँगलों में आ गये। थकावट, कमज़ोरी और ठंड की वजह से इन लोगों ने मुझको तिव्वती शराव पिलाई, जिसको पीकर मैं कुछ मदहोश हो गया। सारी रात वहुत अजीव तरह से गुज़री, क्योंकि गेशेला साहव को जोश आ गया और वे मनुष्य-स्वभाव पर लेक्चर देने लगे। वे वार वार कहते थे कि मेरा दिमाग़ बिलकुल ठीक है। मद्य का प्रभाव तो केवल शरीर पर पड़ सकता है। इस वात को सिद्ध करने के लिए वे तसवीरें वना कर दिखलाते थे और मैं अपनी हँसी को किसी तरह भी नहीं रोक सकता था। अभयसिंह वार वार सोने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन हम लोग उनको कव ऐसा करने देते; इसलिए तिब्वत में मेरे लिए यह पहली रात थी जिसको हम लोग शैतानों की रात कह सकते हैं।

उर में

लेखक, श्रीयुत हितैषी

इन उज्ज्वल उज्ज्वल तारकों से
जिसने ये अछोर आकाश भरा है।
इस भग्न सुधाकर में जिसने
सुधा की किरणों का विकास भरा है।
जिसने इस शारदा शर्वरी के
अधरों में प्रकाश-सुहास भरा है।
उसने मुझ दीन ही के उर में
क्यों तमी निशा का तम, त्रास भरा है।

दहनोपम में निज वज्र-विदग्धता
व्यग्र विभाकर ने भर दी।
शशि वल्लरी-यौवन के क्षणों में
क्षय-व्याधि क्षपाकर ने भर दी।
लघु मौक्तिक में व्यथा की कथा
रो करके रतनाकर ने भर दी।
हम आकुलों के उर में जग की
करुणा करुणाकर ने भर दी॥

मुंशी बख़्तावरलाल

लेखक, हज़रत तस्लीम लखनवी

मुंशी बख़्तावरलाल उसी ज़ात के एक रतन हैं जिनके यहाँ उर्दू और फ़ारसी लौंडियों की तरह हर वक्त हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं। ऐसा मशहूर है, और वह खुद भी दिन में हज़ार वार कहते हैं कि मलिके-ज़मानियाँ नवाव वाजिद-अलीशाह साहव, खुदा उन्हें जन्नत बख़्शे, बिना इनसे पूछे पानी तक नहीं पीते थे। बक़ौल आपके, वह आपको अपने उस्ताद की तरह मानते थे; यानी कि वस हद हो गई कि जहाँपनाह ने जो 'इन्दर-सभा' ड्रामा लिखा था, उसकी इस्लाह आप ही से करवाई थी।

मुंशी जी हमारे पड़ोसी हैं। उनका कहना है कि उन्होंने इस ख़ाकसार को वचपन में गोदियों खिलाकर इसकी इज्ज़त-अफ़ज़ाई की है। बहरहाल, हमें तो साहव कुछ याद-वाद नहीं, लेकिन जव आप फ़रमाते हैं तो सही होगा। वस, शक सिर्फ़ इस वात का है (मुंशी जी साहव की रूह इस आधी रात के वक्त 'इन्दर-सभा' की जिस किसी परी के साथ जश्न मना रही हो, मुझे मुआफ़ी अता फ़रमाये) कि अम्मी-जान और वालिद बुज़ुर्गवार तो हमेशा यही वतलाया करते थे कि मैंने शहर कलकत्ते में पहली वार सूरज की रोशनी देखी थी। और इतना तो मुझे भी अच्छी तरह याद है कि जव मैं वारह वरस का था, तव वालिद साहव मरहूम हम लोगों के साथ कलकत्ता छोड़ अपने वतन लखनऊ वापस आये थे।

इधर जनाव मुंशी जी साहव का कहना है कि जव अँगरेज लोग वादशाह-सलामत को धोखे से गिरफ़्तार कर कलकत्ता ले जाने लगे, उस वक्त वन्दापरवर ने जनाव मुंशी जी साहव को भी अपने साथ ले जाने की इजाज़त माँगी। आप ही का क़लाम, "मेरी आँखों में आँसू आ गये। अव आपसे क्या अर्ज़ करूँ अपनी उस वक्त की हालत कि धड़ा-धड़ ग़श पर ग़श चले आ रहे हैं, और वादशाह-सलामत, खुदा उन्हें जन्नत वख़्शे, परमेश्वर करें वह जहाँ कहीं भी हों, दूधों नहायें, पूतों फलें, खुद मेरी यह हालत देखकर ज़ार-ज़ार रो रहे थे। अव अँगरेज़ लोग भी हैरत में कि आख़िर यह कौन शख़्स है, जिसकी बीमारी से खुद वादशाह-सलामत तक को इतना सख़्त सदमा पहुँच रहा है। ख़ैर साहव, राम-राम करके पूरे चार घंटे में मुझे ज़री-सा होश आया। जो आँखें खोल के देखता हूँ तो वड़े-वड़े लाट और कलक्टर और डिप्टी-कमिश्नर मेरे आस-पास खड़े हुए हैं। मुझे होश में आया देखकर एक अँगरेज़ ने कहा कि जहाँपनाह ने खुद हुज़ूर के सिरहाने खड़े होकर वज़ीफ़ा पढ़ा था, और इस वक्त आरामगाह में तशरीफ़ रक्खे हुए ज़ार-ज़ार रो रहे हैं।

'आप यक़ीन मानें साहव, कि ऐसा ग़रीब-परवर, दरिया-दिल, और ख़ुश-मिज़ाज वादशाह तो दुनिया के परदे पर और कोई हुआ ही नहीं। खुदा उन्हें जन्नत बख़्शें, वल्ला, एक ही दम पाया था हुज़ूर नवाव साहव ने भी कि वस क्या वयान करूँ कि अहा-हा-हा!

'ख़ैर जनाव, जो मुझे यह पता चलता है तो वस कहाँ की बीमारी और कहाँ का ग़म—भागा हुआ हज़रत की आरामगाह की तरफ़ गया; जाकर तसल्ली दी कि हुज़ूर, आप यह क्या कर रहे हैं? एक नाचीज़ के लिए हुज़ूर अपने दिल को रञ्ज न पहुँचायें। वादशाह-सलामत एकदम उछल कर मुझे गले से लगाते हुए बोले कि भाई बख़्तावर, मैं तुम्हें छोड़-कर रह नहीं सकता। मैंने उन्हें दिलासा देते हुए अर्ज़ किया कि हुज़ूर, अव इस ग़ुलाम को आज़ादी बख़्शिए। कहाँ तो जहाँपनाह के ज़ेरे-साये परवरिश पाता रहा, और अव इन फ़रंगियों की सल्तनत में जाकर वसूँ? मेरी जान बख़्शी जाय, इस ख़ाकसार ने आज तक कभी हुक्म-उदूली करने की गुस्ताख़ी नहीं की। मुझे जहाँपनाह इजाज़त दें कि मैं यहीं रह कर आलीजाह की तरफ़ से इन फ़रंगियों से वदला लूँ। ....तो हज़रत, आप यक़ीन मानें कि यह ख़ाक-

सार पेशावर से लेकर मदरास तक घूम आया; और यहाँ तक कि जब मदरास जा रहा था, तो कलकत्ता-स्टेशन रास्ते में पड़ा, लेकिन मैं उतरा नहीं।"

ग़र्ज़ कि इन तमाम बातों के कहने का मक़सद महज़ इतना ही है कि मुंशी जी कभी कलकत्ता तशरीफ़ नहीं ले गये, और बारह बरस की ऐसी उम्र नहीं जिसमें कि किसी को आसानी से गोद में उठाकर खिलाया जा सके। बहरहाल, बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनको कि बग़ैर सिर उठाये ही तस्लीम करना होता है।

जनाब मुंशी जी साहब ने, सन् ३० के सत्याग्रह-आन्दोलन के ज़माने में एक बार ज़िक्र छिड़ने पर यह भी फ़रमाया था कि आप ही की जूतियों के तुफ़ैल से लखनऊ में ग़दर फैला था। और वह तो कहिए कि महज़ एक ज़री-सी ग़लती से सब किये-कराये पर पानी फिर गया, वरना इस वक्त अवध में क्या, पूरे हिन्दुस्तान में नवाबी-अमल होता। और साहब, सच तो यह है कि नवाबी के भी क्या कहने? आप यक़ीन मानें, हज़रत, कि उस वक्त लोग यह भी नहीं जानते थे कि रन्जोग़म कहते किस चिड़िया को हैं? बस जनाब, आँखों के सामने ही अंगूरी-शराब खिंचवा रहे हैं, जाम पर जाम उड़ रहे हैं; और अब यह हाल है कि कोई पुर्सांहाल नहीं।

ग़दर के नाकामयाब होने का सबब आप यह बतलाते हैं कि ज्यों ही आप घोड़े पर सवार होकर मैदाने-जंग की तरफ़ बढ़े तो शहर की तमाम मशहूर और निहायत हसीन तवायफ़ें आपके पीछे पड़ गईं। रोकर कहा कि आपके साथ हम भी चलेंगी क्योंकि आपके बाद लखनऊ में क़द्र करनेवाला और कौन रह जायगा। और माशाअल्लाह, उस वक्त आप वह कड़ियल जवान-पट्टे थे कि आप ही के लफ़्ज़ों में कि जिधर से मैं निकल जाता था, हुस्न के बाज़ार में आहें भरी जाने लगती थीं। ख़ैर साहब अब यह समझ रहे हैं और वह मानती नहीं हैं कहती हैं हम लोग साथ ही जायँगी। किसी तरह दम-दिलासा देकर जो आपने ऐंड़ लगाई तो बस जाकर हरौनी ही में दम लिया जहाँ कि ग़दर मचा हुआ था। अपने सिपह-सालार को देखकर सिपाहियों का दिल दूना हो गया। अँगरेज़ी फ़ौजें भागने ही वाली थीं कि एकाएक तक़दीर का तख़्ता ही पलट गया। भई, कुछ भी हो मगर हम तो कहेंगे वाह रे इश्क़! मुन्शी जी साहब के वियोग में सबकी-सब तवायफ़ें जोगन बनी हुई आख़िरकार मैदानेजंग में भी पहुँच ही गईं। और रो-रोकर मुन्शी जी को लगीं घोड़े पर से घसीटने। अब मुन्शी जी हैं कि दनादन फ़ैरों पर फ़ैरें कर रहे हैं और उनकी एक-एक गोली से सौ-सौ अँगरेज़ वफ़ात पा रहे हैं। एकाएक एक अँगरेज़ी-सार्जेन्ट की गोली दन-दनाती हुई इनकी तरफ़ आई और यह तय था कि वह इनकी खोपड़ी के ठीक बीचों-बीच एक आर-पार का सूराख़ कर देती कि ऐन मौक़े पर मुन्शी जी के इश्क़ में अधमरी हो जानेवाली इन हसीनों के बदन में ख़ुदा जाने कहाँ से इतनी ताक़त फट पड़ी कि जो सबने मिलकर इनका हाथ पकड़ कर घसीटा तो बस धम से घोड़े के नीचे ही दिखाई पड़े। मुंशी जी फ़रमाते हैं कि उस अँगरेज़ सार्जेन्ट ने ख़ास इन्हीं को ख़त्म करने के लिए ऐसी ज़बरदस्त गोली छोड़ी थी कि आगे जाकर उसने एक पीपल के पेड़ को भून कर रख दिया। मगर इनके गिरने का असर इनकी फ़ौज पर बहुत बुरा पड़ा। उन लोगों के हौसले पस्त हो गये; और उन्होंने यह समझा कि जनाब मुंशी जी साहब उस अँगरेज़ सार्जेन्ट की गोली खाकर इस जहाने-फ़ानी से कूच कर गये। फिर क्या था इनकी फ़ौज में इस तरह भगदड़ पड़ी कि बस क्या अर्ज़ किया जाय। सिपाही लोग उस अँगरेज़ सार्जेन्ट को कोसते और जनाब मुंशी जी साहब मरहूम की याद में रोते हुए वापस लौटने लगे। और अब यह हर-एक सिपाही को पकड़-पकड़ कर समझा रहे हैं कि भाई मैं मरा नहीं ज़िन्दा हूँ मगर इन्हें यक़ीन ही नहीं आता।

(२)

रोज़ाना अखबार में ख़बरें छप रही हैं कि महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू वग़ैरह-वग़ैरह गिरफ़्तार हो रहे हैं! जगह-ब-जगह हड़तालें हो रही हैं, धरने दिये जा रहे हैं। लाठियाँ और बन्दूक़ें चल रही हैं। जनाब मुंशी जी साहब एक दिन मुहल्ले में रहनेवाले कांग्रेसी वालंटियरों से बोले—'यह क्या तुम लोग ग़लत रास्ते पर जा रहे हो। वल्ला, अगर कहीं मैं महात्मा गांधी की जगह पर होता तो चुटकी बजाते-बजाते यों सौराज दिलाता—यों! नवाब वाजिदअलीशाह साहब के ज़माने में भी लखनऊवालों ने यह चाहा कि उन्हें आम सड़कों पर शराब पीने का मौक़ा मिल जाय। ख़ैर साहब वह लोग आये हमारे पास। हमने कहा कि यह कौन बड़ी बात है, अभी चलो। बस पहुँच गये नवाब साहब के दरबार में। बादशाह सलामत ने जो इतने हुजूम के साथ आते देखा तो खड़े हो गये, और मुसकरा कर मेरा इस्तक़बाल करते हुए फ़रमाया कहो भाई बख़्तावर यह सब क्या माजरा है? मैंने अर्ज़ किया हुज़ूर, यह लोग सौराज चाहते हैं। बादशाह सलामत के माथे पर शिकन पड़ गये, तेवर बदल कर फ़रमाते हैं किस बात का सौराज जी? इस ख़ाकसार ने अर्ज़ किया कि हुज़ूर सौराज चाहते हैं और क्या। बादशाह सलामत ने फ़रमाया कि सौराज लेकर आख़िर यह लोग क्या करेंगे? मैंने अर्ज़ किया हुज़ूर को दोआयें देते हुए यह लोग शराब पी-पी कर सड़कों पर जश्न मनायेंगे। मेरी इस बात पर हज़रत कुछ इस तरह ख़ुश हुए कि बस मुसकरा कर सौराज दे दिया। और साहब मैं क्या मेरे वालिद-बुज़ुर्गवार और बाबाजान मरहूम ने भी वक़्तन-फ़-वक़्तन लोगों को इसी तरह सौराज दिलाया है। तो साहब यह हमारा ही काम है कि एक घड़ी के अन्दर जिसको चाहें सौराज दिला दें। अब गांधी जी क्या खाकर सौराज लेंगे? कहीं झण्डा लेकर नमक बनाने से सौराज भी मिलता है? हमको कहिए, देखिए यों सौराज दिला दूं।'

मुहल्लेवालों ने भी कहा—'साहब इससे अच्छी क्या बात है।' बस जनाब मुंशी जी साहब झट से अन्दर जाकर अपनी घराऊ चपकन और टोपी पहन कर बाहर निकले।'

मुहल्लेवालों ने नारा लगाया—'इन्क़लाब-ज़िन्दाबाद', 'भारत माता की जै', 'मुंशी बख़्तावरलाल की जै"। मुंशी बख़्तावरलाल ने निहायत ख़ुश होकर अपने शाने हिला दिये।

एक ने पूछा, 'मीटिंग कहाँ कीजिएगा?'

आप अकड़ गये, फ़रमाया—'मीटिंग के क्या माने जी? हम तो लाट साहब से मिलने जा रहे हैं।' और आपने निहायत जोश के साथ उनकी तरफ़ देखकर कहा—'इन्क़लाब-ज़िन्दाबाद!'

पूछनेवाले साहब ख़ुफ़िया पुलिस के एक अफ़सर थे। इधर इन्होंने नारा लगाया, उधर उन्होंने इनका हाथ पकड़ा कि आइए, मेहमानख़ाने में तशरीफ़ ले चलिए।

मुंशी जी साहब अकड़ गये, कहा—'तुम कौन हो जी?' फिर पीछे की तरफ़ मुड़कर वालंटियर से कहा—'इन्हें बता दो कि हम कौन हैं?'

पुलिस के इन अफ़सर साहब ने मुसकरा कर इनका हाथ झँझोरते हुए फ़रमाया—'अजी इधर आइए साहब। हमें मालूम है कि आप कौन हैं। वह देखिए हुज़ूर लाट साहब ने आपकी ख़ातिर के लिए एक मोटर भी भेज दी है।'

लारी पर बैठते वक्त भी जनाब मुंशी जी को इस बात का गुमान न था कि वह हवालात लिये जा रहे हैं। दूसरे वालंटियरों ने भी आपको यही यक़ीन दिलाया कि लाट साहब ने आपकी बड़ी इज्ज़त की है।

मोटर लॉरी जब कोतवाली में पहुँची और सिपाही इन्हें हवालात की तरफ़ ले जाने लगे तब तो आप बहुत घबराये, लगे रो-रो कर दारोग़ा जी के पैर पकड़ने। रो के फ़रमाते हैं 'ऐ हुज़ूर मैं तो सरकार का पुराना ख़ैरख़्वाह हूँ।'

दारोग़ा साहब मुसकरा कर बोले—'अजी वाह ऐसी बात करते हैं आप? आप तो नवाब वाजिदअलीशाह साहब के ख़ास दाहिने हाथ थे, आपके ज़रा तेवर बदल देने से ही ग़दर मच गया था और साहब आपने तो कई बार सौराज दिलाया है.....।'

मुंशी जी ज़ार ज़ार रोने लगे, कहा—'हुज़ूर बुढ़ापा बिगड़ जायगा। यह सारी इज्ज़त ख़ाक में मिल जायगी।'

'अजी इज्ज़त की इसमें क्या बात है? आप तो जनाब वाजिदशाह साहब.....।'

'वल्ला, इल्म क़सम हुज़ूर, किसी दुश्मन ने मेरे ख़िलाफ़ हुज़ूर के मेहरबान दिल में कुछ बदगुमानी पैदा करने की कोशिश की है। अब आप ही ख़याल फ़रमाइए बन्दा-परवर कि कहाँ मैं और कहाँ नवाब वाजिदअलीशाह साहब का ज़माना? ख़ुदा उन्हें जन्नत.....नहीं नहीं हुज़ूर भला आप ही ख़्याल फ़रमाइए कि मैं क्या मेरे बाप-दादे भी उस वक़्त पैदा भी नहीं हुए होंगे हुज़ूर।'

'अच्छा? तो गोया आप अभी तक कमसिन ही हैं? ख़ैर, सिपाहियो ले जाओ इन्हें। यह लाट साहब से मिलने जा रहे थे न?'

मुंशी बख़्तावरलाल ने ज़ार ज़ार रोते हुए कहा—'ऐ हुज़ूर अब की बार माफ़ कर दीजिए। भला मेरी इतनी जुर्रत कि मैं मलिके ज़मानियाँ हुज़ूर लाट साहब, ख़ुदा उन्हें ज...नहीं नहीं हुज़ूर, परमेशुर करे वह दूधों नहायें पूतों

फलें—अब उनसे मिलने की मेरी ताब कहाँ है हुज़ूर? आप सलामत रहें, मुझे अपने बच्चों के सदक़े ही से छोड़ दीजिए। इस वक़्त तो आप ही हमारे लिए लाट साहब हैं, सरकार।'

× × × ×

मुआफ़ी माँग कर छूट आने के बाद ही जनाब मुंशी जी साहब अपने घर लौट आये। मैंने उनसे दरियाफ़्त किया—'कहिए साहब कुछ कामयाबी हासिल हुई?'

मुंशी जी ने अकड़ कर फ़रमाया—'वल्ला आप भी कैसी बातें करते हैं हजरत?' और फिर मूँछों पर ताव देते हुए बोले—'भला जिस काम में मुंशी बख़्तावरलाल हाथ डालें और वह पूरा न हो? लाट साहब ने फ़ौरन ही हुक्म दिया कि काग़ज़ात तैयार करो। बस अब काग़ज़ तैयार होने भर की देर है, कि सौराज हो गया। अब आप वह ख़्याल फ़रमायें कि नवाब वाजिदअलीशाह साहब, ख़ुदा उन्हें.......' फिर एकाएक घबरा कर बोले—'नहीं-नहीं वह सब कुछ नहीं, आप उन्हें कुछ ख़्याल न कीजिएगा हज़रत! अच्छा इस वक़्त मुझे ज़रा एक काम है।'

बात पूरी होते-होते मुंशी बख़्तावरलाल ने अपने मकान के किवाड़े खट से बन्द कर भीतर से कुंडी लगा ली।

भविष्य का गीत

लेखक, श्रीयुत चन्द्रप्रकाश वर्मा 'चन्द्र'

आगे, आगे क्या होता है, देख चलो, कल्याणी!
अरे! अभी तो शुरू हुई जीवन की रामकहानी।

भोली हो तुम, अभी न तुमने जीवन देखा-भाला,
भोली हो तुम, अभी न तुमने पिया प्रेम का प्याला;
अभी न जाना है रहस्य तुमने कोकिल के स्वर का,
अभी न गीत सुना है तुमने अपने ही अन्तर का;
अभी अभी पद-चाप तुम्हारी दुनिया ने पहचानी!
अरे! अभी तो शुरू हुई जीवन की रामकहानी॥

धीरे धीरे समझोगी तुम कलियों का मुसकाना,
समझोगी फिर उन तक भौंरों का वह आना-जाना;
जानोगी क्यों झरने बहते रहते गाते गाते,
जानोगी क्यों गाते गाते नदियों से मिल जाते;
जानोगी किस तरह उमङ्गें करती हैं मनमानी!
अरे! अभी तो शुरू हुई जीवन की रामकहानी॥

अभी मचलकर फूल तोड़ने जाती हो फुलवारी,
कलियाँ तोड़-मरोड़ रौंद देती हो क्यारी क्यारी;
पर अब वे दिन दूर नहीं जब लताकुंज के भीतर;
प्यारभरी बातें तुम करती होगी सिहर सिहरकर;
बचपन की नादानी होगी, यौवन की हैरानी!
अरे! अभी तो शुरू हुई जीवन की रामकहानी॥

अभी न कंठ तुम्हारा फूटा गीत न तुमने गाये,
रागभरी वीणा के तुमने अभी न तार हिलाये;
उर-वृन्दा में तुम्हें न अब तक कुछ भी पड़ा सुनाई,
अभी वहाँ पर मनमोहन ने वंशी कहाँ बजाई;
किसी श्याम की तुमको बनना होगा राधारानी!
अरे! अभी तो शुरू हुई जीवन की रामकहानी॥

जानोगी तुम, क्या होता है अपना और विराना,
अभी सुनोगी, समझोगी तुम जीवन का अफ़साना;
भले-बुरे का भेद शीघ्र ही समझोगी तुम भोली!
तरह तरह के गीत सुनोगी, तरह तरह की बोली;
जान रखो पागल कर देती यह दुनिया दीवानी!
अरे! अभी तो शुरू हुई जीवन की रामकहानी॥

यहाँ न अपनापन खो देना, करना मत नादानी,
बिक जाते बेदाम यहाँ पर ज्ञानी औ' अज्ञानी;
इन्द्रजाल की दुनिया में मन भ्रम में मत भरमाना;
धूप लगे कुम्हलाना मत, पा छाँह न तुम सो जाना,
अपनी अपनी कम कहना पर सुनना अधिक बिरानी!
अरे! अभी तो शुरू हुई जीवन की रामकहानी॥

× × ×

शाह जो रिसालो

लेखक, प्रोफ़ेसर नारायणदास भट्टेजा, एम० ए०, एम० ओ० एल०, शास्त्री

शाहजी रिसालो सिन्धी-साहित्य का एक प्रख्यात काव्य है। प्रोफ़ेसर साहब ने उसी का इस लेख में दिग्दर्शन कराया है।

सिन्ध-प्रान्त भारतवर्ष की पश्चिम दिशा में अन्य भारतीय प्रान्तों से विश्लिष्ट सा प्रतीत होता है। पश्चिम की ओर से मुसलमानों-द्वारा आक्रान्त भी यही प्रान्त सबसे अधिक रहा है। ऐसी स्थिति में यह प्रान्त अपना कुछ निजी साहित्य उत्पन्न कर सका हो, इसकी आशा बहुत ही कम हो सकती है। यदि कुछ थोड़ा बहुत साहित्य है भी तो हिन्दी में उसके प्रकट करने का प्रयत्न शायद ही किया गया हो।

आज-कल सिन्धी-भाषा अरबी-लिपि में लिखी जाती है और शिक्षा-विभाग से भी यही लिपि स्वीकृत है। किन्तु सन् १८७९ में शर्ट साहब ने और सन् १८४९ में कैप्टन जार्ज स्टैक ने सिन्धी के जो शब्द-कोश प्रकाशित किये उनकी लिपि देवनागरी है। सर्वप्रथम सिन्धी के यही शब्द-कोश हैं। किन्तु अब इन शब्द-कोशों का प्रयोग सिन्ध में नहीं होता। आज तक बने हुए शब्द-कोशों में दो हज़ार से अधिक शब्द नहीं दिये गये हैं। उनमें से बारह सौ शब्दों से अधिक संस्कृत-शब्दों के परिणत रूप हैं और शेप आठ सौ से कम अरबी और फ़ारसी के मूल शब्द बहुत अल्प परिवर्तन से फ़ारसी और अरबी से जानकारी रखनेवाले बहुधा प्रयोग में लाते हैं।

सिन्धी-साहित्य के विषय में प्रामाणिक ग्रन्थ दो ही मिलते हैं। एक मुसलमान सन्त शाह अब्दुल लतीफ़ का 'शाह जो रिसालो' और दूसरा हिन्दू सन्त भाई मेघराज का 'सामीअ जा सलोक'।

शाह अब्दुल लतीफ़ का जन्म सन् १६८९ ईसवी में हुआ और देहावसान सन् १७५२ में। शाह जो रिसालो ग्रन्थ का सम्पादन पहले-पहल ट्रम्प साहब ने किया और उसका पहला संस्करण सन् १८६६ में लिपज़िग से भारतीय गवर्नमेंट के खर्च से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ की बहुत प्राचीन हस्त-लिखित प्रति लंदन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में भी है। इसके पश्चात् और दो तीन संस्करण भी निकले हैं, जिन सबकी लिपि अरबी है। कराची-कालेज के वाईस-प्रिंसिपल डाक्टर होतचन्द मूलचन्द गुरुबक्षाणी एम० ए०, पी-एच० डी० ने भी कई हस्तलिखित प्रतियों से संशोधन कर वैज्ञानिक ढंग पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। हाई स्कूलों और कालेजों की पाठ्य-पुस्तकों में उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के कुछ चुने हुए अंश अवश्य दिये जाते हैं। अतः सिन्ध के सभी शिक्षित लोग इन दोनों ग्रन्थों से परिचित हैं। अशिक्षित लोगों में भी इनकी वाणी का वैसा ही प्रचार है, जैसा हिन्दी-भाषी प्रान्तों में तुलसी की रामायण का।

शाह अब्दुल लतीफ़ सिन्ध के एक सूफ़ी साधु थे। उनके समय में जो वीर-गाथायें अथवा उत्कट प्रेम-कथायें प्रचलित थीं उनको ईश्वरपरक लगाकर शाह साहब ने अपनी कृति को अमर कर दिया है। अपनी रचना के विषय में वे लिखते हैं—

"जे तो बेत भाइया, से आयतूं आदीनि।
निओ मनु लाईनि, पिरियाँ संदे पार दे।"

अर्थात् जिनको तुम साधारण शृङ्गार-रस की कविता मान रहे हो वे ऐसी आयतों (क़ुरान शरीफ़ के वचनों) के समान हैं, जो हमारे प्रियतम प्रभु की ओर मन को लगाती हैं।

शाह साहब की शैली परिपक्व, विशद और स्पष्ट है। किन्तु उस समय की भाषा की अपेक्षा इस समय की भाषा में—दो सौ वर्ष के अन्तर में—बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। आज-कल के विद्यार्थी के लिए उस समय की भाषा का समझना टेढ़ी खीर है।

इस ग्रन्थ के कथानकों के नायक और नायिकायें प्रायः हिन्दू ही हैं और विचार-धारा पर भी हिन्दू-संस्कृति की छाप लगी हुई है। उसके कथानकों के सम्बन्ध के स्मारक सिन्ध में आज भी मिलते हैं और परिचित लोग उनको विशेष आदर की दृष्टि से देखते हैं। उक्त ग्रन्थ का पहला कथानक इस प्रकार है—

लीला चनेसर

सोलङ्की राजपूतों का वंशज खङ्गार राणा बहुत ही

प्रभावशाली था। वह ढट प्रान्त का अधिपति था। कौंरू नाम की उसकी एक कन्या थी, जिसकी शोभा की ख्याति यत्र-तत्र छा गई थी। उन दिनों वह अपनी उपमा आप ही थी। उसका वाग्दान उसी के एक सम्बन्धी उत्तमादि से हो चुका था।

उन्हीं दिनों में सूमरों (सोमवंशियों) का वंशज चनेसर (चन्द्रेश्वर) देवलकोट* में राज्य करता था। चनेसर शोभा और वैभव में अप्रतिम था। उसकी भी धाक जमी हुई थी। अनेक सौन्दर्य-सम्पन्न युवतियाँ उसके पाणि-ग्रहण के लिए लालायित रहती थीं। एक दिन कौंरू की सहेली जमनी ने उसे टोक कर कहा—"क्या चनेसर को रिझाने जा रही हो, जो इतना साज-शृङ्गार कर रही हो?" इस वाक्य ने कौंरू के हृदयपट पर आघात पहुँचाया और उसी दिन से बिना देखे ही वह चनेसर पर आसक्त हो गई और उसने अपने मन में ठान लिया कि "वरौं चनेसर न त रहूँ कुंवारी"।

कौंरू की माता मुर्की को जब इस घटना का पता चला तब उसने राणा खंघार को उसकी सूचना दी। खंघार ने सोचा कि यदि चनेसर से सम्बन्ध के विषय में प्रकट रूप से बातचीत चलाई जाय और वह स्वीकार न करे तो व्यर्थ की बदनामी होगी, अतएव उन्होंने एक युक्ति से काम लिया। उन्होंने कौंरू और उसकी माता को व्यापारी औरतों के भेष में देवलकोट में रहने को भेज दिया। वहाँ एक मालिन की सहायता से चनेसर के मंत्री जखरे के पास ले गईं और उसे बहुत ही नम्रतापूर्वक अपना वृत्तान्त सुनाया। जखरे को उन पर दया आई और उनकी यथाशक्ति सहायता करने का उसने वचन दिया। एक दिन अवसर देख जखरा चनेसर के हृदय पर कौंरू की सुन्दरता का चित्र खींचने लगा और उसे रिझाकर कहने लगा कि ऐसी सुन्दरी यदि आपके अन्तःपुर का शृङ्गार न बनी तो फिर पछताना होगा। चनेसर का मन कुछ चलायमान हुआ, किन्तु अपनी महिषी लीला का ध्यान कर उसने कहा कि लीला के होते हुए मेरी और कोई पत्नी नहीं हो सकती। जखरे ने दो-चार बार फिर भी चनेसर से बात छेड़ी, किन्तु सर्वदा उसे निराशापूर्ण उत्तर ही मिलता रहा।

कौंरू और उसकी माता ने जब और कोई उपाय न देखा तब दोनों दासियों का भेष बनाकर महारानी लीला के पास गईं और उसे अपनी दयनीय दशा पर आकृष्ट कर कहने लगीं कि "हम मार्ग की यात्रा की मारी हुई हैं। हमारे पास जो कुछ भी था वह सब खर्च हो गया है। हमें अपनी सेवा में रख लीजिए। हम दोनों घर के काम-काज में बहुत ही दक्ष हैं। हमें और कोई स्थान कहीं जाने का नहीं है।" लीला को उन पर विश्वास आ गया और उसने दोनों को अपने यहाँ रख लिया। कौंरू को चनेसर की शय्या बिछाने का काम दिया और मुर्की को चनेसर की पगड़ी बनाने का।

समय बीतता गया, किन्तु चनेसर के हृदय के पिघलने की कोई आशा नहीं दीखती थी। निराशा में एक दिन कौंरू की आँखों से आँसू बहने लगे। लीला ने यह दृश्य देखकर कौंरू से रोने का कारण पूछा। कौंरू ने उत्तर दिया—"महारानी जी, मैं रो नहीं रही हूँ। दीवे की बत्ती बनाते समय तेल का हाथ आँखों में लग गया, इससे आँखों में पानी आ गया है।" लीला को इस पर विश्वास नहीं आया, उसने सच बात कहने का बहुत आग्रह किया। कौंरू विवश होकर कहने लगी—"एक समय था, मैं भी हिंडोलों में आपके समान ही झूलती थी। कई सेविकायें हाथ बाँधे मेरी आज्ञा की बाट जोहती थीं। जब मैं अपना नवलखा हार पहनती थी, अँधेरे में उजाला हो जाता था और जलते हुए दीवे सब फीके पड़ जाते थे। उन दिनों को यादकर आँखें आँसुओं से भर आईं।" लीला को इस पर भी पूरा विश्वास नहीं हुआ, उसने इस कथन की सत्यता का प्रमाण माँगा। कौंरू उसी क्षण अपनी डिबिया से वह हार ले आई, जिससे सारा महल चकाचौंध हो उठा। लीला स्वभाव से चञ्चल थी। उसे हीरे-जवाहरों की सर्वदा लालसा बनी रहती थी। कौंरू का वह हार देखकर वह कह उठी—"मुझे यह हार दे दो। बदले में जो कुछ माँगो मैं तुम्हें दूंगी।" कौंरू मौक़ा पाकर बोली—"मुझे धन-दौलत की कोई कमी नहीं। केवल एक रात चनेसर से प्रेमालाप करने दो तो हार तुम पर न्योछावर कर दूँ।" उस हार ने लीला की सब सुध-बुध भुला दी थी। उसने उसकी वह शर्त मान ली। लीला ने कहा—"तुम निश्चिन्त रहो। मैं स्वयं चनेसर को आज रात तुम्हारे कमरे में छोड़ आऊँगी।"

चनेसर उस रात को अपने मित्रों के साथ सहभोज में शराब पीकर नशे से आक्रान्त हो बहुत देर में महल में आया। लीला ने समझा, यह अच्छा अवसर है। चनेसर से जो बात कहूँगी उसे वह मान लेगा। लीला ने उससे बहुत अनुरोध के साथ कहा कि "कौंरू तुमसे प्रेमालाप करना चाहती है। आज उसकी अभिलाषा पूर्ण कर दो।" यद्यपि चनेसर होश में न था, तो भी उसने उसके प्रस्ताव को घृणा के साथ स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर दिया। किन्तु लीला उसका हाथ पकड़ कर उसे कौंरू के कमरे में छोड़ आई। कौंरू की रात तारों के गिनने में बीत रही थी। उसने अपना मनोरथ पूर्ण होते देखकर बिना विलम्ब के ब्राह्मण को बुलाकर पाणि-ग्रहण की रीति पूरी की। चनेसर नशे में सुध-बुध-हीन था। वह रात भर पलँग पर लेटा रहा। प्रातःकाल जब उसको होश हुआ तब कौंरू के कमरे में अपने को देखकर वह चकित हो गया और घृणा से वह कमरा छोड़ कर बाहर निकल रहा था कि कौंरू ने हाथ पकड़कर कहा कि "सविधि पाणि-गृहीत पत्नी का परित्याग कर अब कहाँ चले? लीला ने आपको एक हार पर बेच डाला है।" मुर्की ने सविस्तर सारा वृत्तान्त उसे कह सुनाया, जिसे सुनकर चनेसर कौंरू पर मुग्ध हो गया, साथ ही लीला से उसकी विरक्ति हो गई।

जब लीला को इस घटना की सूचना मिली तब उसके रोंगटे खड़े हो गये। उसने चनेसर को रिझाने के बहुत ही प्रयत्न किये, किन्तु सब निष्फल हुए। अन्ततः वह वैधव्य का-सा दुःख हृदय में डालकर अपने मायके इस विचार से चली गई कि शायद वियोग में चनेसर को कभी प्रेम का आवेश उमड़ आये और अपराध क्षमाकर उसे फिर अपनाये। कई वर्ष बीत गये, किन्तु चनेसर टस से मस नहीं हुआ।

मन्त्री जखरे का वाग्दान लीला के सम्बन्धियों में हुआ था। जब उन्हें लीला के परित्याग का पता चला तब उन्होंने जखरे का विवाह करने से इनकार कर दिया। जखरे को भी प्रेम की चपेट लगी हुई थी। जब उसकी एक भी न चली, विवश होकर लीला की शरण में गया और कार्यसिद्धि के लिए उससे बहुत अनुनय-विनय की। लीला ने कहा—"यदि चनेसर को मेरे पास एक बार ले आओ तो तुम्हारी वाग्दत्ता मैं तुमको दिला दूंगी।" यह सुनकर जखरा देवलकोट लौट गया और उसने चनेसर से नम्र होकर प्रार्थना की—"मेरी लाज अब आपके हाथ है। मेरे विवाहोत्सव में आप साथ देकर मुझे कृतार्थ करिए।" चनेसर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और बारात के साथ गया। बारात नगर के पास पहुँची तब लीला और उसकी सहेलियाँ घूंघट से केवल एक आँख निकालकर नाचतीं और गाती हुईं उनके स्वागत के लिए आईं। लीला के हावभाव और नृत्यकला को देखकर चनेसर बिना देखे उसके ऊपर मुग्ध हो गया और अपने को भूल कर उसने कहा—"हे मृग-नयनी, ज़रा घूंघट का पट खोलकर दर्शन तो दो। जैसा तुम्हारा गायन मधुर है, मुझे निश्चय है कि तुम्हारे मुख में उससे कहीं अधिक माधुर्य होगा।" लीला घूंघट खोलकर चनेसर के सामने खड़ी हो गई। चनेसर के अन्तस्तल में पूर्व का प्रेम उमड़ आया। वह अपने को सँभाल न सका और प्रेम के आवेश में उसके प्राण प्रयाण कर गये। यह दृश्य देखकर लीला को मूर्च्छा आ गई और उसके भी प्राण प्रियतम से मिलकर एक हो गये। यही उस कथानक का सारांश है।

'चनेसर' चन्द्रेश्वर का अपभ्रंश है और 'कौंरू' कुमारी का। इसी प्रकार और नाम तथा घटनायें सब हिन्दू-संस्कृति के द्योतक हैं।

शाह अब्दुल लतीफ़ ने उपर्युक्त घटना को आध्यात्मिक पक्ष में इस प्रकार लगाया है कि लीला मानों एक जिज्ञासु है, जो सांसारिक वैभव में फँसकर अपने प्रभु चन्द्रेश्वर से विमुख होता है और उसे फलस्वरूप अपने पद से च्युत होकर फिर पछताना पड़ता है। कौंरू की तितिक्षा में हमें कुमार-सम्भव में वर्णित पार्वती की तपस्या का आभास मिलता है। अन्ततः पश्चात्ताप करने और फिर सँभल जाने पर प्रियतम से एकता हो जाती है।

* मेजर रावर्ट ने देवलकोट नामक स्थान को मकली की टेकरी के पास निर्धारित किया है। तुहफ़ह अलकराम के अनुसार चनेसर का देवलकोट पर शासन करने का समय सन् १२८८ से १३०६ तक है।

एक समस्या-मूलक कहानी

लीला

लेखक, श्रीयुत विजय वर्मा

ला माया की छोटी बहन है। माया को मरे चार वर्ष हो गये। दो वर्ष--केवल दो वर्ष--नरेन्द्र ने माया से विवाह करके बिताये थे कि एकाएक एक दिन ठीक मध्याह्न-काल में माया के हृदय की गति बन्द हो गई और सदैव के लिए बन्द हो गई। नरेन्द्र ने यह देखा और उसे जान पड़ा कि उसका अन्त भी आ गया है। वह माया से अलग कैसे हो सकता है? वह बेहोश होकर गिर पड़ा। किन्तु वह बेहोशी दूर हो गई और नरेन्द्र ने थोड़े ही महीनों के बाद घर-द्वार छोड़कर अपने आपको राजनैतिक कर्मक्षेत्र में डाल दिया।

उस समय लीला पढ़ रही थी। उसकी सूरत अपनी बड़ी बहन माया से बेतरह मिलती-जुलती थी और उनके स्वभाव में भी ऐसा ही मेल था। उनमें परस्पर प्रेम भी अपार था। पर लीला अपनी बहन के समय से ही गृहस्थ-जीवन से विराग की बातें तेजी के साथ करने लगी थी और वह समाजवाद की अनुयायिनी हो रही थी। इस सिद्धान्त के एक व्यावहारिक आचार्य के प्रति, जिनकी अवस्था पचास वर्ष के क़रीब थी, उसकी श्रद्धा एक शिष्या की-सी हो थी और उसने उनसे बहुत कुछ सीखा भी था। उसके माता-पिता कोई न थे। अन्त में बहन के मरने और नरेन्द्र के संन्यासी बन जाने पर वह इन्हीं आचार्य के आश्रम में चली गई।

× × ×

इसके पाँच वर्ष बाद--

"तुम लीला नहीं हो, माया हो--माया हो।" यह सुनते ही वह हँस पड़ी, बोली एक शब्द भी नहीं। वस्तुतः वह हँसी रुदन का ही एक रूप थी।

उस हँसी ने नरेन्द्र को और भी उसी दिशा में प्रभावित कर दिया। वह कह उठा--"सुनो, तुम मेरे पास आई हो। माया भी इसी तरह मेरे पास आई थी। मैं तो जानता न था, सोच भी न सकता था कि वह इस प्रकार छिपी हुई ऐसी जगह होगी। अगर मैं यह जानता....।"

वह रुक गया। उसकी दृष्टि सन्ध्याकालीन आकाश की ओर गई और वह उधर ही देखता रह गया। सुनहरे बादल छाये हुए थे। कितनी जल्दी उनका सुनहरापन दूर हो जायगा! क्या वे भी माया के मोह में फँस गये हैं? और उन बादलों में कोई सुन्दरी--ठीक 'माया' की भाँति अनिन्द्य सुन्दरी दिखलाई तो दे रही है। आह!

वह जाग-सा उठा। कुर्सी पर से झट खड़ा हो गया और दो क़दम चला। तब फिर लौट कर कुर्सी पर बैठ गया और लीला की ओर दृष्टि जमाकर कहने लगा--"आज तक कौन जान पाया है कि वह कहाँ किस रूप में दिखलाई देगी! धिक्कार है मनुष्य के ज्ञान को और उसकी शक्ति को! कठपुतली से बढ़कर वह कुछ भी तो नहीं है और आज तुम मेरे सामने कैसी अद्भुत शान्ति के साथ बैठी हो, लीला!

"तब क्या करूँ? नाचने लगूं!" लीला के स्वर में न जाने क्यों झुँझलाहट थी।

"तुम्हारे नाचने की ज़रूरत नहीं! नाचना मेरे ही भाग्य में है।" नरेन्द्र ने मार्मिक ढंग से कहा।

"मैं तो ऐसी भाग्यवादिनी नहीं।" लीला ने सिर उठा कर कहा।

"तुम्हें होना भी नहीं चाहिए। तुम होतीं तो मुझे आश्चर्य होता और दुःख भी।"

दोनों की दृष्टियाँ मिलीं।

अब लीला ने पूछा--"आपने मुझे क्यों यहाँ बुलाया है?"

"मैंने? मैं तुम्हें कभी बुला नहीं सकता! तुम स्वयं यहाँ आई हो--या किसी न दिखाई देनेवाली शक्ति ने अपने आप तुम्हें यहाँ भेजा है!"

नरेन्द्र के इस उत्तर से चिढ़कर लीला ने पूछा--"शक्ति दिखाई कौन-सी देती है?"

"कोई नहीं, कोई नहीं।" नरेन्द्र फिर उठ खड़ा हुआ। "देखो, बिजली, स्टीम, गैस, वायरलेस--हाँ, बेतार का तार!"

लीला भी उठ खड़ी हुई और बोली--"आप व्यर्थ की बातें करते हैं और जो आपके मन में है उसे छिपाने का प्रयत्न करने के कारण आपकी बातें और भी बेढब हो जाती हैं। आप क्या कहना चाहते हैं?"

"तुम्हीं बताओ, तुम क्या कहना चाहती हो!"

"मैं! मैं कहती हूँ कि आप उस काम को अब कीजिए जो आपके जीवन को सचमुच सफल बना दे।"

"वह कौन-सा काम है?"

"स्वार्थ-त्याग और सार्वजनिक प्रेम।"

"सार्वजनिक प्रेम क्या! चाहूँ भी तो क्या मैं सबसे एक-सा प्रेम कर सकता हूँ। मुझसे तुम्हें ऐसी आशा क्यों है?"

"क्योंकि आप भी मनुष्य हैं--या हो सकते हैं।" लीला ने कह दिया और वह भीतर ही भीतर लज्जित हो गई।

"तुम मुझे वे अप्रिय बातें कहने पर विवश कर रही हो जो मैं कहना नहीं चाहता था। बैठ जाओ।"

नरेन्द्र की मुख-मुद्रा कुछ कठोर हो गई। वह फिर कुर्सी पर बैठ गया।

लीला भी चुपचाप बैठ गई। उसे आशा थी कि नरेन्द्र अपनी 'अप्रिय' बातों को कहने लगेंगे। पर उसने देखा कि वह कुर्सी पर बैठकर एकटक उसकी 'लहराती हुई लटों' की ओर देख रहा है। उसने उन लटों को ढँक लिया और इस प्रकार ढँक लिया कि सिर का एक बाल भी दिखाई न दे।

तुरन्त ही नरेन्द्र ने कहा--"यह क्या? क्या तुम यह नहीं जानती हो कि एक व्यक्ति अपने किसी काम का जो असर चाहता है अधिकतर वह असर नहीं पड़ता। तुम्हें जिस मनुष्य का इतना घमंड है, जिसकी मनुष्यता को आगे रखकर तुम सबको मनुष्य बनने का उपदेश देने का साहस कर रही हो, उसमें भी वासनायें हैं, इच्छायें हैं, पक्षपात है, ईर्ष्या है, घमंड है, घृणा है--उसमें भी पशुत्व है, यथेष्ट पशुत्व है, और इसी लिए वह मनुष्य है, नहीं तो सम्भव है, वह भी तुम्हारे अनेक निराकार देवताओं में से एक या उन सबसे भी बढ़ कर हो गया होता।"

लीला अब भी चुप रही। उसने समझा कि अभी तो 'अप्रिय' कथा की भूमिका ही हुई है। अभी असल बात कहने की शक्ति का संचय नरेन्द्र नहीं कर पाये।

किन्तु नरेन्द्र लीला का इस प्रकार चुप रहना सहन न कर सकता था। वह चाहता था कि लीला कुछ न कुछ अवश्य कहे, चाहे वह एक शब्द ही हो।

जान पड़ता है, लीला ने भी यह समझ लिया। वह बोली--"और?"

यह 'और' वैसा ही था जैसा ग्रामोफोन के रिकार्ड के लिए साउन्ड-बाक्स की सुई। सुई के रिकार्ड पर लगते ही आवाज होने लगती है। नरेन्द्र ने भी तुरन्त बोलना प्रारम्भ कर दिया--"और? और जो तुम यह मान बैठी हो कि अब तुम्हीं एक संसार-संघ की सफल स्थापना करके उसकी एक मात्र संचालिका बनने जा रही हो और सारा संसार भिखारी बनकर अपने सुख, अपनी शान्ति और अपनी रोटियों के टुकड़ों के लिए भी तुम्हारी ही ओर देखने जा रहा है, यह तुम्हारा ऐसा महान् भ्रम है जिसमें आज-कल के कार्लमार्क्स, ट्राटस्की, गान्धी आदि या प्राचीन काल के बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर आदि में से कोई कभी नहीं फँसा, न भविष्य में कोई ऐसा मनुष्य जिसमें सचमुच मनुष्यत्व है, फँस सकता है।

लीला का मन चाहा कि वह उठकर चली जाय, पर उसने अपने को सँभाल लिया और शान्तभाव से कहा--"आप दूसरे लोगों को छोड़ दीजिए और मुझे भी। आप अपनी बात कहिए। आप क्या चाहते हैं?"

नरेन्द्र को यह स्वर व्यंग्य और तिरस्कार से पूर्ण जान पड़ा। पर इस बार जब वह बोला तब उसके स्वर में वैसी उत्तेजना न थी, न वैसा तीखापन ही था। उसने कहा--"माया से अलग होने से अब तक--या अगर बिलकुल ठीक समय देना हो तो पूरे पाँच साल तक और अब से केवल पाँच मास पहले तक--मैं जिन लोगों में रहा हूँ उनमें से हर एक का दावा वैसे ही मनुष्यत्व का है, जितना कि आज तक कभी कोई कहीं भी कर सका है। पर मैंने अच्छी तरह देखा है कि वे कैसे हैं और उनका यह दावा कैसा है। मैं लौट कर अपने घर आ गया हूँ। मैंने तुम्हें यहाँ फिर देखा। तुम यहाँ दिखाई दोगी, यह आशा मुझे न थी। मैं कहता हूँ, आओ, हम लोग साधारण मनुष्यों के ढंग से रहें! ऐसे बड़े बनने का ढोंग न रचें। मैंने यहाँ के लोगों के इस बड़प्पन को देख लिया है और मैं उनके पास से चला आया हूँ। तुम अभी तक वैसे बड़प्पन के चक्कर में हो या मैं मान लेता हूँ कि उससे भी बढ़े हुए बड़प्पन के--पर इसका खोखलापन, इसकी निस्सारता तुम आज भी देख सकती हो। हम गृहस्थी में जिनका उत्तरदायित्व लेते हैं उनके प्रति

हम ऐसे ढोंगी न तो होते हैं, न हो सकते हैं। वह क्षेत्र यदि उससे देश की उन्नति और संसार की उन्नति का सामञ्जस्य रहे तो सबसे अच्छा क्षेत्र है। उसमें हम अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर सबकी यथार्थ उन्नति कर सकते हैं। क्या तुम इसे न मानोगी ?"

लीला ने सहज भाव से उत्तर दिया—"संभव है, भविष्य में कभी मेरा भी ऐसा अनुभव हो जाय और मैं यह मानने लगूं। अभी तो मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ और इसलिए मैं गृहस्थी के क्षेत्र को अपने लिए ठीक भी नहीं समझती। मेरे विचार आपसे छिपे नहीं हैं। आपके स्वयं भी वैसे ही विचार थे। गृहस्थी का क्षेत्र उन लोगों के लिए नहीं है, जिन्होंने, चाहे जिस कारण से भी हो ऐसा अवसर पाया कि संसार के सभी मुख्य देशों, सभी मुख्य धर्मों, कलाओं और विज्ञानों तथा सभी मुख्य जातियों के उत्थान और पतन का, उन सबके परस्पर सम्बन्ध का, उनकी एकता और विभिन्नता का, उनकी अच्छाइयों और बुराइयों का रहस्य ऐसा समझ लिया जिससे उनका हृदय, उनका मन और उनकी आत्मा एक उच्च सन्देश से पूर्ण हो गई हो—उन्हें जान पड़ने लगा हो कि हमारी इस क्षुद्रता का, पशुत्व का, लूट-मार का, वासना और दम्भ का कारण केवल हमारी अज्ञानता और संयम की कमी है और हममें से हर एक इन पर बहुत कुछ विजय पा सकता है और इसे पाना चाहिए। जब लूटमार मची हो, चोरी हो रही हो या आग लगी हो, उस समय यदि हम कहें, आओ हमें क्या मतलब, हम तो अपने बाल-बच्चों को लेकर या बाल-बच्चों को उत्पन्न करके अपना गृहस्थ-जीवन पालन करेंगे और यही मनुष्य की चरम सफलता होगी तो क्या हमारा यह कथन ही हमारे सबसे अधिक अज्ञान या सबसे बड़े ढोंग या मनुष्यत्व की कमी का द्योतक न होगा ? क्या ऐसा गृहस्थ घोर कायर या नीच या अज्ञानी नहीं कहा जा सकता ? शायद वह तीनों हो, शायद और अधिक।"

अन्तिम वाक्यों को भी लीला ने बड़ी ही शान्ति के साथ कहा, पर नरेन्द्र के लिए उसकी उत्तेजना को देख लेना असंभव न था।

"तो तुम जाओ लीला ! तुम सभी मनुष्यों को भाई समझो। कभी किसी दिन तुम्हें गृहस्थ-जीवन में आने की आकांक्षा न हो, यही मेरी तुम्हारे लिए कामना होनी चाहिए। पर मैं कह देना चाहता हूँ कि मेरी कामना यह है नहीं—इसलिए नहीं कि मैं इसे इस देश की संस्कृति या किसी भी देश की संस्कृति या धर्म आदि का विरोधी समझता हूँ, बल्कि केवल इसलिए कि मैं जानता हूँ कि तुम लीला ही नहीं हो, तुम माया हो और तुम्हें मेरे पास आना पड़ेगा। बीस-बाईस और चौबीस तक की अवस्था में ऐसी विशेष परिस्थिति के कारण जिसमें तुम रही हो और हो ऐसी उच्चातिउच्च बातें और सिद्धान्त तुम्हें कहना चाहिए और मानना भी। किन्तु इसके बाद तुम कह सकती हो पर हृदय से मान न सकोगी, मैं प्रतीक्षा करूँगा। मेरी अवस्था अब अट्ठाईस वर्ष की है और यह निश्चित है कि तुम्हारी अवस्था अभी पच्चीस वर्ष की नहीं है।—वन्दे, वन्दे मातरम्।"

(३)

बहुत ही बेचैनी के साथ नरेन्द्र ने दो दिन बिताये। तीसरे दिन उसने अपने मित्र सुरेश को तार दिया—"आ रहा हूँ, स्टेशन पर मिलो।" इससे पहले वह कई बार सुरेश के यहाँ जा चुका था और भाई की भाँति महीनों वहाँ रह चुका था। कभी उसे तार देकर सूचना देने या किसी को स्टेशन पर बुलाने की जरूरत नहीं दिखाई दी। पर आज की अवस्था ही अन्य थी।

सुरेश स्टेशन पर ही मिला। नरेन्द्र की थोड़ी ही देर की बातचीत सुनकर वह भयभीत-सा हो गया। बोला—"लीला तुम्हारा साथ नहीं चाहती तो तुम्हीं उसके पीछे क्यों पड़ रहे हो ? संसार में सुन्दरी, शीलवती और गुणवती स्त्रियों की तो कमी नहीं है और उनमें से कई एक जो लीला से इन सब बातों में कहीं बढ़कर हैं, तुम्हारे साथ अपना गृहस्थ-जीवन बिताना अपना परम सौभाग्य अवश्य समझ सकती हैं। उन्हीं में से किसी एक के साथ तुम अपना जीवन सुख से क्यों नहीं बिता सकते ? लीला की बातों ने तुम्हें संसार से ही निराश और विरागी क्यों बना दिया ? बड़ी मुश्किल से तो तुमने उस आश्रम से अपना पिंड छुड़ाया। अब क्या सचमुच फिर उसी में या वैसे ही किसी आश्रम में जाना चाहते हो ? नहीं, यह नहीं हो सकता। आप मेरे यहाँ चलिए। शेष बातें वहीं होंगी।"

उत्तर में नरेन्द्र ने अपने मित्र सुरेश का हाथ पकड़ लिया और चुपचाप बैठा रहा।

सुरेश भी कुछ देर चुप रहा। फिर कह उठा—"तुम्हारा जीवन कैसा विचित्र है ? या तो एकदम भावुकता और मोह और या बिलकुल त्याग और संन्यास ! अरे भाई, अन्य लोगों की तरह साधारण जीवन तुम क्यों नहीं बिता सकते ? मैंने यह माना कि तुम धनवान् होना पाप समझते हो, दूसरों के खून को चूसना समझते हो और जो धन तुम्हारे पास है उसका उपयोग करते हुए भी शायद इसी कारण तुम्हें लज्जा आती है, पर जो समाज तुम स्थापित करना चाहते हो उसमें भी एक के खून और परिश्रम से दूसरे सुख का उपभोग करेंगे, इसमें किसी भी समझदार आदमी को तनिक भी सन्देह नहीं है। समाज की कोई अवस्था ऐसी नहीं हो सकती जिसमें सबको एक-सा सुख मिलें या सबको एक-सा परिश्रम करना पड़े या एक के परिश्रम से दूसरे लाभ न उठावें। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं समाज की वर्तमान अन्धेर अवस्था का समर्थन करना चाहता हूँ या तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि तुम भी दूसरों से मनमाना लाभ उठाओ। नहीं, जितना सामंजस्य अपने जीवन में हम ला सकते हैं उतना तो हम लाने का बराबर प्रयत्न करें, पर दूसरों को समझाने या दूसरों पर जबर्दस्ती करने में ही उसकी सार्थकता न मान लें।"

नरेन्द्र तब भी चुप बैठा रहा।

इस बार सुरेश ज़ोर से हँस पड़ा और कहने लगा—"शायद तुम सोचते हो कि तुमने भी जो यह सब लीला से कहा था। क्यों न ?"

अब नरेन्द्र भी हँसा और बोला—"यह तो ठीक कहते हो, भाई।"

सुरेश—"और बेठीक क्या कहता हूँ ?"

नरेन्द्र—"और सब बेठीक कहते हो। मैं गृहस्थ नहीं बन सकता।"

सुरेश—"बिना लीला के ?"

नरेन्द्र—"हाँ !"

सुरेश—"और बिना मेरे घर चले यहीं से आश्रम जाना चाहते हो ?"

नरेन्द्र—"और क्या ?"

सुरेश—"तो तार देकर मुझे यहाँ क्यों बुलाया था ?"

नरेन्द्र—"इतनी बातें की हैं और अभी और बातें करनी हैं। क्या यह कम है ?"

सुरेश—"जब आश्रम ही जाना है तब जैसे इस समय, वैसे ही दो-चार दिन पीछे। कहना मान जाओ। मेरे साथ घर चलो। नहीं तो मुझे और मेरे घर के लोगों को भी बहुत ही बुरा लगेगा। क्या तुम स्वयं इतना नहीं समझते ?"

नरेन्द्र—"समझता हूँ, पर विवश हूँ। मेरी ओर से सबसे क्षमा माँग लेना।"

सुरेश—"पहले मैं तो क्षमा कर सकूँ—नहीं, मैं अपने आपको ही इसके लिए कभी क्षमा करने की शक्ति न पा सकूँगा। तुम्हें मेरे यहाँ चलना ही पड़ेगा।"

नरेन्द्र—"नहीं, भाई। यह जिद न करो। अब मेरी ट्रेन आने ही वाली है। मुझे तुमसे कई जरूरी बातें करनी हैं। अब मैं कभी घर लौट कर न आऊँगा। मैंने यह प्रबन्ध किया है कि वह सब जायदाद जो मेरी कही जाती है, तुम जिस तरह ठीक समझो उन ग़रीब लोगों को लौटा दो जिनकी वह सचमुच है।"

सुरेश—"सात जन्मों में भी मैं ऐसी शक्ति नहीं पा सकता। तुम ऐसी असम्भव एवं पागलपन की बात क्यों करते हो ? तुम्हीं यह काम कर लो और तब मैं सहर्ष कह दूंगा कि जहाँ तुम्हारा मन चाहे, चले जाओ। भला बताओ तो इस जायदाद के या किसी भी जायदाद के ऐसे लोगों का पता कैसे लगाया जा सकता है जिनके खून से वह खड़ी की गई हो और जो तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार उसके वास्तविक हक़दार हैं।"

नरेन्द्र—"उनके भाई-बन्दों को इस समय के दीन-हीन-समूह में से ही कुछ को दे देना।"

सुरेश—"किसको ? एक को देना क्या दूसरे पर अन्याय करना न होगा ? इस जायदाद को बनाये रखना और उसकी आमदनी से किसी का हित करना भी तुम्हारे सिद्धान्त के विरुद्ध होगा, क्योंकि वह तो एक ओर से अधिक खून चूसकर कुछ लोगों में बुरी तरह बाँटना हो सकता है। इसलिए मैं साफ़ साफ़ कहे देता हूँ कि मैं आपका यह भार किसी तरह नहीं ले सकता, इसे आप ही ठीक कर जाइए। कुछ न हो तो किसी आश्रम को ही दे जाइए।"

नरेन्द्र—"नहीं, इसे ग़रीबों में ही बाँट देना चाहिए। वे इससे कुछ औद्योगिक कार्य कर अपने पैरों पर खड़े हों।"

सुरेश—"इससे तो वे लोग आगे चल कर धनवान् बन जायँगे और दूसरों से अनुचित लाभ उठाने लगेंगे।"

नरेन्द्र—"वाह! क्या ऐसे आदमी हैं ही नहीं जो ऐसा न करें?"

सुरेश—"खूब! तब तो व्यक्तियों की ही विजय हुई। ऐसे आदमी तुम हो और लीला न सही, कोई न कोई स्त्री भी ऐसी ही मिल जायगी। यही तुम्हारा कर्म-क्षेत्र है। तब तुम उससे भागते क्यों हो?"

नरेन्द्र—"मेरा कर्मक्षेत्र यह नहीं है। तुम्हें यह करना होगा। मैं सब प्रबन्ध कर आया हूँ।"

उसी समय ट्रेन आकर खड़ी हो गई।

नरेन्द्र अपने सामने के ही डिब्बे में घुस गया। और तब ठिठुक कर खड़ा रह गया। उसने देखा कि उस डिब्बे में लीला और उसके गुरुदेव दोनों बैठे हुए हैं!

सुरेश ने भी यह देखा। उसने प्रणाम करके पूछा—"आप लोग कहाँ जा रहे हैं?"

गुरुदेव उठ खड़े हुए थे। बोले—"अब तो देखता हूँ, यहीं उतरने की ज़रूरत है। नरेन्द्र, तुमको भी यहीं रुकना पड़ेगा।"

नरेन्द्र ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उनके साथ साथ नीचे उतर आया। सब लोग प्लेटफ़ार्म पर खड़े हो गये। तब सुरेश ने कहा—"अब आप सब लोग घर पर चलिए। वहीं सब बातचीत होगी"।

गुरुदेव ने कहा—"हाँ, यही तो ठीक है।"

नरेन्द्र चुप रहा।

किन्तु स्टेशन से बाहर आकर गुरुदेव ने कहा—"मैं तो समझता हूँ कि यह ज़्यादा अच्छा होगा कि हम लोग यहीं कहीं धर्मशाला में या स्टेशन के 'वेटिंग-रूम' में ही ठहर जायँ और जो कुछ मुझे कहना-सुनना है वहीं कह-सुन लूँ, क्योंकि हमें जल्दी से जल्दी लौट जाने की ज़रूरत है।"

इस बार नरेन्द्र ने कहा—"चलिए, वेटिंग-रूम में ही चलें।"

और वे सब वेटिंग-रूम में जाकर बैठ गये।

(४)

गुरुदेव ने कहा—"नरेन्द्र, हम दोनों तुम्हारे ही पास जा रहे थे। लीला को एक तार से यह मालूम हुआ कि तुम फिर आश्रम चले गये। उसे यह ठीक नहीं मालूम हुआ, क्योंकि तुम्हारा मन आश्रम के अनुकूल नहीं है। बेशक, यह संयोग की बात थी कि जब तुम आश्रम से लौटे तब लीला तुम्हारे घर में रह कर कुछ काम मेरे आश्रम की सहायता के लिए, मेरे आदेशानुसार कर रही थी; मुझे या उसे यह पता न था कि तुम लौट कर घर आ रहे हो। पर इससे यह समझ लेना या किसी अदृश्य कार्य-शक्ति का नाम लेकर यह समझाने का प्रयत्न करना कि लीला को भी आश्रम-जीवन से विदा ले लेनी चाहिए, कैसे ठीक कहा जा सकता है? मैं यही कहने आया हूँ कि तुम अपना दूसरा विवाह कर लो, और लीला आश्रम में ही रहेगी।"

नरेन्द्र—"आप लोगों के इस कष्ट के लिए धन्यवाद। सच तो यह है कि इसके लिए आपके आने की ज़रूरत ही न रह गई थी।"

गुरुदेव—"मैं यही जानने आया था कि लीला में तुमको ऐसी क्या विशेषता दिखाई देती है जिससे तुम उसे अपने गृहस्थ-जीवन की संगिनी बनाना चाहते हो। मैं समझता हूँ, उसमें ऐसी कोई विशेषता नहीं; उसका जीवन तो आश्रम के ही अनुकूल ढल गया है।"

नरेन्द्र—"आपको उसमें आश्रम-जीवन के अनुकूल और गृहस्थ-जीवन के प्रतिकूल कौन-सी विशेषतायें दिखलाई देती हैं?"

गुरुदेव—"सभी।"

नरेन्द्र—"और मुझे उसकी सब विशेषतायें गृहस्थ-जीवन के अनुकूल मालूम होती हैं।"

गुरुदेव—"अब भी?"

नरेन्द्र—"हाँ, अब भी।"

लीला उठ खड़ी हुई। बोली—"मैं दूसरे कमरे में जा रही हूँ। मुझे आप लोग बातचीत समाप्त करके बुला लीजिएगा।"

और वह चली गई।

तब गुरुदेव ने कहा—"नरेन्द्र और सुरेश, तुम भी सुनो—मैं फिर कहता हूँ कि लीला को मैंने कई वर्षों उस सुन्दर ढाँचे में अपने आपको ढालते देखा है जिसकी मैं कल्पना किया करता था। मैं यह भी कहता हूँ कि इसमें कुछ श्रेय मेरा भी है। अब मैं दूसरे व्यक्ति को इसी तरह का बनते हुए न तो देख सकता हूँ, न स्वयं बना सकता हूँ। तुम लोग लीला को मुझसे छीनना वैसा ही समझो, जैसा अन्य कोई बड़ा से बड़ा पाप।"

नरेन्द्र की भौंहें टेढ़ी हो गईं, पर सुरेश हँस पड़ा। सुरेश ने ही कहा—"हम लोग तो आपकी तरह पाप-पुण्य की मीमांसा समझ नहीं सकते। मैंने तो नरेन्द्र से यही कहा कि लीला से सब बातों में कहीं बढ़ी-चढ़ी स्त्री इनकी सहधर्मिणी बनना अपना सौभाग्य समझ सकती है। नरेन्द्र को अजीब मोह है। और क्या कहूँ? अगर मैं उसकी अवस्था में होता—"

नरेन्द्र ने कहा—"जो तुम करते वही मैं करने जा रहा हूँ। मैं साफ़ साफ़ कह रहा हूँ, गुरुदेव जी, आप लीला को लिवा ले जाइए। आपके इच्छानुसार मैं दूसरा विवाह कर लूंगा।"

यह कहते कहते न जाने क्यों वह खड़ा हो गया और तब तुरन्त गिर पड़ा। सुरेश ने उसको सँभाला और उसे यह समझने में देर न लगी कि नरेन्द्र बेहोश हो गया है।

गुरुदेव ने कहा—"कैसा बेकाम आदमी! यह आश्रम में इतने समय तक रहा है। लीला को देखिए और इसको देखिए।"

यह कहकर गुरुदेव लीला के कमरे में आगये और वहाँ देखा कि लीला बेहोश पड़ी हुई है।

तब बिना एक क्षण का भी विलम्ब किये 'मैं जाता हूँ' कहते हुए वे 'वेटिंग-रूम' से बाहर निकल आये।

सुरेश ने चिल्लाकर कहा—"गुरुदेव, आप कहाँ जाते हैं? नरेन्द्र को होश में तो लाइए।"

दूर से ही आवाज आई—"मैं अपने आश्रम को जाऊँगा, मेरे जाते ही ये दोनों होश में आ जायँगे। लीला भी बेहोश है। पर नरेन्द्र से कह देना, लीला हमेशा उसके पास न रह सकेगी।"

गुरुदेव तुरन्त ही टिकट लेकर एक ट्रेन में सवार हो गये।

गीत

लेखक, श्रीयुत श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

विश्व तुम्हारी माया।
ज्योतिर्मय! यह अन्धकार छाया न, तुम्हारी छाया॥

जलता नभ रवि की पी हाला,
उगल रहे तरु पल्लव-ज्वाला;
ग के सजग ताप में निखरी, कनक तुम्हारी काया।
विश्व तुम्हारी माया॥

तोड़-तोड़ कर प्रस्तर के स्तर,
झरता जीवन-निर्झर झर-झर,
मरण, यहाँ पाने को जीवन, शरण तुम्हारी आया।
विश्व तुम्हारी माया॥

हमारे ईसाई भाई

लेखक, पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी

अप्रैल १९३९ की "सरस्वती" में इस लेख का पूर्वार्ध छप चुका है। पाठकों की सुविधा के लिए हम यहाँ उसमें कही गई मूल बातों को दोहरा देना चाहते हैं। जिससे इस लेख की बातें आसानी से समझ में आ जायँ। इस सूबे में ईसाइयों की कुल संख्या, १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार २ लाख ७ हज़ार है। इन में से २ लाख ५ हज़ार सूबे के ४८ ज़िलों के और शेष सूबे की तीन देशी रियासतों के निवासी थे। पिछले लेख में सिर्फ़ उन्हीं ईसाइयों का उल्लेख है जो सूबे की तीन देशी रियासतों की प्रजा नहीं हैं। हमारा सम्बन्ध सिर्फ़ उन ईसाई भाइयों से है जो युक्तप्रान्त की सरकार के अधीनस्थ भू-भाग में बसे हुए हैं। उन २ लाख ५ हज़ार ईसाइयों में से २४ हज़ार अभारतीय, ११ हज़ार ऐंग्लो इन्डियन और १ लाख ८० हज़ार देशी ईसाई हैं। अभारतीय ईसाई और ऐंग्लो इन्डियन प्रायः नगरनिवासी हैं। १ लाख ८० हज़ार देशी ईसाइयों में से ३५ हज़ार तो शहरों में रहते हैं और बाक़ी १ लाख २५ हज़ार देहातों में बसे हुए हैं। सूबे के अन्य सम्प्रदायवालों की तुलना में ईसाइयों में पढ़े-लिखों की संख्या सबसे ज़्यादा है। १९३१ में सूबे भर में जहाँ हज़ार मर्दों में कुल ९१ साक्षर थे, वहाँ ईसाइयों में पढ़े-लिखे मर्दों की संख्या २८२ थी। इसी प्रकार सूबे में हज़ार पीछे ९ स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी थीं, वहाँ ईसाइयों में हज़ार औरतों में से २०२ साक्षर थीं।

ऊपर जो कुछ हमने संक्षेप में कहा है उससे दोनों बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली बात यह है कि हमारे सूबे में ईसाई भाइयों की संख्या बहुत थोड़ी है। सूबे की कुल आबादी जहाँ ४ करोड़ ८४ लाख है, वहाँ ईसाइयों की लगभग २ लाख है, अर्थात् सूबे भर में लाख आदमियों में कुल ३५० आदमी ईसाई-धर्म के अनुयायी हैं—या एक हज़ार आदमियों में से कुल साढ़े तीन आदमी ईसाई-धर्मावलम्बी हैं। इनकी संख्या बहुत थोड़ी है, लेकिन साक्षरता की दृष्टि से इस समाज का महत्त्व बहुत अधिक है। साक्षर होने के कारण हमारे ईसाई भाइयों को सूबे के सब सार्वजनिक क्षेत्रों में अग्रसर होना चाहिए था। कम से कम आँकड़ों को देखकर पाठक ऐसा ही अनुमान करने के लिए बाध्य भी हो जायँगे। परन्तु क्या वास्तव में ऐसा अनुमान करना उचित है? हिन्दुस्तान में पारसियों की संख्या एक लाख से अधिक नहीं है। इतने थोड़े होते हुए भी क्या कला में, क्या व्यापार में, क्या सार्वजनिक जीवन में और क्या समाज-सेवा में पारसी हिन्दुस्तान की अन्य जातियों को बहुत पीछे छोड़ गये हैं। फिर क्या कारण है कि ३५ करोड़ में जहाँ १ लाख पारसियों ने अपनी श्रेष्ठता का सिक्का जमा लिया है, वहाँ ४ करोड़ ८५ लाख युक्तप्रान्तवालों पर पारसियों से दूनी संख्या में होने पर भी हमारे ईसाई भाइयों ने कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न करने में सफलता नहीं प्राप्त कर पाई? बुद्धि में, सांस्कृतिक संस्कारों में, शारीरिक बल और पुष्टता में हमारे ईसाई भाइयों में और सूबे के अन्य सम्प्रदायवालों में कुछ भी अन्तर नहीं। जातिगत बन्धनों से मुक्त होने के कारण वे प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय से नवीन रक्त के आकर्षण करने और उसके द्वारा बलवर्धन में समर्थ हैं। इस सूबे में सुविधा होते हुए भी यदि हमारे देशी ईसाई भाई पिछड़े हुए हैं तो इसकी ज़िम्मेदारी उन्हीं के ऊपर होनी चाहिए। जहाँ तक अभारतीय ईसाइयों की बात है, वहाँ तक ऊपर का इलज़ाम उन पर लागू नहीं होता। वे विजेता जाति के अंश हैं। शासन और व्यापार के क्षेत्रों में नेतृत्व के लिए ही उनमें से अधिकांश अपने देश को छोड़कर यहाँ आते हैं। अभारतीय ईसाइयों में से लगभग १३ हज़ार ऊँचे सरकारी पदों पर या तो नियुक्त हैं या फ़ौजी हैसियत से। ऐंग्लो इंडियन ईसाई अभारतीय ईसाइयों से विभिन्न हैं। इनमें से ज़्यादातर लोग रेलवे, पोस्टल और टेलीग्राफ़ विभागों में अच्छे वेतन पर मुलाज़िम हैं। इनकी स्त्रियाँ स्कूलों, अस्पतालों और दफ़्तरों में नौकरियाँ करती हैं। औसत हिन्दुस्तानी के मुक़ाबिले में ऐंग्लो इंडियनों की आमदनी कई गुना अधिक है, [illegible] इनका रहन-सहन विलायती है, इनका ख़र्च भी विलायती पैमाने पर ही होता है। अभारतीय ईसाइयों की तुलना में इनकी आर्थिक दशा हीन है, हिन्दुस्तानी [illegible] से यदि ऐंग्लो इंडियन रहें तो अपनी मौजूदा आमदनी [illegible] खुशहाल हो सकते हैं। लेकिन अँगरेज़ों के मुक़ाबिले [illegible] आमदनी तो कम है, पर रहन-सहन का ढंग उन्हीं [illegible] मिलता-जुलता है, इसी कारण इन्हें आर्थिक कठिनाई [illegible] में दिन गुज़ारना पड़ता है।

लेकिन जब हम अपने ईसाई भाइयों का ज़िक्र करते हैं तब हमारा ध्यान विशेष रूप से उन ईसाइयों के प्रति केन्द्रित होता है जो हमारे सजातीय हैं और जिनकी संख्या १ लाख ८० हज़ार है। इनमें से अधिकांश की आर्थिक दशा इतनी ख़राब है जितनी औसत हिन्दुस्तानियों की है। अमली हालत के लिहाज़ से इनमें और सूबे के अन्य सम्प्रदायवालों में कुछ थोड़ा-बहुत अन्तर है और जो कुछ अन्तर है वह यह है कि इनकी हालत अन्य सम्प्रदायवालों से और भी गिरी हुई है। साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि भारतीय ईसाइयों में इन लोगों की संख्या बहुत काफ़ी है जो ईसाई होने से पहले हिन्दू-समाज के पददलित सदस्य थे। ऐसी दशा में केवल धर्म-परिवर्तन करने से यह आशा करना कि उनकी आर्थिक दशा में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाय, वह निर्मूल है। हिन्दू चमार और ईसाई चमार की आर्थिक दशा बहुत कुछ मिलती-जुलती होती है। ऐसी दशा में साक्षरता में विशेष प्रगति होने पर भी यदि हमारे ईसाई भाइयों ने कोई विशेष उन्नति न कर पाई तो उसका कारण स्पष्ट है। जिस समाज के वे अंग हैं उसकी जो आर्थिक अवस्था है वही अवस्था हमारे इन ईसाई भाइयों की भी है लेकिन इस सबके होते हुए भी यदि ऐतिहासिक कारण न होता तो बहुत सम्भव था कि हमारे ईसाइयों का जीवन सारे क्षेत्रों में [illegible] के देखते हुए बहुत आगे निकल जाता।

अभी हमने जिन ऐतिहासिक कारणों की ओर संकेत किया है, आइए उनका सरसरी तौर से कुछ दिग्दर्शन करें। जिन विदेशी पादरियों के प्रयत्न से ईसाई-धर्म का प्रचार यहाँ हुआ और यहाँ के हिन्दुओं या मुसलमानों ने अपने पुराने मज़हब को छोड़कर ईसाई-धर्म को स्वीकार किया, वे विदेशी थे। उन्हीं के जातिवालों की इस देश में हुकूमत थी; जिन हज़रत ईसा के अनुयायी थे और इस नीति से जहाँ दीनता का पाठ हमको पढ़ाते थे वहाँ वे यह भी नहीं चाहते थे कि उनकी बिरादरी के लोग इस देश में हुकूमत कर रहे हैं। जातिगत प्रभुता का उनमें मद था और इस कारण में वे यह नहीं सहन कर सकते थे कि उनकी शिष्य-मण्डली राजनैतिक क्षेत्रों में अपने प्रभुओं के मुक़ाबिले में बराबरी का दावा करने की हिम्मत करे। जो हिन्दुस्तानी ईसाई हुए उन्हें सिर्फ़ न अपना पुराना धर्म ही छोड़ना पड़ा बल्कि भारतीय संस्कृति और देशी रहन-सहन को भी तिलाञ्जलि देनी पड़ी। अँगरेज़ या अमेरिकन पादरियों की जीवनचर्य्या का अन्धानुकरण करना हमारे ईसाई भाइयों ने अपने धर्म-परिवर्तन का एक अंग समझा और उसे मान लिया। हिन्दुस्तानी होते हुए भी वे ग़ैर बन गये। कोई वजह न थी कि जब रामलाल ईसाई हो जाय तो वह अपने आपको रामलाल के बजाय हेनरीविलियम कहने लगे और न इसकी ही कोई विशेष आवश्यकता थी कि थाली-कटोरे को छोड़कर वह छुरी-कैंची अपना लें। सारी-लँहगे को तर्ककर उन्होंने अँगरेज़ी ढङ्ग की लिबास को अपना लिया। ईसाइयों के घर में पगड़ी और टोपी के स्थान को टोप ने हड़प कर लिया।

पारसियों ने अपनी संस्कृति-विभूति को नहीं छोड़ा। उनकी आत्मा बेदाग़, अक्षुण्ण और अखण्डित बनी रही। लेकिन जो हिन्दुस्तानी ईसाई हुए उन्हें हिन्दुस्तानियत से नफ़रत सी पैदा हो गई और हिन्दुस्तानियत के निशान को मिटाने के लिए उन्होंने हर तरह से कोशिश की। अपनी जातीय संस्कृति को वे खो बैठे और हिन्दुस्तानी ईसाई रहने के बजाय वे नक़ली विदेशी बनने में अपना गौरव समझने लगे। यही कारण है कि शिक्षित होते हुए भी हमारे ईसाई भाई किसी दिशा में विशेष उन्नति करने में समर्थ न हो पाये। वे हज़रत मसीह की नसीहत को भूल गये कि चाहे दुनिया की सारी दौलत हमें मिल जाय, लेकिन यदि हमने आत्मा को खो दिया तो हम कंगाल ही बने रहेंगे। हमारे ईसाई भाइयों ने अपने सांस्कृतिक आत्मा को हर तरह से नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा की जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी नैसर्गिक बाढ़, शिक्षा का आशातीत प्रचार होते हुए भी, मारी गई और जब तक हमारे ईसाई भाई इस ग़लत रास्ते से लौट न पड़ेंगे और हिन्दुस्तानियत यानी हिन्दुस्तानी संस्कृति को अपनी बपौती मानकर अपने आध्यात्मिक सुधार में तत्पर न होंगे तब तक इस सम्प्रदाय विशिष्ट का भविष्य उतना ही निराशा-जनक बना रहेगा जितना निराशा-जनक इनका भूत-वर्तमान है। हम हर्ष के साथ इस बात को स्वीकार करते हैं कि आज ईसाई-जाति में अब कुछ ऐसे नेता उत्पन्न होने लगे हैं जिनमें राष्ट्रीय गौरव और जातीय सम्मान के भाव विद्यमान हैं। ऐसे स्वाभिमानी और स्वदेशाभिमानी ईसाइयों की देखा-देखी ईसाई-समाज में जल्द से जल्द क्यों न जागृति फैल जाय, और क्यों न वह दूसरे की नक़ल करने

वजाय अपनी भारतीय विशिष्टता के विकास, परिवर्धन र परिष्करण करने में सचेष्ट हो उठें। पराङ्मुखता, मुखापेक्षिता, पराधीनता—इन तीन पराओं ने ईसाई-ुदाय की अवनति के गर्त में क़ैदी बना रक्खा है। पराओं छोड़ने से ही अपरिमित विकास और प्रगति के अधिकारी ारे ईसाई भाई हो सकते हैं। विदेशी पादरियों और शनों का अन्धाश्रय उनके लिए विष हो गया है। जिस ़ा में ईसाई-समुदाय अपने आपको इस प्रकार की पराधीनता थवा निःसहायता से मुक्त करने में सफल होगा, उसी अंश ईसाई-समुदाय अपनी शिक्षा के अनुरूप सूबे के सामा-क जीवन में दायित्वपूर्ण भाग ले सकेगा।

विदेशी मिशनों ने जहाँ हमारा उपकार किया और ई प्रकार की सहायता पहुँचाई—इसके लिए विदेशों की तनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है—वहाँ उन्होंने अपने तद्देशी अनुयायियों को अपाहिज बनाने में कोई कोर-कसर छोड़ी। जिन्हें स्वावलम्बी होना था वे दूसरों के मौहताज न गये। अपने जातीय पुरुषत्व को उन्होंने गँवा दिया। साई होना कोई बुरी बात नहीं है। हममें से हर एक को ह जातीय अधिकार है कि वह जिस मत को ठीक समझे से ग्रहण कर ले, लेकिन साथ ही साथ ईसाई होने का यह र्थ न होना चाहिए कि धर्म-परिवर्तन के साथ हम अपने रुषत्व को भी त्याग दें। यही कारण है कि सार्वजनिक ीवन के नेतृत्व को अपने हाथ में लेने के बजाय ईसाई ोटी छोटी नौकरियों के लिए विदेशी पादरियों के वर्षों क मोहताज बने रहते हैं। इस मुल्क में पादरियों ने मारे ईसाई भाइयों को न तो स्वाधीनचेता होने दिया ौर न उन्हें अपने पैरों के बल ही खड़ा होने दिया। बको बनाने की तो नसीहत दी, लेकिन अपने शिष्यों को इसका ख़तरा न बताया कि नक्क़ाल हो जाने पर वे अपनी ़ानी विरासत को मटियामेंट कर देंगे।

ऊपर जो कुछ हमने कहा है, उन हिन्दुस्तानियों पर ी एक-सा लागू होता है जिन्होंने पश्चिम के रहन-सहन की नक़ल करना शुरू कर दी है। इसमें ईसाई और ग़ैर-ईसाई दोनों तरह के हिन्दुस्तानी शामिल ़ैं। किसी मुल्क की तहज़ीब या सभ्यता उसके आध्या-त्मिक विकास का बाहरी परिणाम है। जैसे चमड़े का रंग नहीं बदल सकता, वैसे ही कोई मुल्क दूसरे मुल्क की संस्कृति और सभ्यता की हू-बहू नक़ल भी नहीं कर सकता है। चमड़े का रंग जैसे भौतिक परिस्थितियों का परिणाम है वैसे ही सभ्यता और संस्कृति के रंग भी भौतिक और आध्या-त्मिक अनुभवों की पारस्परिक प्रतिक्रिया पर निर्भर हैं। माइकेल मधुसूदन दत्त या तोरूदत्त दोनों ईसाई थे, दोनों ने विदेशी कवियों की नक़ल करने की चेष्टा की लेकिन यदि उनके नाम अमर हैं तो केवल इसलिए कि उन्होंने थोड़े ही समय में यह अनुभव किया कि यदि उन्हें सफल कवि बनना है तो उन्हें अपने जातीय जीवन से उत्तेजना लेना चाहिए। यह सिखावन श्रीमती सरोजनी नायडू ने सर एलमेंट ग्रास को दी थी। रवीन्द्रनाथ टैगोर 'टैगोर' कभी नहीं हो सकते थे और न इक़बाल 'इक़बाल' ही होते, अगर इन दोनों महान् कवियों ने विदेशी कवियों के प्रतिबिम्ब को अपनी प्रतिच्छाया बनाने में ही अपना सौभाग्य समझा होता। रवीन्द्र और इक़बाल के नाम समाज में इसी लिए प्रिय हैं कि इन्होंने अपनी आत्मा के साथ विश्वासघात न करके और अपनी जातीय संस्कृति को न ठुकरा कर हिन्दुस्तानी धारणाओं और भावनाओं को अपनी कविता में व्यक्त करने की सफल चेष्टा की। आत्मगौरव और जात्यभिमान अपढ़ को भी पथभ्रष्ट पढ़े-लिखे से ऊँचा उठा सकता है। छोटा बच्चा भी बैसाखी के ग़ुलाम को दौड़ में आसानी से हरा देगा।

अब आइए उन माँगों पर एक नज़र डालें जिनका ज़िक्र हमारे ईसाई भाई किया करते हैं। अभारतीय ईसाइयों के लिए सरकारी नौकरियों में स्थान देने का कोई सवाल नहीं है, क्योंकि मौजूदा विधान में उन्हें जितना भी स्थान आज दिन मिल रहा है वह इस देश में उनकी संख्या को देखते हुए अत्यधिक है। ऐंग्लो-इण्डियनों को भी गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ने अपने १९३४ के निर्णय के अनुसार उनकी आबादी के हिसाब से कहीं ज़्यादा जगह दे रक्खी है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं—और न हमारी यह मंशा है—कि हम इस सूबे की नौकरियों में ऐंग्लो इण्डियनों को स्थान न मिले। गवर्नमेंट आफ़ इंडिया के मन्तव्य की ओर इशारा करने से मेरा मतलब इतना ही है कि उनके लिए कोई विशेष चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ हमारी यह हार्दिक इच्छा है कि हमारे ईसाई भाइयों को उनकी योग्यता के अनुसार नौकरियों में भर्ती होने की पूर्ण सुविधा होनी

अग्नि-परीक्षा

चाहिए । मुझे यह देख कर कुछ भी ग़म न होगा कि अगर सारी नौकरियों पर हमारे ईसाई भाई क़ब्ज़ा करलें। उनमें जितनी शिक्षा फैली हुई है उसके कारण यदि वे ऐसा करने में समर्थ हों तो न तो अचम्भे की बात होगी और न दुख:प्रद ही। लेकिन कुछ ईसाई नेता मुसलमान नेताओं की देखा-देखी ईसाइयों के लिए भी विशेष अधिकार और संरक्षणों की आवाज़ उठाया करते हैं। उनकी माँग है कि ईसाइयों के लिए इस सूबे में कम से कम १० फ़ी सदी जगहें सुरक्षित कर दी जायँ। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि आबादी में वे ३०१ हैं तथापि ४०० सरकारी पदों में से उनके लिए ३० जगहें सुरक्षित कर दी जायँ। सूबे में अनुमान से लगभग १ लाख सरकारी मुलाज़िम हैं, जिनका दसवाँ हिस्सा अगर ईसाई भाइयों के लिए सुरक्षित कर दिया जाय तो अर्थ यह होगा कि जिस सूबे की आबादी १ लाख ८० हज़ार है उसमें १० हज़ार सरकारी मुलाज़िम होंगे। जहाँ ४ करोड़ ८५ लाख आबादी के लिए कुल एक हज़ार सरकारी नौकरियाँ हैं, वहाँ केवल १ लाख ८० हज़ार के लिए १० हज़ार सरकारी नौकरियों को सुरक्षित कर देने की माँग को पेश करना साम्प्रदायिक स्वार्थपरता और संकीर्णता की डुग्गी पीटना है। न तो गवर्नमेंट ने, न बंगाल और पंजाब की सरकारों ने, ईसाइयों के इस तरह के दावों को ठीक समझा और न बंगाल और पंजाब के किसी ईसाई ही ने वहाँ इस तरह की अत्युक्तिपूर्ण माँग पेश करना समुचित समझा। इसलिए हमें हैरत होती है जब हम युक्त प्रान्त के कुछ ईसाई नेताओं को इस तरह की अनुचित माँग पेश करते देखते हैं। इस माँग का एक ही अर्थ हो सकता है—साम्प्रदायिक मन-मोटाव का प्रसाद। इसकी सार्थकता केवल इस दृष्टि से स्वीकार की जा सकती है कि जो लोग इस माँग को पेश करना चाहते हैं वे इसको नेकनीयती से नहीं पेश करना चाहते और न यह समझकर पेश करना चाहते हैं कि आपसी मन-मोटाव ख़राब है, बल्कि इस उद्देश्य से यह पेश की जा रही है कि ईसाई-समाज कल्पित शिकायतों को लेकर अपने को बे-इंसाफ़ी का शिकार समझने लगे। और इसी भुलावे में पड़ कर अपने को पराधीन समझने लगा है। ईसाइयों के काल्पनिक अत्याचारों की गढ़न्त ईसाई-समाज में आज दिन राष्ट्रीय स्वाधीनता के मसले के ऊपर उदासीनता फैला रही है। उनकी यह धारणा हो गई है कि संयुक्त प्रान्त के बहुसंख्यक सम्प्रदायों के हाथ में जो शक्ति है उसके कारण उनके जायज़ हक़ों की हत्या की जाती है और अगर मुल्क एकदम से आज़ाद हो जायगा तो, वे भयभीत हैं, उनके सारे अधिकार पैरों के नीचे कुचल डाले जायँगे। कुछ दिन हुए चन्द ईसाई दोस्तों से मेरी इस मसले पर बातचीत हुई। उनकी बात सुनकर मैं चकित रह गया। उनकी नौकरियों के सम्बन्ध में जो माँग थी उसको सुनकर मुझे बेहद दुःख हुआ और दुःख यह अनुभव करके हुआ कि वे माँग तो पेश करते हैं, लेकिन वास्तविक परिस्थिति का परिचय प्राप्त करने के लिए उन्होंने कोई कोशिश नहीं की। अपने सम्प्रदाय की हिमायत करना उन्हें मंजूर था, उनके नाम पर दावा पेश करने की उन्हें उत्सुकता थी, लेकिन असली बात जानने की न तो चिन्ता थी, और न उन्हें उचित मालूम ही होता है। उदाहरण के लिए उनकी एक माँग को ले लीजिए। मुझसे कहा गया, जिन विभाग-विशेषों में ईसाई महिलाओं की संख्या ६० फ़ी सदी है और यदि इन विभागों में ईसाई महिलाओं की नियुक्ति एकदम कम कर दी जाय तो ईसाई-समाज का आर्थिक जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। मिसाल के तौर पर 'वीमेन-मेडिकल सर्विस' का ज़िक्र किया गया। इसमें कुल मिला कर १०२ महिलायें हैं, जो सिविल सर्जन, असिस्टेंट सिविल सर्जन और सब असिस्टेंट सिविल सर्जन के पदों पर नियुक्त हैं। इनमें से ६० फ़ी सदी महिलायें देशी ईसाइनें हैं। इन १०२ स्थानों के लिए ४ फ़ी सदी प्रति वर्ष से अधिक भर्ती नहीं होती। चार में से एक ईसाई महिला ली जाय या न ली जाय तो अनुचित न होगा। पर न लेने से ईसाई-समाज के आर्थिक जीवन पर इसके कारण कैसा बुरा असर पड़ सकता है, यह उनकी समझ में नहीं आता।

जहाँ तक प्रान्तीय सरकार का सम्बन्ध है, वहाँ तक मैं दावे के साथ यह कहने के लिए तैयार हूँ कि मेरी यह नीति नहीं है कि अल्प-संख्यक सम्प्रदाय के साथ सरकारी नौकरियों की नियुक्ति के मसले में अधिक से अधिक उदारता का व्यवहार किया जाय। श्री गोविन्दवल्लभ पन्त और उनके सहकारी मंत्री इस मामले में एक मत हैं। उनमें से किसी में साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं है। कांग्रेस खुद भी सरकारी नौकरियों के प्रश्न पर अल्प-संख्यकों के न केवल समुचित अधिकार की रक्षा के लिए तत्पर है, बल्कि वह

नई पुस्तकें

१—दीपक—लेखक, श्रीयुत सूर्यनारायण जैन 'प्रेम', प्रकाशक, श्रीयुत देवदत्त शास्त्री, रानीपुर, इलाहाबाद हैं। पृष्ठ-संख्या ४०, छपाई-सफ़ाई साधारण और मूल्य ।।) है। पता—सेवा प्रेस, हिवेट रोड, इलाहाबाद।

अपनी प्राणवल्लभा (?) छोटी बहन के वियोग में यह काव्य-स्रोत कवि के हृदय से अचानक उमड़ पड़ा है। बड़ी भाग्यशालिनी होगी वह बहन जिसे उसका भाई विरह से व्याकुल होकर सुना रहा है—

"प्रेम गली थीं यह सजनी (?)
अब वस्ती है दीवानों की
प्रणय हेतु यह घूम रहे हैं
देखो कैसे मनमाने ॥
बींध दिया मेरा उर सजनी
नैन बान जब ताने (?)
घायल मन है, घायल तन है,
गति विधि घायल जाने।"
प्रेम पिपासा चातक मैं हूँ
तुम हो स्वाँती बूंद प्रिये।
प्रिया प्रिया (?) की रटन लगाया (?)
प्रणय बूंद के हेतु प्रिये।

कवि जी! इतनी निरंकुशता ठीक नहीं। समाज और संस्कृति भी आखिर कोई महत्त्व रखती ही हैं। इस तरह दीवाना बनना अच्छा न होगा।

२—ओ३म् संकीर्तन—लेखक, स्वामी व्रतानन्द जी आचार्य, गुरुकुल, चित्तौरगढ़, प्रकाशक, वैदिक साहित्य-प्रचारिणी सभा, देहली हैं।

यह १६ पृष्ठ का भद्दी छपाई का ट्रैक्ट प्रचारार्थ एक पैसे में बाँटा जा रहा है।

यह संकीर्तनवादियों के—"हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे" के वज़न पर "ओम् ओम् माता ओम् माता ओम् जप माता ओम्" रचा गया है। गुरुकुलों में आर्य-सामाजिक विद्वान् शायद यही सब पढ़ा रहे हैं! बलिहारी है! आर्य-समाज सचमुच उन्नति कर रहा है!

३—महात्मा जी का महाव्रत—लेखक, श्रीयुत व्योहार राजेन्द्रसिंह, प्रकाशक, महाकोशल हरिजन सेवक-संघ, जबलपुर हैं। पृष्ठ-संख्या १८० है। छपाई गन्दी व काग़ज़ घटिया है। मूल्य नहीं छपा है।

यह पुस्तक महात्मा गांधी के सितम्बर १९३२ के उपवास से संबंध रखती है। उक्त उपवास से संबंध रखने-वाले उनके अन्यान्य वक्तव्यों व लेखों का भी इसमें संकलन कर दिया गया है। सत्य, अहिंसा और अस्पृश्यता-निवारण-इन तीन महाव्रतों की, गांधी जी के द्वारा की हुई व्याख्या समझने की इच्छा रखनेवालों के लिए पुस्तक मननीय है।

४—भारतीय तन्तु-मिल-मज़दूर (भाग पहला)—लेखक, श्रीयुत का० न० रामन्ना शास्त्री, प्रकाशक, सोशलिस्ट-लिटरेचर-पब्लिशिंग-कम्पनी, गोकुलपुरा, आगरा हैं। छपाई साधारण, पृष्ठ-संख्या १२२ और मूल्य ।।) है।

यह पुस्तक लिखी तो कपड़े बुननेवाली मिलों के मज़दूरों के दृष्टि-कोण से गई है, पर इसमें वस्तुतः प्रामाणिक आँकड़ों व खोजपूर्ण विवेचनाओं के साथ भारत में मज़दूर-आन्दोलन का पूरा इतिवृत्त दिया गया है। साथ ही फैक्टरी-क़ानून तथा मज़दूरों पर होनेवाले उसके घातक कारनामों का भी इसमें प्रामाणिक विवरण दिया गया है। मज़दूर नेताओं के अलावा देश-प्रेमियों के लिए भी पुस्तक पठनीय एवं मननीय है।

५—हमारे देश में सामाजिक संगठन—लेखक, डाक्टर अशरफ़, प्रकाशक, श्रीयुत रघुनाथदास पुरुषोत्तमदास अग्रवाल, चूना-कंकड़, मथुरा हैं। छपाई मामूली, पृष्ठ-संख्या २२ और मूल्य –)॥ है।

समाजवादियों की दृष्टि में संसार की समस्त पुरातन व्यवस्थायें आर्थिक आधार पर अवलम्बित हैं। इस पुस्तक में भी इसी दृष्टि-कोण से भारतवर्ष के सामाजिक संगठन पर

विचार किया गया है। मार्क्सवाद के प्रचार में यह पुस्तक अच्छी सहायता देगी।

६—वाणी-निबन्ध-मणिमाला—लेखक, व प्रकाशक, कर्णवीर पंचभाषा-भाषी, त्रिभाषा-विशेषज्ञ श्रीयुत नागेश्वरराव, संस्कृत-मनीषी, हिन्दीभवन जाण्ड्रपेट, पोस्ट चीराला, ज़िला गंटूर हैं। छपाई भद्दी, काग़ज़ गन्दा और पृष्ठ-संख्या ७६ है। मूल्य छपा नहीं।

इसमें लेखक महोदय के विविध विषयों पर लिखे गये कुछ निबंध संगृहीत हैं। एक में अष्टम एडवर्ड की प्रशंसा है तो एक में जवाहरलाल की। विद्या-विवेक और 'खादी प्रचार' पर भी एक-एक लेख है। प्रथमा परीक्षा के परीक्षार्थी इस पुस्तक से कुछ लाभ उठा सकते हैं। "संस्कृत-सहायेन हिन्दी भवति, विना संस्कृत हिन्दी का भाषा वर्त्तते।"—आदि वाक्य लेखक महोदय के दिमाग़ी दिवा-लियापन के परिचायक हैं।

७—मांसाहार-विचार—लेखक, पंडित ईश्वरलाल जैन, प्रकाशक, श्रीयुत चाँदाराम जैन, श्री आदर्श ग्रन्थमाला, मुलतान सिटी हैं। छपाई साधारण, पृष्ठ-संख्या ९० और मूल्य ≡) है।

इसमें मांसाहार के विरुद्ध अनेक शास्त्र-वचन, कथायें व प्रमाण संग्रह किये गये हैं। निरामिषता-प्रचार के लिए यह पुस्तक सहायक हो सकती है।

८—क़ब्ज़ या कोष्ठबद्धता—लेखक व प्रकाशक, डाक्टर बालेश्वरप्रसादसिंह, प्राकृतिक स्वास्थ्य-गृह, ३०, बाई का बाग़, प्रयाग हैं। छपाई-सफ़ाई अच्छी, पृष्ठ-संख्या ६० और मूल्य ।) है।

इसमें रोगों की जननी कोष्ठबद्धता को दूर करने के लिए विविध आसनों का प्रयोग समझाया गया है। आवश्यक चित्र दे देने से विषय खूब स्पष्ट हो गया है और पुस्तक की उपादेयता बढ़ गई है। इस विषय के प्रेमियों को इस पुस्तक से लाभ उठाना चाहिए।

९—वृन्दावन-पथप्रदर्शक—लेखक, आचार्य अद्वैत-कुमार गोस्वामी, प्रकाशक, श्री गौरांग क्लब, वृन्दावन, हैं। छपाई, साधारण, पृष्ठ-संख्या २६ और मूल्य –)॥ है।

इसका विषय नाम से स्पष्ट है। पुस्तक वृन्दावन-धाम के यात्रियों के लिए उपयोगी है।

१०—दृगजल—लेखक, कुमार सोमेश्वरसिंह बी० ए०, एल-एल० बी०, प्रकाशक, हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग हैं। छपाई-सफ़ाई उत्कृष्ट, पृष्ठ-संख्या ७५ और सजिल्द पुस्तक का मूल्य ।।।) है।

कुमार जी हिन्दी के उदीयमान कवि हैं। प्रस्तुत पुस्तक में आपकी ६० कवितायें संगृहीत हैं, जिनके विषय हैं 'प्रेम' और 'रोमांस'। सुख और ऐश्वर्य की गोद में पले हुए नवयुवक कवि से आशा भी यही की जा सकती थी। कवितायें सब भावपूर्ण व सुन्दर हैं।

११—त्रिपुरी का इतिहास—लेखक, श्रीयुत व्योहार राजेन्द्रसिंह और विजयबहादुर श्रीवास्तव, प्रकाशक, मानस-मन्दिर, जबलपुर हैं। पृष्ठ-संख्या २२४ और मूल्य १।।) है।

कांग्रेस का पिछला अधिवेशन त्रिपुरी में हुआ था। फलतः त्रिपुरी का भाग्योदय हो गया। कवियों ने और सुलेखकों ने उसका वर्णन करके अपने को धन्य माना। परन्तु यदि कांग्रेस वहाँ न होती तो? ख़ैर, इस सचित्र पुस्तक में मौर्य-काल से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक का त्रिपुरी के निकटवर्ती राज्यों का प्रामाणिक तथा गवेषणा-पूर्ण इतिहास दिया गया है। ऐतिहासिक सामग्री का संकलन बृहत् तथा पाण्डित्यपूर्ण है! अँगरेज़ी के कई इतिहासों का हवाला दिया गया है। स्थान स्थान पर लेखक महोदयों के परिश्रम का परिचय मिलता है। राजनैतिक, साहित्यिक तथा सामाजिक आदि सभी विषयों की यथास्थान चर्चा की गई है। इसमें कलचुरि-सम्राट् कर्णदेव (१०४१-७३) का इतिहास महत्त्वपूर्ण है! स्वर्गीय डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल तथा डाक्टर राखालदास बन्द्योपाध्याय ने कर्णदेव को संसार के वीरों का अग्रणी कहा है। इस तथ्य की लेखक महोदयों ने भी पुष्टि की है। इस पुस्तक के पढ़ने से त्रिपुरी के प्राचीन इतिहास की पूरी जानकारी होती है। प्राचीन इतिहास के प्रेमियों को इसका संग्रह करना चाहिए।

१२—सेठ गोविंददास (जीवनी)—लेखिका, श्रीमती रत्नकुमारी देवी 'काव्यतीर्थ' हैं। प्रकाशक, महाकोशल साहित्य-मन्दिर, जबलपुर हैं। मूल्य १।) और पृष्ठ-संख्या १६४ है।

सेठ गोविन्ददास जी महाकोशल के एक रत्न हैं। आपका अधिकांश समय साहित्य-सेवा में व्यतीत होता है।

आप सुप्रसिद्ध राजा गोकुलदास के पौत्र हैं। असहयोग-आन्दोलन के समय आपने अपनी करोड़ों की सम्पत्ति त्याग दी और स्वतंत्ररूप से व्यापार करने लगे। तब से आपने आजीवन देशसेवा करने का कठिन व्रत ग्रहण किया है। सन् १९२६ से आप कौंसिल आफ़ स्टेट के एक प्रमुख और बड़े सजग सदस्य हैं। हाल में आपने विदेशी भारतवासियों से भी सम्पर्क पैदा किया है और उनकी कठिनाइयों को दूर करने का उद्योग कर रहे हैं। यह सब करते हुए भी आप अपनी साहित्य-सेवा में भी पूर्ववत् लगे रहते हैं।

इस पुस्तक में आपकी ही यह सब जीवनी लिखी गई है। और उसे लिखा है आपकी विदुषी पुत्री ने। जिस प्रकार बीटी बालफ़र ने अपने पिता लार्ड लिटन की जीवनी लिखी है, उसी भाँति श्रीमती रत्नकुमारी ने भी सेठ गोविन्ददास की जीवनी लिख कर प्रशंसनीय आदर्श उपस्थित किया है। शैली सरल तथा रोचक है।

१३—**परलोक की कहानियाँ**—लेखक, श्रीयुत जगतनारायण बी० एस०-सी०, प्रकाशक, डायमंड जुबिली थियोसाफ़िकल पब्लिशिंग हाउस, पटना हैं। पृष्ठ-संख्या ४०८ और मूल्य २॥) है।

ये कहानियाँ किसी पौराणिक या वैज्ञानिक आधार पर नहीं लिखी गई हैं। अँगरेज़ी में पारलौकिक कहानी-साहित्य की भरमार है। उन्हीं में से प्रसिद्ध कहानी-लेखक ए० पी० सिनेट तथा बिशप लीडबीटर की कहानियों का अनुवाद इस पुस्तक में संकलित कर दिया गया है। साथ-साथ हिन्दू-धर्मशास्त्रों और दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्तों की सहायता भी ली गई है। लेखक का अभिप्राय आधुनिक सुधारवादी साहित्य का निर्माण करना है।

भाषा शिथिल है। जो कहानियाँ स्वतंत्र रूप से लिखी गई हैं उनमें लेखक की कल्पना-शक्ति का आभास मिलता है। पुस्तक पाठकों को कहाँ तक रुचिकर होगी, कहना कठिन है।

१४—**रूस**—लेखक, श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ दुबे बी० ए०, प्रकाशक, रस्तोगी ब्रादर्स बुकसेलर पब्लिशर, जयपुर हैं। पृष्ठ-संख्या १२८ और मूल्य ।।।) है।

इस पुस्तक में बोलशेविक रूस का सर्वजनोपयोगी वर्णन है। प्राकृतिक दशा के परिचय के अलावा प्राचीन रूसी साम्राज्य के विनाश और आधुनिक मार्क्सवादी रूसी प्रजातंत्र का संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। वर्तमान रूसी शासन-पद्धति की रूप-रेखा खींची गई है। वहाँ के जेल-जीवन की प्रशंसा की गई है। अन्त में रूस की सामाजिक विशेषतायें दी गई हैं, जैसे स्त्री-पुरुष का अस्थायी सम्बन्ध, बच्चों का सामूहिक रहन-सहन, रूस में उद्योग-धन्धों की प्रधानता तथा शिक्षा-प्रचार के अनेक वैज्ञानिक उपाय! रूसी विचार-धारा से भारतवर्ष कितना प्रभावित हुआ है, इस सम्बन्ध में श्री बरकतउल्ला तथा कामरेड मानवेन्द्रनाथ राय के उद्योगों का हवाला भी दिया गया है।

पुस्तक सचित्र है। विद्यार्थियों के काम की है। लेखक महोदय ने इस पुस्तक में ट्राटस्की के साथ अन्याय किया है। यह अँगरेज़ लेखकों के प्रभाव का एक बुरा उदाहरण है। इस पुस्तक के लिखने में सिडने वेब और बीयट्रिस वेब की किताब का सहारा लिया गया है। मौलिकता का अभाव होते हुए भी हिन्दी-पाठकों के लिए यह रूस-सम्बन्धी एक उपयोगी पुस्तक है।

१५—**जम्बू स्वामी चरित्र**—टीकाकार, श्री ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद जी, प्रकाशक, श्रीयुत मूलचन्द किशनदास कापड़िया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत हैं। पृष्ठ-संख्या २१३ और मूल्य १।) है।

अकबर के समकालीन पंडित राजमल्ल रचित 'जम्बू स्वामी चरित्र' की इस पुस्तक में रोचक टीका है। मूलभाव की सर्वत्र रक्षा की गई है। जम्बू स्वामी मगध-नरेश श्रोणिक के समकालीन थे। राजगृह उस समय सभ्यता का केन्द्र था। सारा नगर प्रासादों और शिखरों से सुशोभित था। श्रोणिक और रानी चेतना के चरित्र अद्वितीय थे तथा समाज में स्त्रियाँ बड़ी आदरणीय थीं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुस्तक उपयोगी है। अकबर के चरित्र की व्याख्या है; आगरा नगर के ऐश्वर्य का वर्णन और अलीगढ़ के धनिक टोडरमल की असाधारण योग्यता, साधु-चरित्र तथा विद्या-प्रेम का परिचय है। राजमल्ल ने यह जीवनी टोडरमल के अनुरोध से लिखी थी। जम्बू स्वामी वैश्यपुत्र थे, वीरों में अग्रणी और सिद्ध वैरागी थे। कठिन तपस्या के बाद उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ और उन्होंने अनेक धार्मिक उपदेश दिये। पुस्तक जैन वैश्यों के मनन योग्य है।

टीका अच्छी है। पर छपाई ख़राब है। कहीं कहीं पर पृष्ठ के पृष्ठ ग़ायब हैं।

१६—**जैन वीरों का इतिहास**—लेखक, श्रीयुत कामताप्रसाद जैन, प्रकाशक, जैन मंत्रि-मण्डल, धर्मपुरा, देहली हैं। पृष्ठ-संख्या ८६ और मूल्य ।) है।

इस पुस्तक में ऋषभदेव, महावीर, सम्राट् अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त मौर्य और कई तत्कालीन व्यक्तियों का संक्षिप्त वर्णन दिया गया है। साथ ही समस्त भारतवर्ष में फैले हुए जैन-धर्म के अनुयायियों का भी सिलसिलेवार उल्लेख किया है। पुस्तक प्रामाणिक नहीं है। ऊल-जलूल बातों की भरमार है। महावीर को एक प्रजातंत्रवादी राजनीतिज्ञ तथा सत्याग्रह-आन्दोलन का जन्मदाता कहा है और महात्मा गांधी को महावीर का अनुयायी ठहराया है। पुस्तक में यह सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया गया है कि सभी जैन मतावलम्वी बड़े वीर और उत्साही शासक थे। अशुद्धियों की भरमार है। चार पृष्ठों में केवल शुद्धि-पत्र दिया गया है।

१७—**जैन-धर्म**—लेखक, मुनिराज श्री विद्याविजय जी हैं। प्रकाशक, श्रीयुत दीपचन्द बाँठिया, श्री विजय-धर्म सूरि-ग्रन्थमाला, उज्जैन (मालवा) हैं। पृष्ठ-संख्या १५९ और मूल्य =) है।

पुस्तककार का अभिप्राय जैन-धर्म-सम्बन्धी अनेक किंवदन्तियों को दूर करना है। जैन-धर्म वास्तव में महाभारत से प्राचीन है, क्योंकि ऋषभावतार का ज़िक्र महाभारत में है। लोकमान्य तिलक तथा जर्मन जैकोबी का भी यही मत है। इसलिए जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में कोई सन्देह नहीं। महावीर स्वामी का चरित्र तथा जैन-धर्म के सिद्धान्तों का इस पुस्तक में विश्लेषण किया गया है। दया, पुण्य, आस्तिक्य तथा तपस्या की विशेष रूप से व्याख्या की गई है। जैन-धर्म-सम्बन्धी तत्वज्ञान के अनन्तर गृहस्थ-जीवन के नियम दिये गये हैं। पुस्तक जैन-धर्म के प्रचारार्थ लिखी गई है। भाषा सरल है। जैनियों के काम की है।

—भवनाथ वाजपेयी, एम० ए०

१८—२१ लीडरप्रेस, इलाहाबाद की चार पुस्तकें—

(१) **क्रान्ति-चक्र**—अनुवादक, श्रीयुत राधेश्याम शर्मा एम० ए० हैं। पृष्ठ-संख्या २७४ और मूल्य १।) है। काग़ज़ मैला और कमज़ोर, पर छपाई साफ़ है।

यह पुस्तक श्रीयुत टी० एफ़० ओडनल के उपन्यास 'हील्स आफ़ रेव्यूल्युशन' का हिन्दी रूपान्तर है।

यह उपन्यास बहुत कुछ ई० एम० फ़ार्स्टर के 'ए पैसेज टू इंडिया' के ढंग का है, क्योंकि इसमें भी लेखक ने भारत और ब्रिटेन के विद्वेष का मूल कारण यही बताया है कि दोनों में एक-दूसरे को सहानुभूति-पूर्वक समझने का अभाव है। इस विषय में हमारा भारी मतभेद हो सकता है; पर उपन्यास रोचक है। अनुवाद की भाषा अच्छी है।

(२) **समाज के स्तम्भ**—अनुवादक, श्रीयुत लक्ष्मीनारायण मिश्र बी० ए० हैं। पृष्ठ-संख्या १९६ और मूल्य १) है।

यह हेनरिक इब्सन के 'पिलर्स आफ़ सोसाइटी' नामक नाटक का अनुवाद है।

विचारों को उत्तेजन देनेवाले समस्यामूलक नाटक लिखनेवालों में इब्सन का प्रमुख स्थान है। हिन्दी के नाटककारों को उनसे बहुत कुछ प्रेरणा और शिक्षा मिल सकती है। अनुवादक स्वयं एक नाटककार हैं; अतः उन्होंने अनुवाद करने में काफ़ी सफलता प्राप्त की है। फिर भी, भाषा में कहीं कहीं विदेशीपन और अस्वाभाविकता दिखाई देती है। जैसे—

"आज-कल हमारे छोटे रोज़गार का छत्ता ऐसे नैतिक आधार पर स्थित है, ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए—हम सबने इसके लिए उद्योग किया है, अगर मैं कह सकूँ और हम लोग अपनी अपनी शक्ति भर यह करते ही रहेंगे।"

शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद के अनिवार्य दुर्गुण इस उद्धरण में स्पष्ट हो जाते हैं।

(३) **गुड़िया का घर**—अनुवादक, श्रीयुत लक्ष्मीनारायण मिश्र बी० ए० हैं। पृष्ठ-संख्या १९४ और मूल्य १।) है।

यह हेनरिक इब्सन के एक दूसरे नाटक 'डोल्स हाउस' का हिन्दी रूपान्तर है।

इस अनुवाद में भी वे सारे गुण-दोष हैं जो 'समाज के स्तंभ' में। छपाई सफ़ाई अच्छी है।

(४) **तुलसीदास**—लेखक, श्रीयुत सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' हैं। पृष्ठ-संख्या ५३ + ३८ है और मूल्य एक रुपया है। छपाई-सफ़ाई उत्कृष्ट है।

यह पुस्तक निराला जी की शायद अब तक की अंतिम रचना है। पुस्तक दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में काव्य है और दूसरे में उसकी स्वयं कवि-कृत व्याख्या।

दन्तकथाओं के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास का
जीवन-वृत्त प्रचलित है, उसी को निराला जी ने अपनी
र कल्पना की आँच में गला कर कविता के रूप में ढालने
प्रयास किया है। पर इसमें तुलसी का समस्त जीवन-
नहीं है और न उनके समस्त जीवन-कर्मों को समझने
चेष्टा है। प्रथम दस छंदों में मुस्लिम संस्कृति के घातक
ाव का वर्णन करके कवि तरुण, शिक्षित, सुसंस्कृत
सीदास को चित्रकूट ले जाता है। वहाँ तुलसी को
वतः प्रकृति-दर्शन से भारत के सांस्कृतिक विनाश का
श तथा उसके उद्धार की प्रेरणा मिलती है। परन्तु
दरी पत्नी का ध्यान उन्हें विलासमय जीवन की ओर से
ने नहीं देता। इसके बाद 'रत्नावली' वाली उस प्रसिद्ध
ना का वर्णन है जिसने तुलसी के जीवन की गति को
री दिशा में मोड़ दिया। संभवतः इस काव्य में निराला
ने तुलसी की वैराग्य-भावना के आदि-स्रोत का उद्घाटन
ने की कोशिश की है। परन्तु निराला जी की तथाकथित
जगुण-पूर्ण शैली के अतिरिक्त इस वृत्त में प्रियादास की
तमाल की टीका से कोई विशषता नहीं दिखाई देती।
व्य का जो कुछ रहस्यपूर्ण सौन्दर्य होगा वह भी संभवतः
ाली शैली और भाषा की दुरूहता के आवरण में बुरी
ह छिप गया है।

निराला जी स्वच्छंद और निर्द्वन्द्व कवि हैं—भाषा
र व्याकरण के लौकिक बन्धनों से मुक्त! फिर भी
ा लगता है कि कदाचित् वे अपनी बातें औरों को भी
ाना चाहते हैं, इसी लिए प्रत्येक पद्य का भाव स्पष्ट करने
लिए उन्होंने पीछे से ३८ पृष्ठ की व्याख्या भी जोड़ दी है।
सवीं सदी के हिन्दी-कवि को यह आवश्यक जान पड़ा कि
ि अपने काव्य की व्याख्या स्वयं कर डालनी
ाहिए! व्याख्या के अनुरोध से हम थोड़ी देर के लिए
न भी लें कि 'भारत के नभ का प्रभापूर्ण शीतल
ा देनेवाला सांस्कृतिक सूर्य अस्त हो गया' पर 'तमस्तूर्य
ङ्मण्डल' की यह व्याख्या कि—'दिशायें अंधकार की
ही बजाने लगीं, एकदम निराली है। तम और सूर्य में
ा-सा सादृश्य था जो कवि की कल्पना तम का प्रत्यक्षी-
रण कराने के लिए 'तुरही' बजाने लगी? और यदि
वि से यह पूछा जाय कि इस वाक्य की क्रिया वह कहाँ से
ले आया तो शायद उसे कवि परम्परा से प्राप्त विशेषाधिकार
की दुहाई देनी पड़ेगी। इसी पद्य के आगे की पंक्तियों का
अन्वय शायद इस प्रकार होगा—'शिरस्त्राण मुसलमान
उर के आसन पर शासन करते हैं', व्याख्याकार कवि कहता
है कि इसे यों समझो—'जिन मुसलमानों को शिरस्त्राण
की तरह शासन करना चाहिए, वे उर के आसन पर शासन
करते हैं।' ठीक है, थोड़ी देर के लिए आपकी ही व्याख्या
सही। पर महाशय उर पर शासन करना तो शासकों की
लोक-प्रियता का व्यंजक है! हमारे कवि को मुहावरों की
भी उतनी ही परवा है, जितनी व्याकरण की। "है ऊर्मिल
जल; निश्चल दर्पण पर शतदल" की व्याख्या में कवि बताता
है कि जल उपमान का उपमेय है भारतीय जीवन और कमल
उसका प्रतीक है। इस प्रकार की रूपकातिशयोक्ति सूर
के दृष्टिकूटों से भी अधिक गूढ़ है।

इतना परिश्रम और कल्पना का व्यभिचार सहने के
उपरान्त सहसा मन में प्रश्न होता है कि आखिर इतना
परिश्रम किसलिए किया जाय? कवि ने किस काव्य-
सौन्दर्य का उद्घाटन किया है? किस नवीन रहस्य-
मय सिद्धान्तों का प्रतिपादन है? भाषा की बानगी
हम ऊपर देख ही चुके हैं। इसकी खड़खड़ाहट में कोमल
भावों को ढूंढ़ने की चेष्टा करना कवि के साथ अन्याय
होगा। यदि उनके 'खर-शरता' और असंगत दार्शनिक
विचारों में भावुकता कहीं झाँकने भी लगती है तो
कवि उसे लाक्षणिकता तथा उच्छृङ्खल-सामासिकता
के थपेड़ों से धमका कर भगा देता है।

आशा यह थी कि अपने प्रौढ़काल में निराला जी ऐसी
रचनायें रचेंगे जो केवल 'कला' के लिए न होकर पाठकों के
लिए भी होंगी; परन्तु उनकी इस रचना से हमें निराश ही
होना पड़ रहा है। स्वाभाविक कविता और वस्तु है तथा
पांडित्य-प्रकाशन की थोथी भावना दूसरी। दोनों का
साथ-साथ निर्वाह कैसे हो सकता है? सब मिला कर
पुस्तक लन्दन के अजायबघर में रखने योग्य बन गई है,
जो वहाँ रक्खी-रक्खी बीसवीं सदी के इस "सर्वश्रेष्ठ"
"महाकवि" की योग्यता का परिचय आनेवाली पीढ़ियों
को देती रहेगी। हिन्दी-संसार में तो इसके पढ़ने-समझने-
वाले शायद ही दो-चार निकलें।

—ब्रजेश्वर

आतिथ्य

लेखक, श्रीयुत भदन्त आनन्द कौसल्यायन

से जीवन-पथ पर, वैसे ही साधारण सड़क पर, आदमी के लिए अकेले चलना कठिन है। कोई ठहर कर किसी पीछे आनेवाले का साथी हो लेता है, कोई चार क़दम तेज़ चलकर आगे जाने-वाले का।

महाकवि ने गाया है—

"यदि तोर डाक शुने केउ न आसे
तबे एकला चल रे! एकला चल रे!"

अर्थात् यदि तेरी आवाज़ सुनकर कोई साथ नहीं आता तो अकेला चल! अकेला चल। लेकिन मुझे उस दिन किसी को आवाज़ देने की भी फ़ुर्सत नहीं थी; किसी साथी की आशामयी प्रतीक्षा में मैं ज़रा दम लेने के बहाने भी न ठहर सकता था। कारण? उस दिन मेरे सिर पर भूत सवार था। मैंने निश्चय किया था, अपनी चलने की सामर्थ्य की परीक्षा करने का। चलना तो उन दिनों मेरा रोज़ का काम था; लेकिन मैं जानना चाहता था कि एक दिन में मैं ज़्यादा से ज़्यादा कितना चल सकता हूँ।

कहना न होगा कि अपना सामान मैं खुद उठाये था। कन्धे पर एक हलका कम्बल और हाथ में टीन की एक छोटी बाल्टी। इनके अलावा कोई गज़ डेढ़ गज़ का खद्दर का एक टुकड़ा, जो धूप लगने पर छतरी का काम देता, नहाने के समय धोती का, भिक्षा माँग कर खाने के समय पात्र का और सोने के समय बिस्तरे का। हाँ, कोई चीज़ बाँध कर ले चलने के समय सूट-केस का भी काम वही देता था।

रास्ते चलते प्यास लगती। कुछ देर ठहर कर पानी पीना चाहिए, साधारण नियम है। मैं इस नियम का पालन कहीं नहीं करता। पानी मिलते ही पी लेता और चल देता। एक बार सन् १९२२ के कांग्रेस-आन्दोलन के दिनों में मैं और मेरा एक साथी तीन घंटे में अठारह मील दौड़ कर गिरते-पड़ते कांग्रेस की एक मीटिंग में इस उद्देश्य से पहुँचे थे कि कहीं हमारी अनुपस्थिति के कारण सिविल-नाफ़रमानी' का प्रस्ताव पास होने से न रह जाय! उस दिन की यादें थी। मैं भागा जा रहा था। अफ़सोस यही था कि दिन सर्दियों के थे, जो सभी धातुओं की तरह सुकड़ कर काफ़ी छोटे हो गये थे। गर्मी में तो चलने की बहार रात में रहती है; और कहीं चाँदनी रात हुई तो ऐसा मज़ा आता है, जैसा चन्द्रिका की छटा में ताजमहल की परिक्रमा करने में। लेकिन सर्दी में सूरज का डूबना और यात्री की शामत आना-दोनों बातें एक साथ होती हैं और ख़ासकर ऐसे यात्री की जिसके पास ओढ़ने को पर्य्याप्त कपड़े न हों, रात काटने का कहीं ठिकाना न हो, भरोसा हो तो सिर्फ़ 'ईश्वर' का।

रास्ता चलते लोगों से मैं पूछता—"क्यों भाई! आगे कोई ठहरने लायक़ गाँव है?" लोग किसी गाँव का नाम बतलाते। मैं वहाँ न ठहरता। यही लालच था कि दो-चार मील और हो जायँ। आगे एक क़स्बे का पता लगा। सोचा, आज वहाँ तक तो ज़रूर पहुँचेंगे। रात हो चली थी। चलने की गर्मी में सर्दी लग तो नहीं रही थी, लेकिन पड़नी शुरू हो गई थी। और उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। तब भी उस क़सबे तक पहुँचने की धुन थी। इसके सिवा दूसरा चारा भी क्या था? कोई दूसरी बस्ती भी आस-पास हो? वही एक बस्ती थी—वह भी पता लगा कि मुसलमानों की। एक पहाड़-सा टूट पड़ा। क्यों न टूट पड़ता, जब मुझे बचपन से यह शिक्षा मिली थी कि मुसलमानों का न केवल धर्म हमसे भिन्न है, बल्कि समाज भी। पहले तो मैं किसी मुसलमान का दरवाज़ा खटखटाने का साहस ही कैसे करता, और यदि साहस करता तो क्या आतिथ्य पाने की आशा रख सकता था?

किसी ने बताया कि उस क़स्बे में एक हाई स्कूल है. उसके हेड मास्टर हैं एक जैनी। बस क्या था! जान में जान आई। धर्मशालायें बनवाने में किनका अव्वल नम्बर है? जैनियों का। मन्दिरों के बनवाने में कौन पहली पंक्ति में खड़े होंगे? जैनी। इस तरह की बातें रास्ते भर मन में आती रहीं और मैंने सोचा कि यदि मिलेगा तो गरमागरम पानी से पैर धोऊँगा। हो सकता है, गरम तेल

...क दुखिया को दूसरे दुखिया से होती है, वह अन्धा ...बातें सुनता रहा। राम-कहानी खत्म हुई तब अँधेरे ...टोलते हुए उसने पूछा--

"कहाँ हैं तुम्हारी टाँगें? उन्हें ज़रा दबा दूं।"

मैंने कहा—"न यार! रहने दो।"

"अच्छा, यह बताओ तुम्हारे पास कोई कपड़ा है?"

"है।"

"कहाँ है? मुझे दो।"

मेरे पास वही एक साफ़ा था—गज़-डेढ़ गज़ का टुकड़ा। मैंने दे दिया। अन्धे ने अपने हाथों से मेरी टाँगों को टटोला और नीचे से ऊपर तक कस कर बाँध दिया। उसने कहा—"अब थोड़ी देर ऐसे ही बैठे रहो।" गहरी सहानुभूति दिखानेवाले की आज्ञा का उल्लङ्घन आसान नहीं होता। मैं मूर्तिवत् बैठा रहा। थोड़ी देर के बाद उसने मेरी टाँगें खोल दीं। रुका हुआ खून तेज़ी से दौड़ने लगा। मालूम हुआ थकावट जाती रही। बातें करते-करते नींद आ गई। सुबह उठा तब देखा मेरा साथी मुझसे पहले ही उठकर चला गया है।

स्पेन में जनरल फ्रेंको की सफलता का आधार

जाग्रत नारियाँ

सह-शिक्षा की समस्या

लेखिका, श्रीमती विद्युत्तमा मिश्र

अब तक जितनी लड़कियाँ उच्च शिक्षा पा चुकी हैं उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि कालिजों में पढ़ाये जानेवाले विषयों में से ऐसा एक भी विषय नहीं है जिसके लिए लड़कियाँ लड़कों से कम उपयुक्त समझी जायँ। भारतीय विश्वविद्यालयों के विगत कुछ सालों के कैलेण्डरों के पन्ने उलटने पर हमें पता लगता है कि अच्छे संयोग लड़कों और लड़कियों को एक से ही प्राप्त हुए हैं, असाधारण प्रतिभा का प्रश्न दूसरा है, पर साधारण रूप से कुछ अपवादों को छोड़कर दोनों की योग्यता में विशेष अन्तर नहीं।

बात यह है कि शरीर-रचना में थोड़ा-बहुत अन्तर रहते हुए भी मस्तिष्क-रचना में स्त्री व पुरुषमें कोई अन्तर नहीं है। इसी लिए जिस विषय में लड़के व्युत्पत्ति दिखला सकते हैं, उसी में लड़कियाँ भी चोटी के नंबर पा सकती हैं। भले ही शिक्षा-विभाग की ओर से उन्हें कुछ विषयों के पढ़ने से रोक दिया जाय या प्रतियोगिता की परीक्षाओं में उन्हें अवसर न दिया जाय। अब यह प्रमाणित हो चुका है कि लड़कियाँ भी उच्च-शिक्षा पाने का उतना ही अधिकार रखती हैं जितना कि लड़के; पर लड़कियों का पाठ्यक्रम क्या रहना चाहिए इसके सम्बन्ध में कोई स्पष्ट और सुलझी हुई योजना संसार के सामने भी नहीं है, फिर हमारे देश के सामने तो हो ही कहाँ से सकती है। पाठ्यक्रम के प्रश्न के साथ ही सह-शिक्षा के प्रश्न का जन्म होता है।
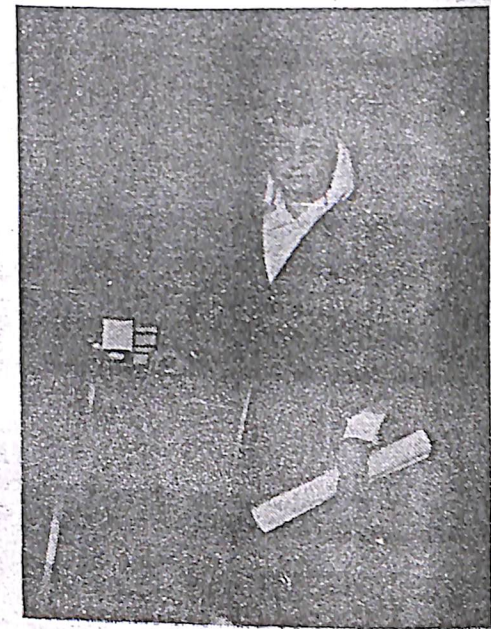
[कुमारी ज्योतिर्मयी वसु, आपको कलकत्ता-विश्वविद्यालय से एम० ए० (प्राचीन भारतीय इतिहास) में प्रथम श्रेणी में प्रथम उत्तीर्ण होने के उपलक्ष्य में यूनीवर्सिटी स्वर्णपदक दिया गया है।]

अभिप्राय यह है कि यदि लड़कियों और लड़कों को एक जैसे विषय ही पढ़ाये जायँ तो उनके लिए पृथक्-पृथक् शिक्षा-संस्थायें खोल कर देश के ऊपर दोगुना व्यय लादने की ज़रूरत ही क्या है? क्यों न एक ही संस्था में दोनों पढ़ें। साथही

[अमेरिका के विश्व-विद्यालयों में शिक्षित 'मेडम चांगकाई शेक' जो अपने पति जरनल चांगकाई शेक का दाहिना हाथ बनी हुई हैं।]

एक कठिन प्रश्न और सामने आता है। पुरुष शिक्षा में अधिक बढ़े चढ़े हैं। उनमें योग्य से योग्य शिक्षक मौजूद हैं जो उच्च से उच्च शिक्षा का कार्य योग्यतापूर्वक चला सकते हैं; पर उच्च शिक्षित महिलाओं की संख्या न केवल हमारे देश में, बल्कि संसार भर में अभी उँगलियों पर गिनी जाने लायक़ है। भले ही एक देश में एक-दो स्त्री-संस्थायें ऐसी बनाई जा सकें जिनमें लड़कियों को उच्च शिक्षा की सुविधा प्राप्त हों, पर अधिक की आशा हम नहीं कर सकते। पर इधर लड़कियों में उच्च शिक्षा के प्रति जो उत्कट अनुराग उत्पन्न हो रहा है उसे देखते हुए एक दो कन्या-महाविद्यालयों और कन्या-गुरुकुलों से तो यह काम पूरा नहीं होने का। इसके लिए कमोबेश उतने ही गुरुकुलों और विश्वविद्यालयों की ज़रूरत है, या निकट भविष्य में हो जायगी, जितनी कि लड़कों के लिए है। यह योजना किसी भी देश की आर्थिक शक्ति से बाहर है। कौन इतना ख़र्च उठा सकता है।

यदि लड़कों और लड़कियों की शिक्षा में आमूल पृथकता कर दी जाय और उनके शारीरिक विभेद को माइक्रस्कोप से लाख गुणा बढ़ाकर देखते हुए कहा जाय कि लड़कियों को सुगृहिणी बनने की आवश्यकता है, जज मजिस्ट्रेट और पार्लमेंट का मेम्बर बनने की नहीं, तो बात दूसरी है। इसके लिए सचमुच बालक-विद्यालय और बालिका-विद्यालय पृथक्-पृथक् खोलने पड़ेंगे। लड़के अपने विद्यालयों में गणित, विज्ञान आदि की उच्च से उच्च शिक्षा की ओर अग्रसर होंगे; वहाँ लड़कियाँ सिलाई, बुनाई और क़सीदे के कामों में अपनी दृष्टि का व्यायाम करेंगी। या रोटी पकाने के नये-नये तरीक़े सीखेंगी। इस प्रकार सामाजिक जीवन में पूर्णता लाने के उद्देश्य से शिक्षा-फल को दो फाँकों में बाँट दिया जायगा। और वे एक वस्तु के दो भाग रहने पर भी शिक्षा-विभेद के कारण रूप-रेखा में पश्चिमी व पूर्वी गोलार्द्धों की भाँति अलग-अलग हो जायँगे। पर आधुनिक युग की लड़की इसे पसन्द करेगी कि नहीं, इसमें सन्देह है। वह किसी बात में अपने को पुरुष से पीछे नहीं देखना चाहती।

[डाक्टर कुमारी पद्मावती बाई सिन्धे—आप भुसावल म्यूनिसपलिटी की उपाध्यक्षा निर्वाचित हुई हैं।]

फिर वह कैसे स्वीकार कर लेगी कि उसे तो शिशु-पालन, क़सीदा और चक्की-चूल्हे की शिक्षा में बाँध दिया जाय और लड़के इन विषयों से मुक्त रहकर विज्ञान-और साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त करें।

सह-शिक्षा का प्रश्न इसी कारण अधिक से अधिक जटिल होता जा रहा है। यद्यपि इसके पक्ष-विपक्ष में और भी छोटी मोटी दलीलें पेश की जाती हैं। जिनका उल्लेख मैं आगे चलकर करूँगी।

आधुनिक युग की लड़की अनुचरी और गृहिणी बनने के लिए विशेष उत्सुक नहीं है। वह तो सहचरी और सखी बनना चाहती है। वह चाहती है कि विवाहित जीवन में वह अपने पति के सभी कामों में सहायता दे सके। इस शताब्दी में गृह-प्रबन्ध और व्यवस्था तो साधारण बात हो गई है। इसके लिए किसी लड़की को लम्बे समय तक शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। आज की लड़की चाहती है कि उसे भी यह सिखाया जाय कि हवाई आक्रमण और ज़हरीले गैसों से वह अपने परिवार को किस प्रकार बचा सकती है। उसे जानना चाहिए कि शत्रु के विनाशकारी साधनों का मुक़ाबिला कैसे करना चाहिए। घर की सफ़ाई की अपेक्षा उसे शहर की सफ़ाई के नये-से-नये ढंग सीखने में अधिक रुचि है और वह चाहती है कि उसे भी व्यवस्थापिका सभाओं में जाने, मन्त्रि-पद का उत्तर-दायित्व निबाहने और क़ानून बनाने का अवसर दिया जाय। क्या कोई कन्यागुरुकुल उसकी इस इच्छा की पूर्ति कर सकेंगे? क्या किसी राष्ट्र की आर्थिक दशा इतनी सम्पन्न हो सकती है कि वह लड़कों और लड़कियों की शिक्षा के लिए पृथक्-पृथक् समान संस्थाएँ खोल सके? यदि नहीं हो सकती तो लड़कियाँ भी उन्हीं विश्वविद्यालयों में पढ़ेंगी; और भले ही उनके इस कार्य को कोई महात्मा 'जूलियट' का काम समझें, लड़कों से प्रतिस्पर्धा भी करेंगी। इस प्रश्न का आधार आर्थिक अधिक है। और आर्थिक प्रश्नों का निपटारा सैद्धान्तिक गपोड़ों के द्वारा नहीं हो सकता।

संसार के सब देश यह तो मान गये हैं कि उच्च शिक्षा लड़कों और लड़कियों की एक-सी ही होनी चाहिए। हाँ, आरंभिक शिक्षा में थोड़ा-बहुत भेद रहना चाहिए। सब लड़के उच्च शिक्षा की ओर नहीं बढ़ते, न सब लड़कियाँ ही उच्च शिक्षा पाने की इच्छा करती हैं; अतः स्पष्ट है

[कुमारी यंग वेहीमिंग, आप चीन की छात्रा हैं और चीन की ओर से गर्ल गाइड कान्फ़्रेंस के न्यूयार्क में होने वाले अधिवेशन में प्रतिनिधि बन कर जा रही हैं।]

कि जो लड़के-लड़कियाँ अपनी पढ़ाई प्राथमिक शिक्षा के बाद ही समाप्त करना चाहें उन्हें गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने के पूर्व अपने-अपने कर्त्तव्यों का समुचित ज्ञान हो जाना चाहिए। आरंभिक शिक्षा का, जो अनिवार्य की जाने-वाली है, यही उद्देश्य होना भी चाहिए। अर्थात् देश को ऐसे नागरिक मिल सकें जो अपने-अपने कर्त्तव्यों को अच्छी तरह समझते हों। निस्सन्देह यहाँ पर पुरुष और स्त्री के कर्त्तव्यों में विभेद होगा अतः अक्षरों और अंकों के ज्ञान के अतिरिक्त उनकी शिक्षाओं में सादृश्य नहीं रह सकता। पर आगे बढ़कर उनकी शिक्षा में एकरूपता रहनी चाहिए। यह बिना सह-शिक्षा के असम्भव-सा है।

सह-शिक्षा के विरोध में सबसे बड़ी रुकावट यह है कि लोग समझते हैं कि इससे व्यभिचार को सुअवसर प्राप्त होता है। यद्यपि इसके लिए अन्यत्र भी स्पष्ट रुकावट

[श्रीमती चेम्बरलेन का वह छाता जो मिस्टर चेम्बरलेन को अन्तर्राष्ट्रीय फ़सादों से बचानेवाला [है।]

नहीं है, पर शिक्षा-संस्थाओं को हम उच्च दृष्टि से देखते हैं और उन्हें सर्वथा आदर्श रखना चाहते हैं। जो लड़कियाँ उच्च शिक्षा के पक्ष में हैं, या जो विद्वान् सह-शिक्षा के समर्थक हैं उनका कथन है कि आचरण का व्यभिचार गौण है उसके कारण हम शिक्षा जैसे मुख्य विषय की अवहेलना नहीं कर सकते। साथ ही लड़के व लड़कियों के अधिक संपर्क में रहने से उनमें सहयोगिता और सहकारिता आ जाती है और रोमेन्टिक भावनाओं की कमी हो जाती है। एक बार एक अमेरिकन यात्री ने विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से सह-शिक्षा और उनकी विश्वभारती के अनुभव के सम्बन्ध में प्रश्न किया था। ठाकुर महोदय ने हँस कर पूछा कि "आपके देश में भी तो इसके प्रयोग किये जा रहे हैं। आपके देश की सह-शिक्षा के सम्बन्ध में क्या सम्मति है।" यात्री ने उत्तर दिया कि—"जहाँ तक सदाचार का सम्बन्ध है। हमारे देश में सह-शिक्षा की योजना असफल रही है। पर फिर भी हम लड़कियों को उच्च शिक्षा से वंचित रखना नहीं चाहते; क्योंकि मानव स्वभाव में दुर्बलतायें हैं, और वे रहेंगी। इसके लिए किसी उपयोगी विधान को कैसे रोका जा सकता है! इसी से हमारे देश में सह-शिक्षा को प्रोत्साहन बराबर मिल रहा है।

विश्वकवि ने उत्तर दिया कि "मेरा भी उत्तर यही है। हमारे शान्तिनिकेतन में सौभाग्यवश ऐसी एक भी दुर्घटना नहीं हुई जिसके लिए हमें पश्चात्ताप करना पड़ा हो, और यदि हो भी जायगी तो उसे मानव-स्वभाव की सहज दुर्बलता ही समझा जायगा। महिलाओं को उच्च शिक्षा का प्रकाश पहुँचाने के लिए सह-शिक्षा के अतिरिक्त हमारे पास और कोई साधन भी तो नहीं है। मैं तो सह-शिक्षा का कट्टर समर्थक हूँ।"

पर विश्व-वन्द्य महात्मा गांधी सह-शिक्षा के कट्टर विरोधी हैं। उन्होंने अपने आश्रम में इसे कसौटी पर कसकर देखा और इसे प्रत्येक अवस्था में अनुचित और अहितकर पाया। हमारे सूबये-हिन्द की सरकार ने मार्च १९३८ में शिक्षा-पुनःसंगठन-कमिटी स्थापित की थी। इसी महीने में उसकी योजना भी प्रकाशित हो गई है। कमिटी ने केवल दस वर्ष तक की आयु तक लड़के-लड़कियों को साथ-साथ पढ़ाने की सिफ़ारिश की है। स्पष्ट है कि कमिटी के इस निर्णय का आधार कोई मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत महात्मा जी का विचार है, जिससे कांग्रेस की समस्त गतिविधि संचालित हो रही है। सह-शिक्षा के विषय में यह तो हुई हमारे देश के दो महान् पुरुषों व कांग्रेस-सरकार की राय। अब हमें जनसाधारण के विचारों को भी थोड़ा बहुत समझ लेना चाहिए। भारत में सह-शिक्षा का प्रचार न्यूनाधिक अंश में बर्मा, बम्बई, आसाम और बंगाल में है। हिन्दू-विश्वविद्यालयों में भी इसका सफलतापूर्वक प्रयोग हो रहा है। पंजाब-विश्वविद्यालय में सह-शिक्षा के विषय पर ३ वर्ष वाद-विवाद हुआ जिसमें पुरुषों ने, विद्यार्थियों तथा अध्यापकों ने, इसे उचित ठहराया था किन्तु छात्राओं ने इसे नितान्त अनुचित ठहराया था और इसका विरोध किया था।

पंजाब की स्त्रियों पर इस्लाम की संस्कृति का काफ़ी प्रभाव है, अतः उनके लिए ऐसा करना स्वाभाविक भी था। मुसलमानों में अधिकांश इसे किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते, कुछ ऐसे घरानों को छोड़कर कि जिन्हें विलायत की हवा लग चुकी है। महाराष्ट्र स्त्रियाँ अपेक्षाकृत अधिक उच्च शिक्षित हैं पर हर एक प्रान्त में कन्या-पाठशालाओं में लेडी प्रिंसिपल और प्रधान अध्यापिकायें प्रायः ईसाई ही पाई जाती हैं और छोटी अध्यापिकायें हिन्दू आदि अन्य जाति की हैं जो उनके भाग्य पर ईर्ष्या करती हैं और उनके अधीन रहती हैं। सर्किल इन्स्पेक्ट्रेसें और चीफ़ इन्स्पेक्ट्रेसें तो शायद ही एक दो ऐसी हैं जो ईसाई नहीं हैं। मुसलमान तो हैं ही नहीं। कारण साफ़ है; ईसाई लड़कियाँ सह-शिक्षा पसन्द करती हैं; इसी लिए वे उच्च शिक्षा पा जाती हैं। अब कुछ हिन्दू भी इस ओर ध्यान देने लगे हैं अतः दो एक हिन्दू महिलायें शिक्षा-विभाग में उच्च स्थानों पर नियुक्त दिखाई देती हैं। सबसे पीछे हैं हमारी मुसलमान बहनें, क्योंकि मुस्लिम नेता योग्यता-द्वारा उच्च पद पाने में शायद अपनी जातिवालों को अयोग्य समझते हैं और इसीलिए मुस्लिम सीटों के संरक्षण की माँग पेश किया करते हैं।

संसार में सह-शिक्षा के प्रयोग हो रहे हैं। अनुकूल और प्रतिकूल परिणाम भी निकाले जा रहे हैं। पर अन्तिम निर्णय क्या होगा, यह कोई नहीं जानता। अब तक कोई प्रयोग पूरा हुआ भी नहीं।

डा० स्टीट और प्रो० वर्ट जैसे विशेषज्ञ तथा डा० टागोर सरीखे विद्वान् इसका समर्थन करते हैं तो गांधी जी जैसे नेता विरोध। पर लड़कियाँ निर्णय की प्रतीक्षा नहीं करेंगी। करना भी नहीं चाहिए। उच्च शिक्षा पाने के लिए और मार्ग भी तो नहीं है।

तुम क्या हो ?

लेखक, श्रीयुत श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

तुम नियति की प्रेरणा हो मैं कहूँ कैसे ?

जानता हूँ तुम मधुर पर वेदना-मय हो,
जानता हूँ तुम विरह के गीत की लय हो;
जानता हूँ तुम तरंगित वायु-सी चञ्चल,
आज इसकी, कल किसी के युद्ध की जय हो;
मैं अशक्य भला तुम्हारा पथ गहूँ कैसे ?
तुम नियति की प्रेरणा हो मैं कहूँ कैसे ?

अश्रुओं की धार में देखा तुम्हें मैंने,
और मञ्जुल प्यार में देखा तुम्हें मैंने;
क्या कहूँ ? कैसे किसी की जीत में देखा,
आज अपनी हार में देखा तुम्हें मैंने;
मैं निकट होकर तुम्हारे स्थिर रहूँ कैसे ?
तुम नियति की प्रेरणा हो मैं कहूँ कैसे ?

तुम किन्हीं भावुक जनों की नीति चञ्चल हो,
तुम किसी प्रेमी हृदय की मूक हलचल हो;
तुम किसी स्वच्छन्द सरिता के तट-स्थल पर,
गूँजनेवाली मधुर ध्वनि मञ्जु कलकल हो;
मैं तुम्हारे साथ लहरों में बहूँ कैसे ?
तुम नियति की प्रेरणा हो मैं कहूँ कैसे ?
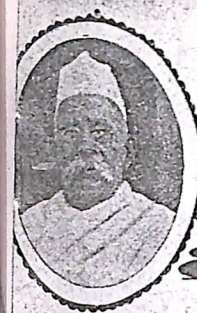
गुरुदयाल जी त्रिपाठी के नाम कुछ और पत्र

(१)

दौलतपुर, रायबरेली
१९-८-३४

मान् त्रिपाठी जी को प्रणाम

१७ ता० का पो० का० मिला। उस काम के विषय आपका आश्वासन पाकर परम सन्तोष हुआ। मेरा तज्ञताज्ञापन स्वीकार किया जाय। पूर्ण आशा है, आपकी फ़ारिश शीघ्र ही सफल होगी।

चि० विष्णुनारायण की कामयाबी का समाचार सुन र बड़ी खुशी हुई। मैं उनसे मिल चुका हूँ। आप उन्हें C. S. के लिए तैयार कीजिए। परमात्मा उन्हें रंजीव करे।

कान्यकुब्जों में आपका कुटुम्ब आदर्श है। आपने जैसे पने भाइयों को सुशिक्षित किया उसी तरह लड़कों और मादि को भी कर रहे हैं। आपकी उदारता और शिक्षा-म प्रशंसनीय है।

मेरे भानजे की लड़की मनोरमा १२ वर्ष की है। पर प्राइमरी पास करने के बाद २ साल से वह प्रयाग में रही है। मैंने कहा, लड़का नहीं तो लड़की ही को कुछ क्षा दिलाऊँ। पन्द्रह बीस रुपये महीना भेजना पड़ता है।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

(२)

दौलतपुर, रायबरेली
५-११-३४

श्रीमान् त्रिपाठी जी को प्रणाम—

दीपावली भवतु ते बहुमोददात्री

कुछ कष्ट उठाकर फिर मुझे लिखने की कृपा कीजिए कि औषधालय के विषय में क्या कारंवाई हुई। Supplementry Budget गया? गया तो कब गया? कब तक मंज़ूरी आजाने की उम्मेद है और कब तक वैद्य बाबा यहाँ पधारेंगे? कितने रुपये साल या महीनें की मंज़ूरी माँगी गई है। मैंने श्रीमान् पं० शिवशंकर जी त्रिपाठी को भी लिखा था; पर उन्होंने उत्तर देने की भी कृपा नहीं की। अगर आप उन्हें जानते हों और उनकी श्रद्धा अपने शास्त्रों में हो तो कभी मिलने पर उन्हें चुपचाप वह श्लोक सुना दीजिएगा जिसका आधा यह है—

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्

अथवा

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी

(३)

C/o कमर्शल प्रेस,
बगिया मनीराम
कानपुर १३-१२-३४

श्रीमान् त्रिपाठी जी को सादर प्रणाम,

गाँव पर मेरा उन्निद्रता रोग बहुत बढ़ गया। और भी कुछ शिकायतें नई नई पैदा हो गईं। इससे यहाँ इलाज कराने चला आया। अब कुछ कुछ आराम है। यहाँ आये १ महीना हो गया। २५ तारीख़ तक घर लौट जाने का विचार है। शर्त यह है कि तबीअत ठीक रहे।

बन्दूक़ रखना मेरे लिए जी का जंजाल हो रहा है। मैं जमा कर देना चाहता था। पर घरवाले रखना चाहते हैं। मेरी तरफ़ चोरियाँ बहुत होती हैं। डाके तक पड़ जाते हैं। पिछली कई दफ़े वहाँ दौरे पर हाकिमों से लायसंस नया करा लिया था। इस साल यहाँ पड़ा हूँ। इससे इस दफ़े फिर आपको कष्ट देता हूँ। लायसंस भेजता हूँ। तीन साल के लिए नया करा लीजिए। फ़ीस के ७॥) और

ऊपरी खर्च २॥) इस तरह १०) का मनीआर्डर आज आपके नाम भेज रहा हूँ। लैसंस इसी चिट्ठी के साथ है। वकालतनामे का फ़ार्म भी। एक चिट्ठी भी D. C. के नाम भेजता हूँ। ज़रूरत पड़े तो दे दीजिएगा। वे मुझे जानते हैं; मेरे घर हो आये हैं। जो न जानते हों उनसे कह दीजिएगा—खैरख्वाह हूँ; पंचायत का पंच हूँ इत्यादि। काम हो जाने पर लायसंस रजिस्ट्री करके लौटा दीजिएगा। २३ दिसंबर के बाद पत्र दौलतपुर भेजिएगा। पं० शिवगोविन्द जी कृपा करके मेरे वकील हो जायँ। कष्ट के लिए क्षमाप्रार्थना।

कृपापात्र
महावीरप्रसाद द्विवेदी

(४)

दौलतपुर, रायबरेली
२५-१२-३४

श्रीमान् तिवारी जी को सादर प्रणाम

मेरी तन्दुरुस्ती कानपुर में और भी खराब हो गई। इस कारण मैं घर लौट आया हूँ।

१४ दिसम्बर को मैंने एक रजिस्ट्री चिट्ठी और १०) का मनी-आर्डर आपको भेजा था। आशा है, दोनों पहुँच गये होंगे। कृपा करके लिखिए बन्दूक़ का लायसंस नया कराने की क्या कारवाई हुई। यदि ३१ दिसंबर तक लैसंस न मिल जाय तो क्या बन्दूक़ पुलिस स्टेशन को भेज दूं? जो मुनासिब समझिए, आज्ञा दीजिए।

कृपापात्र
महावीर प्र० द्विवेदी

पुनश्च

यह कार्ड लिख चुकने पर आपका २४ दिसंबर का पत्र मिला। कृतज्ञ हुआ। बहुत बहुत धन्यवाद। लायसंस की किताब मिलने पर उसे सावकाश भेजिएगा।

म० प्र० द्विवेदी
२६-१२-३४

(५)

दौलतपुर, रायबरेली
१५-१-३५

श्रीमान् त्रिपाठी जी को प्रणाम,

सेमरी के लाल वीरेन्द्रबहादुरसिंह ने रायबरेली में कोई संघ स्थापित किया है या करनेवाले हैं। उसके सम्बन्ध में मुझसे रायबरेली चलने का इसरार कर रहे हैं। मैं इन बातों से सदा दूर रहा हूँ और रहना चाहता हूँ। मैं प्रसिद्धि नहीं चाहता। मेरी इज्ज़त आप लोगों के हाथ है। कृपा करके नीचे लिखी हुई बातों का जवाब दीजिए—

इस आयोजन में अग्रणी कौन है। शहर के और ज़िले के कौन कौन संमाननीय सज्जन इसके पृष्ठपोषक हैं। आज तक कितने सज्जन इसके मेंबर हुए हैं। कितना चंदा जमा हुआ है और कितने के वचन मिल चुके हैं। संघ के लिए कौन सा स्थान चुना गया है; वह कैसा है और किसका है। संघ की नियमावली या Articles of Association बन गई है या नहीं। बनी हो तो कहाँ है। आपकी निज की राय इसके सम्बन्ध में क्या है। कष्ट तो होगा; पर रायबरेली में आपके सिवा मेरा सहायक और कोई नहीं। मुझे उपहास से बचा लीजिए।

बन्दूक़ के लायसंस की किताब मिल जाने पर भेज दीजिएगा। बंदूक़ मेरे पास १ जनवरी से बिला लायसंस है।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

(६)

दौलतपुर, रायबरेली
१४-५-३५

सादर और सप्रेम प्रणाम,

जबलपुर से भेजा गया आपका ११मई का कृपा-पत्र मिला। मैं उसे पढ़ कर परम प्रसन्न हुआ।

आपने बड़े अच्छे सम्बन्ध किये। कान्यकुब्जीयता के विषय में आपके विचार बड़े ही उदार हैं। मैं आपके विचारों से सहमत हूँ। अपनी जान-पहचान के आदमियों में ऐसे ही विचारों का प्रचार करने की चेष्टा कीजिए। आपकी पहुँच दूर दूर तक है। आशा है, आपकी चेष्टा से कुछ तो सुधार जरूर हो जायगा।

पाठक जी निःसन्देह वही हैं जिनसे मैं कानपुर में कई दफ़े मिल चुका हूँ।

मुझसे भूल हुई। मैंने चि० विष्णुनारायण को ही आपका बड़ा लड़का समझा था। परमात्मा करे वह Sandhurst की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाय।

मेरे भानजे की लड़की भारद्वाज गोत्री सखरेज के तिवारियों के वंश की है। अभी छोटी है। दो तीन वर्ष

—

आक्टोवर १९३२ में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के अफ़सर
चार्ज, स्टिफेंसन साहव, दौलतपुर आये। मुझसे मिले।
रहे। मेरी दरख्वास्त पर उन्होंने यहाँ एक मवेशीखाना
ल दिया। वह १८ आक्टोवर से खुला। ९ महीने तक
मेरी देख-भाल में इम्तिहानन रहा।
इस दरमियान में खर्च बाद देकर बोर्ड को १५५
मुनाफ़ा रहा।
तीन महीने तक वह और भी इम्तिहानन चलाया गया।
म खूब चलता रहा।
आक्टोवर १९३३ में पौंड मुस्तक़िल (Permanent)
र दिया गया और एक मुहर्रिर मुक़र्रर किया गया।
अप्रैल ३४ से २८-२-३५ तक, याने ११ महीने में,
मदनी और खर्च का हिसाब नीचे दिया जाता है—

आमदनी ... ३१० ९ ७
खर्च ... २२१ २ ०
मुनाफ़ा ... ८९ ७ ७

इधर अप्रैल ३५ से सितंबर ३५ तक (६ महीने)
ा हिसाब यह है—

आमदनी ... २१७ ३ ६
ख़र्च ... ११८ ८ ०
मुनाफ़ा ... ९८ ११ ६—

ससे ज़ाहिर है कि पौंड की आमदनी बढ़ रही है।

पौंड को खुले ३ साल हो गये। लकड़ियों और काँटों
ा एक घेरा बना दिया गया है। उसके बीच में फूस का
क छप्पर है। जानवर उसी के भीतर रहते हैं। बहुत
ो जाते हैं तो कुछ धूप, बारिश और जाड़े की तकलीफ़ें
भोगते हैं। कभी कभी कोई जानवर बाड़ा तोड़ कर निकल
जाता है और बड़ी मुश्किल से पकड़ मिलता है। परसाल
१ ऊँट भाग गया। मिला नहीं। बेचा जाता तो ८०) से
कम में न बिकता। यह नुक़सान बोर्ड को व्यर्थ ही उठाना
पड़ा।

चेयरमैन साहब को २ दफ़े लिखा कि पौंड की इमारत
बनवा दीजिए। हालाँ कि बोर्ड के पास १ लाख से ऊपर
बचत है, मगर इमारत अब तक नहीं बनी। हाकिम तहसील
मुआइने में लिख गये हैं कि पौंड का बाड़ा बोर्ड के इंतिज़ाम में
काले धब्बे के समान है।

बोर्ड का अगला बजट बन रहा होगा। ज़रूरत है कि
एक प्रस्ताव (Resolution) बजटवाली मीटिंग में पेश
किया जाय। उसमें सिफ़ारिश की जाय कि दौलतपुर के
पौंड की इमारत के खर्च की गुंजायश रक्खी जाय।
मुमकिन हो तो बजट मंजूर होने के पहले ही बोर्ड अपनी
बचत से इमारत बनाना शुरू कर दें।

म० प्र० द्विवेदी
१५-१०-३५

(१०)

दौलतपुर (रायबरेली)
२३-७-३६

नमोऽस्तु सादरं तुभ्यम्

मैं अब बहुत बूढ़ा हुआ। आँखें कम काम देती हैं।
उस दिन गिर पड़ा। दाहने हाथ की एक उँगली बेकार हो
गई। घुटनों में भी चोट लगी। चलने कम पाता हूँ।

मुझ असमर्थ की कुछ मदद कर दीजिए। बहुत
पुण्य होगा। मेरे भानजे की लड़की मनोरमा १४ साल की
हुई। अँगरेज़ी मिडिल तक पढ़ी है। जून ही में स्कूल
छोड़ा है। सखरेज के तिवारी-वंश की है—कश्यप, गौर-
वर्ण, रूपवती, तन्दुरुस्त, काम-काज में बड़ी होशियार।
उसके लिए कोई लड़का तजवीज़ कर दीजिए। खाते-पीते
सज्जनों के घर का। शिक्षित। रूढ़ियों और कुलीनता
के ढकोसलों से दूर रहनेवाला।

कहिए तो कान्यकुब्ज में विज्ञापन दे दूँ।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

(११)

दौलतपुर (रायबरेली)
१५-३-३७

श्रीमान् त्रिपाठी जी को सादर प्रणाम,

१३ मार्च की चिट्ठी मिली। यह आपके सदृश
माननीय मित्रों और सज्जनों के आशीर्वाद और शुभचिन्तना
का फल है जो विवाह-कार्य्य निर्विघ्न समाप्त हो गया।
डाक्टर साहब के सौजन्य की मैं कहाँ तक प्रशंसा करूँ।
उन्होंने अपने सद्व्यवहार से हम लोगों को कृतज्ञता की

कड़ी जंज़ीर से बाँध डाला है। उन्होंने समधी का जैसा
बर्ताव नहीं किया। किन्तु सन्मित्र या सद्बन्धु के सदृश
सब कार्य किया। ईश्वर करे उनके बाल-बच्चे सलामत
रहें।

भाई साहब, अपने मन की एक बात लिखता हूँ। मैं
आपको निमंत्रित करना चाहता था। पर अपनी असमर्थता
देखकर सङ्कोच में आ गया। मैं बहुत कमज़ोर हूँ; उठने-
बैठने में भी कष्ट होता है। घर में और कोई ऐसा नहीं जो
मेहमानों के आराम का ख्याल रखता। आप आते तो
कष्ट पाते, इसी से बुलाने की धृष्टता मैंने नहीं की।

मेरी मानसिक अवस्था अच्छी नहीं। व्यथित-हृदय
हूँ। बहुत दुखी होने पर भागवत के विनयपरक श्लोक पढ़
पढ़ कर रोया करता हूँ।

मैंने मंडप के नीचे और भोजन के समय डाक्टर साहब
की विनती हिन्दी में की थी। वे विनयपत्रक डाक्टर साहब
ने न दिखाये हों तो उनसे माँग कर पढ़ लीजिएगा।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

(१२)

दौलतपुर (रायबरेली)
६-१०-३७

श्रीमान् पं० गुरुदयाल जी को सादर प्रणाम,

कृपादर्शक पोस्टकार्ड मिला। अनेक धन्यवाद।
आपकी मुझ पर जो इतनी दयादृष्टि है उसे मैं अपने सौभाग्य
की सूचक समझता हूँ।

भाई साहब, मेरी यह अन्तिम अवस्था है। अनेक
शारीरिक व्याधियाँ घेरे रहती हैं। आँखें ही क्या सभी
इन्द्रियाँ शिथिल हो रही हैं। देखूं, कब तक ये भोग भोगने
पड़ते हैं। पं० शिवगोविन्द जी को मेरा नमस्कार।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

(१३)

दौलतपुर (रायबरेली)
२६-११-३७

श्रीमान् पं० गुरुदयाल जी को सादर प्रणाम,

कृपा करके, मेरे लिए, कुछ बेगार फिर कर दीजिए।
बंदूक़ का लायसंस दिसम्बर ३७ के अन्त तक ही है। उसे
अगले ३ साल के लिए फिर नया करा दीजिए। बुढ़ापे के
कारण बंदूक़ लेकर चलने में मुझे कष्ट होने लगा है। हो
सके तो लायसंस में एक attendant भी दर्ज करा दीजिए।
ऐसा होता है। न हो सके तो न सही।

लायसंस रजिस्टर्ड पैकेट से अलग भेज रहा हूँ। उसी के
भीतर वकालतनामा भी है। पं० शिवगोविन्द जी को यह
काम सौंप दीजिए। वे न कर सकें तो और ही किसी से
करा दीजिए।

१०) का मनीआर्डर भेज रहा हूँ। ७॥) तो तीन
साल की फ़ीस नये लैसंस की है। २॥) ऊपरी खर्च के
लिए है। और जो आज्ञा हो भेज दूं।

आपको मैं बहुधा कष्ट देता हूँ। मुझ पर आपके
अनेक एहसान हैं। कहाँ तक धन्यवाद दूं।

कृपापात्र
महावीर प्र० द्विवेदी

(१४)

दौलतपुर
७-१२-३७

श्रीमान् पं० गुरुदयाल जी को सादर प्रणाम,

२८ नवंबर को मैंने अपना लायसंस बंदूक़ का आप
को भेजा है। पहुँचा हो तो लिखने की कृपा कीजिए और
नया कराने की काररवाई करा दीजिए। आज तक आपको
अनेक बार कष्ट पहुँचा चुका हूँ। मुझ अधम से और
क्या हो सकता है? सहस्र बार हाथ जोड़ कर क्षमा-प्रार्थना
करता हूँ।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

चित्र-संग्रह

मिस्टर बी० एन० करनिय आप बम्बई के मेयर चुने गये हैं।

अलबानियां के अपदस्थ बादशाह जोग
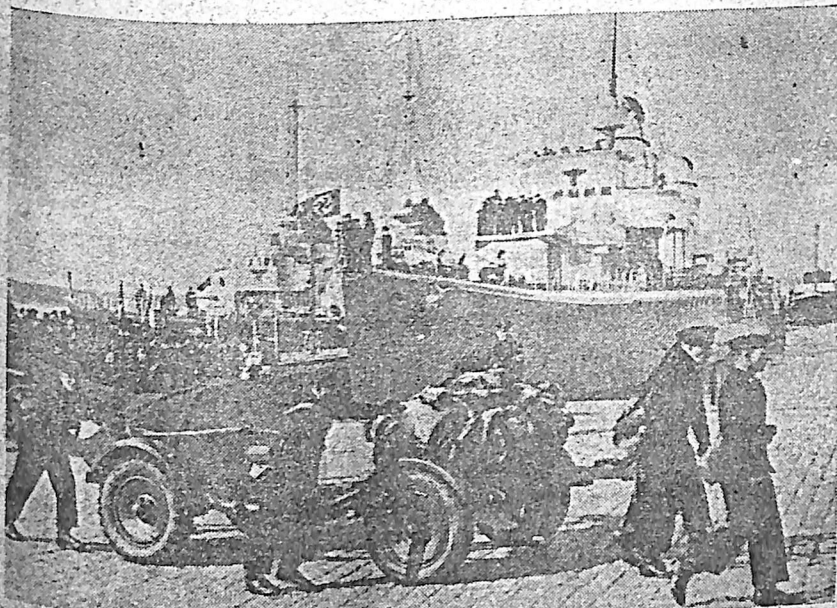
जर्मन सेनाएँ और मेराइनें मेमेल में प्रवेश कर रही हैं।

जर्मन सिपाही जेक-जनता के साथ मित्रता पैदा कर रहे हैं।
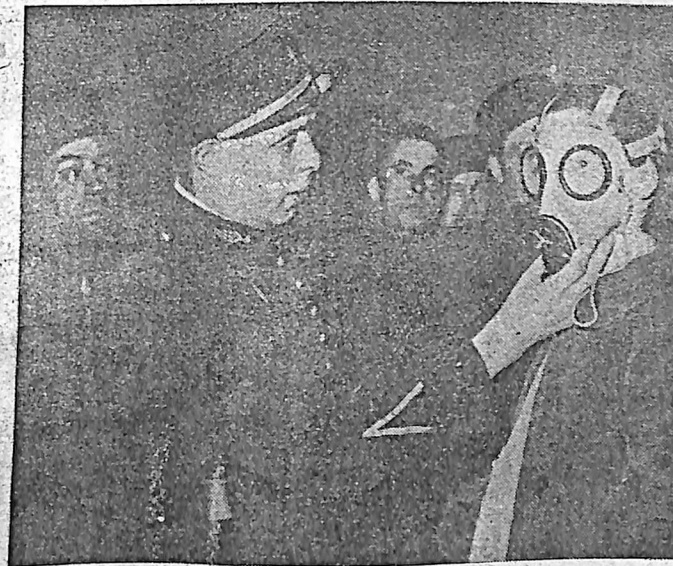
फ़्रान्स की जनता भावी महायुद्ध के लिए तैयारी कर रही हैं।
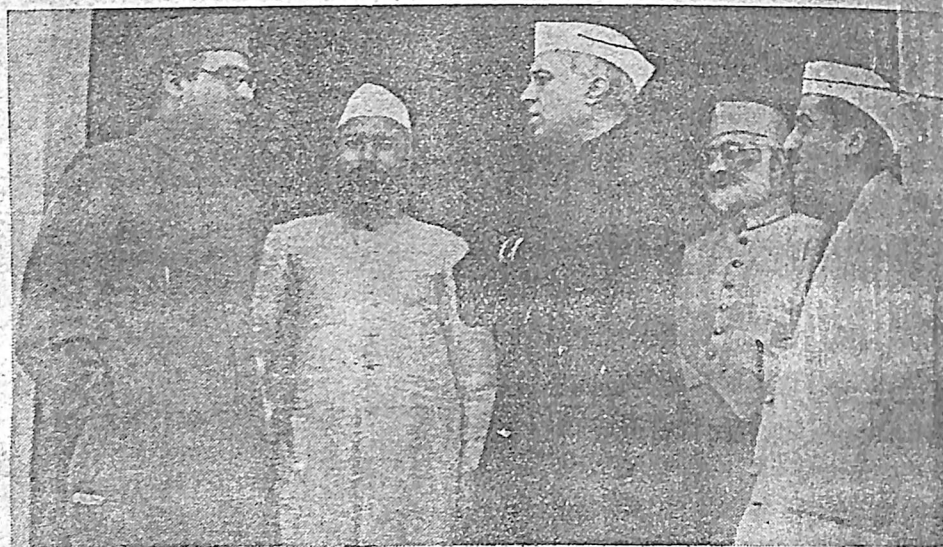
नेहरू जी कांग्रेस के कुछ प्रमुख कार्यकर्त्ताओं से परामर्श कर रहे हैं
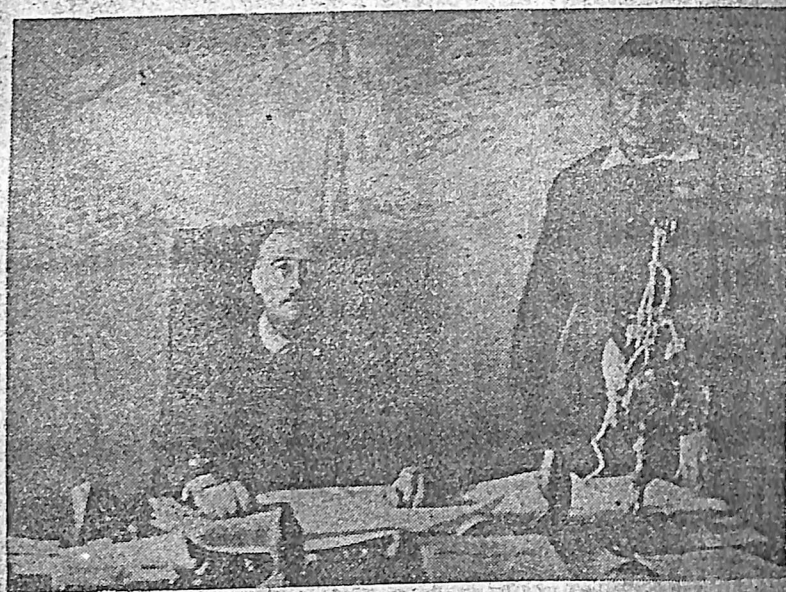
स्पेन के नये डिक्टेटर जनरल फ्रैंको

वर्ग नं० ३४ का नतीजा

प्रथम पुरस्कार ३००) (शुद्ध पूर्ति पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित ३ व्यक्तियों में बाँटा गया। प्रत्येक को १००) मिला।

(१) नन्दलाल, अमरकोट, राजपूताना।

(२) मिनतिदेवी c/o एस्टीमेटर सुपरिन्टेण्डेण्ट इंजिनियरिंग आफ़िस क्लाइव स्ट्रीट, कलकत्ता।

(३) शीतलाप्रसाद महादेवप्रसाद, c/o मैसर्स टेलरी एण्ड संस भदोही, बनारस स्टेट।

द्वितीय पुरस्कार १७६) (एक अशुद्धि पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित ४ व्यक्तियों में बाँटा गया, प्रत्येक को ४४) मिला।

(१) इलादेवी, लक्ष्मीविलास, रंगून।

(२) शकुन्तलादेवी c/o नन्दलाल, अमरकोट, राजपूताना।

(३) असीदेवी c/o एस्टीमेटर सुपरिन्टेण्डेण्ट इंजिनियरिंग आफ़िस, क्लाइव स्ट्रीट, कलकत्ता।

(४) हरिदत्त लोहुमी, म्युनिसिपल स्कूल तल्लीताल, नैनीताल।

तृतीय पुरस्कार १५) (दो अशुद्धियों पर)

श्रीमती रामनारायण कक्कड़ १४५, चक, इलाहाबाद।

चतुर्थ पुरस्कार ८) (तीन अशुद्धियों पर)

यह पुरस्कार निम्नलिखित दो व्यक्तियों में बाँटा गया, प्रत्येक को ४) मिला।

(१) राजमती देवी गोयल ४३, पानदरीबा, इलाहाबाद।

(२) राघवाचार्य मुरबानी, ३७ के चेलू बंबागृह, मैसोर।

पंचम पुरस्कार १) (चार अशुद्धियों पर)

आदित्यनारायणसिंह शर्मा धौरानी टोला मोकामा, पटना।

उपर्युक्त सब पुरस्कार ३० जून को भेज दिये जायँगे।

नोट—जाँच का फ़ार्म ठीक समय पर आने से यदि किसी को और भी पुरस्कार पाने का अधिकार सिद्ध हुआ तो उपर्युक्त पुरस्कारों में से जो उसकी पूर्ति के अनुसार होगा वह फिर से बाँटा जायगा। केवल वे ही लोग जाँच का फ़ार्म भेजें जिनका नाम यहाँ नहीं छपा है, पर जिनको यह सन्देह हो कि वे पुरस्कार पाने के अधिकारी हैं।

नियम:—

(१) किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जितनी पूर्ति-संख्यायें भेजना चाहे, भेजे, किन्तु प्रत्येक वर्ग-पूर्ति सरस्वती पत्रिका के ही छपे हुए फ़ार्म पर होनी चाहिए। इस प्रतियोगिता में एक व्यक्ति को केवल एक ही इनाम मिल सकता है। इंडियन प्रेस के कर्मचारी इसमें भाग नहीं ले सकेंगे। प्रत्येक वर्ग की पूर्ति स्याही से की जाय। पेंसिल से की गई पूर्तियाँ स्वीकार न की जायँगी। अक्षर सुन्दर, सुडौल और छापे के सदृश स्पष्ट लिखने चाहिए। जो अक्षर पढ़ा न जा सकेगा अथवा बिगाड़ कर या काटकर दूसरी बार लिखा गया होगा वह अशुद्ध माना जायगा।

(२) प्रतियोगिता में शामिल होने के लिए जो फ़ीस वर्ग के ऊपर छपी है, दाख़िल करनी होगी। फ़ीस मनीआर्डर-द्वारा या सरस्वती-प्रतियोगिता के प्रवेश-शुल्क-पत्र (Credit voucher) के द्वारा दाख़िल की जा सकती है। इन प्रवेश-शुल्क-पत्रों की किताबें हमारे कार्यालय से ३) या ६) में ख़रीदी जा सकती हैं। ३) की किताब में आठ आने मूल्य के और ६) की किताब में १) मूल्य के ६ पत्र बँधे हैं। एक ही कुटुम्ब के अनेक व्यक्ति जिनका पता-ठिकाना भी एक ही हो, एक ही मनीआर्डर-द्वारा अपनी अपनी फ़ीस भेज सकते हैं और उनकी वर्ग-पूर्तियाँ भी एक ही लिफ़ाफ़े या पेकेट में भेजी जा सकती हैं। वर्ग-पूर्ति की फ़ीस किसी भी दशा में नहीं लौटाई जायगी। मनीआर्डर व वर्ग-पूर्तियाँ 'प्रबन्धक, वर्ग-नम्बर ३५, इंडियन प्रेस, लि०, इलाहाबाद' के पते से आनी चाहिए।

(३) लिफ़ाफ़े में वर्ग-पूर्ति के साथ मनीआर्डर की रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र नत्थी होकर आना अनिवार्य है। रसीद या प्रवेश-शुल्क-पत्र न होने पर वर्ग-पूर्ति की जाँच न की जायगी। लिफ़ाफ़े के दूसरी ओर अर्थात् पीठ पर मनीआर्डर भेजनेवाले का नाम और पूर्ति-संख्या लिखना आवश्यक है।

(४) जो वर्ग-पूर्ति २४ जून तक नहीं पहुँचेगी, जाँच में शामिल नहीं की जायगी। स्थानीय पूर्तियाँ २२ ता० को पाँच बजे तक बक्स में पड़ जानी चाहिए और दूर के स्थानों (अर्थात् जहाँ से इलाहाबाद को डाकगाड़ी से चिट्ठी पहुँचने में २४ घंटे या अधिक लगता है) से भेजनेवालों की पूर्तियाँ २ दिन बाद तक ली जायँगी। वर्ग-निर्माता का निर्णय सब प्रकार से और प्रत्येक दशा में मान्य होगा। शुद्ध वर्ग-पूर्ति की प्रतिलिपि सरस्वती पत्रिका के अगले अङ्क में प्रकाशित होगी, जिससे पूर्ति करनेवाले सज्जन अपनी अपनी वर्ग-पूर्ति की शुद्धता-अशुद्धता की जाँच कर सकें।

(५) वर्ग-निर्माता की पूर्ति से, जो मुहर लगा करके रख दी गई है, जो पूर्ति मिलेगी वही सही मानी जायगी। यदि कोई पूर्ति शुद्ध न निकली तो मैनेजर शुद्ध पूर्ति का इनाम जिस तरह उचित समझेंगे, बाँटेंगे।

बायें से दाहिने—

१—आगरे का प्रसिद्ध रौज़ा।
४—देहाती आदमी शहर में पहली बार पहुँचने पर . . . —सा दिखाई देता है।
६—इसके आगे बड़े-बड़ों का साहस छूट जाता है।
९—इसका विस्तार आज तक कौन नाप सका है।
११—इसका विश्वास लोग एक बार तो कर लेते हैं पर बार बार नहीं करते।
१३—जो काम . . . . में किये जाते हैं वे अक्सर बिगड़ जाते हैं।
१५—जिसे इसका बल होता है वह हिम्मत नहीं हारता।
१७—आज-कल इस पेशे में भी अच्छी आमदनी नहीं।
१९—जिसके सँभाल कर लग जाता है, उसे किसी काम का नहीं छोड़ता।
२०—भरद्वाजमुनि यहीं निवास करते थे।
२५—इसे देख कर कौन मोहित नहीं होता।
२६—नगर का सबसे बड़ा महाजन।
२८—इसे खाना कौन पसन्द करेगा।
२९—चतुर स्त्रियाँ इसकी सफ़ाई पर अधिक ध्यान देती हैं।
३०—आज्ञा।
३२—राजा लोग सेना के साथ इसे भी ले जाते हैं।
३४—गाड़ी इसी पर चलती है।
३५—इसके कपड़े महँगे होते ही हैं।
३६—यह चलने के लिए बनी है।

ऊपर से नीचे—

१—मुक़दमेबाज़ इसकी बहुत याद रखते हैं।
२—ज़मींदार इसकी रक्षा में अधिक सतर्क रहते हैं।
३—यह न हो तो नृत्य का मज़ा ही क्या।
५—जाड़े की यह ग़रीबों को बहुत दुःख देती है।
७—हलका मीठा दर्द।
८—इसे सब सताते हैं।
१०—अपने होनहार इसको देख कर कौन प्रसन्न नहीं होता।
१२—पुराने इससे लोग अधिक धन-प्राप्ति की आशा रखते हैं।
१६—इसे सब चाहते हैं।
१८—यह छूने से मुरझा जाता है।
२१—देवता इससे प्रसन्न होते हैं।
२२—बहुत ऊँचा।
२३—अपने मित्रों से यह फेरना असीलों का काम नहीं।
२४—सूची या फ़ेहरिस्त।
२७—जनता इसी से वश में आती है।
२९—इसका नाश कोई नहीं चाहता।
३१—बाज़ार में ऐसे सिक्के बहुत चलते हैं।
३३—इसका रोज़ सेवन करना हाज़मे को बिगाड़ देता है।

ता	ज	म	ह		■	है	ा	न	■
री	■	■		प	ट	■	त	■	ग्र
	ल	क	■	क		ी	■	श	
■		■	ा	■	क	ा	ई	■	ल
च	का		त	■	■	■		ग	■
■	■	जा	■	प्र	ा	ग	■	■	ी
ना	■	ृ	प	■	ज	ग		से	ठ
मा		■	■	ा	न	न	■	ा	■
	■	र	ा	य	■	ै	ी	■	चां
ली		■	ली	■	ा	दी	■	वा	

ता	ज	म	ह		■	है	ा	न	■
री	■	■		प	ट	■	त	■	ग्र
	ल	क	■	क		ी	■	श	
■		■	ा	■	क	ा	ई	■	ल
च	का		त	■	■	■		ग	■
■	■	जा	■	प्र	ा	ग	■	■	ी
ना	■	ृ	प	■	ज	ग		से	ठ
मा		■	■	ा	न	न	■	ा	■
	■	र	ा	य	■	ै	ी	■	चां
ली		■	ली	■	ा	दी	■	वा	

अपनी याददाश्त के लिए वर्ग ३५ की पूर्तियों की नक़ल यहाँ पर कर लीजिए। और इसे निर्णय प्रकाशित होने तक अपने पास रखिए।

वर्ग नं० ३४ की शुद्ध पूर्ति

वर्ग नम्बर ३४ की शुद्ध पूर्ति जो बंद लिफ़ाफ़े में मुहर लगाकर रख दी गई थी, यहाँ दी जा रही है।

१ पु	२ रु	३ षो	त्त	४ म	■	५ प	६ त	वा	७ र
८ ल	ड्ड	ड	■	९ ट	१० ह	ला	ना	■	न
ह	■	११ शी	१२ त	का	ल	■	१३ ज्ञा	१४ मि	न
१५ जा	१६ च	■	ह	■	१७ वा	१८ र	■	ल	■
■	१९ ख	२० ला	सी	■	■	२१ क	२२ थ	न	■
२३ र	■	२४ त	ल	२५ ब	■	■	नी	■	२६ अ
२७ ज	मा	■	२८ दा	वा	२९ न	ल	■	३० ह	वि
नी	■	■	३१ र	सी	द	■	३२ ढ	र	का
३३ च	३४ प	ड़ा	■	र	■	३५ रा	■	३६ ख	री
३७ रं	घी	■	■	■	३८ र	ब	ड़	■	■

वर्ग नं० ३४ (जाँच का फ़ार्म)

मैंने सरस्वती में छपे वर्ग नं० ३४ के आपके उत्तर से अपना उत्तर मिलाया। मेरी पूर्ति

नं०...में } कोई अशुद्धि नहीं है।
१,२,३,४ अशुद्धियाँ हैं।

मेरी पूर्ति पर जो पारितोषिक मिला हो उसे तुरन्त भेजिए। मैं १) जाँच की फ़ीस भेज रहा हूँ।

हस्ताक्षर ______________

पता ______________

____

बिन्दीदार लाइन पर काटिए

नोट—जो पुरस्कार आपकी पूर्ति के अनुसार होगा वह फिर से बँटेगा और फ़ीस लौटा दी जायगी। पर यदि पूर्ति ठीक न निकली तो फ़ीस नहीं लौटाई जायगी। जो समझें कि उनका नाम ठीक जगह पर छपा है उन्हें इस फ़ार्म के भेजने की ज़रूरत नहीं। यह फ़ार्म १५ जून के बाद नहीं लिया जायगा।

इसे काटकर लिफ़ाफ़े पर चिपका दीजिए

मैनेजर वर्ग नं० ३५

इंडियन प्रेस, लि०,

इलाहाबाद

मुफ़्त कूपन की नक़ल यहाँ कीजिए।

वर्ग नं० ३५— मुफ़्त कूपन पूर्ति नं०...

इस लाइन से काटिए

वर्ग नं० ३५ पूर्ति नं०... फ़ीस ।)

वर्ग नं० ३५ पूर्ति नं०... फ़ीस ।)

रिक्त कोष्ठों के अक्षर मात्रा रहित और पूर्ण हैं।

नाम ______________ पता ______________

नोट—ये तीनों कूपन यहाँ एक साथ केवल एक व्यक्ति के भरने के लिए दिये जा रहे हैं। तीनों कूपनों को एक साथ काट कर भेजना चाहिए। जो एक कूपन भेजना चाहें वे दो को या दो ही छोड़ दें। जो दो भेजेंगे उन्हें तीसरे कूपन की फ़ीस न देनी पड़ेगी। यानी वे १) में तीनों कूपन भेज सकेंगे। विशेष ब्योरा पृष्ठ ६१४ पर देखिए।

आवश्यक सूचनायें

(१) इस बार पाठक देखेंगे कि एक कूपन में एक नाम से अधिक भरने की गुंजाइश नहीं है परन्तु प्रत्येक कूपन में ऐसी सुविधा की गई है कि वर्ग नं० ३५ की तीन पूर्तियाँ एक साथ भेजी जा सकेंगी। दो आठ आठ आने की और तीसरी मुफ़्त। मुफ़्त पूर्ति सिर्फ उन्हीं की स्वीकार की जायगी जो दो पूर्तियों के लिए १) भेजेंगे। और तीनों पूर्तियाँ एक ही नाम से भेजेंगे। एक पूर्ति भेजनेवाले को भी पूरा कूपन काटकर भेजना चाहिए और दो ख़ाने ख़ाली देने चाहिए।

(२) स्थानीय पूर्तियाँ 'सरस्वती-प्रतियोगिता-बक्स' जो कार्यालय के सामने रक्खा गया है, दिन में दस पाँच के बीच में डाली जा सकती हैं।

(३) वर्ग नम्बर ३५ का नतीजा जो बन्द लिफ़ाफ़े में लगाकर रख दिया गया है, ता० २६ जून सन् १९... सरस्वती-सम्पादकीय विभाग में ११ बजे दिन में सर्वसाधारण के सामने खोला जायगा। उस समय जो सज्जन चाहें उपस्थित होकर उसे देख सकते हैं।

फलों के व्यापार का महत्त्व

लेखक, कुँअर वीरेन्द्रनारायण सिंह, बी० एस-सी०

रतवर्ष का जलवायु और भूमि इतनी विस्तीर्ण है कि यहाँ सम-शीतोष्ण एवं उष्णकटिबन्ध में उत्पन्न होनेवाले सभी फल और तरकारियाँ अधिकता से उत्पन्न होती हैं। अल्प व्यय और सरलता से मिल जाने के कारण उनका अन्य देशों के अतिरिक्त यहाँ अधिक उपयोग भी होता है। उन प्रान्तों में जहाँ फल-विशेष की बहुतायत होती है, गाँवों के लोग कई दिनों तक फलों पर ही निर्वाह करते हैं। और प्रत्येक व्यक्ति प्राय: प्रतिदिन किसी-न-किसी रूप में उनका सेवन करता है। किन्तु फलों के प्रतिदिन के व्यवहार की अपेक्षा कहीं ज़्यादा उनकी व्यापारिक महत्ता है। भारत में फलों की अधिकता होते हुए भी लाखों रुपयों के ताज़े फल और तरकारियाँ प्रतिवर्ष विदेशों से आती हैं जो निम्नलिखित अंकों से विदित है—

ताज़े फलों एवं शाक-भाजियों का मूल्य

वर्ष	रुपये
१९२९-३०	३३,५९,६१८
१९३०-३१	३३,६६,६६१
१९३१-३२	२६,६३,२४२
१९३२-३३	३२,१७.५४३
१९३३-३४	२८,२५,८८४

सम्भवत: जन-साधारण को इन अंकों को देख कर आश्चर्य होगा। भारत में इस अधिकता से फलों के उत्पन्न होने पर भी उनके विदेशों से आने की क्या आवश्यकता? यही क्यों, कितनी भी और वस्तुएँ हैं जिनकी हमारे यहाँ अधिकता है, फिर भी वे विदेशों से आती हैं। कारण यह है कि फल और तरकारियाँ अपनी ऋतुओं में यहाँ इतनी अधिकता से उत्पन्न होती हैं कि हम लोग उनमें से सबको ख़र्च नहीं कर सकते। फल-स्वरूप प्रतिवर्ष करोड़ों मन फल सड़कर बरबाद हो जाते हैं। सन् १९३५ में केवल संयुक्त-प्रान्त में १॥ करोड़ मन फल सड़ गये थे। किसी किसी वर्ष फल इस अधिकता से उत्पन्न होते हैं कि मनुष्यों की कौन कहे, पशु तक उन्हें नहीं खाते। ऐसी दशा में बाहर से ताज़े फलों का आना वास्तव में आश्चर्य की बात है। किन्तु विदेशों में यह हाल नहीं है। वहाँ ऋतुफल पूर्ण रूप से वर्द्धन के पहले ही तोड़ लिये जाते हैं और कृमि-रहित काग़ज़ के टुकड़ों में लपेटकर अलग अलग आलमारियों में रख दिये जाते हैं। उस कमरे में एक प्रकार की वायु जिसे कारबोनिक एसिड गैस कहते हैं, भर दी जाती है और उसका ताप-क्रम भी ०। शून्य पर रक्खा जाता है। इस प्रकार अथवा अन्य वैज्ञानिक प्रयोगों से वे फल महीनों तक ताज़े बने रहते हैं, उनके शीघ्र ही ख़राब हो जाने का भय जाता रहता है और ऐसी ही दशा में वे बाहर भेजे जाते हैं। ताज़े फलों के व्यापार के लिए हमारे देश में कितना बड़ा क्षेत्र खुला हुआ है, यह उक्त आँकड़ों से भली भाँति विदित है। वैज्ञानिक साधनों के द्वारा प्रत्येक ऋतु के फल ता... बनाये रखकर भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में ... के अतिरिक्त दूसरे देशों को भी भेज सकते हैं। ... है। ताज़े फलों की विदेशों में अधिक माँग भी वहाँ ... चत प्रबन्ध न होने के कारण वे बाहर ... फलों की डिब्बा-

हमारे देश में फलों ... लिए मलाया में १६ कार्यालय ... के रूप में सुरक्षित रखने को ... छीलने, काटने आदि के लिए रही है। उसका छोट-मोटा ... रते हैं। हर एक कार्यालय किया करते हैं, जिनके बेचने ... से पूर्ण है। प्रत्येक प्रकार की होती है। प्रत्येक घर ... डिब्बे प्रतिदिन तैयार व्यवस्था होती है। किन्तु उनकी प्रणा... ०-३५ लाख रुपये न्यूनता है। प्रथम तो इस प्रकार के ... जापान और ... दिनों के बाद ख़राब होने लगते हैं और दूसरी बात यह है कि फलों का वास्तविक स्वाद जाता रहता है। मुख्यत: इन्हीं दो बातों को ध्यान में रख कर आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग 'फल-संरक्षण' में और विशेष कर डिब्बे और बोतलों में बन्द फलों के सम्बन्ध में होता है। निस्सन्देह फलों को सुरक्षित रखने की विधि हमारे देश में बहुत पुराने समय से है, किन्तु वह अभी तक जैसी की तैसी ही प्रचलित है। उसमें सुधार नहीं हुआ है। सुधार की कौन कहे, जो वैज्ञानिक पद्धति पाश्चात्य देशों में सफलतापूर्वक चल रही है वह तक अपनाई नहीं गई है। यही कारण है कि आज भारत में

लाखों रुपयों के सुरक्षित फल केवल डिब्बों और बोतलों में बन्द फल के रूप में प्रतिवर्ष विदेशों से आते हैं। ये सब कितने मूल्य के आते हैं, निम्नलिखित अंकों से विदित होगा—

डिब्बों और बोतलों में बन्द आनेवाले फलों का मूल्य

सन्	रुपये
१९२९-३०	१४,०६,८३४
११३०-३१	१२,०४,६६८
१९३१-३२	६,९०,२०५
१९३२-३३	७,८२,५६४
१९३३-३४	९,९६,४९४
१९३४-३५	१०,९०,८०४
१९३५-३६	११,२३,०२५
१९३६-३७	१०,१६,३९३
१९३७-३८	१२,११,५९८

नोट—

	रुपये
ब्रिटिश साम्राज्य से	... ४,९४,०१९
फ़्रांस से	... २७,९८३
इटली से	... १३,३१९
चीन से	... १९,३८६
यू० स० ये०	... ८,४३,१३३
अन्य देशों से	... ०८,९९४
कुल	१४,०६,८३४

इनके अतिरिक्त लाखों रुपयों के सुरक्षित फल जैम, जेली, मुरब्बे, शर्बत, चटनी, अचार, सूखे फल एवं तरकारियों के रूप में प्रतिवर्ष विदेशों से भारत में आते हैं। पिछले दो वर्षों में ऐसी आनेवाली वस्तुओं का मूल्य निम्नलिखित है—

	१९३६-३७ में	१९३७-३८ में
जैम, जेली आदि—	७,३१,८८७	६,५४,८४७
चटनी, अचार आदि—	७,१९,८८२	६,२१,६७५

अतः हम देखते हैं कि डिब्बों और बोतलों में बन्द फलों के अतिरिक्त प्रायः १३-१४ लाख रुपये के मूल्य की अन्य वस्तुएँ, सुरक्षित फलों के रूप में, प्रतिवर्ष भारत में आती हैं। और जब हमारे देश में फलों की अधिकता है, फल-संरक्षण के काम में आनेवाली रासायनिक वस्तुएँ अल्प व्यय में सरलता से अधिक मात्रा में मिल सकती हैं, सस्ती मज़दूरी भी है, साथ ही शिक्षितों और अशिक्षितों में बेकारी फैली हुई है और देश में ही सुरक्षित फलों की अधिक माँग है जैसा कि उक्त अंकों से विदित है, तब इस व्यापार की सफलता की तो यहाँ पूरी आशा है।

इस समय आवश्यकता है देश में चारों ओर फलों के बड़े बड़े कार्यालय खोलने की और उनके संचालन के लिए एक बड़ी पूंजी लगाने की। ऐसे दो-एक छोटे कार्यालय स्थापित भी हो गये हैं, जो उत्साह के साथ अपना काम कर रहे हैं। किन्तु उपयुक्त साधनों के अभाव के कारण विदेशों की अपेक्षा वे अपनी वस्तुएँ कम मूल्य में नहीं बेच पाते। और वस्तुओं के मूल्य में अंतर होने पर मनुष्य स्वभावतः अल्पमूल्यवाली वस्तु ही खरीदता है! यही कारण है कि वे विदेशों की प्रतियोगिता में ठहर नहीं रहे हैं। ऐसी दशा में फलों के व्यापार को बड़े परिमाण में करने की आवश्यकता है, साथ ही उसकी सफलता के लिए पूंजीपतियों का सहयोग भी ज़रूरी है।

हर्ष की बात है कि भारत-सरकार और प्रान्तीय सरकार का ध्यान इस व्यापार की ओर गया है। और यहाँ भी शून्य तापक्रम पर वस्तुओं को सुरक्षित रखने की विधि को अपनाकर कम से कम एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को ताज़े फलों एवं तरकारियों को भेजने की व्यवस्था कर दी गई है। भारतीय कृषि-अनुसन्धान-विभाग के अधिकारी भी इस ओर प्रयत्नशील हैं। संयुक्त-प्रान्त के कृषि-विभाग के डाइरेक्टर 'फ़्रूट-डेवलपमेंट-बोर्ड' के द्वारा प्रान्त के भीतर फलों को अधिक मात्रा में उत्पन्न करने और उनके सुरक्षित रखने का यथेष्ट प्रचार कर रहे हैं। बम्बई में आम... डिब्बा-बंदी करने के लिए एक कार्यालय स्थापित किया गया है। इन प्रयत्नों से प्रतीत होता है कि यहाँ भी फलों के व्यापार की उन्नति होगी।

मलाया में अनन्नास अधिकता से पैदा होता है। उसकी अधिक मात्रा में पैदावार हो, इसका वहाँ [illegible] रूप से ध्यान भी रक्खा जाता है। उन फलों की डिब्बा-बन्दी करके सुरक्षित रखने के लिए मलाया में १६ कार्यालय हैं और प्रत्येक में फलों को छीलने, काटने आदि के लिए ३०० मनुष्य से ऊपर कार्य करते हैं। हर एक कार्यालय डिब्बा-बन्दी की आधुनिक कलों से पूर्ण है। प्रत्येक कार्यालय अनन्नास भर कर १ लाख डिब्बे प्रतिदिन तैयार करता है। प्रतिवर्ष १ करोड़ और ३०-३५ लाख रुपये का माल इँगलैंड, अमरीका, फ़्रांस, जर्मनी, जापान और दुनिया के अन्य प्रदेशों को भेजा जाता है एवं प्रतिवर्ष उसकी वृद्धि हो रही है। हमारे देश में प्रतिवर्ष १॥ लाख रुपये का सुरक्षित अनन्नास विदेशों से आता है। एक डिब्बे में प्रायः एक अनन्नास के टुकड़े होते हैं। यहाँ एक डिब्बा तीन-चार आने में मिलता है, जिसका कार्यालय में प्रायः एक आने मूल्य पड़ता है। हवाई द्वीपों में तो विराट् रूप में फल सुरक्षित किये जाते हैं। वहाँ अनन्नास के अतिरिक्त अन्य फलों की भी डिब्बा-बन्दी की जाती है और केवल सुरक्षित अनन्नास २० करोड़ रुपयों का प्रतिवर्ष विदेशों को जाता है। वहाँ का एक कार्यालय प्रायः आठ लाख डिब्बे अनन्नास

भरकर प्रतिदिन तैयार करता है। वहाँ फलों की इतनी अधिकता होते हुए भी क्या मजाल कि एक भी फल सड़ जाय। और न केवल वहाँ की सरकार फलों को सुरक्षित रखने के कार्यालयों की देख-रेख करती है बल्कि विद्यार्थियों को अधिक संख्या में फलों को उत्पन्न करने और उनको सुरक्षित रखने के भिन्न भिन्न व्यापारिक विधियों की उच्च शिक्षा देती है।

खेद की बात है कि हमारे यहाँ इन सब बातों की ओर किसी का ध्यान नहीं। दूसरे देशों को फलों का करोड़ों रुपयों का व्यापार करते हुए देख कर भी हम नहीं देख रहे हैं। हमारे देश में आम, अमरूद, नाशपाती, अंगूर, संतरा आदि कितने ही फल हैं और [illegible] चने, मटर, टमाटर, गोभी [illegible] कितनी ही तरकारियाँ हैं, जिनकी डिब्बा-बन्दी [illegible] सुखाकर अथवा रसायनों-द्वारा सुरक्षित रख कर [illegible] भेज सकते हैं। इनके सिवा अपने देश में प्रतिवर्ष [illegible] के फलों की खपत है, जो [illegible] आते हैं—

	रुपये
[illegible] फल और तरकारियाँ ...	३०,८६,५८९
डिब्बों एवं बोतलों में बन्द फल ...	१०,५८,०६५
[illegible] की बनी हुई अन्य वस्तुएँ ...	१३,६४,१९५
[illegible] रक्षित फल ...	२४,२२,२६०

अतः प्रायः ५५-६० लाख रुपये का व्यापार प्रतिवर्ष तो केवल भारतवर्ष के अन्दर ही हो सकता है और इतने रुपये प्रतिवर्ष विदेशों में जाने से बच सकते हैं। इसके अतिरिक्त फल के कार्यालयों के संचालन से जो करोड़ों मन फल सड़कर बरबाद होते हैं उनकी रक्षा होगी। फलों को अधिक मात्रा में उत्पन्न करने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक विधियों का सहारा लिया जा सकता है। फिर इस धन्धे के खड़ा हो जाने से अन्य स्वदेशी वस्तुओं की—चीनी, शीशे के बर्तनों, टीन के डिब्बों, की, मसाले आदि की जिनका कि 'फलसंरक्षण' में प्रयोग होता है अधिक मात्रा में खपत होगी। देश को एक ऐसे कार्यालय से जिसमें प्रायः ५०-६० हजार रुपये की लागत होगी, प्रतिवर्ष २० प्रतिशत का लाभ होगा।

और यदि ऐसे १०-१२ कार्यालय भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में स्थापित हो जायँ औरवे फलों एवं शाक-भाजियों को सुरक्षित करें तो देश के धन को बचाने के अतिरिक्त वे उन भारतीय सुरक्षित फलों को विदेशों में भेज कर यथेष्ट लाभ उठा सकेंगे। सच तो यह है कि फलों के व्यापार के द्वारा भारतीय व्यापार का एक नया, साथही बहुत बड़ा क्षेत्र खुल जायगा।

ब्रिटेन और फ़्रांस की गुटबन्दी

जर्मनी और इटली के गुट के विरुद्ध ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस भी अपना एक गुट बनाने में लगे हुए हैं। उनकी ओर से प्रयत्न हो रहा है कि रूस उनके गुट में शामिल हो जाय। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रूस उनके गुट में शायद ही शामिल हो। इस सम्बन्ध में 'आज' अपने सम्पादकीय में लिखता है।

"योरप में केवल रूस ही एक ऐसा राष्ट्र है जो काम पड़ने पर अकेला जर्मनी का मुक़ाबिला कर सकता है। इसका सहयोग यदि ब्रिटेन और फ़्रांस को मिल जाता तो योरप में ब्रिटिश गुट जर्मन गुट की अपेक्षा प्रबल हो जाता। इसके लिए आजकल प्रयत्न भी किया जा रहा है। पर इसमें एक बात है। ब्रिटेन के वर्तमान शासकों की सहानुभूति रूस की अपेक्षा जर्मनी के साथ अधिक है। जर्मनी से आशंका होने पर भी वे उससे हाथ मिलाने को तैयार हैं पर रूस से पूरी सैनिक सन्धि करने को तैयार नहीं हैं। पहले तो इनका प्रस्ताव केवल यह था कि जिन राज्यों को उन्होंने अभयदान दिया है उन्हें रूस भी दे दे। पर रूस ने ऐसा करने से साफ़ इनकार कर दिया। फिर इनकी ओर से कहा गया कि जिनकी सहायता के लिए हम कह रहे हैं उनकी सहायता करते हुए यदि रूस पर जर्मनी आक्रमण करे तो हम रूस की भी सहायता करेंगे। पर इससे भी रूस उतना संतुष्ट नहीं है। उसके और जर्मनी के बीच में पोलेंड और रूमानिया के सिवा और भी अनेक राष्ट्र हैं। रूस चाहता है कि ब्रिटेन और फ़्रांस ने जैसा वचन पोलेंड और रूमानिया को दिया है वैसा ही उन छोटे राष्ट्रों को भी दें, पर इनके लिए ये तैयार नहीं मालूम होते। मतलब यह कि रूस के साथ पूरे सैनिक सहयोग की सन्धि करने को ब्रिटेन तैयार नहीं है यद्यपि वह जानता है कि रूस से उसे कुछ भी भय नहीं है। इसका कारण केवल आदर्शों का भेद है। रूस पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का विरोधी है तथा ब्रिटेन इन दोनों का पूर्ण भक्त है। इसलिए स्वार्थ-संघर्ष होने पर जर्मनी से डर जाने पर भी ब्रिटिश साम्राज्यवादी रूस से मित्रता नहीं कर सकते। आज यदि ब्रिटेन, फ़्रांस और रूस में पूरा साधक-बाधक हो जाय तो योरप के प्रायः सब छोटे राष्ट्र जर्मनी से निर्भय होकर इनका साथ दे दें। पर ऐसा होता दिखाई नहीं देता। रंग-ढंग से मालूम होता है कि कुछ समझौता तो हो जायगा पर उससे धुरे की शक्तियों का कुछ बिगड़ेगा नहीं।"

डैनज़िग का प्रश्न

यह एक प्रकट सत्य है कि जर्मनी अब अपने उन सभी भूभागों पर अधिकार कर लेना चाहता है जो वर्सेई की सन्धि के द्वारा उससे छीन लिये गये थे। उनमें से कुछ पर तो उसका अधिकार बिना रक्तपात हो भी गया है, परन्तु अभी अनेक पर वह अधिकार नहीं कर पाया है। डैनज़िग भी उन्हीं में से एक है और इस समय इसके प्रश्न ने वहाँ विषम रूप धारण कर लिया है। 'स्वराज्य' इस प्रश्न के सम्बन्ध में लिखता है।

"पोलेंड और जर्मनी के बीच डैनज़िग के सम्बन्ध में जो विवाद चल रहा है, उसमें इन्साफ़ जर्मनी के साथ है। डैनज़िग एक स्वतन्त्र शहर है जो पोलेंड की सरकार की संरक्षता में है। पोलेंड के व्यापार-व्यवसाय के लिए आवश्यक सामग्री सहायता इसी शहर से मिलती है। अतएव पोलेंड इस शहर को अपने अधिकार से जाने देना नहीं चाहता परन्तु डैनज़िग की बस्ती ८० फ़ी सदी जर्मनों की है। हिटलर ने जर्मन जनता को एक झण्डे के नीचे एकत्रित करने और जर्मनराष्ट्र को बलवान् बनाने का जो कार्यक्रम १९३५ से शुरू किया है, उसमें डैनज़िग शहर को जर्मन रीश में शामिल करने की योजना भी है। पोलेंड से जर्मनी ने इस सम्बन्ध में बातचीत भी की थी, परन्तु पोलेंड की सरकार डैनज़िग का क़ब्ज़ा छोड़ने के लिए राजी

न हुई। जर्मन प्रस्तावों में एक प्रस्ताव जनसम्मति लेने का भी है। हिटलर का कहना है कि डैनज़िग के अवस्था-प्राप्त लोगों के बहुमत से तय कर लिया जाय कि वे किसकी अधीनता में रहना चाहते हैं। सार प्रान्त का फ़ैसला ४ वर्ष के पूर्व इसी तरह किया गया था, अब डैनज़िग का भी इसी तरीक़े से कर लिया जाय। पोलैंड को यह भी मन्ज़ूर नहीं है। ऐसी अवस्था में शस्त्रबल से पोलैंड पर कब्ज़ा करने की बात ही जर्मनी के लिए शेष रह जाती है। इस आक्रमण की संभावना देखकर इँगलैंड और फ़्रांस पोलैंड की सहायतार्थ दौड़ जाने की घोषणा कर रहे हैं। जर्मनी और इटली, स्लोवाकिया और अलबानिया को अभी-अभी हड़प चुके हैं। उस समय इँगलैंड और फ़्रांस ने सशस्त्र विरोध की तीव्र इच्छा प्रकट नहीं की, परन्तु डैनज़िग के मामले पर जागतिक सत्यानाश की आग सुलगाने के लिए वे तैयार हैं। इसमें युद्ध-व्यूह के रहस्य के अलावा और कोई बात नहीं है। पोलैंड और रशिया एक दूसरे के पड़ोसी हैं। जर्मनी और इटली यदि पोलैंड से झगड़ पड़ें तो इँगलैंड और फ़्रांस को अपनी हद में लड़ाई लड़ने की ज़रूरत नहीं रहती। यह बात सही है कि आधुनिक युद्धीय अस्त्रास्त्रों के कारण कोई भी देश हवाई आक्रमणों से सुरक्षित नहीं है तथापि युद्धयमान राष्ट्रों का यह प्रयत्न तो अवश्य ही रहता है कि यथाशक्ति लड़ाई, मारकाट, विनाश-विध्वंस दूसरों की हद में ही हो। इसी सैनिक नीति के कारण इँगलैंड और फ़्रांस डैनज़िग के लिए झगड़ने की तैयारी दिखा रहे हैं"।

कश्मीर में हिन्दी

'हिन्दी-मिलाप' लिखता है—

मुस्लिम और हिन्दू-रियासतों में यही अन्तर है कि जहाँ मुस्लिम रियासतें धर्म जानकर उर्दू को प्रोत्साहन देती हैं वहाँ हिन्दू-रियासतें हिन्दी-प्रचार की ओर ध्यान ही नहीं देतीं। हैदराबाद में हिन्दुओं की आबादी अत्यधिक होने पर भी निज़ाम उर्दू को बढ़ाये जा रहे हैं, और उनके ख़ज़ाने उर्दू-हित के लिए धन व्यय करने के लिए खुले हैं। हैदराबाद के मुक़ाबले में कश्मीर को देखिए कि वहाँ के हिन्दू हिन्दी के लिए माँग करते हैं तो भी उन्हें हिन्दी नहीं मिल रही है। कितनी खेदजनक स्थिति है?

जम्मू कश्मीर की प्रजा-सभा में उस दिन प्रस्त[ाव] उपस्थित किया गया कि हिन्दू लड़के और लड़कियों [के] लिए सरकारी प्राइमरी स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा अनिवा[र्य] कर दी जाय। हम समझते हैं कि यह प्रस्ताव बहुत माक़ू[ल] था। प्रस्तावक ने अगर यह कहा होता कि बिना इस भे[द] के कि लड़के और लड़कियाँ हिन्दू हैं या मुस्लिम अथव[ा] किसी अन्य जाति के, हिन्दी की शिक्षा सबके लिए अनिवार्य चाहिए तो प्रस्ताव का उद्देश्य बिलकुल और होता। पर यहाँ तो सादी माँग यह थी कि हिन्दू लड़कों और लड़कियों को प्रारम्भिक स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई जाय। आश्चर्य है कि यह सरल प्रस्ताव भी प्रजा-सभा से पास न हो सका। मुस्लिम कान्फ़्रेंस दल जिसमें १९ सदस्य हैं तटस्थ रहा और उसके जिन थोड़े से सदस्यों ने बहस में भाग लिया उन्होंने अल्पसंख्यक जाति की एक उचित माँग का साथ देने के स्थान में उल्टा इसमें फ़िरकापरस्ती देखना शुरू कर दिया।

कश्मीर के हिन्दू शासक का हिन्दी-प्रेम तो खूब बढ़ा चढ़ा होना चाहिए, पर वास्तव में वह साधारण भी मालूम नहीं होता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि रियासत के हिन्दुओं की लगभग आठ लाख की आबादी में मुश्किल से चौदह हज़ार व्यक्ति हिन्दी जानते हैं और इनमें अच्छी हिन्दी जाननेवालों की संख्या तो बहुत ही कम है। ऐसी स्थिति क्यों है? इसका एक और केवल एक उत्तर यही है कि रियासत उर्दू भाषा को तो सरकारी तौर पर स्वीकार करती है पर हिन्दी को नहीं। हिन्दू बच्चों को विवश हो उर्दू पढ़ना पड़ रहा है। काश्मीर में उर्दू जाने बिना काम नहीं चल सकता और सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के लिए भी उर्दू का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

रियासत के अधिकारियों की ओर से कहा जा रहा है कि हिन्दी को स्कूलों में अनिवार्य कर देने से अध्यापकों की संख्या बढ़ानी पड़ेगी। हिन्दुओं के दृष्टिकोण से तो यह अच्छा ही है कि रियासत में हिन्दी के अध्यापकों की संख्या बढ़े। इसके लिए यदि रियासत को कुछ अधिक खर्च करना भी पड़ता है तो यह धन का सदुपयोग है। प्रधान मन्त्री ने हमें बताया है कि कश्मीर सरकार हिन्दू बच्चों [को] एक अतिरिक्त विषय के तौर पर हिन्दी पढ़ाये जाने [के पक्ष] में है। हम कहते हैं कि उर्दू के मुक़ाबले में हिन्दी [को] अनिवार्य विषय न रख कर केवल अतिरिक्त विषय के [रूप] पर रखना हिन्दुओं के साथ भयंकर अन्याय है जो [कि]सी अवस्था में सहन नहीं किया जा सकता।

प्रधान मन्त्री ने एक बात स्वीकार की है और वह यह [कि] जहाँ स्कूल में जानेवाले हिन्दू बच्चों की संख्या औसतन [...] से कम नहीं और जहाँ हिन्दू आबादी एक मत होकर माँग करती है कि उनके बच्चों को हिन्दी में शिक्षा [दी] जाय, वहाँ हिन्दी शिक्षा का प्रबन्ध किया जा सकता है। [यह] एक आशापूर्ण आश्वासन तथा हिन्दी-प्रेमियों के लिए [एक] ठोस काम है कि जो वे कर सकते हैं। प्रथम पग के [तौ]र पर अगर हिन्दीप्रेमी प्रधान मन्त्री की बताई शर्तों को [...] साथ जमना और [...] प्रबन्ध करा[...] [पू]रा कर के स्थान स्थान में हिन्दी-शिक्षा क[...] तो यह भी एक भारी कार्य होगा कि जो हमें आशा है [कि] रियासत जम्मू और कश्मीर के हिन्दी प्रेमी अवश्य करेंगे। [ज]ब हिन्दी के लिए रियासत में पहले मैदान तैयार हो जाये [तो] फिर रियासत की गवर्नमेंट और अधिकारी हिन्दुओं [की] हिन्दी की माँग को "नाँह" नहीं कह सकेंगे। हमें भय [है] कि अभी रियासत में इस सम्बन्ध में बहुत कार्य की [ज़]रूरत है। एक बार हिन्दी पढ़ने और पढ़ानेवालों की [संख]्या प्रबल हो जाये तो फिर गवर्नमेंट की शक्ति में न [हो]गा कि वह हिन्दी की शिक्षा के सम्बन्ध में किसी उचित [माँ]ग को ठुकराने का साहस कर सके।

प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा पुनः संगठन-[क]मिटी की सिफ़ारिशें अब सरकार के सामने पेश हैं। [सं]क्षेप में उनका परिचय नीचे देते हैं :—

यू० पी० शिक्षा कमेटी की सिफ़ारिश

कमेटी ने सिफ़ारिश की है कि सात साल की आयु से [निः]शुल्क अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा मुफ़्त दी जानी चाहिए। [इ]स समय में बच्चे को सामाजिक और शारीरिक शिक्षा [के] साथ साथ तकली से कातना और प्रथमिक कृषि या [बा]ग़वानी की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसकी अवधि सात [वर्ष] रखी गई है।

माध्यमिक शिक्षा का समय १२ वर्ष की आयु से आरम्भ होकर ६ वर्ष तक होगा। प्रायमरी, वर्नाक्यूलर और ऐंग्लो वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों के स्थान पर प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूल होंगे। माध्यमिक शिक्षण-संस्थाओं को कालेज कहा जायगा। जो वर्तमान इंटरमीजियेट श्रेणी की शिक्षा से ऊँची शिक्षा देंगे। हाई स्कूल और इंटरमीजिएट नाम छोड़ दिये जायँगे।

दोनों प्रकार के स्कूलों में शिक्षा का माध्यम हिन्दुस्तानी होगा। इन स्कूलों में अँगरेज़ी नहीं पढ़ाई जावेगी। कालेजों में अँगरेज़ी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जावेगी। कमेटी ने एक गृह-विज्ञान-कालेज तथा औद्योगिक और व्यावसायिक कालेजों की स्थापना करने की सिफ़ारिश की है। कमेटी ने औद्योगिक स्कूलों तथा कालेजों को शिक्षा-मंत्री को सौंप देने के लिए कहा है।

[...] में कुछ तथ्य भी जान पड़ता है। यदि ऐसा करे।

कन्या-शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने पर ज़ोर दिया गया है। लड़कियों को स्कूल में ले जाने के लिए ठेलों के स्थान पर मोटर बसों का ही प्रयोग करने की सिफ़ारिश की गई है। लड़के लड़कियों को साथ साथ पढ़ाने की आयु शहरों में अधिक से अधिक ९ और देहातों में १० साल रक्खी गई है।

सरकार को अपनी आवश्यकता के अनुसार शिक्षा-विस्तार का एक कार्यक्रम बनाना चाहिए। तमाम प्रान्त की जनता को प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए बीस साला कार्यक्रम सोचना चाहिए।

प्रारंभिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बना देने की सिफ़ारिश की गई है।

भूतपूर्व डायरेक्टर कर्नल वेर के अनुमान के अनुसार इस योजना पर नौ करोड़ रुपये वार्षिक खर्च होंगे, अतः इसको केवल सीमित क्षेत्रों में लागू किया जाय।

वर्तमान डायरेक्टर श्री पावेल प्राइस ने सात वर्ष की आयु से शिक्षा आरम्भ करने का विरोध किया है और आपने छः वर्ष की आयु को उचित बतलाया है।

स्मरण रहे कि यह कमेटी युक्तप्रान्तीय सरकार द्वारा मार्च १९३८ में नियुक्त की गई थी।

अहिंसा का मार्ग

गत १८ मई को गांधी जी ने राजकोट से एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिया जिसका आवश्यक अंश निम्न है—

२४ अप्रैल को जब यहाँ से मैं कलकत्ते के लिए रवाना हुआ, तब मैंने यह कहा था कि राजकोट मेरे लिए एक प्रयोगशाला साबित हुआ है। इसका सबसे ताज़ा प्रमाण मेरी इस घोषणा में है, जो मैं कर रहा हूँ। सहयोगियों के साथ बहुत वाद-विवाद के बाद मैं आज शाम को ६ बजे इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि भारत के चीफ़ जस्टिस द्वारा दिये हुए निर्णय का मैं परित्याग कर दूं।

मैं अपनी ग़लती स्वीकार करता हूँ। उपवास के अंत में मैंने कहा था कि मेरा यह उपवास जितना सफल हुआ है [illegible] इससे पहले का और कोई उपवास सफल [illegible]। [illegible] अब मैं देखता हूँ कि वह हिंसा से रंजित [illegible] करके मैंने सार्वभौम सत्ता की दस्तंदाज़ी [illegible] ताकि वह ठाकुर साहब को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए प्रेरित करें। यह "अहिंसा" का हृदय-परिवर्तन [illegible] है, यह तो "हिंसा" तथा 'दबाव' डालने का मार्ग है। और मेरा उपवास केवल ठाकुर साहब के ही प्रति [illegible], और मैं उनके तथा उनके सलाहकार दरबार श्री वीरावाला के हृदय को पिघला सकता और ऐसा करते हुए [illegible] मैं भी संतोष मानता, तो मेरा उपवास शुद्ध होता। मेरे रास्ते में अगर अप्रत्याशित कठिनाइयाँ न आतीं, तो मेरी आँखें न खुलतीं। दरबार श्री वीरावाला ग्वॉयर-निर्णय को दिल से पसन्द नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने देरी लगाने में हरेक मौके का लाभ उठाया। निर्णय तो मेरा मार्ग प्रशस्त करने के बदले मुसलमानों और भायातों को मेरे विरुद्ध नाराज़ करने में बहुत बड़ा कारण बन गया। निर्णय से पहले हम लोग दोस्तों की तरह मिले थे। अब मुझ पर स्वेच्छा से और बग़ैर किसी विचार के वचन-भंग करने का आरोप किया जाता है। यह मामला चीफ़ जस्टिस के पास जानेवाला था कि वे इस बात का निर्णय कर दें कि मैं आरोपित वचन-भंग का दोषी हूँ या नहीं।

मुस्लिम काउन्सिल और गिरासिया असोसियेशन के वक्तव्य मेरे सामने हैं। अब चूंकि मैंने ग्वॉयर-निर्णय से मिलनेवाले लाभ को छोड़ देने का निश्चय कर लिया है, अतः अब उन दोनों मामलों का जवाब देना मेरे लिए ज़रूरी नहीं रह गया है। जहाँ तक मेरा ताल्लुक़ है, मुसलमान और भायात कोई भी चीज़ ठाकुरसाहब से, जो वे कृपापूर्वक दें, प्राप्त कर सकते हैं। केस तैयार करने के लिए मैंने उनको जो तकलीफ़ दी, इसके लिए मैं उनसे क्षमा चाहता हूँ। अपनी कमज़ोरी की हालत में अनावश्यक ज़ोर डलवाने के लिए मैं वायसराय से क्षमा माँगता हूँ। चीफ़ जस्टिस को भी मैंने कष्ट पहुँचाया, इसलिए उनसे भी मैं क्षमा याचना करता हूँ, क्योंकि यदि मैं अच्छी तरह जानता होता तो उन्हें वह कष्ट न उठाना पड़ता, जो उन्होंने उठाया। और सर्वोपरि, मैं ठाकुर साहब और श्री वीरावाला से भी क्षमा चाहता हूँ।

जहाँ तक दरबार श्रीवीरावाला का संबंध है, मुझे यह क़बूल करना चाहिए कि अपने दूसरे सहयोगियों की भाँति मैं भी उनके सम्बन्ध में बुरे विचार रखता था। मैं यह इस बात पर विचार नहीं करना चाहता कि उन पर लगाये गये आरोप सही थे या ग़लत। उन पर बहस करने की यह जगह नहीं है। यह कहना ही काफ़ी होगा कि वह अहिंसा का मार्ग नहीं था, और न अब तक उन पर उसका प्रयोग ही किया गया है। और, मुझे अपने विरुद्ध यह बात कहने दी जाये कि मैं दोहरी चाल खेलने का गुनहगार था—याने एक ओर तो ग्वॉयर-निर्णय की तलवार उनके सर पर लटकाये रहता था और दूसरी ओर उनसे प्रार्थना करता और आशा रखता था कि वे स्वेच्छा से ठाकुर साहब को उदार शासनसुधार देने की सलाह देंगे।

मैं यह मानता हूँ कि यह तरीक़ा अहिंसा से बिलकुल मेल नहीं खाता। जब मैंने १९ अप्रैल को यकायक मि० गिब्सन के सामने तजवीज़ रखी, जो कि खिलाड़ी जैसी तजवीज़ कही जाती है, तब मुझे अपनी कमज़ोरी का पता लगा। मगर तब मुझमें यह कहने का साहस नहीं था, कि 'मैं निर्णय से कोई मतलब नहीं रखना चाहता।'

१—योरप की राजनीतिक परिस्थिति

महायुद्ध रोकने के लिए या योरप के छोटे राज्यों की [स्व]ाधीनता की रक्षा करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन और उसके [सा]थ ही फ़्रांस भी इस समय जिस कूटनीति से काम ले रहे तथा भिन्न-भिन्न छोटे राज्यों की स्वाधीनता की रक्षा करने [की] प्रतिज्ञायें करते जा रहे हैं उससे परिस्थिति के सुधरने [के] बजाय वह और भी बिगड़ती जा रही है। क्योंकि उनकी [इ]न कार्रवाइयों से उनके साथ जर्मनी और इटली के आक्रमण [के] भय से छोटे छोटे राष्ट्र तो हो ही गये हैं, रूस का बड़ा [रा]ष्ट्र भी समुचित वचन लेकर उनके पक्ष में हो जाने को [उत्]सुक है। इधर हाल में तुर्की की ब्रिटेन से सन्धि हो गई है [औ]र फ़्रांस से भी उसकी सन्धि हो जायगी। जर्मनी और [इ]टली इन सब बातों को देखकर चिन्तित हुए हैं, यहाँ तक [कि] हिटलर ने यह स्पष्ट कह दिया है कि सन् [१]९१४ की तरह उसको घेर लेने का फिर उपक्रम किया [जा] रहा है। और इस आशंका से ये दोनों राष्ट्र पूर्ववत [यु]द्ध की तैयारी में ही लगे हुए हैं। यही नहीं, डेन्ज़िग [को] जर्मनी अपने अधिकार में कर लेने को लालायित है, [पो]लों के विरुद्ध ऐसे उपद्रव हो रहे हैं, तथा ऐसी परिस्थिति [उ]त्पन्न की जा रही है कि वहाँ ऐसा गोलमाल हो जाय कि [ज]र्मनी को कुछ कहने का अवसर मिले और बिना युद्ध के [ही] ज़ेकोस्लोवेकिया की तरह वह भी उसे मिल जाय। [ल]क्षण भी ऐसे ही दिखाई दे रहे हैं। चाहे जो हो, परिस्थिति [भ]यावह होती जा रही है और शान्ति की स्थापना के लिए [ब्रि]टेन के राजनीतिज्ञों ने जो मार्ग ग्रहण किया है वह युद्ध [क]ा मार्ग है, शान्ति का नहीं। शान्ति का मार्ग तो [त]ब होता जब ये राष्ट्र जर्मनी और इटली की माँगों पर [स]मुचित रूप से विचार करते। हिटलर और मुसोलिनी [द]ोनों ने स्पष्ट शब्दों में बार-बार कहा है कि वे लड़ने को [उ]त्सुक नहीं हैं, परन्तु जो उनका है उसे प्राप्त करने में वे [आ]नाकानी भी नहीं करेंगे। फिर जब वे आज शक्तिमान [हैं] यहाँ तक कि उनसे भिड़ने में बड़े-बड़े राष्ट्र तक हिचकते हैं, तब तो नीति की यही माँग है कि उन्हें थोड़ा-बहुत दे-ले कर समझौता कर लेना ही ठीक होता। परन्तु बड़े राष्ट्र यह सब करने को तैयार नहीं हैं। ऐसी दशा में यदि आज नहीं तो एक-न-एक दिन इनमें अवश्य युद्ध छिड़ेगा। और वह युद्ध इतना भीषण होगा कि इस बार दोनों पक्षों का संहार हो जायगा। आश्चर्य है कि यह सब जानते हुए भी राजनीतिज्ञ शान्ति की, समझौते की राह नहीं ग्रहण कर रहे हैं। इटली और जर्मनी की माँगों में कुछ तथ्य भी जान पड़ता है। यदि ऐसा न होता तो उनसे बीच-बीच में समझौता करने की बातचीत न होती रहती। अभी हाल में फ़्रांस ने इटली से समझौता करने का प्रस्ताव भी किया था। उधर ग्रेट ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ने डेन्ज़िग के मामले को भी समझौते के द्वारा तय कर लेने का संकेत किया है।

परन्तु इस तरह कह-सुनकर भी यह मामला आगे नहीं बढ़ाया जाता है। बात यह है कि जर्मनी और इटली [की माँ]गें अधिक व्यापक हैं, जिनकी पूर्ति कर देने पर [ब्रिटेन] और फ़्रांस का दर्जा आज का नहीं रह सकेगा। [कठि]नाई इतनी ही है और असाधारण रूप से बड़ी है। भूमध्य-सागर का प्रभुत्व इटली को सौंप कर तथा अफ़्रीक़ा के उपनिवेशों में से अधिकांश जर्मनी एवं इटली को देकर ब्रिटेन और फ़्रांस अपनी आत्महत्या करने का उपक्रम करने को तैयार नहीं हैं। इसी से कहना पड़ता है कि इन राष्ट्रों में एक-न-एक दिन महायुद्ध का छिड़ जाना सर्वथा अनिवार्य है।

२—कांग्रेस की राजनीति

कांग्रेस की राजनीति का समझना सरल काम नहीं है। कांग्रेस की गणना संसार की तादृश सुसंगठित संस्थाओं में की जाती है। परन्तु उसकी वर्तमान भावधारा चिन्ता करने का विषय है। सुभाष बाबू के दूसरी बार राष्ट्रपति बनाये जाने का जो विरोध पिछले दिनों हुआ था और

बहुमत-द्वारा उनके पुनर्वार राष्ट्रपति चुन लिये जाने पर भी उन्हें बाद को पिछले अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के अधिवेशन पर जो त्याग-पत्र देना पड़ा, उस सबकी कथा अति करुणाजनक है और उसके सम्बन्ध में हमारे लिए अधिक कुछ लिखना आवश्यक नहीं रहा, क्योंकि कलकत्ते के सर्व भारतीय कांग्रेस-समिति के जलसे से यह भले प्रकार स्पष्ट हो गया है कि कांग्रेस के क्षेत्र में भी नेताशाही का ज़ोर है और वहाँ अब प्रजातंत्रवाद को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता है। चोटी के १०-१२ नेता आपस में जो कुछ तय कर लेते हैं उसी को कांग्रेस का बाध्य होकर समर्थन करना पड़ता है। इसका एक भयानक परिणाम यह हुआ है कि कांग्रेस के बहुतेरे नौजवान नेताओं तथा कार्यकर्ताओं में असन्तोष का भाव घर कर गया है और उनमें से ३० व्यक्तियों ने प्रकट रूप से अपना विरोध ही नहीं प्रकट किया है, किन्तु सुभाष बाबू के नेतृत्व में अपना अलग संगठन करने को [illegible] है। यह अच्छा हुआ या बुरा, यह [illegible] परन्तु वर्तमान परिस्थिति [illegible] भी कह सकता है कि सुभाष बाबू [illegible] अवस्था में अपने मैत्रीपूर्ण रुख़ में ज़रा भी [illegible] नहीं आने दिया और अपने विरोधियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए वे बराबर यत्नवान् रहे, जिसका [illegible] उन्होंने पद-त्याग करने के समय उक्त समिति के [illegible] स्पष्ट शब्दों में किया है। फिर अब उनका और महात्मा जी का जो पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुआ है उससे भी सुभाष बाबू के मैत्रीपूर्ण रुख़ का ही प्रमाण मिलता है। खेद है, सुभाष बाबू लाख प्रयत्न करने पर भी कांग्रेस की नेताशाही को सन्तुष्ट न कर सके और उसने एक बार जो यह घोषित कर दिया था कि सुभाष बाबू को अगले वर्ष राष्ट्रपति नहीं बनाना चाहिए वही करके रही।

कलकत्ते में जब उक्त समिति ने सुभाष बाबू के स्थान में राजेन्द्र बाबू को कांग्रेस का सभापतित्व प्रदान किया तब दर्शकों ने जिस प्रकार अपने पूज्य लोक-नेताओं का अभिनन्दन किया उसकी ज़्यादा-से-ज़्यादा निन्दा होनी चाहिए। परन्तु उनका वह अशोभन प्रदर्शन एक ऐसी भावना का निदर्शन है जो उपेक्षणीय नहीं है। वह यही भाव व्यक्त करती है कि कांग्रेस की वर्तमान नेताशाही प्रवृत्ति को साधारण लोग घृणा से देखते हैं और उसके प्रति उनमें ज़रा भी श्रद्धा नहीं अन्यथा वे अपने उन्हीं नेताओं के प्रति ऐसा दुर्व्यवहार करते जिनको वे एक युग से देवताओं की तरह पूजते आये हैं। सत्याग्रह कहो, चाहे दुराग्रह कहो, उक्त क का जिस प्रकार निराकरण किया गया है उससे देश कितना हित हुआ, इसको सप्रमाण सिद्ध करके बतला सब क़िसी का काम नहीं है। इसी से कहना पड़ता है आज की कांग्रेस ने कुटिल राजनीति का आश्रय ग्रह किया है और उसका सूत्र-सञ्चालन राष्ट्र के प्रतिनिधि की स्वतन्त्र सम्मति से नहीं, किन्तु कुछ चुने हुए नेताओं के संकेत मात्र से होता है। ऐसी दशा में आज कांग्रेस में उन लोगों को कैसे स्थान मिल सकता है व्यक्तियों के नहीं, किन्तु विचारों के पूजक हैं। सुभ बाबू विचारों के उपासक हैं, अतएव उन्हें अपने जैसे साथियों की तरह नेतापन से नीचे उतर आना पड़ा। जो हो, यह सब कुछ परिस्थिति के अनुरूप नहीं हुआ आज तो कांग्रेस में कहीं अधिक एकता की ज़रूरत थी परन्तु जान पड़ता है कि उसके सरदार कुछ और ही सो रहे हैं। हम भी उनसे सहमत हैं क्योंकि इस समय कां में निर्बलता आ गई है, जिसके कारण वह ब्रिटिश सरक के सामने अपनी न्यायोचित माँग दृढ़ता के साथ उपस्थि नहीं कर सकती। परन्तु उस निर्बलता का अधिक उत्तरदायित्व नेताशाही पर ही है जो साधारण लोगों लिए एक पहेली-सी हो रही है। इसी से कहना पड़ता है कांग्रेस की राजनीति में वक्रता आ गई है। एक ओर सरकार से मोर्चा लेने से आनाकानी करती है, दूसरी ओ वह देशी राज्यों में सत्याग्रह संग्राम छेड़े हुए है इसका क्या मतलब हो सकता है?

३—दक्षिण-अफ़्रीका में सत्याग्रह

महात्मा जी के जिस महान् अस्त्र सत्याग्रह ने भारत राजनीति में इतना परिवर्तन कर दिया है उसका आविष्क और राजनीति में प्रथम प्रयोग महात्माजी के द्वारा ही दक्षि अफ़्रीका में किया गया था। प्रवासी भारतीय अब वहाँ फि सत्याग्रह करने की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं, चिन्ता की बात है। कारण यह है कि अफ़्रीका की भूमि उन्नत करने और उसे हराभरा बनाने में भारतीय मज़

खून ही पसीना बनकर बहा था; और जब वह जंगल दनवन बन गया तब गोरे उसे अपनी बपौती बनाने को ार हो गये। अफ़्रीका के उस भूखंड का शासन यूनियन रकार के हाथों में है। गोरे इस सरकार पर दबाव डाल- र प्रवासी भारतीयों के अधिकारों को हड़पने का प्रयत्न दा से करते आये हैं। रंग-भेद का वहाँ इतना पक्षपात कि ब्रिटिश सरकार ने भी वहाँ की ऊँची भूमि योरपीयों लिए सुरक्षित कर दी है। भारतीय न उसमें बस सकते न उसे ख़रीद सकते हैं। यही नहीं, आज-कल वहाँ की पार्लमेंट में एक काला क़ानून पेश है। इसका नाम है ट्रांसवाल एशियाटिक रेजिडेंस और ट्रेडिंग बिल'। यदि यह ल पास हो गया तो प्रवासी भारतीयों की स्थिति में ड़ा धक्का लगेगा। कहने को तो यह क़ानून अस्थायी है, र इसे धीरे-धीरे स्थायी रूप भी मिल ही जायगा। इस बिल की मंशा यह है कि इसके द्वारा प्रवासी भारतीय वहाँ के उन क्षेत्रों से निकाल बाहर किये जायँ जहाँ रे बसते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह गोरी जाति की स्वार्थपरता का नमूना है। अफ़्रीका के वासी भारतीय इससे क्षुब्ध हो उठे हैं और उन्होंने हान्सबर्ग में एक सभा करके इस बिल के विरुद्ध सत्याग्रह रने का निश्चय कर लिया है। सन् १९२७ में भारत-सरकार यूनियन सरकार में केपटाउन में एक समझौता हुआ था समें भारतीयों को समानता के नागरिक अधिकार देने बात कही गई थी। पर यह बिल उस समझौते के भी कदम प्रतिकूल है। दीनबन्धु एण्ड्रयूज़ तथा भाई भवानी-साल संन्यासी ने भी इस बिल के विरुद्ध वक्तव्य दिये हैं। स दशा में दक्षिण-अफ़्रीका प्रवासी भारतीयों के पास एक चारा है; वह है अपने उस अनुभूत अस्त्र की फिर से रीक्षा लेना, जिसकी शिक्षा उन्हें महात्मा जी ने दी थी। ह बिल न केवल हमारे प्रवासियों के लिए अपमान-नक है, बल्कि इससे समूचे भारत का अपमान है। साथ भारत-सरकार के लिए भी यह कम कलंक की बात नहीं कि वह भारतीयों का अपमान निरपेक्ष भाव से देखती है। इस बिल के दो वाचन हो चुके हैं, और इधर भी त्याग्रह की पूरी तैयारी हो चुकी है। यूनियन सरकार का यह कार्य इस समय बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जर्मनी अपने अफ़्रीकास्थित उपनिवेशों की माँग कर ही रहा है और उधर के कुछ प्रदेशों में नाज़ी-आन्दोलन भी चल ही रहा है। इस दशा में यूनियन सरकार का भी यही कर्तव्य है कि वह भारतीयों के साथ सम्मानपूर्ण समझौता कर ले। ब्रिटिश सरकार को भी चाहिए कि वह यूनियन सरकार पर ऐसा करने के लिए दबाव डाले। और यदि यह सब कुछ नहीं होता तो हमारे प्रवासी भाइयों को तो अपने न्यायोचित अधिकारों की रक्षा के लिए तैयार रहना ही चाहिए। समस्त भारत की सहानुभूति उनके साथ है और उन्हें विश्वास रखना चाहिए कि भारत उनकी हर तरह से सहायता करने में पीछे न हटेगा। भारत-सरकार के लिए आवश्यक है कि वह भरसक इस संकट को टालने की कोशिश करे, और इससे पूर्व कि सत्याग्रह छिड़ कर परिस्थिति जटिल हो जाय, इसे सम्मानपूर्ण ढंग से सुलझाने का प्रयत्न करे।

४—युक्त प्रान्तीय शिक्षा पुनः संगठन कमिटी की सिफ़ारिशें

हमारे प्रान्त की कांग्रेस-सरकार ने शिक्षा-प्रणाली में आमूल क्रान्ति करने के लिए एक व्यापक योजना निर्माण कराने का विचार किया था। यह कार्य एक कमिटी के सुपुर्द किया गया था, जिसकी नियुक्ति गत वर्ष मार्च १९३८ में हुई थी। आचार्य नरेन्द्रदेव इस कमिटी के प्रधान थे। उनके अतिरिक्त इसमें २४ सदस्य और थे, जिनमें ३ महिलायें थीं, और ५ मुस्लिम सज्जन भी थे। इसी महीने में इस कमिटी की सिफ़ारिशी रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। सिफ़ारिशों में से अधिकांश उपयोगी हैं। पर कुछ सिफ़ारिशें ऐसी भी हैं जिनसे स्वयं कमिटी के सब सदस्य तक सहमत नहीं हैं। फिर और लोग भी उन्हें पसन्द न करें तो आश्चर्य ही क्या है। परन्तु सरकारी काम आखिर सरकारी ही होते हैं, उनके लिए जनता की राय की फ़िक्र उतनी कहाँ की जा सकती है।

कमिटी ने शिक्षारंभ के लिए कम से कम ७ वर्ष की आयु की सिफ़ारिश की है। शिक्षा-विशेषज्ञों की तो सम्मति यह है कि हमारे जैसे गर्म देशों में ५ वर्ष की आयु में अक्षरारंभ कराना ठीक है। यहाँ प्रथा भी ऐसी ही रही है। बालक साधारणतः ५ वर्ष की आयु में 'श्रीगणेशाय नमः' करते हैं, और सात वर्ष तक पहुँचते पहुँचते तीसरी किताब समाप्त

कर देते हैं। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मिस्टर जे० सी० पावेल प्राइस ने भी ७ वर्ष में शिक्षारंभ की बात का विरोध किया है। उनका एतराज़ है कि ऐसा करना शिक्षा के स्वर्ण-काल का अपव्यय करना है। उनके मतानुसार इसके लिए अधिक से अधिक ६ साल की आयु ठीक है।

पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ५ वर्ष के बालक-बालिकायें तकली पर सूत कातने, खेती तथा बाग़बानी का काम नहीं कर सकते। और वर्धा-शिक्षा-योजना के सुर-ताल में रहने के लिए तकली इत्यादि का काम सिखाना अनिवार्य है। शायद इसी लिए ७ वर्ष की आयु की सिफ़ारिश की गई है।

सहशिक्षा के विषय में कमिटी की राय है कि शहरों में ६ और देहातों में १० वर्ष की आयु तक लड़के-लड़कियों को साथ साथ पढ़ाना चाहिए। इसके बाद लड़कियाँ पढ़ाई जायँ या नहीं, पढ़ाई जायँ तो कहाँ, इस विषय में कोई स्पष्ट बात नहीं बताई गई है? क्या सरकार इनके लिए पृथक् कालेज खोलने का विचार कर रही है? कमिटी ने यह तो घोषित किया है कि 'गृह-विज्ञान' की शिक्षा के लिए एक कालेज खोला जायगा। यह विचार अनुमोदनीय है; क्योंकि ऐसे कालेजों में पढ़ी महिलायें ही निस्सन्देह सच्चे अर्थों में 'सुगृहिणी' बन सकेंगी! पर क्या इससे निकली लड़कियाँ कन्या-पाठशालाओं की इन्स्पेक्ट्रेस और असेम्बली के मंत्री भी बन सकेंगी? क्योंकि आज की भारतीय लड़की के दिमाग़ का कम्पास इसी ध्रुव लक्ष्य की ओर संकेत करता है, कल की राम जाने। फिर क्या एक कालेज प्रान्त भर की महिला-शिक्षा की आवश्यकता को पूरा कर देगा! लड़कियों में उच्च शिक्षा के प्रति बढ़ते हुए अनुराग को देख कर तो यही अनुमान होता है कि आज नहीं तो कल हमें कम-से-कम उतने ही कालेज लड़कियों के लिए भी खोलने पड़ेंगे, जितने लड़कों के लिए हैं; यदि हम सह-शिक्षा के विषय में अपनी धारणा महात्मा जी के ठीक अनुरूप ही बनाना चाहते हैं।

'हिन्दुस्तानी' को स्कूलों और कालेजों में माध्यम बनाने की सिफ़ारिश कमिटी ने की है। और हिन्दुस्तानी की परिभाषा यह दी है कि 'वह भाषा जो युक्त प्रान्त में आम तौर से बोली-समझी जाती है।' इसके साथ ही हमें दूसरी सरकारी संस्था 'हिन्दुस्तानी-एकेडेमी' की प्रश्नावली भी मिली है, जिसमें 'हिन्दुस्तानी' उसे बतलाया गया है "जो दिल्ली और लखनऊ के शिष्ट-समाज की बोल-चाल की भाषा है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दो सरकारी संस्थाओं की 'हिन्दुस्तानी' की परिभाषाओं में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। अब स्कूलों और कालेजों में कौन-सी हिन्दुस्तानी माध्यम बनेगी, लखनऊ और दिल्लीवाली या अयोध्या, कानपुर, प्रयाग और बनारस-वाली, यह कहना कठिन है! कमिटी ने यह भी नहीं बतलाया कि वह पारिभाषिक शब्द किस भाषा के लेगी, अरबी-फ़ारसी के या संस्कृत के या इन दोनों को छोड़ कर लेटिन और ग्रीक के; या स्वयं नये शब्द गढ़कर उनके चलाने का प्रयत्न करेगी, और अब तक जो पारिभाषिक शब्द प्रचलित हो चुके हैं उन्हें एकदम 'मतरूक' कर देगी! बिना पारिभाषिक शब्दों के विज्ञान-सम्बन्धी विषय पढ़ाये कैसे जा सकते हैं? हाँ, यदि इनका न पढ़ाना ही अभीष्ट हो तो बात दूसरी है। यह भी साफ़ है कि संस्कृत की परिभाषायें मुसलमानों के लिए और अरबी-फ़ारसी की परिभाषायें हिन्दुओं के लिए लोहे के चने ही हैं।

कमिटी ने शिक्षकों की भर्ती में मुसलमानों को यथेष्ट प्रतिनिधित्व देने की भी सिफ़ारिश की है। हम मुसलमानों को अधिक-से-अधिक नौकरियाँ दिलाने के पक्षपाती हैं, पर शिक्षा-विभाग में अध्यापकों का नाप चोटी-द [illegible] से न होकर योग्यता के पैमाने से ही होता तो बड़ी कृपा होती।

शिक्षा-विभाग में साम्प्रदायिकता के विष का समावेश करना बड़ा भयानक है। यह आगामी सन्तति के दिमाग़ को भी दूषित करना है। हम हृदय से इस सिफ़ारिश का, जहाँ तक शिक्षा-विभाग का सम्बन्ध है, विरोध करते हैं।

शेष योजनायें लाभदायक व महत्त्वपूर्ण हैं और उनकी सार्वजनीन उपयोगिता में सन्देह करने की रत्ती भर भी गुंजायश नहीं है।

५—फ़िलस्तीन का शिवाजी 'फ़ौजी कौकजी'

'फ़ौजी कौकजी' फ़िलस्तीन का नेता है। उसके कारण ब्रिटिश अधिकारी बड़े चिन्तित रहते हैं और ब्रिटिश सेनाओं की तो उसने नींद तक हराम कर दी है। अख़बार बेचनेवाले हाकरों से लेकर ब्रिटिश राजदूत सर हेरल्ड मैकमिचेल तक उसके नाम से घबराते हैं। वह योरप और फ़िलस्तीन के लिए भूत की तरह भयानक और रहस्यमय है। उसका नाम और उसके भयंकर कारनामे सब जानते हैं, पर उसका ठीक ठीक परिचय किसी को नहीं है। ब्रिटिश सैनिकों को तो पद पद पर 'फ़ौजी कौकजी' की विभीषिका दिखाई देती है। यद्यपि ब्रिटिश अधिकारी, सऊदी सरकार तथा पड़ोस की अन्य सरकारें सभी उसके पकड़ने की चिन्ता में रात-दिन रहती हैं और इसके लिए उन सरकारों ने हज़ारों गुप्तचर नियुक्त कर रक्खे हैं, पर वह किसी के हाथ में नहीं आता। गुप्तचरों की आँखों में धूल झोंकना इसे ख़ूब आता है। इस काम के लिए वह अपने भेष बदला करता है। यदि कभी अरब सरदार की शक्ल में अरबी घोड़े पर सवार फ़िलस्तीन में घोड़े को चौकड़ी भगाता हुआ चला जाता है, तो कभी ठीक हिटलर के ढंग की योरपीय पोशाक पहने हुए बग़दाद में टहल रहा है। यही नहीं, यरूसलम के स्टूडियो में उसने विलक्षण भाव-भंगियों में अपने अनेक प्रकार के फ़ोटो भी खिंचवाये हैं। किसी में वह घोड़े पर सवार है, किसी में पड़ा आराम कर रहा है, किसी में ताश खेल रहा है [illegible]। ये फ़ोटो लाखों की संख्या में वितरण भी किये गये हैं, मानो वह नित्य गुप्तचरों की बुद्धि को खुली चुनौती दिया करता है। वह इतना सतर्क रहता है कि औरों की तो बात ही क्या, स्वयं उसके अन्तरङ्ग मित्र भी नहीं जानते कि वह कब कहाँ होगा। धावा करने में वह इतना तेज़ है कि आज शाम को यदि सूचना मिले कि 'फ़ौजी कौकजी' अमुक ओसिस में है तो दूसरे ही सवेरे वह उक्त स्थान से सौ-डेढ़ सौ मील की दूरी पर सीमान्त के समीप देखा जायगा। उसके कारण ख़ुफ़िया-पुलिस का नाक में दम है। कभी-कभी तो ऐसी भूलें हो जाती हैं कि दो सुदूरवर्त्ती स्थानों से एक ही समय में, 'फ़ौजी कौकजी' के होने की सूचनायें आती हैं।

ब्रिटिश अधिकारियों का अनुमान है कि उस के साथ लगभग चार सहस्र कुशल सैनिक हैं, जो उस पर अपार श्रद्धा तथा भक्ति रखते हैं। इनमें अनुशासन भी ग़ज़ब का है। कारण यह है कि 'फ़ौजी कौकजी' न केवल एक डिक्टेटर है, वह कुशल योद्धा तथा पक्का धर्मगुरु भी है। इन सैनिकों के अलावा बग़दाद से लेकर समूचे अरब और फ़िलस्तीन में उसके हज़ारों मित्र हैं, जो सदैव उसकी रक्षा करने, आज्ञा मानने तथा सहायता करने में अपने प्राणों तक की बाज़ी लगा देते हैं। उन्हीं की सहायता से वह अनेक बार पकड़े जाने से बाल-बाल बच गया है। एक बार तो वह फ्रेंच सिपाहियों-द्वारा पकड़ा भी गया था और उसे मृत्यु-दण्ड की आज्ञा भी दी गई थी, पर फाँसी चढ़ाये जाने के कुछ ही घंटे पूर्व वह साफ़ बचकर निकल गया। उसके बाद फिर किसी के हाथ न आया।

कहते हैं कि उसके सैनिक अनेक बार अनुरोध कर चुके हैं कि जमकर लड़ाई की जाय और फ़िलस्तीन में [illegible] का वारा-न्यारा एक बार में ही हो जाय, पर वह इससे सहमत नहीं होता। उसे तो छापा मारकर शत्रुओं को परेशान करने की नीति ही पसन्द है। उसका विश्वास है कि शत्रु इसी नीति के द्वारा थोड़े ही दिनों में हैरान होकर भाग जायँगे। बीसवीं शताब्दी में शिवाजी की इस नीति को सफलतापूर्वक काम में लाना सचमुच बड़ी चतुरता का परिचायक है। आधी रात के घने अंधकार में सन्तरियों और पहरेदारों को काटते-छाँटते सौ दो सौ बद्दूनी सैनिक न जाने कहाँ से आ फटते हैं और दो-चार सौ को मार-काट कर फिर न जाने कहाँ जा छिपते हैं। इन हमलों से न हवाई जहाज़ों की पेश जाती है, न टैंकों की, न मशीनगनों की। और तो और, ज़हरीले गैसों के प्रयोग करने तक का अवसर नहीं मिलता। 'फ़ौजी कौकजी' किस राह से होकर निकला है, इसका पता उजड़े व जले खेतों, लूटे मकानों और अङ्ग-भङ्ग लाशों से ही लगता है।

इस विचित्र योद्धा का जीवन-वृत्त भी अधिकांश रहस्यमय है। कहते हैं कि वह सीरिया का रहनेवाला है और गत महायुद्ध में तुर्की की सेना में एक उच्च पद पर सफलता-पूर्वक काम कर चुका है। जब से फ़िलस्तीन में विदेशियों की हड़पनीति ने पैर पसारे हैं, वह आकर अचानक प्रकट हो गया है। उसमें संगठन-शक्ति भी ग़ज़ब की है। वह कहा करता है कि ख़ुदा और पैग़म्बर के बाद अरबों पर